भारत का बृहत् इतिहास

तृतीय भाग

(द्वितीय खंड)

आधुनिक भारत

Presented to Durga Sah Municipal Library. S Dwivedi (Retd) 24/10/88
Head Dept. Govt. P.G. College Ranikhet

लेखक
प्रो० श्रीनेत्र पाण्डेय, एम० ए०, एल-एल० बी०,
अध्यक्ष, इतिहास तथा राजनीति विभाग,
प्रयाग-महिला-विद्यापीठ कालेज,
प्रयाग

Retd उप-प्रधानाचार्य,
रा० दे०सि० बिष्ट राजकीय महाविद्यालय
रानीखेत (अल्मोड़ा)

प्रकाशक

स्टुडेण्ट्स फ़्रेण्ड्स
प्रयाग—काशी

प्रकाशक:—
अविनाश चन्द्र सामन्त
स्टुडेण्ट्स फ्रेण्ड्स,
प्रकाशक तथा विक्रेता
प्रयाग

45410

मूल्य ४॥)

17621
Durga Sah Municipal Library, N. Tal

मुद्रक:—
सन्त प्रेस
प्रयाग

दो शब्द

"भारत का बृहत् इतिहास" विद्यार्थियों तथा अध्यापकों को समान रूप से लाभदायक सिद्ध हो रहा है। इसकी लोकप्रियता के कारण लेखक को बड़ा प्रोत्साहन मिला है। इस ग्रन्थ के अन्य भागों की भांति इस भाग को भी अधिकाधिक छात्रोपयोगी बनाने का अथक प्रयास किया गया है। आधुनिक काल का प्रथम खंड गत वर्ष प्रकाशित हो चुका था। प्रस्तुत ग्रन्थ को लिख कर उस अपूर्ण कार्य की पूर्ति की गई है। अन्य भागों की भांति इस अन्तिम भाग को भी अधिकाधिक सारगर्भित बनाने का प्रयत्न किया गया है। देश के वैधानिक विकास तथा राष्ट्रीय आन्दोलन की विस्तृत एवं आलोचनात्मक व्याख्या की गई है। इस ग्रंथ को जिस रूप से विद्यार्थियों तथा अध्यापकों के समक्ष उपस्थित करने की आयोजना की गई थी समय के अभाव के कारण उस रूप में इसे प्रस्तुत न किया जा सका। फलतः कई प्रकरणों को छोड़ दिया गया। इस अभाव की पूर्ति आगामी संस्करण में कर दी जायगी। जो सज्जन पुस्तक की त्रुटियों से लेखक को अवगत करेंगे उनका वह बड़ा आभारी रहेगा।

17621

Durga Sah Municipal Library, N. Tal

नवम्बर १९५४

श्रीनेत्र पांडेय,
२७ सी बेली रोड,
नया कटरा,
इलाहाबाद।

विषय-सूची

विषय पृष्ठ

अध्याय १

परिवर्तन की परीक्षा

नव-युग का सूत्रपात—मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। समाज में वह जन्म लेता है, समाज में उसका विकास होता है और समाज में ही उसकी जीवन-लीला समाप्त होती है समाज उसके बाहर तथा भीतर दोनों है। वह अपने कल्याण तथा अपने सर्वाङ्गीण विकास के लिये अपनी कल्पनाओं तथा परिस्थितियों के अनुसार विभिन्न प्रकार की संस्थाओं का निर्माण करता रहता है। कोई सस्था सर्वकालीन तथा संस्कृत नहीं रह पाती वरन् कालान्तर में उसमें विकार उत्पन्न हो जाते हैं और उसका संशोधन तथा परिमार्जन अनिवार्य हो जाता है। मनुष्य अपनी परिस्थितियों तथा अपनी नूतन विचार धाराओं के अनुसार भी नवीन व्यवस्थायें तथा आयोजनायें किया करता है। कभी-कभी अकस्मात् ऐसी घटनायें घट जाती हैं जो मानव जीवन तथा उसकी व्यवस्थाओं में आश्चर्यजनक क्रान्ति उत्पन्न कर देती है। १८५७ की क्रान्ति कुछ इसी प्रकार की घटना थी। उसने भारतीयों के राजनैतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक तथा आर्थिक जीवन में ऐसा परिवर्तन आरम्भ किया कि अनेक इतिहासकारों ने इसे नव-युग का जन्मदाता माना है। इस क्रान्ति के परवर्ती काल के इतिहास पर एक विहङ्गम दृष्टि डालने पर उपरोक्त धारणा की पूर्णरूप से परिपुष्टि हो जाती है और यह स्पष्ट हो जाता है कि इस क्रान्ति ने मध्यकालीन व्यवस्थाओं तथा विचार-धाराओं का उन्मूलन कर आधुनिक काल की व्यवस्थाओं तथा विचार-धाराओं को आरोपित किया। वास्तव में इस क्रान्ति ने भारतीयों को अन्धकार से प्रकाश में पदार्पण कराया और उनके समक्ष राजनैतिक, सामाजिक सांस्कृतिक तथा आर्थिक जीवन का एक नया चित्र उपस्थित किया जिससे वे सवथा अपरिचित थे परन्तु जो इतना चित्ताकर्षक था कि उसका आलिंगन करने के लिये सभी व्यग्र हो उठे। यह नवीन व्यवस्थायें जो इस युग को नवीनता का रंग प्रदान करती हैं निम्नांकित थीं :—

१—**वैधानिक विकास**—१८५७ की क्रान्ति के पूर्व का शासन पूर्ण रूप से स्वेच्छाचारी तथा निरंकुश था। वास्तव में वह काल साम्राज्य विस्तार तथा संघर्ष का था और ऐसे अशान्तिमय वातावरण में वैधानिक विकास सम्भव भी न था, परन्तु जब साम्राज्य विस्तार का कार्य समाप्त हो गया और १८५७ की क्रान्ति करके भारतीयों ने अपने असन्तोष को प्रकट किया तब ब्रिटिश सरकार का ध्यान वैधानिक विकास की ओर आकृष्ट हुआ। प्रायः सभी देशों में मध्य-युग तथा अर्वाचीन काल का मिलन विन्दु वही माना जाता है जहाँ स्वेच्छाचारी तथा निरकुश शासन का अवसान और वैधानिक तथा लोकतन्त्रात्मक व्यवस्था का सूत्रपात होता है। १८५७ के विप्लव के उपरान्त जो क्रमागत वैधानिक विकास आरम्भ हुआ उसने कालान्तर में तीन विभिन्न स्वरूप धारण किया। १९१७ तक यह विकास प्रतिनिधित्व सरकार के रूप में प्रस्फुटित हुआ। इस काल में कौंसिलों की स्थापना की गई और उनमें उत्तरोत्तर मनोनीत अथवा निर्वाचित भारतीयों की सख्या बढ़ती गई। यह वैधानिकता का शैशवकाल कहा जा सकता है। १९१७ से १९४७ तक जो वैधानिक विकास हुआ उसे उत्तरदायी सरकार की स्थापना का काल माना जाता है। इसे हम वैधानिकता की प्रौढ़ावस्था कह सकते हैं। १९१९ के विधान द्वारा प्रान्तों में द्वैध शासन व्यवस्था के स्थापित करने की आयोजना की गई थी।

इस प्रकार इस विधान द्वारा आंशिक उत्तरदायी सरकार के स्थापित करने का प्रयास किया गया। १९३५ के विधान द्वारा एक साहस पूर्ण पग उठाया गया और प्रान्तों को प्रान्तीय स्वतन्त्रता देकर केन्द्र में द्वैध शासन व्यवस्था के स्थापित करने की आयोजना की गई। इस प्रकार प्रान्तों में पूर्ण रूप से उत्तरदायी सरकार की स्थापना करके केन्द्र में भी आंशिक उत्तरदायी सरकार के स्थापित करने की आयोजना की गई। परन्तु दुर्भाग्य वश गत महासमर के आरम्भ हो जाने के फल स्वरूप केन्द्रीय आयोजना असफलता की शिला पर चूर्ण हो गई। युद्ध की अग्नि के शान्त हो जाने के उपरान्त जब भारत को स्वतन्त्रता प्राप्त हुई तब पूर्ण रूप से लोकतन्त्रात्मक सरकार के स्थापित करने का सुअवसर प्राप्त हुआ। फलतः नये संविधान द्वारा स्वतन्त्र लौकिक गण-राज्य की स्थापना हमारे देश में कर दी गई। हमारा नया संविधान न केवल राजनैतिक वरन् आर्थिक, सामाजिक तथा सांस्कृतिक लोकतन्त्र का द्योतक है। इस प्रकार वैधानिकता का जो सूत्रपात १८५७ के राष्ट्रीय आन्दोलन के उपरान्त हुआ वह १९४७ के बाद चूड़ान्त विकास को पहुँच गया।

२—विज्ञान के विकास का युग—प्रायः सभी देशों में आधुनिकता का प्रारम्भ विज्ञान के विकास से होता है। यह विकास शान्ति तथा सुव्यवस्था के काल में अक्षुण्ण रीति से होता है। भारतवासी रूढ़िवादी थे और उनका दृष्टिकोण प्रधानतः आध्यात्मिक था। अतएव वे विज्ञान का स्वागत करने के लिये उद्यत न थे। अतएव प्राचीनता तथा नवीनता का संघर्ष अनिवार्य था। यह संघर्ष १८५७ की क्रान्ति में प्रस्फुटित हो गया। अन्तिम परिणाम यह हुआ कि प्राचीनता की पराजय हुई और जय-लक्ष्मी आधुनिकता को प्राप्त हुई। १८५७ की क्रान्ति के कृष्ण मेघों के मध्य में यही एक रजत-रेखा परिलक्षित होती है। इस क्रान्ति ने भारत में विज्ञान के सुलभ उपक्रमों का उपयोग आरम्भ कर दिया। गमनागमन के साधनों में द्रुतगति से वृद्धि आरम्भ हुई जिसका भारतीयों के राजनैतिक, सामाजिक, आर्थिक सांस्कृतिक सभी प्रकार के जीवन पर गहरा प्रभाव पड़ा। शासन में एकरूपता उत्पन्न हो गई, गृह-सरकार भारत सरकार पर, भारत सरकार का प्रान्तीय सरकार पर तथा प्रान्तीय सरकार का स्थानीय सरकार पर उत्तरोत्तर नियन्त्रण बढ़ता गया सामाजिक बन्धनों में शैथिल्य आरम्भ हो गया और स्पर्शास्पर्श की भावना तिरोहित होने लगी। व्यवसाय की उत्तरोत्तर वृद्धि होने लगी। वकालत, डाक्टरी, पत्रकारी आदि व्यवसाय के नये क्षेत्र परिष्कृत हो गये। भारतीयों ने व्यवसाय के क्षेत्र में पदार्पण करना आरम्भ किया और कालान्तर में भारतवासी अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के क्षेत्र में भी बड़ी निर्भीकता के साथ प्रविष्ट हुये और श्लाघनीय सफलता प्राप्त की। बैंकों तथा आयात-निर्यात के साधनों की बड़ी द्रुतगति से भारत में वृद्धि हुई और भारतीयों के आर्थिक जीवन में बहुत बड़ी क्रान्ति आरम्भ हुई। भारतीयों का जीवन की ओर दृष्टिकोण ही परिवर्तित हो गया। अब वह लौकिक तथा भौतिक होने लगा। मुद्रण कला के विकास हो जाने के फलस्वरूप शिक्षा का प्रसार द्रुतगति से होने लगा। अंग्रेजी शिक्षा की ओर भारतीय आकृष्ट होने लगे, और निःसंकोच समुद्र-यात्रायें करने लगे। इससे भारतीयों की उन्नति का मार्ग परिष्कृत हो गया। विदेश-यात्रा तथा अंग्रेजी के अध्ययन ने भारतीयों में विचार-स्वातन्त्र्य तथा राष्ट्रीयता के भाव जाग्रत कर दिये। सारांश यह है कि विज्ञान के विकास ने भारतीयों को अन्धकार से प्रकाश में ला दिया।

३—राष्ट्रीयता के विकास का युग—१८५७ की क्रान्ति के राष्ट्रीय होने में लोगों को सन्देह हो सकता है परन्तु यह सर्वमान्य है कि गमनागमन के साधनों में वृद्धि हो जाने, राजनैतिक एकता, शासन की एकरूपता स्थापित हो जाने तथा अंग्रेजी भाषा के अध्ययन करने से राष्ट्रीयता की भावना के जाग्रत होने में बड़ी सहायता मिली

और १८५७ की क्रान्ति के उपरान्त यह भावना उत्तरोत्तर बलवती होती गई। पाश्चात्य देशों में नव-युग का आरम्भ प्राय. राष्ट्रीयता की भावना के जागरण से ही माना जाता है। भारत में भी इस भावना ने नये युग का प्रादुर्भाव किया इसमें सन्देह नहीं।

कम्पनी के शासन का अवसान—१८५७ की क्रान्ति के फलस्वरूप लार्ड पामर्स्टन के ह्विग मन्त्रिमण्डल ने भारत में कम्पनी की राजसत्ता को समाप्त करके सम्राट् तथा पार्लियामेंट की प्रभुत्व शक्ति के स्थापित करने का निश्चय किया। अपने अस्तित्व को बनाये रखने का कम्पनी ने अन्तिम प्रयास किया। जेम्स स्टुअर्ट के पुत्र जान स्टुअर्ट मिल ने जो अपनी विद्वता के लिये विख्यात था कम्पनी के पक्ष में एक आवेदन-पत्र तैयार किया जो जनवरी १८५८ में पार्लियामेण्ट के समक्ष उपस्थित किया गया। इस आवेदन-पत्र में कम्पनी के शासन के समर्थन में निम्न-लिखित तर्क उपस्थित किये गये :—

(१) कम्पनी ने ऐसे समय में भारतीय साम्राज्य की स्थापना की थी जब कि पार्लियामेण्ट के नियन्त्रण में बृटिश मन्त्रिमण्डल अटलांटिक महासागर के दूसरे छोर पर एक साम्राज्य खो रहा था।

(२) कम्पनी के पक्ष में दूसरा तर्क यह उपस्थित किया गया था कि थोड़े ही दिन पूर्व १८५३ ई० में उसके अधिकारों की अवधि बढ़ाई गई थी। अतएव इतनी जल्दी उनको समाप्त करना उचित न था।

(३) कम्पनी १८५७ की क्रान्ति के कारणों का पूर्णतया अन्वेषण किया जाय इसका स्वागत करने के लिये उद्यत थी।

(४) कम्पनी का कहना था कि भारतवर्ष में जो कुछ किया गया था अथवा जिसके करने की उपेक्षा की गई थी उसका उत्तरदायित्व बृटिश मन्त्रिमण्डल के ऊपर उतना ही था जितना कम्पनी के ऊपर क्योंकि कम्पनी की सरकार बहुत दिनों से सम्राट् की सरकार के नियन्त्रण में कार्य कर रही थी और अन्तिम निर्णय सम्राट् की ही सरकार का होता था।

(५) यह सर्वथा अनुचित था कि शासन की उस शाखा को जो प्रधानतः दोषी नहीं हो सकती थी सम्भवतः निर्दोष भी हो सकती थी उन्मूलित करके सम्पूर्ण शक्ति शासन की उस शाखा में केन्द्रीभूत की जाय जिसका प्रत्येक गलत काम में निश्चय ही हाथ था।

(६) कम्पनी अपने को उत्तरदायित्व से विमुक्त कर किसी अन्य पर उत्तरदायित्व को नहीं डालना चाहती थी वरन् जिस प्रकार भारत में शासन किया गया है उसका पूर्ण उत्तरदायित्व लेने के लिये उद्यत थी इस उत्तरदायित्व को स्वीकार करना कम्पनी के लिये कोई लज्जा की बात नहीं वरन् गर्व की बात थी। भारत में कम्पनी ने बड़ी सद्भावना के साथ शासन किया था और वह शासन अत्यन्त लाभदायक उन्नतशील तथा श्लाघनीय था और अब उसमें द्रुतगति से उन्नति करने का प्रयत्न किया जा रहा था। कम्पनी का यह भी कहना था कि भविष्य में भारत के शासन में जो कुछ उन्नति एवं परिवर्धन किया जा सकता था वह उसी आधार पर हो सकता था जिसकी नींव कम्पनी ने डाली थी।

(७) कम्पनी का यह भी अनुरोध था कि यदि उसका शासन सम्बन्धी कार्य समाप्त कर दिया जायगा तो इसका यह तात्पर्य होगा कि कम्पनी का भारत में शासन प्रबन्ध अच्छा न था और इससे कम्पनी की प्रतिष्ठा पर धक्का लगेगा। कम्पनी का यह भी कहना था कि भारत के भावी शासन की जो कल्पना की गई है उसमें अनेक आपत्तियों की सम्भावना है।

(८) कम्पनी ने एक अन्य आवेदनपत्र द्वारा भारतीय सरकार तथा साम्राज्य के अन्य उपनिवेशों की सरकार में जो अन्तर था उसकी ओर ध्यान आकृष्ट करते हुये बतलाया कि जिन उपनिवेशों का शासन पार्लियामेंट द्वारा अनुशासित मन्त्री के हाथ में था वह सब

बृटिश साम्राज्य से निकलते जा रहे थे। इस प्रकार अमेरिका तथा अन्य उपनिवेश अलग हो चुके थे। इन उपनिवेशों को स्वायत्त शासन दे दिया गया था परन्तु भारत में इस नीति का अनुसरण नहीं किया जा सकता था क्योंकि यहाँ पर प्रतिनिधित्व-संस्थाओं का विकास नहीं हो सका था।

(६) कम्पनी का यह भी अनुरोध था कि यदि भारत का शासन सम्राट् को हस्तान्तरित कर दिया जायगा तो पालियामेण्ट का दलगत, अप्रभावपूर्ण एवं अवाछनीय नियन्त्रण स्थापित हो जायगा। इसके विपरीत संचालक समिति (Court of Directors) का नियन्त्रण स्वतन्त्र, अदलीय, कुशल तथा निष्पक्ष था।

(१०) कम्पनी का यह भी तर्क था कि मन्त्री की सहायता के लिये एक ऐसी समिति का होना अनिवार्य है जिसमें ऐसे अनुभवी राजनीतिज्ञ हों जिन्हें भारत के मामलों का पूर्ण ज्ञान प्राप्त हो और उसे इस बात में सन्देह था कि संचालक समिति से अधिक अनुभवी एवं दक्ष समिति का निर्माण हो सकता है।

(११) कम्पनी ने सम्राट के मन्त्री को भारतीय नौकरियों के प्रदान करने के अधिकार को सौंप देने से सम्भावित दोषों की ओर भी संकेत किया और बतलाया कि भारत में नौकरियों के इतना उत्तम होने का कारण यह था कि जिन्हें नियुक्ति का अधिकार दिया गया था उनका किसी दल से कोई सम्बन्ध न था और पालियामेण्ट की सहायता की उसे आवश्यकता नहीं रहती थी।

(१२) कम्पनी का यह भी कहना था कि यदि भारतीय शासन का हस्तान्तरण करना ही है तो कम से कम यह समय ठीक नहीं है। इसे ऐसे समय में करना चाहिये जब इसे सम्प्रति में घटित दुर्घटनाओं से सम्बन्धित न किया जा सके।

कम्पनी के उपरोक्त तर्कों का खण्डन प्रधान मन्त्री लार्ड पामर्स्टन तथा सर जार्ज कार्नवेल लेविस ने बड़ी योग्यता पूर्वक किया और भारत में कम्पनी के शासन के समाप्त करने के पक्ष में निम्न-लिखित तर्क उपस्थित किये:—

(१) १२ फरवरी १८५८ को प्रधान मन्त्री पामर्स्टन ने लोक सभा में द्वैध शासन-व्यवस्था को समाप्त करने के लिये एक विधेयक उपस्थित करते हुये अपने चिरस्मरणीय वक्तव्य में बतलाया कि कम्पनी के शासन का एक बहुत बड़ा दोष यह था कि वह अनुत्तरदायी सरकार थी। "हमारी राजनैतिक व्यवस्था का यह सिद्धान्त है कि सभी शासन सम्बन्धी कार्य मन्त्रि-उत्तरदायित्व से समन्वित होना चाहिये—पालियामेण्ट के प्रति उत्तरदायित्व, लोकमत के प्रति उत्तरदायित्व, सम्राट् के प्रति उत्तरदायित्व; परन्तु इस विषय में भारत सरकार का प्रमुख कार्य एक ऐसी संस्था को दिया गया है जो न तो पालियामेण्ट के प्रति उत्तरदायी है, न सम्राट् द्वारा नियुक्त की जाती है वरन् ऐसे व्यक्तियों द्वारा निर्वाचित की जाती है और कुछ स्टाक का अधिकारी होने के अतिरिक्त जिसका भारत के साथ कोई सम्बन्ध नहीं होता।" सारांश यह है कि संचालक समिति कम्पनी के हिस्सेदारों के प्रति उत्तरदायी थी।

(२) लार्ड पामर्स्टन के विचार में कम्पनी के शासन का दूसरा दोष यह था कि द्वैध शासन-व्यवस्था अत्यन्त असुविधापूर्ण तथा कष्टकारक थी। इस व्यवस्था में सरकार का कार्य तथा उत्तरदायित्व संचालक समिति (Court of Directors), नियन्त्रण समिति (Board of Control) तथा गवर्नर-जनरल में विभक्त रहता था। इन तीनों अधिकारियों में लक्ष्य की एकता का होना असम्भव था और सूचना-संचरण सुविधाजनक न था। अत्यन्त आवश्यक एवं महत्वपूर्ण विषयों पर भी भारत में सूचना भेजने के पूर्व उसे केननरो तथा इण्डिया हाउस के मध्य जो लन्दन के दो छोर पर स्थित थे उस सूचना को कई चक्कर लगाना पड़ता था। फलतः कार्य में अत्यन्त विलम्ब होता था और लोक-सेवा की क्षति पहुँचती थी।

(३) लार्ड पामर्स्टन ने लोगों का ध्यान पार्लियामेण्ट की बुद्धिसत्ता, राजीतिज्ञता तथा उत्तरदायित्व की भावना की ओर आकृष्ट किया और बतलाया कि भारतीय शासन में जो कुछ सुधार हुआ है जिस पर कम्पनी के संचालक गर्व करते है वह पार्लियामेण्ट में किये गये वाद-विवाद के दबाव के फलस्वरूप हुये है। यदि पार्लियामेण्ट में भारत सम्बन्धी वाद-विवाद न हुये होते तो भारत में शासन-सुधार न हुआ होता। अतएव सुधार का श्रेय पार्लियामेण्ट को ही है।

(४) सर जार्ज कानवाल लेविस के कथनानुसार इस पृथ्वी पर कोई अन्य सभ्य सरकार न थी जो इतनी भ्रष्टाचारी, विश्वासघाती तथा लुटेरी रही हो जैसी कि ईस्ट इण्डिया कम्पनी १७६५ से १७८४ तक थी। पार्लियामेण्ट का नियन्त्रण १७८४ से आरम्भ हुआ था और तभी से कम्पनी का शासन सहनीय हो सका था।

(५) कम्पनी का कहना था कि एक ऐसी समिति की अनिवार्यता है जिसके सदस्यों को भारत के विषयों का पूर्ण अनुभव हो। लार्ड पामर्स्टन ने मन्त्री को परामर्श देने के लिये ऐसी समिति की आवश्यकता को स्वीकार कर लिया और जो विधेयक पार्लियामेण्ट में रक्खा उसमें ऐसी समिति की व्यवस्था की जिसे कम्पनी अनिवार्य समझती थी।

(६) कम्पनी ने नौकरियों को मन्त्री के नियन्त्रण में रखने पर भी आपत्ति की थी और उसके दोषों की ओर संकेत किया था। लार्ड पामर्स्टन ने इस आरोप का उत्तर देते हुये बतलाया कि कार्य-कारिणी को नौकरियों से सम्बन्धित ऐसा अतिरिक्त अधिकार न दिया जायगा जिससे लोक-सभा (House of Commons) में न्यूनतम भी वैधानिक ईर्ष्या उत्पन्न हो।

(७) कम्पनी के इस तर्क का उत्तर देते हुये कि शासन के हस्तान्तरण के लिये यह उचित समय न था लार्ड पामर्स्टन ने कहा कि विचित्र आवश्यक स्थितियों में ही विभिन्न शासन व्यवस्थाओं की असुविधायें सरकार तथा जनता के समक्ष आती हैं और उन्हें तुरन्त समाप्त कर देना ही उचित होता है।

(८) लार्ड पामर्स्टन ने यह भी बतलाया कि उन दिनों भारत में जो सरकार थी उसमें वह किसी प्रकार के परिवर्तन की आयोजना करने नहीं जा रहा था। अतएव हस्तान्तरण का विरोध निरर्थक है।

(९) लार्ड पामर्स्टन ने यह भी तर्क उपस्थित किया कि कम्पनी की सरकार दुर्बल थी और उसके स्थान पर सम्राट् की अधिक सबल तथा प्रभावशाली सरकार की स्थापना करना सर्वथा उचित है और विशेषकर ऐसी स्थिति में जब शान्ति स्थापित करने का कार्य अत्यन्त कठिन हो रहा है।

(१०) कम्पनी की इतिश्री करने वालों का एक यह भी तर्क था कि भारतीय दृष्टिकोण से सम्राट् में कम्पनी से कहीं अधिक आकर्षण होगा।

(११) कम्पनी के शासन के आलोचकों का यह भी कहना था कि यद्यपि इसमें सन्देह नहीं कि कम्पनी का शासन सम्बन्धी कार्य प्रधान और व्यापारिक कार्य गौण हो गया था परन्तु एक विशाल साम्राज्य का एक व्यवसायिक संस्था द्वारा शासन करना एक प्रकार का विरोधाभास था।

(१२) कम्पनी के शासन को समाप्त करने वालों का एक यह भी तर्क था कि जब कम्पनी को नया चार्टर देने का समय आता था तभी पार्लियामेण्ट भारतीय मामलों में अपनी अभिरुचि दिखाती थी। लार्ड मैकाले ने १८३३ ई० में पार्लियामेण्ट में अपने एक वक्तव्य में कहा था, "कोल्ड बाथ फ़ील्ड्स में एक भग्न शिर भारत के तीन घमासान युद्धों से कहीं अधिक सनसनी फैलाता है।" अतएव हस्तान्तरण से पार्लियामेण्ट भारत के मामलों में अधिक अभिरुचि लेने लगेगी।

समालोचना—इसमें सन्देह नहीं कि कम्पनी की मनोवृत्ति व्यवसायिक थी और

उसका लोक-हित में धन व्यय करने की ओर उतना ध्यान नहीं रहता था जितना धन एकत्रित करने की ओर परन्तु इतना श्रेय तो उसे प्राप्त ही है कि जहाँ यूरोप का अन्य जातियाँ पूर्व ही में साम्राज्य निर्माण करने में असफल रहीं वहाँ उसने एक विशाल साम्राज्य स्थापित करने में पूरा सफलता प्राप्त की। यह भी सत्य है कि क्लाइव तथा वारेन हास्टिंग्स के समय में अत्यन्त क्रूरता के कार्य किये गये थे और उसके बाद भी अनेक बार घृणित कार्यों से कम्पनी ने अपनी नीति को कलंकित किया था परन्तु इसमें भी सन्देह नहीं कि क्लाइव से लेकर डलहौजी तक इसके नौकरों ने विजय तथा शासन के क्षेत्र में अत्यन्त स्थल तथा श्लाघनीय कार्य किया। क्लाइव, वेलेजली, लार्ड हास्टिंग्स तथा डलहौजी ने भारत में विशाल बृटिश साम्राज्य की स्थापना की थी और वारेन हेस्टिंग्स, कार्नवालिस, मनरो, एल्फिन्स्टन, बेन्टिङ्क आदि ने शासन के क्षेत्र में श्लाघनीय कार्य किया था। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि कम्पनी ने कोई ऐसा कार्य नहीं किया था जिससे उसके अस्तित्व को समाप्त करना न्याय-संगत कहा जा सके। परन्तु यह स्मरण रखने की बात है कि यदि १८५७ की क्रान्ति न भी हुई होती तो भी कम्पनी का राजनैतिक अस्तित्व समाप्त हो जाना अवश्यम्भावी था क्योंकि १८५७ की क्रान्ति के बहुत पूर्व से ही कम्पनी की सत्ता उत्तरोत्तर समाप्त होती जा रही थी और सम्राट् तथा पार्लियामेण्ट की सत्ता बढ़ती जा रही थी। परन्तु कम्पनी के आलोचकों की यह आशा कि सत्ता के हस्तान्तरित हो जाने पर पार्लियामेण्ट भारतीय मामलों में अधिक रुचि लेने लगेगा एक दुराशा मात्र सिद्ध हुई क्योंकि सत्ता के हस्तान्तरित हो जाने पर पार्लियामेण्ट बहुत दिनों तक भारत की ओर से उदासीन रही परन्तु यह सब होते हुये भी कम्पनी के अवसान का बिना उसके शासन की निन्दा किये हुये स्वागत ही करना चाहिये क्योंकि इसके उपरान्त भारत में नव-युग का प्रादुर्भाव हुआ और भारतीयों के राजनैतिक, सामाजिक, आर्थिक तथा सांस्कृतिक जीवन में महान् परिवर्तन आरम्भ हो गया।

परिवर्तन की रूपरेखा—१८५७ की क्रान्ति के उपरान्त जो राजनैतिक परिवर्तन हुआ उसकी रूप-रेखा निम्नलिखित थी :—

(१) कम्पनी की राज सत्ता समाप्त कर दी गई और भारत में सम्राट् तथा पार्लियामेण्ट की प्रभुत्व-शक्ति स्थापित कर दी गई।

(२) संचालक समिति (Court of Directors) तथा नियन्त्रण समिति (Board of Control) को समाप्त करके द्वैध शासन का अन्त कर दिया गया।

(३) नियन्त्रण समिति के प्रेसीडेन्ट के स्थान पर भारत-मन्त्री (Secretary of State for India) की नियुक्ति की व्यवस्था की गई जो बृटिश पार्लियामेण्ट तथा मन्त्रि-मण्डल का सदस्य होगा और अपने सभी कार्यों के लिये पार्लियामेण्ट के प्रति उत्तरदायी होगा।

(४) भारत-मन्त्री की सहायता के लिये १५ सदस्यों की एक परामर्शदात्री समिति होगी। प्रारम्भ में इनकी नियुक्ति आजन्म के लिये होगी तदुपरान्त १० से १५ वर्ष तक के लिये होगी। इन १५ सदस्यों में से ८ को सम्राट् मनोनीत करेगा और ७ को संचालक समिति। इन ७ स्थानों में कालान्तर में जो स्थान रिक्त हो जायेंगे उनकी पूर्ति परामर्शदात्री समिति स्वयम् करेगी। समिति का कार्य भारत-मन्त्री को केवल परामर्श देना था जिसे वह मानने के लिये बाध्य न था जब तक वह ऐसा विषय न हो जिससे भारत के व्यय में किसी प्रकार की वृद्धि हो। परामर्शदात्री समिति के सदस्यों के लिये यह आवश्यक था कि या तो वे संचालक समिति के सदस्य रह चुके हों या भारत में कुछ समय तक सैनिक अथवा असैनिक सेवा कर चुके हों या भारत में कुछ समय तक निवास कर चुके हों परन्तु स्थानीय शासन से असम्बन्धित रहे हों।

(५) गृह-सरकार का भारत सरकार पर पहिले से अधिक नियन्त्रण स्थापित हो गया।

फलतः वाइसराय को उतनी कार्य स्वतन्त्रता न रह गई जितनी गवर्नर-जनरल को प्राप्त थी।

क्या परिवर्तन औपचारिक (Formal) था ?—सर एच० एस० कनिंघम के विचार में कम्पनी से सम्राट् तथा पार्लियामेण्ट को प्रभुत्वशक्ति का हस्तान्तरण केवल औपचारिक था वास्तविक नहीं। कनिंघम का यह कथन सर्वथा सत्य प्रतीत होता है क्योंकि यह परिवर्तन आकारिक था तात्विक नहीं। वास्तव में १८५८ के बहुत पूर्व ही वास्तविक शक्ति नियन्त्रण समिति (Board of Control) के अध्यक्ष के हाथ में चली गई थी और संचालक लोग परामर्शदाता की कोटि में आ गये थे। कम्पनी के कार्यों में पार्लियामेण्ट का प्रथम हस्तक्षेप १७७३ ई० में रेग्यूलेटिंग एक्ट द्वारा आरम्भ हुआ था। इसके उपरान्त पार्लियामेंट का हस्तक्षेप उत्तरोत्तर बढ़ता गया और कम्पनी के अधिकारों में क्रमागत कमी होती गई। सम्राट् तथा पार्लियामेण्ट के हाथ में क्रमशः शक्ति हस्तान्तरित होती गई। यह क्रम निरन्तर चलता रहा और १८५८ में इसकी पूर्णाहुति हो गई।

रेग्यूलेटिंग ऐक्ट के उपरान्त दूसरा हस्तक्षेप १७८४ ई० में पिट्स इण्डिया ऐक्ट द्वारा हुआ। इस ऐक्ट ने नियन्त्रण को संचालक समिति (Court of Directors) तथा सम्राट् द्वारा नियुक्त नियन्त्रण समिति (Board of Control) में विभक्त कर दिया गया। इस प्रकार कम्पनी की शक्ति को एक दूसरी ठेस लगी।

१७९३ ई० में कम्पनी को जब नया चार्टर प्रदान किया गया तब यह निर्धारित किया गया कि वार्षिक आय-व्यय का ब्यौरा पार्लियामेण्ट के समक्ष उपस्थित किया जाय। इस प्रकार सम्राट् का नियन्त्रण कम्पनी पर पहिले से अधिक बढ़ गया। कम्पनी का व्यवसायिक एकाधिकार भी धीरे-धीरे घटने लगा और कुछ अंग्रेजों को कुछ सीमित अंश में भारत से व्यापार करने की आज्ञा मिल गई।

१८१३ के चार्टर ऐक्ट द्वारा भारत के व्यापार का द्वार सबके लिये खोल दिया गया परन्तु वैधानिक दृष्टिकोण से इस ऐक्ट का एक बहुत बड़ा महत्व यह है कि इसने कम्पनी के अधिकृत प्रदेश पर सम्राट् की प्रभुत्व-शक्ति स्थापित कर दी।

१८३३ के चार्टर ऐक्ट द्वारा कम्पनी की शक्ति पहिले से भी कम कर दी गई और सम्राट् के नियन्त्रण में अपेक्षाकृत वृद्धि हो गई। यद्यपि कम्पनी को २० वर्ष के लिये भारत-भूमि पर अपना अधिकार रखने की आज्ञा दे दी गई परन्तु अब वह इसे सम्राट् तथा उसके वंशजों एवं उत्तराधिकारियों की धरोहर के रूप में रक्खेगी। अब कम्पनी को अपना व्यवसायिक कार्य समाप्त कर देना पड़ा और इसके शासन सम्बन्धी कार्यों का संचालन नियन्त्रण समिति के नियन्त्रण में जो पार्लियामेण्ट का प्रतिनिधित्व करेगी संचालन समिति द्वारा होगा।

१८५३ के चार्टर ऐक्ट ने कम्पनी पर अन्तिम घातक प्रहार किया। इस ऐक्ट द्वारा कम्पनी को चार्टर तो मिला परन्तु किसी निश्चित समय के लिये नहीं। इससे यही निष्कर्ष निकलता है कि कम्पनी के अस्तित्व को किसी भी समय समाप्त करके भारत की राजसत्ता सम्राट तथा पार्लियामेण्ट को हस्तान्तरित की जा सकती थी। इस ऐक्ट द्वारा कुछ अन्य ऐसे परिवर्तन किये गये जिससे संचालकों के अधिकारों में कमी हो गई। संचालकों की संख्या २४ से घटा कर १८ कर दी गई जिनमें से ६ की नियुक्ति सम्राट् करेगा। १८५३ के ऐक्ट द्वारा सिविल सर्विस में प्रतियोगिता की परीक्षा द्वारा नियुक्ति की आयोजना की गई। इससे संचालकों के नियुक्ति सम्बन्धी अधिकार पर भी बहुत बड़ा आघात लगा। नियन्त्रण समिति के माध्यम द्वारा सम्राट को भारतीय शासन में निषेधात्मक अधिकार प्राप्त हो गया था। भारत का शासन सम्राट् तथा पार्लियामेण्ट द्वारा बनाये हुये नियमों के अनुसार संचालित होता था। भारत का बड़े से बड़ा पदाधिकारी नाम-मात्र के लिये

कम्पनी का कर्मचारी होता था और अपने सब कार्यों के लिये नियन्त्रण समिति के अध्यक्ष के प्रति उत्तरदायी होता था जो सम्राट द्वारा मनोनीत किया जाता था। ब्यौरे के परिवर्तन भी औपचारिक ही थे। नियन्त्रण समिति तथा संचालक समिति को समाप्त करके भारत मन्त्री तथा कौंसिल की स्थापना की गई थी। वास्तव में केवल इतना ही परिवर्तन १८५८ के ऐक्ट द्वारा किया गया था। भारत की शासन व्यवस्था में इस विधान ने कोई परिवर्तन नहीं किया। न तो सरकार की नीति में किसी प्रकार का परिवर्तन हुआ, न प्रयुक्त कानूनों में और न पदाधिकारियों में। अतएव यह कहना यथार्थ ही है कि १८५७ की क्रान्ति के पूर्व ही भारत का शासन वस्तुतः सम्राट् के नियन्त्रण में आ गया था। अतएव १८५७ की क्रान्ति के उपरान्त शासन का हस्तान्तरण औपचारिक मात्र था तात्विक नहीं और कनिंघम महोदय का कथन सत्यगर्भित है।

महारानी विक्टोरिया का घोषणा पत्र—दैवयोग से जिस कम्पनी की स्थापना महारानी एलिज़ाबेथ के शासन काल में हुई थी उसका अन्त महारानी विक्टोरिया के राजत्व काल में हो गया अर्थात् एक रानी ने उसे जन्म दिया और दूसरी ने उसकी जीवन-लीला समाप्त कर दी। जब भारत का शासन महारानी विक्टोरिया को हस्तान्तरित हो गया तब उसने नई शासन-व्यवस्था का आरम्भ एक घोषणा-पत्र द्वारा किया। यह घोषणा-पत्र महारानी विक्टोरिया के आदेशानुसार लार्ड डर्बी द्वारा प्रस्तुत किया गया था। महारानी ने स्वयम् भी इसके तैयार करने में बड़ा योग दिया था और दया, उदारता तथा धार्मिक सहिष्णुता के भावों से इसे गर्भित कराया था। पहिली नवम्बर १८५८ को प्रयाग में बड़ी धूम-धाम के साथ एक दरबार किया गया जिसमें लार्ड केनिङ्ग ने महारानी के घोषणा-पत्र को पढ़ कर सुनाया। इस घोषणा-पत्र में निम्न-लिखित सिद्धान्त सन्निहित थे:—

(१) **राज्य-विस्तार की कामना का अवसान**—महारानी ने भारतीयों को यह विश्वास दिलाया कि "इस समय भारत में जितना मेरा राज्य है मैं उसे बढ़ाना नहीं चाहती हूँ।"

(२) **देशी नरेशों के अधिकारों की रक्षा**—महारानी ने देशी नरेशों को सन्धियों की रक्षा तथा प्रतिज्ञाओं के पालन करने का विश्वास दिलाते हुये वचन दिया कि "मैं देशी नरेशों के अधिकारों तथा मान-मर्यादा को अपने ही अधिकारों तथा मान-मर्यादा के समान समझूँगी।

(३) **राजधर्म के पालन करने का वचन**—महारानी ने अपनी घोषणा में यह घोषित करवाया कि "राजधर्म पालन करने के लिये जिस प्रकार मैं अपनी अन्यान्य प्रजाओं से प्रतिज्ञाबद्ध हूँ, वैसे ही भारत की प्रजा के निकट भी प्रतिज्ञाबद्ध रहूँगी। सर्वशक्तिमान परमात्मा की दया से मैं उन प्रतिज्ञाओं का यथाशक्ति यथारीति पालन करूँगी।"

(४) **धार्मिक सहिष्णुता की नीति का अनुसरण**—महारानी ने धार्मिक सहिष्णुता की नीति का अनुगमन करने का वचन दिया और कहा, "ईसाई धर्म पर मेरा दृढ़ विश्वास है। इसके आश्रय से मुझे जो शान्ति मिली है, उसे कृतज्ञतापूर्वक स्वीकार करते हुये, मैं स्पष्ट कह देना चाहती हूँ कि अपने धर्म को प्रजा से मनवाने के लिये न मेरी इच्छा है और न मुझे अधिकार है। मैं अपनी यह राजकीय इच्छा प्रकट करती हूँ कि कोई व्यक्ति अपने धार्मिक विश्वास अथवा रीतियों के कारण, न किसी प्रकार अनुग्रहीत किया जाय और न किसी प्रकार उत्पीड़ित किया जाय अथवा छेड़ा जाय। निष्पक्ष भाव तथा समान रूप से सबकी कानून द्वारा रक्षा की जाय। जो मेरे आधीन शासन कार्य में नियुक्त

हैं उन्हें मैं आज्ञा देती हूँ कि वे मेरी किसी प्रजा के धर्म अथवा उपासना में किसी प्रकार का हस्तक्षेप न करें। यदि वे ऐसा करेंगे, तो मेरी अत्यन्त अप्रसन्नता के पात्र होंगे।"

(५) स्वतन्त्रता तथा समानता का व्यवहार—महारानी ने अपनी घोषणा में भारतीयों की स्वतन्त्रता की रक्षा तथा सबके साथ समान रूप से व्यवहार करने का वचन दिया। इससे भारतीयों को बड़ा आश्वासन प्राप्त हुआ।

(६) क़ानून का निष्पक्ष संरक्षण—महारानी ने अपनी घोषणा द्वारा अपनी भारतीय प्रजा को यह आश्वासन दिया था कि सभी को निष्पक्ष रूप से क़ानून का संरक्षण प्राप्त होगा।

(७) सरकारी नौकरियों का योग्यतानुसार उपभोग—महारानी ने अपनी घोषणा द्वारा अपनी भारतीय प्रजा को यह सूचित किया था कि "मेरी यह भी इच्छा है कि यथासम्भव मेरी प्रजा को वह चाहे किसी भी जाति अथवा धर्म की माननेवाली हो, अपनी शिक्षा, योग्यता तथा सच्चरित्रता के कारण, सरकार के अधीन जिस किसी कार्य के करने योग्य हो वह कार्य उसको बिना किसी पक्षपात के दिया जाय।"

(८) प्राचीन स्वत्वों, रीति-रिवाजों तथा सम्पत्ति का संरक्षण—महारानी ने अपने घोषणा-पत्र में बतलाया कि "भारतवासियों को अपने पूर्वजों से भूमि मिली है, उसके लिये उनकी कितनी माया और ममता होगी इसको मैं भली-भाँति समझती हूँ और उसका आदर करती हूँ। इन सब ज़मीनों पर जिसका जैसा और जितना अधिकार है, उसकी रक्षा करना चाहती हूँ; पर उन्हें नियमानुसार लगाया हुआ कर देना पड़ेगा। मेरी इच्छा है कि क़ानून बनाते समय तथा क़ानूनों को व्यवहार में लाते समय भारत के प्राचीन स्वत्वों और रीति-रिवाजों का पूरा ध्यान रक्खा जाय।"

(९) विद्रोहियों को क्षमादान—महारानी ने उन सब क्रान्तिकारियों को, जो अब तक ब्रिटिश सरकार के विरोध में शस्त्र धारण किये हुये थे और जिन्होंने किसी अंग्रेज की हत्या नहीं की थी, क्षमा करने की घोषणा कर दी।

(१० भारतीयों के कल्याण की कामना—महारानी ने घोषणा-पत्र के अन्त में यह कहा कि "ईश्वर की कृपा से जब शान्ति फिर स्थापित हो जायगी, तब भारत की कलाओं को बढ़ाने, लोकोपयोगी कार्यों तथा सुधारों की ओर अधिक ध्यान देने तथा भारत की प्रजा के उपकार के लिये शासन करने की मेरी परम इच्छा है। उनकी समृद्धि में हमारी शक्ति, उनके सन्तोष में हमारी सुरक्षा और उनकी कृतज्ञता में हमारा पुरस्कार होगा।

घोषणा पत्र का महत्त्व—महारानी विक्टोरिया के घोषणापत्र पर विद्वानों ने विभिन्न प्रकार के विचार प्रकट किये हैं। घोषणाओं के सम्बन्ध में फ्रीमैन की धारणा है कि इनमें असत्य का प्राचुर्य रहता है। यद्यपि विक्टोरिया के उच्चादर्श तथा प्रजा-प्रेम पर किसी को सन्देह नहीं हो सकता परन्तु यह कभी न भूलना चाहिये कि इङ्गलैण्ड की शासन-व्यवस्था में नीति को कार्यान्वित करना मन्त्रियों का कार्य होता है सम्राट् अथवा सम्राज्ञी का नहीं। सर जान स्टीफन के मतानुसार विक्टोरिया का घोषणा-पत्र केवल दरबार में सुनाये जाने के लिये था। यह कोई सन्धि न थी, जिसके अनुसार कार्य करने के लिये अंग्रेजों पर किसी प्रकार का उत्तरदायित्व हो। परन्तु इसमें तो सन्देह ही नहीं कि जिस उद्देश्य से यह घोषणा-पत्र प्रकाशित किया गया था उसकी पूर्ति अवश्य हुई। भारत की भोली-भाली जनता पर इसका बहुत अच्छा प्रभाव पड़ा।

कुछ विद्वानों के विचार में महारानी विक्टोरिया का घोषणा-पत्र नये युग का आरम्भ करता है। इस घोषणा के उपरान्त बृटिश पार्लियामेण्ट के नियन्त्रण में प्रत्यक्ष रूप में भारत का शासन आरम्भ हो गया। अब भारत की आय से कम्पनी के हिस्सेदारों को लाभ

देने की व्यवस्था न रही वरन् वह सार्वजनिक हित के कार्यों में व्यय होने लगी। भारतीयों को यह आश्वासन प्राप्त हो गया कि सम्राट् का सभी प्रजा के साथ समानता तथा निष्पक्षता का व्यवहार किया जायगा और धार्मिक मामलों में राज्य सर्वथा तटस्थ रहेगा और सहिष्णुता की नीति का अनुसरण करेगा। जाति, धर्म, रूप, रंग का विचार न करके सबको शिक्षा, योग्यता तथा सदाचरण के अनुसार सरकारी नौकरियों के देने का वचन दिया गया। भारतीयों के पुरातन अधिकारों तथा रीति-रिवाजों की सुरक्षा का भी आश्वासन दिया गया। प्रजा की उन्नति के लिये विभिन्न प्रकार की आयोजनाओं के करने का वचन दिया गया।

उपरोक्त समीक्षा से यह स्पष्ट हो जाता है कि महारानी विक्टोरिया के घोषणा-पत्र से भारत में नवयुग का प्रादुर्भाव होता है। यद्यपि यह सत्य है कि महारानी के घोषणा-पत्र में कोई ऐसी बात नहीं थी जो इसके पूर्व न कही जा चुकी हो और जिसे विधानों में सन्निहित न किया हो परन्तु महारानी के घोषणा-पत्र को दम्भ के परिधान में परिवेष्टित-पत्र नहीं कहा जा सकता। यह घोषणा-पत्र महारानी की उदार भावना से प्रस्फुटित हुआ था और इसने भारतीयों के हृदय में आशावादिता को जन्म दिया। इस घोषणा के फलस्वरूप ही भारत में वैधानिक विकास आरम्भ हुआ, व्यवस्थापिकाओं की स्थापना हुई, प्रतियोगिता की परीक्षाएं आरम्भ हुई और भारतीयों को स्वायत्त शासन का अधिकार देकर स्थानीय संस्थाओं के प्रबन्ध करने का भार उन पर डाल दिया गया।

कुछ विद्वानों ने महारानी के घोषणा-पत्र को भारतीय स्वतन्त्रता का मैगना कार्टा (अधिकार-पत्र) बतलाया है। यह कथन भी सत्य से रिक्त नहीं है। इस घोषणा-पत्र ने भारतीय नरेशों को यह आश्वासन दिया कि उनका राज्य सुरक्षित रहेगा और उनके स्वाभिमान तथा मान-मर्यादा का ध्यान रक्खा जायगा। इस घोषणा-पत्र ने साम्राज्यवादी नीति को समाप्त कर दिया। फलतः गोद लेने की प्रथा के निषेध का अन्त हो गया। कैनिङ्ग ने यह घोषणा कर दी कि महारानी ने भारतीय नरेशों की गोद लेने की प्रथा का स्वागत किया है। इस वक्तव्य ने सन्तानविहीन देशी नरेशों के हृदय में आशा का संचार किया। अब वे इस ओर से निश्चिन्त हो गये और उन्हें अपने राज्य के विध्वंस होने का भय न रहा।

भारतीय नरेशों के लिये ही नहीं वरन् भारतीय जनता के लिये भी महारानी का घोषणा-पत्र सान्त्वनादायक था। इसने उन्हें शान्ति तथा सम्पन्नता का वचन दिया। उनके धर्म की रक्षा तथा समानता के व्यवहार के लिये आश्वासन दिया और योग्य होने पर उच्च से उच्च नौकरियों की प्राप्ति की आशा दिलाई गई।

सारांश यह है कि महारानी के घोषणा-पत्र ने भारतीय नरेशों के अधिकारों तथा मान-सम्मान की रक्षा की, धार्मिक सहिष्णुता तथा धर्म की रक्षा का आश्वासन दिया, स्वतन्त्रता तथा समानता का प्रादुर्भाव किया, कानून का संरक्षण सबको प्रदान किया, सरकारी नौकरियों का द्वार योग्य व्यक्तियों के लिये खोल दिया, प्राचीन अधिकारों तथा रीति-रिवाजों की सुरक्षा का वचन दिया, लोकहित के कार्यों के करने तथा प्रजा के हित में शासन करने का आश्वासन दिया। अतएव इसे भारतीयों का अधिकार-पत्र तथा नव-युग का निर्माता कहना यथार्थ है।

अध्याय २

लार्ड केनिङ्ग (१८५६-१८६२ ई०)

केनिङ्ग का प्रारम्भिक जीवन—चार्ल्स जान केनिङ्ग का जन्म १८१२ ई० में हुआ था। वह इङ्गलैण्ड के प्रधान-मन्त्री (१८२७) जार्ज केनिग का पुत्र था। उसकी शिक्षा-दीक्षा ईटन तथा क्राइस्ट चर्च, आक्सफोर्ड में हुई थी जहाँ वह डलहौजी के सम्पर्क में आया था। केनिंग अत्यन्त विलक्षण प्रतिभा का विद्यार्थी था और आक्सफोर्ड विश्वविद्यालय का वह एक लब्ध प्रतिष्ठ स्नातक था। १८३६ ई० में बृटिश पार्लियामेंट में उसने प्रवेश किया और इसके दूसरे वर्ष उसे विसकाउन्ट की उपाधि से विभूषित होने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। १८५२ ई० में वह पोस्ट मास्टर जेनरल के पद पर नियुक्त किया गया था। इस पद पर उसने बड़ी योग्यता तथा कुशलता के साथ कार्य किया और अपने उदार विचारों का परिचय दिया। वह बड़ा ही कर्तव्य-परायण तथा परिश्रमी व्यक्ति था और वैयक्तिक महत्वाकांक्षा का उसमें सर्वथा अभाव था। वह दयालुता, उदारता, सहिष्णुता, निष्पक्षता, शान्तिप्रियता आदि श्लाघनीय गुणों से समन्वित था। १८५५ ई० में लार्ड केनिंग ने अपने प्रसिद्ध भाषण में कहा था, "हमें इसका विस्मरण नहीं करना चाहिये कि भारत के गगन-मण्डल में, जो शान्त है, एक लघु मेघ उठ सकता है जो प्रारम्भ में मनुष्य के हाथ से बड़ा न होगा परन्तु वही बढ़ कर इतना भयावह हो सकता है कि हमारे विनाश से हमें आतंकित कर सकता है।" १८५५ ई० में लार्ड डलहौजी के उपरान्त लार्ड केनिंग भारत का गवर्नर-जनरल नियुक्त किया गया। इसके पूर्व उसे बृटिश मन्त्रिमण्डल का सदस्य होने का सौभाग्य प्राप्त हो चुका था। फरवरी १८५६ को केनिंग कलकत्ता आ गया और अपने पद को ग्रहण कर लिया।

फारस के साथ युद्ध—जिस समय केनिंग ने शासन की बागडोर अपने हाथ में ली उन दिनों भारत की राजनैतिक स्थिति बड़ी ही गम्भीर थी। डलहौजी की साम्राज्यवादी नीति के फलस्वरूप भारत में चारों ओर असन्तोष की अग्नि सुलग रही थी। विदेशी वातावरण भी सङ्कट से रिक्त न था। क्रीमिया का युद्ध जिसमें बृटेन फँसा था मार्च १८५६ में समाप्त हो गया परन्तु इसी वर्ष के अन्तिम महीनों में पामर्स्टन की नीति के फलस्वरूप फारस के साथ संघर्ष आरम्भ हो गया जो विन्सन्ट स्मिथ के विचार में बिल्कुल निरर्थक था।

युद्ध के कारण—फारस के साथ संघर्ष के निम्नलिखित कारण बतलाये जाते हैं :—

(१) सर जान लारेन्स ने १८५५ के आरम्भ में ही अफगानिस्तान के अमीर दोस्त मुहम्मद के साथ मैत्री की सन्धि कर ली थी। इससे अंग्रेजों का फारस के साथ सम्बन्ध खराब हो गया।

(२) इस वैमनस्य के फलस्वरूप फारस ने हिरात को छीन लिया और उस पर अपना अधिकार स्थापित कर लिया। पामर्स्टन के लिये फारस का यह कुकृत्य असह्य था।

(३) हिरात पर अपना अधिकार स्थापित करने के उपरान्त फारसवाले उत्तरी अफगा-

निस्तान पर भी अपना अधिकार स्थापित करने की आयोजना करने लगे। इससे अफगानिस्तान के लिये भयानक आपत्ति उत्पन्न हो गई।

(४) कहा जाता है कि फारस में निवास करने वाली बृटिश प्रजा को अपमानित किया गया था। लार्ड केनिङ्ग ने गृह सरकार की आज्ञा से १८५६ ई० में युद्ध की घोषणा कर दी।

युद्ध की घटनायें—केनिंग ने एक सेना फारस की खाड़ी में भेज दी जिसने बुशीर पर अपना अधिकार स्थापित कर लिया। १८५७ के आरम्भ में केनिंग ने काबुल के अमीर के साथ दूसरी सन्धि की। फारस में बृटिश सेना का सचालन सर जेम्स आउटरम को सौंपा गया था। उसे अपनी आयोजनाओं में पूर्ण सफलता प्राप्त हुई और मई १८५७ में सन्धि हो गई।

युद्ध के परिणाम—संधि के फलस्वरूप फारस के शाह ने हिरात से अपनी सेनायें हटा लीं और हिरात की स्वतन्त्रता को स्वीकार कर लिया, अफगानिस्तान के मामले में हस्तक्षेप न करने और मत-भेद उत्पन्न हो जाने पर अंग्रेजों की मध्यस्थता से दूर करने का वचन दिया। शाह ने पूर्ववत् मान-मर्यादा के साथ बृटिश राजदूत को अपने देश में वापस लेने का वचन दिया।

अवध की व्यवस्था—अवध के बृटिश साम्राज्य में सम्मिलित कर लेने के उपरान्त सर जेम्स आउटरम वहाँ का चीफ कमिश्नर नियुक्त कर दिया गया था। आउटरम ने अवध के शासन का बड़ी सावधानी तथा कुशलता के साथ संचालन किया था। आउटरम के बाद कोवरली जैक्सन अवध का चीफ कमिश्नर नियुक्त किया गया यद्यपि वह बड़ा योग्य व्यक्ति था परन्तु वह बड़ी उग्र प्रवृति का था और धैर्य का उसमें सर्वथा अभाव था। फल यह हुआ कि उस पर नाना प्रकार के आरोप लगाये जाने लगे और उसके विरुद्ध वातावरण बिगड़ गया। इसका परिणाम यह हुआ कि वह अवध से वापस बुला लिया गया और मार्च १८५७ में सर हेनरी लारेन्स उसके स्थान पर चीफ कमिश्नर बना कर भेज दिया गया।

दो महत्वपूर्ण विधान—केनिंग के शासन काल के प्रथम वर्ष में २५ जुलाई १८५६ को जेनरल सर्विस एनलिस्टमेंट ऐक्ट पास हुआ जिसके अनुसार यह निश्चित किया गया कि सेना में केवल उन्हीं लोगों को भर्ती किया जायगा जो न केवल भारत में वरन् भारत के बाहर भी सेवा करने के लिये उद्यत होंगे। इसका यह तात्पर्य था कि जो लोग समुद्र-यात्रा के विरोधी थे और देश के बाहर जाना नहीं चाहते थे उनके लिये सेना में कोई स्थान न था। इससे भारतीयों में बड़ा असन्तोष फैला।

दूसरा महत्वपूर्ण विधान २६ जुलाई १८५६ को पास हुआ। इसने हिन्दू विधवाओं के पुनर्विवाह को वैधानिक स्वरूप दे दिया और उनकी सन्तान के अधिकारों को सुरक्षित कर दिया। कट्टरपन्थी हिन्दुओं पर इस विधान का बड़ा बुरा प्रभाव पड़ा। इसे हिन्दू धर्म तथा प्राचीन रीति-रिवाजों में हस्तक्षेप समझा गया और यह अपवाद फैला कि केनिङ्ग ईसाई धर्म का प्रचार करने के लिये भारत भेजा गया है।

१८५७ की क्रान्ति के उपरान्त—केनिंग के शासन काल की सबसे अधिक महत्वपूर्ण घटना १८५७ की क्रान्ति थी। इसका विस्तृत वर्णन प्रथम खण्ड में किया जा चुका है। क्रान्ति के उपरान्त भी लार्ड केनिंग पूर्ववत् अपने पद पर आसीन रहे। अतएव उन्हें अन्तिम गवर्नर-जनरल तथा प्रथम वाइसराय होने का सौभाग्य प्राप्त था। १८ दिसम्बर १८६२ में एक अंग्रेज विद्वान् जान ब्राइट ने बरमिंघम में अपने एक वक्तव्य

में कहा था कि इस तिथि के पूर्व ग्रेट ब्रिटेन का इतिहास "हमारे भारतीय साम्राज्य की भोली जनता के विरुद्ध सौ वर्ष के पापों की कहानी मात्र है।" यद्यपि जान ब्राइट के इस वक्तव्य में अतिशयोक्ति का प्राचुर्य है परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि १८५७ की क्रान्ति के उपरान्त का इतिहास उसके पूर्व के इतिहास से कहीं अधिक श्लाघनीय है। १८५७ की क्रान्ति की भयानक तथा लोमहर्षक घटनाओं के पश्चात् भारत में अपेक्षाकृत शान्ति रही। कहा जाता है कि जब देश का शासन अच्छा होने लगता है तब इतिहास कुछ अरुचिकर होने लगता है। भ्रष्टाचार, अज्ञानता तथा अन्य सामाजिक कुरीतियों के साथ संघर्ष करके शासनकर्ता तथा समाज-सुधारक जो श्लाघनीय विजय प्राप्त करते हैं वह जन-साधारण के लिये इतनी चित्ताकर्षक नहीं होती जितनी युद्ध में खनखनाती हुई तलवारों तथा धाँय-धाँय करती हुई तोपों की तुमुल ध्वनि। शान्ति कालीन विजय मन्थर-मन्थर गति से प्राप्त की जाती है। १८५७ की क्रान्ति के उपरान्त का काल शान्ति तथा सुव्यवस्था का काल रहा है। इसमें भौतिक, नैतिक तथा मानसिक उन्नति का भगीरथ प्रयास किया गया। इस युग में यातायात के साधनों में अत्यन्त द्रुतगति से वृद्धि हुई और व्यापार का क्षेत्र विस्तृत होता गया और उसके उन्नयन का पूर्ण प्रयास किया गया। जैसा पहिले बतलाया जा चुका है इस काल में शासन-सुधार तथा वैधानिक विकास की ओर विशेष रूप से ध्यान दिया गया।

देशी राज्यों की ओर नया दृष्टिकोण—१८५७ की क्रान्ति के उपरान्त ब्रिटिश सरकार का देशी नरेशों की ओर दृष्टिकोण बदल गया। अब भारत की प्राकृतिक सीमाओं के अन्तर्गत ब्रिटिश सरकार की विजय समाप्त हो गई थी और संरक्षित राज-वर्गों की स्थिति तथा स्थान निश्चित हो चुका था। देशी नरेशों ने क्रान्ति के समय देश-द्रोह के लाञ्छन का विषपान कर ब्रिटिश सरकार का साथ दिया था और उसे विध्वस होने से बचाया था। अब ब्रिटिश सरकार को यह विश्वास हो गया कि भारत में ब्रिटिश साम्राज्य को सुरक्षित रखने के लिये देशी नरेशों के अस्तित्व को बनाये रखना नितान्त आवश्यक है। अतएव देशी राज्यों को संरक्षित रखना ब्रिटिश सरकार की नीति का एक अंग बन गया। अब देशी नरेशों को निस्सन्तान होने पर पुत्र गोद लेने का अधिकार प्राप्त हो गया और अपने राज्य के अस्तित्व की सुरक्षा तथा स्थायित्व का विश्वास हो गया। अब सन्देहशीलता, अविश्वास तथा ईर्ष्या-द्वेष के स्थान को सद्भावना, विश्वास तथा सहकारिता ने ग्रहण कर लिया और वे एक दूसरे को आदर की दृष्टि से देखने लगे। अब केवल कुशासन के ही आधार पर देशी राज्यों के मामले में हस्तक्षेप हो सकता था। यह हस्तक्षेप भी बड़ी सावधानी तथा सतर्कता एवं उदारता के साथ हो सकता था। यह हस्तक्षेप केवल तीन रूप ग्रहण कर सकता था। इसका पहला स्वरूप यह हो सकता था कि देशी राज्य का शासन अस्थायी काल के लिये ब्रिटिश रेजीडेन्ट को सौंप दिया जाय, इसका दूसरा स्वरूप यह हो सकता था कि शासन एक संरक्षण-समिति को दे दिया जाय और इसका तीसरा रूप यह हो सकता था कि शासक को हटा कर उसी वंश के किसी अन्य व्यक्ति को उसके स्थान पर प्रस्थापित कर दिया जाय। इस प्रकार ब्रिटिश सरकार तथा देशी राज्यों के सम्बन्ध में एक नये युग का प्रादुर्भाव हुआ।

उपरोक्त नीति को अविलम्ब क्रियात्मक स्वरूप प्रदान किया गया। १८५९ ई० में देशी नरेशों के पुत्र गोद लेने के अधिकार को स्वीकार कर लिया गया। इस प्रकार राजाओं के एक बहुत बड़े असन्तोष तथा भय के कारण को दूर कर दिया गया। जिन देशी नरेशों, नवाबों तथा जागीरदारों ने क्रान्ति के दमन करने में ब्रिटिश सरकार की सहायता की थी उन्हें लार्ड केनिंग ने जागीरों, उपाधियों तथा धन द्वारा पुरस्कृत किया। निज़ाम को वह सब प्रदेश जो १८५३ में उससे अपहृत कर लिये गये थे पुनः उसे लौटा दिये गये और पाँच

लाख का जो ऋण उसके ऊपर कम्पनी का था उसे क्षमा कर दिया गया। यह ऋण उस सेना के व्यय के फल-स्वरूप निज़ाम पर हो गया था जो उसकी सहायता के लिये उसके राज्य में रक्खी गई थी। अवध की सीमा पर स्थित वनों से आच्छादित तराई का कुछ प्रदेश नैपाल राज्य को दे दिया गया। सिन्धिया, भूपाल की बेगम, बड़ौदा के गायकवाड़ तथा अन्य राजपूत राजाओं को या तो जागीरों से पुरस्कृत किया गया या उनके कर में कमी कर दी गई। १८६१ ई० में अनेक भारतीय राजाओं तथा राजनीतिज्ञों को 'सर' की उपाधि से विभूषित एवं गौरवान्वित किया गया। इस प्रकार साम्राज्यवाद के कार्यालय में निर्मित उपाधियों की श्रृङ्खलाओं से भारतीयों को दासत्व के बन्धन में सम्बद्ध कर दिया गया। भारतीय नरेशों ने राष्ट्रीय आन्दोलन के समय भी अंग्रेज़ों के साथ विश्वासघात नहीं किया और अन्त तक उनके भक्त बने रहे।

श्वेत विद्रोह—१८५९ ई० में केनिङ्ग को श्वेत विद्रोह (White Mutiny) का भी सामना करना पड़ा। जब कम्पनी का भारतीय शासन सम्राट् तथा पार्लियामेण्ट को हस्तान्तरित कर दिया गया तब कम्पनी के सेवक महाराज्ञी के सेवक बन गये। कम्पनी की यूरोपीय सेनाओं में इन दिनों लगभग १६००० सैनिक थे। इन लोगों ने अपने हित की हानि की आशंका करके इस परिवर्तन का विरोध किया और कहा कि चूंकि यह परिवर्तन बिना उनकी अनुमति के किया गया है अतएव यह उनके लिये मान्य न होगा। यूरोपीय सैनिकों के इस विद्रोह को "श्वेत विद्रोह' की संज्ञा दी गई है। इलाहाबाद, मेरठ तथा अन्य महत्वपूर्ण सैनिक केन्द्रों में सैनिकों के इस असन्तोष ने भयानक रूप धारण कर लिया और बड़ी कठिनाई से संघर्ष को रोका जा सका। अन्त में सरकार को झुकना पड़ा और जो सैनिक कार्य नहीं करना चाहते थे उन्हें नौकरी से अलग हो जाने की आज्ञा दे दी गई। फलतः १०००० सैनिक सेना से अलग हो गये। दूसरे वर्ष कम्पनी तथा महाराज्ञी की सेनाओं का समीकरण हो गया और उनका विभेद समाप्त कर दिया गया।

सैनिक संगठन—१८५७ की क्रान्ति के कटु अनुभव तथा श्वेत विद्रोह के फल-स्वरूप सेना का पुनर्सङ्गठन अत्यावश्यक समझा गया। नई आयोजना के अनुसार सेना में दो महत्वपूर्ण परिवर्तन किये गये। पहिले परिवर्तन का सम्बन्ध अंग्रेज तथा भारतीय सेना के अनुपात से था और दूसरे का सेना के भावी संगठन से। सिपाही विद्रोह से अधिकारियों ने इस बात का अनुभव किया कि यूरोपीय तथा भारतीय सैनिकों की संख्या में उचित अनुपात रखना आवश्यक है। फलतः यह निश्चित किया गया कि भविष्य में भारतीय तथा यूरोपीय सैनिकों की संख्या में दो और एक से अधिक का अनुपात न होगा और तोप-खाने में भारतीयों को भर्ती न किया जायगा। इस आयोजना के फल-स्वरूप यूरोपीय सैनिकों की संख्या ७२००० तथा भारतीय सैनिकों की संख्या १३५००० कर दी गई। आवश्यकतानुसार इस संख्या में घटा-बढ़ी होती रही। सेना की संख्या में वृद्धि हो जाने से उसके व्यय में भी वृद्धि होती गई।

दूसरी समस्या स्थानीय यूरोपीय सेना के रखने की थी। यह विवाद पिट के काल से ही चला आ रहा था। पिट जानता था कि गृह सरकार से स्वतन्त्र सेना रखने से कितनी बड़ी आपत्ति उत्पन्न हो सकती है परन्तु समय तथा परिस्थितियों से बाध्य होकर उसने स्थानीय यूरोपीय सेना के रखने की अनुमति दे दी थी। स्थानीय यूरोपीय सेना की संख्या में उत्तरोत्तर वृद्धि होती गई और विद्रोह के समय भारत की यूरोपीय सेना में एक तिहाई स्थानीय सैनिक थे। भारतीय तथा गृह अधिकारियों के समक्ष इस समय स्थानीय यूरोपीय सैनिकों की समस्या भी उपस्थित थी और उस पर विचार हो रहा था। लार्ड कैनिंग का कहना था कि यूरोपीय सेना में कुछ स्थानीय सैनिकों का होना आवश्यक है। इसके विपरीत सर डब्लयू मैन्सफील्ड स्थानीय यूरोपीय सेना के समाप्त कर देने के पक्ष में थे। महाराज्ञी

समीकरण के पक्ष में थी और मई १८६० में मन्त्रि-मण्डल ने समीकरण का निश्चय किया और अगस्त में इंगलैण्ड की लोक-सभा ने इस ध्येय का एक विधेयक पारित कर दिया कि भविष्य में भारत में स्थानीय कार्यों के लिये यूरोपीय सैनिक भर्ती न किये जाय। सेना के इस सम्मिश्रण के फल-स्वरूप सैनिकों तथा अफसरों को भर्ती करने के लिये प्रत्येक प्रेसीडेन्सी में स्टाफ कोर्प्स की व्यवस्था की गई।

आर्थिक सुधार—लार्ड केनिंग को आर्थिक समस्या का भी सामना करना पड़ा। इस आर्थिक दुर्दशा के दो प्रधान कारण थे। पहिला कारण तो यह था कि १८५७ की क्रान्ति के दमन तथा शान्ति स्थापित करने में असंख्य धन व्यय करना पड़ा था और दूसरा कारण समाज तथा शासन का अव्यवस्थित हो जाना था। इस आर्थिक कुव्यवस्था के दुष्परिणाम अत्यन्त भयानक सिद्ध हुये। सरकार को लगभग तीन लाख साठ हजार का घाटा रहा और व्यापारियों में असन्तोष तथा अविश्वास का प्रकोप बढ़ रहा था। इस आर्थिक कुव्यवस्था को सुधारने के लिये दो उपायों का आश्रय लिया जा सकता था। पहिला उपाय तो यह था कि शासन के व्यय में कमी की जाय और दूसरा उपाय यह था कि सरकारी आय में वृद्धि की जाय। केनिंग ने अविलम्ब प्रथम उपाय का अवलम्ब लिया और सेना की संख्या में कमी कर दी गई। फलतः बहुत सी सेनायें जिनकी अब आवश्यकता न थी हटा दी गईं। दूसरे उपाय का अवलम्ब लेने में केनिंग का बड़ा विरोध हुआ क्योंकि करों को बढ़ा करके ही आय में वृद्धि की जा सकती है और कर-वृद्धि असन्तोष का एक बहुत बड़ा कारण बन जाता है। इस स्थिति में केनिंग को एक विशेषज्ञ की आवश्यकता थी जो आर्थिक संगठन में उसे परामर्श दे और उसका पथ-प्रदर्शन करे। फलतः इङ्गलैण्ड से जेम्स विल्सन नामक व्यक्ति जिसे अर्थ-सम्बन्धी सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक प्रचुर ज्ञान था और जो कुछ काल तक अर्थ-सचिव तथा व्यापार समिति (Board of Trade) का उपाध्यक्ष रह चुका था १८५६ ई० में केनिंग की सहायता के लिये इङ्गलैण्ड से भारत भेजा गया। वह गवर्नर-जनरल की कौंसिल का प्रथम अर्थ-सचिव हुआ और आर्थिक पुनर्संगठन का भार उसके ऊपर पड़ा परन्तु दुर्भाग्यवश भारत पहुँचने के आठ मास उपरान्त ही वह पञ्चत्व को प्राप्त हो गया और अपनी आयोजनाओं को वह स्वयम् कार्यान्वित न कर सका। विल्सन के देहावसान के उपरान्त सैमुयल लैङ्ग उसका उत्तराधिकारी नियुक्त किया गया जिसने उसके अपूर्ण कार्य का बड़े धैर्य तथा साहस एवं सलग्नता के साथ सम्पादन किया। विल्सन ने अपनी मृत्यु के पूर्व तीन मुख्य करों का प्रस्ताव रक्खा था। पहिला आय-कर था, दूसरा व्यापार तथा व्यवसाय पर लाइसेन्स और तीसरा देशीय तम्बाकू पर चुङ्गी। इनमें से केवल पहिला ही अर्थात् आय-कर स्वीकृत हुआ, शेष दो कर अस्वीकृत हो गये। आय-कर की दर ५ वर्ष के लिये ५००) अथवा उससे अधिक वार्षिक आय पर ४ प्रति सैकड़ा रक्खी गई। विल्सन ने १० प्रतिशत आयात-कर और नोट का प्रचलन कराया। उसने सैनिक तथा असैनिक व्यय में कमी भी कराई। नमक-कर के बढ़ा देने की आयोजना की गई। लैङ्ग ने विल्सन की नीति का अनुसरण किया। उसकी आर्थिक नीति की एक बहुत बड़ी विशेषता यह थी कि उसने अर्थ का विकेन्द्रीकरण आरम्भ किया। लैङ्ग ने यह प्रस्ताव रक्खा कि कुछ करों के वसूल करने का अधिकार स्थानीय सरकार को दे दिया जाय और उस पर स्थानीय सरकार का पूर्ण नियन्त्रण रहे और स्थानीय कार्यों के लिये वह व्यय किया जाय। इस व्यवस्था ने स्थानीय सरकार में मितव्ययता तथा उत्तरदायित्व की भावना जागृत कर दी। इस प्रकार विल्सन तथा लैङ्ग के आर्थिक सुधारों के फलस्वरूप सरकारी आय-व्यय के बराबर हो गई और सरकार का कार्य सुचारु रीति से संचलित होने लगा।

चाय तथा कहवा की कृषि—केनिंग का शासन-काल औपनिवेशिक दृष्टिकोण से भी बड़ा महत्व रखता है। १८५० में यह ज्ञात हुआ कि आसाम में तथा हिमालय के

पहाड़ी ढालों पर चाय की और नीलगिरि की पहाड़ियों पर कहवा की बड़ी उत्तम कृषि हो सकती है। फलतः कुछ यूरोप निवासियों को कृषि करने के लिये भारत लाया गया। जो भूमि इस प्रकार की कृषि के उपयुक्त समझी गई वह अभी तक बेकार पड़ी थी और निरथक समझी जाती थी। यह सब भूमि राज्य के अधिकार में थी और राज्य की भूमि समझी जाती थी। इस बेकार भूमि के सम्बन्ध में केनिंग के काल में नियम बनाये गये और यूरोपवासियों तथा अन्य लोगों को तीन हजार एकड़ तक भूमि देने की व्यवस्था की गई। इस भूमि के लिये केवल आरम्भ में ही कुछ धन दे देना पड़ता था तदुपरान्त किसी प्रकार का भूमि कर नहीं देना पड़ता था। यूरोपवासियों को भारत में बसाने का कार्य राजनैतिक ध्येय से भी किया गया था। कहा जाता था कि हिमालय की पहाड़ियों में अंग्रेजों के बस जाने से रूसियों के आने का भय न रह जायगा और भारत में बृटिश साम्राज्य की जड़ अत्यन्त प्रबल हो जायगी।

नील का झगड़ा—१८५९ तथा १८६० में यूरोपीय नील-उत्पादकों तथा बंगाल के किसानों में भीषण संघर्ष आरम्भ हो गया। स्थिति ने अत्यन्त भयानक रूप धारण कर लिया और अनेक स्थानों पर उपद्रव उत्पन्न हो गये। झगड़े का कारण यह था कि नीलोत्पादक किसानों की इच्छा के विरुद्ध उन्हें नील की कृषि करने के लिये विवश करते थे। झगड़े का अन्वेषण करने के लिये एक कमीशन नियुक्त किया गया। अन्त में भारत मन्त्री ने यह निर्णय दिया कि यदि कोई किसान नील की कृषि करने से इन्कार करके अपने समझौते को भंग कर देगा तो उस पर न्यायालय में फौजदारी का मुकदमा न चल सकेगा। इस प्रकार अब किसान नील की कृषि करने के लिये बाध्य न थे।

किसानों के हितों की रक्षा—बंगाल में लार्ड कार्नवालिस के शासन-काल में भूमि का स्थायी प्रबन्ध किया गया था। इस व्यवस्था में सबसे बड़ा दोष यह था कि किसानों के हितों की रक्षा की कोई व्यवस्था नहीं की गई थी। १८५८ में कम्पनी के सचालकों ने यह घोषणा की थी कि बंगाल के किसानों के सब अधिकार समाप्त हो चुके हैं और अब जमींदार अपनी इच्छानुसार किसी भी समय उन्हें भूमि से वंचित कर सकते हैं। न्याय तथा नैतिकता दोनों ही दृष्टिकोणों से किसानों के हितों तथा अधिकारों की रक्षा करना आवश्यक था। फलतः १८५९ में बंगाल रेन्ट ऐक्ट पारित किया गया। इस ऐक्ट द्वारा उन किसानों को जो १२ वर्ष से भूमि जोतते आते थे मौरूसी अधिकार दे दिया गया और यह भी नियम बना दिया गया कि उन पर कुछ विशेष परिस्थितियों को छोड़ कर साधारणतया भूमि-कर न बढ़ाया जायगा। स्थायी प्रबन्ध के क्षेत्र में जो किसान १७९३ से भूमि जोतते चले आ रहे थे उन्हें भूमि-कर-वृद्धि से सदैव के लिये मुक्त कर दिया गया। यह नियम आगरा तथा मध्य-प्रान्त में भी लागू किया गया। इस सुधार का एक दुष्परिणाम यह हुआ कि मुकदमेबाजी बहुत बढ़ गई।

स्थायी प्रबन्ध की योजना—१८६१ में कर्नल बेयर्ड स्मिथ ने यह योजना बनाई कि बंगाल का भूमि का स्थायी प्रबन्ध सम्पूर्ण भारत में कार्यान्वित किया जाय। इस प्रस्ताव का अधिकांश भारतीय राजनीतिज्ञों ने अनुमोदन किया। इंगलैण्ड में सर जान लारेन्स ने इस आयोजना का अत्यन्त बलपूर्वक समर्थन किया। १८६२ में सर चार्ल्स वुड ने जो उन दिनों भारत-मन्त्री थे यह घोषणा की कि बृटिश मन्त्रिमण्डल ने यह निश्चय कर लिया है कि भारत के अन्य प्रान्तों में भी बंगाल का स्थायी प्रबन्ध कार्यान्वित किया जाय। पाँच वर्ष उपरान्त १८६७ में एक दूसरे भारत-मन्त्री ने भी इस आयोजना का अनुमोदन किया परन्तु कहा जाता है कि लार्ड मेयो के घोर विरोध के फल-स्वरूप १८८३ में यह प्रस्ताव सदैव के लिये समाप्त कर दिया गया।

शिक्षा सम्बन्धी कार्य—लार्ड केनिंग शिक्षा के क्षेत्र में श्लाघनीय कार्य करने के लिये अत्यधिक उत्सुक था। केनिंग की यह इच्छा थी कि कुछ धन शिक्षा के लिये बचाया जाय। १८५४ में सर चार्ल्स वुड ने शिक्षा सम्बन्धी एक आदेश भेजा था। उसी आदेश के अनुसार शिक्षा का संचालन हो रहा था। ७ अप्रैल १८५९ को तत्कालीन भारत-मन्त्री लार्ड स्टेनले ने शिक्षा सम्बन्धी एक दूसरा आदेश भेजा जिसमें शिक्षा की सभी प्रमुख समस्याओं पर उन्होंने अपने विचार प्रकट किये परन्तु अचिरात् स्टेनले का कार्य-काल समाप्त हो गया और उनके स्थान पर सर चार्ल्स वुड भारत-मन्त्री नियुक्त किये गये। प्रत्येक प्रान्त में एक संचालक के नियन्त्रण में एक शिक्षा विभाग खोला गया और निरीक्षकों तथा अध्यापकों की समुचित व्यवस्था की गई। उच्च-शिक्षा की ओर भी ध्यान दिया गया था और १८५७ में लन्दन विश्व-विद्यालय के आधार पर कलकत्ता, बम्बई तथा मद्रास में विश्व-विद्यालय की स्थापना की गई।

न्याय सम्बन्धी सुधार—केनिंग को न्याय सम्बन्धी समस्या को भी सुलझाना पड़ा। अभी तक न्यायाधीशों के पथ-प्रदर्शन के लिये कोई सन्तोषजनक नियमावली न थी। ऐसी स्थिति में न्यायाधीश जो कुछ न्यायोचित समझते थे वही करते थे। केनिंग ने नियमावली को प्रस्तुत कराने तथा उसे लिपि-बद्ध करा कर उसे पारित कराने का प्रयत्न किया। फलतः १८६० में धारा-सभा की स्वीकृति से मैकाले का दण्ड-विधान जिसका प्रारूप १८३७ में प्रस्तुत किया गया था और जिसमें सर बार्नस पीकाक ने संशोधन किया था लागू किया गया। 'ज़ाब्ता दीवानी' तथा 'ज़ाब्ता फ़ौजदारी' पारित कराये गये और मुस्लिम जाब्ता फ़ौजदारी को समाप्त कर दिया गया। इस प्रकार 'ताज़ीरातहिन्द', 'ज़ाब्ता दीवानी' तथा 'ज़ाब्ता फ़ौजदारी' को सम्पूर्ण भारत में लागू किया गया। १८६१ में इंडियन हाई कोर्ट्स ऐक्ट पास किया गया जिसके द्वारा कलकत्ता, बम्बई तथा मद्रास में उच्च-न्यायालय की स्थापना की गई और एक अन्य न्यायालय के स्थापित करने का अधिकार दिया गया जिसके फल-स्वरूप १८६६ में इलाहाबाद में एक उच्च-न्यायालय की स्थापना की गई और वर्तमान उत्तर-प्रदेश उसके अधिकार क्षेत्र में कर दिया गया। इस ऐक्ट ने उच्च-न्यायालय के सगठन तथा अधिकार को निर्धारित किया और यह व्यवस्था की कि न्यायाधीशों की नियुक्ति सम्राट् द्वारा की जायगी और वह तभी तक अपने पद पर रह सकेंगे जब तक सम्राट् का उनमें विश्वास हो। १८६१ में प्रेसीडेन्सियों के सुप्रीम कोर्ट तथा सदर अदालतों को जो क्रमशः इङ्गलैंड की सरकार तथा कम्पनी का प्रतिनिधित्व करती थीं हटा दिया गया। ब्रिटिश प्रजा पर जो सुप्रीम कोर्ट का एकाधिकार था हटा दिया गया क्योंकि 'ज़ाब्ता फ़ौजदारी' में अब उनकी रक्षा की विशेष व्यवस्था कर दी गई थी।

पुलिस का प्रबन्ध—१८६१ के एक विधान द्वारा आन्तरिक शान्ति तथा सुव्यवस्था के लिये पुलिस का फिर से संगठन किया गया। पुलिस का एक अलग विभाग बना दिया गया जिसे स्थानीय सरकार के अनुशासन में रख दिया गया। इस विभाग का प्रधान इन्स्पेक्टर जनरल कहलाने लगा जिसे स्थानीय सरकार के नियन्त्रण में कार्य करना पड़ता था। इन्स्पेक्टर जनरल की सहायता के लिये उसके नीचे डेप्युटी इन्स्पेक्टर जेनरलों की नियुक्ति की गई। प्रत्येक ज़िले में एक सुपरिन्टेन्डेन्ट की नियुक्ति की गई। उसे डिस्ट्रिक्ट मैजिस्ट्रेट की आधीनता में कार्य करना पड़ता था और शान्ति बनाये रखने तथा अपराधों के दमन करने में उसके साथ पूरा सहयोग करना पड़ता था। पुलिस के बड़े-बड़े अफ़सर अंग्रेज होते थे जिनकी भर्ती इंगलैण्ड में होती थी। ज़िला कई क्षेत्रों में विभक्त कर दिया गया और प्रत्येक क्षेत्र में डिप्टी इन्स्पेक्टर की कोटि का एक भारतीय अफ़सर नियुक्त कर दिया गया और उसकी अधीनता के लिये कुछ पुलिस के सिपाही रख दिये गये।

शासन सम्बन्धी सुधार—केनिङ्ग के काल में कुछ शासन सम्बन्धी सुधार भी हुये। बृटिश ब्रह्मा के टेनेस्सिरम, पीगू तथा अराकान प्रान्तों को संयुक्त करके एक चीफ़ कमिश्नर के अधीन रख दिया गया। यहाँ का सब प्रथम चीफ़ कमिश्नर सर आर्थर फेयरे था जिसने भूमि का अत्युत्तम प्रबन्ध किया था और डलहौज़ी की विजयों के उपरान्त उसने ब्रह्मा का ऐसा प्रबन्ध किया था कि क्रान्ति के समय वहाँ पर बृटिश सेना के रखने की आवश्यकता नहीं रह गई थी। नागपुर प्रान्त, सागर तथा नर्बदा ज़िलों को मिला कर मध्य-प्रान्त की रचना की गई और उसे एक चीफ़ कमिश्नर के अनुशासन में रख दिया गया। शिकम जो नैपाल तथा भूटान राज्यों के मध्य में स्थित था वहाँ के राजा की धृष्टता के कारण बृटिश साम्राज्य में सम्मिलित कर लिया गया। १८६१ में कलकत्ते से इलाहाबाद तक इस्ट इण्डियन रेलवे खोली गई।

१८६१ का दुर्भिक्ष—लार्ड केनिंग को दुर्भिक्ष का भी सामना करना पड़ा। १८६१ में आगरा तथा अवध के उत्तरी पश्चिमी प्रान्त, पंजाब के कुछ भाग तथा राज-पूताना में दुर्भिक्ष का प्रकोप आरम्भ हो गया। इस दुर्भिक्ष के तीन प्रधान कारण थे। इसका पहिला कारण १८५७ की क्रान्ति-जनित कुव्यवस्था के दुष्परिणाम थे। इसका दूसरा कारण वर्षा का अभाव था जिसके फलस्वरूप कृषि नष्ट हो गई। इसका तीसरा कारण यह था कि गंगा की नहर के कार्यान्वित करने में असमय विलम्ब किया गया। दुर्भिक्ष का दुष्परिणाम यह हुआ कि लगभग १० प्रतिशत जनता को अपने प्राणों से हाथ धो देने पड़े। पीड़ित जनता की सहायतार्थ सरकार को बड़ा धन व्यय करना पड़ा। बाद में बड़े जोरों की वर्षा हुई जिससे महामारी तथा हैज़ा का प्रकोप बढ़ गया।

वैधानिक परिवर्तन—१८५७ की क्रान्ति ने तत्कालीन शासन व्यवस्था के दोषों को प्रकाश में ला दिया था जिनसे लार्ड केनिङ्ग भी बड़ा असन्तुष्ट था। क्रांति के अन्य कारणों में से एक यह भी था कि शासक तथा प्रजा में प्रत्यक्ष सम्पर्क न था। इससे वे एक दूसरे के दृष्टिकोण को समझ नहीं पाते थे। अतएव भारतीयों के साथ घनिष्ट सम्पर्क स्थापित करने का प्रयत्न किया गया। यह सम्पर्क भारतीयों को कौंसिलों में स्थान देकर ही किया जा सकता था। दूसरा दोष क़ानून निर्माण के केन्द्रीकरण का था। यह व्यवस्था १८३३ में की गई थी परन्तु अब इसके दोष प्रत्यक्ष परिलक्षित हो रहे थे। केन्द्रीय सरकार के सदस्यों के पास न तो इतना समय ही रहता था और न उनकी प्रवृत्ति ही ऐसी रहती थी कि वे ऐसे क़ानूनों के बनाने की ओर ध्यान दें जो भारत के सभी भागों के लिये ठीक हो जिनकी अपनी अलग-अलग समस्यायें होती थीं। ऐसी स्थिति में क़ानून-निर्माण का विकेन्द्रीकरण नितान्त आवश्यक समझा गया। तीसरा दोष यह था कि १८५४ के विधान द्वारा स्थापित की हुई व्यवस्थापिका प्रस्तुत व्यवस्था के अनुकूल कार्य कर रही थी। अब यह व्यवस्थापिका इंगलैण्ड की लोक-सभा का रूप धारण कर रही थी और स्वतन्त्र क़ानून निर्माण तथा मांग के अस्वीकार करने का अधिकार चाहती थी। इन सबका सामूहिक प्रभाव यह हुआ कि १८६१ का विधान पारित किया गया जिसके द्वारा निम्नलिखित परिवर्तन किये गये :—

(१) गवर्नर-जनरल की कार्यकारिणी में परिवर्तन—अभी तक गवर्नर-जनरल की कौंसिल में केवल चार सदस्य थे। अब एक पाँचवाँ साधारण सदस्य बढ़ा दिया गया। क़ानून-निर्माण के अतिरिक्त अन्य सभी कार्यों को आवश्यकता पड़ने पर गवर्नर-जनरल को अकेले करने का अधिकार दे दिया गया। अपनी अनुपस्थिति में वह किसी भी व्यक्ति को कौंसिल की बैठक में अध्यक्ष का आसन ग्रहण करने के लिये नियुक्त कर सकता था। इस विधान द्वारा गवर्नर-जनरल को अपने कार्य को सुचारु रीति से चलाने के लिये नियम बनाने

का अधिकार दे दिया गया और यह भी व्यवस्था की गई कि इन नियमों के अनुसार जो कार्य किये जायगे अथवा जो आज्ञायें दी जायगी वह गवनर-जनरल तथा उसकी कौंसिल के कार्य तथा आज्ञायें मानी जायगी। इस विधान के फल-स्वरूप केनिंग ने ऐसे नियम बनाये जिससे कौंसिल का कार्य विभागीय व्यवस्था (Portfolio System) के अनुसार होने लगा। इस व्यवस्था के अनुसार गवनर-जनरल की कौंसिल के प्रत्येक सदस्य को एक विभाग सौंप दिया गया और उसे उसका अध्यक्ष बना दिया गया। प्रत्येक सदस्य अब अपने विभाग के साधारण कार्यों का संचालन करने लगा। अब केवल महत्वपूर्ण विषय विभाग के अध्यक्ष के विचारों के साथ वाइसराय के सामने रक्खे जाते और यदि वाइसराय का विभाग के अध्यक्ष से मत-भेद हो जाता तभी वह पूरी कौंसिल के सामने रक्खा जाता। कौंसिल के अध्यक्ष को अपना एक निर्णयात्मक वोट देने का अधिकार होता था।

(२ केन्द्रीय धारा-सभा में परिवर्तन—कानून-निर्माण के लिये गवनर-जनरल की कौंसिल में कम से कम ६ और अधिक से अधिक १२ सदस्य बढ़ाने की व्यवस्था की गई। इन्हें गवनर-जनरल मनोनीत करेगा और यह अपने पद पर दो वर्ष तक रह सकेंगे। इन अतिरिक्त सदस्यों में से कम से कम आधे गैर-सरकारी होंगे। यह अतिरिक्त सदस्य यूरोपीय अथवा भारतीय हो सकते थे। इस प्रकार अतिरिक्त सदस्यों के साथ गवनर-जनरल की कौंसिल ही भारत की व्यवस्थापिका अथवा धारा सभा बन गई। इस व्यवस्थापिका के अधिकार अत्यन्त सीमित थे। महत्वपूर्ण विषयों से सम्बन्ध रखने वाले अधिकांश विधेयक बिना गवनर-जनरल की पूर्व अनुमति प्राप्त किये व्यवस्थापिका के समक्ष उपस्थित नहीं किये जा सकते थे। बिना गवनर-जनरल की अन्तिम स्वीकृति प्राप्त किये कोई विधेयक कानून नहीं बन सकता था, सभी कानूनों को भारत-मन्त्री के पास भेजना पड़ता था जो उन्हें अस्वीकृत कर सकता था। केन्द्रीय धारा-सभा को भारत के किसी भी भाग के लिये नियम बनाने का अधिकार दे दिया गया और गवनर-जनरल को प्रान्तीय सरकार द्वारा बनाये हुये किसी भी कानून के रद्द कर देने का अधिकार दे दिया गया। आवश्यकता पड़ने पर गवनर-जनरल को अध्यादेश (Ordinance) भी पास करने का अधिकार दे दिया गया और यदि भारत-मन्त्री पहिले ही उन्हें समाप्त न कर दे तो यह अध्यादेश केवल ६ महीने तक लागू होंगे।

(३ प्रान्तीय धारा-सभा—बम्बई तथा मद्रास की सरकारों को फिर पूर्ववत् कानून बनाने का अधिकार दे दिया गया। कानून-निर्माण के लिये गवनर की कौंसिल में कम से कम ४ और अधिक से अधिक ८ सदस्य और जोड़ दिये गये जिनमें से कम से कम आधे गैर-सरकारी होने चाहिये थे। गवनर-जनरल को अन्य प्रान्तों में कानून-निर्माण के लिये इसी प्रकार की कौंसिलों के स्थापित करने के अधिकार अत्यन्त सीमित थे। कुछ विषयों पर बिना गवर्नर-जनरल की पूर्वानुमति प्राप्त किये धारा-सभा में विधेयक उपस्थित नहीं किये जा सकते थे और बिना गवनर की अन्तिम स्वीकृति प्राप्त किये कोई विधेयक कानून नहीं बन सकता था।

केनिङ्ग के चरित्र तथा उसके कार्यों का मूल्यांकन—१८६१ के अन्त में कलकत्ते में केनिंग की पत्नी का परलोकवास हो गया। पत्नी की मृत्यु का उसके हृदय पर बहुत बड़ा धक्का लगा। अत्यधिक परिश्रम के कारण उसका स्वास्थ्य पहिले से ही गिर गया था। अब उसका स्वास्थ्य पहिले से भी अधिक चिन्ताजनक हो गया। फलतः मार्च १८६२ में उसने अपने देश के लिये प्रस्थान कर दिया परन्तु वह अधिक दिनों तक इस लोक में न रह सका। तीन महीने बाद वह पंचत्व को प्राप्त हो गया और उसकी जीवन-लीला समाप्त हो गई।

केनिंग बड़ा ही प्रतिभावान् तथा योग्य व्यक्ति था। विश्वविद्यालय में अपनी प्रखर-प्रतिभा के लिये उसे जो ख्याति प्राप्त थी उसका उल्लेख पहिले किया जा चुका है। भारत

आ ने के पूर्व ही उसने एक शासक के रूप में श्लाघनीय सफलता प्राप्त कर ली थी और अपने व्यापक दृष्टिकोण तथा उदार विचारों के लिये प्रसिद्ध हो चुका था। भारत में अपनी अवधि के दूसरे ही वर्ष उसे क्रान्ति के प्रलयङ्कर प्रकोप का सामना करना पड़ा। क्रान्ति के झंझावात में तथा उसके उपरान्त केनिंग ने बड़े धैर्य तथा साहस के साथ अपने कर्तव्यों का सम्पादन किया। उसने अपने गुरुतम उत्तरदायित्व को ऐसी संलग्नता तथा परिश्रम-शीलता के साथ पूरा किया कि उसने अपने स्वास्थ्य तथा जीवन दोनों को विनाशोन्मुख बना दिया। क्रान्ति के कराल आपत्ति-काल में उसने अपने मानसिक सन्तुलन, हृदय की उदारता तथा आत्मा की उत्कृष्टता का पूर्ण परिचय दिया। प्रचण्ड तूफान में भी वह शान्त तथा दृढ़ एवं विचारमग्न रहता था और परिस्थिति के सुधारने का यथाशक्ति प्रयत्न करता था। वह बड़ा ही न्यायप्रिय, निष्पक्ष तथा सत्याग्रही व्यक्ति था। यद्यपि वह निर्णय देने में विलम्ब करता था परन्तु दृढ़-प्रतिज्ञ ऐसा था कि जिस बात का निश्चय कर लेता था उसका अन्त तक निर्वाह करता था। कर्तव्य-परायणता उसमें इतनी उच्च-कोटि की थी कि वह भोजन की भी चिन्ता नहीं करता था और वास्तव में वह भोजन के समय तक इतना क्लान्त हो जाता था कि उसमें बोलने की शक्ति भी न रह जाती थी। यद्यपि वह आचार-व्यवहार में गम्भीर तथा उदासीन रहता था परन्तु कर्तव्य-पालन में वह बड़ा ही उदार तथा महान् था। क्रान्ति के दमन में उसने अपूर्व धैर्य तथा साहस का परिचय दिया था। यद्यपि उसकी उदारता की नीति की उसके देशवासियों ने आरम्भ में तीव्र आलोचना की थी परन्तु अन्त में उन्हीं लोगों ने उसकी मुक्त-कण्ठ से प्रशंसा की। जब वह किसी कार्य के करने के लिये सन्नद्ध हो जाता था तो उसके सफलतापूर्वक सम्पादन के हेतु पूर्ण तैयारी करता था, उसके कार्यों से उसकी दूरदर्शिता तथा बुद्धिमत्ता आभासित होती थी और अनुचित एवं अवांछनीय आक्रमण हो जाने पर भी उसकी उदारता तथा क्षमाशीलता उसके कोमल हृदय से प्रवाहित हो जाती थी। उसका हृदय वैयक्तिक महत्वाकांक्षाओं से शून्य था। वह सम्भवतः अपनी शक्तियों का स्वयम् अनुभव न कर सका। बाल्यकाल में उसमें कन्याओं की सी लज्जाशीलता थी परन्तु उसके हृदय की कोमलता आरम्भ से ही श्लाघनीय थी। उसमें अपूर्व नैतिक बल था और निकृष्ट एवं निन्दनीय कार्यों से उसे घोर घृणा थी। क्रान्ति के उपरान्त सुव्यवस्था स्थापित करके जिस सुचारुता से उसने शासन का सञ्चालन किया उससे उसकी राजनैतिक बुद्धिमत्ता तथा पटुता का पूर्ण परिचय प्राप्त हो जाता है। क्रान्ति के उपरान्त शान्ति तथा सान्त्वना प्रदान कर जो पुनर्संगठन का स्तुत्य कार्य उसने आरम्भ करके सम्पादित किया वह उसे भारत के वाइसरायों में उच्च तथा गौरवपूर्ण स्थान प्रदान करता है। वह इतना महान् था कि भयानक से भयानक आपत्ति आने पर भी वह अपने निर्णय को उत्तेजना की भावना से प्रभावित नहीं होने देता था। वह अपने आत्म-सम्मान तथा न्याय की रक्षा के लिये इतना चैतन्यशील रहता था कि प्रतिशोध की भावना के लिये उसके हृदय में कोई स्थान न था। अपराधियों को कठोर दण्ड देने के स्थान पर उन्हें क्षमादान द्वारा वह पुनः उन्हें सन्मार्ग पर लाने के पक्ष में था। वास्तव में वह "क्षमादान तथा विस्मरण" के सिद्धान्त का अनुयायी था और रक्त-पात से उसे घोर घृणा थी। वह निर्भीक तथा सच्चा एवं सहृदय अंग्रेज था जिसने १८५७ की क्रान्ति का सफलतापूर्वक सामना कर लगभग सौ वर्षों के लिये भारत में ब्रिटिश साम्राज्य को जीवन प्रदान किया।

अध्याय ३

लार्ड एलगिन (१८६२-६३)

प्रारम्भिक जीवन—लार्ड एलगिन का जन्म १८११ ई० में हुआ था। वह लार्ड डरहम का दामाद था जो डरहम रिपोर्ट का जन्मदाता था। उसकी शिक्षा-दीक्षा क्राइस्ट चर्च कालेज आक्सफोर्ड में हुई थी। वह डलहौजी तथा केनिङ्ग दोनों का सहपाठी एवं मित्र था। १८४२ से १८४६ तक वह जमेका का गवनर और १८४६ से १८५४ तक कनाडा का गवनर-जनरल रह चुका था। इस प्रकार वह औपनिवेशिक शासन का पूर्ण अनुभव प्राप्त कर चुका था। १८५७ में वह विशेष राजदूत बना कर चीन भेजा गया। जब वह बृटिश सेना के साथ चीन जा रहा था तो उसे मार्ग में भारतीय क्रान्ति की सूचना मिली। उसने केनिङ्ग की प्रार्थना और अपने स्वयम् के उत्तरदायित्व पर चीन जाने वाली सेना को भारत में छोड़ दिया। चीन से लौटने के उपरान्त वह पोस्ट मास्टर जनरल के पद पर नियुक्त कर दिया गया था। १८६० में वह फिर चीन भेजा गया। १८६० के चीन के युद्ध के समाप्त हो जाने पर सन्धि की वार्ता उसी ने की थी। लार्ड केनिङ्ग के त्याग पत्र के उपरान्त वह भारत का गवनर जनरल तथा वाइसराय बनाया गया और मार्च १८६२ में वह कलकत्ते पहुँच गया। उसने स्वयम् कहा था कि उसने एक महान् व्यक्ति तथा महान् युद्ध के उपरान्त पद ग्रहण किया था और उसे दैन्य कार्य दैन्यता से करना था। चूंकि लार्ड एलगिन ने भारत आने से पूर्व शासन का पर्याप्त अनुभव प्राप्त कर लिया था अतएव ऐसी आशा की गई थी कि भारत में भी वह उत्तरदायित्व को सफलतापूवक पूरा करेगा क्योंकि उसमें शासन करने की पूर्ण क्षमता तथा योग्यता थी परन्तु दुर्भाग्यवश उसे अपनी योग्यता तथा कार्य कुशलता के प्रदर्शन के लिये पर्याप्त समय न मिला। वह अपने नये पद को केवल १८ महीने तक अलङ्कृत कर सका। इसके उपरान्त पंजाब में धर्मशाला नामक पर्वतीय स्थान में पेट की पीड़ा से वह पंचत्व को प्राप्त हो गया।

एलगिन की नीति—एलगिन बड़ा ही योग्य तथा कुशल राजनीतिज्ञ था। अपने पथ-प्रदर्शन के लिये उसने अपनी भारतीय नीति को जिन सिद्धान्तों पर आधारित किया वे निम्न-लिखित थे :—

(१) यथाशक्ति अत्यन्त सच्चाई तथा ईमानदारी के साथ केनिंग की बाद की नीति का अनुसरण करे और उसी की सीमा के भीतर कार्य करे।

(२) शान्ति कालीन सभी प्रकार के उद्योग-धन्धों, व्यवसायों तथा उत्पादन के कार्यों को यथाशक्ति प्रोत्साहन दे और उन्नति का प्रयत्न करे।

(३) यथाशक्ति इस बात का प्रयास करे कि ऐसे अवसर न आयें जिससे नये करों के लगाने की आवश्यकता पड़े अथवा ऐसे पुराने करों का स्थायित्व बना रहे जिनके भार से जनता पीड़ित थी।

(४) यथाशक्ति सभी वर्गों तथा हितों का समान रूप से संरक्षण किया जाय और सभी की सहायता की जाय और प्रोत्साहन दिया जाय।

(५) सेना के व्यय में वृद्धि न होने दी जाय और यथाशक्ति उसे अधिकाधिक निम्न-स्तर पर लाने का प्रयत्न किया जाय।

(६) भारत के किसी भी भाग में यदि किसी भी प्रकार का उपद्रव उत्पन्न हो जाय अथवा शान्ति भंग हो जाय तो उसे अविलम्ब अत्यन्त कठोरता पूर्वक दमन किया जाय।

वहाबियों का दमन—लार्ड एलगिन के शासन काल के अन्तिम भाग में उत्तरी-पश्चिमी सीमा की स्थिति अत्यन्त गम्भीर हो गई थी। उन्नीसवीं शताब्दी के आरम्भ में ही पेशावर के उत्तर और सिन्धु नदी के पश्चिम में हिन्दू कुश पर्वत के पर्वतीय प्रदेश में सिताना नामक स्थान पर कट्टरपन्थी मुसलमानों का जो वहाबी कहलाते थे एक उपनिवेश स्थापित हो गया था। बंगाल में पटना नामक स्थान में उनकी एक शाखा थी जहाँ वे अपने वर्ग में सम्मिलित होने के लिये लोगों को भर्ती किया करते थे। यों तो गुप्त साधनों द्वारा सम्पूर्ण भारतवर्ष में उनका प्रभाव व्याप्त था। न्याय से पलायन करने वाले अपराधियों, अशान्ति प्रिय पठानों, अफरादियों तथा बृटिश शासन से असन्तुष्ट व्यक्तियों को उनके यहाँ शरण मिलती थी। १८५३ तथा १८५८ में उन्हें दण्ड देने के लिये सेनायें भेजी गईं और १८५८ में उन्हें सिताना से भगा दिया गया परन्तु १८६१ में वे फिर मल्का नामक स्थान में बस गये और १८६३ में फिर पंजाब में उपद्रव करने लगे। इसी वर्ष सर नेवाइल चेम्बरलेन को ६००० सैनिकों के साथ उनका दमन करने के लिये भेजा गया परन्तु अम्बाला पर्वतीय भाग के पास उसे १५००० सैनिकों का सामना करना पड़ा। तीन सप्ताह तक बृटिश सेना आगे न बढ़ सकी और उसे आत्म-रक्षा का युद्ध करना पड़ा। कलकत्ता कौंसिल चिन्तित होकर बृटिश सेना को वापस लौट आने की आज्ञा देने का विचार कर रही थी परन्तु मद्रास के गवर्नर तथा स्थानापन्न वाइसराय सर विलियम डेनीसन ने कमान्डर-इन-चीफ सर ह्यू रोज की परामर्श पर युद्ध पूर्ववत् जारी रखने का निश्चय किया। दिसम्बर के महीने में वहाबी लोग पूर्णतया परास्त कर दिये गये और मल्का जो उनका अड्डा था नष्ट-भ्रष्ट कर दिया गया। इसके तीन सप्ताह पश्चात् जनवरी १८६४ को सर जान लारेन्स ने अपना पद ग्रहण किया।

लार्ड एलगिन का भ्रमण—१८६३ में लार्ड एलगिन ने भारत का भ्रमण आरम्भ किया। उसने बनारस, कानपूर, आगरा, अम्बाला आदि स्थानों में दरबार किया। इन दरबारों का ध्येय देशी राज्यों को बृटिश सरकार के अत्यन्त निकटतम सम्पर्क में लाना था। इन दरबारों में उसने इस बात पर बल दिया कि बृटिश सरकार तथा देशी नरेशों में सद्भावना उत्पन्न की जाय। उसने देशी राजाओं को शैक्षण संस्थाओं के स्थापित करने, राजमार्गों के निर्माण करने, कुरीतियों के दमन करने तथा यथाशक्ति शान्ति एवं सुव्यवस्था बनाये रखने के लिये प्रोत्साहित किया। इसके उपरान्त ग्रीष्म ऋतु शिमला की मनोहर पहाड़ियों में व्यतीत करने के लिये उसने प्रस्थान कर दिया। नवम्बर के महीने में धर्मशाला नामक स्थान पर उसका परलोकवास हो गया। उसकी मृत्यु के उपरान्त रॉबर्ट नेपियर तथा विलियम डेनिसन अस्थायी स्थानापन्न गवर्नर-जनरल हुये। अन्त में सर जान लारेन्स भारत का स्थायी गवर्नर-जनरल तथा वाइसराय नियुक्त किया गया और अपने पद को ग्रहण करने के लिये जनवरी १८६४ में वह भारत आ गया।

अध्याय ४

लार्ड लारेन्स (१८६४-६९)

प्रारम्भिक जीवन—लार्ड लारेन्स का जन्म १८११ ई० में हुआ था। १८३० में जब उसकी अवस्था केवल बीस वर्ष की थी वह कलकत्ते आया और दिल्ली प्रदेश में कार्य करने लगा। कुछ समय उपरान्त वह पानीपत तथा गुड़गाँव का कलेक्टर-मैजिस्ट्रेट बना दिया गया। इस पद पर वह १८३९ तक रहा। १८४० में वह इंगलैण्ड लौट गया और दो वर्ष उपरान्त वह फिर भारत चला आया। १८४६ तक वह दिल्ली में एक न्यायाधीश के रूप में कार्य करता रहा। इसी वर्ष वह जुलन्धर दोआब का कमिश्नर बना दिया गया। १८४९ में जब पंजाब ब्रिटिश साम्राज्य में सम्मिलित कर लिया गया और उसके शासन प्रबन्ध के लिये तीन सदस्यों की एक समिति बनाई गई तो जान लारेन्स भी उनमें से एक था। इस समिति में उसने १८५३ तक कार्य किया। इसके बाद वह पंजाब का चीफ कमिश्नर बना दिया गया। इस पद पर उसने बड़ी योग्यता तथा कुशलता से कार्य किया और उसके शासन की मुक्त-कण्ठ से प्रशंसा की गई। १८५७ की क्रान्ति के समय अपने प्रान्त में उसने अत्यन्त स्तुत्य कार्य किया और निकोल्सन को दिल्ली भेजा जिसने सितम्बर १८५७ में उस पर अपना अधिकार स्थापित कर लिया। दूसरे वर्ष दिल्ली का प्रदेश लारेन्स के अनुशासन में रख दिया गया जो जनवरी १८५९ में पंजाब का लेफ्टीनेन्ट गवर्नर बना दिया गया। इसके दूसरे ही महीने वह इंगलैण्ड लौट गया। वहाँ पर "भारत के रक्षक" तथा "विजय के सङ्घटक" के रूप में उसका स्वागत किया गया। वह भारत-मन्त्री की कौंसिल का सदस्य नियुक्त कर दिया गया। १८६० में वह बम्बई का गवर्नर बनाया जा रहा था परन्तु उसने इस पद को स्वीकार नहीं किया। वह योग्य कर्त्तव्य-परायण, परिश्रमी, दृढ़-संकल्प तथा हठधर्मी था और अपने कर्मचारियों से कार्य लेने में बड़ा कठोर था। वास्तव में कर्मचारियों से कार्य लेने की कला में वह कुशल न था। अतएव अधीनस्थ कार्य करने वाले व्यक्तियों की कार्य-स्वतन्त्रता तथा विचार मौलिकता को वह पसन्द नहीं करता था। ब्यौरे का वह बड़ा ध्यान न रखता था इससे कार्यों के सम्पादन में विलम्ब होता था। जो कर्मचारी उसे अपने कार्य से प्रसन्न रखते थे उनकी सहायता करने के लिये वह सदैव उद्यत रहता था। सर जार्ज बार्लो के पश्चात् यह नियम बना दिया गया था कि किसी भी सिविलियन को गवर्नर-जनरल के पद पर नियुक्त न किया जायगा परन्तु लारेन्स के सम्बन्ध में इस नियम का पालन नहीं किया गया क्योंकि उससे शासन-सम्बन्धी बहुत बड़ी-बड़ी आशायें की जाती थीं। फलतः वह भारत का गवर्नर-जनरल तथा वाइसराय नियुक्त कर दिया गया और जनवरी १८६४ में भारत आकर उसने अपना पद ग्रहण किया। यद्यपि उससे जितनी बड़ी-बड़ी आशायें की गई थीं उन्हें वह पूर्ण न कर सका परन्तु जिस कार्य को लार्ड डलहौज़ी ने आरम्भ किया था और क्रान्ति के कारण जिसका सम्पादन न हो सका था उसे पूर्ण करने का लारेन्स ने यथाशक्ति प्रयास किया। स्वयम् वह बड़ा परिश्रमी था और प्रातःकाल ६ बजे से सायंकाल के ५½ बजे तक वह कार्य किया करता था और इस बीच में केवल आध घण्टा खान-पान में व्यतीत करता था। यद्यपि उसके शासन काल में कोई अत्यन्त महत्त्व-पूर्ण कार्य नहीं हुआ परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि कूटनीतिक तथा विदेशी नीति के क्षेत्र में उसने आशातीत सफलता प्राप्त की।

भूटान के साथ युद्ध—सर जान लारेन्स को भूटानियों के साथ युद्ध करना पड़ा था। भूटान हिमालय पर्वत के ढाल पर स्थित वनावृत पर्वतीय प्रदेश है। इसके उत्तर में तिब्बत, दक्षिण में पूर्वी बंगाल तथा आसाम और पश्चिम में दार्जिलिङ्ग तथा सिकिम स्थित हैं। भूटानियों का प्रथम सम्पर्क अँग्रेजों के साथ १७७२ ई० में हुआ जब भूटानी कूच बिहार के राजा की सहायता के लिये आये थे परन्तु अंग्रेजों ने उन्हें वहाँ से मार भगाया। १७८३ ई० में बृटिश सरकार ने एक व्यापारिक मण्डल कप्तान टनर की अध्यक्षता में भूटान भेजा परन्तु अपने ध्येय में वह बिलकुल असफल रहा। १८२६ में जब आसाम पर अंग्रेजों का आधिपत्य स्थापित हो गया तब भूटानी लोग अंग्रेजों के और अधिक घनिष्ट सम्पर्क में आ गये। इस समय भूटानियों ने आसाम में जाने वाले पर्वतीय मार्गों पर आक्रमण करके उन्हें अपने अधिकार में कर लिया। पहिले शान्तिपूर्वक समस्या को सुलझाने की बात-चीत आरम्भ की गई परन्तु उससे कोई लाभ न हुआ। पहिले तो यह निश्चित हुआ कि पर्वतीय मार्गों पर भूटानियों का ही अधिकार स्वीकार कर लिया जाय और बृटिश सरकार को वे वार्षिक कर दिया करें परन्तु अन्ततोगत्वा यह निश्चित हो पाया कि इन पर्वतीय मार्गों पर बृटिश सरकार का अधिकार रहे और वह भूटानियों को वार्षिक कर दे। १८३८ में पम्बटन की अध्यक्षता में फिर एक शिष्ट-मण्डल भूटान भेजा गया परन्तु इसके फल-स्वरूप जो सन्धि हुई उसे बृटिश सरकार ने अस्वीकार कर दिया। इसके बाद निरन्तर भूटानियों के आक्रमण बंगाल तथा आसाम पर होते रहे। अँग्रेजों ने अनेक बार इन आक्रमणों के विरुद्ध आवाज उठाई परन्तु इसका भूटानियों पर कुछ प्रभाव न पड़ा। १८६३-६४ में लार्ड एलगिन ने ऐशले एडेन को अपना राजदूत बना कर भूटान भेजा परन्तु भूटानियों ने उसे बहुत अपमानित किया और उसे एक ऐसी अपमानजनक सन्धि करने के लिये विवश किया जिसके द्वारा आसाम जाने वाले सभी पर्वतीय मार्गों पर भूटानियों का नियन्त्रण स्थापित कर दिया गया था। बृटिश सरकार ने इस सन्धि को स्वीकार नहीं किया और भूटान सरकार से उन सब बृटिश प्रजाजनों को जिनको भूटानियों ने पिछले पाँच वर्षों से बन्दी बना लिया था मुक्त कर देने की माँग की। उत्तर न प्राप्त होने पर बृटिश सरकार ने पश्चिमी द्वारों पर अपना अधिकार स्थापित कर लिया और उनके लिये जो वार्षिक धन भूटान की सरकार को दिया जाता था उसे बन्द कर दिया। १८६५ में भूटानियों ने अंग्रेजी राज्य पर आक्रमण कर दिया और देवनगिरी से बृटिश सेनाओं को मार भगाया और उनकी दो बन्दूके छीन लीं। इस अपमान से अंग्रेजों में बड़ी चिन्ता फैल गई और स्थिति को सभालने के लिये उपाय सोचे जाने लगे। सौभाग्य से अचिरात जनरल टोम्ब्स ने बृटिश सरकार की गतश्री को पुनस्थापित करने का सफल प्रयास किया। नवम्बर के महीने में दोनों दलों में सन्धि हो गई। इस सन्धि द्वारा भूटानियों ने ५००० पौंड वार्षिक कर देने का वचन देने पर १८ द्वार अंग्रजों को सौंप दिये। सन्धि की शर्तों को पूरी करने के लिये दोनों पक्षों ने मैत्री भाव रखने का वचन दिया। लार्ड लारेन्स की उदार तथा शान्तिमय नीति की उस समय कतिपय उग्रदलीय अंग्रेजों ने कटु आलोचना की थी परन्तु लारेन्स की इस उदार नीति के स्थायी परिणामों ने कालान्तर में सिद्ध कर दिया कि वाइसराय का यह कार्य दूरदर्शितापूर्ण था और बृटिश सरकार के लिये अत्यन्त हितकर सिद्ध हुआ। इस सधि के उपरान्त अंग्रेजों तथा भूटानियों में सदैव मैत्री भाव बना रहा। जो भूभाग इस सधि के फलस्वरूप भूटानियों से अंग्रेजों को प्राप्त हुआ वह हरे-भरे चाय के बागों से भर गया और आय का एक अच्छा साधन बन गया। वास्तव में लारेन्स ने प्रतिष्ठा के लिये नहीं वरन् शान्ति के लिये युद्ध किया था। चूँकि उन दिनों भारत में व्यवसायिक तथा आर्थिक सकट था अतएव लारेन्स ने स्थिति के अनुकूल ही सधि कर ली। इसमें सदेह नहीं कि यह सधि न्याय-सगत थी क्योंकि इसका सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि इस सधि के बाद से बृटिश सरकार तथा भूटान की सरकार

में सदैव सद्भावना बनी रही है और मैत्री पूर्ण व्यवहार होता चला आ रहा है और भूटानियों ने अंग्रेजों के संकटापन्न होने पर भी कभी संधि की शर्तों के विरुद्ध आचरण नहीं किया। अतएव लारेन्स की नीति की आलोचना पूर्णतया निराधार तथा तर्क-हीन थी।

पश्चिमोत्तर सीमा की समस्या—ज्यों-ज्यों बृटिश साम्राज्य का विस्तार पश्चिमोत्तर की ओर बढ़ता गया त्यों-त्यों सीमा नीति की समस्या भी जटिल होती गई। सर्व-प्रथम वारेन हेस्टिंग्स को इस समस्या का सामना करना पड़ा था। उसने सुरक्षा प्रकोट की नीति (Policy of Buffer state) का अनुसरण किया। उसने अवध के साथ संधि करके उसे सुरक्षा प्रकोट बना दिया था और मरहठों तथा अन्य राजाओं के आक्रमणों से बंगाल को सुरक्षित बना दिया था। जब अंग्रेजों की अग्रगामी नीति (Forward Policy) के फल-स्वरूप भारत में बृटिश साम्राज्य की सीमा पेशावर तक पहुँच गई तब अफगानिस्तान सुरक्षा प्रकोट बन गया और रूस के आक्रमणों से भारत में बृटिश साम्राज्य की सुरक्षा का साधन बन गया। लार्ड लारेन्स को भी पश्चिमोत्तर की सीमा की समस्या का सामना करना पड़ा। इस समस्या को तीन भागों में विभक्त किया जा सकता है अर्थात् (१) कबीलों की समस्या, (२) अफगानिस्तान की समस्या तथा (३) मध्य-एशिया की समस्या। अब इन तीनों समस्याओं पर अलग-अलग विचार कर लेना आवश्यक है।

(१) कबीलों की समस्या—जब पंजाब का प्रान्त बृटिश साम्राज्य में सम्मिलित कर लिया गया तब बृटिश साम्राज्य की सीमा अफगानिस्तान के पर्वतों को स्पर्श करने लगी। परन्तु यह सीमा-रेखा सुनिश्चित नहीं थी और इसमें परिवर्तन हुआ करते थे। अफगानिस्तान तथा बृटिश साम्राज्य के मध्य में २५००० वर्ग मील का कबाइली क्षेत्र था। इसमें स्वतन्त्र पठान जाति निवास करती थी। यद्यपि यह लोग नाम-मात्र के लिये अफगानिस्तान के अमीर की सत्ता को स्वीकार करते थे परन्तु वास्तव में वे सर्वथा स्वतन्त्र थे। यह लोग बड़े ही भयानक, निर्भीक, रणप्रिय, लुटेरे तथा बर्बर थे और बृटिश साम्राज्य के सीमा प्रान्त पर निरन्तर इनके आक्रमण होते रहते थे। अफगानिस्तान के अमीर में इतनी शक्ति न थी कि वह इन पर नियन्त्रण रख सके और इनके अवांछनीय कार्यों को रोके। यह कबीले बृटिश सरकार के लिये शिर की पीड़ा बन गये। यद्यपि इन्हें दण्ड देने के लिये सेनायें भेजी जाती थीं परन्तु पर्वतीय प्रदेश तथा इनके रण-कुशल होने के कारण इन्हें नत-मस्तक करना अत्यन्त दुष्कर कार्य था। फलतः बृटिश-सरकार अपनी प्रतिष्ठा को बनाये रखने के लिये विशाल सेनायें भेजा करती थी। १८६३ में वहाबियों को दमन करने के लिये ६००० सैनिकों की एक सेना भेजी गई थी। इसके बाद १८६८ में फिर कृष्ण पर्वत के पठानों को दण्ड देने के लिये १२००० सैनिकों की एक सेना भेजी गई थी। इन कबीलों के साथ किस प्रकार का व्यवहार किया जाय और बृटिश सरकार किस नीति का अनुसरण करे इस पर राजनीतिज्ञों में मत-भेद था। कुछ लोगों का कहना था कि बृटिश सरकार सिन्ध नदी को अपने राज्य की सीमा निर्धारित कर दे और कबाइली क्षेत्र में शान्ति तथा सुव्यवस्था रखने का पूर्ण उत्तरदायित्व अफगानिस्तान के अमीर पर छोड़ दिया जाय। इस निर्हस्तक्षेप की नीति के विरुद्ध अग्रगामी नीति के समर्थकों का कहना था कि कबाइली क्षेत्र पर अधिकार करके बृटिश साम्राज्य की सीमा को अफगानिस्तान की सीमा से मिला देना चाहिये और कबाइली प्रदेश में शान्ति तथा सुव्यवस्था स्थापित करने का पूर्ण उत्तर-दायित्व बृटिश सरकार को अपने ऊपर लेना चाहिये। इस अग्रगामी नीति के अनुसरण करने पर बृटिश सरकार को अत्याधिक धन व्यय करना पड़ता। लार्ड लारेन्स इस अग्र-गामी नीति के विरुद्ध था। उसकी नीति थी कि कबाइलियों को स्वतन्त्र छोड़ दिया जाय

और उसके साथ मैत्री भाव रक्खा जाय। इस प्रकार लार्ड लारेन्स ने कबाइलियों के साथ निर्हस्तक्षेप की नीति का अनुसरण किया और उसके उत्तराधिकारियों ने भी उसकी नीति का अनुगमन किया।

(२) अफगानिस्तान की समस्यायें—पंजाब तथा सिन्ध के बृटिश साम्राज्य में सम्मिलित हो जाने पर बृटिश साम्राज्य की सीमा अफ़गानिस्तान की सीमा को स्पर्श करने लगी और बृटिश सरकार का अफ़गानिस्तान के अमीर के साथ अत्यन्त घनिष्ट सम्पर्क स्थापित हो गया था। अफ़गानिस्तान की स्थिति अगरेज़ों के लिये अत्यन्त महत्व-पूर्ण थी और उन्नीसवीं शताब्दी से इसका महत्व और अधिक बढ़ गया जब नेपोलियन ने भू-भाग से भारत पर आक्रमण करने की आयोजना की। इस आपत्ति के फल-स्वरूप लार्ड मिण्टो ने अपना राजदूत काबुल के अमीर के पास भेजा था और उसके साथ मैत्री-भाव स्थापित करने का प्रयत्न किया था। जब यह आपत्ति समाप्त हो गई तब अंग्रेज़ भी उत्तर-पश्चिम की ओर से निश्चिन्त हो गये। परन्तु जब रूस ने फ़ारस के साथ गठ-बन्धन करके पूर्व की ओर बढ़ना आरम्भ किया तब अंग्रेज़ों की चिन्ता बढ़ी और वे अफ़गानिस्तान की राजनीति में अभिरुचि लेने लगे और उसके साथ कूटनीतिक सम्बन्ध स्थापित करने में संलग्न हो गये। इसके फल-स्वरूप प्रथम अफ़गान युद्ध तथा भयानक नर-संहार एवं सम्पत्ति का विनाश हुआ। इस युद्ध के उपरान्त दस वर्ष तक कोई विशेष उल्लेखनीय घटना न घटी और दोस्त मुहम्मद निष्कण्टक अफ़गानिस्तान का शासन करता रहा। दोस्त मुहम्मद बड़ा ही योग्य तथा शक्तिशाली शासक था। १८६३ में उसका परलोकवास हो गया और उसके १६ पुत्रों में भयङ्कर युद्ध आरम्भ हो गया। अफ़गानिस्तान के साथ बृटिश सरकार का क्या सम्बन्ध हो इस पर राजनीतिज्ञों में बड़ा मत-भेद था। कुछ उग्रवादी राजनीतिज्ञ थे जो इस विचार-धारा के थे कि अफ़गानिस्तान का बटवारा कर लेना चाहिये और यदि सुअवसर प्राप्त हुआ तो सम्पूर्ण अफ़गानिस्तान को विजय कर उस पर अपना आधिपत्य स्थापित कर लेना चाहिये। लार्ड लारेन्स इस नीति का घोर विरोधी था। अफ़गानिस्तान के सम्बन्ध में उसकी नीति यह थी कि "वहाँ के वास्तविक शासकों के साथ मैत्री रक्खी जाय परन्तु उनके आन्तरिक झगड़ों में किसी प्रकार का हस्तक्षेप न किया जाय।" लारेन्स की इस नीति को "महान् अकर्मण्यता की नीति" (Policy of Masterly Inactivity) की संज्ञा दी गई है। इस नीति के फल-स्वरूप लारेन्स ने अफ़गान राजकुमारों के पारस्परिक झगड़े में भाग न लेने का निश्चय कर लिया। उसके इस निश्चय का एक यह भी कारण बतलाया जाता है कि दोस्त मुहम्मद अंग्रेज़ों का मित्र था। १८५७ की क्रान्ति के समय शान्त रह कर उसने अंग्रेजों के साथ अपनी मैत्री का पूर्ण परिचय दिया था और एक बार लारेन्स से कहा था कि उनकी मृत्यु के उपरान्त उसके पुत्रों के उत्तराधिकार के युद्ध में किसी प्रकार का हस्तक्षेप न किया जाय। अतएव लारेन्स ने इस नीति का अनुसरण किया कि जो रण-स्थल में विजय-लक्ष्मी प्राप्त कर अपनी प्रभुत्व-शक्ति स्थापित कर ले उसी को अमीर स्वीकार कर लिया जाय।

दोस्त मुहम्मद की मृत्यु के उपरान्त उसका अत्यन्त प्रिय पुत्र शेरअली अफ़गानिस्तान के सिंहासन पर बैठा परन्तु उसके भाई अज़ीम ख़ाँ तथा अफ़ज़ल ख़ाँ और भतीजे अब्दुर-रहमान ख़ाँ ने उसे अमीर स्वीकार नहीं किया और गृह युद्ध आरम्भ कर दिया। शेरअली तीन वर्ष तक भयानक आपत्तियों का सामना करता हुआ काबुल का अमीर बना रहा परन्तु अफ़ज़ल ख़ाँ ने उसको १८६६ में काबुल से और १८६७ में कन्दहार से मार भगाया। विवश होकर शेरअली को हिरात में शरण लेनी पड़ी। इस प्रकार अफ़ज़ल ख़ाँ काबुल का अमीर बन गया परन्तु दुर्भाग्यवश अक्तूबर १८६७ में उसका परलोकवास हो गया। चूँकि उसके पुत्र अब्दुर्रहमान ने अमीर बनने से अस्वीकार कर दिया अतएव उसका भाई

अज़ीम खाँ अमीर हो गया। शेरअली शान्त बैठने वाला व्यक्ति न था। अप्रैल १८६८ में उसके पुत्र याकूब खाँ ने कन्दहार पर और सितम्बर में उसने स्वयं काबुल पर अपना अधिकार स्थापित कर लिया और इस प्रकार एक बार फिर वह अमीर बन गया। अज़ीम तथा अब्दुर्रहमान जनवरी १८६९ में परास्त हुये। अज़ीम खाँ फारस भाग गया और वहीं पर वह पंचत्व को प्राप्त हो गया। अब्दुर्रहमान खाँ पलायन कर ताशकन्द पहुँचा और वहीं पर रूसियों के पेन्शन भोक्ता के रूप में समय व्यतीत करने लगा। शेरअली ने अब अपनी निष्कण्टक प्रभुत्वशक्ति सम्पूर्ण अफ़ग़ानिस्तान में स्थापित कर ली।

लार्ड लारेन्स ने अफ़ग़ानिस्तान के गृह-युद्ध में हस्तक्षेप नहीं किया और पूर्ण रूप से तटस्थ बना रहा। उसने किसी भी प्रतिद्वन्द्वी को राजनैतिक, आर्थिक अथवा सैनिक सहायता नहीं प्रदान की वरन् जब जिसके हाथ में प्रभुत्व शक्ति आ गई तब लारेन्स ने उसी को अमीर स्वीकार कर लिया। १८६४ में जब अफ़ग़ानिस्तान की राजसत्ता शेरअली के हाथ में थी तब लारेन्स ने उसे अमीर मान लिया। १८६६ में जब अफ़ज़ल खाँ ने काबुल पर अपना अधिकार स्थापित कर लिया और शेरअली को भाग कर हिरात में शरण लेनी पड़ी तब लारेन्स ने अफ़ज़ल खाँ को काबुल का और शेरअली को कन्दहार तथा हिरात का अमीर स्वीकार कर लिया। १८६७ में जब कन्दहार पर भी अफ़ज़ल खाँ का अधिकार स्थापित हो गया तब उसे काबुल और कन्दहार का और शेरअली को हिरात का अमीर मान लिया गया। अन्ततोगत्वा जब शेरअली ने अपने सभी प्रतिद्वन्द्वियों को परास्त करके फिर संपूर्ण अफ़ग़ानिस्तान पर अपनी प्रभुत्व शक्ति स्थापित कर ली तब लारेन्स ने ६०००० पौंड नकद तथा बहुत से अस्त्र भेंट स्वरूप भेज कर उसे अफ़ग़ानिस्तान का अमीर स्वीकार कर लिया।

(३) रूस की समस्या—रूस से बृटिश सरकार सदैव शङ्कित तथा चिन्तित रही है। क्रीमिया के युद्ध के उपरान्त यह चिन्ता और बढ़ गई और उसकी पूर्व की प्रगति को सहन न कर सके। १८६४ में रूस ने काकेशस को जीत लिया। इस विजय से मध्य-एशिया में रूस का प्रसार अत्यन्त सरल हो गया। अब रूस की सेनायें द्रुतगति से आगे बढ़ने लगीं और कैस्पियन सागर तथा पश्चिमी चीन के बीच स्थित तीन मुख्य ख़ान रियासतें अर्थात् ख़ोकन्द, बुख़ारा तथा ख़ीवा तक पहुँच गई। इन दुर्बल एवं अव्यवस्थित राज्यों का रूसी साम्राज्य में मिलाया जाना कोई दुष्कर कार्य न था। १८६५ में रूसी सेनाओं ने ताशकन्द पर अपना अधिकार स्थापित कर लिया और वह रूसी साम्राज्य का अंग बन गया। १८६७ में जेनरल कौफमैन को तुर्केस्तान का गवर्नर-जनरल बना दिया गया जो बड़ा ही कुशल कूटनीतिज्ञ था और जिसने पूर्व में रूस की अत्यन्त श्लाघनीय सेवा की थी। इसके एक वर्ष उपरान्त समरकन्द पर भी जो बुख़ारा का एक अङ्ग था रूस का अधिकार स्थापित हो गया। यद्यपि रूस की इस प्रगति से अनेक अंग्रेज चिन्तित हो रहे थे परन्तु लार्ड लारेन्स को इसकी विशेष चिन्ता न हुई और न उसने इसके रोकने का कोई प्रयत्न ही किया। वास्तव में रूस की इस प्रगति को वह न केवल अनवरोधनीय वरन् मध्य-एशिया की असभ्य जातियों के लिये हितकर भी समझता था। उसकी धारणा थी कि रूस उन्हें सभ्य बना देगा। अतएव रूस की प्रगति को रोकने का ब्रिटेन को कोई नैतिक अधिकार न था। वह केवल इतना ही चाहता था कि बृटिश सरकार तथा रूस की सरकार का प्रभाव-क्षेत्र निश्चित हो जाय। लारेन्स के विचार में यदि प्रभाव-क्षेत्रों की यह सीमा निर्धारित हो जाती तो फिर रूस से भयभीत होने की कोई बात न थी। यदि रूस अधिक दक्षिण तक बढ़ने का विचार त्याग दे तो ख़ोकन्द, बुख़ारा तथा ख़ीवा पर रूस का अधिकार स्थापित हो जाने में अंग्रेजों को कोई विशेष आपत्ति नहीं होनी चाहिये।

लारेन्स की नीति की समीक्षा—लार्ड लारेन्स की इस निर्हस्तक्षेप की नीति की

विद्वानों ने "महान् अकर्मण्यता की नीति" (Policy of Masterly Inactivit\ ) के नाम से पुकारा है। लारेन्स की इस नीति के विरोधी भी थे। सर हेनरी रालिन्सन ने जब वह भारत-मन्त्री की कौंसिल का सदस्य था अग्रगामी नीति का समर्थन करते हुये २० जुलाई १८६८ को यह प्रस्ताव रक्खा था कि बृटिश सरकार को आगे बढ़ कर बिलोचिस्तान में बोलन दर्रे पर केटा पर अपना अधिकार स्थापित कर लेना चाहिये और अफ़ग़ानिस्तान के अमीर के साथ मैत्री करके उसे कुछ वार्षिक धन देना चाहिये। लारेन्स ने इस अग्रगामी नीति का विरोध किया। लारेन्स के इस विरोध के निम्न-लिखित कारण थे :—

(१) सैनिक विशेषज्ञों में इस बात पर मतभेद था कि बोलन दर्रे की रक्षा पश्चिम की ओर से अच्छी तरह हो सकती है अथवा पूर्व की ओर से।

(२) लारेन्स को यह विश्वास था कि अफ़ग़ानिस्तान के आन्तरिक झगड़े में हस्तक्षेप करने का परिणाम युद्ध होगा।

(३) लारेन्स का इस बात में विश्वास न था कि शेरअली के साथ झगड़ा करके रूस को आक्सस नदी पर रोकने का प्रयत्न किया जाय।

(४) लारेन्स का कहना था कि आगे बढ़ कर ऐसे प्रदेश में जहाँ सैनिक कार्यवाही ठीक से नहीं हो सकती रूस के साथ युद्ध करना महान् मूर्खता होगी।

(५) लार्ड लारेन्स का पूर्ण विश्वास था कि भारत की सुरक्षा के लिये यह आवश्यक था कि (क) अफग़ानिस्तान के आन्तरिक झगड़ों में न फसा जाय, (ख) अपनी सीमा पर सुशिक्षित, सुसज्जित एवं अनुशासनशील सेना रक्खी जाय, (ग) अपनी आर्थिक सुव्यवस्था तथा सुदृढ़ता की ओर विशेष रूप से ध्यान दिया जाय तथा (घ) भारतीय जनता एवं देशी नरेशों का जो बृटिश शासन की उपयोगिता को समझ गये हैं सहयोग प्राप्त किया जाय।

(६) लारेन्स ने एक बार कहा था कि अफ़ग़ान लोग अपने पहिले आक्रान्ताओं को अपना कट्टर शत्रु और उनके पश्चात् आने वाले शत्रुओं को अपना मित्र तथा मुक्त करने वाले समझेंगे।

(७) संधियों के अनुसार भी अंग्रेज़ों को अफ़ग़ानिस्तान के आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप करने का अधिकार नहीं था और निष्क्रिय रहने से सभी उचित लाभ प्राप्त हो सकते थे।

(८) यदि भारत सरकार तटस्थता की नीति को त्याग कर किसी एक प्रतिद्वन्दी का साथ देती तो दूसरे का रूस की शरण में पलायन कर जाना अवश्यम्भावी था।

(९) लारेन्स का इस बात में विश्वास न था कि विदेशी आक्रमणों के अवरोध के लिये भारत की सीमा को पार किया जाय और अनावश्यक कठिनाइयों का सामना किया जाय।

(१०) लारेन्स की नीति के समर्थन में यह भी कहा जा सकता है कि उसके उपरान्त लार्ड मेयो तथा लार्ड नार्थब्रुक ने भी इसी नीति का अनुसरण करके इसका अनुमोदन किया और जब लार्ड लिटन ने इस नीति का परित्याग कर अग्रगामी नीति का अनुसरण किया तो उसके दुष्परिणाम अत्यन्त भयानक सिद्ध हुये और उसे उन सभी आपत्तियों का सामना करना पड़ा जिनकी ओर लारेन्स ने संकेत किया था।

उपरोक्त कारणों से लार्ड लारेन्स ने तटस्थता तथा निहस्तक्षेप की नीति का अनुसरण किया परन्तु यह नीति पूर्णतया दोष-विमुक्त न थी। इस नीति में एक बहुत बड़ा दोष यह था कि अफ़ग़ानिस्तान में स्थापित सत्ता के विरुद्ध प्रोत्साहन मिलता था क्योंकि सफलता प्राप्त हो जाने पर विद्रोही को यह विश्वास था कि अंग्रेज़ उसको अमीर स्वीकार कर लेंगे। इस नीति में दूसरा दोष यह था कि सभी प्रतिद्वन्दियों के असन्तुष्ट हो जाने

की सम्भावना थी। परन्तु इन दोषों के होते हुये भी लार्ड आकलैण्ड की अग्रगामी नीति के दुष्परिणामों का ध्यान रखते हुये हमें यह कहना पड़ता है कि लार्ड लारेन्स की तट-स्थता तथा निर्हस्तक्षेप की नीति परिस्थितियों के अनुकूल तथा सर्वथा उचित थी और उससे ब्रिटिश भारत सरकार को अनेक आपत्तियों से मुक्ति मिल गई।

यद्यपि लार्ड लारेन्स की इस नीति को "महान् अकर्मण्यता की नीति" की संज्ञा दी गई है परन्तु तथ्यों की समीक्षा के उपरान्त हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि वास्तव में लारेन्स अकर्मण्य न था। वह तभी तक निर्हस्तक्षेप की नीति का अवलम्ब लेने के लिये उद्यत था जब तक फ़ारस तथा रूस का हस्तक्षेप न हो। जब १८६७ में मुख्य प्रतिद्वन्द्वियों ने रूस से सहायता की याचना की और एक ने फारस के साथ गठ-बन्धन करना चाहा तब लारेन्स ने यह कहा था कि यदि हिरात का फारस के अधिकार में चले जाने की सम्भावना हो जायगी तो हमें खुल्लमखुल्ला उस दल की सहायता करनी होगी जिसकी सत्ता काबुल में प्रस्थापित है। १८६८ में शेर अली को आर्थिक सहायता भेज कर लारेन्स ने प्रत्यक्ष रूप से हस्तक्षेप किया था। रूस की प्रगति को भी लारेन्स एक निश्चित सीमा तक ही सहन करने के लिये उद्यत था। इसी से उसने बृटिश सरकार तथा रूस के प्रभाव-क्षेत्र के निश्चित कर देने पर बल दिया था। वास्तव में उसने अपनी कुशल नीति से अंग्रेजों के प्रति रूस की जागरुक घृणा को कुण्ठित कर दिया था। इन तथ्यों से अवगत हो जाने पर हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि लारेन्स की नीति चैतन्यता तथा जागरुकता की थी और उसे "महान् अकर्मण्यता" की संज्ञा देना तथ्य एवं वास्तविकता का बलिदान करना होगा।

मैसूर का मामला—लार्ड लारेन्स को मैसूर की समस्या का भी सामना करना पड़ा था। लार्ड विलियम बेंटिङ्क ने कुशासन तथा भ्रष्टाचार के आधार पर मैसूर को बृटिश अनुशासन में करके राजा को पेन्शन दे दी थी। मैसूर का शासन कम्पनी के एक कुशल राजनीतिज्ञ जेनरल कुब्बन को सौंप दिया गया था। उसके अनुशासन में मैसूर का वैभव उत्तरोत्तर बढ़ता ही गया। लार्ड हार्डिञ्ज के शासन काल में राजा ने गवर्नर-जनरल से याचना की कि मैसूर उसे वापस कर दिया जाय परन्तु राजा की यह प्रार्थना स्वीकार न की गई। बाद में फिर राजा ने डलहौजी, कैनिंग, एलगिन तथा लारेन्स के शासन-काल में इसी प्रकार की प्रार्थना की परन्तु वह स्वीकार न हो सकी। इसके बाद निराश होकर राजा ने यह प्रार्थना की कि उसे पुत्र गोद लेने की आज्ञा दे दी जाय और उस पुत्र को राजा का उत्तराधिकारी स्वीकार कर लिया जाय। १८६७ में राजा की यह प्रार्थना स्वीकार कर ली गई और उसे पुत्र गोद लेने का अधिकार दे दिया गया। बृटिश सरकार ने उसे राजा का उत्तराधिकारी स्वीकार कर लिया और १८८१ में जब वह पूर्ण वयस्क हो गया तो उसे मैसूर का शासन सौंप दिया गया।

भयङ्कर दुर्भिक्ष—लार्ड लारेन्स के शासन काल में भारत में दो भयङ्कर दुर्भिक्ष पड़े जिसमें भारतीय जनता को घोर यातनायें सहन करनी पड़ीं। प्रथम दुर्भिक्ष का प्रकोप १८६६ में हुआ। इसने उड़ीसा में अत्यन्त भयावह रूप धारण कर लिया। यद्यपि इस प्रान्त की स्थिति बंगाल तथा मद्रास प्रेसीडेन्सियों के मध्य में थी परन्तु अपनी प्राकृतिक रचना तथा यातायात के साधनों के अभाव के कारण यह प्रान्त अन्य प्रान्तों से सर्वथा पृथक् था। इसके उत्तर-पश्चिम में जंगलों तथा पहाड़ियों के होने और पूर्व में समुद्र-तट पर अच्छे बन्दरगाहों के अभाव के कारण इस प्रान्त में भोजन-सामग्री का पहुँचाना अत्यन्त दुष्कर कार्य था। यद्यपि महानदी पर्याप्त बड़ी है परन्तु उसमें जहाज नहीं चलाये जा सकते। राजमार्गों का सर्वथा अभाव था और जो थे भी उन पर पहिये वाली गाड़ियाँ चल नहीं पाती थीं। उन पर केवल खच्चर अथवा गधे चल पाते थे। इन विरोधी परिस्थि-तियों में दुर्भिक्ष ने जिसका प्रमुख कारण वर्षा का अभाव था अत्यन्त भीषण रूप धारण

कर लिया। दुर्भिक्ष कमीशन ने जो दुर्भिक्ष की जाँच के लिये नियुक्त किया गया था अपनी रिपोर्ट में लिखा था कि सघन बन तथा भयानक सागर के बीच इन मनुष्यों की वैसी ही दयनीय दशा थी जैसी कि उस पोत के यात्रियों की होती है जिनके पास भोजन-सामग्री नहीं रहती है। लोगों का अनुमान है कि इस दुर्भिक्ष में दस से बीस लाख तक मनुष्य काल के ग्रास बने थे। इस महती क्षति पर भी सरकार किंकर्तव्यविमूढ़ सी बनी रही। दुर्भिक्ष-पीड़ित व्यक्तियों की मृत्यु का उत्तरदायित्व अधिकांश में बंगाल के लेफ्टीनेन्ट गवर्नर सर सेसिल बीडन पर है जिसने यह आश्वासन दिया था कि अन्नाभाव की संकटपूर्ण स्थिति उत्पन्न होने की कोई सम्भावना नहीं है परन्तु लार्ड लारेन्स को भी इस दुर्घटना के उत्तरदायित्व से सर्वथा मुक्त नहीं किया जा सकता। लारेन्स ने स्वयम् ही अपने को दोषी एवं अपराधी ठहराया है। दुर्भिक्ष ने जो भारी नर-संहार किया था इसी समय दुर्भाग्यवश बाढ़ का भी प्रकोप बढ़ गया। इस बाढ़ के फल-स्वरूप उड़ीसा के निम्न प्रदेश के निवासियों की दशा अत्यन्त संकटापन्न तथा शोचनीय हो गई। इसी से कहा गया है कि दुर्भाग्य कभी अकेला नहीं आता। जो लोग अनावृष्टि के प्रकोप से बच गये थे उनको अतिवृष्टि ने जल-मग्न करके काल-कवलित कर दिया।

दूसरे दुर्भिक्ष का प्रकोप १८६८-६९ में हुआ। इसका विस्फोट बुन्देलखण्ड तथा राजपूताना में हुआ। इस दुर्भिक्ष के समय सरकार ने अत्यन्त सतर्कता तथा सावधानी से काम लिया और दुर्भिक्ष-ग्रस्त जनता को हर प्रकार की सहायता देने का प्रयत्न किया गया। बृटिश सरकार ने प्रथम बार यह नियम बना दिया कि सरकारी कर्मचारियों का कर्तव्य है कि वे प्रत्येक सम्भव प्रयत्न द्वारा क्षुधा-पीड़ित व्यक्तियों को काल के गाल में जाने से बचावें। परन्तु इस नियम का समुचित पालन न हो सका।

कृषकोपयोगी विधान—लार्ड लारेन्स किसानों के साथ बड़ी सहानुभूति रखता था और उनके हित की सदैव चिन्ता किया करता था। क्रान्ति के उपरान्त बृटिश सरकार ने बड़े-बड़े भूमिपतियों को प्रसन्न करने का प्रयत्न किया था परन्तु कृषकों की दयनीय दशा की ओर उसका ध्यान नहीं गया था। लार्ड लारेन्स ने इस अभाव की पूर्ति की और किसानों की रक्षा का उसने भगीरथ प्रयास किया। उसने १८६८ में पंजाब तथा अवध टेनान्सी ऐक्ट पास करवाये जिससे किसानों के हितों की रक्षा हो गई और उनका बड़ा कल्याण हुआ। इन विधानों के पारित कराने में लार्ड लारेन्स को भारतीय भूमिपतियों, जमींदारों, पत्रकारों, भारत-मन्त्री तथा अपनी कौंसिल के सदस्यों के घोर विरोध का सामना करना पड़ा था। पंजाब में इस ऐक्ट द्वारा उन सब कृषकों को मौरूसी अधिकार प्राप्त हो गया जो एक निश्चित समय से भूमि पर कृषि करते चले आ रहे थे। इस विधान की प्रशंसा करते हुये बंगाल के लेफ्टीनेन्ट गवर्नर ने कहा था, "संतुष्ट कृषक वर्ग की रक्षार्थ यह एक स्वतन्त्रता-पत्र है।"

लार्ड केनिंग के शासन काल में अवध के जमींदारों तथा तालुकेदारों के साथ बृटिश सरकार ने बड़ा अच्छा व्यवहार किया था और उन्हें अनेक प्रकार की सुविधायें तथा अधिकार देकर उन्हें बृटिश साम्राज्य का प्रबल स्तम्भ बना लिया था परन्तु किसानों के हितों पर बिल्कुल ध्यान नहीं दिया गया था और उनकी दशा अत्यन्त दयनीय हो गई थी। कृषकों की शोचनीय दशा को सुधारने के लिये १८६८ में अवध टेनान्सी ऐक्ट पारित किया गया। इस विधान के अनुसार किसानों की पूर्ण संख्या के पंचम भाग को मौरूसी अधिकार दे दिये गये। इस विधान द्वारा यह भी निश्चित किया गया कि जिन किसानों की लगान बढ़ा दी गई है उनको कृषि की उन्नति के साधनों के लिये जो निरन्तर प्रयोग किये जाते थे मुआवजा दिया जायगा और बिना न्यायालय में प्रार्थना-पत्र दिये किसी की लगान में वृद्धि न की जायगी। इस उदार कृषक-नीति का घोर विरोध हुआ और यह बतलाया गया।

कि इस विधान ने भूमिपतियों के साथ बड़ा अन्याय किया है। परन्तु लार्ड लारेन्स ने इन आलोचकों का बड़े धैर्य तथा साहस के साथ सामना किया। वास्तव में वाइसराय के दृढ़ निश्चय के कारण ही इस महान् कार्य का सम्पादन हो सका था।

पंजाब तथा अवध टेनान्सी ऐक्ट पास करके लार्ड लारेन्स ने इन दोनों प्रान्तों के कृषकों की रक्षा तथा उन्नति के लिये वही श्लाघनीय कार्य किया जो लार्ड केनिंग ने बंगाल टेनान्सी ऐक्ट पास करा कर बंगाल के कृषकों के लिये किया था। आर० सी० दत्त ने अपनी 'विक्टोरिया काल में भारत" नामक ग्रन्थ में लारेन्स के इस कार्य की प्रशंसा करते हुये लिखा है, 'भारत में इससे अधिक लाभदायक विधान बृटिश सरकार ने पहिले कभी नहीं बनाया था...यह ऐसा विधान था जिसका आधार भारत के प्राचीन अलिखित रीति-रिवाज थे और जिसमें बड़ों (भूमिपतियों) के अधिकारों का मान और निबलों की रक्षा का ध्यान रक्खा गया था।"

व्यापारिक सङ्कट—लार्ड लारेन्स को अपने शासन काल में व्यापारिक संकट का भी सामना करना पड़ा। यह संकट १८६६ में उत्पन्न हुआ था। इन दिनों अमेरिका में गृह-युद्ध का प्रकोप बढ़ रहा था और उत्तरी तथा दक्षिणी राज्यों में भीषण संघर्ष चल रहा था। चूंकि उत्तरी राज्यों के जहाजी बेड़े ने दक्षिणी राज्यों के बन्दरगाहों को घेर लिया था अतएव वहां से लंकाशायर के पुतलीघरों में रुई का जाना बन्द हो गया था। इसी स्थिति में भारतीय कपास की मांग बहुत बढ़ गई। फलतः बरार नागपूर तथा अन्य प्रान्तों में जहां कपास की कृषि होती थी स्वभावतः भूमि का मूल्य बढ़ गया। इन्हीं दिनों संयोगवश भूमि का बन्दोबस्त भी चल रहा था। भूमि के मूल्य में वृद्धि हो जाने के कारण अनेक स्थानों में लगान की दर भी बढ़ा कर निश्चित की गई। कपास के व्यापार में लाभ का इतना बड़ा आकर्षण था कि लोगों ने भविष्य की चिन्ता न करके इसमें पूँजी लगाना आरम्भ किया। नये बैंक भी खोले गये। परन्तु अमेरिका के गृह-युद्ध के समाप्त होते ही भारतीय कपास की मांग सहसा गिर गई क्योंकि अमेरिका की कपास भारतीय कपास से अधिक उत्तम होती है और अब उसी की मांग बढ़ गई। भारतीय कपास के मूल्य के गिर जाने के फल-स्वरूप कई कम्पनियों का दिवाला निकल गया और आगरा तथा बम्बई बैंकों ने भुगतान बन्द कर दिया। इससे जनता में बड़ी सनसनी फैल गई। चूंकि इन दिनों लोक-हित के कार्यों में बहुत धन व्यय किया जा रहा था अतएव आर्थिक स्थिति और अधिक चिन्ताजनक हो गई थी परन्तु इस आर्थिक संकट का उत्तरदायित्व लारेन्स पर नहीं डाला जा सकता क्योंकि यह परिस्थितियों के कारण उत्पन्न हुआ था जिन पर वाइसराय का कोई नियन्त्रण न था।

लोकहित के कार्य—लार्ड लारेन्स के शासन काल में अनेक लोकहित के कार्य किये गये जिससे बड़ी आन्तरिक उन्नति हुई। रेल, डाक, तार, नहर आदि का निर्माण लार्ड डलहौजी के ही शासन काल में आरम्भ हो गया था परन्तु १८५७ की क्रान्ति के कारण इसके फल का उपभोग न हो सका था। लार्ड लारेन्स के काल के शान्तिमय वातावरण में इनसे पूर्ण लाभ उठाया जा सका। यद्यपि आरम्भ में लारेन्स को कृपण कहा गया था क्योंकि सरकारी व्यय में उसने बड़ी कमी कर दी थी परन्तु अब उसने अनेक लोक-हित के कार्य करके इस लाञ्छन का प्रक्षालन कर दिया। उसने सार्वजनिक भवन-निर्माण, सिंचाई के साधनों की उन्नति तथा यूरोपियन सेनाओं के लिये बैरक बनवाने में बहुत धन व्यय किया। कहा जाता है कि यूरोपीय सैनिकों के लिये अधिकाधिक सुविधायें प्रदान करने तथा उनके लिये भव्य निवासस्थान निर्माण करने में उसकी विशेष तथा

व्यक्तिगत अभिरुचि थी। इन नई आयोजनाओं के फलस्वरूप सेना का व्यय बहुत बढ़ गया। लारेन्स ने उत्पादक साधनों के लिये ऋण की प्रथा का भी सूत्रपात किया था। रिचर्ड टेम्पुल ने मध्य-प्रान्त में ३० वर्ष के लिये लगान की व्यवस्था की थी। लारेन्स के पंचवर्षीय शासन काल में अनेक आयोजनाओं के फलस्वरूप बजट में २५ लाख का घाटा हो गया।

लारेन्स का चरित्र तथा उसके कार्यों का मूल्यांकन—

ऊपर लार्ड लारेन्स के शासन-काल की प्रमुख घटनाओं का उल्लेख किया गया है। अब लारेन्स के चरित्र तथा उसके कार्यों की समीक्षा कर लेना आवश्यक है। इसे हम निम्न-लिखित दृष्टिकोणों से कर सकते हैं :—

कर्मचारी के रूप में—लारेन्स बड़ा ही अध्यवसायी तथा परिश्रमशील व्यक्ति था और अपने परिश्रम तथा कर्तव्य-परायणता के बल से ही वह साधारण कोटि से अत्यन्त उच्च कोटि तक पहुँच सका था। यद्यपि उसमें अपने भाई हेनरी की प्रतिभा तथा सामाजिक गुण विद्यमान् न थे परन्तु इसमें संदेह नहीं कि वह एक महान् व्यक्ति था। लारेन्स बड़ा ही अच्छा कर्मचारी था। वह बड़ा ही उदार तथा भद्र था और प्रजा के हित का सदैव ध्यान रखता था। उच्चपद के प्रदर्शन तथा पाखण्ड से उसे घोर घृणा थी और उसका आचार-व्यवहार एक अत्यन्त सरल व्यक्ति की भांति होता था। अपने आधीन कार्य करने वाले व्यक्तियों पर वह पूर्ण नियन्त्रण रखता था और उनके साथ वह अत्यन्त कठोर व्यवहार करता था। उसमें एक बहुत बड़ा दोष यह था कि वह अपने अनुशासन में कार्य करने वाले व्यक्तियों के स्वतन्त्र विचार तथा दृष्टिकोण, उनकी मौलिकता तथा उनकी प्रतिभा का समुचित आदर नहीं कर पाता था और उन्हें उपेक्षा की दृष्टि से देखता था। सहयोग के साथ कार्य करने की सामर्थ्य उसमें न थी। वास्तव में उसमें कार्य सम्पादन की प्रतिभा न थी। इसी से कुछ विद्वानों ने यह मत प्रकट किया है कि वह वाइसराय के उच्च पद के योग्य न था।

वाइसराय के रूप में—विद्वानों की धारणा है कि लारेन्स के जीवन का सर्वोत्तम कार्य क्रान्ति के पूर्व तथा क्रान्ति के समय पंजाब के शासक के रूप में किया गया था और वाइसराय के रूप में उसने कोई श्लाघनीय कार्य नहीं किया। इतना तो सभी को स्वीकार करना पड़ेगा कि लारेन्स के जीवन का सर्वोत्तम कार्य १८६३ तक हो चुका था और वाइसराय के रूप में उसके शासन से लोगों को बड़ी निराशा हुई। लारेन्स के आन्तरिक शासन के सम्बन्ध में लोगों की जो कुछ भी धारणा हो इतना तो मानना ही पड़ेगा कि उसकी विदेशी नीति बड़ी ही उचित तथा तर्कसंगत थी और समय तथा परिस्थितियों के अनुकूल थी।

आदर्श ईसाई के रूप में—लारेन्स का सरल जीवन एक आदर्श ईसाई का जीवन था। प्रदर्शन अथवा दम्भ उसे स्पर्श तक न कर सका था। वाइसराय के अत्यन्त गौरवान्वित पद पर पहुँच कर भी वह अत्यन्त सरल जीवन व्यतीत करता था। इसी से कुछ लोगों ने उस पर यह आरोप लगाया है कि वह अपने उच्च पद की मर्यादा को नहीं रख पाता था। भारत में जब तक वह रहा तब तक वह एक आदर्श ईसाई का जीवन व्यतीत करता रहा। उसका सिद्धान्त था कि उच्च अथवा निम्न किसी भी पद का जो कार्य करना हो उसका सम्पादन अत्यन्त सच्चाई, ईमानदारी, संलग्नता तथा तत्परता के साथ करना चाहिये।

लारेन्स की वापसी—जनवरी १८६९ में लारेन्स ने भारत से अपने देश के लिये प्रस्थान कर दिया और उसी वर्ष वह बैरन की उपाधि से विभूषित किया गया और उसे २०० पौंड वार्षिक प्राप्त होने लगे। १८७० से १८७३ तक वह लन्दन स्कूल बोर्ड का अध्यक्ष था और इस पद पर रह कर उसने अपनी उदारता तथा विलक्षणता का पूर्ण परिचय दिया। धार्मिक तथा परोपकारी संस्थाओं में वह गहरी अभिरुचि लेता था। अपने जीवन के अन्तिम काल में उसने हाउस आफ लार्ड्स में अफगानिस्तान के सम्बन्ध में लार्ड लिटन की अग्रगामी नीति की तीव्र आलोचना की थी। १८७९ में लारेन्स का परलोकवास हो गया। वेस्ट मिनिस्टर एबे में उसकी समाधि लगाकर तथा लाहौर कलकत्ता और लन्दन में उसकी स्मृति में उसकी मूर्ति स्थापित करके उसे आदृत किया गया।

अध्याय ५

लार्ड मेयो (१८६९-७२)

प्रारम्भिक जीवन—मेयो का जन्म १८२२ में डबलिन (आयरलैण्ड) में हुआ था। मेयो की प्रारम्भिक शिक्षा घर में ही हुई थी। बाल्यकाल में ही उसने अपने माता पिता के साथ यूरोप की यात्रा की थी। १८४० में वह इङ्गलैण्ड लौट आया। १८४१ में उसने ट्रिनिटी कालेज डबलिन में प्रवेश किया और वहाँ का पाठ्यक्रम समाप्त करने के उपरान्त वहां की उपाधि ग्रहण की। १८४७ में अनुदार दल की ओर से पार्लियामेंट में उसका प्रवेश हुआ। १८४७ से १८४९ तक वह एक मूक सदस्य की भांति पार्लियामेंट में बैठा रहता था। १८४८ में उसका पाणि-ग्रहण संस्कार ब्लन्चे विन्डम के साथ हो गया। फरवरी १८४९ में प्रथम बार उसने पार्लियामेंट में भाषण दिया जिसकी डिसरैली आदि ने बड़ी प्रशंसा की। वह प्रथम बार १८५२ में द्वितीय बार १८५८ में तथा तृतीय बार १८६६ में आयरलैण्ड का प्रधान सेक्रेटरी नियुक्त किया गया। वह १८४७ से १८६८ अर्थात् २१ वर्ष तक पार्लियामेण्ट का सदस्य रहा। अपनी जन्म-भूमि आयरलैण्ड में उसकी विशेष अनुरक्ति थी और अपने देश से सम्बन्धित विषयों पर वह पार्लियामेण्ट में भाषण दिया करता था। यद्यपि वह अनुदार दल का सदस्य था परन्तु वह बड़े ही व्यापक दृष्टिकोण का व्यक्ति था। यही कारण था कि यद्यपि अनुदार दल के प्रधान मन्त्री डिसरैली ने उसकी नियुक्ति की थी परन्तु नियुक्ति के बाद ही जब ग्लैडस्टन की अध्यक्षता में नया मन्त्रिमण्डल बना तब नये प्रधान मन्त्री ने भी लार्ड मेयो की नियुक्ति का अनुमोदन किया। लार्ड मेयो की नियुक्ति वाइसराय के पद पर १८६८ के अन्तिम चरण में हुई थी और जनवरी १८६९ में उसने अपने पद के भार को ग्रहण किया। लार्ड मेयो के व्यक्तित्व में एक विशेष प्रकार का चुम्बकीय आकर्षण था और वह जिसके सम्पर्क में आता था उसके हृदय पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर लेता था। अपने उदार स्वभाव तथा शिष्ट व्यवहार के कारण वह भारतीय नरेशों तथा यूरोपवासियों का अत्यन्त प्रिय बन गया।

मेयो की परराष्ट्र नीति—जिस समय लार्ड मेयो ने भारत में वाइसराय का पद ग्रहण किया उस समय उत्तरी-पश्चिमी सीमा के तीन एशियाई राज्यों में अव्यवस्था व्याप्त थी और दो महान् शक्तियाँ इन राज्यों के मार्ग से भारत की ओर अग्रसर हो रही थीं। पंजाब की सीमा पर अफगानिस्तान ६ वर्षों के आन्तरिक संघर्ष से अभी मुक्त हुआ था और भारत पहुँचने के लिये रूस अपनी गृद्ध-दृष्टि अफगानिस्तान पर लगाये था। सिन्ध की सीमा पर बलूचिस्तान में वहाँ के शासक तथा कबीलों में भीषण संघर्ष चल रहा था। इस संघर्ष से लाभ उठा कर फारस बलूचिस्तान की पश्चिमी सीमा पर स्थित प्रान्तों को हड़पना चाहता था। सुदूर उत्तर में काश्मीर के उस पार चीन साम्राज्य के ध्वंसावशेष पर नव-निर्मित तुर्कस्तान का मुसलमान राज्य रूस तथा भारत सरकार दोनों से मान्यता प्राप्त करने के लिये प्रयत्नशील था। अतएव लार्ड मेयो की परराष्ट्र नीति वास्तव में मध्य एशियाई नीति थी। उसका तात्कालिक लक्ष्य था अफगानिस्तान तथा बलूचिस्तान के अव्यवस्थित राज्यों से दो ऐसी शक्तियों को उत्पन्न करना जो न केवल बृटिश सरकार के साथ मैत्री रक्खें वरन् उस मैत्री को सफल बनाने के लिये उसमें पर्याप्त शक्ति भी होनी चाहिये। मेयो उत्तरी पश्चिमी सीमा के प्रबल मित्र-राज्यों की सुदृढ़ पंक्ति बनाना

चाहता था जिससे रूस ने मध्य एशिया में जो अपना प्रभाव बढ़ा लिया है उसका भारत में बृटिश सरकार पर कोई प्रभाव न पड़े। अब हमें इस बात पर विचार करना है कि लार्ड मेयो को अपने इस उद्देश्य में कितनी सफलता प्राप्त हुई।

अफगानिस्तान के साथ सम्बन्ध—अफगानिस्तान के सम्बन्ध में लार्ड मेयो ने अपने पूर्ववर्ती वाइसराय लार्ड लारेन्स के पद-चिह्नों पर चलने का निश्चय किया। फलत. उसने उसी तटस्थता तथा निहस्तक्षेप की नीति का अवलम्ब लिया जिसका अनुगमन लारेन्स ने किया था। लार्ड लारेन्स के भारत से प्रत्यागमन करने के पूर्व यह निश्चित किया गया था कि अफगानिस्तान के अमीर शेरअली तथा वाइसराय का सम्मेलन अमृतसर में हो परन्तु अपने देश की आन्तरिक व्यवस्था के सुधार में संलग्न रहने के कारण शेर अली न आ सका और लार्ड लारेन्स ने इङ्गलैण्ड के लिये प्रस्थान कर दिया। मार्च १८६९ में शेर अली अम्बाला आया और वहां पर विचार-विनिमय के अभिप्राय से नये वाइसराय लार्ड मेयो से उसकी भेंट हुई। वार्तालाप के समय शेरअली ने बृटिश सरकार के साथ अत्यन्त घनिष्ट संबंध स्थापित करने की उत्सुकता प्रकट की। उसकी इच्छा थी कि अफगानिस्तान के साथ भारत सरकार की एक सुनिश्चित संधि हो जाय भारत सरकार एक निश्चित धन-राशि वार्षिक सहायता के रूप में अमीर को दे, उसके तथा उसके राजवंश के राज्याधिकार की सहायता का वचन दे तथा उसकी मृत्यु के उपरान्त उसके बड़े पुत्र याकूबखां के स्थान पर उसके छोटे पुत्र अब्दुल्ला जान को अफगानिस्तान का अमीर स्वीकार कर ले। लार्ड मेयो तथा बृटिश सरकार के लिये शेरअली की यह सब शर्तें अमान्य थीं। अतएव वे अस्वीकार कर दी गई। लार्ड मेयो के समक्ष इस समय एक विकट समस्या था। वह शेरअली की मांगों को मानने के लिये उद्यत न था परन्तु वह उससे मनोमालिन्य भी नहीं पैदा करना चाहता था। वास्तव में वह शेर अली के साथ मैत्री बनाये रखना चाहता था। अतएव यद्यपि लार्ड मेयो ने शेर अली के साथ संधि करने से इन्कार कर दिया परन्तु उसने उसे यह लिखित वचन दिया कि अंग्रेजों की नैतिक सहायता उसे सदैव प्राप्य होगी और यदि बृटिश सरकार उचित समझेगी तो अस्त्र-शस्त्र तथा धन से उसकी सहायता करेगी। उसमें यह भी कहा गया कि यदि उसे पद-च्युत करने का प्रयास किया गया तो बृटिश सरकार उसे उचित न मानेगी। यद्यपि लार्ड मेयो के इन आश्वासनों से शेर अली को पूर्ण संतोष न हुआ परन्तु उसे कुछ सान्त्वना अवश्य मिली। वह लार्ड मेयो के चुम्बकीय व्यक्तित्व से अत्यन्त प्रभावित हुआ और उससे उसकी मैत्री हो गई। अम्बाला के अति शोभनीय दरबार तथा अंग्रेजों की प्रबल सैनिक शक्ति से शेरअली अत्यन्त प्रभावित हुआ था। अफगानिस्तान लौट कर उसने उन सुधारों के भी करने का प्रयास किया जो वाइसराय ने उसे सुझाये थे परन्तु अपने देश की अव्यवस्थित अवस्था के कारण उसे उसमें अधिक सफलता न प्राप्त हुई।

रूस के साथ सम्बन्ध—अफगानिस्तान की भांति रूस के साथ भी लार्ड मेयो उसी नीति का अनुगमन करना चाहता था जिसका निर्धारण उसके पूर्ववर्ती वाइसराय लार्ड लारेन्स ने कर दिया था। लारेन्स रूस के साथ अत्यन्त स्पष्ट संबंध रखना चाहता था। अतएव उसने स्पष्ट शब्दों में कह दिया था कि रूस तथा बृटिश सरकार के मध्य एक सुनिश्चित सीमा निर्धारित हो जानी चाहिये और यदि रूस उस सीमा को पार कर भारत की ओर अग्रसर होता है तो संसार के प्रत्येक भाग में अविलम्ब रूस तथा इङ्गलैण्ड में युद्ध आरम्भ हो जायगा। लारेन्स की इस नीति को कार्यान्वित करने के प्रयत्न भी हो रहे थे। लार्ड मेयो ने इसे संपादित करने का प्रयास अविलम्ब आरम्भ कर दिया। मेयो रूस से लेशमात्र भयभीत न था। उसकी अपनी स्वयम् की धारणा थी कि रूस अंग्रेजों की शक्ति से अनभिज्ञ था बृटिश परराष्ट्र-सचिव क्लैरेण्डन तथा रूस सरकार के मध्य कुछ

संधि-वार्ता चल रही थी। फलतः १८६९ में कलकत्ता से डगलस फॉर्सिथ को भारत सरकार का दृष्टिकोण रूसी अधिकारियों के समक्ष उपस्थित करने के लिये सेन्ट पीटर्सबर्ग भेजा गया। विचार विमर्श के फल-स्वरूप रूस ने शेर अली को आक्सस के दक्षिण में अफगानिस्तान का अमीर स्वीकार कर लिया। इस स्वीकृति के साथ शेरअली का यह कर्तव्य था कि वह इस नदी के उत्तर में बुखारा राज्य की सीमाओं का आदर करे। अफगानिस्तान की उत्तरी सीमा अभी निश्चित रूप से निर्धारित नहीं हो पायी थी और इसके निर्धारण में कुछ विलम्ब भी हुआ। १८७१ में रूसियों ने यह कहना आरम्भ किया कि बदख्शाँ अफगानिस्तान के अन्तर्गत नहीं था परन्तु १८७३ में दीर्घ वार्ता के उपरान्त बृटिश सरकार द्वारा निर्धारित रेखा को स्वीकार कर लिया गया। अफगानिस्तान की सीमाओं के संबंध में रूस तथा बृटिश सरकार का यह समझौता मध्य-एशिया की राजनीति में बहुत बड़ा महत्व रखता है और यदि यूरोप की गुत्थियों हस्तक्षेप न किये होती तो एक अत्यन्त कठिन समस्या का निवारण हो गया होता।

बलूचिस्तान के साथ सम्बन्ध—अफगानिस्तान के साथ सन्तोषजनक समझौता कर लेने के उपरान्त लार्ड मेयो ने बलूचिस्तान की ओर ध्यान दिया। बलूचिस्तान की समस्या दो प्रकार की थी एक वाह्य और दूसरी आन्तरिक। वाह्य समस्या का सम्बन्ध बलूचिस्तान तथा फ़ारस की सीमा से था। यह सीमा अभी तक निर्धारित नहीं हो सकी थी। फलतः दोनों राज्यों में निरन्तर संघर्ष चला करता था। आन्तरिक समस्या का कारण यह था कि खान अर्थात् बलूचिस्तान के शासक तथा सामन्तों का सम्बन्ध निश्चित नहीं हो पाया था खान अपने को पूर्ण प्रभुत्व-शक्ति-सम्पन्न मानता था परन्तु सामन्त लोग उसे सहयोगात्मक राज्य का वैधानिक प्रधान मानते थे और अपने अधिकारों की रक्षा चाहते थे। दोनों ही पक्ष अपने पक्ष में तर्कपूर्ण प्रवचन देते थे फलतः खान के समर्थकों तथा सामन्तों में भीषण संघर्ष चल रहा था। इस प्रकार बलूचिस्तान वाह्य तथा आन्तरिक आपत्तियों की चक्की में पिस रहा था। लार्ड मेयो बलूचिस्तान की वाह्य तथा आन्तरिक दोनों समस्याओं को सुलझाने के लिये उद्यत था। उसके उद्योग के फल-स्वरूप बलूचिस्तान तथा फ़ारस के मध्य एक निश्चित राजनैतिक सीमा निर्धारित हो गई और सीमा-सम्बन्धी संघर्ष समाप्त कर दिया गया। वाह्य समस्या को सुलझाने के उपरान्त लार्ड मेयो ने आन्तरिक समस्या के सुलझाने की ओर ध्यान दिया। मेयो बलूचिस्तान में एक प्रबल केन्द्रीय शक्ति स्थापित करना चाहता था। परन्तु यह कार्य सरल न था क्योंकि दोनों ही दलों के अधिकार प्रबल तर्कों तथा सारगर्भित तथ्यों पर आधारित थे। सामन्तों का कहना था कि प्रायः उन लोगों ने खान को अपने नियन्त्रण में रक्खा है और उसे सामन्तों के अध्यक्ष के रूप में शासन करने के लिये बाध्य किया है। खान ने सर्व प्रभुत्व-शक्ति-सम्पन्न स्वेच्छाचारी तथा निरंकुश शासन नहीं किया। इसके विपरीत खान इस बात का प्रमाण दे सकता था कि इसमें सन्देह नहीं कि यदा-कदा वह अपने विद्रोही सामन्तों के समक्ष घराशायी हो गया था परन्तु बिना संघर्ष के नहीं और जब कभी उसे अवसर प्राप्त हुआ तब उसने अपनी शक्ति का स्वतन्त्रता तथा स्वेच्छाचारिता के साथ प्रयोग किया था। इस प्रकार बलूचिस्तान की आन्तरिक समस्या अत्यन्त जटिल थी परन्तु लार्ड मेयो ने अपनी मृत्यु के पूर्व ही एक बृटिश पदाधिकारी को खान तथा उसके सामन्तों के झगड़े का निर्णय करने के लिये मध्यस्थ के रूप में नियुक्त कर दिया।

पूर्वी तुर्कस्तान के साथ सम्बन्ध—लार्ड मेयो का ध्यान पूर्वी तुर्कस्तान की ओर भी गया। यह राज्य काश्मीर तथा हिमालय पर्वत के उस पार स्थित था। यह चीन साम्राज्य के ध्वंसावशेष पर निर्मित हुआ था। बहुत दिनों के संघर्ष के उपरान्त १८६९ में याकूब कुशबेगी ने इस राज्य पर सुदृढ़ रूप से अपनी प्रभुत्व-शक्ति स्थापित कर ली। जन-

वर्ष १८७० में उसने अपना एक राजदूत बृटिश सरकार के पास भेजा और भारत सरकार से प्रार्थना की कि वह भी अपना एक राजदूत उसके राजदूत के साथ तुर्किस्तान भेजे। लार्ड मेयो ने इस प्रार्थना को स्वीकार कर ली परन्तु इस बात को स्पष्ट रूप से बतला दिया कि यह राजदूत किसी प्रकार का राजनीतिक सम्बन्ध स्थापित करने के लिये नहीं भेजा जा रहा था। फलतः डगलस को सथ वाइसराय के राजदूत के रूप में पूर्वी तुर्किस्तान भेजा गया परन्तु उसे यह आदेश दिया गया कि वह राजनीतिक प्रश्नों अथवा वहां के आन्तरिक विवादों में किसी भी प्रकार का भाग न ले। उसका कर्तव्य था कि वह वहां की वास्तविक स्थिति का ज्ञान प्राप्त कर ले और व्यापारिक सुविधाओं का अन्वेषण करे। डगलस ने ऐसा ही किया और शीत ऋतु के आरम्भ होने के पूर्व ही भारत लौट आया।

देशी राज्यों के साथ सम्बन्ध—१८५७ की क्रान्ति के पूर्व बृटिश सरकार देशी राज्यों को अपना भयानक शत्रु समझती थी। अतएव उनका उन्मूलन अथवा उन पर पूर्ण नियन्त्रण उसकी नीति का प्रधान अंग था परन्तु क्रान्ति के समय देशी राज्यों ने अंग्रेजों की जो श्लाघनीय सहायता की और अपने देशवासियों के घृणा भाजन बने उससे बृटिश सरकार का दृष्टिकोण उनकी ओर से बदल गया। अब उसने देशी राज्यों के उन्मूलन की नीति का त्याग दिया और उनके अधिकारों तथा मान-मर्यादा की रक्षा का वचन दिया। लार्ड मेयो ने देशी राज्यों के साथ सान्त्वना तथा सद्भावना की नीति का अनुसरण करना आरम्भ किया। देशी राज्यों के साथ उसकी पूर्ण सहानुभूति थी और उनके अधिकारों तथा मान-मर्यादा का वह बड़ा आदर करता था परन्तु प्रत्येक देशी राज्य में वह अच्छे शासन की आशा करता था और कुशासन का सहन करने के लिये वह उद्यत न था। वह देशी राज्यों में पूर्ण शान्ति तथा सुव्यवस्था चाहता था और देशी नरेशों को प्रजा का सेवक बनाना चाहता था। देशी राज्यों के सम्बन्ध में लार्ड मेयो ने निम्न-लिखित चार सिद्धान्तों का अनुसरण किया :—

(१) किसी भी देशी राज्य को किसी भी दशा में बृटिश साम्राज्य में सम्मिलित न किया जाय। कुशासन के आधार पर भी किसी देशी राज्य के अस्तित्व को न समाप्त किया जाय।

(२) सार्व-भौम शक्ति होने के कारण बृटिश सरकार देशी राज्यों के कुशासन के लिये उत्तरदायी होगी और यदि कुशासन को रोकने के लिये हस्तक्षेप आवश्यक समझा जायगा तो दृढ़तापूर्वक हस्तक्षेप किया जायगा। परन्तु यह हस्तक्षेप देशी राज्य को बृटिश साम्राज्य में मिलाने के लिये नहीं किया जायगा वरन् देशी नरेश को हटा कर उसके स्थान पर बृटिश पदाधिकारी अथवा देशी संरक्षक को नियुक्त करके देशी नरेश के उत्तराधिकारी के हित में शासन किया जायगा।

(३) जो देशी नरेश अच्छा शासन करेंगे उनके मामले में किसी प्रकार का हस्तक्षेप नहीं किया जायगा और उन पर कम से कम नियन्त्रण रक्खा जायगा।

(४) नव-युवक राजकुमारों को बृटिश पदाधिकारियों द्वारा शिक्षा दी जाय और सार्व-भौम शक्ति तथा अपनी प्रजा के प्रति उनके जो उत्तरदायित्व हैं उनकी चेतना उनमें उत्पन्न की जाय।

लार्ड मेयो ने उपरोक्त सिद्धान्तों के अनुसार कार्य करना आरम्भ किया। काठियावाड़ के राज्यों में इन दिनों कुशासन का प्रकोप था। इन दिनों काठियावाड़ के प्रमुख राज्य का शासक एक अल्प-वयस्क राजकुमार हुआ। लार्ड मेयो ने उस राज्य के शासन को सुधारने तथा अन्य राज्यों को पाठ पढ़ाने के लिये उस राज्य का शासन एक अनुभवी देशी मन्त्री तथा बम्बई के एक योग्य पदाधिकारी को सौंप दिया। इसका परिणाम इतना अच्छा हुआ कि राज्य में अनेक श्लाघनीय सुधार किये गये और थोड़े ही दिनों में राज्य का शासन सुधर गया।

दूसरा देशी राज्य जिसके शासन में लार्ड मेयो ने हस्तक्षेप किया अलवर का राज्य था। १८६३ में अलवर का राजा पूर्ण वयस्क हो गया था। सात वर्ष में उसने अपने कुशासन तथा भ्रष्टाचार का पूर्ण परिचय दे दिया। उसके दुर्व्यसनों तथा कुकृत्यों के कारण राज्य का कोष रिक्त हो गया और ऋण के भार से राज्य बोझिल हो गया। कुशासन का प्रकोप इतना बढ़ा कि प्रजा क्रान्ति करने के लिये उद्यत हो गई। १८७० में इस कुव्यवस्था की सूचना भारत सरकार के पास पहुँची। प्रजा ने विद्रोह कर दिया और राज्य के ठाकुर लोग राजा को पदच्युत करने के लिये उद्यत थे। लार्ड मेयो शान्तिपूर्वक मध्यस्थता द्वारा राजा तथा प्रजा में समझौता कराना चाहता था। उसने राजा को परामर्श दी कि वह एक ऐसी प्रबन्धक समिति नियुक्त कर दे जिसमें प्रजा का विश्वास हो। जब राजा ने इस परामर्श की उपेक्षा की तब वाइसराय ने अलवर में एक देशीय समिति के निर्माण की आज्ञा दे दी। इस समिति में राज्य के प्रमुख सामन्तों को रक्खा गया और बृटिश पोलिटिकल ऐजेन्ट को इसका अध्यक्ष बना कर महाराज को समिति में अध्यक्ष के बाद दूसरा स्थान प्रदान किया गया। इस समिति के नियन्त्रण तथा सुव्यवस्थित शासन में अलवर की दशा सुधर गई।

कुशासित तथा भ्रष्टाचारी राज्यों की कुव्यवस्था के समाप्त करने में लार्ड मेयो जितनी तत्परता तथा दृढ़ता दिखलाता था उतनी ही उत्सुकता वह सुशासित राज्यों को प्रोत्साहन देने में भी दिखलाता था। उसके शासन काल में भोपाल का शासन एक अत्यन्त योग्य मुस्लिम महिला के हाथ में था। लार्ड मेयो ने उसे हर प्रकार का सहयोग तथा प्रोत्साहन प्रदान किया। वाइसराय ने उसका अपनी राजधानी में अत्यन्त आदर के साथ स्वागत किया और उस महिला को ग्रैन्ड कमान्डर आफ दी स्टार आफ इण्डिया की उपाधि से विभूषित करवाया। इस प्रोत्साहन से उस नारी का उत्साह इतना बढ़ गया कि भोपाल का शासन अत्यन्त श्लाघनीय हो गया।

लार्ड मेयो ने देशी राजकुमारों की शिक्षा तथा उनकी नैतिक उन्नति की ओर भी ध्यान दिया। जब कभी कोई बड़ा देशी राज्य किसी अल्प-वयस्क राजकुमार के अधिकार में जाता था तब लार्ड मेयो बृटिश सरकार का यह परम कर्तव्य समझता था कि वह देशीय अथवा मिश्रित ऐसी संरक्षण-समिति की व्यवस्था करे जिससे अच्छे शासन का सुव्यवस्था हो जाय और मन्त्रियों तथा राज्य की जनता को यह विश्वास हो जाय कि बृटिश सरकार उनकी स्वतन्त्रता का आदर करेगी और उसे सुरक्षित रक्खेगी। इसके अतिरिक्त राजकुमार को शिक्षा की इस प्रकार की व्यवस्था की जायगी जिससे वह अपने राजकीय उत्तरदायित्व को भली-भाँति समझ सके। इस प्रकार लार्ड मेयो ने अग्रेज संरक्षकों तथा अध्यापकों द्वारा राजकुमारों को शिक्षा देने की व्यवस्था आरम्भ की। वाइसराय ने न केवल बड़े-बड़े राज्यों के राजकुमारों की शिक्षा-दीक्षा की व्यवस्था की वरन् उसने छोटे-छोटे राज्यों के भी राजकुमारों की शिक्षा के लिये कालेज खुलवाये। काठियावाड़ के राज्यों की दशा को सुधारने के लिये वाइसराय ने इस प्रकार के कालेज की व्यवस्था की। अजमेर में उसने मेयो कालेज की स्थापना की। यह कालेज राजपूताना के उच्च कुल के बालकों की शिक्षा के लिये स्थापित किया गया था। यह लार्ड मेयो का एक अत्यन्त श्लाघनीय कार्य था।

आर्थिक सुधार—लार्ड मेयो को आर्थिक समस्या का भी सामना करना पड़ा। उसके पूर्ववर्ती वाइसराय लार्ड लारेन्स के शासन काल में २५ लाख का घाटा था। अतएव लार्ड मेयो के समक्ष दो समस्यायें थी। पहिली समस्या तो घाटे की पूर्ति थी और दूसरी समस्या आय तथा व्यय में स्थायी सामञ्जस्य स्थापित करना। इस दुष्कर कार्य में उसे रिचर्ड टेम्पुल तथा स्ट्रैची बन्धुओं से अभूतपूर्व सहायता प्राप्त हुई। लार्ड मेयो ने घाटे को पूरा करने के लिये पहिली व्यवस्था यह की कि सार्वजनिक कार्य के लिये जो धन स्वीकृत

होता था उसमें आठ लाख पौंड की कमी कर दो। यह सुधार वाइसराय ने स्ट्रैची की परामर्श से किया था जो उन दिनों सार्वजनिक कार्य विभाग (Public Works Department)का सेक्रेटरी था। लार्ड मेयो ने अन्य व्यय-विभागों में भी लगभग साढ़े तीन लाख की कमी कर दी। इस प्रकार व्यय को कम करके वाइसराय ने साढ़े ग्यारह लाख रुपये की बचत कर दी। परन्तु यह स्पष्ट था कि केवल व्यय में बचत करके आय तथा व्यय में सामञ्जस्य नहीं उत्पन्न किया जा सकता था। अतएव उसने सरकारी आय में वृद्धि करने का निश्चय किया। फलतः आय-कर को बढ़ा कर एक प्रतिशत से ढाई प्रतिशत कर दिया गया और बम्बई तथा मद्रास में नमक कर में वृद्धि कर दी गई। इन दोनों सुधारों से सरकार को पाँच लाख का लाभ हुआ और घाटे की पूर्ति में बड़ी सहायता मिली। परन्तु लार्ड मेयो आर्थिक समस्या को सुलझाने के लिये स्थायी उपचार चाहता था। फलतः उसने तीन आयोजनायें की। पहिली आयोजना द्वारा उसने केन्द्रीय सरकार के अर्थ-विभाग के यन्त्र को सुधारने का प्रयत्न किया, दूसरी आयोजना द्वारा उसने प्रान्तीय सरकारों को विवश किया कि अपने व्यय का अङ्कन करने में वे अधिकाधिक मितव्ययता तथा उसकी सीमा के अन्दर रहने का प्रयत्न करें और तीसरी आयोजना द्वारा उसने आय तथा व्यय में सन्तुलन स्थापित करने का प्रयत्न किया। केन्द्रीय अर्थ-विभाग की कार्यवाही में लार्ड मेयो को दो प्रमुख दोष परिलक्षित हुये। पहिला दोष तो यह था कि प्रान्तीय सरकार तथा विभिन्न विभाग अपने वार्षिक व्यय का अङ्कन ठीक समय पर केन्द्रीय सरकार के पास नहीं भेजते थे। अतएव उसकी समीक्षा करने का पर्याप्त समय केन्द्रीय सरकार को नहीं मिलता था। दूसरा दोष यह था कि राजस्व की वार्षिक प्रगति का यथोचित निरीक्षण नहीं किया जाता था। लार्ड मेयो ने व्यय की गणना की पूर्ण व्यवस्था की। उसने ऐसी आयोजनायें की जिससे प्रान्तीय सरकार तथा विभिन्न विभाग अपने व्यय का अङ्कन करके ठीक समय पर केन्द्रीय अर्थ-विभाग के पास भेज दें। अब उसने ऐसी व्यवस्था कर दी जिससे प्रति मास केन्द्रीय सरकार को राजस्व की प्रगति का ज्ञान होता रहे। केन्द्रीय राजस्व विभाग की समुचित व्यवस्था कर लेने के उपरान्त लार्ड मेयो ने प्रान्तीय सरकारों को अधिकाधिक मितव्ययता करने के लिये विवश किया। यद्यपि शासन के सम्बन्ध में प्रान्तीय सरकारों को पर्याप्त स्वतन्त्रता प्राप्त हो चुकी थी परन्तु अर्थ के सम्बन्ध में उन्हें पूर्ण रूप से केन्द्र के ऊपर आश्रित रहना पड़ता था। प्रतिवर्ष के अन्त में प्रान्तीय सरकार आगामी वर्ष के व्यय का अङ्कन करके केन्द्रीय सरकार के पास भेज देती थीं। गवर्नर-जनरल अपनी कौंसिल की परामर्श से जितना उचित समझता था उतने व्यय की स्वीकृति देता था। इस व्यवस्था में मितव्ययता की बिल्कुल सम्भावना न थी और प्रान्तीय सरकार अपनी आय तथा व्यय में सन्तुलन का बिल्कुल प्रयत्न नहीं करती थीं और अपने व्यय को सीमित करने की प्रवृत्ति उनमें न थी। वास्तव में प्रत्येक प्रान्तीय सरकार अधिक से अधिक माँगने का प्रयत्न करती थी क्योंकि जो सरकार जितना ही अधिक माँगती थी उसे उतना ही मिलता भी था। इस व्यवस्था में मितव्ययता न होने का एक और कारण था। प्रत्येक प्रान्तीय सरकार यह जानती थी कि यदि वह मितव्ययता करके कुछ धन बचा लेगी तो वर्ष के अन्त में जो धन बच जायगा वह उसे न मिलेगा वरन् उसे केन्द्रीय सरकार ले लेगी। लार्ड मेयो ने इस कुव्यवस्था के समाप्त कर देने का दृढ़-सङ्कल्प कर लिया। उसने अर्थ सम्बन्धी उत्तरदायित्व प्रान्तीय सरकारों को देने का निश्चय कर लिया। फलतः १४ दिसम्बर १८७० को उसने एक प्रस्ताव घोषित किया जिसे हम प्रान्तीय सरकार का चार्टर कह सकते हैं। इस प्रस्ताव द्वारा प्रत्येक प्रान्तीय सरकार को प्रतिवर्ष एक निश्चित धन राशि देने का निश्चय किया गया। धन-दान की यह व्यवस्था पाँच वर्ष के लिये की गई और केन्द्र पर किसी भयानक आर्थिक संकट आ जाने पर ही इसमें कमी की जा सकती थी अन्यथा पाँच वर्ष के लिये यह व्यवस्था स्थायी थी। अब प्रान्तीय सरकारों को इस बात की पूर्ण स्वतन्त्रता दे दी गई कि

वे जिस विभाग पर जितना धन चाहें अपनी इच्छानुसार व्यय करें और जो धन मितव्ययता से बचा रहेगा वह उनका हो जायगा और केन्द्रीय सरकार को उसे वापस न करना होगा। यह भी निश्चित कर दिया गया कि किन विषयों पर प्रान्तीय सरकार को यह धन व्यय करना होगा। लार्ड मेयो द्वारा स्थापित की हुई यह राजस्व व्यवस्था कुछ सुधारों के साथ अब तक चली आ रही है। लार्ड मेयो का तीसरा कार्य था आय तथा व्यय में स्थायी सन्तुलन स्थापित करना। इस कार्य का सम्पादन उसने नये करों को लगाकर तथा व्यय में कमी करके किया। भारत में पदार्पण करते ही उसने आय-कर के लगाने की आयोजना की और उसे कार्यान्वित किया। नमक कर द्वारा भी उसने आय में वृद्धि की परन्तु वह जनता को कर के बोझ से पीड़ित भी नहीं करना चाहता था। वास्तव में वह कुछ प्राचीन करों को हटाना भी चाहता था यथा निर्यात कर और उसने गेहूं पर निर्यात कर हटा भी दिया था। उसने व्यय के प्रत्येक विभाग का निरीक्षण करवाया और यथा सम्भव व्यय में कमी कराई। लार्ड मेयो के भगीरथ प्रयास के फल-स्वरूप न केवल लारेन्स के काल के घाटे की पूर्ति हो गई वरन् अब बजट में बचत भी होने लगी और सुप्रबन्ध, मितव्ययता तथा अच्छे नियंत्रण के कारण कर का भार भी हल्का हो गया।

सैनिक सुधार—लार्ड मेयो को सैनिक सुधार भी करने पड़े। सेना का व्यय बहुत बढ़ गया था। अतएव इसे कम करना नितान्त आवश्यक था। इसे दो प्रकार से किया जा सकता था अर्थात् सेना के प्रबन्ध में मितव्ययता करके तथा सैनिकों की संख्या में कमी करके। सेना के प्रबन्ध में दो प्रकार से मितव्ययता की जा सकती थी अर्थात् कर्मचारियों में कमी करके तथा कुछ सैन्य विभागों को हटाकर। सैनिकों की संख्या में भी दो प्रकार से कमी की जा सकती थी अर्थात् यूरोपियन सेनाओं में कमी करके तथा भारतीय सेनाओं में कमी करके। लार्ड मेयो ने अनुमान लगाया कि कार्य-कुशलता को बिना किसी प्रकार की क्षति पहुँचाये वह स्टाफ तथा सैन्य विभाग में ७६००० पौंड की बचत कर सकता था। अतएव इस सुधार को उसने बड़ी तत्परता के साथ किया। जब सैनिकों के कम करने का प्रश्न आया तब लार्ड मेयो ने इस बात का अनुभव किया कि यूरोपियन सेना में कोई कमी नहीं की जा सकती परन्तु छोटी-छोटी रेजीमेण्टों की बड़ी रेजीमेण्ट बना कर व्यय में कमी की जा सकती है। फलतः उसने छोटी-छोटी रेजीमेण्टों को मिलाकर बड़ी-बड़ी रेजीमेण्टें बना दीं। इस प्रकार ग्यारह अतिरिक्त यूरोपीय रेजीमेण्टों को समाप्त कर दिया गया। उत्तरी भारत की सीमा अत्यन्त विस्तृत होने तथा क्रान्तिकारी तत्व इसके अन्तर्गत उपस्थित रहने के कारण देशी सैनिकों की संख्या में भी कमी करना उचित न समझा गया। परन्तु देशी तोपखाने को समाप्त कर देने का निश्चय लार्ड मेयो ने कर लिया और भारत-मन्त्री ने अपनी स्वीकृति भी दे दी। फलतः उसने बंगाल के दो तोपखानों को समाप्त कर दिया। मद्रास में भी देशी कम्पनी का तोपखाना और बम्बई में एक देशी कम्पनी का तोपखाना समाप्त कर दिया गया। इस प्रकार १७००३ पौंड की वार्षिक बचत की गई। वाइसराय ने इस बात का अनुभव किया कि संख्या में किसी प्रकार की कमी नहीं की जा सकती थी परन्तु अलग-अलग रेजीमेण्टों को हटा कर पर्याप्त बचत की जा सकती थी। इस प्रकार बंगाल की देशी घुड़सवारों की सेना में एक रेजीमेण्ट की और बंगाल की देशी पैदल सेना में एक रेजीमेण्ट की कमी करके २७२०० पौण्ड वार्षिक की बचत की गई। मद्रास की देशी सेना पर बहुत अधिक धन व्यय होता था। चूँकि इन देशी सैनिकों को अपनी स्त्री तथा बच्चे अपने साथ रखने का अधिकार था अतएव इनका खर्च और अधिक बढ़ गया था। इन सैनिकों को जब अन्य प्रान्तों में भेजना पड़ता था तब बड़ी कठिनाई पड़ती थी। अतएव लार्ड मेयो ने यह प्रस्ताव रक्खा कि मद्रास के सैनिक मद्रास प्रेसीडेन्सी में ही रक्खे जायेंगे। इस आयोजना से कई रेजीमेण्टों को समाप्त कर दिया गया और उनकी बड़ी

रेजीमेण्ट बनाई गई। इस व्यवस्था से १७८७४५ पौंड वार्षिक की बचत हुई। बम्बई में भी रेजीमेण्टों का पुनसंगठन करके ७७६१६ पौंड की बचत की गई। लार्ड मेयो कार्य-कुशलता का बलिदान करके व्यय की बचत नहीं करना चाहता था वरन् वह बेकार के व्यय को समाप्त कर देना चाहता था। उसने सैनिकों के स्वास्थ्य को अच्छा रखने के लिये उत्तम व्यवस्थायें करवाई थीं। उनके रहने के लिये उसने सुविधाजनक तथा स्वस्थकारक बैरकें बनवाईं। उसने बृटिश सैनिकों के मानसिक स्वास्थ्य की भी व्यवस्थायें करवाईं। उसने सेना को अच्छे से अच्छे अस्त्र-शस्त्र से सुसज्जित करवाया और उसमें अधिक से अधिक योग्यता तथा कार्यकुशलता उत्पन्न करने का प्रयत्न किया। यूरोपीय तथा देशी दोनों ही सेनाओं में जो लोकप्रियता लार्ड मेयो को मिली है वह बहुत कम गवर्नर जनरलों को मिल सकी है।

आन्तरिक शासन—लार्ड मेयो ने आन्तरिक शासन की ओर भी विशेष रूप से ध्यान दिया। वास्तविक स्थिति का ज्ञान प्राप्त करने के लिये उसने विभिन्न प्रान्तों की यात्रा की। इस यात्रा में उसने न केवल प्रान्तों की शासन-व्यवस्था का वरन् उन व्यक्तियों के चरित्र तथा गुण का भी अध्ययन किया जिनके हाथ में प्रान्तीय शासन का संचालन था। आन्तरिक शासन का पूर्ण ज्ञान प्राप्त कर लेने के उपरान्त लार्ड मेयो ने सुधार का कार्य आरम्भ किया। उसके शासन काल में निम्नलिखित सुधार किये गये :—

(१) सार्वजनिक कार्य विभाग में सुधार—सार्वजनिक कार्य विभाग (Public Works Department) का कार्य अत्यन्त असन्तोषजनक था और धन का अपव्यय करने में यह सबसे आगे था। असावधानी, अयोग्यता तथा भ्रष्टाचार का इस विभाग में प्रचण्ड प्रकोप था। लार्ड मेयो ने इन दोषों के कारण का अन्वेषण करना आरम्भ किया और इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि इस कुव्यवस्था के तीन प्रधान कारण थे। पहिला कारण तो यह था कि इस विभाग में पदाधिकारियों की संख्या आवश्यकता से कम थी अतएव निरीक्षण का कार्य समुचित रीति से नहीं हो पाता था। दूसरा कारण यह था कि बिना कर्मचारियों की संख्या में वृद्धि किये देश के विभिन्न भागों में एक साथ ही अनेक कार्य आरम्भ कर दिये जाते थे। इसका दुष्परिणाम यह होता था कि कार्य जल्दी में किया जाता था और बिगड़ जाता था। तीसरा कारण यह था कि इन्जीनियरों को आफिस का तथा पत्र-व्यवहार का इतना अधिक कार्य करना पड़ता था कि वे आफिस के ही कार्य में फँसे रहते थे और बाहर जाकर कार्य के निरीक्षण का उन्हें समय नहीं मिलता था। इससे वैयक्तिक प्रबन्ध का सर्वथा अभाव था। लार्ड मेयो ने इन दोषों के निराकरण का प्रयत्न किया। उसने कार्य के निरीक्षण की समुचित व्यवस्था की और एक समय में एक ही कार्य के करने का प्रबन्ध किया। ऋण लेकर कार्य करने की कुव्यवस्था को भी उसने बन्द करा दिया। इन सुधारों का परिणाम यह हुआ कि सार्वजनिक कार्य विभाग समुचित रीति से कार्य करने लगा और उसमें अब खर्च की कमी की समाप्ति हो गई।

(२) दुर्भिक्ष से सुरक्षा की व्यवस्था—लार्ड मेयो ने दुर्भिक्ष के प्रकोप से जनता की सुरक्षा की आयोजनायें कीं। उसकी अपनी व्यक्तिगत धारणा थी कि रेलों का निर्माण करके तथा सिंचाई की समुचित व्यवस्था करके अकाल का सफलतापूर्वक सामना किया जा सकता था। जेनरल स्ट्रैची की सहायता से वाइसराय ने राज्य की ओर से रेलों के बनवाने की आयोजना आरम्भ की और इस कार्य में उसे श्लाघनीय सफलता प्राप्त हुई। लार्ड मेयो प्रथम वाइसराय था जिसके काल में सर्व प्रथम राज्य की ओर से रेलों का निर्माण आरम्भ हुआ। इसके पहिले इस कार्य को प्राइवेट कम्पनियां किया करती थीं। रेलों की सुव्यवस्था करने के उपरान्त लार्ड मेयो ने सिंचाई की सुव्यवस्था का कार्य आरम्भ किया। उसने गंगा की नहर को विस्तृत करवाया। फतेहगढ़ से इलाहाबाद तक सम्पूर्ण निचले दोआब की

सिंचाई के लिये अलीगढ़ के दूसरी ओर गंगा से सिंचाई की नई व्यवस्था आरम्भ की गई। शारदा नहर की आयोजना से आधा रुहेलखण्ड तथा अवध के पश्चिमी जिले दुर्भिक्ष के प्रकोप से सुरक्षित किये जा रहे थे। गंगा से नहर निकाल कर पश्चिमी रुहेलखण्ड की सुरक्षा के लिये भी इसी प्रकार की व्यवस्था की जा रही थी। यमुना नदी से जल लाकर दिल्ली के शुष्क प्रदेश को सिञ्चित करने की आयोजना की जा रही थी। यमुना की निचली नहर को भी विस्तृत करने की आयोजना की जा रही थी। सोन नदी से नहर निकाल कर बिहार को भी सींचने की आयोजना की गई। इसी प्रकार उड़ीसा में आवागमन के साधनों में वृद्धि की गई और सिंचाई की समुचित व्यवस्था की गई। इसके दक्षिण में गोदावरी नदी से सिंचाई की समुचित व्यवस्था की जा रही थी। पश्चिम की ओर सिन्ध में भी सिंचाई की आयोजना की गई। बम्बई, मद्रास तथा अन्य प्रान्तों में भी प्रशंसनीय कार्य किया गया।

(३) शिक्षा सम्बन्धी आयोजनायें—लार्ड मेयो के काल तक सार्वजनिक शिक्षा की कोई समुचित व्यवस्था नहीं की गई थी। अभी तक शिक्षा का ध्येय आफिसों के लिये बाबुओं का उत्पादन था। मेयो इस सिद्धान्त का घोर विरोधी था। वह शिक्षा को जन साधारण के लिये प्राप्य बनाना चाहता था। बंगाल में शिक्षा को सुलभ बनाने में लार्ड मेयो को बंगाल के लेफ्टीनेन्ट गवर्नर सर जार्ज कैम्पबेल से बड़ी सहायता मिली और बंगाल में बहुत बड़ी संख्या में प्राइमरी स्कूल खोले गये। लार्ड मेयो ने मुसलमानों की शिक्षा के लिये स्थानीय सरकारों द्वारा विशेष प्रबन्ध करवाया क्योंकि शिक्षा में वे बहुत पीछे रह गये थे। गरीब यूरोपियनों के बच्चों की भी शिक्षा की वाइसराय ने समुचित व्यवस्था की।

(४) जन गणना की व्यवस्था—लार्ड मेयो के पहिले जन गणना की कोई व्यवस्था न थी। सबसे पहिले उसने बंगाल की जन-गणना की आज्ञा दी। इसके उपरान्त उसने सम्पूर्ण भारत की जन गणना की व्यवस्था करवाई। इस जन-गणना से लोगों की वास्तविक स्थिति का पता लग गया।

(५) कृषि तथा व्यवसाय विभाग की स्थापना—कृषि तथा व्यवसाय की उन्नति के लिये लार्ड मेयो ने कृषि तथा व्यवसाय विभाग की स्थापना की। वह न तो यह चाहता था कि भारतीय किसान उसी प्रकार से खेती करे जिस प्रकार वह शताब्दियों से करता चला आ रहा है और न उसे ऐसे काम के करने की शिक्षा दी जाय जिसका करना उसके लिये असम्भव है।

(६) स्थानीय स्वराज्य को प्रोत्साहन—लार्ड मेयो की धारणा थी कि अन्त में भारतीयों को अपनी स्थिति के सुधारने का स्वयम् प्रयत्न करना होगा। अतएव वह नगर-पालिकाओं को अधिक से अधिक प्रोत्साहन देना चाहता था। स्थानीय स्वराज्य की संस्थाओं को वह लोक-कल्याण का बहुत बड़ा साधन समझता था।

(७) कानून निर्माण सम्बन्धी कार्य—लार्ड मेयो ने कानून-निर्माण के भी कार्य करवाये। इस कार्य में उसे दो नैयायिक सर हेनरी मेन तथा सर फिटजजेम्स स्टीफेन से बड़ी सहायता मिली जो उसकी कौंसिल के क्रमागत ला मेम्बर रह चुके थे।

(८) कारागार में सुधार—कारागार के सुधार में भी लार्ड मेयो की विशेष अभिरुचि थी। वह कारागार में पूर्ण अनुशासन स्थापित करना चाहता था। वह जेलों को रोग के वातावरण से मुक्त करना चाहता था। उसके समय में अन्डमन द्वीप में जो कैदियों का उपनिवेश था रोगों का ऐसा प्रकोप था कि मृत्यु-संख्या प्रति सहस्र १०१ थी। लार्ड लारेन्स तथा लार्ड मेयो के सुधारों के फलस्वरूप मृत्यु-संख्या प्रतिसहस्र केवल १० रह गई। लार्ड मेयो ने कैदियों के उपनिवेश के प्रबन्ध के लिये एक सुपरिन्टेन्डेन्ट नियुक्त किया

और कारावासों के लिये नियमावली प्रस्तुत कराई। वह चाहता था कि यह कैदी कृषि करें और बकरियाँ पालें और इस प्रकार यह उपनिवेश कालान्तर में स्वावलम्बी हो जायेगा। सुपरिन्टेन्डेन्ट के निरीक्षण में सुधार का कार्य बड़े उत्साह के साथ आरम्भ किया गया और अच्छी प्रगति भी हुई। सुपरिन्टेन्डेन्ट की ऐसी इच्छा हुई कि लार्ड मेयो स्वयम् वहाँ जाकर सुधार का कार्य देखे। फलतः २४ जनवरी १८७२ को वाइसराय ने कलकत्ते से अन्डमन के लिये प्रस्थान कर दिया।

लार्ड मेयो की हत्या—दुर्भाग्यवश लार्ड मेयो की अन्डमन-यात्रा उसके लिये प्राणान्तक सिद्ध हुई। शेरअली नामक एक अफगान ने जिसे अपने एक शत्रु की हत्या करने के अपराध में आजन्म कारावास का दण्ड मिला था फरवरी १८७२ में पोर्टब्लेयर नामक स्थान में जब वाइसराय अन्डमन द्वीप में जल-कैदियों के निवास का निरीक्षण करके अपनी नाव की ओर जा रहा था छुरा भोंक कर उसकी जीवन-लीला समाप्त कर दी। शेरअली के हृदय में प्रतिशोध की भावना का प्रकोप था और उसने यह निश्चय कर लिया था कि वह अवसर पाने पर किसी उच्च यूरोपीय पदाधिकारी की हत्या करेगा। लार्ड मेयो की हत्या करके उसने अपने संकल्प को पूर्ण किया और अपने हृदय को सान्त्वना दी। अभियोग चलने पर उसने अपने को निरपराधी बतलाया परन्तु अन्त में उसे मृत्यु दण्ड दिया गया।

लार्ड मेयो का चरित्र तथा उसके कार्यों का मूल्यांकन—लार्ड मेयो का व्यक्तित्व अत्यन्त उच्च-कोटि का था। यद्यपि वह अनुदार दल का सदस्य था परन्तु उसका दृष्टिकोण बड़ा ही व्यापक था। इस विचार-व्यापकता के कारण किसी भी राजनैतिक दल में उसका स्वागत हो सकता था। धार्मिक विषयों में भी वह बड़ा ही उदार था। यद्यपि वह स्वयम् स्थापित चर्च का सदस्य था परन्तु अन्य सम्प्रदाय वालों के साथ उसकी पूर्ण सहानुभूति थी। उसकी जितनी सहानुभूति भूमिपतियों के साथ थी उससे कहीं अधिक कृषकों के साथ थी। उसे विचार-स्वतन्त्रता, विश्वास स्वतन्त्रता तथा कार्य-स्वतन्त्रता से जीवन से भी कहीं अधिक प्रेम था। दीन-दुखियों के साथ उसकी वास्तविक सहानुभूति थी। पागलों, दरिद्रों, कैदियों तथा पतितों के उत्थान के लिये उसका हृदय सदैव उसे प्रेरित किया करता था और उनके लिये उसने श्लाघनीय कार्य किये। लार्ड मेयो में उच्च-कोटि की परिश्रम-शीलता तथा कर्तव्य-परायणता थी। वह बड़े ही उदार स्वभाव का था और उसके हृदय में बड़ी दया थी। प्रहसन शीलता तथा कोमलता उसके स्वभाव के दो अद्वितीय गुण थे। वह बड़ा ही मननशील तथा स्पष्टवादी व्यक्ति था और अत्यंत उलझी हुई गुत्थियों को सुलझाने की अपूर्व क्षमता रखता था। सबको सन्तुष्ट तथा प्रसन्न रखना उसके जीवन का प्रधान लक्ष्य था। यही कारण था कि कोई उससे वैमनस्य नहीं रखता था। किसी से भी वह कटुता नहीं रखता था। कोमलता के साथ-साथ उसमें दृढ़ता भी थी और भयानक से भयानक आपत्ति आने पर भी उसका साहस तथा धैर्य भङ्ग नहीं होता था। जिस कार्य का सम्पादन उसे करना पड़ता था उसे वह बड़ी संलग्नता तथा नियमित रूप से करता था। अपने अधीनस्थ कर्मचारियों से कार्य लेने में वह अत्यंत दक्ष था। भूलों के अन्वेषण की वह अद्भुत प्रतिभा रखता था। यद्यपि लार्ड मेयो केवल तीन वर्ष तक भारत का वाइसराय रहा परन्तु इस लघु काल में उसने बहुत बड़ी ख्याति प्राप्त की। अपनी विदेशी नीति तथा आन्तरिक शासन दोनों ही में उसे समान रूप से सफलता प्राप्त हुई। संरक्षित राज्यों के सम्बन्ध में उसकी नीति श्लाघनीय थी क्योंकि उस नीति से देशी राज्यों की प्रजा का बड़ा कल्याण हुआ। उसकी राजस्व सम्बन्धी नीति पूर्णतया सफल रही और उससे रिक्त राज-कोष की पूर्ति हो गई। सैनिकों की संख्या में बिना कमी किये सुसंगठन द्वारा उसने सैन्य-विभाग में बड़ी बचत की। उसके आन्तरिक सुधार उसकी शासन कुशलता

की क्षमता के परिचायक हैं। लार्ड मेयो को भारत के वाइसरायों में उच्च स्थान मिलना चाहिये। लार्ड मेयो के सम्बन्ध में रशब्रुक विलियम्स ने लिखा है, "लार्ड मेयो की गवर्नर जनरली से हम भारत के उस दृढ़ विकास के प्रारम्भ का पता लगा सकते हैं जो बृटिश कामनवेल्थ के अन्दर उत्तरदायी सरकार की ओर अनिवार्यतः ले गया।" रिचर्ड टेम्पुल के शब्दों में, "उसका सम्पूर्ण जीवन उत्साह से ओत-प्रोत था और यह उसका एक विशेष गुण था।" शवर्स ने लिखा है, "उसके सौम्य आचार-व्यवहार तथा सार्वभौम लोकप्रियता आकर्षक वैयक्तिक गुण से अधिक थे वे साम्राज्य के लिये बड़े मूल्य की वस्तु बन गये। इन्हीं से उसे सरंक्षित राज्यों का सहयोग तथा उनका आदर प्राप्त हो सका था और इन्हीं से उसके वाइसराय के पदासीन रहने के काल में भारत की उलझी हुई नौकर शाही कम से कम संघर्ष तथा अधिकाधिक योग्यता के साथ कार्य कर सकी।' स्मिथ महोदय ने लार्ड मेयो के सम्बन्ध में लिखा है, "लार्ड मेयो ने अपनी तीन वर्ष की पदासीनता में उन राजनीतिज्ञों की आशाओं की पूर्ति कर दी जिन्होंने उसकी नियुक्ति की थी और अपने को पूर्णतया कार्य-कुशल गवनर-जनरल तथा वाइसराय सिद्ध कर दिया। उसकी अद्वितीय वैयक्तिक सौम्यता ने उसे संरक्षित राज्यों का विशेषरूप से प्रिय बना दिया जो उसे सम्राट् का आदर्श-प्रतिनिधि मानते थे। वह शासन की सभी समस्याओं के लिये कठिन परिश्रम करता था और अन्डमन द्वीप के अपराधियों की बस्तियों की शासन व्यवस्था के दोषों के सुधार के उत्साहपूर्ण प्रयत्न में उसने अपना जीवनोत्सर्ग किया।" वास्तव में लार्ड मेयो एक महान् व्यक्ति तथा अत्यंत योग्य शासक था।

अध्याय ६

लार्ड नार्थब्रुक (१८७२-१८७६)

नार्थब्रुक का परिचय—टामस जार्ज बेरिङ्ग, लार्ड नार्थब्रुक का जन्म १८२६ में एक अत्यन्त धन-सम्पन्न परिवार में हुआ था। बाल्य-काल में उसे समुचित शिक्षा प्राप्त हुई थी। भारत का गवर्नर-जनरल बनने के पूर्व वह लार्ड आफ दी एडमिरैलिटी, अन्डर सेक्रेटरी आफ स्टेट फार इण्डिया तथा अन्डर सेक्रेटरी फार वार रह चुका था। लार्ड मेयो के वध के उपरान्त ग्लैडस्टन ने जो उन दिनों इंगलैण्ड का प्रधान-मन्त्री था उसे भारत का गवर्नर-जनरल तथा वाइसराय बना दिया। स० १८७२ में लार्ड नार्थब्रुक भारत आ गया। नार्थब्रुक बड़ा ही सतर्क तथा सावधान शासक था। वह बड़ा ही विचारशील व्यक्ति था और स्वतन्त्र-निर्णय की उसमें उच्च-कोटि की क्षमता थी। न तो वह सफल वक्ता था और न योग्य लेखक। उसका चरित्र बड़ा ही निर्मल तथा व्यक्तित्व बड़ा ऊंचा था। वह उदार तथा दयालु था। वाह्य-प्रदर्शन की भावना उसमें लेशमात्र न थी। अतएव वाह्य-रूप में अनुदार प्रतीत होता था। उसमें अद्भुत कार्य-क्षमता तथा कर्तव्य-परायणता थी। उसे शासन का पर्याप्त अनुभव प्राप्त था। परन्तु उसके शासन काल में बहुत कम महत्व-पूर्ण घटनायें घटीं। भारत में लार्ड लारेन्स की भांति उसने भी महान् अकर्मण्यता की नीति' (Policy of Masterly Inactivity) का अनुसरण किया। वह शान्ति के वातावरण में कार्य करना चाहता था। १८७३ में उसने कहा था,"मेरा लक्ष्य करों को हटाना तथा अनावश्यक कानूनों के निर्माण को रोकना रहा है।" इसके ग्यारह वर्ष उपरान्त उसने फिर लिखा था, "मेरी नीति का प्रधान ध्येय यह रहा है कि सब कार्य शान्तिपूर्वक चलता रहे और मैं भूमि को शान्ति दे सकूँ।" इसमें सन्देह नहीं कि उसके शासन काल में भारत में शान्ति तथा धन सम्पन्नता रही।

आन्तरिक व्यवस्था—भारत में लार्ड नार्थब्रुक का शासन-काल शान्ति एवं सुव्यवस्था तथा धन-सम्पन्नता का काल माना जाता है। भारत में आते ही उसने ग्राम नगरपालिका संस्थापन विधेयक को जिसे बंगाल के लेफ्टीनेन्ट गवर्नर कैम्पबेल ने पारित कराया था रद्द कर दिया। यह नवागत गवर्नर-जनरल के लिये बड़े साहस का कार्य था। लार्ड नार्थब्रुक की प्रतिभा का चूड़ान्त विकास उसकी आर्थिक नीति में परिलक्षित होता है। इस क्षेत्र में उसे पूर्णाधिकार था और अर्थ-सम्बन्धी तथ्यों के ज्ञान पर उसका ऐसा स्वामित्व था जो विल्सन, लैङ्ग जैसे विश्रुत अर्थ-विशेषज्ञों में भी दुलर्भ था। अर्थ-क्षेत्र में रिचर्ड टेम्पुल के शब्दों में नार्थब्रुक ने अपनी योग्यता का पूर्ण परिचय दिया। उसकी नियुक्ति के समय भारत की आर्थिक स्थिति अत्यन्त सन्तोषजनक थी। इसके दो प्रमुख कारण थे। पहिला कारण तो यह था कि लार्ड मेयो ने अत्यन्त श्लाघनीय आर्थिक सुधार किये थे जिनके परिणाम देश के लिये अत्यन्त हितकर सिद्ध हुये। दूसरा कारण यह था कि १८६९ में स्वेज़ नहर के खुल जाने के फल-स्वरूप सामुद्रिक व्यापार में बड़ी उन्नति हुई। इस समय तक इंगलैण्ड में लगभग सभी आयात-चुङ्गियों को हटा कर स्वतन्त्र व्यापार की नीति को पूर्ण रूप से अपना लिया गया था। लार्ड नार्थब्रुक ने भारत में भी इस नीति के कार्यान्वित करने का दृढ़ सकल्प कर लिया। १८६० तक भारतवर्ष में आयात-

कर १० प्रतिशत और निर्यात-कर ३½ प्रतिशत था। सर जान लारेन्स ने आयात-कर को घटाकर ७½ प्रतिशत कर दिया था और नार्थब्रुक ने इसको घटाकर ५ प्रतिशत कर दिया। १८७५ में उसने तेल, चावल, नील तथा लाख के अतिरिक्त अन्य सभी वस्तुओं पर निर्यात-कर हटा दिये। सिन्ध-वार्दा रेल के निर्माण के समाप्त हो जाने पर उसने गेहूँ पर से भी निर्यात-कर हटा दिया। इसके फल-स्वरूप भारत से अत्यन्त प्रचुर मात्रा में गेहूँ विदेशों को जाने लगा। ब्रिटेन की सरकार ने उसे भारत में भी स्वतन्त्र व्यापार की नीति को कार्यान्वित करने के लिये प्रोत्साहित किया परन्तु भारत की स्थिति विशेष में वह ऐसा करने में समर्थ न था। अतएव उसने इस नीति को कार्यान्वित करने से इनकार कर दिया। लार्ड नार्थब्रुक के शासन-काल के अन्तिम दिनों में डिज़रायली की अनुदार सरकार ने लंकाशायर के कपड़े के ऊपर से ५ प्रतिशत आयात कर हटा देने के लिये कहा। चूँकि इस आयोजना का प्रभाव भारतीय राजकोष पर बहुत बुरा पड़ता और लोगों को यह कहने का अवसर मिल जाता कि भारतीय हित को लंकाशायर के हित की वेदी पर बलि दी जाती है अतएव आर्थिक तथा राजनैतिक दोनों कारणों से नार्थब्रुक ने इस आयोजना को कार्यान्वित करने से इनकार कर दिया। अपनी नीति पर वह इतना दृढ़ था कि उसने भारत-मन्त्री की भी परवाह नहीं की। नार्थब्रुक आय-कर की अलोकप्रियता के कारण उसका घोर विरोधी था। लार्ड मेयो की हत्या के पूर्व ही आय-कर घटा दिया गया था परन्तु नार्थब्रुक ने उसे पूर्ण रूप से हटा दिया क्योंकि वह यूरोपनिवासियों, बड़े-बड़े व्यापारियों तथा भूमिपतियों के हितों का विशेष रूप से ध्यान रखता था। वाइसराय की इस नीति का विरोध न केवल रिचर्ड टेम्पुल तथा स्ट्रैची ने ही किया वरन् आर्गिल के ड्यूक ने भी जो इस समय भारत-मन्त्री के पद पर था इस नीति के विरोध में लिखा था, "मेरे विचार में नमक-कर संशोधन तथा आय-कर अन्त कर देने के झगड़े में आपने धनी वर्ग को जो सबसे अधिक शक्तिसम्पन्न तथा क्रन्दन करने वाला है मुक्त करने का प्रयत्न किया है।" कर-वृद्धि के पक्ष में नार्थब्रुक कभी न था क्योंकि उसकी धारणा थी कि भारतवासी तभी स्वामिभक्त रह सकते हैं जब उन्हें न्याय की आशा हो और करों में वृद्धि न की जाय। यदा-कदा भारतीय कृषकों की दीन दशा की ओर भी नार्थब्रुक का ध्यान आकृष्ट हो जाया करता था क्योंकि १८८१ में उसने लार्ड लिटन को लिखा था, "मेरी सदैव यह धारणा रही है कि लगान की दर अत्यन्त ऊँची कर दी गई है और मैं सदैव स्ट्रैची के मत पर सन्देह प्रकट करता रहा हूँ क्योंकि वह लगान की और अधिक वृद्धि करने के पक्ष में है।"

दुर्भिक्ष का प्रकोप—१८७३-७४ में बिहार तथा बंगाल के कुछ भाग में दुर्भिक्ष का प्रकोप आरम्भ हो गया। लार्ड नार्थब्रुक तथा बंगाल के लेफ्टीनेन्ट गवर्नर कैम्पबेल ने बड़ी सतर्कता तथा सावधानी से कार्य करना आरम्भ किया और इस बात का दृढ़-संकल्प कर लिया कि १८६५ के दुर्भिक्ष की पुनरावृत्ति न होने देंगे और दुर्भिक्ष के प्रकोप का अवरोध करने में सरकार की सम्पूर्ण शक्ति को नियोजित कर देंगे। फलतः ब्रह्मा से बहुत अधिक चावल खरीदा गया। उसके लाने तथा बुभुक्षित जनता में समुचित रीति से उसके वितरण करने की व्यय की चिन्ता न करके सुव्यवस्था की गई। क्षुधा-पीड़ित जनता की सहायतार्थ अनेक स्थानों पर केन्द्र स्थापित किये गये। इन सब कार्यों में लगभग ६५ लाख व्यय करना पड़ा। यद्यपि कुछ अनावश्यक धन व्यय हो गया था परन्तु लार्ड नार्थब्रुक की मितव्ययता तथा आर्थिक दृढ़ता के कारण भारतीय राजकोष इस व्यय को सहन कर सका। यद्यपि धन बहुत व्यय हुआ परन्तु असंख्य प्राणियों के प्राण बचा लिये गये। लार्ड नार्थब्रुक का यह कार्य अत्यन्त श्लाघनीय था।

बड़ौदा के गायकवाड़ पर अभियोग—लार्ड नार्थब्रुक के शासन-काल की

एक अत्यन्त महत्वपूर्ण घटना यह थी कि एक आयोग नियुक्त करके बड़ौदा के शक्तिशाली राना मल्हरराव पर अभियोग लगाया गया। मल्हरराव गायकवाड़ १८७० ई० से बड़ौदा के सिंहासन पर आरूढ़ हुआ था। उस पर यह आरोप लगाया गया कि सिंहासन पर बैठने के समय से ही उसके राज्य में कुशासन तथा भ्रष्टाचार का प्रकोप आरम्भ हो गया था और वह उसके लिये पूर्णरूप से उत्तरदायी था। जो आयोग स्थिति के निरीक्षण करने के लिये नियुक्त किया गया था उसने १८७४ में अपनी रिपोर्ट में लिखा था कि मल्हरराव ने अपने पंचत्व प्राप्त भ्राता के सम्बन्धियों तथा स्त्रियों के साथ अत्यन्त अमानुषिक तथा नृशंसात्मक व्यवहार किया है और बैंकवालों तथा व्यापारियों का धनापहरण किया है। आयोग की इस रिपोर्ट के उपरान्त मल्हरराव को अपना शासन सुधारने तथा सुव्यवस्थित करने के लिये डेढ़ वर्ष का समय दिया गया परन्तु राना ने सुधार का कोई प्रयत्न नहीं किया और कुशासन तथा भ्रष्टाचार का प्रकोप पूर्ववत बना रहा। अन्त में १८७५ में उस पर ब्रिटिश रेजीडेन्ट कर्नल फेयर को विष देने का अपराध लगा कर अभियोग चलाया गया। अभियोग का निर्णय करने वालों में ग्वालियर तथा जयपुर के महाराजा, निजाम के प्रधान-मन्त्री दिनकर राव तथा तीन अंग्रेज पदाधिकारी थे। अंग्रेज पदाधिकारियों ने राना को दोषी ठहराया परन्तु भारतीय न्यायाधीशों ने उसे निर्दोष बतलाया। न्यायाधीशों के इस मतभेद से स्थिति अत्यन्त विकट हो गई। तत्कालीन भारत-मन्त्री लार्ड सैलिसबरी ने लार्ड नार्थब्रुक को लिखा कि मल्हरराव को कुशासन तथा भ्रष्टाचार के आधार पर सिंहासनच्युत कर दिया जाय और उसमें इस अभियोग की ओर किसी भी प्रकार का संकेत न हो। नार्थब्रुक ने ऐसा ही किया। मल्हरराव को मद्रास भेज दिया गया और उसके भाई का दत्तक पुत्र सयाजी राव सिंहासन पर बिठा दिया गया। सर माधव राव को जो एक कुशल मराठा राजनीतिज्ञ था उसका दीवान बना दिया। चूंकि नये शासक की अवस्था केवल १६ वर्ष की थी अतएव वयस्क होने तक के लिये एक संरक्षक-समिति नियुक्त की गई। बड़ौदा की इस घटना से यह स्पष्ट हो जाता है कि डलहौजी की नीति को त्याग दिया गया था और उसकी पुनरावृत्ति की कोई सम्भावना न थी। अब देशी राज्यों को ब्रिटिश साम्राज्य में सम्मिलित हो जाने का भय न रहा परन्तु भारत की सर्व-प्रधान शक्ति होने के कारण अंग्रेजी सरकार देशी राज्यों में कुशासन तथा भ्रष्टाचार का प्रकोप हो जाने पर अविलम्ब हस्तक्षेप करेगी और शासन-सुधार के लिये यथाशक्ति प्रयत्न करेगी। यदि चेतावनी देने पर भी कोई देशी नरेश शासन की उपेक्षा करता है और सुधार के लिये प्रयत्न नहीं करता है तो उसे निःसंकोच पद-च्युत कर दिया जायगा और उसके स्थान पर उसके वंश के किसी अन्य व्यक्ति को पदासीन कर दिया जायगा।

कूका आन्दोलन—इस आन्दोलन को रामसिंह नामक व्यक्ति ने पंजाब में आरम्भ किया था। इस आन्दोलन का लक्ष्य सिक्खों में पुनर्जागृति करना, उनमें उत्साह उद्वेलित करना तथा प्राचीन सिक्ख धर्म के शुद्धाचारों को व्यवहृत कराना था। रामसिंह के अनुयायियों ने मुसलमानों के साथ बड़ा अत्याचार करना आरम्भ किया और अनेक मुसलमानों की हत्या कर दी। इन अपराधियों को समुचित दण्ड दिया गया परन्तु दण्ड से कूका आन्दोलन की गति मन्द न पड़ी वरन् उसमें और अधिक स्फूर्ति उत्पन्न हो गई। १८७२ ई० में कूका लोगों के एक समूह ने लुधियाने के निकट मलोध दुर्ग पर धावा बोल दिया। इनके एक दूसरे समूह ने मलेरकोटला के नगर में प्रवेश करने का प्रयत्न किया। कोष पर अपना अधिकार स्थापित करने तथा जनता को उत्तेजित करके संगठित रूप में विद्रोह करने में यह लोग असफल रहे। डिप्टी कमिश्नर ने क्रान्तिकारियों का पीछा किया और उन्हें कैद करा लिया। संक्षिप्त अभियोग के उपरान्त कोवन की आज्ञा से ५० कैदियों को बन्दूक की गोलियों से समाप्त कर दिया गया। चूंकि यह दण्ड

अनावश्यक समझा गया अतएव कमिश्नर तथा डिप्टी कमिश्नर को पद-च्युत कर दिया गया।

वेल्स के राजकुमार की यात्रा—१८७५-७६ में वेल्स के राजकुमार जो आगे चल कर एडवर्ड सप्तम कहलाये भारत आये। कलकत्ता "मैदान" में उनका स्वागत किया गया। भारत के विभिन्न भागों से उनके दर्शनार्थ भारतवासी आये। भारत के सभी देशी नरेश राजकुमार का स्वागत करने के लिये कलकत्ता 'मैदान' में विद्यमान थे। राजकुमार ने उत्तरी भारत की यात्रा की और जहां कहीं भी वे गये वहां बड़े उत्साह तथा समारोह के साथ उनका स्वागत किया गया। राजकुमार की यह यात्रा अत्यन्त सफल तथा मनोरञ्जक थी और इससे भारतीय जनता की राजभक्ति के अनेक प्रमाण प्राप्त हुये।

अफगान-रूस समस्या—अपने पूर्ववर्ती गवर्नर-जनरलों की भांति लार्ड नार्थ-ब्रुक को भी अफगान-रूस समस्या को सुलझाना पड़ा। इन दिनों मध्य-एशिया की समस्या अत्यन्त विकट होती जा रही थी क्योंकि रूस अफगानिस्तान की उत्तरी सीमा की ओर बढ़ने का अनवरत प्रयत्न कर रहा था। रूस की यह दक्षिणी प्रगति स्वाभाविक तथा अनिवार्य थी। १८६४ में गोटशाकोफ ने लिखा था कि रूस उसी राजनैतिक नियम से दक्षिण की ओर प्रगतिशील होने के लिये बाध्य हो रहा है जिस नियम से अंग्रेज लोग भारत में उत्तर की ओर हिमालय तक बढ़ने के लिये विवश हुये थे। फलतः इच्छा अथवा अनिच्छा के साथ रूस की प्रगति बढ़ती ही गई और मध्य एशिया के निर्बल राज्य उसकी प्रबल शक्ति के समक्ष नत-मस्तक होते गये। अफगानिस्तान के अमीर तथा भारत सरकार दोनों के लिये रूस की यह प्रगति चिन्ताजनक थी और इसका अवरोध करना नितान्त आवश्यक समझा गया। फलतः जून १८७३ में शिमला में वाइसराय तथा अफगान अमीर के राजदूत का सम्मेलन हुआ। अफगान अमीर का विश्वास अंग्रेजी सहायता में कम होता जा रहा था और इस सम्मेलन से भी अमीर को कोई सन्तोष अथवा आश्वासन न मिला। इन दिनों अफगानिस्तान तथा फारस में सीस्तान की सीमा के सम्बन्ध में जो झगड़ा चल रहा था उस पर अंग्रेजों ने जो निर्णय दिया उससे अफगानिस्तान के अमीर को बड़ी निराशा हुई और वह अत्यन्त खिन्न हो गया। शिमला सम्मेलन में अफगान अमीर के राजदूत ने कहा कि रूस की दक्षिणी प्रगति से अफगानिस्तान की स्थिति अत्यन्त संकटापन्न होती जा रही है और वहाँ की जनता आतङ्कित हो उठी है। चूंकि अफगानिस्तान को रूस द्वारा दिये गये शान्ति बनाये रखने के आश्वासनों पर विश्वास नहीं है अतएव वह अंग्रेजी सरकार के साथ अधिक घनिष्ट सम्बन्ध स्थापित करना चाहता है। इसमें सन्देह नहीं कि लार्ड नार्थब्रुक अफगान राजदूत की बातों से प्रभावित हुआ और उसने भारत-मन्त्री से इस बात की आज्ञा मांगी कि अफगान अमीर की धन, जन तथा अस्त्र-शस्त्र से इस शर्त पर सहायता की जाय कि वह पूर्ण रूप से ब्रिटिश सरकार की परामर्श को मानेगा और तदनुसार कार्य करेगा परन्तु ब्रिटिश मन्त्रिमण्डल ने नार्थब्रुक के इस सुझाव को स्वीकार नहीं किया और यह निर्णय दिया कि मेयो के ही अनिश्चित प्रण की पुनरावृति कर दी जाय। अफगान राजदूत का कहना था कि यदि रूस अफगानिस्तान पर आक्रमण कर दे तो अंग्रेजी सरकार उसको अपना शत्रु समझे परन्तु नार्थब्रुक इसे स्वीकार करने के लिये उद्यत न हुआ। उसका कहना था कि वह ऐसा लिखित नहीं दे सकता था क्योंकि उन दिनों रूस तथा अफगानिस्तान में मैत्री थी और वह दोनों राज्यों के मध्य किसी प्रकार का मनोमालिन्य नहीं उत्पन्न करना चाहता था। शेरअली को ५००० राइफलें और दस लाख रुपया देने का निश्चय किया गया। अमीर ने राइफलें तो स्वीकार कर ली परन्तु धन लेना उसने इन्कार कर दिया। इस प्रकार अफगान अमीर के साथ कोई घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित न हो सका। अफगानिस्तान

में शेरअली की स्थिति अब अत्यन्त दृढ़ हो गई थी। उसने अपने विरोधियों को नत-मस्तक करके अपनी प्रबल प्रभुत्व-शक्ति अफगानिस्तान में स्थापित कर ली थी। अतएव उसके साथ घनिष्ट सम्पर्क स्थापित कर लेना अंग्रेजों के लिये अभीष्ट था। शेरअली भी इस निष्कर्ष पर पहुँचा था कि चूंकि रूस तथा अंग्रेजों की सेनायें उसके राज्य को दो ओर से घेरे हुये हैं अतएव इन दोनों में से किसी एक के साथ मैत्री तथा गठ-बन्धन कर लेना नितान्त वाञ्छनीय तथा अनिवार्य है। इन दोनों में से अंग्रेजों की मैत्री को वह अपेक्षाकृत अधिक उत्तम समझता था। इन परिस्थितियों में लार्ड लारेन्स द्वारा निर्धारित *निहस्तक्षेप की नीति में समयानुकूल संशोधन आवश्यक समझा गया।* इस बात की ओर पहिले सकेत किया जा चुका है कि शिमला सम्मेलन से शेरअली को बड़ी निराशा उत्पन्न हुई थी। नार्थब्रुक के व्यक्तित्व में मेयो का चुम्बकीय प्रभाव भी न था जिससे शेरअली उसकी ओर आकृष्ट होता। नार्थब्रुक में लोकाचार का अभाव था। उसने शेर-अली की बड़ी भर्त्सना की क्योंकि उसने अपने बड़े पुत्र याकूब खां को धोखे से पकड़ कर बन्दी बना लिया था और अपने मरने के बाद अब्दुल्ला जान को अमीर बनाना चाहता था। नार्थब्रुक के इस शुष्क व्यवहार से शेरअली अत्यन्त खिन्न हो गया परन्तु अंग्रेजी सरकार को अप्रसन्न करने के भय से वह रूसी पत्रों का स्वागत नहीं करता था। इन्हीं दिनों इंगलैण्ड में राजनैतिक परिवर्तन हो गया। १८७४ में उदार दल के स्थान पर अनुदार दलीय सरकार की स्थापना हो गई। अब ग्लैडस्टन के स्थान पर डिजरायली इंगलैण्ड का प्रधान-मन्त्री और लार्ड सैलिसबरी भारत-मन्त्री के पद पर आसीन हुये। यह दोनों ही अनुदारदलीय मन्त्री एशिया में रूस की नीति को सशङ्कित दृष्टि से देखते थे और भारत का अफगानिस्तान के साथ जिस प्रकार का सम्बन्ध चल रहा था उससे अत्यन्त असंतुष्ट थे। उनकी यह शंका तथा उनका असन्तोष निराधार न था। वह कुछ सीमा तक ठीक भी थे। यदि वे रूसी सरकार के ऊपर अफगानिस्तान की सुरक्षा के लिये जोर देते तो उनके पक्ष में शिथिलता के स्थान पर दृढ़ता आ जाती और लारेन्स की नीति" का भी अतिक्रमण न होता। परन्तु ऐसा न हुआ। इसके विपरीत रूस के स्थान पर काबुल पर दबाव डालने का प्रयत्न आरम्भ किया जाने लगा। भारत-मन्त्री की कौंसिल के एक सदस्य ने यह प्रस्ताव रक्खा कि इस गम्भीर परिस्थिति में अंग्रेजों की ओर से केवल भारत सरकार का एक एजेन्ट काबुल में रहे और यह एजेन्ट मुसलमान हो। सैलिसबरी ने इस प्रस्ताव को स्वीकार कर लिया और यह आज्ञा दी कि शेरअली से काबुल में एक अंग्रेज रेजीडेन्ट स्वीकृत करने के लिये कहा जाय। लार्ड नार्थब्रुक तथा उसकी सम्पूर्ण कौंसिल ने इसका विरोध किया और कहा कि शेरअली १८६६ तथा १८७३ में रूसी आक्रमण से अत्यन्त आतंकित तथा भयभीत हो उठा था। परन्तु इन अवसरों पर उसे यह आश्वासन दिया गया था कि उसके भय का कोई कारण नहीं है। सन्धि की अमीर ने जो प्रार्थना की थी उसे अनावश्यक बतला कर अस्वीकृत कर दिया गया था। अब यदि अमीर से अंग्रेज रेज़ीडेन्ट रखने का प्रस्ताव किया जायगा तो वह यह सोचेगा कि रूस का भय वास्तविक तथा गम्भीर है। इससे अंगरेज रेज़ीडेन्ट रखने की आवश्यकता प्रतीत हो रही है। अतएव भारत मन्त्री की योजना से नार्थब्रुक सहमत न था और उसे कार्यान्वित करने के लिये उद्यत न हुआ। फलतः वाइसराय ने सैलिसबरी को लिखा, "मैं अमीर के सम्बन्ध में आपके सन्देहों से सहमत नहीं हो सकता। यहां पर कोई भी सरकारी आदमी ऐसे विचार नहीं रखता"। भारत-मन्त्री ने वाइसराय के इस विरोध की ओर बिल्कुल ध्यान न दिया और वह अपनी बात पर दृढ़ रहा। अब उसने काबुल के लिये एक मिशन भेजने का प्रस्ताव रक्खा। नार्थब्रुक ने फिर इस प्रस्ताव का विरोध किया। व्यापारिक चुंगी के सम्बन्ध में वाइसराय तथा भारत-मन्त्री में इसके पूर्व ही संघर्ष हो चुका था। वास्तव में जैसा मैलेट ने लिखा है

कि सैलिसबरी तथा नार्थब्रुक की मनोवृत्तियाँ ही एक दूसरे के प्रतिकूल थीं और उनके दृष्टिकोणों में ध्रुवीय अन्तर था। सैलिसबरी को परम्परा तथा उदाहरण से घृणा थी। इसके विपरीत नार्थब्रुक अनुभव तथा तथ्य का पक्षपाती था। अतएव इन दोनों की विरोधी मनोवृत्तियों तथा प्रतिकूल दृष्टिकोणों में समन्वय स्थापित करना असम्भव था। सामंजस्य के अभाव का परिणाम यह हुआ कि दोनों व्यक्ति सहयोग से कार्य नहीं कर सकते थे। फलतः नार्थब्रुक ने अपने पद से त्याग पत्र दे दिया और अपने देश के लिये प्रस्थान कर दिया। इंगलैण्ड के लिये प्रस्थान करने के पूर्व उसने सैलिसबरी को चेतावनी दी थी कि शेरअली को उसकी इच्छा के विरुद्ध अपने यहाँ अंग्रेज रेज़ीडेन्ट रखने के लिये बाध्य करने का अर्थ "अंग्रेजों को अफ़ग़ानिस्तान में एक अनावश्यक तथा अपव्ययी युद्ध में ढकेलना था।"

नार्थब्रुक की नीति की विवेचना—भारत सरकार का अफ़ग़ानिस्तान के साथ कैसा सम्बन्ध होना चाहिये इस सम्बन्ध में विद्वानों के दो विरोधी दल थे। एक वर्ग "अग्रगामी नीति" का समर्थक था परन्तु दूसरा वर्ग 'अकर्मण्यता' तथा निहस्तक्षेप की नीति का प्रतिपादक था। जान लारेन्स 'महान् अकर्मण्यता' की नीति का जन्मदाता था। लार्ड मेयो ने इसी नीति का आलिङ्गन किया और लार्ड नार्थब्रुक ने भी इसी नीति का अनुसरण किया। इस नीति के समर्थक अफगानिस्तान के आन्तरिक झगड़ों में किसी प्रकार का हस्तक्षेप नहीं करना चाहते थे और सिन्ध नदी की सीमा के आगे बढ़ने के पक्ष में न थे। लारेन्स ने अफगानिस्तान के आन्तरिक झगड़ों में किसी प्रकार का हस्तक्षेप नहीं किया और जिस किसी ने अफ़ग़ानिस्तान में अपने बाहु-बल से अपनी प्रभुत्वशक्ति स्थापित कर ली उसी को उसने अमीर स्वीकार कर लिया। परन्तु वह अफगानिस्तान के साथ मैत्री-भाव रखना चाहता था। विद्वानों का कहना है कि लार्ड नार्थब्रुक की नीति को "महान् अकर्मण्यता" की नीति की संज्ञा देना अधिक उचित है। लार्ड लारेन्स की भांति लार्ड नार्थब्रुक ने भी अफगान अमीर के साथ मैत्री भाव रक्खा और भारत-मन्त्री से इस आशय की आज्ञा चाही कि यदि अमीर विदेशी मामलों में अंग्रेजों की परामर्श से कार्य करने के लिये उद्यत हो जाय तो धन, अस्त्र-शस्त्र तथा सेना से उसकी सहायता की जाय। परन्तु गृह सरकार ने उसके इस सुझाव को स्वीकार नहीं किया और पूर्ववत् सम्बन्ध बनाये रखने के लिये कहा। परन्तु जब इंगलैण्ड में सरकार का परिवर्तन हुआ और नव-निर्मित अनुदार दल की सरकार ने अफगानिस्तान के अमीर को अपने यहाँ एक अंग्रेज रेजीडेन्ट रखने के लिये बाध्य करना आरम्भ किया तब लार्ड नार्थब्रुक ने बड़ी दृढ़ता तथा साहस के साथ इस नीति तथा आयोजना का विरोध किया और अन्ततोगत्वा त्याग-पत्र भी दे दिया। पद-त्याग के पूर्व लार्ड नार्थब्रुक ने यह चेतावनी दी थी कि अफगानिस्तान की राजनीति में हस्तक्षेप करने के परिणाम अंग्रेजों के लिये अत्यन्त घातक सिद्ध होंगे। उसकी यह चेतावनी सत्य भी निकली क्योंकि उसके उत्तराधिकारी लार्ड लिटन की हस्तक्षेप की नीति के फल-स्वरूप द्वितीय अफगान युद्ध हुआ और भारत-सरकार तथा अफगानिस्तान के सम्बन्ध अत्यन्त कटु हो गये और धन तथा जन का अनावश्यक संहार हुआ। ऐसा प्रतीत होता है कि लार्ड नार्थब्रुक ने स्थिति का वास्तविक अध्ययन तथा मूल्यांकन किया था और वह हस्तक्षेप के दुष्परिणामों की कल्पना कर सका था। फलतः वह काबुल में मिशन भेजने के पक्ष में भी न था और जब उसने देखा कि उसके विरोध की उपेक्षा हो रही है तब उसने त्याग-पत्र दे दिया।

नार्थब्रुक का चरित्र तथा उसके कार्यों का मूल्यांकन—लार्ड नार्थब्रुक स्वभाव तथा अनुभव से अत्यन्त कुशल शासक बनने के योग्य था परन्तु सुधार के उत्साह उसमें विद्यमान् न थे। उसकी धारणा थी कि क्रान्ति के उपरान्त सुधारवाद

की प्रवृत्ति बलवती हो गई है और अत्यधिक सुधार कर दिये गये हैं। अतएव वह बड़ी सतर्कता तथा सावधानी से कार्य करना चाहता था। उसमें लार्ड मेयो के उत्तम गुण, उत्साह तथा साहस विद्यमान् न थे। नार्थब्रुक को राजस्व का प्रचुर ज्ञान था। वह स्वतन्त्र व्यापार का पक्षपाती था। अपने शासन-काल में उसने राजस्व विभाग में अत्यन्त श्लाघनीय सुधार किये। वह शान्ति प्रिय व्यक्ति था और शान्ति के वातावरण में वह कार्य करना चाहता था। उसके शासन-काल में भारत में पूर्ण शान्ति रही और देश की पर्याप्त उन्नति हुई। उच्च वर्ग के साथ उसकी विशेष सहानुभूति थी। यही कारण था कि उसने आय-कर को समाप्त कर दिया था। वह अत्यन्त दृढ़-सकल्प का व्यक्ति था और अपने विश्वास का इतना पक्का था कि उससे विचलित होना सम्भव नहीं होता था। आर्थिक सुधार तथा अफगान नीति के सम्बन्ध में भारत-मन्त्री के विरोध हो जाने पर वह अपने निर्णय पर दृढ़ रहा और अपना त्याग-पत्र देने में उसने लेशमात्र संकोच न किया। अपनी परराष्ट्र नीति में उसने लार्ड लारेन्स तथा लार्ड मेयो की "महान् अकर्मण्यता" की नीति का अनुसरण किया और इस नीति पर वह अन्त तक दृढ़ रहा। जब नव-निर्मित अनुदार दल की सरकार ने इस नीति के त्यागने का आग्रह किया तब उसे चेतावनी देकर वाइसराय ने अपना त्याग-पत्र दे दिया। अप्रैल १८७६ में नार्थब्रुक ने भारत से प्रस्थान कर दिया और नार्थब्रुक का प्रथम अर्ल हो गया। १८८० से १८८५ तक वह ऐडमिरैलिटी का प्रथम लार्ड रहा और १९०४ में उसकी जीवन-लीला समाप्त हो गई।

अध्याय ७

लार्ड लिटन (१८७६-१८८०)

लार्ड लिटन का परिचय—लार्ड लिटन का प्रारम्भिक नाम एडवर्ड राबर्ट लिटन था। उसके पिता का नाम बुलवर लिटन था जो एक सफल उपन्यासकार था। लार्ड लिटन का जन्म नवम्बर १८३१ में हुआ था। उसकी शिक्षा हैरो में हुई थी। वह बड़ा ही प्रतिभावान् तथा योग्य व्यक्ति था। वह एक सफल कवि, निबन्धकार तथा कुशल वक्ता था। १८५२ ई० में कूटनीतिक सेवा में उसका प्रवेश हुआ था। अतएव यूरोप के अनेक दरबारों में रहने का उसे अवसर प्राप्त हो चुका था। उसमें एक अन्तर्राष्ट्रीय यात्री तथा साहित्यिक के गुण विद्यमान् थे। वह आचार व्यवहार में अत्यन्त कुशल था। १८७३ में अपने पिता के पंचत्व प्राप्त कर लेने के पश्चात् वह बैरन लिटन हो गया। भारत का वाइसराय बनने के पूर्व उसे मद्रास की गवर्नरी दी जा रही थी परन्तु उसने इन्कार कर दिया था। १८७६ में इंगलैण्ड की सरकार में परिवर्तन हुआ और उदार दल के स्थान पर अनुदार दल का मन्त्रिमण्डल बना और ग्लैडस्टन के स्थान पर डिजरायली प्रधान-मन्त्री, ड्यूक आफ आर्गल के स्थान पर सलिसबरी भारत-मन्त्री तथा लार्ड नार्थब्रुक के स्थान पर लार्ड लिटन भारत का वाइसराय हुआ। रूस की मध्य एशिया में प्रगति देख कर डिजरायली ने इस बात का अनुभव किया था कि भारत के शासन का प्रधान लार्ड लिटन की योग्यता तथा अनुभव का व्यक्ति होना चाहिये। वास्तव में वह भारत में नई अफगान नीति का सूत्रपात करने के लिये भेजा गया था। अप्रैल १८७६ में वह कलकत्ता पहुँच गया।

लिटन की परराष्ट्र नीति—भारत में अंग्रेजों ने दो प्रकार की नीति का अनुसरण किया था अर्थात् निर्हस्तक्षेप की नीति तथा अग्रगामी नीति। ईस्ट इण्डिया कम्पनी भारत में एक व्यापारिक संस्था के रूप में आई थी। इसका प्रधान लक्ष्य व्यापार करना था। अतएव कम्पनी के संचालक आरम्भ से ही साम्राज्यवादी नीति के विरोधी थे क्योंकि इस नीति के अनुसरण करने से युद्धों में फँस जाना पड़ता था जिसके फल-स्वरूप आर्थिक उत्तरदायित्व बहुत बढ़ जाता था। आर्थिक तथा शासन सम्बन्धी उत्तरदायित्व से बचने के लिये ही क्लाइव ने बंगाल में द्वैध-शासन व्यवस्था की आयोजना की थी। वारेन हेस्टिंग्ज के शासन काल में मराठा तथा मैसूर के युद्धों के फल-स्वरूप कम्पनी को महान् निरर्थक आर्थिक क्षति उठानी पड़ी और कम्पनी के संचालकों ने फिर इस बात की घोषणा की कि उनकी नीति निर्हस्तक्षेप की है। कार्नवालिस इस नीति का समर्थक था परन्तु जब उसने देखा कि टीपू सुल्तान दक्षिण की अशान्ति का कारण बन रहा है तब उसे इस नीति से विचलित हो जाना पड़ा। कार्नवालिस के उत्तराधिकारी सर जान शोर ने अक्षरशः निर्हस्तक्षेप की नीति का अनुसरण किया परन्तु लार्ड वेलेजली ने निर्हस्तक्षेप की नीति का बहिष्कार किया और साम्राज्यवादी तथा अग्रगामी नीति का अनुसरण किया। वेलेजली की यह नीति फ्रांस के भय से प्रभावित थी। उसने देखा कि नेपोलियन का प्रभाव अत्यन्त द्रुतगति से दूर-दूर फैल रहा है और भारत में भी उसके साथ सहानुभूति प्रकट की जा रही है। फ्रांसीसियों के प्रभाव को समाप्त करने के लिये ही उसने सहायक-

सन्धि की आयोजना की थी। नीति के इस परिवर्तन का अनुमोदन संचालकों ने नहीं किया और वेलेजली के उत्तराधिकारियों को निहस्तक्षेप की नीति पर दृढ़ रहने का आदेश दिया गया। सर जार्ज बार्लो इस नीति पर दृढ़ रहा यद्यपि इससे अंग्रेजों की प्रतिष्ठा पर बड़ा धक्का लगा और राजपूत राज्य संकटापन्न हो गये। लार्ड हेस्टिंग्स के शासन काल में पिण्डारियों के प्रकोप तथा नेपालियों के उपद्रव के कारण निहस्तक्षेप की नीति को त्याग दिया गया और अग्रगामी नीति का अनुसरण किया गया। लार्ड एमहर्स्ट ने लार्ड हेस्टिंग्स के पद-चिह्नों का अनुकरण किया और ब्रह्मा के विरुद्ध युद्ध किया। कुर्ग को छोड़कर जहां पर कुशासन के कारण हस्तक्षेप करना पड़ा विलियम बेन्टिङ्क ने तटस्थता तथा निहस्तक्षेप की नीति का अनुसरण किया। लार्ड आकलैण्ड ने फिर अग्रगामी नीति का आलिंगन किया और कम्पनी को प्रथम अफगान युद्ध में फँसा कर न केवल अंग्रेजों को संकटापन्न कर दिया वरन् उनकी प्रतिष्ठा को भी घातक प्रहार लगा। एलिनबरो ने आकलैण्ड का ही अनुकरण किया और सिन्ध की स्वतन्त्र सत्ता को समाप्त कर उसे ब्रिटिश साम्राज्य में सम्मिलित कर लिया। हार्डिञ्ज ने उत्तेजित कराने पर भी निहस्तक्षेप की नीति का अनुसरण किया। डलहौजी उग्र साम्राज्यवादी था और अग्रगामी नीति का अनुगमन करके ब्रिटिश साम्राज्य को विस्तृत करने के लिये वह अधीर हो रहा था। साम्राज्य-विस्तार के किसी भी अवसर को उसने हाथ से न जाने दिया। उसकी नीति के फल-स्वरूप सर्वत्र आतंक छा गया और भारतीयों ने अपने असन्तोष को १८५७ की क्रान्ति के विस्फोट में प्रदर्शित किया। शान्ति तथा सुव्यवस्था की स्थापना के लिये महारानी विक्टोरिया ने अपनी घोषणा द्वारा यह आश्वासन दिया कि साम्राज्यवादी तथा अग्रगामी नीति का सर्वथा त्याग किया जायगा। लार्ड केनिंग ने महारानी की घोषणा के अनुसार आचरण किया और निहस्तक्षेप की नीति का पालन किया। जब भारत का शासन सम्राट् तथा पार्लियामेण्ट को हस्तान्तरित हो गया तब रूस मध्य एशिया की ओर अत्यन्त द्रुतगति से बढ़ने लगा। इससे अफगानिस्तान की समस्या अत्यन्त विकट हो गई। लार्ड लारेन्स ने अफगानिस्तान के सम्बन्ध में तटस्थता तथा निर्हस्तक्षेप की नीति का अनुगमन करने का निश्चय किया। उसकी नीति को महान् अकर्मण्यता की नीति की संज्ञा दी गई है। लार्ड मेयो तथा लार्ड नार्थब्रुक ने लारेन्स की ही नीति का अनुगमन किया परन्तु लार्ड लिटन ने अपने स्वभाव तथा परिस्थितियों के कारण अग्रगामी नीति का आलिंगन किया। प्रधान-मन्त्री डिजरायली, भारत-मन्त्री लार्ड सैलिसबरी तथा गवर्नर-जनरल लार्ड लिटन तीनों ही साम्राज्यवादी तथा अग्रगामी नीति के समर्थक थे। इस साम्राज्यवादी नीति का परिणाम यह हुआ कि भारत सरकार को तीन वर्ष के भीतर ही दूसरा भयङ्कर अफगान युद्ध करना पड़ा जिसके फल-स्वरूप इँगलैण्ड में अनुदार दल की पराजय और भारत में लार्ड लिटन की प्रतिष्ठा का विध्वंस हो गया।

लिटन की नीति का क्रियात्मक स्वरूप—लार्ड लिटन शेरअली के साथ एक सुनिश्चित तथा व्यापारिक सन्धि करने का प्रस्ताव लेकर इङ्गलैण्ड से भारत आया था। उसे यह अधिकार प्राप्त था कि वह अमीर की उन सब माँगों को स्वीकार कर ले जो उसने १८७३ में की थीं अर्थात् एक निश्चित वार्षिक सहायता देना, उसके छोटे पुत्र अब्दुल्ला जान को उसका उत्तराधिकारी स्वीकार कर लेना और सन्धि अथवा अन्य प्रकार से ब्रिटिश सरकार यह वचन दे कि विदेशी आक्रमण हो जाने पर वह अमीर की सहायता करेगी। परन्तु अमीर की यह सब शर्तें तभी पूरी की जा सकती थीं जब वह हिरात में ब्रिटिश रेजीडेन्ट रखने के लिये उद्यत हो जाय। रक्षात्मक सन्धि के लिये यह शर्त सर्वथा न्याय-संगत मानी जा सकती है परन्तु शेर अली इसे मानने अथवा न मानने के लिये स्वतन्त्र [illegible]

उसकी अस्वीकृति को युद्ध का कारण बनाने का अँग्रेजी सरकार को कोई अधिकार न था। कब और किस प्रकार इस नीति का कार्यान्वित किया जाय इसकी लार्ड लिटन को पूर्ण स्वतन्त्रता थी और इसमें सन्देह नहीं कि जो विनाशकरी घटनायें इस नई नीति के फलस्वरूप घटित हुई उनका पूर्ण उत्तरदायित्व लार्ड लिटन पर ही है क्योंकि भारतमन्त्री सेलिसबरी ने अपने पद के अन्तिम दिनों में गवनर-जनरल का पथ-प्रदर्शन न करके अनुसरण करना ही आरम्भ कर दिया था।

शिष्ट मंडल भेजने की आयोजना—अफगान अमीर को यह सूचना देने के लिये कि महारानी विक्टोरिया ने "भारत की साम्राज्ञी" की उपाधि धारण कर ली थी एक शिष्ट-मण्डल अफगानिस्तान भेजने के लिये प्रस्ताव रक्खा गया। अनावश्यक बतला कर शेरअली ने इस शिष्ट-मण्डल का स्वागत करने से इन्कार कर दिया। इसी समय काबुल के देशी बृटिश एजेन्ट ने लिखा कि शेर अली की अस्वीकृति के दो प्रधान कारण थे। पहिला कारण तो यह था कि वह बृटिश राजदूत को अपने कट्टर तथा उग्र देशवासियों से सुरक्षा का विश्वास नहीं दिला सकता था और दूसरा कारण यह था कि यदि वह ऐसा अधिकार अंग्रेजों को दे देता तो रूसियों को भी उसे यह अधिकार देना पड़ता। यह दोनों ही तर्क बड़े ही गम्भीर तथा सारगर्भित थे और यदि भारत की अंग्रेजी सरकार अफ़ग़ानिस्तान के साथ अच्छे सम्बन्ध स्थापित करना चाहती थी तो उसके लिये सर्वोत्तम मार्ग यह था कि वह शेरअली की मांगों को बिना कोई शर्त लगाये स्वीकार कर लेती और हिरात में बृटिश रेजीडेन्ट के रक्खे जाने पर जोर न देती। परन्तु लार्ड लिटन का कहना था कि अमीर के उत्तर से बृटिश हित की घृणास्पद अवहेलना परिलक्षित होती है और उसने अमीर को चेतावनी दी कि इस प्रकार का व्यवहार करके वह अफ़ग़ानिस्तान को बृटिश मैत्री तथा सहायता से वंचित कर रहा था। वाइसराय की कौंसिल के तीन सदस्यों ने उसके मत का विरोध किया। उनका कहना था कि शेरअली का व्यवहार सर्वथा न्याय-संगत था और अंग्रेजी सरकार का उस पर इस प्रकार का दबाव डालना सर्वथा अनुचित तथा अन्यायपूर्ण था। अक्टूबर में यह निश्चय किया गया कि काबुल में स्थित अंग्रेजी सरकार का मुसल्मान एजेन्ट शिमला में लार्ड लिटन से मिले और तदुपरान्त वास्तविक तथ्यों से शेरअली को अवगत करे। भेंट के समय लार्ड लिटन ने मुसल्मान एजेन्ट से कहा कि ग्रेट बृटेन तथा रूस के मध्य अफ़ग़ानिस्तान की स्थिति "दो विशाल लोह बर्तनों के बीच एक छोटे से मिट्टी के बर्तन" जैसी थी और यदि शेरअली अंग्रेजों का मित्र रहता है तो इङ्गलैण्ड की शक्ति "इसके चारों ओर लोहे के घेरे की भांति फैलाई जा सकती थी और यदि वह उनका शत्रु बन जाता है तो उसका एक शरपत्र की भांति विच्छिन्न किया जा सकता है।"

कलात के खान के साथ सन्धि—सीमान्त प्रदेश के अफ़सर मेजर राबर्ट सैन्डेमन ने १८७६ के अन्त में कलात के खान के साथ एक सन्धि की। इस सन्धि के फलस्वरूप अंग्रेजों को क्वेटा पर अपना आधिपत्य स्थापित करने का अधिकार प्राप्त हो गया। इसके बदले खान का बिलोचिस्तान के अन्य सरदारों के ऊपर आधिपत्य स्वीकार कर लिया गया और वह महान् खान बन गया। क्वेटा की स्थिति का बहुत बड़ा राजनैतिक महत्व था क्योंकि यह बोलन दर्रे पर स्थित है जो भारत को अफ़ग़ानिस्तान से मिलाता है। अतएव शेरअली के मन में स्वभावतः यह सन्देह उत्पन्न हुआ कि क्वेटा पर अपना आधिपत्य स्थापित कर लेने के उपरान्त अंग्रेज कन्दहार पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर लेंगे। उसे यह बात भूली न थी कि प्रथम अफ़ग़ान-युद्ध में क्वेटा के आधार से ही चल कर अंग्रेजों ने उसके देश पर विजय प्राप्त की थी।

पेशावर सम्मेलन—जनवरी १८७७ में पेशावर में सर लेविस पेली तथा शेरअली

के मन्त्री सैय्यद नूरमुहम्मद के बीच जिसने १८७३ में लार्ड नार्थब्रुक के साथ बात-चीत की थी सम्मेलन हुआ परन्तु यह सम्मेलन सर्वथा निष्फल सिद्ध हुआ क्योंकि अफ़ग़ान राजदूत ने अफ़ग़ानिस्तान में बृटिश अफ़सर रखने के प्रस्ताव को अस्वीकृत कर दिया। शेरअली का पक्ष अत्यन्त प्रबल था और उसकी बात तर्क-संगत तथा तथ्य-संगत थी परन्तु मदान्ध लिटन ने उसकी उपेक्षा की और उसे मानने से इन्कार कर दिया। नूरमुहम्मद ने कहा, "बृटिश जाति महान् एवं शक्तिशाली है और अफ़ग़ान लोग उसकी शक्ति का सामना नहीं कर सकते परन्तु अफ़ग़ान लोग स्वेच्छाचारी तथा स्वतन्त्रता प्रेमी होते हैं और उन्हें अपनी मान-मर्यादा जीवन से भी अधिक प्रिय होती है।" कोई भी व्यक्ति विदेशी नियन्त्रण में रह कर अफ़ग़ानिस्तान का अमीर नहीं रह सकता। अफ़ग़ानों का स्वाभिमान तथा उनकी आत्म-प्रतिष्ठा विदेशी नियन्त्रण को सहन नहीं कर सकती। अफ़ग़ान लोग इस बात को भली भाँति जानते थे कि उनके शासन का ढंग बृटिश अफ़सरों को पसन्द न आयेगा क्योंकि अफ़ग़ान लोग सभ्यता में उनसे पीछे हैं। सैयद नूरमुहम्मद ने कहा था, "हम आपका विश्वास नहीं करते हैं और डरते हैं कि आप लोग हमारे विरुद्ध अनेक प्रकार की बातें लिख कर भेजेंगे और किसी समय आप इन्हीं सब बातों का हमारे विरुद्ध दुरुपयोग करेंगे।" यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि शेरअली ने अलंकृत भाषा में लिखित वाइसराय के पत्रों को कहाँ तक समझा परन्तु यह तो निश्चित ही है कि लिटन ने शेरअली की परिस्थिति विशेष को भली-भाँति नहीं समझा। इन दिनों बाजारों में यह अपवाद फैला था कि अफ़ग़ानिस्तान के विभाजन के लिये इङ्गलैण्ड तथा रूस में गठ-बन्धन हो गया है और इस समझौते को दृढ़ बनाने के लिये ड्यूक आफ़ एडिनबरा तथा एक रूसी राजकुमारी का वैवाहिक सम्बन्ध भी स्थापित हो गया है। अपने पत्रों में लार्ड लिटन ने यथाशक्ति इस बात के सिद्ध करने का प्रयत्न किया कि शेरअली द्वारा राजदूत भेजे जाने का यह तात्पर्य है कि वह अंग्रेज रेजीडेन्ट को अपने यहाँ रखने की अनुमति देता है। वाइसराय का कहना था कि इङ्गलैण्ड तथा अफ़ग़ानिस्तान के सम्बन्धों का आधार १८५५ की सन्धि है और मेयो तथा नार्थब्रुक के आश्वासनों का कोई स्थायी महत्व नहीं है। वाइसराय के इस व्यवहार से शेरअली को निश्चय ही बड़ी निराशा तथा ग्लानि उत्पन्न हुई होगी और सम्भवतः इसी समय से वह रूस की ओर अधिकाधिक आकृष्ट होने लगा था। वास्तव में यदि उसकी शक्ति में होता तो वह किसी भी यूरोपीय शक्ति से झगड़ा मोल न लेता और तटस्थता की नीति को अनुसरण किये होता। मार्च के महीने में सैय्यद नूरमुहम्मद का पशावर में परलोकवास हो गया। लार्ड लिटन ने अविलम्ब इस अवसर से लाभ उठाकर सम्मेलन की समाप्ति की घोषणा कर दी। यद्यपि मृत-राजदूत का उत्तराधिकारी शेरअली से नये आदेश प्राप्त करके काबुल से पेशावर के लिये प्रस्थान कर चुका था। अब अफ़ग़ान दरबार के साथ सभी प्रकार के पत्र-व्यवहार बन्द कर दिये गये परन्तु लार्ड लिटन ने अफ़ग़ान लोगों को यह आश्वासन दिया कि "जब तक उनका शासक अथवा अन्य लोग उसको अंग्रेजी राज्य अथवा उनके मित्रों के ऊपर हिंसात्मक कार्य करने के लिये उत्तेजित न करेंगे तब तक एक भी बृटिश सैनिक को अफ़ग़ानिस्तान के भीतर बिना बुलाये न घुसने दिया जायगा।"

आलोचना—उपरोक्त विवरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि राजनैतिक वातावरण दिन-प्रतिदिन अत्यन्त शोचनीय होता जा रहा था परन्तु अभी तक कोई ऐसा कार्य नहीं किया गया था जिस पर अधिक पश्चाताप करना पड़ता। लार्ड लिटन के इस कथन में कि मध्य-एशिया की स्थिति को ध्यान में रखते हुये अफ़ग़ानिस्तान के साथ हमारा सम्बन्ध बड़ा ही असन्तोषजनक था" बड़ा बल था। यह बड़े दुःख की बात थी कि शेरअली अंग्रेजों के दृष्टिकोण को स्वीकार न कर सका। शेरअली एक स्वतन्त्र शासक था और अंग्रेजों को चाहे जितना हानिकारक सिद्ध होता उन्हें कोई नैतिक अधिकार न था कि वे अमीर को

रूस के साथ कूटनीतिक सम्बन्ध स्थापित करने से रोकें अथवा उसे अपने यहाँ कूटनीतिक सम्बन्ध स्थापित करने के लिये बाध्य करें। परन्तु लार्ड लिटन ने इसी मार्ग का अनुसरण किया और बृटिश सरकार को भी इसी मार्ग पर चलने के लिये बाध्य किया। लिटन तथा उसके अनुयायियों की मनोवृत्ति को जेम्स स्टीफेन के शब्दों में इस प्रकार प्रकट किया जा सकता है, "काबुल के अमीर तथा कलात के खान जैसे सरदारों के साथ व्यवहार इस आशय से करना चाहिये कि उनकी स्थिति हमारी स्थिति से नीची है यद्यपि वे किसी भी प्रकार हमारे आधीन नहीं हैं क्योंकि किसी सुनिश्चित सन्धि आदि से वे महारानी का कर्तव्य पालन करने के लिये बाध्य नहीं हैं। उनकी निम्न स्थिति का तात्पर्य यह है कि उनको किसी ऐसी नीति का अनुसरण करने के लिये आज्ञा नहीं दी जा सकती जो हमारे लिये भयप्रद हो। इन राज्यों के साथ हमारे सम्बन्ध इस तथ्य पर आश्रित हैं कि हम उनसे कहीं अधिक शक्तिशाली एवं सभ्य हैं और वे अपेक्षाकृत निर्बल तथा असभ्य हैं।"

सीमान्त कबाइलियों के साथ सम्बन्ध—पेशावर सम्मेलन के समाप्त हो जाने के उपरान्त लार्ड लिटन का ध्यान उत्तरी-पश्चिमी सीमा के कबाइलियों की ओर आकृष्ट हुआ। लिटन ने उनके प्रदेश में होकर अपनी चौकियों को अफ़गानिस्तान के और निकट स्थापित करने की अपनी उत्कट अभिलाषा प्रकट की। काश्मीर के महाराज के साथ "न्यूनाधिक गुप्त प्रबन्ध" करके उसने गिलगिट में बृटिश एजन्सी स्थापित कर दी। लिटन की यह नीति उचित न समझी गई और कप्तान केवगनरी ने उसे समझाया कि इस नीति के फलस्वरूप शेरअली के साथ मित्रता सर्वथा असम्भव हो जायगी। लिटन की पुत्री ने भी लिखा है कि सीमा प्रदेश के पुराने तथा अनुभवी पदाधिकारियों ने भी वाइसराय की इस नीति का विरोध किया था। वास्तव में लिटन के विरोधियों ने उसकी इस नीति को अत्यन्त रहस्यमय तथा धूर्ततापूर्ण बतलाया है। उनके विचार में सामानीति अत्यन्त निष्कपट, सच्ची तथा प्रत्यक्ष होनी चाहिये थी परन्तु लार्ड लिटन का तो एक मात्र ध्येय अफ़गान शक्ति को क्षीण करना था और उसे अस्त-व्यस्त करने पर वह उद्यत था।

यूरोपीय राजनीति का प्रभाव—यूरोप के झगड़ों का शेरअली के ऊपर अत्यन्त घातक प्रभाव पड़ा। १८७६ में सर्विया तथा मोन्टेनीग्रो के निवासियों ने तुर्क शासन के विरुद्ध विद्रोह का झगड़ा खड़ा कर दिया। इस झगड़े में रूस की सहानुभूति विद्रोहियों के साथ थी। फलतः रूस ने टर्की के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी और १८७८ में उसकी सेनायें बलकान प्रदेश में प्रविष्ट हो गईं। इङ्गलैण्ड के प्रधान-मन्त्री डिजरायली की सहानुभूति टर्की के साथ थी। वह अंग्रेजों के हितों की रक्षा के लिये टर्की के साम्राज्य को सुरक्षित एवं अविच्छिन्न रखना नितान्त आवश्यक समझता था। अतएव उसने भूमध्य सागर के अंग्रेजी जहाजी बेड़े का डारडेनलीज में प्रवेश करने की आज्ञा दे दी। इस प्रकार रूस तथा ब्रिटेन दो विरोधी दलों के सहायक बन गये और इससे न केवल उनका मनोमालिन्य बढ़ने लगा वरन् वे एक दूसरे के शत्रु बन गये। डिजरायली ने एक भारतीय सेना स्वेजनहर के मार्ग से माल्टा में बुला ली थी। ऐसी स्थिति में रूस ने भारत की अंग्रेजी सरकार को घर के निकट ही युद्ध करने का अवसर देने का निश्चय किया। फलतः १३ जून १८७८ को रूसी जेनरल स्टालटोफ ने ताशकन्द से काबुल के लिये प्रस्थान कर दिया। शेरअली ने उसकी प्रगति को रोकने का यथाशक्ति प्रयत्न किया और अक्षरशः वही सब बातें तुर्किस्तान के रूसी गवर्नर-जनरल से कहीं जो उसने बृटिश भारत के गवर्नर-जनरल से कही थीं और ताशकन्द में सम्मेलन करके बात-चीत करने के लिये अपना एक मन्त्री भेजने का वचन दिया जैसा कि उसने लार्ड लिटन के साथ भी किया था। इससे यह

सिद्ध हो जाता है कि लार्ड लिटन का यह लांछन कि शेरअली स्वयम् रूसियों को प्रोत्साहित करता था सर्वथा असत्य तथा निर्मूल था। रूस की सरकार ने शेरअली के विरोध की ओर बिल्कुल ध्यान नहीं दिया और यह कहला भेजा कि स्टालटाफ को वापस नहीं बुलाया जा सकता और यदि उसे किसी भी प्रकार की क्षति पहुँची तो उसके लिये शेरअली उत्तरदायी समझा जायगा। रूस की सरकार शेरअली पर दबाव भी डाल सकती थी क्योंकि उसका भतीजा अब्दुर्रहमान रूसियों का कृपा-पात्र रह चुका था। शेर अली को इसकी भी धमकी दी गई कि यदि उसने अधिक आनाकानी अथवा विरोध किया तो काबुल के सिंहासन के लिये एक भयानक प्रतिद्वन्द्वी खड़ा कर दिया जायगा।

रूसी राजदूत का काबुल में स्वागत तथा लिटन की प्रतिक्रिया—परिस्थितियों से बाध्य होकर शेरअली रूसी राजदूत का स्वागत करने के लिये उद्यत हो गया। शेरअली के पतन के उपरान्त काबुल में कुछ ऐसे कागज प्राप्त हुए जिनसे यह प्रकट होता है कि अब उसने रूस के साथ एक निश्चित मैत्री पूर्ण सन्धि कर ली थी। काबुल में जब रूसी मिशन के जाने का समाचार लार्ड लिटन को प्राप्त हुआ तब उसकी चिन्ता बहुत बढ़ गई और अविराम उसने इंगलैण्ड की सरकार से आज्ञा प्राप्त करने के लिये तार भेज दिया और यह दृढ़-सकल्प कर लिया कि शेरअली पर दबाव डाला जाय कि जिस प्रकार उसने रूसी राजदूत को रख लिया है उसी प्रकार वह अंग्रेज राजदूत का भी अपने यहाँ स्वागत करे। फलतः शेरअली के सामने यह शर्त रक्खी गई कि वह अंग्रेजी सरकार की स्वीकृति के बिना किसी भी राज्य के साथ सन्धि-वार्ता नहीं कर सकता, अंग्रेजों को उसे यह अधिकार देना पड़ेगा कि जब वे आवश्यक समझें तब उसके साथ वार्तालाप करने के लिये अंग्रेज पदाधिकारियों को काबुल भेज सकें। इसके अतिरिक्त हिरात में उसे एक अंग्रेज एजेन्ट रखने की आज्ञा देनी पड़ेगी।

लिटन की प्रतिक्रिया की आलोचना—लिटन ने जो कार्यवाही की उसका मूल-स्रोत एक भयंकर भूल थी। यह सभी को ज्ञात था कि काबुल में रूसी राजदूत के प्रवेश का उत्तरदायित्व अफ़ग़ानिस्तान पर नहीं वरन् रूस पर था। अतएव लिटन ने निरर्थक ही अफ़ग़ानिस्तान के अमीर को अपना कोप-भाजन बनाया और उस पर प्रहार करने का निश्चय कर लिया। वास्तव में बृटिश सरकार को रूस पर अपना प्रभाव डालना चाहिये था और उसी के साथ निबटारा करना चाहिये था। बर्लिन सन्धि पर हस्ताक्षर हो जाने के उपरान्त जेनरल स्टालटोफ का काबुल में रहना अमैत्री पूर्ण ठहराया जा सकता था और उसे वापस बुलाने के लिये दबाव डालना चाहिये था। इसमें सन्देह नहीं कि ऐसा करने से रूसी राजदूत निश्चय ही वापस बुला लिया गया होता क्योंकि स्टालटोफ ने जब यह सुना कि अंग्रेज काबुल में अपना एक शिष्टमण्डल भेजने का विचार कर रहे हैं तब वह तुरन्त काबुल से प्रस्थान कर गया। शेरअली ने उसके चले जाने पर बड़ी प्रसन्नता मनाई। लिटन के लिये सबसे अच्छा मार्ग यह था कि वह वास्तविक स्थिति को समझता और अमीर के साथ फिर मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध स्थापित करता परन्तु दुर्भाग्यवश उसने इस सुगम मार्ग का अवलम्ब नहीं लिया।

काबुल में बलपूर्वक शिष्ट-मंडल भेजने की आयोजना—लार्ड लिटन शेरअली का मान-मर्दन के लिये उद्यत था। ३० अगस्त को उसने एक मुसलमान दूत को इस बात की घोषणा करने के लिये भेजा कि बृटिश शिष्ट-मण्डल आ रहा है। इस दूत तथा उसके दल के सुरक्षित निकल जाने के लिये खैबर दर्रे में रहने वाले अफ़रीदियों को रिश्वत दी गई। यह इस प्रकार का कुकृत्य था कि शेरअली को इस पर आपत्ति करने का पूर्ण अधिकार था। अगस्त १८७८ में अब्दुल्ला जान का जो शेरअली का अत्यन्त प्रिय पुत्र था और जिसे वह अपना उत्तराधिकारी बनाना चाहता था देहावसान हो गया। कुछ समय के

लिये शेरअली पागल तथा बुद्धिहत सा हो गया। अतएव कुछ विलम्ब हो गया। परन्तु इसके कुछ समय उपरान्त सर नैवाइल चैम्बरलेन ने जिसे लिटन ने राजदूत नियुक्त किया था पेशावर से प्रस्थान कर दिया। अलीमस्जिद पर राजदूत के दल के अग्रभाग की एक अफ़ग़ान पदाधिकारी से भेंट हो गई जिसने बड़ी विनम्रता किन्तु दृढ़ता के साथ दल के नेता मेजर कैलेगनरी से कहा कि काबुल से आज्ञा प्राप्त किये बिना वह उनको उसके आगे नहीं बढ़ने देगा। बृटिश राजदूत भली-भांति जानता था कि यदि वह आगे बढ़ने का दुस्साहस करेगा तो अफ़ग़ान लोग शक्ति का प्रयोग करेंगे। अतएव वह वहीं से पेशावर वापस लौट आया। लिटन तो युद्ध का बहाना ढूंढ़ ही रहा था। उसने यह घोषणा कर दी कि शिष्ट-मण्डल को शक्ति से पीछे ढकेला गया है। किन्तु यह सवथा असत्य था। अब उसने इंगलैंड की सरकार पर युद्ध की घोषणा करने के लिये दबाव डालना आरम्भ किया। कुछ सप्ताह के विलम्ब के उपरान्त बृटिश मन्त्रि-मण्डल ने २ नवम्बर को लिखा कि यदि वह युद्ध की भयङ्करता से बचना चाहता है तो समुचित एवं पूर्ण क्षमा याचना करे और अफ़ग़ानिस्तान में एक स्थायी शिष्ट-मण्डल के रखने की अनुमति दे। यदि नवम्बर तक इसका उत्तर न मिला तो युद्ध की घोषणा कर दी जायगी। १९ नवम्बर का लिखा हुआ पत्र अत्यन्त विलम्ब करक ३० नवम्बर को वाइसराय को मिला। इस पत्र में शेरअली ने बृटिश शिष्ट-मण्डल के स्वागत करने का वचन दिया परन्तु यह उत्तर अपर्याप्त समझा गया क्योंकि उसमें क्षमा याचना नहीं की गई थी। इसके अतिरिक्त उत्तर प्राप्त होने के पूर्व ही युद्ध आरम्भ हो गया था क्योंकि लार्ड लिटन ने २१ नवम्बर को ही अपनी सेनाओं को प्रस्थान करने की आज्ञा दे दी थी।

अफगान नीति की समीक्षा—लिटन की अफ़ग़ान नीति की इंगलैण्ड में तीव्र आलोचना हुई और इसका घोर विरोध किया गया। ग्लैडस्टन ने पार्लियामेण्ट में अपने एक वक्तव्य में लिटन की नीति की भर्त्सना करते हुये कहा, "हमने भूल से १८३८ में अफ़ग़ानिस्तान के साथ युद्ध किया। परन्तु भूल करना मनुष्य का स्वभाव है और इसलिये क्षम्य है परन्तु हमने फिर दूसरी बार भूल की है और उसी आधार पर जिसका समर्थन नहीं किया जा सकता,—इस भूल की पुनरावृत्ति प्रत्येक विचारणीय चेतावनी तथा प्रबल प्रमाणों के घोर विरोध में की गई है। यह एक कहावत है कि इतिहास अपनी पुनरावृत्ति करता है। और इस कहावत का प्रमाण इस वतमान एवं ऐसे ही गतकाल के युद्धों के अतिरिक्त इतना अच्छा नहीं मिल सकता। ईश्वर इस अपशकुन को रोके। परमात्मा! हमारी सेना पर १८४१ के सकट की पुनरावृति न हो।" ग्लैडस्टन की उपरोक्त आशंका अत्यन्त सत्य सिद्ध हुई। परन्तु लिटन की नीति की चाहे जितनी भर्त्सना की जाय उसके परिणाम सवथा नगण्य नहीं कहे जा सकते। उसकी नीति का पहिला परिणाम यह हुआ कि कलात स्थायी रूप से बृटिश नियन्त्रण में आ गया। उसकी नीति का दूसरा परिणाम यह हुआ कि क्वटा पर जिसका सामरिक दृष्टिकोण से बहुत बड़ा महत्व था अंग्रेजों का अधिकार स्थापित हो जाने के कारण बोलन दर्रे से बिना किसी बाधा के गमनागमन सम्भव हो गया। कन्दहार की सड़क पर स्थित होने के कारण इसका महत्व बहुत बड़ा था। लिटन की नीति का तीसरा महत्वपूर्ण परिणाम यह हुआ कि कुर्रम घाटी पर अंग्रेजों का आधिपत्य स्थापित हो गया। यद्यपि १८८० में कुरम घाटी को त्याग दिया गया था परन्तु तूरी कबीले की प्रार्थना पर १८९२ में उस पर फिर अंग्रेजों ने अपना अधिकार स्थापित कर लिया और वहाँ पर एक स्थायी सेना रख दी गई। लिटन की नीति के इन्हीं महत्वपूर्ण परिणामों के कारण स्मिथ महोदय ने लिखा है, "इस व्यापक दृष्टिकोण से देखने पर न्यायतः लार्ड लिटन की अफ़ग़ान नीति असफल नहीं कही जा सकती यद्यपि ग्लैडस्टन की सरकार के आदेश से लार्ड रिपन ने उसमें आंशिक परिवर्तन कर दिया।" लिटन की नीति के समर्थन में यह भी कहा जा सकता है कि उसके उत्तरकालीन वाइसरायों ने रेल आदि का निर्माण

करके तथा अन्य साधनों से जो उन्नति की व्यवस्था की वे लार्ड लिटन की नीति के फल-स्वरूप ही सम्भव हो सके। लार्ड लिटन की नीति के फल-स्वरूप ही भविष्य में यह सम्भव हो सका कि अंग्रेज जब चाहते तब सरलतापूर्वक काबुल, कन्दहार अथवा ग़ज़नी अथवा अफ़ग़ानिस्तान के अन्य किसी भारत की सीमा की ओर स्थित महत्वपूर्ण स्थान पर अपना सैनिक नियन्त्रण स्थापित कर लेते। लिटन की नीति के समर्थन में एक बात यह भी कही जा सकती है कि रूस की ओर से सम्भावित आपत्ति भी सर्वथा नगण्य न थी। एक बात यहाँ पर याद रखने की यह है कि इंगलैण्ड के सभी राजनैतिक दल, लार्ड लारेन्स तथा लार्ड लिटन इस बात पर सहमत थे कि रूस का राजनैतिक प्रभाव अफ़ग़ानिस्तान में न स्थापित होने दिया जाय और एक निश्चित सीमा के आगे रूस को भारत की ओर न बढ़ने दिया जाय। अतएव लक्ष्य में तो साम्य था परन्तु इस लक्ष्य की पूर्ति की विधि में वैषम्य था। लिटन ने जिन साधनों का उपयोग किया उनकी भर्त्सना अवश्य की जा सकती है। लिटन की एक बहुत बड़ी भूल यह थी कि वह कभी-कभी मध्य-एशिया में बृटिश प्रभुत्व स्थापित करने की कल्पना किया करता था और भारत की सीमा को इतना आगे बढ़ा देना चाहता था कि वह आपत्तिजनक हो जाय। जैसा स्मिथ महोदय ने लिखा है, "किसी भी दशा में उसे याकूब खाँ की इस प्रार्थना को स्वीकार नहीं करना चाहिये था कि काबुल में स्थायी रूप से बृटिश राजदूत रहे क्योंकि इसका विनाशकारी परिणाम अवश्यम्भावी था।" स्मिथ महोदय ने आगे लिखा है कि इस एक भूल के अतिरिक्त "जब उस समय की परिस्थितियों को समझ लिया जाय और विचार कर लिया जाय तो मुझे लार्ड लिटन की अफ़ग़ान नीति घृणा की पात्र नहीं प्रतीत होती।" जहाँ तक क़लात को अलग करके संरक्षण में लाने की बात थी तो इसमें राष्ट्रीय भावना पर धक्का लगने की कोई बात न थी क्योंकि काबुल प्रान्त के कबीले कन्दहार के कबीलों से भिन्न थे। अग्रगामी नीति तथा वैज्ञानिक सीमा स्थापित करने के प्रश्न पर स्मिथ महोदय ने अपने विचार प्रकट करते हुये लिखा है, "यह याद रखने की बात है कि काबुल, ग़ज़नी तथा कन्दहार के साथ मुख्य भारत का घनिष्ठ सम्बन्ध प्राचीन काल से ही चला आ रहा है और विच्छिन्नता के साथ शताब्दियों तक चलता रहा। तीसरी शताब्दी ई० पू० में मौर्यों ने जिनकी राजधानी पटना थी हिन्दूकुश तक का सारा प्रदेश जो आजकल अफ़ग़ानिस्तान कहलाता है अपने अधिकार में कर लिया था। जब १५२६ में बाबर ने हिन्दुस्तान का सिंहासन प्राप्त किया तब काबुल का वह स्वामी था और १७३६ तक काबुल का प्रान्त भारतीय साम्राज्य के अविच्छिन्न तथा महत्व-पूर्ण अंग के रूप में उसके उत्तराधिकारियों द्वारा अनुशासित होता रहा। अपने बाल्यकाल में अकबर ग़ज़नी का गवर्नर नियुक्त किया गया था और कन्दहार जिसे उसने १५९५ में पुनः प्राप्त कर लिया उसके पिता के अधिकार में रह चुका था।" इस सम्बन्ध में अकबर के मन्त्री अबुल फ़ज़ल ने लिखा था, "प्राचीन काल के बुद्धिमान् लोग काबुल तथा कन्दहार को भारत का दो द्वार मानते थे एक तुर्किस्तान की ओर और दूसरा फ़ारस की ओर जाता था। इन दोनों मार्गों पर अधिकार स्थापित हो जाने पर भारत विदेशी आक्रमणों से सुरक्षित हो जाता था और इसी प्रकार विदेशी यात्रा के लिये भी यह समुचित द्वार हैं।" अतएव यदि अग्रगामी नीति के समर्थक एक ऐसी वैज्ञानिक सीमा निर्धारित करना चाहते थे कि भारत के यह दोनों द्वार उसके अन्तर्गत हों तो इसमें इतिहास की परम्परा ही परिलक्षित होती है और यह अस्वाभाविक कार्य नहीं था।

द्वितीय अफ़ग़ान युद्ध—भारत के इतिहास में द्वितीय अफ़ग़ान युद्ध का बहुत बड़ा महत्व है क्योंकि १८५७ की क्रान्ति के उपरान्त साम्राज्यवादी तथा अग्रगामी नीति की यह प्रथम पुनरावृत्ति थी। अतएव इसकी विस्तृत व्याख्या कर देना आवश्यक है।

युद्ध के कारण—लार्ड लिटन की नीति के क्रियात्मक स्वरूप का ऊपर विवरण कर

दिया गया है। इस नीति के फल-स्वरूप ही द्वितीय अफ़ग़ान युद्ध का सूत्रपात हुआ था। इस नीति के क्रियात्मक स्वरूप का सिंहावलोकन कर लेने पर द्वितीय अफ़ग़ान युद्ध के कारणों का परिचय प्राप्त हो जाता है। इस युद्ध के निम्न-लिखित कारण थे :—

(१) इस युद्ध का प्रथम कारण यह था कि लार्ड लिटन की अत्यन्त उत्कट इच्छा होते हुये भी शेर अली काबुल में ब्रिटिश राजदूत को आने की आज्ञा देने के लिये उद्यत न था।

(२) इसका दूसरा कारण यह था कि यद्यपि शिमला सम्मेलन की आयोजना भारत सरकार तथा अफ़ग़ानिस्तान में सद्भावना उत्पन्न करने के लिये की गई थी परन्तु लिटन का व्यवहार अत्यन्त गर्वपूर्ण एवं अशिष्ट था जिस से अमीर को बड़ी निराशा हुई।

(३) १८७६ में कलात के खान से सन्धि करके क्वेटा पर अधिकार करना अमीर के लिये आपत्तिजनक था क्योंकि इसे आधार बनाकर अंग्रेज अफ़ग़ानिस्तान पर आक्रमण कर सकते थे।

(४) पेशावर के सम्मेलन में लिटन ने काबुल में एक अंग्रेज रेज़ीडेन्ट रखने का प्रस्ताव रक्खा था परन्तु इसे दो कारणों से अमीर ने अस्वीकार कर दिया। पहिला कारण तो यह था कि वह अंग्रेज रेजीडेन्ट की सुरक्षा की गारण्टी नहीं दे सकता था और दूसरा कारण यह था कि वह अंग्रेज रेजीडेन्ट का स्वागत करके अफ़ग़ानों का विश्वासपात्र न रह जाता और उसकी स्थिति आपत्ति में पड़ जाती।

(५) अंग्रेज धीरे-धीरे आगे बढ़ते जा रहे थे और अपनी छावनियों को अफ़ग़ानिस्तान की सीमा के निकट लाते जा रहे थे। इस से अमीर अत्यन्त आतंकित हो गया।

(६) १८७७-७८ के रूसी-तुर्की-युद्ध ने ब्रिटेन तथा रूस को एक दूसरे का शत्रु बना दिया। इसके फल-स्वरूप रूस की सरकार ने भारत की अंग्रेज सरकार को परेशान करने का दृढ़-संकल्प कर लिया।

(७) उस समय स्थिति अत्यन्त गम्भीर हो गई जब अफ़ग़ानिस्तान के अमीर ने रूसी राजदूत का स्वागत किया और भारत के वाइसराय के राजदूत का स्वागत करने से इन्कार कर दिया।

(८) १८७७ में अफ़ग़ानिस्तान के उत्तर में स्थित गिलगिट पर जब अंग्रेजों ने अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया तब अफ़ग़ान लोग अत्यन्त भयभीत हो उठे। इससे युद्ध का होना अनिवार्य हो गया जो २१ नवम्बर १८७८ को आरम्भ हो गया।

युद्ध की घटनायें—२१ नवम्बर को युद्ध की घोषणा होते ही ब्रिटिश सेनायें एक साथ ही अफ़ग़ानियों के तीनों मुख्य दर्रों में प्रवेश कर गई। सर सेमुअल ब्राउन खैबर के दर्रे में होकर गया और अली मस्जिद पर अधिकार करके जलालाबाद की ओर बढ़ा। मेजर जेनरल राबर्ट्स ने कुर्रम की घाटी में प्रवेश किया और पेरीवन दर्रे पर अपना अधिकार स्थापित कर लिया। सबसे दक्षिण की ओर जेनरल स्टीवर्ट की सेना क्वेटा से बोलन दर्रे में होकर कन्दहार की ओर बढ़ी। अंग्रेजों की सेनाओं का कोई विशेष विरोध न हुआ। शेरअली ने रूसी जेनरल कौफ़मेन से सहायता की याचना की परन्तु सहायता देने के स्थान पर उसने अंग्रेजों से समझौता तथा मैत्री कर लेने की सत्परामर्श दी। दिसम्बर के महीने में शेरअली ने अपने ज्येष्ठ पुत्र याकूब खां को बन्दीगृह से मुक्त करके आक्रमणकारियों के साथ यथासम्भव सन्धि करने के लिये काबुल में छोड़कर स्वयम् रूसी तुर्कस्तान की ओर पलायन कर गया। शेरअली ने कौफ़मन से एक बार फिर सहायता की प्रार्थना की परन्तु रूसियों से उसे यह उत्तर मिला कि अफ़ग़ानिस्तान पर आक्रमण करना उस समय उनकी शक्ति के बाहर था। इसके बाद जब शेरअली ने सेन्ट पीटर्सबर्ग जाकर जार के समक्ष अपने ऊपर किये गये अत्याचारों के रखने का प्रस्ताव किया तो उसे किसी भी प्रकार का प्रोत्साहन न मिला। रूसियों ने शेरअली की सहायतार्थ कुछ नहीं किया यद्यपि लन्दन में

रूसी राजदूत ने ब्रिटिश सरकार से यह वचन ले लिया था कि अफगानिस्तान को छिन्न-भिन्न नहीं किया जायगा। २१ फरवरी को शारीरिक अवस्था तथा मानसिक क्लेश के कारण मज़ारेशरीफ नामक स्थान में शेरअली की जीवन लीला समाप्त हो गई। शेरअली का जीवन पचिछमी सभ्यता की काली करतूतों पर एक शिक्षाप्रद टिप्पणी है। उसकी मृत्यु पर रूस और विशेषकर इंगलैण्ड को न्याय सतोष नहीं हो सकता। इसमें सन्देह नहीं कि शेरअली बड़ा ही योग्य शासक था परन्तु वह अपने शक्तिशाली एवं धूर्त पड़ोसियों की निर्दयी आकांक्षाओं तथा स्वार्थ पूर्ण हितों का सामना न कर सका। लार्ड लिटन की यह हार्दिक इच्छा थी कि अफगानिस्तान की सत्ता को समाप्त कर दिया जाय परन्तु इंगलैण्ड का मन्त्रि-मण्डल उससे सहमत न हुआ। फलतः याकूब खां को शेरअली का उत्तराधिकारी स्वीकार कर लिया गया।

गंडमक की सन्धि—मई १८७९ में गण्डमक नामक स्थान पर अंग्रेजों की याकूब खां के साथ सन्धि हो गई। इस सन्धि की निम्नलिखित शर्तें थी :—

(१) नये अमीर ने अपनी वैदेशिक नीति पर अंग्रेजी सरकार का नियन्त्रण स्वीकार किया और यह वचन दिया कि पर-राष्ट्र नीति का सचालन अंग्रेजों की ही परामर्श से किया जायगा।

(२) अमीर ने काबुल में स्थायी रूप से एक ब्रिटिश रेजीडेन्ट रखने का वचन दिया और हिरात आदि अन्य स्थानों में ब्रिटिश एजेन्ट रखना स्वीकार किया।

(३) कुरम तथा बोलन दर्रे के निकटवर्ती प्रान्त पिसिन तथा सिवी पर भी अमीर ने अंग्रेजों का आधिपत्य स्वीकार कर लिया।

(४) अपने निर्णय के अनुसार अंग्रेजों ने विदेशी आक्रमण हो जाने पर अमीर की धन, जन तथा शस्त्रों से सहायता करने का वचन दिया और ६ लाख रुपया प्रतिवर्ष अमीर को देने का वचन दिया।

(५) इस सन्धि-द्वारा यह भी निश्चित किया गया कि कन्दहार के अतिरिक्त शेष अफगानिस्तान से अंग्रेज सेनायें अविलम्ब हटा ली जायगी। कन्दहार पतझड़ के पूर्व रिक्त नहीं किया जा सकता था।

गंडमक की सन्धि की समीक्षा—गण्डमक की सन्धि में लार्ड लिटन की अफगान नीति चूड़ान्त विकास को प्राप्त हो चुकी थी और उच्चतम शिखर पर पहुंच चुकी थी। लार्ड बीकन्स फील्ड के शब्दों में इस सन्धि के द्वारा अंग्रेजों ने अपने भारतीय साम्राज्य के लिये एक वैज्ञानिक एवं पर्याप्त सीमा प्राप्त कर ली थी। परन्तु उनकी यह विजय क्षणिक सिद्ध हुई। एक बार फिर भारत की अंग्रेजी सरकार को कटु अनुभव द्वारा यह पाठ सीखना पड़ा कि जब कभी कोई विदेशी शक्ति किसी अफगान शासक को प्रत्यक्ष रूप से सहायता देती है तो अफगान लोग उसे शासक को सम्मान की दृष्टि से नहीं देखते और न उसके प्रति उनकी भक्ति ही होती है। लिटन के इन शब्दों से कि "शेरअली का जो आघात हमने पहुंचाया है उससे अफगान लोग हमें और अधिक चाहेंगे और आदर की दृष्टि से देखेंगे" यह स्पष्ट हो जाता है कि वाइसराय अफगानिस्तान की वास्तविक स्थिति से कितना अनभिज्ञ था। इन शब्दों के लिखे जाने के एक महीने उपरान्त ही यह प्रकट हो गया कि वाइसराय का वक्तव्य सारहीन था।

अँग्रेजी राजदूतावास पर आक्रमण—२४ जुलाई १८७९ को लुई कैवेगनरी ने रेजीडेन्ट के रूप में काबुल में प्रवेश किया। भावी भय के सम्बन्ध में लिटन की भांति वह भी अनभिज्ञ था। दो सितम्बर को कैवेगनरी ने लार्ड लिटन को एक तार भेजा जिसमें उसने लिखा था कि "सब ठीक" है परन्तु दुर्भाग्यवश इसके दूसरे ही दिन अफगान सेना ने विद्रोह का झण्डा खड़ा कर दिया और अंग्रेज राजदूतवास पर आक्रमण करके राजदूत

तथा उसके सब साथियों की हत्या कर डाली। याकूब खाँ या तो हस्तक्षेप करने की क्षमता नहीं रखता था और किंकर्तव्यविमूढ़ बना रहा या गुप्त रूप से उसकी सहानुभूति विद्रोहियों के साथ थी। कुछ भी हो उसने राजदूत की रक्षा का कोई सफल प्रयत्न नहीं किया। इस दुर्घटना से वाइसराय पर भयानक प्रहार लगा। उसने लिखा, "नीति का वह जाल जिसको इतनी सावधानी के साथ बुना गया था, बुरी तरह से नष्ट कर दिया गया है। पिछले युद्ध तथा सन्धि-वार्ता में हम जिस बात को टालना चाहता था भाग्य ने अब उसी को कर दिया।" अंग्रेजों को अपनी प्रतिष्ठा की रक्षा करनी थी उसके लिये चाहे जितना अधिक मूल्य चुकाना पड़े। एक बार फिर बृटिश सेनाओं ने प्रस्थान किया। राबर्ट्स ने फिर कुरम की घाटी के मार्ग से काबुल पर आक्रमण किया और चरसियाब नामक स्थान पर विद्रोहियों को परास्त करके १२ अक्तूबर को काबुल में प्रवेश किया। सर डोनेल्ड स्टुवार्ट ने कन्दहार पर अपना अधिकार स्थापित कर लिया। याकूब खाँ भयभीत होकर काबुल में प्रविष्ट होने से पहिले ही अंग्रेजी सेना से जा मिला। उसने अपना राजपद त्याग दिया और अपने को बृटिश संरक्षण में कर दिया। इस अवसर पर उसने कहा था, "अफ़ग़ानिस्तान का शासक होने की अपेक्षा मैं बृटिश कैम्प में घास काटना अधिक पसन्द करूंगा।" अन्वेषण करने पर याकूब निर्दोष पाया गया परन्तु चूँकि बृटिश राजदूत की ओर से वह सर्वथा उदासीन था अतएव उसे राज-बन्दी बना कर भारत भेज दिया गया। अब उसे अफ़ग़ानिस्तान के सिंहासन पर बिठाना अनुचित तथा असम्भव समझा गया।

अब्दुर्रहमान का अमीर बनना—अब भारत सरकार के समक्ष एक विकट समस्या आ खड़ी हुई। अफ़ग़ानिस्तान में इन दिनों अराजकता का प्रकोप था और वहाँ पर कोई ऐसा शासक नहीं था जिसके साथ समझौते की बात-चीत की जाती। शीत-ऋतु में काबुल के सन्निकट भीषण संग्राम होता रहा और भारतवर्ष के साथ सम्पर्क तथा पत्र व्यवहार बनाये रखने में जेनरल राबर्ट्स को बड़ी कठिनाई पड़ने लगी। एक स्थिति ऐसी आ गई जब १४ से २४ दिसम्बर तक काबुल तथा भारत के बीच पूर्णरूप से सम्बन्ध विच्छेद हो गया और आना-जाना तथा पत्र-व्यवहार सब बन्द हो गया। विवश होकर राबर्ट्स को काबुल तथा बालाहिसार का दुर्ग त्याग देना पड़ा और शेरपुर में जाकर शरण लेनी पड़ी जहाँ पर उसे एक लाख कबाइलियों ने घेर लिया। इन दिनों जेनरल स्टीवार्ट कन्दहार में था। १८८० के बसन्त काल में उसने वहाँ से प्रस्थान कर दिया और अहमद-खेल नामक स्थान पर विद्रोहियों को परास्त किया। अब वह काबुल पहुँचा और उसकी सेनायें जेनरल राबर्ट्स की सेनाओं से जा मिलीं। इस समय काबुल तथा कन्दहार के पूर्व अफ़ग़ानिस्तान के एक छोटे ही भाग पर अंग्रेजों का अधिकार था। सम्पूर्ण अफ़ग़ानिस्तान पर विजय प्राप्त करना सरल कार्य न था। इसमें अपार धन तथा जन की आहुति की आवश्यकता थी परन्तु बिना व्यवस्थित शासन स्थापित किये प्रत्यागमन करना भी बृटिश मान-मर्यादा को मिट्टी में मिलाना था। अन्त में लार्ड लिटन की परामर्श से यह निश्चित किया गया कि पश्चिमी अफ़ग़ानिस्तान को शेष अफ़ग़ानिस्तान से काट कर अलग कर देना चाहिये। कन्दहार का प्रान्त काबुल से पृथक् करके शेरअली खाँ नामक एक स्वतन्त्र शासक को दे दिया गया जिसे आवश्यकता पड़ने पर अंग्रेजों ने सैनिक सहायता देने का वचन दिया परन्तु काबुल तथा उत्तरी-पश्चिमी अफ़ग़ानिस्तान की समस्या अभी सुलझ नहीं पाई थी; सौभाग्यवश यह इस रीति से सुलझ गई जिसकी कभी आशा भी नहीं की जाती थी। एक अफ़ग़ान अंग्रेजों को मिल गया जिसने उनके उद्देश्य की पूर्ति कर दी। वह व्यक्ति था अब्दुर्रहमान। लार्ड लिटन ने लिखा "अब्दुर्रहमान हमें जंगल में पकड़ा हुआ भेड़ा मिला है।" अब्दुर्रहमान शेरअली का भतीजा और अफ़ज़ल खाँ का पुत्र था जिसने सत्रह महीने तक शासन किया था और तुर्किस्तान की ओर भाग गया था। अब वह सहसा अफ़ग़ानिस्तान की उत्तरी सीमा पर आ पहुँचा। १८७० से वह एक प्रवासी की

भांति रूसियों के संरक्षण में रह रहा था। बृटिश सरकार को परेशान करने के लिये उसके आश्रयदाताओं ने उसे एक छोटी सी सेना देकर अपनी मातृ-भूमि में अपने भाग्य की परीक्षा करने के लिये भेज दिया। अफ़ग़ानिस्तान के सिंहासन के अनेक अभिलाषियों की प्रार्थना को लार्ड लिटन अस्वीकार कर चुका था। अब उसने उत्तरी-पश्चिमी अफ़ग़ानिस्तान में अब्दुर्रहमान को पूर्ण स्वतन्त्रता देकर उसे अमीर स्वीकार कर लेने का निश्चय किया यदि अफ़ग़ान जनता को कोई आपत्ति न हुई। प्रारम्भ में तो इस नीति से बड़ा भय लगता था और यह बड़ी ही साहसिक समझी गई थी परन्तु अन्ततोगत्वा यह अत्यन्त सफल सिद्ध हुई। अब्दुर्रहमान अपने काल का अत्यन्त योग्य, दूरदर्शी तथा चतुर व्यक्ति था। ग्यारह वर्ष तक वह रूसियों के आश्रय में एक प्रवासी का जीवन व्यतीत कर चुका था। इस दीर्घ काल में अपने आश्रयदाताओं के राजनैतिक आदर्शों तथा उपायों का प्रचुर अध्ययन कर चुका था। परन्तु अपने आश्रयदाताओं के प्रति वह बड़ा कृतज्ञ था क्योंकि उन्होंने उसकी बड़ी सहायता की थी। अब्दुर्रहमान की यह धारणा थी कि भूत में अंग्रेजों का अफ़ग़ानिस्तान के साथ जैसा भी सम्बन्ध रहा हो वे रूसियों की अपेक्षा अफ़ग़ानियों की स्वतन्त्रता का अधिक आदर करेंगे। परन्तु वह आरम्भ से ही अत्यन्त सतर्कता तथा सावधानी के साथ कार्य करना चाहता था जिससे अंग्रेज उसे समझने में भूल न करें। उसने अपने स्मृति-पत्रों में लिखा था, "मैं अपनी मित्रता को जितना आवश्यक समझता था उतना प्रकट नहीं कर सकता था क्योंकि मेरे आदमी अज्ञानी तथा धर्मान्ध हैं। यदि मैं अंग्रेजों की ओर अपना कुछ झुकाव प्रकट करता तो मेरे आदमी मुझको नास्तिकों के साथ हाथ मिलाने वाला एक नास्तिक मानते।" इन परिस्थितियों में अंग्रेजी प्रस्तावों का स्वागत करते हुये भी वह अपने देशवासियों को यह नहीं आभासित होने देना चाहता था कि उसकी शक्ति अंग्रेजों की सहायता पर अवलम्बित है। फलतः वह अंग्रेजों के साथ इस प्रकार का व्यवहार करता था जिससे उसके देशवासियों को ऐसी शंका न हो कि वह अंग्रेजों की कृपा का आकांक्षी है और उनके हाथ अपने देश की मान-मर्यादा का विक्रय कर सकता है। अफ़ग़ानिस्तान में उन दिनों अंग्रेजों को अत्यन्त घृणा की दृष्टि से देखा जाता था और अफ़ग़ान लोग उनसे अत्यन्त शङ्कित रहते थे। यह अब्दुर्रहमान के लिये बड़े श्रेय की बात है कि अंग्रेजों की सहायता से वह अफ़ग़ानिस्तान का अमीर बना और बड़ी सतर्कता तथा सावधानी से कार्य करके अपने देशवासियों को अंग्रेजों के साथ मैत्री करने तथा उनके संरक्षण में रहने के लिये उद्यत कर दिया।

लिटन के शासन सम्बन्धी सुधार—ऊपर लार्ड लिटन की परराष्ट्र नीति का विस्तृत वर्णन किया गया है। अब उसके काल के शासन सम्बन्धी सुधारों का भी सिंहावलोकन कर लेना आवश्यक है। लिटन के शासन काल में निम्न-लिखित आन्तरिक सुधार किये गये थे :—

(१) १८७६-७८ का दुर्भिक्ष—लिटन के शासन काल में एक भयानक दुर्भिक्ष पड़ा जिसका प्रकोप दो वर्ष से अधिक तक चलता रहा। इसका विनाशकारी प्रभाव अत्यन्त विस्तृत क्षेत्र पर पड़ा परन्तु दक्षिण भारत में इसका प्रकोप विशेष रूप से बढ़ गया था। मद्रास, बम्बई, हैदराबाद तथा मैसूर की दशा तो अत्यन्त दुखद तथा शोचनीय हो गई थी। मध्य-भारत तथा पंजाब पर भी इसका कुछ न कुछ प्रभाव पड़े बिना न रहा। यद्यपि सरकार ने दुर्भिक्ष-ग्रस्त जनता की सहायता का प्रयत्न किया परन्तु वह प्रयत्न पर्याप्त तथा यथोचित न था। इससे जनता को भयानक दुःख का सामना करना पड़ा। यद्यपि भारत सरकार को अत्यधिक धन व्यय करना पड़ा परन्तु अकाल पीड़ितों को उससे यथोचित लाभ न हो सका और बृटिश भारत में ५० लाख व्यक्ति काल के गाल

चले गये । २० लाख एकड़ भूमि पर कृषि होना बन्द हो गया और सरकार को साढ़े बाइस लाख पौण्ड भूमि-कर का घाटा हुआ । लार्ड लिटन को इस दुर्घटना से बड़ा क्षोभ हुआ । अब उसने विचार किया कि अकाल पड़ जाने पर अकाल-ग्रस्त व्यक्तियों की सहायता करने से ही नहीं काम चलेगा वरन् दुर्भिक्ष की दुर्घटना के भी रोकने की कोई स्थायी व्यवस्था होनी चाहिये । फलतः लिटन ने दुर्भिक्ष की स्थायी नीति का सूत्रपात किया । उसने दुर्भिक्ष की समस्या पर विचार करने के लिये सर रिचर्ड स्ट्रैची की अध्यक्षता में एक कमीशन नियुक्त किया । इस कमीशन ने दो वर्ष के परिश्रम के उपरान्त अपनी रिपोर्ट उपस्थित की और उसमें दो बातों पर बल दिया । पहिली बात तो यह थी कि अकाल के समय मुफ्त सहायता केवल उन लोगों को दी जानी चाहिये जो असहाय तथा कार्य करने में असमर्थ हैं और जो स्वस्थ तथा कार्य करने योग्य हैं उनको काम दिया जाय । दूसरी बात यह थी कि बजट में प्रतिवर्ष १५ लाख पौंड की बचत करके जातीय ऋण को कम करने तथा जिन प्रान्तों में वर्षा का अभाव है उनमें रेलें तथा नहरें बनवाने की व्यवस्था की जानी चाहिये । इस धन की प्राप्ति के लिये व्यापार तथा व्यवसायों पर कर लगाये गये और भूमि कर में कुछ वृद्धि कर दी गई । लिटन की इस दुर्भिक्ष नीति की विद्वानों ने बड़ी प्रशंसा की है और आवश्यक तथा समयोचित परिवर्तनों के साथ इस नीति का अन्त तक अनुसरण किया गया ।

(२) आर्थिक सुधार—लार्ड लिटन के शासन काल में अनेक आर्थिक सुधार भी किये गये । वाइसराय को इस कार्य में जान स्ट्रैची से बड़ी सहायता मिली जो उत्तरी पश्चिमी सीमान्त प्रान्त का लेफ्टीनेन्ट गवर्नर था और जिसे वाइसराय ने १८७६ में अपनी कौंसिल का आर्थिक सदस्य बना लिया था । भारत में आय का एक प्रमुख साधन नमक-कर था । अभी तक विभिन्न प्रान्तों में नमक कर की दर अलग-अलग थी । एक प्रान्त से दूसरे प्रान्त में चोरी से नमक ले जाने और बिना कर दिये देशी राज्यों से बृटिश भारत में नमक लाने को रोकने की समुचित व्यवस्था न थी । इस व्यवस्था को सुधारने के लिये दो बातों की आवश्यकता थी । पहिली बात तो यह थी कि देशी राज्यों में नमक के उत्पादन पर नियन्त्रण होना चाहिये था और दूसरी बात यह थी कि बृटिश भारत के सभी प्रान्तों में नमक कर की दर को समान कर देना चाहिये था । लार्ड मेयो तथा लार्ड नार्थब्रुक दोनों ही की आर्थिक सुधार में बड़ी अभिरुचि थी और दोनों ने इस दिशा में बहुत बड़ी सफलता प्राप्त की थी । इन दोनों ने देशी राज्यों में नमक के उत्पादन पर नियन्त्रण स्थापित करने का सफल प्रयत्न किया था । जान स्ट्रैची ने अन्य देशी राज्यों से समझौता करके नमक उत्पादन पर बृटिश सरकार का नियंत्रण स्थापित कर दिया । परन्तु स्ट्रैची सब प्रान्तों में नमक कर की दर को समान न कर सका क्योंकि इससे सरकारी आय कर पर धक्का लगता । फिर भी असमानता इतनी न्यून कर दी गई कि एक प्रान्त से दूसरे प्रान्त में चोरी से ले जाने वालों को कोई विशेष लाभ न होता ।

सर जान स्ट्रैची का दूसरा अत्यन्त महत्वपूर्ण आर्थिक सुधार यह था कि उसने स्वतन्त्र व्यापार की स्थापना की ओर एक पग आगे रक्खा । देश के भीतरी भागों में चीनी पर जो चुङ्गी लगती थी उसे १८७८ ई० में समाप्त कर दिया गया और २८ अन्य वस्तुओं पर आयात-कर का अन्त कर दिया गया । स्ट्रैची तथा वाइसराय की यह उत्कट इच्छा थी कि भारतवर्ष को स्वतन्त्र व्यापारिक बन्दरगाह बना दिया जाय जहाँ संसार के सभी लोग स्वतन्त्रता पूर्वक व्यापार कर सकें परन्तु अफगान युद्ध तथा दुर्भिक्ष के फल-स्वरूप सरकार को इतनी आर्थिक क्षति पहुँच चुकी थी कि उनकी इस इच्छा की पूर्ति न हो सकी । अभी तक विदेशी वस्त्र पर ५ प्रतिशत आयात कर लगा हुआ था । अब इस पर बड़ा विवाद आरम्भ हो गया । लङ्काशायर के सूती वस्त्र के उत्पादक बहुत दिनों से इस कर के अन्त करने में प्रयत्नशील थे । जुलाई १८७७ में बृटिश पार्लियामेण्ट की लोक-

सभा ने सर्व-सम्मति से यह विधेयक पारित किया कि "भारतवर्ष में सूती वस्त्र पर जो आयात कर लगाया जाता है वह संरक्षणात्मक है और व्यापारिक नीति के विरुद्ध है। अतएव उसका अविलम्ब अन्त कर देना चाहिये।" परन्तु भारत में लोक-मत तथा कुछ अधिकारी वर्ग आयात-कर में परिवर्तन करने के विरुद्ध था क्योंकि यदि आयात-कर समाप्त कर दिया जाता तो भारतीय उत्पादकों की स्थिति अत्यन्त संकटापन्न हो जाती। वाइसराय की कौंसिल के सदस्यों ने भी बहुमत से इसका विरोध किया और कहा कि इस कर से भारतीय उद्योग का कोई संरक्षण नहीं होता और इसके समाप्त करने का अभी समय नहीं आया है। लोक-सभा का यह प्रस्ताव उनके विचार में न तो भारत के हित में था और न इंगलैण्ड के ही। इसमें तो केवल एक राजनैतिक दल का हित था जिसके नेता किसी भी दशा में लंकाशायर के सूती कपड़ों के उत्पादकों की सहायता तथा सहानुभूति प्राप्त करना चाहते थे। परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि बृटिश मन्त्रि-मण्डल तथा वाइसराय को यह पूर्ण विश्वास हो गया था कि भारत तथा बृटेन के हितों में कोई वास्तविक विरोध न था और चुंगी को हटा देने अथवा कम कर देने से अन्ततोगत्वा दोनों ही देशों को लाभ होगा। फलतः १८७९ में भद्दे कपड़ों पर से आयात-कर बिल्कुल हटा दिया गया। इस आयोजना को कार्यान्वित करने के लिये लार्ड लिटन को अपनी कौंसिल के बहुमत के निर्णय को रद्द करना पड़ा। भारतीय उत्पादकों की स्थिति पर जो कुछ भी आघात लगा हो परन्तु सामुद्रिक व्यापार में जो वृद्धि हुई उससे स्वतन्त्र व्यापार की नीति के औचित्य का समर्थन होता है। १८७९ में दक्षिणी भारत का "कृषि सम्बन्धी उद्धार नियम" (Southern India Agricultural Relief Act) पारित किया गया जिसके द्वारा किसानों को महाजनों के चंगुल से बचाने का प्रयत्न किया गया।

लार्ड लिटन के शासन-काल में तीसरा महत्वपूर्ण आर्थिक सुधार विकेन्द्रीकरण का था। विकेन्द्रीयकरण का कार्य सर्व-प्रथम १८७० ई० में लार्ड मेयो ने आरम्भ किया था। इसके पूर्व प्रान्तों को केन्द्रीय कोष से एक निश्चित धन-राशि प्राप्त हुआ करती थी। १८७७ में सर जान स्ट्रैची ने इस प्रथा को और अधिक प्रोत्साहन दिया और विकसित किया। वास्तव में सर जान स्ट्रैची ने अर्थ-विभाग के सदस्य के रूप में अत्यन्त महत्वपूर्ण तथा श्लाघनीय कार्य किये थे।

(३) सिविल सर्विस में सुधार—लार्ड लिटन के शासन काल में सिविल सर्विस में भी कुछ सुधार किये गये। १८३३ के आज्ञापत्र द्वारा यह निश्चित किया गया था कि जाति, धर्म अथवा रंग के आधार पर भारतीयों को उच्च-पदों से वंचित न किया जायगा। इसका यह तात्पर्य था कि केवल योग्यता के ही आधार पर लोगों को सरकारी नौकरियाँ दी जायंगी। १८५८ की राजकीय घोषणा में इसकी पुनरावृत्ति की गई परन्तु इस सिद्धान्त को अभी कार्यान्वित नहीं किया गया था। १८७९ में नियमानुकूल सिविल सर्विस की स्थापना की गई। यों तो १८५३ के ऐक्ट द्वारा बृटिश सम्राट् की सम्पूर्ण प्रजा को प्रतियोगिता की परीक्षा में उत्तीर्ण होकर किसी भी उच्च-पद को प्राप्त करने का अधिकार दे दिया गया था परन्तु चूंकि यह परीक्षायें इंगलैण्ड में हुआ करती थी अतएव भारतीयों के मार्ग में यह एक बहुत बड़ी कठिनाई थी और कतिपय भारतीयों के अतिरिक्त शेष इस सुअवसर से वंचित रह जाते थे क्योंकि यह एक बहुत बड़ी व्यावहारिक कठिनाई थी। इसका परिणाम यह हुआ कि भारतीयों की उन्नति का मार्ग तो खुल गया परन्तु क्रियात्मक रूप में उन्हें इससे कोई विशेष लाभ न हुआ। सभी ऊंचे पदों पर अंग्रेज लोग आसीन थे और भारतीयों को वह चाहे कितने ही प्रतिभावान् क्यों न हों निम्न पदों पर ही रह कर सन्तुष्ट रहना पड़ता था। इस प्रकार १८३३ तथा १८५८ में दिये गये अधिकारों का उपभोग भारतवासी न कर सके। लार्ड लारेन्स ने भारतवासियों को छात्रवृत्ति देकर तीन वर्ष तक इंगलैण्ड में रखने की अल्पकालिक प्रथा चलाई थी। इसके उपरान्त १८७० में

ड्यूक आफ आर्गिल ने जो उन दिनों भारत-मन्त्री के पद पर था एक नियम बनवाया जिसके द्वारा कुछ भारतीयों को भारत सरकार, भारत-मन्त्री की स्वीकृति से, उन पदों पर नियुक्त कर सकती थी जिन पर अभी तक सिविल सर्विस के ही आदमी नियुक्त किये जाते थे। इन लोगों के लिये लन्दन जाकर प्रतियोगिता की परीक्षा में उत्तीर्ण होना अनिवार्य न था। परन्तु इस प्रकार भारतीयों को केवल न्याय विभाग में ही स्थान प्रदान किया जा सकता था शासन विभाग में नहीं। नौकरियों की यह व्यवस्था सन्तोषजनक न थी और इसमें सुधार की बड़ी आवश्यकता थी। फलतः १८७८-७९ में लार्ड लिटन की सरकार ने नियमानुसार सिविल सर्विस की स्थापना की। अब यह नियम बना दिया गया कि लगभग १६ प्रतिशत पद उन लोगों को दिया जायगा जिनका जन्म भारतवर्ष में हुआ हो और उनकी नियुक्ति प्रान्तीय सरकारें गवर्नर-जनरल तथा उसकी कौंसिल तथा भारत-मन्त्री की अनुमति से करें। ऐसे व्यक्तियों को दो वर्ष तक अपनी क्षमता एवं योग्यता के प्रमाणित करने का अवसर प्रदान किया जायगा। तदुपरान्त इनको स्थायी पद प्रदान कर दिया जायगा। इस व्यवस्था से भारतवासियों को कुछ सन्तोष अवश्य हुआ परन्तु उच्च श्रेणी के लोगों ने इस प्रकार पदों पर जाना पसन्द नहीं किया और केवल ऐसे ही लोग इस प्रकार पदों पर नियुक्त किये गये जो निम्न पदों पर भी कार्य करने के लिये उद्यत थे। फलतः आठ वर्ष उपरान्त इस प्रथा का त्याग देना पड़ा।

(४) वर्नाक्यूलर प्रेस ऐक्ट—१८७८ में लार्ड लिटन ने वर्नाक्यूलर प्रेस ऐक्ट पास कराया जिसकी तीव्र आलोचना की गई। इस ऐक्ट द्वारा मैजिस्ट्रेट अथवा कलेक्टर को यह अधिकार दिया गया था कि वे देशी भाषाओं में प्रकाशित होने वाले समाचार-पत्रों के प्रत्येक सम्पादक से या तो यह लिखित ले लें कि वे अपने समाचार-पत्रों में कोई ऐसी बात न छापेंगे जिससे अंग्रेजी सरकार के विरुद्ध जनता में रोष अथवा द्वेष का प्रकोप हो और भारत की भिन्न-भिन्न जातियों अथवा धर्मावलम्बियों में पारस्परिक वैमनस्य उत्पन्न हो या उनसे कहें कि प्रकाशित होने के पूर्व वे अपने समाचार-पत्रों के प्रूफ एक विशेष सरकारी पदाधिकारी को दिखला लिया करें। इस ऐक्ट की तीव्र आलोचना की गई और इसका बड़ा विरोध हुआ। वाइसराय की कौंसिल के भी कुछ सदस्यों ने कहा कि कुछ सम्पादकों द्वारा अनुचित लेख लिखने के आधार पर इस प्रकार के दमनकारी विधान का निर्माण नहीं होना चाहिये। इस प्रकार के विधान के निर्माण का यह तात्पर्य होगा कि अंग्रेजी सरकार अपनी आलोचना सहन नहीं कर सकती है और उससे भयभीत रहती है। इसके अतिरिक्त अंग्रेजी तथा हिन्दुस्तानी प्रेस में इस प्रकार भेद-भाव करने का परिणाम अच्छा न होगा। यद्यपि वर्नाक्यूलर प्रेस ऐक्ट के आलोचकों के इस तर्क में बहुत बड़ा बल था परन्तु लार्ड लिटन ने कहा कि अंग्रेजी तथा हिन्दुस्तानी प्रेस के भेद का आधार जाति अथवा रङ्ग नहीं है क्योंकि कुछ अंग्रेजी समाचार-पत्रों का सम्पादन भारतीयों के हाथ में है। यद्यपि लार्ड लिटन अपनी बात पर दृढ़ रहा और वर्नाक्यूलर प्रेस ऐक्ट को पारित करा दिया परन्तु यह विधेयक अल्पकालीन सिद्ध हुआ क्योंकि चार वर्ष उपरान्त लार्ड रिपन ने उसे रद्द कर दिया।

(५) प्रिवी कौंसिल की स्थापना की आयोजना—लार्ड लिटन ने इंगलैंड की भाँति भारत में भी भारतीय प्रिवी कौंसिल की स्थापना की आयोजना की। वह चाहता था कि भारतीय नरेशों को पियर बनाया जाय और वाइसराय को परामर्श देने के लिये उनका एक मण्डल बनाया जाय। यद्यपि लिटन की यह आयोजना सफल न हो सकी परन्तु आगे चलकर १९१९ के ऐक्ट में इसका समावेश हुआ और यह आयोजना "नरेन्द्र मण्डल" (Chambers of Princes) की स्थापना करके कार्यान्वित की गई।

(६) यूरोपवासियों के दंड-विधान में संशोधन—भारतीय न्यायालयों में एक

कुप्रथा यह थी कि जब कोई यूरोपीय अपने किसी भारतीय सेवक को मार देता था और उस पर न्यायालय में अभियोग चलता था तो अपराध सिद्ध हो जाने पर उसे अत्यन्त हल्का दण्ड दिया जाता था। लिटन इस प्रथा का घोर विरोधी था और इसे हटाना चाहता था परन्तु दुर्भाग्यवश वह अपने प्रयास में सफल न हो सका। लिटन की यही आयोजना आगे चलकर इलबर्ट बिल के रूप में प्रस्फुटित हुई।

(७) महारानी को कैसर हिन्द की उपाधि—लार्ड बीकन्सफ़ील्ड के मन्त्रि-मण्डल ने इंगलैण्ड की महारानी को कैसर-ए-हिन्द की उपाधि से विभूषित किया। जब पार्लियामेंट में यह विधेयक पारित हुआ तो अनेक लोगों ने इसका मजाक उड़ाया। पहिली जनवरी १८७७ को भारतीय नरेशों तथा सामन्तों का दिल्ली में एक समारोह हुआ। इस दरबार में वाइसराय ने महारानी की नवीन उपाधि की घोषणा की और लोगों ने अपनी राजभक्ति का प्रदर्शन किया। चूंकि इस दरबार में अनेक देशी नरेश तथा बृटिश पदाधिकारी उपस्थित थे अतएव वाइसराय ने इस सुअवसर से लाभ उठाया और कानून-निर्माण तथा राजस्व सम्बन्धी अनेक महत्वपूर्ण विषयों पर सम्मेलन करके विचार-विनिमय किया। जिन लोगों ने सरकार की सेवा की थी उन्हें पुरस्कार दिये गये, लोगों की पन्शनों में वृद्धि कर दी गई और लगभग १६००० बन्दियों को मुक्त कर दिया गया।

(८) अलीगढ़ कालेज की स्थापना—लार्ड लिटन ने मुस्लिम अलीगढ़ कालेज की स्थापना की थी जो आगे चलकर मुस्लिम विश्वविद्यालय में परिणत हो गया। इस सत्कार्य का सूत्रपात सैय्यद अहमद खां ने किया था।

(९) उत्तरी-पच्छिमी सीमा प्रान्त सम्बन्धी आयोजना—लार्ड लिटन की यह इच्छा थी कि उत्तरी-पच्छिमी सीमा प्रान्त पंजाब सरकार के नियन्त्रण से उन्मुक्त करके केन्द्रीय सरकार के नियन्त्रण में कर दिया जाय परन्तु उसकी यह आयोजना उसके शासन-काल में सफलीभूत न हो सकी। आगे चलकर लार्ड कर्जन ने इसे कार्यान्वित कराया।

(१०) स्वर्ण-स्तर के स्थापित करने की आयोजना—लार्ड लिटन भारतवर्ष की आर्थिक व्यवस्था में स्वर्ण-स्तर आरम्भ करना चाहता था और यदि उसकी यह आयोजना उस समय कार्यान्वित कर दी गई होती जब चांदी का मूल्य गिरना आरम्भ हो रहा था तो भारत एक बहुत बड़े आर्थिक संकट से बच गया होता परन्तु उसकी यह आयोजना भी दुर्भाग्यवश कार्यान्वित न हो सकी।

लिटन का त्याग-पत्र—१८८० के आम-चुनाव में अनुदार दल की पराजय हो गई। फलतः बृटिश मन्त्रिमण्डल में परिवर्तन हो गया। इसका प्रभाव भारत की राजनीति पर पड़े बिना न रहा। लार्ड लिटन की परराष्ट्र नीति की इङ्गलैण्ड में तीव्र आलोचना हो चुकी थी और बड़ा असन्तोष फैला था। फलतः आमचुनाव के परिणाम को सूचना पाते ही लार्ड लिटन ने अपने पद से त्याग-पत्र दे दिया और मई १८८० में उसने अपने देश के लिये प्रस्थान कर दिया।

लिटन का चरित्र तथा उसके कार्यों का मूल्यांकन—लार्ड लिटन के शासन-काल की प्रमुख घटनाओं तथा उसके कृत्यों का वर्णन कर देने के उपरान्त उसके चरित्र पर एक विहंगम दृष्टि डाल देना तथा उसके कार्यों का मूल्यांकन कर लेना आवश्यक है। लिटन न केवल एक कुशल कूटनीतिज्ञ था वरन् वह एक अद्भुत प्रतिभा तथा योग्यता का व्यक्ति था। वह एक योग्य साहित्यकार था और उसकी रचनाओं से उसकी चिन्तनशीलता तथा कल्पना-शक्ति का आभास मिल जाता है। उसमें भाव-गम्भीरता तथा तन्मयता थी। वह बड़ा ही तार्किक तथा कुशल-वक्ता था। उसकी वक्तृता में प्रवाह

रहता था। उसकी अपनी निजी लेखन-शैली थी जिसको उसने विकसित किया था। प्रदर्शन की उसमें विशेष अभिरुचि थी और वह बड़े ठाट-बाट से रहता था उसके उर्वर मस्तिष्क से अनेक फल-प्रद भाव उद्भूत हुये थे जिनका भारत में उसके उत्तराधिकारियों ने लाभदायक प्रयोग किया।

लार्ड लिटन के कार्यों का मूल्यांकन करते हुये पी० ई० रावर्ट्स ने लिखा है, "आधुनिक काल में लार्ड लिटन की जितनी तीव्र आलोचना हुई है उतनी अन्य किसी वाइसराय की नहीं और इसके कारणों के अन्वेषण के लिये दूर नहीं जाना है। उसकी अफ़ग़ान नीति की भर्त्सना इंगलैण्ड में बड़े से बड़े भारतीय अधिकारी ने, उदार दल के नेताओं ने और अन्त में असंदिग्ध रूप में बहुसंख्यक राष्ट्र ने की। वास्तव में यह एक विनाशकारी तथा अनैतिक भूल थी और केवल इसी के ही आधार पर लार्ड लिटन का राजनीतिज्ञ कहलाने का अधिकार ठीक ही समाप्त हो जाता है। १८७८-८० के दुर्भिक्ष में जीवन की महान् क्षति हुई, प्रेस की स्वतन्त्रता को सीमित करने के लिये जो आयोजनायें की गईं, युद्ध-व्यय का जो त्रुटिपूर्ण अनुमान लगाया गया इन सब बातों के कारण स्वभावतः लोगों को आलोचना करने का आधार प्राप्त हो गया।" लार्ड लिटन ने जो पत्र-व्यवहार किये थे उनके अध्ययन से यह आभासित हो जाता है कि वह एक असाधारण प्रतिभा का व्यक्ति था। यद्यपि उसमें दूतशीलता तथा भावुकता का प्राचुर्य था परन्तु भारतीय राजनीति में उसने अनेक नवीन तथा लाभदायक विचारों का समावेश किया। उसके बहुत से विचार इसलिये कार्यान्वित न हो सके कि वे अपने समय के बहुत आगे थे। वह भारत की आर्थिक व्यवस्था में स्वर्ण-स्तर आरम्भ करना चाहता था और यदि यह आयोजना कार्यान्वित कर दी गई होती तो इससे बड़ा लाभ हुआ होता। उत्तरी-पश्चिमी सीमान्त प्रदेश के केन्द्रीय सरकार के नियन्त्रण में रखने, वाइसराय को परामर्श देने के लिये देशी नरेशों की प्रिवी कौंसिल स्थापित करने तथा यूरोपियनों को दण्ड विधान में विशेषाधिकार प्राप्त करने की प्रथा को हटाने की लार्ड लिटन की आयोजनायें भविष्य में कार्यान्वित की गई जिससे उनकी सार्थकता तथा उनका औचित्य प्रमाणित हो जाता है। परन्तु मनुष्य के मूल्य को कल्पनाओं तथा आयोजनाओं से नहीं वरन् उसके कार्यों से आँका जाता है। जब हम लिटन को इस कसौटी पर कसते हैं तब वह खरा नहीं सिद्ध होता। वह बड़ा ही साम्राज्यवादी तथा अनुदार प्रवृत्ति का व्यक्ति था और वह दूसरों की भावनाओं का ध्यान नहीं रखता था। भारतवासियों के हितों की ओर से वह सर्वथा पराङ्मुख था। उसके शासन काल में दुर्भिक्ष के फल-स्वरूप लाखों व्यक्ति काल कवलित हो गये। वर्नाक्यूलर प्रेस के विरुद्ध जो उसने दमन-चक्र चलाया वह सर्वथा निन्दनीय है। उसकी भूलें इतनी भारी हैं कि उन्हें परिधान से परिवेष्ठित कर विस्मृत कराना असम्भव है। उसके स्वामी लार्ड सेलिसबरी तथा लार्ड बीकन्सफील्ड ने अन्तिम दिनों में उसकी अत्यन्त कटु आलोचना तथा घोर निन्दा की। सेलिसबरी तो अपनी आलोचना में इस सीमा तक चला गया कि उसने कह दिया, "यदि उसकी लगाम नहीं लगाई गई तो वह हमारे ऊपर भयङ्कर संकट ला देगा।" स्मिथ महोदय ने लार्ड लिटन के कार्यों का मूल्यांकन करते हुये लिखा है, "पर्याप्त जीवनी के अभाव के कारण आदतों तथा आचार-व्यवहार की कुछ विदेशी विशेषताओं के कारण जो परम्परागत विचारों के विरुद्ध थीं और इससे भी अधिक लार्ड बीकन्सफ़ील्ड तथा लार्ड सेलिसबरी के आदेशानुसार उसके द्वारा कार्यान्वित अफ़ग़ान नीति के फल-स्वरूप दलीय कटु वादविवाद के कारण उसकी ख्याति मन्द पड़ गई है। इतनी ही विषैली वर्नाक्यूलर प्रेस ऐक्ट सम्बन्धी आलोचना ने और अधिक उसे लोकमत के समक्ष बदनाम कर दिया। इन्हीं कारणों से लिटन उस स्थायी ख्याति को न पा सका जिसका प्रधान मन्त्री ने वादा

किया था और सम्भवतः कहा जा सकता है कि साधारणतया लोगों पर यही प्रभाव पड़ा है कि भारत के शासक के रूप में वह असफल ही रहा। अगर लोगों का ऐसा मत है तो वह अपर्याप्त आधार पर आधारित है। उसकी आन्तरिक नीति के सर्वोत्तम अंग स्थायी मूल्य के थे और उसके उत्तराधिकारियों ने उन्नति के जो कार्य किये उन्हें उन्हीं पर आधारित किया और उसकी अफ़ग़ान नीति के सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण अंग जिनसे मेरा तात्पर्य क्वेटा को अपने अधिकृत करके कुरम घाटी के प्राप्त करने से है या तो ज्यों के त्यों बने रहे और यदि कुछ समय के लिये उनमें कुछ परिवर्तन किया गया तो कुछ ही वर्ष बाद उन्हें फिर पूर्ववत् बना दिया गया।"

अध्याय ८

लार्ड रिपन (१८८०-८४)

लार्ड रिपन का परिचय—लार्ड रिपन का प्रारम्भिक नाम जार्ज फ्रेडरिक सैमुवल राबिन्सन था। उसका जन्म अक्तूबर १८२७ में हुआ था। १८५६ में अपने पिता की मृत्यु के उपरान्त रिपन को अर्ल की उपाधि मिली। वह उदार दल का था और १८५२ में उसका पार्लियामेण्ट में प्रवेश हुआ था। उसको अनेक पदों पर कार्य करने का अवसर प्राप्त हुआ। १८६१ में वह भारत के अन्डर सेक्रेटरी के पद पर और १८६६ में सेक्रेटरी आफ़ स्टेट फ़ार इण्डिया के पद पर नियुक्त किया गया। १८७१ में वह मारक्विस आफ़ रिपन हो गया और १८७४ में उसने कैथलिक धर्म को स्वीकार कर लिया। अतएव उसकी नियुक्ति पर बड़ी टीका-टिप्पणी की गई। जून १८८० में लार्ड रिपन ने भारत में वाइसराय के पद को ग्रहण कर लिया।

लार्ड रिपन की नीति—भारतवर्ष में अभी तक जितने वाइसराय हो चुके थे लार्ड रिपन उनसे सर्वथा-भिन्न था और लार्ड लिटन का तो वह विलोम ही था। वह ग्लैड-स्टन काल का सच्चा प्रतीक था। वह उदारदलीय था और शान्ति, व्यक्तिवाद तथा स्वराज्य में उसकी पूर्ण श्रद्धा तथा आस्था थी और वह इन सिद्धान्तों का पक्का समर्थक था। वह विलियम बेन्टिङ्क की भांति सुधारवादी था और राजनैतिक तथा सामाजिक सुधारों में उसकी विशेष अभिरुचि थी। अभी तक भारत सरकार देश के लिये जो कुछ अधि-काधिक हितकर समझती थी उसे किया करती थी और इस बात की चिन्ता नहीं करती थी कि भारतीयों की क्या मनोकामनायें तथा आकांक्षायें हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि भारतवासी स्वायत्त शासन से सर्वथा वंचित थे। इसी से बर्क ने कहा था, "भारत में अंग्रेज जाति अफ़सरों के उत्तराधिकार की पाठशाला के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। वे स्थानापन्न व्यक्तियों के राष्ट्र हैं। वे बिना प्रजा के प्रजातन्त्र तथा गणतन्त्र हैं। वे पूर्णतया मैजिस्ट्रेटों से बने हुये एक राज्य हैं।" १८७१ में सर राबर्ट मोन्टगोमरी ने लिखा था, "भारत में हम वहाँ की जनता को पूर्णतया अलग कर देते हैं। हम किसी बात को आयोजित करते हैं और कहते हैं कि ऐसा करना लाभदायक होगा और फिर बिना उनसे कुछ पूछे उसे कर डालते हैं।" वह भारतवासी जो पाश्चात्य ढंग की शिक्षा प्राप्त कर रहे थे और जो पाश्चात्य देशों की लोकतन्त्रात्मक संस्थाओं के सम्पर्क में आ चुके थे, उनका सूत्रपात अपने देश में करना चाहते थे। उनकी अपने देश के शासन में भाग लेने की भावना प्रबल हो रही थी और वे अपने देश में वैधानिक एवं प्रतिनिधि शासन के स्थापित करने के लिये आतुर हो उठे। लार्ड रिपन ने इन लोगों की आकांक्षाओं के साथ अपनी सहानुभूति दिखलाई और उस दिशा में कार्य करने के लिये पग उठाया। स्थानीय स्वायत्त शासन के अपने विश्रुत प्रस्ताव में लार्ड रिपन ने कहा था कि उसका ध्येय भारत के लोगों को सार्वजनिक तथा राजनैतिक शिक्षा देना था। लार्ड रिपन की यह उत्कट इच्छा थी कि भारतवासी प्रजातन्त्र तथा स्थानीय संस्थाओं के सम्बन्ध में जिनकी स्थापना देश के प्रत्येक भाग में होगी शिक्षा प्राप्त करें। लार्ड रिपन ने अपनी नीति के सम्बन्ध में स्वयं कहा था कि भारत सरकार के सामने दो नीतियाँ हैं। एक तो उन लोगों की नीति है

जिन्होंने समाचारपत्रों को स्वतन्त्रता दी है शिक्षा की उन्नति की है, अधिक संख्या में भारतवासियों को सब प्रकार की नौकरियाँ दी हैं और जिन्होंने स्वशासन की वृद्धि का समर्थन किया है। दूसरी नीति उन लोगों की है जो समाचार पत्रों की स्वतन्त्रता का तिरस्कार करते हैं, जो शिक्षा की उन्नति से डरते हैं और जिन्हें शासन में भारतीयों को लेश-मात्र भी भाग देने से पीड़ा होती है। "इन दो नीतियों में से हमें चुनना पड़ेगा। एक का अर्थ उन्नति और दूसरी का दमन है। लार्ड लिटन ने दूसरी को और मैंने पहिली नीति को चुना।"

रिपन की नीति की समीक्षा—लार्ड रिपन की नीति के औचित्य के सम्बन्ध में बड़ा मत-भेद रहा है। अधिकांश अफ़सरों ने उसके विचार तथा उसकी आयोजनाओं का विरोध किया। इस सम्बन्ध में अब भी मत-भेद है कि उसकी नीति के परिणाम लाभ-दायक अथवा हानिकारक सिद्ध हुये। भारत के शासकों के एक दल विशेष की यह धारणा थी कि लार्ड रिपन अत्यन्त द्रुतगति से तथा बहुत दूर तक जाना चाहता था। इन लोगों का कहना था कि स्वायत्त शासन की सफलता के लिये व्यवहारिक अनुभव तथा शिक्षा की आवश्यकता होती है। भारत में इन दोनों बातों का अभाव है। यहाँ के लोगों को स्थानीय संस्थाओं की कार्य-विधि का लेशमात्र अनुभव नहीं है। अतएव इस देश में उनकी स्थापना करना बुद्धिमानी की बात न होगी। इसके अतिरिक्त कुछ थोड़े से महत्वाकांक्षी एवं भावुक पढ़े-लिखे लोगों की ही बातों में आकर जिनकी बहुत कम वास्तविक सहानुभूति साधारण जनता के साथ है और जो उनका प्रतिनिधित्व करने का अधिकार रखते हैं ऐसा पग उठाना उचित न होगा। रिपन के आलोचकों का यह भी कहना था कि शासन-प्रबन्ध के कार्य को अनुभवी कर्मचारियों या अफ़सरों के हाथ से लेकर अनुभव-शून्य निर्वाचित समितियों के हाथ में देने से कार्य-क्षमता के अनुभव में लाभ की अपेक्षा हानि की अधिक सम्भावना थी।

परन्तु कुछ अँग्रेजों ने इस बात का अनुभव किया कि अब इस दिशा में प्रगति करना न केवल नितान्त आवश्यक वरन् अनिवार्य है। इन लोगों का कहना था कि हम ही ने इन भारतवासियों को शिक्षित किया है और उच्च आदर्शों तथा महत्वाकांक्षाओं तथा स्वायत्त शासन की भावनाओं से हम लोगों ने ही उन्हें प्रेरित किया है। अतएव उन्हें सदैव दासत्व की दशा में रख कर हम अपनी नीति का हनन नहीं कर सकते। लार्ड रिपन की उदारता का समर्थन लार्ड नार्थब्रुक ने भी किया। १८८० में उसने अपने विचार इस प्रकार प्रकट किये; "भारतीय जनता के साथ सच्ची सहानुभूति रखने वाले व्यक्ति अफ़सरों में नहीं पैदा होते।" १८८४ में फिर उसने लिखा था, "सिविल सर्विस के आदमियों ने अपने मस्तिष्क में यह दृढ़ विचार कर लिया है कि एक अंग्रेज के अतिरिक्त और कोई आदमी किसी काम को नहीं कर सकता।" रिपन के विरोधियों का यह भी कहना था कि अनुभव शून्य निर्वाचित व्यक्तियों को शासन का भार सौंप देने से कार्यक्षमता का सर्वथा अभाव रहेगा इस पक्ष पर वाइसराय की दृष्टि नहीं गई थी परन्तु वास्तव में ऐसी बात न थी क्योंकि उसने अपने एक प्रस्ताव में कहा था, 'शासन-प्रबन्ध में उन्नति के विचार से नहीं वरन् जनता में राजनीतिक एवं सार्वजनिक शिक्षा के प्रसार के दृष्टिकोण से इस प्रस्ताव को रक्खा गया है।" चूँकि लार्ड रिपन की प्रजातन्त्रात्मक व्यवस्था में पूर्ण श्रद्धा थी अतएव उसकी उत्कट इच्छा थी कि भारतवासी अनुभव की कठिन पाठशाला में स्वराज्य का पाठ ग्रहण करें।

अफ़ग़ानिस्तान में व्यवस्था की स्थापना—लार्ड रिपन को भारतवर्ष में पदार्पण करते ही सर्व-प्रथम अफगान समस्या को सुलझाना पड़ा। इंगलैण्ड में इस समय उदार दल का मन्त्रि-मण्डल था जो लिटन की अग्रगामी तथा हस्तक्षेप की नीति का घोर

विरोधी था। लार्ड हार्टिङ्गटन ने इस उदार दल की नीति पर प्रकाश डालते हुये कहा था, "एक विशाल सेना तथा अतुल धन-राशि का व्यय करके दो सफल युद्धों के परिणाम स्वरूप यह प्रतीत होता है कि जिस देश को हम स्वतन्त्र, शक्तिशाली तथा अपना मित्र बना कर रखना चाहते हैं उसकी सत्ता छिन्न-भिन्न कर दी गई है और उसके एक प्रान्त के सम्बन्ध में नवीन तथा अवांछनीय उत्तरदायित्व अपने ऊपर ले लिया गया है और दूसरे प्रान्त में अराजकता फैली हुई है।" अतएव सरकार "भूतकाल तथा वर्तमान समय के प्रमुख राजनीतिज्ञों के साथ यह अनुभव करती है कि अफगानिस्तान की आन्तरिक व्यवस्था में हस्तक्षेप करने का फल पूर्णतया वही हुआ है जिसे लिटन की नीति के आलोचक पहिले से ही जानते थे तथा जिससे पहिले ही भयभीत थे।" उदार दलीय राजनीतिज्ञों की यह धारणा थी कि अफगानिस्तान के रूस तथा फ़ारस के साथ मैत्री-भाव रखने का एक मात्र कारण लिटन की नीति है जिसके फल-स्वरूप उसे अपनी स्वतन्त्रता के खो देने का भय है। अतएव बृटिश मन्त्रि-मण्डल ने युद्ध के पूर्व की स्थिति के स्थापित करने का निश्चय कर लिया और शान्तिपूर्वक अफ़गान समस्या को समझाने के लिये लार्ड रिपन को जो इस कार्य के लिये सबसे अधिक उपयुक्त था भारत का वाइसराय बना कर भेजा। लार्ड रिपन ने आते ही इस समस्या को सुलझाना आरम्भ किया। उसने उत्तराधिकार सम्बन्धी लार्ड लिटन की ही नीति को स्वीकार किया और जुलाई के महीने में अब्दुरहमान को क़ाबुल का अमीर स्वीकार कर लिया गया। इस स्वीकृति के साथ केवल एक यह शर्त लगाई गई कि "अमीर अंग्रेजों के अतिरिक्त किसी अन्य विदेशी शक्ति के साथ वाह्य सम्बन्ध नहीं रक्खेगा।" पिशिन तथा सिवि प्रान्त अंग्रेजों के ही अधिकार में रहे। अंग्रेजों ने अमीर को यह वचन दिया कि जब तक वह सन्धि की शर्त को भंग न करेगा तब तक यदि कोई विदेशी शक्ति उस पर आक्रमण करेगी तो अंग्रेज सदैव उसकी सहायता करने के लिये उद्यत रहेंगे। अब अफ़गानिस्तान के साथ युद्ध-नीति का त्याग दिया गया और अमीर को यह वचन दिया गया कि अफगानिस्तान के किसी भी भाग में बृटिश रेजीडेन्ट रखने का प्रयास न किया जायगा। कन्दहार के शासक के साथ जो सन्धि की गई थी और जिसके अनुसार पच्छिमी अफगानिस्तान को उत्तरी-पच्छिमी अफगानिस्तान से अलग कर दिया गया था उसे अपनी अनिच्छा रहते हुये भी रिपन ने पालन करने के लिये अपने को बाध्य समझा परन्तु अचिरात सुअवसर प्राप्त होते ही रिपन ने इसे भी समाप्त कर दिया। लिटन की नीति का यह अन्तिम अवशेष था।

परन्तु रिपन का कार्य यहीं समाप्त न हुआ। इस समय अफगानिस्तान में काबुल, क़न्दहार तथा हिरात के तीन स्वतन्त्र राज्य थे। हिरात में शेरअली का पुत्र अयूब खाँ शासन कर रहा था, कन्दहार शेरअली खाँ के अधिकृत था और काबुल पर अब्दुर्रहमान का आधिपत्य था। इस परिस्थिति में अफगानिस्तान में शान्ति का रहना असम्भव था और युद्ध का होना अवश्यम्भावी था। अंग्रेजी सेना के अफगानिस्तान से प्रत्यागमन करने के पूर्व ही युद्ध की भेरी निनादित होने लगी। जून के महीने में अयूबखाँ ने अपनी सेना के साथ हिरात से कन्दहार की ओर प्रस्थान कर दिया और मार्ग में मैवन्द नामक स्थान पर जेनरल बरोज की अध्यक्षता में एक अंग्रेज सेना को बुरी तरह परास्त किया। इस विजय के उपरान्त अयूब खाँ कन्दहार का घेरा डालने के लिये अग्रसर हुआ। चूँकि अंग्रेजों ने कन्दहार के शासक की सहायता करने का वचन दिया था अतएव स्टीवार्ट ने क़ाबुल से जेनरल रावर्ट्स को कन्दहार के शासक की सहायता करने के लिये भेजा। बीस दिन की पैदल यात्रा के उपरान्त रावर्ट्स अपनी सेना के साथ कन्दहार पहुँच गया। कन्दहार के युद्ध में अयूबखाँ की पराजय हुई। युद्ध के आरम्भ हो जाने पर स्टीवार्ट निश्चित तिथि पर अपनी सेना के साथ काबुल से भारत लौट आया। रावर्ट्स कुछ दिनों तक कन्दहार में रहा। अन्त में १८८१ में भारत सरकार ने कन्दहार को भी रिक्त कर देने

का निश्चय कर लिया। कन्दहार का शासक शेरअली खाँ भी अंग्रेजों के समझाने से कन्दहार छोड़कर भारत आने के लिये उद्यत हो गया। अब्दुर्रहमान ने अपने पूर्वजों के राज्य के विभाजन को कभी भी सहन या स्वीकार नहीं किया था और कन्दहार के हाथ से निकल जाने की उसको हार्दिक पीड़ा थी। अब कन्दहार के पुनः प्राप्त कर लेने से वह अत्यन्त प्रसन्न हो गया और अंग्रेजों का पक्का मित्र बन गया। कुछ समय तक तो उसे यह भय लगा रहता था कि कन्दहार के साथ-साथ कहीं काबुल से भी हाथ न धो देना पड़े। अँग्रेजी सेना के चले जाने के उपरान्त अयूब खाँ ने एक बार फिर हिरात से कन्दहार के लिये प्रस्थान कर दिया। उसने कन्दहार पर अपना अधिकार स्थापित कर लिया और कई महीने तक उसे अपने आधिपत्य में रक्खा। अब्दुरहमान शान्त बैठने वाला व्यक्ति न था। उसने भी काबुल से कन्दहार के लिये प्रस्थान कर दिया। रणक्षेत्र में अपनी वीरता तथा कौशल के प्रदर्शन करने को उसे प्रथम अवसर प्राप्त हुआ। इसके विपरीत उसका प्रतिद्वन्दी कई युद्ध कर चुका था और पर्याप्त अनुभव प्राप्त कर चुका था। परन्तु भाग्य ने अब्दुर्रहमान का ही साथ दिया। सितम्बर के महीने में कन्दहार के निकट उसने अयूबखाँ को बुरी तरह परास्त किया। अयूब खाँ अफगानिस्तान छोड़ कर फारस की ओर भाग गया और हिरात तथा कन्दहार पर अब्दुर्रहमान का प्रभुत्व स्थापित हो गया। इस प्रकार अफगानिस्तान में फिर राजनैतिक एकता स्थापित हो गई और अब्दुर्रहमान ने उस पर बड़ी योग्यता तथा सफलता के साथ शासन किया।

संरक्षित राज्यों की व्यवस्था—लार्ड रिपन के शासन काल में निम्न-लिखित देशी राज्यों की व्यवस्था करनी पड़ी :—

(१) **मैसूर**—१७९९ में लार्ड वेलेजली ने मैसूर राज्य पर विजय प्राप्त करके एक हिन्दू बालक को वहाँ का राजा बना दिया था। १८३१ में लार्ड विलियम बेन्टिङ्क ने कुशासन तथा कुव्यवस्था के कारण राजा को पद-च्युत करके राज्य का शासन-प्रबन्ध अंग्रेजी सरकार के हाथ में दे दिया था। १८६७ में लार्ड लारेन्स ने राज्य को वापस करने का निश्चय किया परन्तु कारणवश यह आयोजना कार्यान्वित न हो सकी। इसी वर्ष पद-च्युत राजा का परलोकवास हो गया और यह निश्चित किया गया कि जब पद-च्युत राजा का दत्तक पुत्र पूर्ण-वयस्क हो जायगा तब मैसूर का राज्य उसे लौटा दिया जायगा। १८८१ में यह वादा पूरा किया गया। लार्ड रिपन ने बड़ी सजधज के साथ राजा का राज्याभिषेक किया। नव-युवक राजा को वाइसराय ने सुशासन तथा सुव्यवस्था के लिये बड़ी चेतावनी दी। राज्य के सभी प्रचलित नियमों के पालन करने तथा सावधानी के साथ उनको कार्यान्वित करने का राजा को आदेश दिया गया। उसे चेतावनी दी गई कि गवर्नर-जनरल तथा उसकी कौंसिल की अनुमति के बिना शासन-व्यवस्था में कोई बड़ा महत्वपूर्ण परिवर्तन न किया जाय, राज्य में भूमि-कर की व्यवस्था पूर्ववत् बनी रहनी चाहिये और राजा को शासन-प्रबन्ध सम्बन्धी गवर्नर-जनरल की सत्परामर्श को मानने के लिये सदैव उद्यत रहना चाहिये।

(२) **कोल्हापूर**—१८८२ ई० में कोल्हापूर का राजा पागल घोषित कर दिया गया। अतएव बृटिश अधिकारियों के नियन्त्रण तथा निरीक्षण में एक संरक्षक के नियुक्त करने की आवश्यकता पड़ी। राजा की मृत्यु के उपरान्त एक बालक को जिसे राजा की विधवा स्त्री ने गोद ले लिया था कोल्हापूर के सिंहासन पर बैठने की आज्ञा दे दी गई।

(३) **हैदराबाद**—फरवरी १८८३ में सर सालार जङ्ग निजाम का परलोकवास हो गया। हैदराबाद तथा भारत सरकार के लिये यह अत्यन्त दुखद दुर्घटना थी। निजाम के स्थान पर शासन चलाने के लिये एक 'संरक्षक-समिति' का निर्माण किया गया। १८८४

ई० में जब नव-युवक नवाब पूर्ण अवस्था को प्राप्त हो गया तब वाइसराय ने उसे हैदराबाद के सिंहासन पर बिठा दिया।

स्थानीय स्वराज्य का प्रादुर्भाव—स्थानीय स्वराज्य का तात्पर्य उस सरकार से है जिसके अन्दर सारी जनता को अपने प्रतिनिधियों द्वारा शासन में भाग लेने का अवसर प्राप्त होता है। कुछ विषयों में स्थानीय संस्थाओं को अपने प्रतिनिधियों द्वारा अपनी इच्छानुसार शासन करने का अधिकार प्रदान किया जाता है। इसी का नाम स्थानीय स्वराज्य है।

लार्ड रिपन का प्रस्ताव—लार्ड रिपन को भारत में स्थानीय स्वराज्य का जन्म-दाता माना जाता है। १८८१ ई० में लार्ड रिपन ने स्थानीय स्वायत्त शासन सम्बन्धी एक प्रस्ताव पारित किया। इस प्रस्ताव में यह कहा गया था कि अब वह समय आ गया है जब लार्ड मेयो की सरकार की आयोजनाओं को आगे बढ़ाने का प्रयत्न करना चाहिये। केन्द्रीय तथा प्रान्तीय सरकारों के बीच जो राजस्व सम्बन्धी समझौता हुआ है उससे स्थानीय स्वराज्य की समस्या की उपेक्षा नहीं होनी चाहिये। फलतः प्रान्तीय सरकारों को यह आज्ञा दी गई कि वे अपनी धन-राशि का पर्याप्त अंश स्थानीय संस्थाओं को हस्तान्तरित कर दें और स्थानीय संस्थाओं को यह आदेश दिया गया कि स्थानीय विषयों का प्रबन्ध वे स्वयम् करें। प्रान्तीय सरकारों को आज्ञा दी गई कि वे प्रान्तीय, स्थानीय तथा म्युनिसिपल विधानों का बड़ी सावधानी के साथ अध्ययन करें। इस जांच का ध्येय इस बात का पता लगाना था कि प्रान्तों से कौन-कौन से आय के साधन स्थानीय संस्थाओं को हस्तान्तरित किये जा सकते हैं जिससे उनका प्रबन्ध म्युनिसिपल समितियों को सौंप दिया जाय। इस बात का भी निश्चय करना था कि किन विषयों को विशेष रूप से स्थानीय संस्थाओं को देना चाहिये। केवल उन्हीं विषयों को स्थानीय संस्थाओं को हस्तान्तरित करने का निश्चय किया गया जिनको जनता समझ सके और अभिरुचि ले सके।

प्रस्ताव का क्रियात्मक स्वरूप—१८८१ के प्रस्ताव के अनुसार प्रान्तीय सरकारों को पत्र लिखे गये। इन पत्रों में भारत सरकार ने व्यय की उन मदों की ओर संकेत किया जो सरलता से स्थानीय संस्थाओं को हस्तान्तरित की जा सकती थीं। प्रान्तीय सरकारों से पूछा गया कि वे अपनी परामर्श दें कि और कौन-कौन से विषय स्थानीय संस्थाओं को हस्तान्तरित किये जा सकते थे। प्रान्तीय सरकारों को बतलाया गया कि यदि "ब्योरे के सम्बन्ध में स्थानीय संस्थाओं पर प्रतिबन्ध लगाया गया अथवा हस्तक्षेप किया गया तो उन्नति की आशा करना एक दुराशा ही होगी।" इस बात की ओर भी संकेत किया गया कि गवर्नर-जनरल यथासम्भव स्थानीय संस्थाओं को पूर्ण कार्य-स्वतन्त्रता देने के लिये इच्छुक था।

रिपन ने दूसरा क़दम १८८२ में उठाया जब उसने अपना प्रसिद्ध प्रस्ताव जारी किया। इस प्रस्ताव में लार्ड रिपन ने इस बात को स्पष्ट कर दिया कि कार्य-कुशलता के दृष्टिकोण से यह आशा नहीं करनी चाहिये कि स्थानीय स्वराज्य की स्थापना से शासन अधिक अच्छा हो जायगा। रिपन के शब्दों में "मुख्यतः इस आयोजना को इसलिये नहीं सामने लाया गया है और इसका समर्थन किया जा रहा है कि शासन में उन्नति होगी वरन् यह प्रधानतः राजनैतिक तथा लोकप्रिय शिक्षा के रूप में वांछनीय है।" इस प्रकार स्थानीय संस्थाओं के स्थापित करने का प्रधान लक्ष्य भारतीयों को राजनैतिक शिक्षा देना था कार्य-क्षमता अथवा कार्य-कुशलता नहीं परन्तु लार्ड रिपन ने इस बात की ओर संकेत किया कि कुछ समय उपरान्त कार्य-कुशलता के बढ़ जाने की सम्भावना है। आरम्भ

में तो सफलता होनी ही है। सफलता तभी सम्भव है जब जनता को सरकारी अफ़सरों से प्रोत्साहन तथा सहायता मिलेगी।

लार्ड रिपन ने इस बात को घोषित कर दिया कि वह इस बात को मानने के लिये उद्यत न था कि भारतवर्ष के लोग स्वायत्त शासन की ओर से उदासीन थे और वह उसमें अभिरुचि लेने के लिये उद्यत न थे। वास्तव में ऐसे बहुत से बुद्धिमान् तथा सार्वजनिक हित के कार्यों में अभिरुचि लेने वाले लोगों की आवश्यकता थी जो लोक-हित के कार्यों में पूर्ण सहयोग करें और अपनी सेवायें दे सकें। लार्ड रिपन की यह धारणा थी कि देश में स्थानीय शासन की व्यवस्था का प्रयोग सन्तोषजनक रूप में नहीं किया गया है। प्राचीन व्यवस्था अत्यन्त नियन्त्रित थी और प्रत्यक्ष रूप में सरकारी अफ़सरों के हस्तक्षेप के कारण स्वयम् आयोजनार्थ तथा कार्य करने की भावना जागृत न हो सकी। अतएव वाइसराय ने इस बात पर अत्यधिक बल दिया कि इस बात की आवश्यकता है कि स्थानीय संस्थाओं के ग़ैर-सरकारी सदस्यों में और अधिक विश्वास किया जाय।

लोकल बोर्डों की स्थापना—प्रान्तीय सरकारों को यह आदेश दिया गया कि वे प्रत्येक जिले में लोकल बोर्डों की स्थापना करें और उनका जाल सा बिछा दें। लोकल बोर्डों का कार्य-क्षेत्र इतना छोटा रक्खा गया कि पूर्ण रूप से स्थानीय ज्ञान प्राप्त हो सके और स्थानीय हितों की रक्षा हो सके। ग़ैर-सरकारी सदस्यों की संख्या बहुत बड़ी रक्खी गई और यह निश्चित किया गया कि सरकारी सदस्यों की संख्या कुल सदस्यों की संख्या की एक तिहाई से अधिक न हो। जहाँ कहीं सम्भव हो लोकल बोर्डों में निर्वाचन-पद्धति का प्रयोग किया जाय और जितने अधिक स्थानों में निर्वाचन-पद्धति का प्रयोग सम्भव हो उतने अधिक स्थानों में किया जाय।

सरकारी नियन्त्रण—जहाँ तक सरकारी नियन्त्रण का सम्बन्ध था यह निश्चित किया गया कि यह नियन्त्रण बाहर से प्रयुक्त हो भीतर से नहीं। सरकार को चाहिये कि स्थानीय संस्थाओं को आज्ञा देने के स्थान पर उनके कार्यों का पुनरवलोकन तथा निरीक्षण करे और देखे कि उनका कार्य सुचारु रीति से सम्पादित हो रहा है अथवा नहीं। स्थानीय संस्थाओं के कुछ कार्यों को क़ानूनी स्वरूप देने के लिये सरकारी स्वीकृति आवश्यक कर देनी चाहिये। आरम्भ में तो ऐसे विषयों की संख्या जिन पर सरकारी स्वीकृति की आवश्यकता होगी अधिक परन्तु आगे चल कर इनकी यह संख्या घटा दी जायगी। सरकार को यह अधिकार दे दिया जायगा कि वह लोकल बोर्डों की कार्यवाही को पूर्ण रूप से रद्द कर सके और आपत्तिजनक स्थिति उत्पन्न हो जाने अथवा कर्तव्य की उपेक्षा करने पर अस्थायी रूप से उन्हें समाप्त भी कर दे। परन्तु इनसे इनका कार्य भारत सरकार की स्वीकृति से ही छीना जा सकता था। इस सम्बन्ध में लार्ड रिपन ने कहा था, "सरकारी एक्जीक्युटिव अफ़सर का यह साधारण कर्तव्य होना चाहिये कि वह विशेष कर आरम्भ से ही स्थानीय संस्थाओं की कार्य-विधि पर अपनी दृष्टि रक्खे, ऐसे विषयों की ओर संकेत करे जिन पर उनके विचार की आवश्यकता है, यदि वे अपने कर्तव्यों की उपेक्षा करते हैं तो उसकी ओर उनका ध्यान आकृष्ट करे और यदि वे अपने समुचित कार्य-क्षेत्र से आगे बढ़ने का प्रयत्न करते हैं अथवा अवैधानिक रीति से कार्य करते हैं तो सरकारी विरोध द्वारा उन्हें रोके।"

भारतीयों को प्रोत्साहन—भारतीयों को स्थानीय संस्थाओं का सदस्य बनने के लिये प्रोत्साहित किया गया और उन्हें अधिक से अधिक सरकारी सहायता के देने का निश्चय किया गया जिससे बड़ी कुशलतापूर्वक तथा अत्यन्त सफलता से वे अपने कर्तव्यों का पालन कर सकें।

उपरोक्त विवरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि लार्ड रिपन को जो स्थानीय स्वायत्त शासन के जन्मदाता की संज्ञा दी गई है वह सर्वथा उपयुक्त है।

शासन सम्बन्धी सुधार—लार्ड रिपन के शासन सम्बन्धी सुधार बहुत बड़ा महत्व रखते हैं। स्थानीय तथा नागरिक शासन में भारतीयों को अपना प्रबन्ध स्वयम् करने का अधिकार लार्ड रिपन ने ही प्रदान किया। भूमिकर सम्बन्धी शासन की छोटी इकाई 'तहसील' अथवा 'तालुका' से आरम्भ करके स्थानीय संस्थाओं की एक श्रृङ्खला सी स्थापित की गई। इन समितियों को ऐसे राजस्व का प्रबन्ध करने का अधिकार दे दिया गया जिनका प्रबन्ध प्रान्तीय सरकार के विचार में वे अत्यन्त उत्तमता के साथ कर सकती थीं। कहीं-कही समितियों को सार्वजनिक भवन, शिक्षा तथा अन्य ऐसे ही सार्वजनिक हित के कार्य सौंप दिये गये। जहाँ सम्भव था वहाँ इन सदस्यों के निर्वाचन की व्यवस्था की गई। निर्वाचन में केवल कर देने वाले ही व्यक्ति भाग ले सकते थे अधिकतर अभी सरकार द्वारा सदस्यों के मनोनीत किये जाने की प्रथा थी। नगरों की इन संस्थाओं को अपना अध्यक्ष चुनने का अधिकार दे दिया गया।

चुंगी तथा आय-कर सम्बन्धी सुधार—लार्ड रिपन के शासन काल में देश की आर्थिक स्थिति इस प्रकार की थी कि उसमें आन्तरिक सुधार अत्यन्त सुगमता से किये जा सकते थे। सर जान स्ट्रैची ने ऐसे श्लाघनीय आर्थिक सुधार किये थे कि उनके फलस्वरूप सरकारी आय में पर्याप्त वृद्धि हो गई थी और चार वर्ष तक पूर्ण रूप से आर्थिक सुदृढ़ता तथा सम्पन्नता बनी रही। भारतीय बजट में अब घाटे के स्थान पर बचत होने लगी थी परन्तु कालान्तर में आर्थिक स्थिति बिगड़ने लगी। दुर्भिक्ष, महामारी, विनिमय की दर के गिर जाने तथा सैनिक व्यय में अत्यधिक वृद्धि हो जाने के कारण राज-कोष रिक्त हो गया था। स्वतन्त्र व्यापार की नीति को जिसे नार्थब्रुक ने आरम्भ किया था और जिसका लिटन ने प्रतिपादन किया था कार्यान्वित करने का यह अत्यन्त सुअवसर था। फलतः लार्ड रिपन ने स्थिति तथा समय की अनुकूलता से लाभ उठा कर 'स्वतन्त्र व्यापार' की नीति का आलिंगन करके उसे कार्यान्वित करना आरम्भ किया। १८८२ में मूल्य पर पांच प्रतिशत आयात-कर उठा दिया गया। इसी वर्ष नमक कर भी कम कर दिया गया। यह बड़े दुख की बात है कि भूमि-कर में लार्ड रिपन कोई कमी न कर सका। १८८३ में गृह-सरकार ने भूमि के स्थायी प्रबन्ध की आयोजना को समाप्त कर दिया था। अब लार्ड रिपन ने यह प्रस्ताव रक्खा कि जिन प्रान्तों में भूमि सम्बन्धी जांच-पड़ताल हो चुकी थी। और लगान की दर निश्चित कर दी गई थी वहाँ पर सरकार को इस बात के लिये वचन-बद्ध होना चाहिये कि जब तक वस्तुओं के मूल्य में वृद्धि न होगी तब तक भूमि-कर में भी किसी प्रकार की वृद्धि न की जायगी। यद्यपि रिपन का यह प्रस्ताव अत्यन्त तर्क-संगत था परन्तु भारत-मन्त्री ने इसे स्वीकार नहीं किया।

राजस्व का विकेन्द्रीकरण—लार्ड रिपन ने राजस्व का विकेन्द्रीकरण भी किया। १८८२ में उसने सरकारी आय को तीन श्रेणियों में विभक्त कराया अर्थात् केन्द्रीय श्रेणी, विभाजित श्रेणी तथा प्रान्तीय श्रेणी। केन्द्रीय श्रेणी से प्राप्त आय केन्द्रीय सरकार को दी गई। प्रान्तों को उन विभागों से प्राप्त आय के देने की आयोजना की गई जो उनके नियन्त्रण में थे। विभाजित श्रेणी से प्राप्त धन-राशि को केन्द्रीय तथा प्रान्तीय सरकारों में बांट देने की व्यवस्था की गई। प्रान्तीय बजट की कमी को पूरा करने के लिये केन्द्रीय सरकार द्वारा प्राप्त भूमि-कर में से एक निश्चित धन-राशि के देने की आयोजना की गई। यह प्रबन्ध पांच वर्ष के लिये किया गया परन्तु १८८७, १८९२ तथा १८९७ में इसी व्यवस्था की पुनरावृत्ति की गई।

फैक्ट्री नियम—लार्ड रिपन को सर्व साधारण के हित की बड़ी चिन्ता रहती थी। उसने भारतीय कारखानों में कार्य करने वाले श्रमजीवियों की विपन्नावस्था पर ध्यान दिया। फलतः १८८१ में प्रथम फैक्ट्री ऐक्ट पारित हुआ जिसके द्वारा भारतीय कारखानों में कार्य करने वाले मजदूरों की दशा को सुधारने के लिये नियम बनाये गये। अब यह नियम बन गया कि ७ से १२ वर्ष की अवस्था तक के बालकों से ९ घंटे प्रति दिन से अधिक कार्य कारखानों में न लिया जाय, खतरनाक मशीनों से रक्षा के लिये उनके चारों ओर तार लगा दिया जाय और निरीक्षण के लिये इन्सपेक्टर नियुक्त किये जाने चाहिये।

शिक्षा सम्बन्धी सुधार—लार्ड रिपन की दृष्टि शिक्षा सुधार की ओर भी पड़ी। १८८२ में उसने विलियम विल्सन हण्टर की अध्यक्षता में बीस सदस्यों का एक कमीशन नियुक्त किया जो 'हण्टर कमीशन' के नाम से प्रसिद्ध है। इस कमीशन को यह आदेश दिया गया कि वह इस बात का पता लगाये कि १८५४ में वुड ने शिक्षा सम्बन्धी जो आदेश भेजा था वह कहाँ तक और किस प्रकार कार्यान्वित हो रहा है और शिक्षा की भावी रूप-रेखा क्या होनी चाहिये। हन्टर कमीशन ने अपनी रिपोर्ट में लिखा कि देश में प्राइमरी तथा माध्यमिक स्कूलों की सवथा उपेक्षा की गई है और विश्वविद्यालयों की शिक्षा की ओर अपेक्षाकृत अधिक ध्यान दिया गया है। फलतः कमीशन ने अपनी रिपोर्ट में इस बात की सिफ़ारिश की कि उच्च-कोटि की शिक्षा से राज्य की प्रत्यक्ष रूप से सहायता तथा प्रबन्ध हटा लेना चाहिये। यदि यह विश्वास हो जाय कि भारतवासी स्वयम् इस कार्य को कुशलतापूर्वक कर लेंगे तो उन्हें इसका प्रबन्ध करने के लिये पूर्ण स्वतन्त्रता दे दी जानी चाहिये। साधारण तथा विशेष धन-राशि की स्वीकृति कालेजों को दी जानी चाहिये। कालेजों के अध्यापकों द्वारा नागरिकों तथा मनुष्यों के कर्त्तव्यों पर कतिपय व्याख्यान देने की व्यवस्था होनी चाहिये। मुसल्मानों में शिक्षा के प्रसार के लिये कुछ विशेष प्रकार के प्रबन्ध कराने के लिये आयोजना की गई। प्राइमरी तथा माध्यमिक शिक्षा में उन्नति करने तथा ऐसी संस्थाओं की संख्या में वृद्धि करने के लिये नियम बनाये गये। सरकारी अफ़सरों द्वारा प्रारम्भिक शैक्षण संस्थाओं के निरीक्षण करने तथा उन पर नियंत्रण रखने की व्यवस्था की गई। प्रान्तीय सरकार की आय का एक निश्चित अंश शिक्षा के लिये अलग कर देने के लिये आयोजना की गई। सरकार ने हन्टर कमीशन की सिफ़ारिशों को स्वीकार कर लिया और उसे कार्यान्वित किया।

प्रेस की स्वतन्त्रता—लार्ड रिपन की उदारता तथा सहृदयता से भारतीय प्रेस को भी लाभ हुआ। लार्ड लिटन ने हिन्दुस्तानी प्रेसों पर प्रतिबन्ध लगा कर उनकी स्वतन्त्रता पर बहुत बड़ा कुठाराघात पहुँचाया था। लार्ड रिपन ने लार्ड लिटन के "वर्नाक्यूलर प्रेस ऐक्ट" को रद्द कर दिया। इस प्रकार भारतीय भाषाओं के समाचार पत्रों की स्वतन्त्रता प्राप्त हो गई और वे अनेक सामाजिक एवं राजनैतिक समस्याओं तथा प्रश्नों पर टीका-टिप्पणी कर सकते थे। परन्तु एलफिन्स्टन के इस कथन को सदैव स्मरण रखना चाहिये कि "स्वतन्त्र प्रेस तथा विदेशी शासन कभी साथ-साथ नहीं चलते।" भारत में समाचार-पत्रों को वास्तविक स्वतन्त्रता राष्ट्रीय स्वतन्त्रता के प्राप्त करने के उपरान्त ही प्राप्त हुई।

मनुष्य गणना—लार्ड रिपन ने जन-गणना का भी प्रबन्ध कराया। १८८१ में काश्मीर तथा नैपाल को छोड़ कर देश भर की जन-गणना कराई गई। इसमें उनकी जाति, धर्म, शिक्षा, भाषा, व्यवसाय आदि सभी बातों का उल्लेख किया गया। इसके बाद से हर दसवें वर्ष जन-गणना होने लगी। इस जन-गणना की व्यवस्था से अनेक ज्ञातव्य बातों का बोध होने लगा।

इण्डियन सिविल सर्विस—लार्ड रिपन के शासन काल में इण्डियन सिविल सर्विस में प्रविष्ट होने के दो मार्ग थे। एक तो लार्ड लिटन के बनाये हुये नियमों द्वारा नामजदगी से और दूसरा सिविल सर्विस की परीक्षा द्वारा जो इङ्गलैण्ड में हुआ करती थी। जो व्यक्ति सरकार द्वारा मनोनीत किये जाते थे उनकी नियुक्ति के समय शिक्षा तथा योग्यता की अपेक्षा सामाजिक पद पर अधिक ध्यान दिया जाता था। इस प्रकार मध्यम श्रेणी के उच्च-शिक्षा प्राप्त लोगों के साथ बड़ा अन्याय होता था। लार्ड रिपन को यह अन्यायपूर्ण व्यवस्था पसन्द न थी और वह इसे बदलना चाहता था। परीक्षा के लिये पहिले २१ वर्ष की अवस्था का नियम था परन्तु लार्ड लिटन के शासन काल में १६ वर्ष का नियम कर दिया गया था। यह परिवर्तन भारतीयों को परीक्षा में बैठने से वंचित करने के लिये किया गया था। लार्ड रिपन को भारतीयों के साथ बड़ी सहानुभूति थी और वह फिर २१ वर्ष का नियम बनाना चाहता था। उसकी यह भी इच्छा थी कि सिविल सर्विस की परीक्षा भारत में भी हुआ करे परन्तु उसकी पूरी कौंसिल ने उसका घोर विरोध किया और वह अपने उद्देश्य में सफल न हो सका।

अन्य कार्य—लार्ड रिपन के शासन काल में कुछ और महत्वपूर्ण घटनायें घटी। इनमें से एक यह थी कि भारत से एक सेना मिश्र भेजी गई। मिश्र के अरबी पाशा ने फ्रांस तथा इङ्गलैण्ड के द्वैध नियन्त्रण के विरुद्ध विद्रोह का झण्डा खड़ा कर दिया था। जब भारत से भेजी हुई सेना मिश्र से वापस आई तो बम्बई में उसका बड़ा स्वागत किया गया।

लार्ड रिपन के शासन काल की एक अन्य महत्वपूर्ण घटना यह थी कि कनाट के ड्यूक एच. आर. एच. १८८४ ई० में भारत आये। वे मेरठ में डिवीजनल कमान्डर नियुक्त किये गये थे। बाद में वे बम्बई के कमाण्डर-इन-चीफ नियुक्त किये गये।

लोक-सेवा-विभाग (Public Works Department) में भी रिपन के शासन काल में एक महत्वपूर्ण कार्य किया गया। अटक में सिन्ध नदी पर एक उत्तम पुल का निर्माण किया गया।

इलबर्ट बिल—लार्ड रिपन बड़ा ही उदार तथा निष्पक्ष वाइसराय था। जाति गत भेद-भाव से उसे घोर घृणा थी और वह महारानी विक्टोरिया की घोषणा की वास्तविकता को चरितार्थ करना चाहता था १८८३ में भारत सरकार के समक्ष जाति-भेद की समस्या उपस्थित हो गई। १८७३ में जाब्ता फ़ौजदारी (Criminal Procedure Code) के अन्तर्गत यह नियम बनाया गया था कि यूरोपियन लोगों के मुकदमे केवल यूरोपियन न्यायाधीश ही कर सकते थे परन्तु प्रेसीडेन्सी नगरों अर्थात् बम्बई, कलकत्ता तथा मद्रास में यह नियम लागू नहीं होता था। १८८३ में कुछ भारतवासी मैजिस्ट्रेट अथवा सेशन्स जज बन सकते थे और यह बात अत्यन्त अन्यायपूर्ण प्रतीत होती थी कि उनको वह अधिकार प्राप्त न हो जो उनके यूरोपियन साथियों को प्राप्त थे। फलतः भारत सरकार ने "जाति-भेद पर आश्रित इस भेद-भाव' को मिटाने का निश्चय किया। सी. पी. इलबर्ट ने जो उन दिनों गवर्नर-जनरल की कौंसिल के कानूनी सदस्य थे इस आशय का एक बिल तैयार किया जो इलबर्ट बिल के नाम से प्रसिद्ध है। यद्यपि इस बिल द्वारा प्रस्तावित परिवर्तन से कतिपय भारतीयों पर ही प्रभाव पड़ता था और यूरोपियनों के मुकदमे भारतीयों द्वारा प्रेसीडेन्सी नगरों में होने से अब तक कोई बुराई नहीं हुई थी फिर भी भारत में रहनेवाले यूरोपियनों में बड़ी सनसनी फैल गई और चारों ओर से विरोध की गर्जना ध्वनित होने लगी। भारतीय लोकमत स्वभावतः बिल के पक्ष में था।

अचिरात् शत्रुता तथा दुर्भावना का वातावरण उपस्थित हो गया। न केवल भारत में निवास करने वाले यूरोपियनों ने वरन् सभी सिविल सर्वस के आदमियों ने बिल का घोर विरोध किया। लार्ड रिपन को हर प्रकार से अपमानित करने का प्रयत्न किया गया। उसके देशवासियों ने एक प्रकार से उसका बहिष्कार कर दिया और सरकारी पदाधिकारियों को छोड़ कर अन्य लोगों ने उससे मिलना जुलना बन्द कर दिया। अन्ततोगत्वा बिल के विरोधियों की ही विजय हुई और गवर्नर-जनरल को नत-मस्तक होना पड़ा। विरोध के झंझावात के उपरान्त यह निश्चय हो पाया कि प्रत्येक यूरोपियन अपराधी को जो किसी जिलाधीश अथवा सेशन्स जज के समक्ष उपस्थित किया जाय चाहे वह न्यायाधीश भारतीय हो अथवा यूरोपियन इस बात का अधिकार है कि वह अपने अभियोग का निर्णय करने के लिये जूरी अथवा पंचों की माँग कर सकता है जिनमें से आधे या तो यूरोप निवासी हों या अमेरिकन हों। चूँकि भारतवासियों को ऐसी माँग करने का अधिकार नहीं दिया गया था अतएव यूरोपियनों की स्थिति उनकी अपेक्षा अधिक अच्छी थी। इस प्रकार न्याय की दृष्टि में जाति-भेद मिटाने का लार्ड रिपन का प्रयत्न सर्वथा निष्फल सिद्ध हुआ। यद्यपि इस बिल के फलस्वरूप अपने देशवासियों में रिपन की लोक-प्रियता कम हो गई परन्तु भारतवासियों में उसकी लोक-प्रियता बहुत बढ़ गई। भारतवासियों ने जो आदर-सम्मान और श्रद्धाञ्जलि लार्ड रिपन को अर्पित की वह भारत के अन्य वाइसरायों को सर्वथा दुर्लभ थी। १८८४ में जब त्याग-पत्र देकर उसने इङ्गलैण्ड के लिये प्रस्थान किया तो मार्ग में बम्बई तक भारतवासियों ने बहुत बड़ी संख्या में एकत्रित होकर उसका अभिनन्दन किया और आज भी भारतवासी उसे आदर तथा श्रद्धा के साथ स्मरण करते हैं।

लार्ड रिपन का चरित्र तथा उसके कार्यों का मूल्यांकन— यद्यपि लार्ड रिपन साधारण योग्यता का व्यक्ति था परन्तु उसका दृष्टिकोण बड़ा ही व्यापक तथा उदार था। वह अत्यन्त शान्ति-प्रिय तथा सुधारवादी वाइसराय था और प्रजा के हित को वह सर्वदा सर्वोपरि रखता था। इण्डिया कौंसिल के हस्तक्षेप को वह पसन्द नहीं करता था। उसका कहना था कि "भारतवर्ष को लिबरल सरकार से लाभ ही क्या हो सकता है यदि यह हाथ पैर बांध कर कुछ ऐसे वृद्ध-जनों को सौंप दिया जाय जिनकी शक्तियाँ वृद्धावस्था से नष्ट हो गई हैं, जिन्हें, बिना किसी उत्तरदायित्व के अच्छे वेतन मिलते हैं और जिनको उन लोगों के प्रस्तावों की आलोचना करने तथा उनके कार्य में बाधा उत्पन्न करने में आनन्द आता है जिन्हें भारतवर्ष की वास्तविक दशा का पूर्ण ज्ञान है और जिनके ऊपर देश के अच्छा शासन करने का पूर्ण उत्तरदायित्व है।" भारतवर्ष की आय से इङ्गलैण्ड का लाभ उठाना वह सर्वथा अनुचित समझता था। १८८२ में मिश्र में विद्रोह शान्त करने के लिये जो सेना भेजी गई थी। उसका व्यय प्रधान-मन्त्री ग्लैडस्टन भारतीय कोष से लेना चाहता था क्योंकि उसके विचार में इङ्गलैण्ड पर पर्याप्त बोझ था और मिश्र को शान्त रखने से स्वेज की नहर सुरक्षित रह सकती थी जिसके द्वारा व्यापार करके भारत को भी लाभ होता था। लार्ड रिपन ने इसका विरोध किया। उसने भारत-मन्त्री को लिखा कि इङ्गलैण्ड में पार्लियामेंट है। अतएव अधिक धन माँगने में भय लगता है। भारतवर्ष पर "अनावश्यक बोझ" लाद देने से कोई पूछने वाला नहीं है। इसी से ऐसा किया जा रहा है। मेरे विचार में यह न्याय नहीं वरन् मन्त्रिमण्डल की सरासर जबरदस्ती है। लिबरल दल का नेता होकर ग्लैडस्टन इसका समर्थन कर रहा था लार्ड रिपन इससे बड़ा दुखी था। अन्त में उसकी बात मान कर इङ्गलैण्ड की सरकार ने आधा व्यय देना स्वीकार किया। भारतवर्ष की रक्षा के सम्बन्ध में उसका विचार था कि रूस के आक्रमण का भय करना सर्वथा निर्मूल है। यह बात सत्य है कि जनता में असन्तोष

उत्पन्न हो जाने पर रूसी उससे लाभ उठा कर भारतवासियों को अंग्रेजों के विरुद्ध भड़का सकते हैं परन्तु इसको दबाने का सबसे अच्छा उपाय यह है कि देश का शासन सुचारु रीति से चलाया जाय और देश को समृद्धिशाली तथा धन-सम्पन्न बनाया जाय। देश भर में उन्नति के चिह्न दृष्टिगोचर हो रहे हैं और जनता के आचार-विचारों में बड़ा परिवर्तन हो रहा है। इसमें सन्देह नहीं कि स्थिति अत्यन्त जटिल है परन्तु यदि बुद्धि तथा साहस से काम लिया जाय तो इससे बहुत कुछ लाभ हो सकता है। थोड़े दिनों के "न्याय तथा सभ्यतापूर्ण" शासन से हमारा प्रभाव जनता के हृदय पर स्थापित हो जायगा और उसका हम पर विश्वास तथा हमारे शासन में सन्तोष बढ़ जायगा। ऐसा करने से अफ़गानिस्तान की सीमाओं पर सेना रखने की अपेक्षा रूसियों के आक्रमण से भारतवर्ष की अधिक रक्षा की जा सकती है। लार्ड रिपन ने अपने शासन काल में यथाशक्ति भारतीयों का अधिक से अधिक कल्याण करने का प्रयत्न किया। प्रत्येक बात में वह भारतीयों का ध्यान रखता था। स्थानीय स्वराज्य की व्यवस्था को प्रोत्साहन देकर उसने भारतीयों को राजनैतिक शिक्षा देने का प्रयत्न किया। लिटन के वर्नाक्यूलर प्रेस ऐक्ट को समाप्त करके उसने भारतीयों को अपने मत प्रकट करने का साधन प्रदान किया। मैसूर के राजा को उसका राज्य लौटा कर रिपन ने अपनी उदारता तथा सहृदयता का परिचय दिया। शासन में वह किसी प्रकार का जाति-भेद पसन्द नहीं करता था। न्याय के क्षेत्र में जाति-भेद को दूर करने के लिये ही उसने इलबर्ट बिल की आयोजना करायी थी। शिक्षा की उन्नति की ओर उसने विशेष रूप से ध्यान दिया। श्रमजीवियों के लिये उसने भारत में प्रथम फैक्ट्री ऐक्ट पास कर समुचित व्यवस्था की। यह उसकी उदार नीति का परिणाम था कि १८८५ में इण्डियन नेशनल कांग्रेस की स्थापना हुई जिसने भारत को परतन्त्रता के बन्धन से उन्मुक्त करने का श्रेय प्राप्त किया। सारांश यह है कि लार्ड रिपन भारतीयों का सच्चा मित्र था। भारतीयों के लिये उसे अपने देशवासियों का कोप-भाजन बनना पड़ा था। रिपन के भारत से प्रस्थान करते समय भारतीयों ने अपनी कृतज्ञता का पूर्ण परिचय दिया। स्थान-स्थान पर उसे मान-पत्र प्रदान किये गये और मीलों तक लाखों व्यक्तियों ने पंक्ति लगाकर जय-ध्वनि से उसकी विदाई की। कुछ अंग्रेज इतिहासकारों के विचार में लार्ड रिपन में कोई विशेष योग्यता न थी। सम्भव है यह विचार ठीक हो परन्तु जैसा अर्सकाइन पेरी ने लिखा है, "उसमें दिल था जिसका भारतवासी सबसे अधिक आदर करते हैं।" सर कालविन का विश्वास था कि लार्ड रिपन का भारतवासियों के हृदय पर इतना अधिक प्रभाव था कि वह जो चाहे कर सकता था। पंजाब के सर साहबदयाल ने ठीक कहा था कि लार्ड रिपन सहस्रों सैनिकों के बराबर है क्योंकि भारतवासियों का उस पर विश्वास है और वे उसको चाहते हैं। यदि भारतवर्ष में कभी अंग्रेजों पर विपत्ति पड़े तो उन्हें लार्ड रिपन को भेजना चाहिये।

अध्याय ६

लार्ड डफ़रिन (१८८४-१८८८)

लार्ड डफरिन का परिचय—डफ़रिन का जन्म १८२६ ई० में हुआ था १८४१ ई० में अपने पिता की मृत्यु के उपरान्त वह बैरन हो गया। १८५६ में उसने अपनी "लेटर्स फ्राम हाई लेटीच्यूड्स" नामक पुस्तक को प्रकाशित किया। १८६० में वह सीरिया में धार्मिक हत्याकाण्ड की जाँच-पड़ताल करने के लिये भेजा गया। १८६४ से १८६६ तक लार्ड लारेन्स के वाइसरायित्व काल में वह भारत का अन्डर-सेक्रेटरी रह चुका था। १८६८ से १८७२ तक वह ब्रिटिश मन्त्रिमण्डल का सदस्य रह चुका था। १८७१ में वह अर्ल की उपाधि से विभूषित किया गया। १८७२ से १८७८ तक उसे कनाडा का गवर्नर-जनरल होने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। इस प्रकार उसने शासन सम्बन्धी प्रचुर अनुभव प्राप्त कर लिया। १८७९-८१ में वह ब्रिटिश राजदूत के रूप में सेन्ट पीटर्सबर्ग में रहा और इसके बाद कुस्तुन्तुनिया में इसी हैसियत से भेजा गया। सेन्ट पीटर्सबर्ग तथा कुस्तुन्तुनिया में उसने "पूर्वी समस्या" पर इङ्गलैण्ड का प्रतिनिधित्व किया। मिश्र में वह ब्रिटिश कमिश्नर नियुक्त किया गया था जहाँ पर अंग्रेजों के निरीक्षण में शान्ति तथा सुव्यवस्था स्थापित करना इसका प्रधान कार्य था। लार्ड रिपन के त्याग-पत्र दे देने पर दिसम्बर १८८४ में वह भारत का गवर्नर-जनरल तथा वाइसराय नियुक्त कर दिया गया। इस पद के लिये उसको पर्याप्त राजनैतिक तथा कूटनीतिक अनुभव प्राप्त था। उसको रूस तथा संसार की सबसे मुख्य मुसलमान शक्ति की आन्तरिक दशा और उनको राजनीतिक एवं कूटनीतिक चालों का पर्याप्त ज्ञान था। लार्ड डफ़रिन की योग्यता के सम्बन्ध में सर अलफ्रेड लायल ने लिखा है, "भारतवर्ष में जितने गवर्नर-जनरल आये उनमें से कोई भी अपने कार्य के लिये इतना अनुभवयुक्त न था जितना लार्ड डफ़रिन। इसके पहिले वह जिन पदों पर रह चुका था वे इस प्रकार के थे मानों भारत के वाइसराय के पद के लिये तैयारी करने की शिक्षा देने के ध्येय से वह उन पदों पर रक्खा गया था। इससे अच्छा चुनाव मुश्किल से किया जा सकता था। सीरिया में और बहुत बाद में टर्की में उसने एशिया के शासकों तथा अफ़सरों के साथ व्यवहार करने की कठिन कला को सीखा था। उसने उनकी दुर्बलता तथा उनकी शक्ति का अध्ययन कर लिया था। सेन्ट पीटर्सबर्ग तथा कान्सटेन्टिनोपुल में उसने पूर्वी समस्या पर ब्रिटिश हित का प्रतिनिधित्व किया था और मध्य-एशिया के विस्तृत क्षेत्र से सम्बन्धित सब समस्याओं से परिचित हो गया था। अन्त में मिश्र में उसे वही कार्य सौंपा गया जो भारत में अंग्रेजी सरकार को निरन्तर करना पड़ा था। यह छिन्न-भिन्न पूर्वीय राज्य का यूरोपीय निरीक्षण में पुनर्निर्माण तथा सुधार का कार्य था।' अल्फ्रेड लायल के इस कथन से यह स्पष्ट हो जाता है कि भारतवर्ष की परराष्ट्र नीति के सफलतापूर्वक संचालित करने को लार्ड डफ़रिन में अनुपूर्व योग्यता तथा क्षमता थी परन्तु भारत की आन्तरिक समस्याओं का उसे बिल्कुल ज्ञान न था और न उनके सुलझाने की वह क्षमता रखता था। फलतः आन्तरिक शासन को वह अपने सहकारियों तथा सेक्रेटरियों के ऊपर छोड़ देता था।

डफरिन की नीति—लार्ड डफ़रिन एक उच्च-कोटि का कूटनीतिज्ञ था। उसका

व्यक्तित्व लार्ड मेयो की भाँति अत्यन्त आकर्षक था। वह अत्यन्त व्यवहार-कुशल तथा सफल सुवक्ता था। अतएव भारत में इलबर्ट बिल के कारण उत्पन्न कटुता को दूर करने के लिये वह सर्वथा उपयुक्त था। उसने इस गम्भीर परिस्थिति का सामना बड़े धैर्य, चातुर्य एवं प्रसन्न मन से किया परन्तु उसने इस बात का निश्चय कर लिया था कि व्यक्तिगत तथा सामाजिक अधिकारों के किसी भी प्रश्न को राजनैतिक समस्या न बनने दिया जायगा। लार्ड डफरिन "संसार का आदमी" था और उसे संसार का अनुभव प्राप्त था। भारत के आन्तरिक विषयों में उसने अकर्मण्यता की नीति का अनुसरण किया। फलतः जाति-भेद का तूफ़ान स्वतः शान्त हो गया। वाइसराय का पद ग्रहण करने के समय डफ़रिन वृद्ध हो चला था। अतएव वह नवीन आयोजनाओं का प्रतिपादन करना नहीं चाहता था। वह शासन की मशीन पर धीरे से हाथ रक्खे रहना चाहता था। अपने लम्बे राजनीतिक अनुभव के आधार पर उसने अपनी शासन सम्बन्धी समस्याओं को सम्भाला। भारत की परराष्ट्रनीति में उसकी विशेष अभिरुचि थी और इसको उसने बड़ी योग्यता तथा कुशलता के साथ सञ्चालित किया। उसे उत्तरी-पश्चिमी सीमा प्रान्त तथा सुदूर पूर्वी सीमा पर ब्रह्मा की समस्या का सामना करना पड़ा।

रूस की पूर्व में प्रगति—रूस की प्रगति से भयभीत होकर ही लार्ड लिटन ने अग्रगामी नीति का आलिंगन किया था। लिटन के उत्तराधिकारी लार्ड रिपन ने शान्ति की नीति को ग्रहण किया और अग्रगामी नीति का परित्याग कर दिया। रूस का विस्तार निरन्तर पूर्व की ओर बढ़ता गया। वह अफ़ग़ानिस्तान की उत्तरी चौकियों की ओर अग्रसर हो रहे थे। १८७६ में खोकन्द के राज्य पर अपना अधिकार स्थापित कर रूसियों ने उसे अपने साम्राज्य में सम्मिलित कर लिया था। १८७९ ई० में रूसी जनरल लोमकिन का टेक्के टर्कोमन नामक एक अत्यन्त युद्ध-प्रिय तथा रण-कुशल जाति से संघर्ष हुआ। पहिले तो इस युद्ध में रूसी जनरल बुरी तरह परास्त हुआ परन्तु दो वर्ष उपरान्त उसने अपनी पराजय का बदला ले लिया और उन्हें विनष्ट कर उनके प्रान्तों को रूसी साम्राज्य का अंग बना लिया। १८८४ में रूसियों ने मर्व पर जो अफगानिस्तान की सीमा से केवल १५० मील दूर स्थित था अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया। रूस की इस प्रगति तथा आयोजनाओं से अंग्रेज आतङ्कित हो उठे और अब वे अत्यन्त चिन्तित हो उठे। इङ्गलैण्ड में इस स्थान को अत्यन्त महत्वपूर्ण समझा गया और इसके रूस के अधिकार में चले जाने से बड़ी सनसनी फैल गई। संयोगवश यह अफ़ग़ानिस्तान तथा भारत सरकार दोनों के लिये हितकर सिद्ध हुआ क्योंकि इसके फल-स्वरूप रूस तथा इंगलैण्ड में अपेक्षाकृत अच्छा समझौता हो गया और अफगानिस्तान की सीमा भी पहिले से अधिक सुनिश्चित हो गई। परन्तु एक स्थिति ऐसी उत्पन्न हो गई थी कि ऐसा प्रतीत होता था कि युद्ध हुये बिना न रहेगा। अफ़गानिस्तान की उत्तरी सीमा को निश्चित रूप से निर्धारित करने के लिये लार्ड रिपन की सरकार ने पहिले ही से संयुक्त कमीशन के प्रस्ताव को स्वीकार कर लिया था और लार्ड डफरिन के वाइसराय बनने के एक महीना पूर्व दोनों देशों के कमिश्नरों की बैठक अक्टूबर के महीने में फारस की सीमा पर सारखास नामक स्थान में हो चुकी थी। हरीरूद तथा आक्सस नदियों के बीच की सीमा के लिये झगड़ा चल रहा था। सर पीटर लम्सडन की अध्यक्षता में ब्रिटिश कमिश्नर जब वहाँ पहुँचे तब उन्हें सम्मेलन का वातावरण बदला हुआ मिला। रूस तथा अफगानिस्तान दोनों ही "अधिकार सच्चा तथा झगड़ा मिथ्या" वाली कहावत के अनुसार विवाद-ग्रस्त प्रान्त के यथासम्भव भाग पर अपना-अपना अधिकार जमाने में प्रयत्नशील थे और प्रत्येक स्थान पर अपनी-अपनी चौकियों को आगे बढ़ा रहे थे।

पञ्जदेह की समस्या—अफगानिस्तान तथा रूस के बीच सबसे बड़ा झगड़ा

पञ्जदेह के लिये था। पञ्जदेह एक गांव तथा जिला था जो मर्व से लगभग १०० मील दूर सीधे दक्षिण की ओर स्थित था और जहाँ पर मुर्गाब तथा कुष्क नदियों का संगम है। झगड़े का निर्णय करने के लिये जो कमिश्नर नियुक्त किये गये थे वे लन्दन तथा सेन्ट पीटर्सबर्ग के परराष्ट्र विभागों के अधीन थे। अतएव भारत सरकार अथवा तुर्किस्तान के गवर्नर-जनरल का उन पर कोई नियंत्रण न था। इंगलैंड की सरकार अभी तक अफगानिस्तान की माँग के औचित्य का निश्चय नहीं कर पाई थी और लन्दन में स्थित रूसी राजदूत से अब भी इस सम्बन्ध में बात-चीत कर रही थी। लार्ड डफरिन की भी स्थिति कुछ विकट ही थी। उसे भारत-सरकार के हितों के साथ-साथ अब्दुर्रहमान के हित का भी ध्यान रखना पड़ता था। अब्दुर्रहमान की स्थिति भी अत्यन्त गम्भीर थी। उसे रूस तथा ब्रिटेन दोनों ही विदेशी शक्तियों के उद्देश्यों तथा कार्यों पर विश्वास नहीं होता था। इस अविश्वास के लिये उसे दोषी भी नहीं ठहराया जा सकता। इस सम्बन्ध में सर अल्फ्रेड लायल ने ठीक ही लिखा है कि अब्दुरहमान को "जिस महान् अविश्वास के साथ वह प्रायः दो विदेशी राज्यों के, जो उसकी सीमा के निर्धारित करने के कष्ट से उसे उन्मुक्त कर रहे थे, कार्यों तथा उद्देश्यों को देखता था उसके लिये उसे अधिक दोषी नहीं ठहराया जा सकता।" रूसी जनरल कोमरौफ जो बड़ा ही अशिष्ट तथा उग्र-प्रकृति का था पञ्जदेह की ओर बढ़ा। वहाँ पहुँचने पर उसे ज्ञात हुआ कि अफगान सेना ने पहिले से ही उसे अपने अधिकार में कर लिये है। अभी तक उपलब्ध प्रमाणों से यही सिद्ध होता है कि पञ्जदेह अफगान अमीर के राज्य में सम्मिलित था। पञ्जदेह को अफगान सेना के अधिकृत देख कर कोमरौफ के क्रोध की सीमा न रही। उसने अफगान सैनिकों को नगर छोड़ कर चले जाने के लिये कहा और जब अफगान सैनिकों ने उसकी आज्ञा का पालन नहीं किया तब उसने उन पर आक्रमण कर दिया। रूसियों ने अफगानों को महती क्षति पहुँचाने के उपरान्त उन्हें नगर से निष्कासित कर दिया। अब स्थिति अत्यन्त गम्भीर तथा संकटापन्न हो गई थी। एक ओर रूस अपने अधिकारों तथा अपने अधिकृत प्रदेशों की सुरक्षा के लिये कैस्पियन सागर के उस पार से अफगानिस्तान की ओर अपनी सेना भेज रहा था और दूसरी ओर भारत सरकार क्वेटा के निकट एक विशाल सेना एकत्रित कर रहा था जिससे युद्ध आरम्भ हो जाने पर वह रूस के विरुद्ध शीघ्रता तथा सुगमता के साथ अपनी सेनायें भेज सके। युद्ध की सम्भावना अत्यन्त द्रुतगति से बढ़ती जा रही थी क्योंकि हिरात पञ्जदेह से केवल १२० मील दक्षिण की ओर स्थित था। इस प्रकार एक अत्यन्त भयङ्कर एवं विनाशकारी युद्ध की सामग्री प्रस्तुत हो रही थी और ऐसा प्रतीत होता था कि रूस तथा ब्रिटेन में वह भीषण संघर्ष अवश्यम्भावी हो गया है जिसकी भविष्यवाणी लार्ड लारेन्स ने अफगान सीमा के साथ हस्तक्षेप करने के दण्ड स्वरूप की थी। जिस समय पञ्जदेह की दुर्घटना का समाचार इंगलैण्ड पहुँचा उस समय किसी को इस बात में सन्देह न था कि अब रूस तथा इंगलैण्ड में युद्ध अनिवार्य हो गया है। सम्पूर्ण देश में सनसनी फैल गई। अनुदार दल कठोर कार्यवाही करने की चेतावनी देने लगा। उदार दलीय प्रधान-मन्त्री ग्लैडस्टन भी स्थिति की गम्भीरता को समझ गया था और युद्ध-व्यय के लिये लगभग एक करोड़ रुपये की स्वीकृति पार्लियामेण्ट से ली थी।

इस गम्भीर स्थिति में लार्ड डफरिन तथा अब्दुर्रहमान ने बड़ी बुद्धिमानी तथा चतुरता से काम लिया और युद्ध की सम्भावना को समाप्त कर दिया। लार्ड डफरिन एक उच्च-कोटि का कूटनीतिज्ञ तथा राजनीतिज्ञ था और मध्य-एशिया की स्थिति का उसे यथेष्ट ज्ञान था। अब्दुर्रहमान भी बड़ा ही बुद्धिमान् तथा दूरदर्शी शासक था। सौभाग्यवश पञ्जदेह के झगड़े के समय अब्दुर्रहमान रावलपिण्डी में लार्ड डफरिन से भेंट करने आया था। अब्दुर्रहमान इस सीमा सम्बन्धी झगड़े को कोई विशेष महत्त्व नहीं देता था। अल्फ्रेड लायल के शब्दों में "अफगान लोग सीमावर्ती साधारण से झगड़े को ऐसा कोई विशेष

महत्व नहीं देते कि जिसके लिये अनावश्यक आपत्ति में पड़ा जाय।" जब पञ्जदेह के सम्बन्ध में वार्तालाप आरम्भ हुआ तो अमीर ने वाइसराय से स्पष्ट रूप में निःसंकोच बतला दिया कि उसे निश्चित रूप से इस बात का ज्ञान नहीं था कि पञ्जदेह उसके राज्य के अन्तर्गत था अथवा बाहर और न उस पर आधिपत्य स्थापित करने की उसकी अभिलाषा थी और यदि जुलफिकार जो लगभग ८५ मील पच्छिम की ओर स्थित था उसे मिल जाय तो वह पञ्जदेह की बिलकुल चिन्ता न करेगा। इस प्रकार अब्दुर्रहमान के धैर्य तथा सन्तोष ने स्थिति को सभाल लिया और जो आर्थिक सहायता अंग्रेजों ने उसे आज तक पहुंचाई थी उस से कहीं अधिक लाभ उसने उनका इस समय कर दिया। एक कुशल एवं दूरदर्शी राजनीतिज्ञ की भांति रूस तथा बृटेन के विनाशकारी युद्ध से उसने स्वदेश की रक्षा कर ली और उसे नष्ट-भ्रष्ट होने से बचा लिया क्योंकि युद्ध छिड़ जाने से अफगानिस्तान निस्सन्देह रण-स्थल बन गया होता। उसका कहना था कि "अफगानिस्तान चक्की के दो पाटों के बीच में था और वह पहिले ही पिस कर चूर्ण हो चुका था।" अपनी कथा में भी उसने कहा था, "मेरा देश एक दीन बकरी की भांति है जिस पर शेर तथा भालू दोनों ने दृष्टि लगा रक्खी है और सर्व-शक्तिमान् उद्धारक की रक्षा तथा सहायता के बिना शिकार अधिक काल तक सुरक्षित रह नहीं सकता।

लार्ड डफरिन एक अत्यन्त कुशल कूटनीतिज्ञ था। उसने अब्दुर्रहमान की नीति का समर्थन किया और इंगलैण्ड की सरकार को सूचित किया कि पञ्जदेह को युद्ध का कारण बनाने की कोई आवश्यकता नहीं है और सीमा कमीशन को अपना कार्य आरम्भ करने का सुझाव रक्खा। फलतः यद्यपि पीटर लम्सडन को वापस बुला लिया गया था फिर भी वेस्ट रिजवे ने अपना कार्य संचालित रक्खा। काबुल, शिमला तथा लन्दन के बीच बहुत दिनों तक पत्र-व्यवहार होने के उपरान्त जुलाई १८८७ में अफगानिस्तान तथा रूस का सीमा सम्बन्धी झगड़ा समाप्त हो गया और दोनों देशों के बीच सीमा-रेखा अन्तिम रूप से निर्धारित कर दी गई जिसे दोनों देशों ने एक समझौते पर हस्ताक्षर करके स्वीकार कर लिया। अफगानिस्तान तथा रूस के बीच का यह समझौता अत्यन्त महत्वपूर्ण था। रिजवे के कथनानुसार अमीर को न तो एक पैसा लगान, न एक आदमी और न एक एकड़ भूमि त्यागनी पड़ी। नई सीमा के निर्धारित हो जाने से हिरात की ओर रूस की प्रगति पर प्रतिबन्ध लग गया। हिरात उत्तर-पश्चिम की ओर से भारत की कुञ्जी माना जाता है। परन्तु पूर्व में पामीर पठार की ओर रूसियों की प्रगति निरन्तर बढ़ती रही और उनको रोकने के लिये १८९५ में इगलैण्ड तथा रूस में फिर समझौता हुआ। इस प्रकार हिन्दूकुश पर्वत तथा आक्सस नदी पर सीमा-स्तम्भ खड़े करके रूस तथा इगलैण्ड ने एशिया में अपने बढ़ते साम्राज्यों को एक दूसरे से टकराने से बचाने का प्रयत्न किया।

यद्यपि लार्ड डफरिन तथा अमीर अब्दुर्रहमान की राजनीतिज्ञता के फल-स्वरूप युद्ध न हुआ परन्तु इन घटनाओं का प्रभाव भारत के राजकोष पर पड़े बिना न रहा। युद्ध की सम्भावित अनिवार्यता के कारण अत्यन्त द्रुतगति से उसके लिये तैयारियाँ की गई थीं और भारतीय राजकोष को लगभग २० लाख की हानि सहन करनी पड़ी थी। आर्थिक क्षति की समाप्ति यहीं नहीं हुई। इसके पश्चात् भावी सकट का सामना करने के लिये भारतीय तथा यूरोपियन दोनों ही सेनाओं की सख्या में वृद्धि करनी पड़ी जिसके फल-स्वरूप व्यय में और अधिक वृद्धि हो गई। देशी नरेशों ने भी युद्ध की आशंका बढ़ जाने के कारण अपनी-अपनी सेनायें बृटिश सरकार की सेवा में अर्पित कर दी थीं। फलतः १८८९ में साम्राज्य-सेवा सेना (Imperial Service Troops) की स्थापना की गई। इस सेना की भर्ती संरक्षित देशी राज्यों में होती थी, इसके अफसर भी भारतीय होते थे परन्तु निरीक्षण अंग्रेज सेनापतियों के हाथ में था।

लार्ड डफरिन के व्यक्तित्व में एक अलौकिक आकर्षण था। १८८५ में जब अब्दुर्रहमान

रावलपिण्डी में वाइसराय से भेंट करने आया था तो वह उसके चुम्बकीय व्यक्तित्व, उसकी कूटनीतिज्ञता एव राजनीतिज्ञता, उसकी नीति-पटुता तथा वाक्-चातुर्य से अत्यन्त प्रभावित हुआ था परन्तु वह अपने देश को अंग्रेज अफसरों के हस्तक्षेप से उन्मुक्त रखना चाहता था और अपने इस निश्चय में वह उतना ही दृढ़ तथा अविचलित था जितना शेरअली। सम्मेलन के समय लार्ड डफरिन ने हिरात की निर्बल किलेबन्दी की बड़ी आलोचना की और अमीर के सामने यह प्रस्ताव रक्खा कि उसे सुदृढ़ बनाने के लिये अंग्रेज इन्जीनियर भेजे जायँ। अमीर इस प्रस्ताव के स्वीकार करने के दुष्परिणामों को समझता था। वह जानता था कि इससे उसके देशवासियों के स्वाभिमान पर कुठाराघात पड़ेगा और वे ऐसा सोचेंगे कि उनकी स्वतन्त्रता पर आक्रमण हो रहा है। फलतः अब्दुर्रहमान ने वाइसराय के प्रस्ताव को स्वीकार करने में अपनी विवशता प्रकट की। लार्ड डफरिन बड़ा ही कुशल राजनीतिज्ञ था। वह अमीर के दृष्टिकोण तथा उसकी स्थिति से अविलम्ब अवगत हो गया और उसने अपने प्रस्ताव पर विशेष बल नहीं दिया क्योंकि वह जानता था कि अफगानों को अपनी स्वाधीनता प्राणों से भी अधिक प्रिय है और उसकी रक्षा के लिये वे अपना सर्वस्व निछावर कर देंगे परन्तु वाह्य हस्तक्षेप को वे कदापि सहन न कर सकेंगे। रावलपिण्डी का सम्मेलन अत्यन्त सफल सिद्ध हुआ। इस सम्मेलन में अमीर का जो आदर-सम्मान किया गया उससे वह अत्यन्त प्रसन्न हुआ। वह भारत की सैनिक शक्ति से अत्यधिक प्रभावित हुआ और वाइसराय के प्रति अपने हृदय में मैत्री की सद्भावना लेकर वह अपने देश को वापस लौट गया।

बर्मा का तीसरा युद्ध (१८८५-८६)—लार्ड डफरिन को भारत की पूर्वी सीमा की समस्या का भी सामना करना पड़ा। बृटिश सरकार ने अपनी साम्राज्यवादी नीति के अनुसार ब्रह्मा को भी हस्तगत करने का प्रयास किया था। ब्रह्मा का प्रथम युद्ध १८२६ में लार्ड एम्हर्स्ट के शासन काल में और द्वितीय युद्ध १८५२ में लार्ड डलहौजी के शासन काल में हुआ था। इन युद्धों के फल-स्वरूप अराकान, टनासिरम तथा पीगू को कम्पनी के साम्राज्य में सम्मिलित कर लिया गया था। लार्ड डफरिन के शासन काल में तृतीय युद्ध हुआ जिसके फल-स्वरूप सम्पूर्ण वर्मा पर विजय प्राप्त कर ली गई और उसे बृटिश साम्राज्य में सम्मिलित कर लिया गया। अब इस युद्ध का विस्तृत वर्णन कर देना आवश्यक है।

युद्ध के कारण—लार्ड डफरिन की साम्राज्यवादी नीति के फल-स्वरूप बर्मा का तीसरा युद्ध हुआ था। इस युद्ध के निम्न-लिखित प्रधान कारण बतलाये जाते हैं :—

(१) यद्यपि दक्षिणी ब्रह्मा बृटिश साम्राज्य का एक अंग बन गया था परन्तु उत्तरी ब्रह्मा अब भी स्वतन्त्र था। उत्तरी ब्रह्मा की यह स्वतन्त्रता अंग्रेजों की दृष्टि में खटक रही थी क्योंकि इससे उन्हें अनेक असुविधाओं का सामना करना पड़ता था। अतएव इस स्वतन्त्रता के समाप्त कर देने का डफरिन ने निश्चय कर लिया।

(२) अंग्रेज व्यापारियों के कारण ब्रह्मा निवासियों को बड़ी आर्थिक हानि उठानी पड़ती थी। अतएव अब वे अंग्रेजों को और अधिक व्यापारिक सुविधायें देने के लिये उद्यत न थे।

(३) १८७८ में थीवा ब्रह्मा का राजा हुआ। वह एक निर्दयी तथा निरंकुश शासक था। उसने ब्रिटिश राजदूत का उस प्रकार स्वागत नहीं किया, जिस प्रकार बृटिश सरकार को आशा थी। इस दुर्व्यवहार के कारण १८७९ में बृटिश सरकार ने अपने राजदूत को वापस बुला लिया।

(४) १८८२ में बृटिश सरकार ने थीवा के साथ नई सन्धि करने का प्रयत्न किया परन्तु उसका सारा प्रयत्न निष्फल सिद्ध हुआ। इसी समय रंगून तथा निम्न-ब्रह्मा के व्यापारी

थीबा के राज्य को अंग्रेजी साम्राज्य में सम्मिलित करने के लिये पृथ्वी-आकाश एक कर रहे थे।

(५) थीबा पर यह भी आरोप लगाया गया कि वह अयोग्य तथा निर्दयी शासक है और प्रजा पर भाँति-भाँति के अत्याचार करता है परन्तु वास्तव में ब्रह्मा पर आक्रमण करने का एक मात्र कारण अंग्रेज व्यापारियों के हित का साधन प्रतीत होता है।

(६) इसी समय थीबा ने जर्मनी, इटली और विशेषकर फ्रांस के साथ व्यापारिक सन्धि की बात-चीत आरम्भ की। यद्यपि थीबा एक स्वतन्त्र शासक होने के कारण किसी भी देश से बात-चीत तथा सन्धि कर सकता था परन्तु साम्राज्यवादी अंग्रेजी सरकार इसे सहन न कर सकी।

(७) १८८३ में ब्रह्मा का एक शिष्ट-मण्डल फ्रांस की राजधानी पेरिस गया था। इसके फल-स्वरूप १८८५ में एक फ्रांसीसी राजदूत ब्रह्मा की राजधानी मांडले गया। उसने मांडले में एक फ्रांसीसी बैंक के स्थापित करने की आयोजना की। यद्यपि फ्रांसीसी सरकार ने बैंक आदि की आयोजना के सम्बन्ध में अपनी अनभिज्ञता प्रकट की और अपने दूत को वापस बुला लिया परन्तु अंग्रेजी सरकार को इससे सन्तोष न हुआ।

(८) इसी समय ब्रह्मा की सरकार ने एक अंग्रेज व्यापारिक कम्पनी पर दण्ड के रूप में जुर्माना कर दिया। कहा जाता है कि लार्ड डफ़रिन ने इस मामले की जाँच करने के लिये कहा परन्तु आवा के राजा ने इस माँग को अस्वीकार कर दिया। इस पर उसके पास यह चुनौती भेजी गई कि अपनी राजधानी मांडले में एक अंग्रेज राजदूत रक्खे, जब तक राजदूत वहाँ न पहुँच जाय तब तक कम्पनी के विरुद्ध कार्यवाही स्थगित कर दे, भारत सरकार की सम्मति के बिना किसी विदेशी राज्य से कोई वाह्य सम्बन्ध न रक्खे और अंग्रेजों को अपने राज्य में होकर चीन के साथ व्यापार करने का अधिकार प्रदान करे। कोई भी स्वतन्त्र तथा स्वाभिमानी सरकार इस प्रकार की शर्तों को स्वीकार करने के लिये उद्यत न होगी। फलतः ब्रह्मा की सरकार ने भी इन शर्तों को स्वीकार नहीं किया और कहा कि जब तक उनमें आवश्यक परिवर्तन न कर दिया जाय तब तक वे शर्तें उसे मान्य न होंगी। फलतः लार्ड डफ़रिन ने युद्ध की घोषणा कर दी।

युद्ध की घटनायें—अंग्रेजों ने रंगून में अपनी सेनायें पहिले से ही एकत्रित कर ली थीं। कूच की आज्ञा पाते ही सेना ने प्रस्थान कर दिया। इरावदी नदी में होकर एक बड़ा बेड़ा जनरल प्रेन्डरगास्ट की अध्यक्षता में ऊपरी ब्रह्मा पर आक्रमण करने के लिये आगे बढ़ा। ब्रह्मा के लोग युद्ध के लिये उद्यत न थे। अतएव वे अंग्रेजी सेना का विरोध करने में सर्वथा असमर्थ थे। अंग्रेजों की सेनायें निर्विरोध आगे बढ़ती गईं और अन्त में ब्रह्मा की राजधानी में प्रवेश कर गईं। विवश होकर राजा ने आत्म-समर्पण कर दिया। इस प्रकार केवल दस दिनमें युद्ध का प्रथम परिच्छेद समाप्त हो गया।

युद्ध के परिणाम—पहिली जनवरी १८८६ को ऊपरी ब्रह्मा बृटिश साम्राज्य में सम्मिलित कर लिया गया और भारत सरकार का एक अंग बन गया। वर्मा का राजा सकुटुम्ब अविलम्ब रंगून भेज दिया गया। वहाँ से वह फिर हटा कर बम्बई में रत्नागिरि नामक स्थान पर भेज दिया गया। वहीं पर वह पंचत्व को प्राप्त हुआ।

वर्मा में व्यवस्था की स्थापना—यद्यपि अंग्रेजों ने ऊपरी ब्रह्मा पर विजय प्राप्त कर उसे बृटिश साम्राज्य में सम्मिलित कर लिया था परन्तु वे वहाँ पर शान्तिपूर्वक शासन करने की कठिनाई का अनुभव करने लगे। अंग्रेजों के व्यवहार से ब्रह्मा की जनता अत्यन्त क्षुब्ध तथा असन्तुष्ट हो गई थी और छापामार युद्ध-प्रणाली द्वारा शत्रु को निरन्तर परेशान करने का उसने दृढ़-संकल्प कर लिया था। फलतः अशान्ति तथा कुव्यवस्था का प्रकोप बढ़ गया। अनेक अंग्रेज अफसरों को अपनी जान से हाथ धो देना पड़ा। ब्रह्मा की जनता को

दबाने के लिये एक विशाल सेना भेजी गई जिसने बड़ी निर्दयता के साथ अपना दमन-चक्र चलाया। लगभग दो वर्ष तक निरन्तर मार-काट होती रही। ब्रह्मा के इस प्रान्त में शान्ति तथा सुव्यवस्था स्थापित करने और वहाँ पर अपना पूर्ण आधिपत्य तथा नियन्त्रण स्थापित करने के लिये अंग्रेजों को अनेक दुर्गों का निर्माण करना पड़ा जिनमें से निकल कर "चल दस्ते" विद्रोहियों तथा उपद्रवकारियों पर आक्रमण करते थे। सर चार्ल्स बेनड को वहाँ का चीफ़ कमिश्नर नियुक्त किया गया और धीरे-धीरे देश में शान्ति तथा सुव्यवस्था स्थापित की गई और बृटिश शासन की कल वहाँ पर भी अपनी पूरी शक्ति के साथ चलने लगी।

आलोचना—उत्तरी ब्रह्मा के सम्बन्ध में लार्ड डफरिन ने जिस नीति का अनुसरण किया उसकी इङ्गलैण्ड में भी तीव्र आलोचना की गई। डफरिन की नीति के विरुद्ध निम्नलिखित आरोप लगाये जा सकते हैं :—

(१) यदि इस बात को स्वीकार भी कर लिया जाय कि थीबा एक असभ्य, निर्दयी तथा स्वेच्छाचारी शासक था और वह बृटिश व्यापारियों के साथ दुर्व्यवहार करता था और अंग्रेजों के सभ्य शासन से बर्मा के लोगों को बड़ा लाभ हुआ है परन्तु एक स्वतन्त्र राज्य को समाप्त करने के लिये केवल इतने ही कारण पर्याप्त नहीं हैं।

(२) थीबा एक स्वतन्त्र शासक था और उसे किसी भी विदेशी राज्य के साथ बात-चीत तथा सन्धि करने का अधिकार था। अंग्रेजों को उसमें हस्तक्षेप करने का कोई अधिकार न था।

(३) यदि फ्रांसीसी ऊपरी ब्रह्मा में अपना प्रभाव स्थापित करना चाहते थे तो उन्हें इण्डो-चीन से ऐसा करने का उसी प्रकार अधिकार था जिस प्रकार अंग्रेजों को भारत से।

(४) ऊपरी ब्रह्मा के अस्तित्व के समाप्त करने में अँग्रेजों ने नैतिकता के स्थान पर 'जंगल के नियम" का अवलम्ब लिया था और "जिसकी लाठी उसकी भैंस' वाली कहावत को चरितार्थ किया था। यह एक सबल पड़ोसी का एक निर्बल पड़ोसी के साथ घोर अत्याचार था।

(५) लार्ड डफरिन के कार्य का समर्थन कुछ विद्वानों ने इस आधार पर किया है कि चूँकि ब्रह्मा का एक बहुत बड़ा भाग पहिले से ही बृटिश साम्राज्य का एक अङ्ग बन चुका था अतएव यदि शेष ब्रह्मा को उसमें सम्मिलित कर वहाँ पर सुशासन तथा सुव्यवस्था स्थापित कर दी गई तो इसमें अनैतिकता का प्रश्न नहीं उठता।

तिब्बत की समस्या—उत्तरी बर्मा के अंग्रेजी राज्य में मिला लेने के फलस्वरूप भारत सरकार तथा चीन की सरकार के कूटनीतिक सम्बन्धों में कुछ परिवर्तन की आवश्यकता पड़ी। अभी तक चीन की सरकार बर्मा पर अपनी सार्वभौम सत्ता का अधिकार रखती थी। यद्यपि चीन का यह अधिकार केवल नाम-मात्र का था परन्तु इसकी पूर्ण रूप से उपेक्षा नहीं की जा सकती थी। समय की परिस्थितियाँ इतनी अनुकूल थी कि भारत सरकार तथा चीन की सरकार में समझौता हो गया। तिब्बत भी चीन की प्रभुत्व-शक्ति को मानता था। इसी समय तिब्बत की राजधानी ल्हासा में एक शिष्ट-मण्डल भेजने के लिये भारत सरकार ने अनिच्छा रहते हुये भी पेकिन की सरकार की स्वीकृति प्राप्त कर ली थी परन्तु तिब्बत वाले इस शिष्ट मण्डल का स्वागत करने के लिये उद्यत न थे। वे यह नहीं चाहते थे कि कोई अंग्रेज शिष्ट मण्डल उनके देश में प्रवेश करे। इस प्रकार भारत सरकार के समक्ष एक विकट समस्या उत्पन्न हो गई। परन्तु १८८६ में एक समझौते के फलस्वरूप यह समस्या सुलझ गई। इस समझौते द्वारा यह निश्चित हुआ कि अंग्रेज तिब्बत में अपना शिष्ट-मण्डल भेजने का विचार त्याग दें और बर्मा के अंग्रेजी

साम्राज्य में सम्मिलित किये जाने पर चीन कोई आपत्ति न करे। परन्तु कठिनाई की समाप्ति यहीं पर न हुई। तिब्बत वालों के साथ एक नया झगड़ा खड़ा हो गया। भारत सरकार तथा तिब्बत की सरकार में शिकम के लिये कुछ दिनों से झगड़ा चल रहा था। शिकम इन दोनों राज्यों के मध्य में था। शिकम के कुछ भाग पर तिब्बत वालों का अधिकार था और शेष अंग्रेजी सरकार के संरक्षण में था। तिब्बत वालों ने सम्पूर्ण शिकम पर अपनी प्रभुत्व-शक्ति स्थापित करना चाहा और उन पर्वतीय भागों पर अपना अधिकार जमा लिया जो अंग्रेजों के अधिकार में थे। १८८८ में अंग्रेजों ने तिब्बत वालों को वहाँ से मार भगाया। शान्तिपूर्वक समझौता करने का प्रयास निष्फल सिद्ध हुआ क्योंकि न तो तिब्बत वाले शिकम पर अपने अधिकार को त्यागने के लिये उद्यत थे और न बृटिश सरकार किसी भी दशा में उनके इस अधिकार को स्वीकार करने के लिये उद्यत थी। फलतः बृटिश सेना ने शिकम पर अधिकार करना आरम्भ कर दिया। अन्त में चीन के साथ एक सन्धि कर ली गई जिसमें अंग्रेजों की प्रभुत्व-शक्ति को स्वीकार कर लिया गया।

संरक्षित राज्य—लार्ड डफरिन का देशी राज्यों के साथ अत्यन्त अच्छा व्यवहार था। १८८६ में वाइसराय ने ग्वालियर का प्रसिद्ध दुर्ग महाराजा सिन्धिया को लौटा कर उसके प्रति अपनी उदारता प्रकट की। झाँसी नगर के बदले में मोरार दे दिया गया। काश्मीर के शासन में रेजीडेन्ट प्लाउडन बहुत हस्तक्षेप करता था। १८८८ में लार्ड डफरिन ने उसे वापस बुला लिया। वाइसराय के इन कार्यों का देशी राज्यों पर बहुत अच्छा प्रभाव पड़ा। जब रूस के साथ युद्ध छिड़ने की सम्भावना हो गई थी तब अनेक देशी नरेशों ने सहायता करने की इच्छा प्रकट की। इसी के फलस्वरूप 'साम्राज्य-सेवा-सेना' की स्थापना हुई थी।

आन्तरिक शासन—लार्ड डफरिन का शासन-काल प्रधानतः विदेशी नीति के लिये प्रसिद्ध है क्योंकि इसी क्षेत्र में उसकी विशेष अभिरुचि थी और उसी में उसने महत्व पूर्ण कार्य किये परन्तु संयोगवश आन्तरिक शासन में भी कुछ उल्लेखनीय घटनायें घटीं जो निम्नलिखित हैं :—

(१) भूमि-कर विधेयक—लार्ड डफरिन के शासन काल में किसानों के हितों की ओर विशेष रूप से ध्यान दिया गया। किसानों की रक्षा के लिये जिन कानूनों पर लार्ड रिपन के शासन काल में विचार हो रहा था वे अब पारित कर दिये गये। इस प्रकार लार्ड डफरिन के शासन काल में तीन भूमिकर विधेयक (Tenancy Acts) पास किये गये। पहिला बंगाल टेनान्सी ऐक्ट था जो १८८५ में पास किया गया। यह १८५९ के ऐक्ट का संशोधित स्वरूप था। बंगाल के जमींदारों ने इस ऐक्ट का बड़ा विरोध किया। उनका कहना था कि १७९३ में स्थायी प्रबन्ध करके अब सरकार को फिर ऐसा नियम बनाने का अधिकार नहीं है। इसके उत्तर में लार्ड डफरिन का कहना था कि लार्ड कार्नवालिस स्वयम् जो स्थायी प्रबन्ध का जन्मदाता था ऐसा कानून बनाना चाहता था। इसके अतिरिक्त १८५९ में किसानों के सम्बन्ध में एक ऐसा कानून बन चुका था। अतएव नये नियम की वैधानिकता को चुनौती नहीं दी जा सकती। बंगाल भूमिकर विधेयक पास हो जाने से अब जमींदार अपनी इच्छानुसार किसानों से उनकी भूमि छीन नहीं सकते थे। किसानों तथा जमींदारों के झगड़ों का निपटारा करने के लिये भी नियम बनाये गये। भूमि सम्बन्धी दूसरा विधेयक जो लार्ड डफरिन के शासन काल में पास किया गया अवध टेनान्सी ऐक्ट था। चलते समय लार्ड रिपन अवध के किसानों का ध्यान रखने के लिये लार्ड डफरिन से अनुरोध कर गया था। फलतः १८८६ में अवध टेनान्सी ऐक्ट पास हुआ जो १८६८ के ऐक्ट का परिमार्जित तथा परिवर्धित स्वरूप था। इस नियम से अवध के किसानों की दशा बहुत कुछ सुधर गई। जो किसान जमींदारों द्वारा किसी भी समय अपनी

भूमि से वंचित कर दिये जा सकते थे उनकी भूमि को अब सात वर्ष के लिये स्थायित्व प्रदान कर दिया गया। भूमि छिन जाने पर किसान ने उस भूमि में जो उन्नति की है उसकी क्षति-पूर्ति की व्यवस्था की गई। अब जमींदार किसान की लगान में अपनी इच्छानुसार वृद्धि नहीं कर सकते थे। भूमि सम्बन्धी तीसरा विधेयक जो लार्ड डफरिन के शासन काल में पारित किया गया पंजाब टेनन्सी ऐक्ट था। यह नियम १८८७ में पास किया गया था और १८६८ के नियम का परिवर्द्धित स्वरूप था। इस विधेयक ने किसानों की भूमि के अपहरण तथा भूमि-कर-वृद्धि का निषेध किया।

(२) महारानी की जयन्ती—लार्ड डफरिन के योग्य पथ-प्रदर्शन में १६ फरवरी १८८७ को महारानी विक्टोरिया की रजत-जयन्ती मनाई गई। इस शुभ अवसर पर बड़े समारोह के साथ राजभक्ति प्रदर्शन की गई। जब जून के महीने में इंगलैण्ड में इसी अनुष्ठान की व्यवस्था की गई तो अनेक देशी नरेश उसमें सम्मिलित हुये और अपनी राज-भक्ति का परिचय दिया।

(३) लेडी डफरिन फंड—लार्ड डफरिन की धर्मपत्नी लेडी डफरिन ने भी भारतीयों के प्रति अपनी सहानुभूति तथा उदारता प्रकट की। १८८५ में भारतीय नारियों के स्वास्थ्य की रक्षा के लिये लेडी डफरिन फंड की स्थापना की गई। अभी तक भारतीय नारियों की औषधि तथा परिचर्या के लिये कोई सन्तोषजनक व्यवस्था न थी विशेषकर कुलीन स्त्रियों को जाति प्रथा की जटिलता के कारण अनेक असुविधाओं का सामना करना पड़ता था। इस फण्ड की स्थापना से अब योग्य महिला-डाक्टरों की नियुक्ति की व्यवस्था हो गई।

(४) स्वीकृति अवस्था नियम—लार्ड डफ़रिन के शासन काल में स्वीकृति अवस्था नियम (The Age of Consent Act) पास किया गया। इस विधान के अनुसार वह अवस्था जिसमें कन्याओं को संरक्षण प्रदान किया गया था १० वर्ष से बढ़ा कर १२ वर्ष कर दी गई। उसके पहिले हिन्दुओं में अत्यन्त बाल्यावस्था में कन्याओं का विवाह कर दिया जाता था। इसके फलस्वरूप अपने पति का दर्शन किये बिना ही कितनी बालिकायें विधवा हो जाया करती थीं।

(५) इंडियन नेशनल कॉंग्रेस की स्थापना—लार्ड डफरिन के शासन काल की एक अत्यन्त महत्वपूर्ण घटना इण्डियन नेशनल कांग्रेस की स्थापना थी। इसकी स्थापना १८८५ में की गई थी। श्री ए० ओ० ह्यूम इसके जन्मदाता माने जाते हैं। ह्यूम साहब का विचार इसको एक सामाजिक संस्था बनाने का था परन्तु लार्ड डफरिन की परामर्श से उसे राजनैतिक स्वरूप दे दिया गया क्योंकि अंग्रेजों का ऐसा अनुमान था कि भारत में बृटिश साम्राज्य की नींव को सुदृढ़ बनाने के लिये एक ऐसी राजनैतिक संस्था की आवश्यकता है जो सरकार की आलोचना किया करे और उसकी भूलों को इंगित किया करे। बम्बई में कांग्रेस का प्रथम अधिवेशन हुआ जिसमें कलकत्ता के श्री उमेशचन्द्र बनर्जी ने सभापति का आसन ग्रहण किया। इसमें एक "रायल कमीशन" द्वारा भारतवर्ष के शासन की जाँच करने, इण्डिया कौंसिल को तोड़ने तथा लेजिस्लेटिव कौंसिलों को निर्वाचित करने के लिये प्रस्ताव किये गये। कालान्तर में कॉंग्रेस भारत की प्रमुख राष्ट्रीय संस्था बन गई जिसने भारत को दासता के बन्धन से उन्मुक्त करने का श्रेय प्राप्त किया।

लार्ड डफ़रिन का इस्तीफ़ा—लार्ड डफरिन अवस्था के भार का अनुभव कर रहा था। वह पारिवारिक चिन्ताओं से भी पीड़ित था। अतएव उसने स्वदेश लौट जाने तथा कूटनीतिक विभाग में कार्य करने की अपनी इच्छा प्रकट की। लार्ड सैलिसबरी ने उसके साथ बड़ी सहानुभूति प्रकट की और रोम के राजदूत का पद उसके लिये रिक्त

रक्खा। दिसम्बर १८८८ में वाइसराय ने त्याग-पत्र देकर भारत से प्रस्थान कर दिया। उसकी सेवाओं के उपलक्ष में उसे मारक्विस की उपाधि से विभूषित किया गया। वह रोम का राजदूत बना दिया गया और बाद में पेरिस का राजदूत हो गया। इस पद पर वह १८९६ तक रहा। फरवरी १९०२ में उसका परलोकवास हो गया।

लार्ड डफरिन का चरित्र तथा उसके कार्यों का मूल्यांकन—लार्ड डफरिन की गणना अपने काल के प्रमुख कूटनीतिज्ञों में की जाती है। वह एक सफल सुवक्ता था और उसके व्यक्तित्व में एक चुम्बकीय आकर्षण था। लेकी महोदय ने उसके चरित्र के सम्बन्ध में लिखा है, "वह एक महान् कूटनीतिज्ञ तथा एक महान् राजनीतिज्ञ था। उसमें प्रतिभा तथा मनोहरता के गुण ऐसे परिमाण में थे कि उसका कोई भी समकालीन उसकी समता नहीं कर सकता था। वह अद्वितीय चातुर्य तथा बहुमुखी प्रतिभा का व्यक्ति था। इन गुणों के साथ-साथ उसमें अद्भुत निर्णय-पटुता तथा अत्यन्त दृढ़ एवं अविचलित संकल्प के गुण विद्यमान थे। उसके महान भारतीय जीवन की सबसे बड़ी विशेषता यह थी कि वह न्यूनतम संघर्ष के साथ विशालतम कार्य के सम्पादन की क्षमता रखता था।" वाइसराय का पद ग्रहण करने के पूर्व लार्ड डफरिन ने राजनीति का पर्याप्त अनुभव प्राप्त कर लिया था। मध्य-एशिया की राजनीति से वह पूर्णतया अवगत था। अतएव रूस तथा अफगानिस्तान की समस्या को उसने अत्यन्त सफलतापूर्वक सुलझाया। उसकी पूर्वी सीमा नीति भी पूर्णतया सफल सिद्ध हुई। चीन के साथ भी मैत्री पूर्ण सम्बन्ध स्थापित करने में वह सफल रहा। इस प्रकार लार्ड डफरिन की परराष्ट्र नीति सर्वथा सफल रही। आन्तरिक शासन सुधार की ओर उसकी प्रवृत्ति न थी और वह स्थापित व्यवस्था में कोई गम्भीर परिवर्तन नहीं करना चाहता था। शासन में शिक्षित भारतीयों के सहयोग की आवश्यकता को वह समझता था और उसने कौंसिल के सुधार के लिये भारत-मन्त्री को लिखा भी था। परन्तु कॉंग्रेस की नीति तथा उसके कार्य-क्रम को वह पसन्द नहीं करता था। कॉंग्रेस को राजनैतिक संस्था बनाने की परामर्श देने में उसका केवल यह उद्देश्य था कि सरकार को उसके द्वारा भारतीय लोकमत का ज्ञान प्राप्त हो जायगा और जब सरकार के कार्यों की आलोचना होती रहगी और उसकी भूलों तथा उसके दोषों का उद्घाटन होता रहेगा तब वह अपने को सुधारने का प्रयत्न करती रहेगी और इस प्रकार भारत में बृटिश शासन की नींव दृढ़ हो जायगी। उसका यह मत था कि थोड़ा बहुत सुधार करके दस-पन्द्रह वर्ष के लिये "सार्वजनिक सभाओं तथा उत्तेजित करने वाली वक्तृताओं को बन्द कर देना चाहिये।" वह भारतवर्ष को प्रतिनिधि शासन के योग्य नहीं समझता था। अतएव उसका विश्वास था कि "कुछ भी हो इसमें सन्देह नहीं कि लार्ड डफरिन लार्ड रिपन की भाँति उदार विचार का व्यक्ति था। महाराजा सिन्धिया को ग्वालियर का दुर्ग लौटा कर और काश्मीर से बृटिश रेजीडेन्ट प्लाउडन को वापस बुला कर लार्ड डफरिन ने संरक्षित राज्यों के प्रति अपनी उदारता तथा सहानुभूति प्रकट की। क़ानून-लगान पास करके उसने किसानों के हितों की रक्षा की और जमींदारों के अत्याचारों से उन्हें उन्मुक्त किया। लेडी डफरिन फण्ड की स्थापना करके उसने भारतीय महिलाओं और स्वीकृति अवस्था नियम का निर्माण कर उसने भारतीय बालिकाओं की श्लाघनीय सेवा की। महारानी विक्टोरिया की रजत-जयन्ती कर उसने भारतीयों की राज-भक्ति का परिचय दिखलाया। लार्ड डफरिन के कार्यों का मूल्यांकन करते हुये स्मिथ ने लिखा है, "लार्ड डफरिन को भारत के प्रथम कोटि के गवर्नर-जनरलों में चाहे स्थान न दिया जाय निस्संदेह वह एक अत्यन्त सफल व्यक्तियों में गिनने योग्य है।"

अध्याय १०

लार्ड लैन्सडाउन (१८८८-१८९४)

लैन्सडाउन का परिचय—लैन्सडाउन का जन्म १८४५ ई० में आयरलैण्ड के एक कुलीन वंश में हुआ था। अपने पिता की मृत्यु के उपरान्त १८६६ ई० में उसे मारक्विस की उपाधि प्राप्त हुई। उसे युद्ध-मन्त्री के पद पर कार्य करने का अवसर प्राप्त हुआ और १८८० में वह भारत का अन्डर सेक्रेटरी नियुक्त किया गया। इस प्रकार भारतीय स्थिति से अवगत होने का उसे अवसर प्राप्त हुआ। १८८३ से १८८८ तक वह कनाडा का गवनर-जनरल रहा। इस पद पर रह कर उसने शासन-सम्बन्धी पर्याप्त अनुभव प्राप्त कर लिया। लार्ड डफरिन के त्याग-पत्र के उपरान्त दिसम्बर १८८८ में वह भारत का गवर्नर-जनरल तथा वाइसराय नियुक्त किया गया।

लैन्सडाउन की नीति—लैन्सडाउन एक साहसी अनुदार दलीय राजनीतिज्ञ था। वह "अग्रगामी" नीति का समर्थक था और वैज्ञानिक सीमा की आवश्यकता का अनुभव करता था। "प्रभाव क्षेत्र" के सिद्धान्त में उसका पक्का विश्वास था। उसने कहा था कि इस प्रभाव क्षेत्र में "हम लोग स्वयम् शासन करने की चेष्टा नहीं करेंगे वरन् उसके भीतर हम बाहरी आक्रमण को नहीं होने देंगे।' अग्रगामी सीमान्त नीति ने इसे आवश्यक बना दिया कि भारतवर्ष की ओर अफगान सीमाओं को निश्चित रूप से ठीक कर लिया जाय, कबाइलियों के देश में शान्ति की स्थापना हो और सामरिक महत्व की रेलों का निर्माण किया जाय। अब इस बात पर विचार कर लेना आवश्यक है कि लार्ड लैन्सडाउन ने उत्तर-पूर्व तथा उत्तर-पश्चिम की सीमा-समस्या को किस प्रकार सुलझाया।

भारत की सीमा सम्बन्धी समस्या—लार्ड लैन्सडाउन के शासन-काल में भारत की उत्तरी-पूर्वी तथा उत्तरी-पश्चिमी दोनों सीमाओं पर वातावरण अत्यन्त अशान्तिमय हो रहा था। इस अशान्तिमय वातावरण का कारण यह था कि इंगलैण्ड, रूस, फ्रांस तथा चीन के साम्राज्य अपने-अपने प्रभाव-क्षेत्र के बढ़ाने तथा अपने साम्राज्य की वृद्धि करने की भावना से प्रेरित होकर अपने पड़ोसी निर्बल राज्यों को हड़प कर एक साम्राज्य केन्द्र की ओर अग्रसर हो रहे थे। रूस ने अपनी दक्षिणी एशिया की रेल को बढ़ा लिया था, फ्रांस अब हिन्द-चीन में मीकांग तक पहुँच गया था और अंग्रेजों ने ऊपरी ब्रह्मा को अंग्रेजी साम्राज्य में सम्मिलित कर लिया था। फलतः वह तीनों शक्तियाँ एक दूसरे के अत्यन्त निकटतम सम्पर्क में आ गई थीं। इनकी सीमायें अभी अनिश्चित थी और स्थायी रूप से निर्धारित नहीं हो पाई थी। इस समय यह तीनों शक्तियाँ कुछ ऐसी परिस्थिति में थीं कि तनिक भी राजनैतिक चिनगारी भयङ्कर युद्ध-ज्वाला प्रज्वलित कर सकती थी। यह वह युग था जब यूरोप के प्रबल साम्राज्यों में अपने-अपने "प्रभाव-क्षेत्र" के बढ़ाने की होड़ सी चल रही थी। एशिया में यूरोप की साम्राज्यवादी शक्तियों ने अपने अधीनस्थ देशों की सीमाओं के बाहर "प्रभाव क्षेत्र" बना रक्खे थे जिसमें वे स्वयम् तो शासन नहीं करते थे परन्तु उसमें अपने शत्रु के हस्तक्षेप अथवा प्रभाव को सहन नहीं कर सकते थे और आवश्यकतानुसार उनमें सड़क, रेल आदि बनवा लेते थे परन्तु "प्रभाव-क्षेत्रों" वाले देश सदव इस स्थिति में नहीं रहते वरन् उनकी दशा में परिवर्तन अवश्यम्भावी हो

जाता है क्योंकि उन्हें विवश होकर कभी न कभी एक दूसरी शक्ति का अविच्छिन्न अंग बन जाना पड़ता है। जब ऐसा हो जाता है तब नवीन प्रभाव-क्षेत्रों का अन्वेषण आरम्भ होता है और साम्राज्यवादी शक्तियाँ अग्रसर होकर पुनः अपने-अपने "प्रभाव क्षेत्र" बनाती हैं और अन्त में ऐसा समय तथा स्थल आ जाता है जब दो ओर से बढ़ने वाली शक्तियाँ एक दूसरे से मिल जाती हैं और उनमें संघर्ष अनिवार्य हो जाता है। वास्तव में यह सम्मेलन समय तथा स्थल दोनों से अधिक भयानक सिद्ध होता है।

उत्तरी-पूर्वी समस्या का समाधान—लार्ड लैन्सडाउन के शासन काल में उत्तरी-पूर्वी तथा पूर्वी सीमा पर बृटिश सरक्षित प्रान्तों को बढ़ाने तथा उनकी सीमायें निर्धारित करने का बहुत बड़ा कार्य सम्पादित किया गया। इस काल में अंग्रेजी राज्य का प्रभाव तथा अधिकार शिकम तथा लुसाइ लोगों पर जो चिटगाँव से उत्तर-पूर्व की ओर पर्वतीय प्रदेशों में रहते थे बढ़ गया। इनसे कुछ पूर्व की ओर रहने वाले लोगों पर भी अंग्रेजी राज्य का प्रभाव बढ़ा। इरावदी नदी के पार शान रियासतें तथा कोनो की रियासत जो ब्रह्मा की पूर्वी सीमा पर स्थित थी अंग्रेजी राज्य के प्रभाव तथा अधिकार से मुक्त न रह सकीं और वहाँ पर अँग्रेजों का पूर्ण प्रभाव व्याप्त हो रहा था।

उत्तरी-पश्चिमी समस्या का समाधान—उत्तर-पश्चिम की समस्या का सुलझाना उतना सरल कार्य न था जितना उत्तर-पूर्व की समस्या का। लार्ड डफरिन ने अफगानिस्तान के अमीर के साथ जो सौम्य तथा मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध स्थापित किया था लैन्सडाउन दुर्भाग्यवश उसका निर्वाह न कर सका। इसमें सन्देह नहीं कि अमीर बृटिश सरकार के साथ निरन्तर मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध स्थापित रखने का प्रयत्न करता रहा परन्तु सभी वाइसराय के साथ उसके व्यवहार एक से न रह सके। जो वाइसराय उसकी सीमा से दूर रहता उसके साथ अमीर का व्यवहार अत्यन्त मैत्रीपूर्ण रहता परन्तु जो वाइसराय उसके राज्य की सीमा के निकटतम पहुँचने का आकांक्षी होता था उसके साथ अमीर का व्यवहार कुछ शुष्क हो जाता था।

अफग़ानिस्तान के साथ मनोमालिन्य—लार्ड लैन्सडाउन "अग्रगामी नीति" का समर्थक तथा अत्यन्त शुष्क स्वभाव का व्यक्ति था। उसमें लार्ड मेयो तथा लार्ड डफरिन की भाँति आकर्षण न था। फलतः वह अमीर अब्दुर्रहमान के साथ अच्छा व्यवहार न रख सका और उसे अपना मित्र न बना सका। वाइसराय के तानाशाही पत्रों से भी अमीर को घोर घृणा उत्पन्न हो गई थी और उसने अपने मनोविकार को इस प्रकार व्यक्त किया, "मेरे राज्य के आन्तरिक शासन पर मुझको नसीहत की जाती है और मुझको बतलाया जाता है कि मैं अपनी प्रजा के साथ कैसा व्यवहार करूँ।" इसका परिणाम यह हुआ कि लार्ड लैन्सडाउन के शासन की अवधि समाप्त होने तक दोनों देशों की सरकारों में मत-भेद तथा मनोमालिन्य बढ़ता ही गया।

क़बाइली क्षेत्र की समस्या—भारत में बृटिश साम्राज्य की सीमा तथा अफगानिस्तान की सीमा के मध्य क़बाइली प्रदेश था जिसका क्षेत्रफल लगभग २५००० वर्ग मील था। इस क़बाइली क्षेत्र पर अफगान अमीर की नाम-मात्र की प्रभुत्व शक्ति स्थापित थी और क़बाइली लोग अमीर के प्रति अपनी नाम-मात्र की राज्य-भक्ति प्रकट करते थे। अमीर इस क़बाइली क्षेत्र को अपने तथा अंग्रेजों के मध्य का पर्दा मानता था और वह यह नहीं चाहता था कि अंग्रेज इस क्षेत्र में किसी भी प्रकार का हस्तक्षेप करें। यद्यपि क़बाइलियों के ऊपर अमीर का वास्तविक अधिकार अथवा नियंत्रण न था परन्तु यदि वह चाहता तो अपने शक्तिशाली पड़ोसी को तङ्ग करने के विचार से वह उनको उपद्रव करने के लिये प्रोत्साहित तथा उत्तेजित अवश्य कर सकता था। यह क़बाइली थोड़ा सा भी प्रोत्साहन पाते ही बृटिश व्यापारिक मार्गों में उपद्रव करने लगते थे और बृटिश

सीमा के अन्दर आक्रमण करके प्रवेश करने के लिये उद्यत हो जाते थे। ऐसी स्थिति उत्पन्न हो जाने पर भारत की बृटिश सरकार अपनी प्रबल सैन्य-शक्ति का प्रयोग करती थी और उपद्रवी गाँवों को दण्ड देकर अथवा उनको विनष्ट करके बृटिश सेनायें फिर अपनी सीमा के अन्दर लौट आती थीं। उपद्रव को रोकने अथवा समाप्त करने का कोई दूसरा साधन भी न था। "अग्रगामी नीति" के समर्थक इस क़बाइली क्षेत्र को सैनिक दृष्टिकोण से बहुत बड़ा महत्व देते थे। अतएव वे इन क्षेत्रों में रेलों के बिछाने, निश्चित बृटिश-अफगान सीमा-रेखा निर्धारित करने तथा समस्त क़बाइली प्रान्त को विजय करके उसमें शान्ति तथा सुव्यवस्था स्थापित करने के पक्ष में थे। परन्तु इस मार्ग के अनुसरण करने में कुछ महत्वपूर्ण व्यवहारिक कठिनाइयाँ भी थीं। पहिली कठिनाई तो यह थी कि इतने बृहत् प्रदेश पर आधिपत्य स्थापित करना सरल कार्य न था और इसके लिये अपार धन-राशि की आवश्यकता थी। इस मार्ग के अनुसरण करने में दूसरी कठिनाई यह थी कि क़बाइलियों को नियन्त्रण में रखना यों ही एक दुष्कर कार्य होता है ऐसा करने से अब्दुर्रहमान के साथ भी शत्रुता हो जायगी और मनोमालिन्य बढ़ जायगा जिसका अन्तिम परिणाम यह होगा कि रूस तथा इंगलैण्ड में संघर्ष अवश्यम्भावी हो जायगा। इन सब कठिनाइयों के कारण बृटिश सरकार यही उचित समझती थी कि अफगान अमीर जैसे महत्वपूर्ण मित्र को खोने की अपेक्षा क़बाइली असुविधाओं को सहन करना अधिक लाभ-दायक तथा बुद्धिमानी का कार्य था। परन्तु संयोगवश स्थानापन्न वाइसराय लैन्सडाउन तथा कमान्डर इन-चीफ लार्ड राबर्ट्स दोनों ही "अग्रगामी नीति" के समर्थक थे। अतएव "अग्रगामी नीति" की दिशा में कुछ पग आगे रक्खे गये। स्वभावतः अंग्रेजों की इस नीति से अमीर को बड़ी मानसिक वेदना पहुँची और वह बेचैन सा हो गया। अंग्रेजों ने अपनी इस नीति को कार्यान्वित करने के लिये बोलन दर्रे तक एक रेलवे लाइन का निर्माण कर दिया।

ईशाक खाँ का विद्रोह—लैन्सडाउन की "अग्रगामी नीति" से अमीर अब्दुर्रहमान के मन में भय तथा सन्देह की भावना बढ़ने लगी। इसे दूर करने तथा बृटिश नीति के औचित्य को सिद्ध करने के लिये बृटिश सरकार ने अफगानिस्तान में एक शिष्ट-मण्डल भेजने की आयोजना की परन्तु इसी समय ईशाक खाँ ने अफगानिस्तान में विद्रोह का झण्डा खड़ा कर दिया। इस विद्रोह के फल-स्वरूप अमीर को अफगानिस्तान तथा तुर्किस्तान की सीमा पर दो वर्ष (१८८८-९०) तक व्यस्त रहना पड़ा। फलतः बृटिश शिष्ट-मण्डल भेजने की आयोजना स्थगित कर दी गई। इससे अंग्रेजों तथा अफगानों का सम्बन्ध बहुत ख़राब हो गया।

गिलगित तथा चित्राल की दुर्घटनायें—गिलगित का सैनिक दृष्टिकोण से अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान है क्योंकि यह चित्राल की छोटी-छोटी रियासतों के मार्ग में पड़ता है जहाँ पर हिन्दूकुश के सबसे नीचे तथा सरलता से पार किये जाने वाले दर्रे हैं। रूस की सीमा-विस्तार की नीति के फल-स्वरूप गिलगित के निवासियों के मन में निराधार तथा काल्पनिक भय उत्पन्न हो गया। इस भय को दूर करने के लिये १८८९ में एक अंग्रेज अफ़सर को गिलगित भेजा गया। गिलगित की कार्यवाही को अफगान अमीर बड़े सन्देह तथा अविश्वास की दृष्टि से देख रहा था। हुन्जा तथा नागर के निवासियों ने अंग्रेज अफसरों का वहाँ आना पसन्द नहीं किया। यह दो छोटी-छोटी रियासतें थीं जो काश्मीर के प्रति शिथिल राजभक्ति रखती थीं। यहाँ के लोगों ने गिलगिट पर आक्रमण कर दिया परन्तु उन्हें पराजित होकर पीछे हटना पड़ा। चित्राल एक छोटा सा राज्य है। इसकी अधिकांश भूमि पहाड़ी है। यहाँ से हिन्दूकुश पर्वत के पार अत्यन्त सुगम मार्ग जाते हैं। १८९२ में चित्राल के राजा का, 'मेहतर' जिसकी परम्परागत उपाधि थी, परलोकवास

हो गया। उसके पुत्र को सिंहासन प्राप्त करने में कुछ कठिनाई का सामना करना पड़ा। यह साधारण सी घटना थी परन्तु इससे लाभ उठा कर झगड़े का निपटारा करने के लिये अँग्रेजों ने डाक्टर गवर्टसन को अपना प्रतिनिधि बना कर भेजा। इन सब कार्यवाहियों से अफगानिस्तान के अमीर का सन्देह स्वतः ही बढ़ गया और अँग्रेजों के प्रति उसकी भावना बहुत खराब हो गई। अब्दुर्रहमान ने स्वयं कहा कि दोनों देशों में युद्ध छिड़ने की स्थिति उपस्थित हो गई थी परन्तु सौभाग्यवश दुर्घटना होते होते बच गई।

लार्ड राबर्ट्स का मिशन—इस समय बृटिश सरकार ने एक बहुत बड़ी भूल की। १८९२ में एक बार फिर अफगानिस्तान में एक बृटिश मिशन भेजने का प्रस्ताव रक्खा गया परन्तु दुर्भाग्यवश लार्ड राबर्ट्स को इस मिशन का अध्यक्ष चुना गया। यह अंग्रेजी सरकार की बहुत बड़ी भूल थी क्योंकि वह बड़ा उग्रवादी तथा "अग्रगामी नीति" का कट्टर समर्थक था और द्वितीय अफगान युद्ध में महत्वपूर्ण भाग ले चुका था। अतएव अफगानों को उससे घोर घृणा थी। ऐसी स्थिति में अमीर राबर्ट्स का स्वागत करने के लिये उद्यत न था परन्तु एक कुशल राजनीतिज्ञ की भाँति उसने बड़ी चालाकी से काम लिया। उसने घोषणा कर दी कि हज़ारा प्रान्त में उपद्रव हो जाने तथा स्वयं स्वस्थ न होने के कारण वह मिशन का स्वागत करने की तिथि निश्चित नहीं कर सकता। इस प्रकार विलम्ब हो गया और इसी बीच में राबर्ट्स इगलैण्ड वापस चला गया।

सर मार्टिमर ड्यूरैंड का मिशन—यह पहिले ही बतलाया जा चुका है कि १८८८ में सर मार्टिमर ड्यूरैण्ड की अध्यक्षता में शिष्ट मण्डल अमीर के पास भेजने की आयोजना की गई थी परन्तु इशाक़ खाँ के विद्रोह के कारण यह आयोजना स्थगित कर दी गई थी। अब अमीर ने ड्यूरैण्ड का स्वागत करने की घोषणा की जिसे भारत सरकार ने राबर्ट्स के स्थान पर दूत नियुक्त किया था। इस शिष्ट-मण्डल के स्वागत तथा इसके द्वारा सम्पादित कार्य ने इस बात को निःसंवाद सिद्ध कर दिया कि अब अफगानिस्तान तथा भारत सरकार के सम्बन्धों में अत्यन्त महत्वपूर्ण परिवर्तन हो गया था और अब्दुर्रहमान ने अपनी योग्यता तथा शासन-पटुता से अपनी उपद्रवी प्रजा पर अपना पूर्ण नियन्त्रण स्थापित कर लिया था। एक बार फिर बृटिश राजदूत ने क़ाबुल के उस नगर में प्रवेश किया जिसमें उसके पूर्व बर्न्स तथा कैवेगनरी की निर्दयता पूर्वक हत्या कर दी गई थी। ड्यूरैन्ड ने बिना अपने सैनिकों की सहायता के प्रस्थान किया था। उसकी सुरक्षा के लिये अमीर ने अपने सैनिक भेज दिये थे। २ अक्तूबर को बृटिश राजदूत ने काबुल में प्रवेश किया और १६ नवम्बर को वहाँ से प्रत्यागमन किया। ड्यूरैण्ड का मिशन अपने ध्येय में पूर्ण रूप से सफल रहा। अमीर के साथ समुद्भूत द्वेष के सभी कारणों की जाँच की गई, सभी विवाद-ग्रस्त समस्याओं पर सन्तोषजनक बात-चीत हुई और एक सम्मानपूर्ण समझौता पर दोनों दलों के हस्ताक्षर हो गये। इस समझौता द्वारा निम्न-लिखित बातें निश्चित हुईं :—

(१) अमीर ने यह वचन दिया कि भविष्य में वह कभी अफरीदी, वजीरी तथा अन्य सीमास्थ क़बाइलियों के साथ हस्तक्षेप नहीं करेगा।

(२) सीमा रेखा अफगान तथा अंग्रेज कमिश्नरों द्वारा जहाँ सम्भव होगी वहाँ निश्चित कर दी जायगी।

(३) कुछ प्रान्त अब्दुर्रहमान को प्राप्त हुये और इसके बदले में उसने स्वात, बजौर, दीर, चित्राल आदि में हस्तक्षेप न करने का वचन दिया।

(४) अमीर ने नव-निर्मित चमन के रेलवे स्टेशन से अपने समस्त अधिकार उठा लेने का वचन दिया।

(५) भारत की सरकार ने यह वचन दिया कि वह अमीर के गोला-बारूद मोल लेने पर कोई आपत्ति न करेगी।

(६) भारत सरकार ने इस बात का भी वादा किया कि अमीर को दी जाने वाली वार्षिक आर्थिक सहायता १२ लाख रुपये से बढ़ा कर १८ लाख रुपये कर दी जायगी।

अमीर का सन्तोष—उपरोक्त समझौते से दोनों देशों में फिर मैत्री-पूर्ण सम्बन्ध स्थापित हो गया और अमीर को बड़ा सन्तोष हुआ। उसने ड्यूरैण्ड मिशन के परिणामों के सम्बन्ध में अपने विचार प्रकट करते हुये कहा था, "अब मैं सर्वथा सन्तुष्ट हूँ कि मैंने अंग्रेजों से मित्रता करके जो कुछ खोया था उससे अधिक प्राप्त कर लिया है और सर मार्टीमर ड्यूरैण्ड के मिशन ने मेरी क्षति-पूर्ति करके समस्या को सुलझा दिया है। मैं इन बातों को केवल यह प्रकट करने के लिये लिख रहा हूँ कि यद्यपि इङ्गलैण्ड अफगानिस्तान के किसी भाग पर भी अधिकार करना नहीं चाहता तब भी वह संयोग को हाथ से नहीं जाने देता और इस मित्र ने रूस की अपेक्षा अधिक प्राप्त कर लिया है।" इसके उपरान्त अमीर ने इङ्गलैण्ड भी जाने का निमन्त्रण स्वीकार कर लिया परन्तु रुग्णावस्था के कारण अपनी इस इच्छा की पूर्ति न कर सका। यद्यपि ड्यूरैण्ड मिशन के कार्यों पर अमीर ने अपना पूर्ण सन्तोष प्रकट किया था परन्तु अमीर ने यह कहते हुये कि वजीरिस्तान से उसके कर्मचारियों को निकाला गया है और चमन रेलवे स्टेशन उसकी भूमि पर बिना उसकी आज्ञा के निर्मित किया गया है यह भविष्यवाणी की थी कि कबाइली प्रान्त में किसी दिन अवश्य युद्ध होगा। उसकी यह भविष्यवाणी संयोगवश सत्य सिद्ध हुई।

काश्मीर की घटना—लार्ड लैन्सडाउन के शासन काल में काश्मीर में कुछ ऐसी घटनायें घटीं जिनका रहस्योद्घाटन अभी तक ठीक-ठाक नहीं हो पाया है। महाराजा प्रताप सिंह १८८५ में काश्मीर के सिंहासन पर आसीन हुये। १८८८ में लार्ड डफरिन ने प्लोडेन को जो काश्मीर में ब्रिटिश रेजीडेन्ट था वापस बुला लिया था। अगले वर्ष लार्ड लैन्सडाउन ने कुछ अज्ञात कारणों से जिनका उद्घाटन अभी तक नहीं हो पाया है महाराजा को सिंहासन से हटा कर काश्मीर का शासन प्रबन्ध ब्रिटिश रेजीडेन्ट के नियन्त्रण तथा निरीक्षण में एक कौंसिल को सौंप दिया। वाइसराय के इस कार्य से ऐसा प्रतीत होता था कि काश्मीर अंग्रेजी राज्य में सम्मिलित कर लिया जायगा। जुलाई १८९० में ब्रिटिश पार्लियामेंट की लोक-सभा में ब्रेडला ने स्थगित प्रस्ताव उपस्थित किया और काश्मीर प्रश्न पर विवाद आरम्भ हो गया। सम्भवतः पार्लियामेण्ट के इस विवाद अथवा अन्य कारणों से जिनका उद्घाटन अभी तक नहीं हो पाया है १९०५ में पदच्युत महाराज को फिर सिंहासनारूढ़ कर दिया गया और काश्मीर शासन को ब्रिटिश नियन्त्रणोन्मुक्त कर दिया गया।

मनीपुर का विद्रोह—लैन्सडाउन के शासन काल में मनीपुर राज्य में एक भयङ्कर विद्रोह का विस्फोट हो गया। मनीपुर का राज्य आसाम की सीमा पर पर्वतीय प्रदेश में स्थित है। वहाँ पर राजा की मृत्यु के उपरान्त उत्तराधिकार के लिये संघर्ष आरम्भ हो गया। इसका दुष्परिणाम यह हुआ कि कुछ समय तक राज्य बिना राजा के रहा और सम्पूर्ण राज्य में अशान्ति तथा अराजकता का प्रकोप छा गया। मनीपुर का राज्य ब्रिटिश साम्राज्य के संरक्षण में था। अतएव लार्ड लैन्सडाउन ने उत्तराधिकार के विवाद-ग्रस्त प्रश्न में हस्तक्षेप करने का दृढ़-सङ्कल्प कर लिया। आसाम के चीफ कमिश्नर क्विन्टन को ४०० सैनिकों को विद्रोह के कारणों की जाँच करने के लिये भेजा गया। जिस सेनापति ने क्रांति का कुचक्र चलाया था और सिंहासन के छीनने की अनधिकार चेष्टा की थी उसे पकड़ने का प्रयत्न किया गया परन्तु मनीपुर की जनता की सहायता तथा सहानुभूति उसे पूर्ण रूप

से प्राप्त थी अतएव वह बन्दी न बनाया जा सका। कुछ संघर्ष के उपरान्त चीफ़ कमिश्नर तथा तीन अन्य व्यक्तियों को प्रलोभन देकर एक सम्मेलन में बुलाया गया और उनके साथ निकृष्ट विश्वासघात करके निर्ममता पूर्वक उनकी हत्या कर दी गई। छोटे अफ़सर जो सहायक दस्ते के कमाण्डर बना कर भेजे गये थे हतोत्साह होकर बृटिश राज्य की ओर पलायन कर गये। उनको दण्ड के रूप में नौकरी से अलग कर दिया गया। पूर्वी बंगाल की सीमा पर विद्रोहियों के आक्रमण को पीछे ढकेल दिया गया और राजधानी पर अंग्रेजों का आधिपत्य स्थापित कर दिया गया। क्विन्टन आदि की हत्या करने वालों को जिनमें सेनापति भी सम्मिलित था पकड़ कर प्राण-दण्ड दे दिया गया। परन्तु यह सब होने पर भी मनीपुर को अंग्रेजी राज्य में सम्मिलित नहीं किया गया वरन् राजवंश के एक अल्पायु बालक को सिंहासन पर बिठा दिया गया और उसकी सहायता के लिये एक बृटिश पोलिटिकल एजेन्ट को रख दिया गया जिसने मनीपुर में दास-प्रथा के अन्त करने का श्लाघनीय कार्य किया।

क़लात का विद्रोह—लैन्सडाउन के शासन काल में क़लात में भी जो भारत की उत्तरी पश्चिमी सीमा पर स्थित था और अंग्रेजों के संरक्षण में था विद्रोह हो गया। कहा जाता है कि क़लात का खान अत्यन्त क्रूर तथा अत्याचारी था। १८९२ में उसने अपने वज़ीर और उसके पिता तथा पुत्र तीनों की हत्या करवा डाली। इन अपराधों का उत्तर देने के लिये बृटिश सरकार ने खान को क्वेटा बुलवाया और क़लात के सरदारों की सम्मति से उसको राज्य त्यागने पर बाध्य किया। सरदारों ने उसके पुत्र के उत्तराधिकार को स्वीकार कर लिया और उसे क़लात के सिंहासन पर बिठा दिया।

आन्तरिक शासन—लार्ड लैन्सडाउन का शासन काल प्रधानतः परराष्ट्रनीति के लिये प्रसिद्ध है परन्तु उसे कुछ आन्तरिक समस्याओं का भी सामना करना पड़ा। यह समस्यायें निम्नलिखित थीं :—

(१) चांदी की गिरावट का मुद्रा पर प्रभाव—लैन्सडाउन के शासन काल की सबसे अधिक महत्वपूर्ण आन्तरिक समस्या भारतीय मुद्रा पर संसार भर में चाँदी के गिरते हुये मूल्य का प्रभाव था। चाँदी के मूल्य की गिरावट का उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम भाग में चांदी की नई खानों के अन्वेषण के फलस्वरूप चाँदी के उत्पादन में बड़ी वृद्धि हो गई थी। इसका दूसरा प्रमुख कारण यह था कि जर्मनी ने चांदी की मुद्राओं का ढालना बन्द कर दिया था और लटिन संघ के देशों ने जहाँ पर सोने तथा चांदी के सिक्के प्रचलित थे द्विधातुवाद की प्रथा को बन्द कर दिया था। इस सबका सामूहिक परिणाम यह हुआ कि चांदी की मुद्रायें जो पहिले यूरोप के लगभग सभी महत्वपूर्ण देशों में प्रचलित थीं अब केवल सांकेतिक मुद्रा ही रह गईं। इसका कुछ आश्चर्यजनक आर्थिक प्रभाव पड़ा। जिन देशों में मुद्रा प्रचलन का आधार स्वर्ण-स्तर था उन पर तो कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ा। जिन देशों में मुद्रा का आधार रजत-स्तर और जिन्हें विदेशों को विशेष भुगतान नहीं करना था उन्हें भी कोई विशेष हानि नहीं उठानी पड़ी परन्तु जिन देशों में रजत-स्तर था और स्वर्ण स्तर वाले देशों का भारी ऋण था उन्हें भयानक आर्थिक क्षति उठानी पड़ी। भारत इसी अन्तिम कोटि में आता था। अतएव उसे भयानक आर्थिक सङ्कट का सामना करना पड़ा। भारत का मुद्रा सम्बन्धी तथा आर्थिक सम्बन्ध अधिकांश में इङ्गलैण्ड के साथ था और वह इङ्गलैण्ड का बड़ा ऋणी था। भारत सरकार को राष्ट्रीय ऋण का ब्याज भारत में प्रयुक्त अंग्रेजी पूँजी का ब्याज तथा लाभ, अंग्रेजों की पेन्शन तथा इण्डिया आफिस का व्यय स्वर्ण में चुकाना पड़ता था। जब चांदी का मूल्य सोने के भाव से गिर गया तब एक पौण्ड के बदले में पहिले से अधिक रुपया दिया जाने लगा। एक ओर तो चाँदी का मूल्य

निरन्तर गिरता जा रहा था और दूसरी ओर बर्मा के युद्ध आदि के कारण भारत की इङ्गलैण्ड के लिये भुगतान की मात्रा बढ़ती जा रही थी। फलतः इस आर्थिक सङ्कट का भार भारत की विपन्न जनता को सहन करना पड़ा। आरम्भ में रुपये का मूल्य २ शिलिंग ३ पेन्स था परन्तु निरन्तर गिरने के फलस्वरूप १८६२ में यह मूल्य घटकर १ शिलिंग १ पेन्स रह गया। भारत के ऊपर यह एक भयानक आर्थिक सङ्कट था। जिन व्यापारियों ने भारत में अपनी पूंजी लगाई थी उनका विश्वास उठने लगा और भारत का व्यापार ठप होता जा रहा था। ऐसी स्थिति में सार्वजनिक कार्यों का व्यय घटा दिया गया। भारत का ऋण सोने-चांदी में न चुका कर पदार्थों के द्वारा चुकाया जाता था। अतएव उसके चुकाने के लिये अत्यधिक पदार्थों के निर्यात करने की आवश्यकता थी। ऐसी स्थिति में टैक्सों में वृद्धि करना अनिवार्य हो गया। अब फिर अवांछित कर लगाये गये और नमक कर भी बढ़ा दिया गया। इन सब उपायों का आश्रय लेने पर भी अभाव की पूर्ति न हो सकी और सरकार की आर्थिक दृढ़ता विनष्ट होती गई। १८६२ में भारत सरकार ने इङ्गलैंड की सरकार से मुद्रा में कुछ परिवर्तन करने का प्रस्ताव किया। बूशल में १८६२ में मुद्रा सम्बन्धी एक अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन हुआ परन्तु सोने-चांदी का अनुपात निर्धारित करने में यह सम्मेलन सफल न हुआ। १८६३ के पहिले कोई भी व्यक्ति टकसाल में मुद्रा ढलवा सकता था परन्तु इसके उपरान्त टकसाल बन्द कर दी गई जिससे अन्त में सोने की मुद्रा प्रचलित हो सके। अब सोने की मुद्रा अथवा सोने के बदले में एक पौंड के बदले में १५ रुपये की दर से रुपये दिये जाने लगे। इन उपायों से भी कोई विशेष लाभ न हुआ और रुपये के मूल्य की गिरावट रुक न सकी परन्तु अन्त में १८६५ में मूल्य का गिरना रोक दिया गया।

(२) फैक्ट्री एक्ट—लार्ड लैन्सडाउन के शासन काल में फैक्ट्री ऐक्ट भी पास हुआ। यह ऐक्ट १८८१ के ऐक्ट का परिवर्द्धित रूप था। इस विधेयक द्वारा कारखानों तथा मिलों में कार्य करनेवाली स्त्रियों के काम के घण्टे निश्चित कर दिये गये। इस ऐक्ट द्वारा यह भी निर्धारित किया गया कि अमुक आयु से कम के बच्चों को फैक्ट्रियों में न रक्खा जाय और जो बच्चे इन कारखानों में कार्य करें उनसे प्रतिदिन सात घण्टे से अधिक काम न लिया जाय, रात्रि में बच्चों से काम लेने का निषेध कर दिया गया और फैक्ट्री में कार्य करने वालों को सप्ताह में एक दिन अवकाश देने की व्यवस्था की गई।

(३) १८९२ का काउन्सिलस एक्ट—लार्ड डफरिन के ही शासन काल से कौंसिलों के सुधार पर विचार हो रहा था। उसकी बहुत सी बातें मान ली गईं और १८६२ में इण्डियन काउन्सिल्स ऐक्ट पास किया गया। इस ऐक्ट द्वारा भारतीय तथा प्रान्तीय कौंसिलों के सदस्यों की संख्या में वृद्धि कर दी गई। बड़ी काउन्सिल में १० से १६ सदस्य बढ़ाये गये जिनमें से अधिक से अधिक ६ सदस्य सरकारी हो सकते थे। बीस-बीस सदस्य बम्बई तथा मद्रास की कौंसिलों में बढ़ाये गये जिनमें अधिक से अधिक ६ सदस्य सरकारी हो सकते थे। गैर-सरकारी सदस्यों को मनोनीत करने का अधिकार नगरपालिकाओं, जिला बोर्डों, विश्वविद्यालय आदि संस्थाओं को दे दिया गया। यद्यपि अभी तक निर्वाचन प्रणाली की प्रथा का आरम्भ नहीं हुआ था और इन कौंसिलों में सरकारी सदस्यों का बहुमत था फिर भी इनके कार्य-क्षेत्र में वृद्धि कर दी गई थी। अब बजट पर वाद-विवाद होने लगा और अधिकारियों से उनके कार्य के सम्बन्ध में प्रश्न किये जाने लगे।

(४) सरकारी नौकरियाँ—सरकारी नौकरियों की जाँच करने के लिये १८८७ में एक आयोग नियुक्त किया गया था। १८६१ में इस कमीशन की रिपोर्ट प्रकाशित की गई। इस रिपोर्ट के अनुसार स्टैच्युटरी सिविल सर्विस तोड़ दी गई और नौकरियों को तीन श्रेणियों में विभक्त कर दिया गया अर्थात् भारतीय, प्रान्तीय तथा निम्न-वर्ग की।

अब यह निश्चय किया गया कि इंगलैण्ड में सिविल सर्विस की परीक्षा पास करने वालों को केवल भारतीय श्रेणी की नौकरियाँ दी जाया करें और शेष दो श्रेणियों में यथासम्भव भारतीय रक्खे जाया करें। प्रान्तीय नौकरियाँ या तो पद से तरक्की द्वारा अथवा नामजदगी से या परीक्षा द्वारा दी जाती थीं। १८९३ में इंगलैण्ड की पार्लियामेंट की लोक-सभा ने एक प्रस्ताव पास किया कि भारत तथा इंगलैण्ड में सिविल सर्विस की परीक्षायें साथ-साथ हों परन्तु दुर्भाग्यवश यह प्रस्ताव कोरा प्रस्ताव ही रहा और विरोध के कारण ऐक्ट न बन सका।

लैन्सडाउन का त्याग-पत्र तथा अन्तिम दिवस—१८९३ में लार्ड लैन्सडाउन ने अपने पद से त्याग-पत्र दे दिया उसके त्याग-पत्र दे देने पर लार्ड क्रोमर उसके स्थान पर वाइसराय नियुक्त किया गया परन्तु कुछ व्यक्तिगत कारणों से उसने इस पद को स्वीकार नहीं किया। इसके पश्चात् क्वान्सलैण्ड के गवर्नर हनरी नार्मन को यह पद प्रदान किया गया परन्तु अधिक वृद्ध होने के कारण उसने भी १६ दिन पश्चात् अपनी अनिच्छा प्रकट करके क्षमा माँग ली। इसके पश्चात् लार्ड एलगिन जो भूतपूर्व वाइसराय लार्ड एलगिन का पुत्र था वाइसराय के पद पर नियुक्त किया गया। जनवरी १८९४ में लैन्सडाउन ने भारत से इंगलैण्ड के लिये प्रस्थान कर दिया। १८९५ से १९०० तक वह युद्ध सेक्रेटरी रहा। १९०० से १९०५ तक वह विदेशी सेक्रेटरी था। इस पद पर रह कर इंगलैण्ड की फ्रान्स तथा जापान के साथ मैत्री कराने का सराहनीय कार्य उसने किया। १९१५-१६ में वह एस्क्विथ के संयुक्त मन्त्रि-मण्डल का सदस्य था। १९२७ में उसका परलोकवास हो गया।

लैन्सडाउन का चरित्र तथा उसके कार्यों का मूल्यांकन—लैन्सडाउन अनुदार दल का सदस्य था। वह बड़ी ही उग्र प्रकृति तथा शुष्क स्वभाव का व्यक्ति था। उसके व्यवहार में सौम्यता न थी जो लार्ड मेयो तथा लार्ड डफरिन के व्यक्तित्व में थी। दूसरों की भावनाओं का वह बिलकुल ध्यान नहीं रखता था और अपने पक्ष को सदैव प्रधानता देता था। वह बड़ा ही साहसी तथा महत्वाकांक्षी व्यक्ति था। वह अग्रगामी तथा हस्तक्षेप की नीति का कट्टर समर्थक था और व्यवहारिक रूप में उसने इस नीति को कार्यान्वित किया। वह भारत में बृटिश साम्राज्य की वैज्ञानिक सीमा के निर्धारित करने के पक्ष में था। "प्रभाव क्षेत्र" में उसका पूर्ण विश्वास था और स्वतन्त्र पड़ोसी राज्यों में वह भारत सरकार के प्रभाव को बढ़ाना चाहता था। उत्तर-पूर्व की ओर बृटिश संरक्षित प्रान्तों को बढ़ाने तथा उनकी सीमायें निर्धारित करने में वह सफलीभूत हुआ था। उत्तर-पूर्व के पड़ोसी राज्यों में बृटिश साम्राज्य के प्रभाव को भी उसने बढ़ाया। परन्तु उत्तर-पश्चिम की ओर अफगानिस्तान के अमीर के साथ वह उतना अच्छा व्यवहार न कर सका जितना अच्छा लार्ड डफरिन का था। लैन्सडाउन का मनोमालिन्य अब्दुरहमान के साथ बहुत दिनों तक चलता रहा। अमीर सदैव वाइसराय को सन्देह तथा अविश्वास की दृष्टि से देखता था। यद्यपि ड्यूरैण्ड मिशन ने अमीर के मनोमालिन्य को दूर करके उसे सन्तुष्ट कर दिया परन्तु यह सब लैन्सडाउन की कार्य-अवधि की समाप्ति के समय हुआ। संरक्षित राज्यों के साथ उसका व्यवहार अत्यन्त कठोर था। मनीपूर तथा कलात के विद्रोहों का उसने बड़ी दृढ़ता तथा कठोरता के साथ दमन किया था। आन्तरिक शासन के दृष्टिकोण से लैन्सडाउन के शासन काल में महत्वपूर्ण घटनायें घटीं। पहिली घटना तो चाँदी के मूल्य की गिरावट का मुद्रा पर प्रभाव था और दूसरी घटना १८९२ का कौंसिल ऐक्ट था। फैक्ट्री के नियमों में संशोधन तथा परिवर्धन करके उसने श्रम-जीवियों का बड़ा कल्याण किया। सारांश यह है कि लैन्सडाउन ने अपनी परराष्ट्र नीति में पर्याप्त सफलता प्राप्त की और आन्तरिक नीति में भी आवश्यक सुधार करवाये।

अध्याय ११

लार्ड एलगिन द्वितीय (१८९४-९९)

एलगिन द्वितीय का परिचय—विक्टर एलेक्जन्डर ब्रूस, अर्ल आफ़ एलगिन भारत के द्वितीय वाइसराय एलेगिन प्रथम का पुत्र था। उसका जन्म १८४६ ई० में हुआ था। वह उदार दलीय राजनीतिज्ञ था और एक अत्यन्त अच्छा तथा चैतन्यशील शासक था परन्तु वह अनुभवशून्य था क्योंकि उसे किसी ऊँचे पद पर रहने का अवसर न प्राप्त हो सका था। उसमें कोई विशेष योग्यता भी न था। अतएव वह अपने अधीनस्थ पदाधिकारियों पर ही प्रायः निर्भर रहता था। उसका शासन काल बड़े संकट तथा संघर्ष का काल था और उसे अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। जनवरी १८९४ में उसने भारत में वाइसराय का पद ग्रहण किया।

आर्थिक व्यवस्था—चाँदी के मूल्य के गिर जाने के कारण लार्ड लैन्सडाउन को भयानक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा था। यद्यपि टकसालों को बन्द कर दिया गया था परन्तु उससे समस्या सुलझ न सकी। विनिमय दर के निरन्तर गिरते रहने के कारण बजट में भयङ्कर घाटा आ खड़ा हुआ और एलगिन को बड़ी कठिनाई का सामना करना पड़ा। फिर पाँच प्रतिशत आयात कर लगाया गया परन्तु सूती कपड़े पर लागू नहीं किया गया क्योंकि अधिकांश सूती कपड़ा लंकाशायर से आता था। इस अपवाद पर भयङ्कर वाद-विवाद आरम्भ हो गया और इङ्गलैण्ड के उत्पादकों ने यह आपत्ति की कि जब अन्य वस्तुओं पर भारत सरकार आयात-कर लगा रही है तो सूती कपड़ों पर भी क्यों नहीं लगाया जाता। भारत के हित-अहित के स्थान पर अंग्रेज उत्पादकों के हित-अहित का अधिक ध्यान रक्खा जाता था। इङ्गलैण्ड के उत्पादकों के इस आन्दोलन का यह परिणाम हुआ कि अगले वर्ष सूती कपड़े पर भी आयात-कर लगा दिया गया। परन्तु भारत के सूती कपड़े पर भी उतना ही कर लगा दिया गया क्योंकि यह डर था कि आयात-कर लग जाने से कहीं ऐसा न हो कि मैनचेस्टर के कपड़े का मूल्य बढ़ जाने से उसकी खपत कम हो जाय। भारतीय उत्पादकों ने इसका विरोध किया परन्तु उनके विरोध पर कोई ध्यान न दिया गया। हाँ इस विरोध का इतना परिणाम अवश्य हुआ कि १८९६ में कर ५ प्रतिशत से ३½ प्रतिशत कर दिया गया परन्तु साथ ही इङ्गलैण्ड से आने वाले सूती कपड़े पर भी आयात-कर ३½ प्रतिशत कर दिया गया। इन सब ने मुद्रा समस्या भी कुछ अंश में सुलझ गई परन्तु भारतीय हितों पर कुठाराघात करके। १८९५ के पश्चात् चाँदी का मूल्य भी बढ़ना आरम्भ हो गया। इसका कारण सम्भवतः टकसालों का बन्द करना और चाँदी का बाहर से न मगाना रहा हो।

सैनिक प्रबन्ध—लार्ड एलगिन द्वितीय के शासन काल में सैनिक प्रबन्ध सम्बन्धी सुधार भी किया गया। इस सुधार का अनुभव बहुत दिनों से किया जा रहा था। इस सुधार के पूर्व भारत में तीन पृथक्-पृथक् प्रेसिडेन्सी सेनायें थीं जिनके तीन ही कमाण्डर-इन-चीफ होते थे और जिस प्रकार बंगाल का कमाण्डर-इन-चीफ वाइसराय की कौंसिल का सदस्य होता था उसी प्रकार बम्बई तथा मद्रास के कमान्डर-इन-चीफ भी वहाँ की कौंसिलों के सदस्य होते थे। परन्तु नये सुधार द्वारा अब यह व्यवस्था बदल दी गई। अब

समस्त भारतीय सेना का केवल एक कमाण्डर-इन-चीफ़ होने लगा और उसके नीचे चार लेफ्टिनेन्ट जेनरल बंगाल, मद्रास, बम्बई तथा उत्तरी पश्चिमी प्रान्त (उत्तर-प्रदेश तथा पंजाब) के लिये नियुक्त किये जाने लगे। इस नवीन सुधार में भारत का एकीकरण सन्निहित था। तीन पृथक् सेनाओं की प्रणाली अत्यन्त प्राचीन हो चुकी थी और अब इसकी उपयोगिता समाप्त हो चुकी थी। अतएव यह परिवर्तन समय तथा परिस्थितियों के अनुकूल था।

अफ़ीम कमीशन की रिपोर्ट—बृटिश पार्लियामेंट के एक ऐक्ट द्वारा १८९३ में एक आयोग इस अभिप्राय से नियुक्त किया गया था कि वह भारत में अफ़ीम के उपयोग, उसका जन-साधारण पर पड़ने वाला प्रभाव आदि की जाँच करके यह बतलाये कि क्या औषधि के रूप में प्रयोग करने के अतिरिक्त अफ़ीम की बिक्री को बन्द कर दिया जाय। १८९५ में कमीशन ने अपनी रिपोर्ट प्रकाशित की। भारत में अफ़ीम के उत्पादन पर राज्य का एकाधिकार था और इससे सरकार को बड़ा लाभ होता था। पोस्त की कृषि पर जिससे अफ़ीम बनती है सरकार अपना पूर्ण नियन्त्रण रखती थी और गाजीपुर तथा पटना अफ़ीम बनाने के दो बहुत बड़े कारखाने थे। भारत में उत्पन्न की हुई अफ़ीम का एक बहुत बड़ा अंश चीन भेज दिया जाता था और शेष भारत के उपभोक्ताओं के लिये रख लिया जाता था। न केवल भारत में वरन् इङ्गलैण्ड में भी ऐसे महानुभाव थे जो अफ़ीम के उत्पादन को अनैतिक मानते थे और बड़ी से बड़ी हानि उठा कर भी इसका निषेध करना चाहते थे। इनका विश्वास था कि अफ़ीम का प्रयोग स्वास्थ्य तथा चरित्र दोनों ही के लिये हानिकारक था। परन्तु यह तर्क उपस्थित किया जाता था कि कम मात्रा में अफ़ीम का प्रयोग करने से कोई हानि नहीं होती। अतएव भारत में इसका पूर्ण रूप से निषेध कर देना ठीक नहीं है। चीन वालों की यह अपनी घरेलू बात है कि वे भारतीय अफ़ीम का आयात करें अथवा न करें। यदि भारत से अफ़ीम चीन को न जायगी तो चीन वाले स्वयम् अपने देश में इसका उत्पादन कर लेंगे। परन्तु इन सब बातों के अतिरिक्त सबसे बड़ा प्रश्न राज्य की आय का था। अपनी रिपोर्ट में कमीशन ने कहा था कि भारत का कोष अभी ऐसी स्थिति में नहीं है कि अफ़ीम से प्राप्त होने वाली आय की उपेक्षा की जाय। इसमें सन्देह नहीं कि कमीशन की बात में बहुत बड़ा तथ्य था क्योंकि केवल कानून द्वारा अफ़ीम के उपभोग का पूर्णतया निषेध नहीं हो सकता था। अन्त में चीन की सरकार के साथ यह समझौता किया गया कि जनवरी १९०८ से चीन की सरकार कम से कम अफ़ीम का आयात करेगी परन्तु इससे भारतीय जनता को कोई लाभ न हुआ।

१८९६ का दुर्भिक्ष—भारत में गत २० वर्षों से दुर्भिक्ष का प्रकोप नहीं हुआ था और १८८३ के उपरान्त प्रथम बार दुर्भिक्ष निवारण के लिये बनाये हुये नियमों की परीक्षा हुई। १८९५ में ही वर्षा की बड़ी न्यूनता थी और १८९६ में तो बिलकुल वर्षा न हुई और अकाल पड़ गया। उत्तर-प्रदेश, मध्य-प्रान्त, बरार, बंगाल, मद्रास, बम्बई, राजपूताना तथा ऊपरी ब्रह्मा में सभी जगह अनावृष्टि रही और अकाल का प्रकोप व्याप्त हो गया। केवल बृटिश भारत में साढ़े सात लाख व्यक्ति अकाल के शिकार बन गये। सरकार ने अकाल पीड़ित लोगों की सहायता करनी आरम्भ की और १८९७ के वसन्त में लगभग ४० लाख अकालग्रस्त व्यक्तियों को सरकारी सहायता दी गई। किसानों की लगान में छूट दी गई। अकाल पीड़ितों की सहायता में कुल ५५½ लाख पौंड सरकार को व्यय करना पड़ा। दुर्भिक्ष ग्रस्त व्यक्तियों की सहायता का सबसे अधिक श्लाघनीय कार्य उत्तर-प्रदेश में किया गया। मध्य-प्रान्त में यह कार्य सर्वथा असफल रहा।

१८९६ का महामारी—कहा जाता है कि दुर्भाग्य अकेले नहीं आता। १८९६ में दुर्भिक्ष के साथ-साथ महामारी का भी प्रकोप बढ़ा। अगस्त १८९६ में महामारी की सूचना बम्बइ से मिली। नगर-निवासी अपने अपने घरों को छोड़ कर भागने लगे। फरवरी १८९७ तक लगभग चार लाख निवासी नगर छोड़ कर भाग गये। डाक्टरों ने प्रत्येक घर का निरीक्षण करने, पृथक् औषधालय तथा कैम्प स्थापित करने तथा टीका लगाने की आयोजना बनाइ परन्तु भारतीय जनता अज्ञानतावश इस आयोजना के महत्व को न समझ सकी। १८९७ में एक सैनिक तथा एक सिविल अफ़सर की जो महामारी से जनता की रक्षा के कार्य के करने में संलग्न थे हत्या पूना में कर दी गइ। मार्च १८९८ में बम्बइ में बड़ा उपद्रव आरम्भ हुआ। इसी समय भारतीय भाषाओं में प्रकाशित होने वाले समाचार पत्रों ने सरकार की तीव्र आलोचना की। अतएव उन पर प्रतिबन्ध लगा कर उनका मुँह बन्द कर दिया गया। परन्तु इस दमन से विरोध बन्द न हुआ वरन् इसमें और अधिक शक्ति आ गइ। भारतीय जनता का यह विरोध अत्यन्त वास्तविक था और इसने अत्यन्त भयानक रूप धारण कर लिया। विरोध का परिणाम यह हुआ कि जिन कठोर नियमों को कार्यान्वित करने की डाक्टरों ने सिफारिश की थी उन्हें त्याग दिया गया। देश से महामारी (प्लेग) के रोग का उन्मूलन न किया जा सका। अतएव उसको केवल नियन्त्रण में रखने का प्रयत्न किया गया।

चित्राल तथा तीराह की समस्या—१८९३ के "ड्यूरंड समझौते" के अनुसार चित्राल का छोटा सा पर्वतीय राज्य जो भारत की उत्तरी-पश्चिमी सीमा पर स्थित है भारत सरकार के "प्रभाव क्षेत्र" में आ गया था। अंग्रेजी सरकार बहुत दिनों से चित्राल राज्य पर अपना नियन्त्रण स्थापित करने के लिये आतुर हो रही थी और उसकी परराष्ट्र नीति पर वह अपना पूर्ण अधिकार जमाना चाहती थी। काश्मीर राज्य में स्थित गिलगित में एक बृटिश एजेन्सी स्थापित कर दी गई और चित्राल के मास्तूज नामक स्थान पर एक चौकी बना दी गइ थी जहाँ से बृटिश पोलिटिकल अफ़सर यदा कदा राजधानी में जाया करता था। जनवरी १८९५ में जंडोल के शासक उमराखाँ तथा चित्राल के भूतपूर्व शासक शेर अफ़जल के उकसाने से चित्राल के शासक की हत्या कर दी गई। इस दुर्घटना के फल-स्वरूप चित्राल में विद्रोह की वह्नि प्रज्वलित हो उठी। डाक्टर राबर्टसन जो उस समय गिलगित में बृटिश एजेन्ट था विद्रोह की सूचना पाते ही चित्राल चला गया। विद्रोही सरदारों ने मास्तूज लौट जाने का उससे अनुरोध किया परन्तु जब उसने उनके अनुरोध की उपेक्षा करके वापस लौटने से इन्कार किया तब उसे राजधानी में ही बन्दी बना लिया गया। भारत सरकार ने सर आर लो को १५००० सैनिकों के साथ मालकन्द दर्रे के मार्ग से और स्वात के राज्य में होकर जहाँ के लोग चित्रालवासियों की सहायता करने के लिये उद्यत हो गये थे चित्राल भेजा। कर्नल केली ने गिलगित से प्रस्थान करके शन्डूर दर्रे को पार किया जो समुद्र के धरातल से १२००० फीट की ऊंचाइ पर स्थित है और शत्रु के पहाड़ी प्रदेश में २२० मील की यात्रा करके चित्राल नगर की विद्रोहियों से रक्षा की। नगर की रक्षा के लिये ५०० व्यक्ति जो नगर के भीतर थे ४६ दिनों से बड़े उत्साह तथा साहस के साथ नगर की रक्षा कर रहे थे। लार्ड एलगिन चित्राल पर अंग्रेजों का अधिकार बनाये रखना चाहता था परन्तु इंगलैण्ड के प्रधान-मन्त्री रोजबरी की उदारदलीय सरकार ने चित्राल को खाली कर देने की आज्ञा दे दी। इस आज्ञा में बड़ा नैतिक बल था और यह बड़ी ही तर्क-पूर्ण थी क्योंकि चित्राल पर अधिकार स्थापित करने में भारत सरकार का अधिक हित न था, दुर्भाग्यवश रोजबरी सरकार की आज्ञा के कार्यान्वित होने के पूर्व ही इँगलैण्ड में उदारदलीय सरकार का अन्त हो गया। लार्ड सैलिसबरी की नई सरकार ने

भूत-पूर्व सरकार के निर्णय को बदल दिया और चित्राल से बृटिश सीमा तक सैनिक सड़क बनाने की आज्ञा देकर उसकी रक्षा के लिये यत्र तत्र सैनिक टुकड़ियाँ रखवा दी।

चित्राल के प्रश्न पर इंगलैण्ड के राजनीतिज्ञों में बड़ा वाद-विवाद हुआ और भारत सरकार की नीति की तीव्र आलोचना की गई। चित्राल की राजनीति में अंग्रेजों के हस्तक्षेप करने के फल-स्वरूप सम्पूर्ण क़बाइली प्रदेश में उपद्रव होने लगे थे। सम्भव है कि इन उपद्रवों के अन्य भी कारण रहे हों परन्तु एक कारण और जो सबसे बड़ा था अंग्रेजी सरकार का कबाइली क्षेत्र में हस्तक्षेप करना था। कबाइलियों को अपनी स्वतन्त्रता अपने प्राणों से अधिक प्रिय थी और उसकी रक्षा के लिये वे अपना सर्वस्व निछावर करने के लिये उद्यत रहते थे। गत दस वर्षों से कबाइली लोग अंग्रेजों की "अग्रगामी नीति" को बड़ी शंकित दृष्टि से देख रहे थे। जब उन्होंने देखा कि अनेक प्रान्तों तक रेलों तथा सड़कों का निर्माण हो रहा है और उन पर रक्षा के लिये सैनिकों की टुकड़ियाँ रक्खी जा रही हैं तो उनकी चिन्ता और अधिक बढ़ गई और वे सोचने लगे कि अफ़ग़ानिस्तान तथा उनके देश के बीच अँग्रेज अफ़सरों ने जो सीमा-रेखा निर्धारित की है वह किसी दिन बृटिश भारत की सीमा बन जायगी। उनकी यह शंका निराधार न थी क्योंकि अग्रगामी नीति के समर्थकों की कुछ ऐसी ही इच्छा थी। मुल्ला-मौलवियों ने जनता को अंग्रेजों के विरुद्ध उत्तेजित करना आरम्भ किया। इसी समय अब्दुर्रहमान ने भी "जेहाद" अथवा धर्म-युद्ध के ऊपर एक सैद्धान्तिक लेख प्रकाशित किया था। इन्हीं दिनों टर्की के सुल्तान के विरुद्ध जो मुसलमानों का नेता माना जाता था इंगलैण्ड में पर्याप्त विष वमन हो चुका था क्योंकि सुल्तान ने आरमीनिया के निवासियों पर अत्याचार किया था। इन सब बातों से क़बाइलियों को और अधिक उत्तेजना मिल गई।

जून १८९७ में उत्तरी-पश्चिमी सीमा पर भीषण संघर्ष आरम्भ हो गया। टोची घाटी में कबाइलियों ने अंग्रेज एजेन्ट तथा उसके रक्षक दल पर आक्रमण कर दिया। स्वात के निवासियों ने जुलाई के महीने में अंग्रेजों की चक़दरा तथा मालकन्द चौकियों पर भीषण आक्रमण किया। काबुल नदी के उत्तरी प्रान्त के निवासियों ने अगस्त के महीने में पेशावर के निकट नदी के दक्षिण और ख़ैबर दर्रे के निकट विद्रोह करना आरम्भ कर दिया। अफ़रीदी लोगों ने समान चट्टान की चौकियों को घेर लिया। इनमें से एक चौकी पर सिक्ख सैनिकों ने बड़ी वीरता से युद्ध करके भारतीय रण-कौशल तथा साहस का परिचय दिया। अपने कर्तव्य-स्थान पर युद्ध करता हुआ प्रत्येक सिक्ख सैनिक वीर-गति को प्राप्त हुआ। अलीमस्जिद तथा लन्डीकोतल के अंग्रेजी दुर्गों पर भी शत्रुओं ने अपना अधिकार स्थापित कर लिया। इस प्रकार सम्पूर्ण पठान प्रदेश में विद्रोह के वह्नि की ज्वाला दीप्तिमान हो गई। इस ज्वाला को शान्त करने के लिये एक विशाल सेना एकत्रित की गई और शत्रु पर दो भयङ्कर आक्रमण किये गये। पहिला आक्रमण मोहम्मद लोगों के विरुद्ध किया गया। बिन्डन ब्लड की सेना ने चक़दरा पर अपना अधिकार स्थापित करके शत्रुओं के देश में प्रवेश किया। भीषण संग्राम के उपरान्त जनवरी १८९८ में मुहम्मदों ने अस्त्र डाल दिये। दूसरा आक्रमण पेशावर के दक्षिण-पश्चिम में अफ़रीदी प्रान्त में टिराह घाटी में किया गया। यूरोपियनों को इस प्रान्त का अभी तक पूर्ण ज्ञान नहीं हो पाया था। ३५००० सैनिकों को लेकर विलियम लोकहार्ट ने प्रस्थान कर दिया। अक्तूबर के महीने में दरगाई की ऊंचाइयों पर सफल आक्रमण किये गये। अंग्रेजों के १९९ सैनिक खेत रहे। सम्पूर्ण घाटी को उजाड़ दिया गया और जिन गाँवों की क़िलेबन्दी की जा रही थी उन्हें नष्ट-भ्रष्ट कर दिया गया। इतने पर भी अफ़रीदियों का साहस भङ्ग न हुआ और अन्त तक वे 'छापामार रणनीति' का अवलम्ब लेकर बड़ी वीरता के साथ युद्ध करते रहे और अंग्रेजों के धन तथा जन की अपार क्षति पहुँचाते रहे। दिसम्बर १८९७ में प्रत्यागमन करती हुई अंग्रेजी सेना को भयानक क्षति उठानी पड़ी परन्तु अपने सीमित

साधनों के साथ अफ़रीदी लोग अँग्रेजों के साथ अधिक दिनों तक युद्ध नहीं कर सकते थे। अतएव १८६८ की वसन्त ऋतु में जब अंग्रेजों ने फिर आक्रमण आरम्भ किया तो विवश होकर अफ़रीदियों ने हथियार डाल दिया और जो जुर्माना उन पर किया गया था उसे चुका दिया। इस युद्ध में अंग्रेजों के १२०० सैनिकों ने वीर-गति प्राप्त की और उन्हें अपार धन व्यय करना पड़ा।

एलगिन द्वितीय का चरित्र तथा उसके कार्यों का मूल्यांकन— १८६६ में एलगिन ने भारत से प्रस्थान कर दिया। १६०५ से १६०८ तक वह उपनिवेशीय सेक्रेटरी रहा और १६१७ में उसका परलोकवास हो गया। एलगिन एक गम्भीर तथा सतर्क शासक था। यह उसका दुर्भाग्य था कि उसके शासन काल में ऐसी समस्यायें उपस्थित हुई जिनका सुलझाना योग्यतम वाइसराय के लिये भी दुष्कर सिद्ध होता। उसने स्वयं कोई महत्वपूर्ण कार्य नहीं किया और न किसी नई आयोजना का प्रतिपादन किया। प्रायः वह अपने स्थायी अफ़सरों की ही सहायता तथा परामर्श से शासन चलाया करता था। सम्भवतः इसी से उसके शासन की इतनी तीव्र आलोचना की गई है। इसमें सन्देह नहीं कि उसके शासन काल में अनेक बड़ी-बड़ी भूलें की गईं और अनेक कार्यों में वाइसराय के दृढ़-संकल्प का अभाव परिलक्षित होता है। वास्तविकता तो यह है कि एलगिन एक साधारण प्रतिभा का व्यक्ति था और उसमें वाइसराय जैसे गौरवान्वित पद के ग्रहण करने की न तो योग्यता थी और न अनुभव ही था।

अध्याय १२

लार्ड कर्ज़न (१८६६-१६०५)

लार्ड कर्जन का परिचय—जॉज नैथानियल कर्जन वैरन स्कार्सडेल का ज्येष्ठ पुत्र था। कर्जन का जन्म डर्बीशायर इङ्गलैंड में केडिल्स्टन नामक स्थान में जनवरी १८५९ में हुआ था। उसने आक्सफोर्ड में इटन तथा बैलिओल में शिक्षा प्राप्त की थी। आक्सफोर्ड यूनियन में उसने सक्रिय तथा सराहनीय भाग लिया था और १८८० में वह उसका प्रेसीडेन्ट हो गया था। १८८२ से १८९५ तक उसने दूर-दूर की यात्रायें कीं और दो बार विश्व का चक्कर लगाया। १८८६ में उसने पार्लियामेण्ट में प्रवेश किया और १८९१-९२ में वह भारत का उप-सचिव था। १८९५ से १८९८ तक वह विदेशी उप-सचिव के पद पर था। वाइसराय के पद पर नियुक्त होने के पूर्व चार बार वह भारतवर्ष आ चुका था। एशिया के प्रायः सभी देशों का वह भ्रमण कर चुका था। फ़ारस के शाह, अफ़ग़ानिस्तान के अमीर, कोरिया तथा श्याम के शासकों से उसका परिचय था और पूर्वीय राजनीति का उसे प्रचुर ज्ञान था। इस सम्बन्ध में उसने तीन ग्रन्थ भी लिखे थे। उसका संसदीय जीवन अत्यन्त प्रतिभापूर्ण था। वह इङ्गलैण्ड का प्रधान-मन्त्री बनना चाहता था परन्तु उसकी यह मनोकामना पूर्ण न हो सकी। भारतवर्ष का वाइसराय बनने की उसकी उत्कट इच्छा प्रारम्भ ही से थी और ४० वर्ष की अवस्था में उसकी इस इच्छा की पूर्ति हुई। इन दिनों भारत के पश्चिमोत्तर सीमा की समस्या इतनी जटिल हो रही थी कि उस समय उस विषय के पूर्ण-ज्ञाता वाइसराय की आवश्यकता थी। ऐसी स्थिति में लार्ड कर्जन से अधिक उपयुक्त कोई अन्य व्यक्ति न था। जनवरी १८९९ में वह भारत आ गया और वाइसराय के पद को ग्रहण कर लिया।

लार्ड कर्जन की गणना भारत के योग्यतम वाइसरायों में होती है। वह एक अत्यन्त कुशल वक्ता था और कल्पना का उसमें अभाव न था। प्रत्येक बात को वह अविलम्ब समझ जाता था। वह इतना कुशल प्रबन्धक था कि वह किसी कार्य को अव्यवस्थित नहीं छोड़ता था। परिश्रमशीलता उसमें उच्च-कोटि की थी। उसकी आधीनता में कार्य करने वालों को उसके साथ सहयोग करना अत्यन्त कठिन हो जाता था। स्वेच्छाचारिता से कार्य करने की उसकी प्रवृत्ति थी और उसमें अहम् भाव का प्राचुर्य था। बृटिश साम्राज्य का उसे बड़ा गर्व था। भारत जैसे विशाल देश का वह शासक था इस तथ्य का भी वह विस्मरण नहीं कर पाता था। भारतवर्ष को वह बृटिश साम्राज्य का केन्द्र समझता था। इङ्गलैण्ड से चलते समय उसने कहा था, "वाइसराय के पद को मैं सहर्ष स्वीकार करता हूँ क्योंकि मैं भारतवर्ष, उसके निवासी, उसके इतिहास, उसके शासन, उसके जीवन तथा उसकी सभ्यता के मनोग्राही रहस्यों से प्रेम करता हूँ।" लार्ड कर्जन के इन शब्दों से भारतीयों के मन में आशा की भावना जागृत हुई थी और चौदहवीं कांग्रेस में उसके स्वागत का प्रस्ताव पास किया गया परन्तु अन्त में यह आशा एक दुराशा मात्र सिद्ध हुई और भारत का कोई भी अन्य वाइसराय इतना अलोक प्रिय बन कर नहीं गया था जितना लार्ड कर्जन। इस अलोकप्रियता का एक प्रधान कारण यह था कि भारतीयों में उसका विश्वास न था और उनके नैतिक स्तर को वह अत्यन्त निम्न-कोटि का समझता था और उनसे घोर घृणा रखता था।

कर्जन की सीमा नीति—लार्ड कर्जन की विदेशी नीति का सम्बन्ध कबाइली क्षेत्र, अफ़गानिस्तान, फ़ारस तथा तिब्बत के साथ था। अब इनका अलग-अलग वर्णन किया जायगा।

(१) कबाइली क्षेत्र सम्बन्धी नीति—ज्यों ही लार्ड कर्जन ने बृटिश भारत के शासन की बागडोर अपने हाथ में ली त्यों ही उसका ध्यान कबाइली क्षेत्र की ओर आकृष्ट हुआ। लार्ड एलगिन द्वितीय के ही शासन काल में चित्राल में उपद्रव आरम्भ हो गये थे और वहां पर शान्ति तथा व्यवस्था स्थापित करने के लिये सेनायें भेजनी पड़ी थीं। यह सेनायें वापस नहीं बुलाई गई थी और अब भी वहीं पर जमी हुई थीं। कबाइली क्षेत्र में अंग्रेजों के विरुद्ध जेहाद अथवा धर्म-युद्ध भी चल रहा था और इसका सामना करने के लिये दो अंग्रेजी सेनायें भेज दी गई थीं। १८९९ में लगभग १०००० बृटिश सेनायें चित्राल, टाची की घाटी, लैन्डी कोटल तथा खैबर के दर्रे में विद्यमान् थीं। इस स्थिति में लार्ड कर्जन को अपनी कबाइली क्षेत्र सम्बन्धी नीति निर्धारित करनी थी। कर्जन के पूर्ववर्ती वाइसरायों ने दो नीतियों का अनुसरण किया था अर्थात् "अग्रगामी नीति" तथा "पृष्ठगामी नीति" इन दोनों नीतियों का संक्षिप्त विश्लेषण कर देना स्थान-संगत होगा।

अग्रगामी नीति—लार्ड लिटन इस नीति का कट्टर समर्थक था। लिटन तथा उसके अनुयायी बृटिश भारत को वैज्ञानिक सीमा प्रदान करना चाहते थे। अग्रगामी नीति के समर्थकों का कहना था कि (१) भारत की अंग्रेजी सरकार को आगे बढ़ कर कबाइली प्रदेश में अपनी सेनाओं की टुकड़ियों को रखना चाहिये, (२) यदि सम्भव हो तो रेलें नहीं तो मोटरें जाने के लिये सड़कें बनवाना चाहिये, (३) स्थानीय श्रमजीवियों को कार्य-नियोजित किया जाय और (४) इस कार्य के लिये स्थानीय सामग्री का उपयोग करना चाहिये। अग्रगामी नीति के समर्थकों का कहना था कि यह नीति अन्त में लाभ दायक तथा अल्पव्ययी सिद्ध होगी। परन्तु कबाइली क्षेत्र में अग्रगामी नीति के अनुसरण करने के परिणाम अच्छे नहीं हुये थे। ड्यूरैण्ड रेखा की ओर अग्रसर होने के फलस्वरूप सीमा प्रदेश में विद्रोहों का विस्फोट हो गया था। गिलगित चित्राल तथा 'वजीरिस्तान में विद्रोह' की अग्नि भड़क उठी जिसे बड़ी कठिनता से बुझाया जा सका था। १८९३ में गिलगित तथा चित्राल पर बृटिश संरक्षण स्थापित हो गया था परन्तु १८९७ तक समस्या सुलझ नहीं पाई थी। १८९७ से बृटिश सरकार की नीति यथासम्भव स्थिर रहने की थी और आवश्यकता पड़ने ही पर आगे बढ़ने के लिये क़दम उठाया जाता था।

पृष्ठगामी नीति—इस नीति का कट्टर समर्थक लार्ड लारेन्स था। लारेन्स तथा उसके अनुयायी तटस्थता तथा निहस्तक्षेप की नीति में विश्वास करते थे। यह लोग सिन्ध नदी को भारत में बृटिश राज्य की सीमा बनाना चाहते थे। यह लोग अफ़गानिस्तान अथवा कबाइली क्षेत्र में हस्तक्षेप करने के विरोधी थे। इनका कहना था कि बृटिश भारत की सीमा पर सेनायें रख कर और आन्तरिक सुशासन तथा सुव्यवस्था द्वारा बृटिश साम्राज्य की सीमा की रक्षा की जा सकती है इस महान् अकर्मण्यता की नीति का अनुसरण करना न तो परिस्थिति संगत था और न न्याय संगत था क्योंकि सिन्ध नदी के उस पार की जनता को पठानों की दया पर छोड़ देना भारत सरकार की प्रतिष्ठा को ठेस पहुँचाना था और नैतिक दृष्टिकोण से यह सर्वथा अनुचित था।

कर्जन की मध्यममार्गी नीति—भारत में आने के पूर्व लार्ड कर्जन "अग्रगामी नीति" का कट्टर प्रतिपादक तथा समर्थक था। पार्लियामेंट में उसने चित्राल सम्बन्धी एलगिन की नीति तथा चित्राल से पेशावर तक सड़क बनवाने का समर्थन किया था। परन्तु भारत आने पर उसने न तो "अग्रगामी नीति" का अनुसरण किया और न "पृष्ठगामी

नीति" का वरन् उसने "मध्यम मार्ग" का अवलम्ब लिया। उसकी नीति को "शान्तिपूर्ण प्रवेश की नीति" (Policy of Peaceful Penetration) की संज्ञा दी जा सकती है। वह चित्राल, क्वेटा तथा अन्य स्थानों को जहाँ पर अंग्रेजों ने अपना अधिकार स्थापित कर लिया था खाली नहीं करना चाहता था परन्तु साथ ही साथ वह बहुत आगे बढ़ने के भी पक्ष में न था।

कर्जन की नीति का क्रियात्मक स्वरूप—कर्जन ने अपनी "मध्यम मार्गी नीति" को कार्यान्वित किया जिसका क्रियात्मक स्वरूप निम्नलिखित कार्यों में परिलक्षित होता है :—

(१) लार्ड कर्जन ने यह आज्ञा दे दी कि धीरे-धीरे क़बाइली क्षेत्र से ब्रिटिश सेनायें हटा ली जाय।

(२) इन ब्रिटिश सेनाओं के स्थान पर अब क़बाइलियों की सेनायें अंग्रेजी अफ़सरों के नियन्त्रण में रक्खी गईं।

(३) दरगाइ, जमरुद तथा थाल तक सैनिक महत्व की रेलें बनवाई गईं। जमरुद खैबर दर्रे के प्रवेश द्वार पर और थाल कुर्रम घाटी के द्वार पर स्थित था।

(४) क़बाइली क्षेत्र में अस्त्र-शस्त्र के आयात को भारत सरकार ने सीमित कर दिया।

(५) भारत सरकार ने क़बाइलियों को यह चेतावनी दे दी कि यद्यपि उनकी स्वतन्त्रता को आदर की दृष्टि से देखा जायगा और किसी प्रकार का हस्तक्षेप न किया जायगा परन्तु यदि वे ब्रिटिश राज्य पर आक्रमण करेंगे तो उसे सहन न किया जायगा और उन्हें कठोर दण्ड देने में लेशमात्र संकोच न किया जायगा।

(६) क़बाइलियों के आक्रमण से भारत के लोगों की रक्षा करने के लिये भारत सरकार ने विशेष प्रकार की पुलिस को भर्ती किया। इन पुलिस के सिपाहियों का यह कर्तव्य था कि वे क़बाइलियों के आक्रमण का सामना करने के लिये सदैव उद्यत रहें और यदि कभी आक्रमण हो जाय तो उन्हें मार भगायें और क़बाइली क्षेत्र तक उनका पीछा करें।

(७) क़बाइली क्षेत्र में सड़कों का निर्माण किया गया जिससे यदि आक्रमण होने पर क़बाइलियों का पीछा किया जाय तो किसी प्रकार की कठिनाई न हो।

(८) जब इन सड़कों का निर्माण हो रहा था तब इन क़बाइलियों को बहुत सा काम दिया गया और उनकी जीविका की भी व्यवस्था की गई जिससे वे कुछ धन पैदा कर सकें।

(९) क़बाइली क्षेत्र से जो सेनायें हटाई गईं उन्हें उन कैन्टूनमेन्टों में रक्खा गया जो क़बाइली क्षेत्रों की सीमा पर स्थापित किये गये थे। इन कैन्टूनमेण्टों को सड़कों से सम्बन्धित कर दिया गया था। यह सब व्यवस्थायें इस अभिप्राय से की गई थीं कि आवश्यकता पड़ने पर क़बाइली क्षेत्रों में सरलता के साथ शीघ्र सेनायें भेजी जा सकें।

(१०) लार्ड कर्जन के पूर्व उत्तरी-पश्चिमी सीमा के जिले पंजाब के लेफ्टीनेन्ट गवर्नर के नियन्त्रण तथा अनुशासन में थे और भारत सरकार का प्रत्यक्ष रूप से उन पर कोई नियन्त्रण नहीं रहता था। इसका परिणाम यह होता था कि प्रत्येक कार्य पंजाब सरकार के माध्यम द्वारा करना पड़ता था। इससे कार्य में बड़ा विलम्ब होता था। इसके अतिरिक्त चूंकि लेफ्टीनेन्ट गवर्नर पंजाब के कार्यों में अत्यधिक व्यस्त रहता था अतएव वह उत्तरी पश्चिमी सीमा की ओर यथोचित ध्यान नहीं दे पाता था। इससे कार्य समुचित रीति से नहीं हो पाता था। लार्ड लिटन ने भारत सरकार के प्रत्यक्ष नियन्त्रण में एक अलग प्रान्त

बनाने का सुझाव रक्खा था। परन्तु उसका यह सुझाव स्वीकार नहीं किया गया। लार्ड कर्जन १९०१ में उत्तरी पश्चिमी सीमा का एक अलग प्रान्त स्थापित कराने में सफल हुआ। इस प्रान्त के शासन के लिये एक चीफ़ कमिश्नर नियुक्त कर दिया गया जो सीधे भारत सरकार के प्रति उत्तरदायी बना दिया गया।

कर्जन की नीति की सफलता—कर्जन की क़बाइली क्षेत्र सम्बन्धी नीति सर्वथा सफल रही। १९०१ की एक दुर्घटना के अतिरिक्त क़बाइली क्षेत्र में अन्य कोई ऐसी अवांछनीय घटना नहीं घटी जिसके लिये क़बाइलियों को दोषी ठहराया जाय। कर्जन के उपरान्त उसके उत्तराधिकारियों ने भी उसकी क़बाइली क्षेत्र सम्बन्धी नीति का अनुसरण करके उसकी उपयुक्तता का अनुमोदन किया। कर्जन ने स्वयम् १९०८ में अपनी नीति का समर्थन करते हुये कहा था, "यदि किसी को उस सीमा-नीति की व्यवस्था की सफलता में सन्देह था जो दस वर्षों से चल रही है तो वह सन्देह निश्चय ही दूर हो गया और मुझे आशा है कि हम लोग फिर कभी क़बाइली क्षेत्र में आगे बढ़ने, सीमा तक हड़पने और क़बाइली प्रदेश में होकर मार्ग ले जाने की जंगली बिल्ली की आयोजनाओं को न सुनेंगे।"

(२) अफ़ग़ानिस्तान के साथ सम्बन्ध—लार्ड एलगिन द्वितीय के शासन काल में भारत सरकार तथा अफ़ग़ानिस्तान की सरकार के सम्बन्ध एक दूसरे के साथ अच्छे नहीं थे। काबुल का अमीर अब्दुर्रहमान अत्यन्त विकट स्थिति में था। एक ओर तो ब्रिटिश सरकार उस पर यह आरोप लगा रही थी कि वह सीमान्त प्रदेश के लोगों को अंग्रेजों के विरुद्ध भड़का रहा है और दूसरी ओर अफ़ग़ान लोग अंग्रेजों के साथ दुर्बल नीति अनुसरण करने का दोष उस पर लगा रहे थे। इस गम्भीर स्थिति में अमीर अत्यन्त सतर्कता तथा सावधानी से कार्य कर रहा था। उसने अपने देशवासियों को आदेश दिया कि वे शान्ति के साथ रहें और जेहाद आदि के नारे लगाना बन्द कर दें। उसने उनको समझाया कि जब युद्ध का समय आ जायगा तब वह स्वयम् उनका नेतृत्व ग्रहण करेगा और अंग्रेजों के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर देगा। दुर्भाग्यवश १९०१ में अब्दुर्रहमान का परलोकवास हो गया और उसके स्थान पर उसका पुत्र हबीबुल्ला निर्विरोध अफ़ग़ानिस्तान का अमीर बन गया परन्तु ब्रिटिश सरकार के साथ उसके सम्बन्ध अच्छे न थे। इसका कारण यह था कि अब्दुर्रहमान के साथ अंग्रेजों ने जो सन्धि की थी उसके सम्बन्ध में दोनों सरकारों में मत-भेद था। अंग्रेजी सरकार इस सन्धि को व्यक्तिगत मानती थी और नये अमीर के साथ फिर से नई सन्धि करना चाहती थी परन्तु हबीबुल्ला का कहना था कि यह सन्धि वैयक्तिक न थी वरन् दो सरकारों के बीच में थी अतएव फिर से नई सन्धि करने की आवश्यकता नहीं थी। इस विवाद के फल-स्वरूप अमीर तथा अंग्रेजों में मनोमालिन्य बढ़ गया और कुछ समय तक भारतवर्ष तथा अफ़ग़ानिस्तान के बीच सम्बन्ध बन्द रहा। नये अमीर ने उस वार्षिक आर्थिक सहायता का लेना बन्द कर दिया जो उसके पिता को भारत सरकार से मिला करती थी और तीन वर्ष तक उसने अंग्रेजों के साथ सम्बन्ध न रक्खा। १९०४ में लार्ड कर्जन इंगलैण्ड गया हुआ था और उसके स्थान पर लार्ड ऐम्प्टहिल वाइसराय के रूप में कार्य कर रहा था। उसने सर लुईडेन को राजदूत बनाकर काबुल भेजा। यह शिष्ट मण्डल लगभग साढ़े तीन महीने तक काबुल में रहा। इस मिशन के परिश्रम के फल-स्वरूप अमीर तथा अंग्रेजी सरकार में समझौता हो गया और दोनों राज्यों का मनोमालिन्य दूर हो गया। अमीर को कुछ और सुविधायें दी गईं और सन्धि के सम्बन्ध में उसके दृष्टिकोण को स्वीकार कर लिया गया। उसको महाराज "(His Majesty) की उपाधि स्वीकार कर ली गई और दोनों राज्यों में मैत्री स्थापित हो गई। अमीर ने जो वार्षिक आर्थिक सहायता का धन पड़ा हुआ था उसे लेना स्वीकार कर लिया।

(३) फ़ारस की खाड़ी की समस्या—लार्ड कर्जन के शासन काल में फ़ारस

की खाड़ी की समस्या भी अत्यन्त गम्भीर हो गई थी। परन्तु इस समस्या का सामना उसने बड़े धैर्य तथा साहस के साथ किया और उसे पूर्ण सफलता प्राप्त हुई।

फारस की खाड़ी का महत्व—फ़ारस की खाड़ी का अंग्रेजों के लिये राजनैतिक तथा व्यापारिक दोनों महत्व था। व्यापारिक महत्व तो यह था कि यह खाड़ी उनके व्यापारिक मार्ग पर स्थित थी। अतएव अपने व्यापार की रक्षा के लिये यह उनके लिये आवश्यक था कि वे सामुद्रिक तट पर विशेषकर अदन से बलूचिस्तान तक अपना प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष नियन्त्रण बनाये रक्खें। फ़ारस की खाड़ी सत्रहवीं शताब्दी में अंग्रेजों के अन्वेषण तथा व्यापार का बहुत बड़ा केन्द्र था। अतएव फ़ारस की खाड़ी में अंग्रेजों की बड़ी अभिरुचि थी। उन्होंने उस खाड़ी से समुद्री डाकुओं को मार भगाया था और वहाँ पर शान्ति स्थापित कर दी थी। फ़ारस की खाड़ी का राजनैतिक महत्व अंग्रेजों के लिये व्यापारिक महत्व से कुछ कम न था। अपने भारतीय साम्राज्य की सुरक्षा के लिये भी उन्हें फ़ारस की खाड़ी पर अपना पूरा नियन्त्रण स्थापित करना आवश्यक था।

खाड़ी के सम्बन्ध में अँग्रेजों की नीति—फ़ारस की खाड़ी के सम्बन्ध में अंग्रेजों की नीति बड़ी ही कूटनीतिक तथा दूरदर्शितापूर्ण थी। यद्यपि १९ वीं शताब्दी के अन्त तक फ़ारस की खाड़ी पर उनका पूर्ण रूप से वास्तविक अधिकार तथा नियंत्रण स्थापित हो गया था परन्तु उन्होंने कभी इस अधिकार को प्रकट नहीं किया और न इसका कभी दावा किया। यहाँ पर रहने वाले समुद्री डाकुओं का निष्कासन करके तथा सुरक्षा के लिये पुलिस का प्रबन्ध करके १८५३ से ही अंग्रेजों ने सभी देशों के जहाजों को यहाँ पर स्वतन्त्र रूप से व्यापार करने दिया था। यद्यपि अंग्रेजों को अपने व्यापार तथा भारतीय साम्राज्य की सुरक्षा के लिये सम्पूर्ण समुद्र तट की देख भाल करनी पड़ती थी परन्तु अभी तक उन्होंने किसी भी स्वतन्त्र मुस्लिम राज्य के कार्य में हस्तक्षेप नहीं किया था। इसी प्रकार खाड़ी के किसी ओर भी उन्होंने कोई भी स्थलीय आधिपत्य नहीं स्थापित किया था परन्तु वह किसी अन्य यूरोपीय शक्ति को भी ऐसा करने देना नहीं चाहते थे।

खाड़ी में प्रभुत्व स्थापित करने की अन्य जातियों की चेष्टायें—यूरोप के अन्य राष्ट्रों ने इङ्गलैण्ड के साथ स्पर्धा तथा ईर्ष्या करना आरम्भ किया। फ़ारस की खाड़ी में अंग्रेजी प्रभाव उनकी आँखों में खटकने लगा। १८१८ में एक फ्रैंच राजनीतिज्ञ ने अपनी व्यवस्थापिका सभा में यह घोषणा की कि ग्रेट बृटेन का फारस की खाड़ी में अकेले ही शान्ति बनाये रखने तथा अरब, फ़ारस एवं टर्की के शासकों के पारस्परिक झगड़ों के निर्णय करने के अधिकार को यूरोप की किसी भी शक्ति ने स्वीकार नहीं किया है। इस वक्तव्य के उपरान्त ११ वर्षों तक फ्रांस, रूस, जर्मनी तथा टर्की अपनी कूटनीतिक चालों द्वारा अंग्रेजों के गुप्त अधिकारों की मान्यता की परीक्षा लेते रहे।

फ्रांस की चेष्टा—१८९८ में ओमन के सुल्तान ने मसकात से पाँच मील दूर दक्षिण-पूर्व में स्थित जिरोह नामक स्थान पर फ्रांस को अपने जहाजों के लिये कोयला पानी लेने का स्टेशन बनाने और उसकी किलेबन्दी करने का अधिकार दे दिया परन्तु १८९१ में सुल्तान ने अंग्रेजों के साथ एक गुप्त समझौता किया था जिसके द्वारा उसने यह वचन दिया था कि वह किसी भी यूरोपीय शक्ति को अपने राज्य में कोई स्थान न देगा। १८९९ में जब लार्ड कर्जन को सुल्तान तथा फ्रांसीसियों के इस समझौते का पता लगा तब उसने कलकत्ते से जहाजी बेड़े का दस्ता ओमन की खाड़ी के लिये भेज दिया। इस दस्ते ने सुल्तान को यह भय दिखा कर कि उसके राजमहल को तोपों से उड़ा दिया जायगा फ्रांस का दिये हुये अधिकार को समाप्त करवा दिया।

रूस की चेष्टा—१९०० ई० में रूस ने भी फ़ारस की खाड़ी के उत्तरी समुद्र तट पर

एक कोयला पानी लेने का स्टेशन बनाने का प्रयास किया परन्तु लार्ड कर्जन ने हस्तक्षेप करके रूस के इस प्रयास का विफल बना दिया।

टर्की का प्रयास—खाड़ी के सिरे पर कोवेत नामक एक बन्दरगाह है। यहा के शासकों को शेख मुबारक की उपाधि प्राप्त थी। टर्की उस पर अपना अधिकार स्थापित करना चाहता था परन्तु अंग्रेजों ने ऐसा न होने दिया। १८९९ में अंग्रेजों न शेख मुबारक के साथ एक समझौता करके उसको इस बात के मानने के लिये वाध्य किया कि वह किसी भी विदेशी शक्ति को किसी भी प्रकार का विशेष सुविधा न दे।

जर्मनी का प्रयास—१९०० में जर्मनी ने अपनी बर्लिन-बगदाद रेल के लिये स्टेशन बनाने के लिये स्थान की प्रार्थना की परन्तु अंग्रेजों के साथ की गई १८९९ की सन्धि के अनुसार शेख मुबारक ने जर्मनी की इस प्रार्थना को अस्वीकार कर दिया।

लैन्सडाउन की घोषणा—बृटिश परराष्ट्र-सचिव लार्ड लैन्सडाउन ने १९०३ में यह महत्वपूर्ण घोषणा की कि यदि कोई भी शक्ति फ़ारस की खाड़ी में किसी भी स्थान पर अपना अधिकार स्थापित करने की चेष्टा करेगी तो अँग्रेज जाति पूर्ण शक्ति के साथ उसका विरोध करेगी।

उत्तरी फारस में रूस का प्रभाव—फ़ारस का राज्य दो प्रभाव-क्षेत्रों में विभक्त था। उत्तरी फ़ारस रूस के प्रभाव-क्षेत्र में था और दक्षिण फ़ारस बृटेन के। परन्तु धीरे-धीरे रूस का प्रभाव फ़ारस में बढ़ता जा रहा था और बृटेन का कम होता जा रहा था। खीवा तथा बुखारा के पतन के उपरान्त रूस की सीमा १००० मील तक फारस की सीमा से आ मिली थी कैस्पियन पर रेलवे लाइन के बन जाने तथा वाल्गा नदी को जहाजों के गमनागमन के योग्य बनाये जाने के फल-स्वरूप उत्तरी तथा मध्य फ़ारस का अधिकांश व्यापार रूसियों के हाथ में चला गया था। राजनैतिक तथा व्यापारिक दोनों ही दृष्टिकोणों से फारस पर रूस का अधिकाधिक प्रभाव स्थापित होता जा रहा था। चूँकि फारस की उत्तरी सीमा सुनिश्चित नहीं थी अतएव उसे सरलता से भङ्ग किया जा सकता था। फारस की राजधानी तेहरान रूस से लगभग १०० मील दूर थी और फारस की सर्वोत्तम सेना के अफसर रूसी थे। यदि दक्षिण फारस में बृटेन का प्रभाव न होता तो सम्भवतः रूस का जार सम्पूर्ण फारस को अपने राज्य में सम्मिलित कर लिये होता। रूस की इस बढ़ती हुई शक्ति से और विशेषकर फारस के ऊपर उसके प्रभाव के बढ़ जाने से बृटिश सरकार को बड़ी चिन्ता हुई जिसे लार्ड लैन्सडाउन ने अपने वक्तव्य में ध्वनित किया था।

कर्जन की प्रतिक्रिया—लार्ड कर्जन की कई वर्षों से यह धारणा थी कि फारस में अंग्रेजों के प्रभाव को अधिक विस्तृत तथा प्रबल बनाना चाहिये। फलतः १९०३ में वह स्वयं फारस की खाड़ी में गया और स्थिति से अवगत हुआ। खाड़ी के बन्दरगाहों तथा देश के भीतरी व्यापारिक केन्द्रों में दूतावास स्थापित किया। १९०३-५ में उसने सीमा निर्धारण के लिये सर हनरी मैकमेहोन की अध्यक्षता में एक शिष्ट-मण्डल सीस्तान भेजा और सीस्तान तक एक व्यापारिक मार्ग बनाने के लिये क्वेटा से नुश्की तक रेलवे लाइन बनाने की आयोजना तैयार कराई। कर्जन की यह सभी आयोजनायें फारस में अंग्रेजों के प्रभाव को बढ़ाने के लिये की गई थीं।

कर्जन की नीति की आलोचना—लार्ड कर्जन की फारस की खाड़ी की नीति की जो बृटिश मन्त्रि मण्डल की भी नीति थी इतिहासकारों ने तीव्र आलोचना की है। यह नीति अत्यन्त उत्तेजक तथा तानाशाही बतलाई गई है। परन्तु जब हम इस नीति के सफल परिणामों पर विचार करते हैं तब यह आलोचना निराधार सिद्ध हो जाती है। फारस की खाड़ी में शान्ति तथा सुव्यवस्था स्थापित रखने का पूर्ण श्रेय अंग्रेजों को ही प्राप्त है। इसके अतिरिक्त फारस की खाड़ी में स्थापित अंग्रेजों की प्रतिष्ठा ध्वस्त होने

जा रही थी जिसका बचाना नितान्त आवश्यक था। यदि फारस की खाड़ी पर अँग्रेजों का प्रभुत्व समाप्त हो गया होता तो बृटिश व्यापार तथा उनका भारतीय साम्राज्य दोनों ही आपत्ति में पड़ गये होते। लार्ड कर्जन की कार्यवाही का इंगलैण्ड के लिये सबसे अधिक लाभकारी परिणाम यह हुआ कि अन्य शक्तियों ने अपने अधिकार स्थापित करने के प्रयत्नों को त्याग दिया। यदि लार्ड कर्जन आवश्यक कार्यवाही न किये होता तो निस्संदेह खाड़ी निकट भविष्य में रण-स्थल बन गई होती।

(३) तिब्बत के साथ सम्बन्ध—अंग्रेजों का तिब्बत के साथ क्या सम्बन्ध था इसका अध्ययन करने के पूर्व तिब्बत की भौगोलिक तथा राजनैतिक स्थिति का संक्षिप्त परिचय प्राप्त कर लेना आवश्यक है। तिब्बत का पठार हिमालय पर्वत के उत्तर में स्थित है। इसके पश्चिम तथा दक्षिण में काश्मीर, पंजाब, उत्तर-प्रदेश, नैपाल, शिकम, भूटान, पूर्वी बंगाल तथा ब्रह्मा स्थित हैं। इसके पूर्व की ओर चीन का साम्राज्य तथा उत्तर में पूर्वी तुर्कस्तान विद्यमान् हैं। संसार का कोई अन्य इतना बड़ा देश इतनी अधिक ऊँचाई पर स्थित नहीं है। लास्सा इसकी राजधानी है। देश का अधिकांश भाग वर्ष भर तुषाराच्छादित रहता है और तीव्र गति से आँधियाँ चलती रहती हैं। परन्तु घाटियाँ बड़ी ही उपजाऊ हैं जिनमें लहलहाते क्षेत्र दृष्टिगोचर होते हैं। मार्ग अत्यन्त दुर्गम हैं और यातायात के साधनों का सर्वथा अभाव है। इस दुर्गम स्थल में गाड़ियों का चलना सर्वथा असम्भव है। इस प्रकार प्रकृति ने ही इस देश को अन्य देशों से पृथक् कर दिया है। अतएव इस देश ने अन्य देशों के सामाजिक, धार्मिक तथा राजनैतिक प्रभावों से अपने को मुक्त रखने का सतत प्रयास किया है।

तिब्बत के निवासी बौद्ध धर्म के अनुयायी हैं। यहाँ का राज्य धर्म-प्रभावित और यहाँ पर कुलीनतन्त्रात्मक व्यवस्था है। फलतः शासन की बागडोर उच्च-वर्ग के लोगों के हाथ में है। कार्य-कारिणी के दो अध्यक्ष होते हैं एक लासा का दलाई लामा और दूसरा ताशिलहुन्पो मठ का ताशी लामा। इनको बुद्धजी का अवतार माना जाता है। जब इनमें से किसी का परलोकवास हो जाता है तो उसकी मृत्यु के समय उत्पन्न नवजात शिशुओं में से किसी एक को उसका उत्तराधिकारी नियुक्त कर देते हैं। जब तक वह पूर्णावस्था को नहीं प्राप्त हो जाता तब तक राज्य का शासन एक समिति द्वारा सचालित होता है। धार्मिक विषयों में ताशीलामा का निर्णय सर्वमान्य होता था परन्तु राजनैतिक क्षेत्र में दलाई लामा का प्राधान्य है। दलाई लामा तथा उसकी कार्यकारिणी को परामर्श देने के लिये एक राष्ट्रीय सभा होती है जिसे सोंग-डुके नाम से पुकारा जाता है। इसमें वंश-परम्परागत सरदारों तथा लासा के तीन मठों के लामाओं का प्राधान्य रहता है। अठारहवीं शताब्दी के प्रारम्भ से ही तिब्बत पर चीन का आधिपत्य स्थापित रहा है और चीन के दो अफसर जो अमबन कहलाते हैं लासा में निवास करते हैं और तिब्बत की सरकार पर नियन्त्रण रखते हैं। तिब्बत में मठों का बाहुल्य है जो लोगों के सामाजिक जीवन पर पूर्ण नियन्त्रण रखते हैं। यहाँ के लोगों का जीवन अत्यन्त सरल है और कृषि इनका मुख्य व्यवसाय है।

कर्जन के पूर्व का सम्बन्ध—अँग्रेजों का तिब्बत के साथ सम्बन्ध वारेन हेस्टिंग्स के शासन काल से आरम्भ होता है। १७७४-७५ में गवर्नर-जनरल ने ईस्ट इण्डिया कम्पनी के एक क्लर्क को जिसका नाम जार्ज बोगले था ताशीलामा के पास भेजा था। वहाँ पर उसका बड़ा आदर-सत्कार हुआ। १७८३ में फिर सैमुअल टर्नर को भेजा गया परन्तु उसका उतना अच्छा स्वागत न हुआ जितना बोगले का हुआ था और तिब्बत के लोगों ने इस बात को आभासित कर दिया कि वे अंग्रेजों के साथ व्यापारिक सम्बन्ध नहीं स्थापित करना चाहते थे। १८११-१२ में मैनिङ्ग जो एक स्वतन्त्र राजनीतिज्ञ था लासा

गया और दलाईलामा से मिलने में सफल हुआ। इस बात का पहिले उल्लेख किया जा चुका है कि १८८५-८६ में चीन की सरकार ने अनिच्छा होते हुये भ अंग्रेजों को तिब्बत में एक व्यापारिक शिष्टमण्डल भेजने की स्वीकृत दे दी थी परन्तु यह मिशन विफल सिद्ध हुआ और युद्ध का कारण बन गया। १८८७ में तिब्बत के निवासियों ने शिकम राज्य पर जो अंग्रेजों के सरक्षण में था आक्रमण कर दिया था परन्तु एक वर्ष बाद अंग्रेजों ने उन्हें वहाँ से निष्कासित कर दिया। १८९० में ग्रेट ब्रिटेन तथा चीन के एक सम्मिलित सम्मेलन में तिब्बत तथा शिकम की विवादग्रस्त सीमा का निर्णय किया गया और दोनों देशों का एक सम्मिलित आयोग व्यापार की सुविधाओं को बढ़ाने तथा सीमावर्ती चरागाहों के प्रश्न का निर्णय करने के लिये नियुक्त किया गया। उन दिनों तिब्बत तथा शिकम के लोग एक दूसरे की सीमा के अन्दर अपने अपने पशुओं को चरा लिया करते थे। १८९३ में आयोग ने एक और समझौता किया जिसके द्वारा तिब्बत तथा शिकम की सीमा पर स्थित यातुङ्ग नामक स्थान में एक व्यापारिक मण्डी की स्थापना की गई परन्तु व्यावहारिक रूप में इससे कोई विशेष लाभ न हुआ। तिब्बत के लोग अंग्रेजी हस्तक्षेप को सहन करने के लिये किसी भी दशा में उद्यत न थे।

कर्जन के काल में सम्बन्ध—जिस समय लार्ड कर्जन भारत का गवर्नर-जनरल तथा वाइसराय बन कर आया उस समय तिब्बत में बहुत बड़े आन्तरिक परिवर्तन हो रहे थे। तिब्बत के इस समय के राजनैतिक वातावरण में दो बातें प्रधान थी। पहिली बात तो यह थी कि तिब्बत के लोग चीन के प्रभुत्व से मुक्ति पाने के लिये आतुर हो रहे थे और रूस के प्रभाव का स्वागत करने के लिये उद्यत थे। दूसरी बात यह थी कि इस समय दलाइलामा पूर्णावस्था को प्राप्त हो गया था और शासन की बागडोर अपने हाथ में लेकर वह स्वयम् शासन करने लगा था। वह बड़ा ही योग्य तथा महत्वाकांक्षी शासक था और उसने कौंसिल को जो उसकी अल्पावस्था में शासन को चलाती थी अलग कर दिया। इस वातावरण में लार्ड कर्जन को तिब्बत के साथ भारत सरकार का सम्बन्ध स्थापित करना पड़ा।

तिब्बत में रूस के प्रभाव की वृद्धि—उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त से रूस का प्रभाव तिब्बत में बढ़ने लगा था और चीन का प्रभाव कम होने लगा था। इस समय डोरजीफ़ नामक एक रूसी प्रजाजन का जिसने एक ऊंचा पद तिब्बत राज्य में प्राप्त कर लिया था प्रभाव बहुत बढ़ गया था और वह दलाइ लामा का बड़ा विश्वास-पात्र बन गया था। १८९८ में दलाइ लामा ने उसे रूस में ज़ार के पास भेजा था। डोरजीफ़ को धार्मिक कार्यों के लिये चन्दा इकट्ठा करने के अभिप्राय से रूस भेजा गया था। इसके पश्चात वह कई बार रूस गया और १९०० तथा १९०१ में उसने रूस के सम्राट् ज़ार से भेंट भी की रूसी पत्रों में इस घटना की बड़ी चर्चा चली और इस बात का जोरों के साथ प्रचार किया गया कि तिब्बत में रूस का प्रभाव बढ़ रहा है। यद्यपि रूस के परराष्ट्र सचिव ने सेन्टपीटर्सबर्ग में स्थित ब्रिटिश राजदूत को यह आश्वासन दिया कि डोरजीफ की रूसी यात्रा का। कोई राजनैतिक महत्व न था और धार्मिक कार्य के लिये आये हुये दूत से मिलने से ज़ार प्रत्यक्षतः इन्कार भी नहीं कर सकता था परन्तु इस आश्वासन से भारत सरकार को संतोष न हुआ और उसकी चिन्ता बढ़ने लगी। अंग्रेजों को इस बात का पूरा विश्वास हो गया था कि डोरजीफ़ रूस में तिब्बत से एजेन्ट के रूप में कार्य करेगा। सम्भवतः दलाइ लामा स्वयं भी रूस की ओर आकृष्ट था। यह भी सम्भव था कि डोरजीफ़ ने दलाइ लामा को यह परामर्श दी हो कि चीन से मुक्ति पाने के लिये किसी बड़ी शक्ति का आश्रय लेना आवश्यक है और इसके लिये रूस को इङ्गलैण्ड से प्राथमिकता दी हो क्योंकि रूस में बहुत से बौद्ध रहते थे। सोंग-दु ने दलाइ लामा की इस नीति का अनुमोदन नहीं किया।

तिब्बत पर अँग्रेजों के आरोप—दलाई लामा धीरे-धीरे अँग्रेजों की ओर से खिंच रहा था। उसने कुछ ऐसे काय किये थे जिससे अंग्रेजों का संदेह तथा असंतोष धीरे-धीरे बढ़ता ही गया। ऐसी स्थिति में लार्ड कर्जन ने तिब्बत में एक शिष्ट-मण्डल के भेजने की आवश्यकता पर गृह-सरकार से बड़ा आग्रह किया। इस सम्बन्ध में तिब्बत निवासियों पर अनेक आरोप लगाये गये। पहिला आरोप यह था कि तिब्बत वालों ने सीमा का उल्लघन किया है और शिकम में घुस आये हैं। दूसरा आरोप यह था कि तिब्बत वालों ने गि‍ागांग में चुंगीघर स्थापित कर लिया है और वहाँ के सीमा-स्तम्भ गिरा दिये हैं। तीसरा आरोप यह था कि तिब्बत से यातुंग को जाने वाली एक-मात्र सड़क को रोक दिया गया है जिससे दोनों देशों में अनवरोध आना-जाना बन्द हो गया है। चौथा आरोप यह था कि तिब्बत ने इस प्रस्ताव को स्वीकार नहीं किया था कि दोनों देशों में स्वतन्त्र व्यापार हो। पांचवां तर्क यह था कि तिब्बत राज्य का इस दशा में रहना भारत के अंग्रेजी साम्राज्य के लिये हानिकारक सिद्ध होगा। इन सब आरोपों से ऐसा जान पड़ता है कि तिब्बत सरकार तथा भारत सरकार में मनोमालिन्य बहुत अधिक बढ़ गया था।

कर्जन की तिब्बत में शिष्ट मंडल भेजने की आयोजना—उपरोक्त स्थिति में लार्ड कर्जन ने तिब्बत में एक बृटिश मिशन का भेजा जाना आवश्यक समझा। परन्तु इंगलैण्ड की सरकार तिब्बत की ओर बढ़ने के पक्ष में न थी। उसका कहना था कि तिब्बत की सरकार चीन की सरकार के आधिपत्य में है। अतएव चीन की सरकार पर दबाव डाल कर तिब्बत को ठीक मार्ग पर लाना अधिक उचित होगा। १९ २ में अंग्रेजों को यह सूचना मिली कि तिब्बत के सम्बन्ध में रूस तथा चीन के बीच एक समझौता हो गया है। इस पर लार्ड लैन्सडाउन ने रूसी राजदूत को यह चेतावनी दी कि चूँकि लासा रूस के एशियायी साम्राज्य की अपेक्षा भारत की उत्तरी-सीमा के अधिक निकट है अतएव तिब्बत की समस्याओं में रूस की अपेक्षा इंगलैण्ड को अधिक दिलचस्पी है और यदि रूस तिब्बत के आन्तरिक मामले में किसी भी प्रकार का हस्तक्षेप करेगा तो इंगलैण्ड चुप न रहेगा और आवश्यक कार्यवाही करने के लिये बाध्य हो जायगा। इसी प्रकार पेकिंग में भी बृटिश राजदूत ने चीन की सरकार को यह चेतावनी दी कि यदि चीन ने तिब्बत के सम्बन्ध में किसी अन्य शक्ति के साथ किसी भी प्रकार का समझौता किया तो बृटिश सरकार अपने हितों की रक्षा के लिये आवश्यक कार्यवाही करने के लिये विवश हो जायगी। लार्ड कर्जन को इस बात का पूर्ण विश्वास हो गया था कि सेन्ट पीटर्सबर्ग तथा लासा के बीच यदि सन्धि नहीं तो समझौता अवश्य हो गया है। अतएव उसने सीधे तिब्बत एक बृटिश मिशन भेजने का आग्रह किया। लार्ड कर्जन तथा उसके समर्थकों के विचार में इंगलैण्ड इस बात को सहन नहीं कर सकता था कि रूस तिब्बत के साथ गठ-बन्धन करे और उसकी नीति पर अपना नियन्त्रण रक्खे। यद्यपि तिब्बत के मार्ग से रूस भारत पर आक्रमण नहीं कर सकता था परन्तु रूस की एशियाई विजय तथा प्रगति द्रुतगति से बढ़ रही थी और तिब्बत में रूस के प्रभाव के स्थापित हो जाने से पूर्व में बृटिश प्रतिष्ठा के समाप्त हो जाने की सम्भावना थी। भारत-सचिव का कहना था कि जब तक रूस तथा इंगलैण्ड में बात-चीत चल रही है तब तक तिब्बत में शिष्ट मण्डल भेजना उचित न होगा। अतएव मिशन के भेजने में विलम्ब किया गया। इसी समय रूस के राजदूत ने बृटिश सरकार को आश्वासन दिया कि न तो तिब्बत के सम्बन्ध में कोई समझौता हुआ है और न तिब्बत में रूस का कोई एजेन्ट ही विद्यमान् है। परन्तु रूसी राजदूत ने इस बात का स्वीकार किया कि रूसी लोग तिब्बत को चीन साम्राज्य का एक अंग मानते थे और वे यह नहीं चाहते थे कि चीन का साम्राज्य छिन्न-भिन्न हो जाय।

स्थिति की जटिलता—परिस्थिति अत्यन्त जटिल हो रही थी। भारत सरकार "अग्रगामी नीति" का अनुसरण करने के लिये बृटिश मन्त्रि-मण्डल से आग्रह कर रही थी। बृटिश मन्त्रि-मण्डल लार्ड कर्जन के उतावलेपन को रोकने तथा रूस को अप्रसन्न न करने का प्रयत्न कर रहा था। बृटिश राजदूत पेकिंग में चीनी सरकार पर दबाव डालने का प्रयत्न कर रहा था। चीन यह नहीं चाहता था कि अंग्रेज तिब्बत के मामले में किसी भी प्रकार का हस्तक्षेप करें। चीन तिब्बत पर दबाव डालने में सर्वथा असमर्थ था परन्तु वह अपनी इस असमर्थता को अंग्रेजों से छिपाना चाहता था। रूस इस बात की दुहाई दे रहा था कि तिब्बत में उसका कोई राजनैतिक लक्ष्य नहीं है परन्तु तिब्बत में अंग्रेजों के हस्तक्षेप से उद्विग्न हो रहा था।

तिब्बत के लिए अँग्रेजी शिष्टमंडल का प्रस्थान—अब लार्ड कर्जन ने यह प्रस्ताव रक्खा कि खम्बा जोङ्ग नामक स्थान पर जो शिकम की सीमा से १५ मील उत्तर की ओर स्थित है चीन तथा तिब्बत के साथ बात-चीत की जाय और उनसे सन्धि की शर्तों को पूरा करने के लिये कहा जाय और यदि उनके दूत खम्बा जोङ्ग में उपस्थित न हों तो बृटिश कमिश्नरों को शिगातसे तक बढ़ने की स्वतन्त्रता होनी चाहिये। यद्यपि गृह-सरकार कर्जन की इस आयोजना से सहमत न थी परन्तु अब वह भी चुप लगा गई और अपनी अनिच्छा होते हुये भी एफ० ई० यङ्गहस्बैण्ड की अध्यक्षता में खम्बाजोंग के लिये एक मिशन भेजने की आज्ञा दे दी। लार्ड कर्जन का यह भी सुझाव था कि लासा में एक बृटिश एजेन्ट रखने पर जोर दिया जाय। यद्यपि वाइसराय के इस सुझाव को स्वीकार नहीं किया गया परन्तु ऐसे मार्ग का अनुसरण किया गया जिससे अन्ततोगत्वा लासा पर अंग्रेजों का आधिपत्य स्थापित हो गया।

मिशन की प्रगति—जुलाई के महीने में कर्नल यङ्गहस्बैण्ड खम्बाजोंङ्ग पहुँच गया। यद्यपि चीनी प्रतिनिधि वहाँ पर उपस्थित थे परन्तु तिब्बत वालों ने सम्मेलन में भाग लेने से तब तक असमर्थता प्रकट की जब तक मिशन सीमा पर वापस न चला जाय। कर्नल यङ्गहस्बैण्ड ने स्वयम् इस बात को स्वीकार किया है कि तिब्बतियों की इस माँग में कुछ बल अवश्य था और प्रतिनिधियों का सम्मेलन उनके राज्य के अन्दर नहीं वरन् उनके राज्य की सीमा पर होना चाहिये था। अतएव उनकी इस उचित माँग को स्वीकार कर लेना चाहिये था। इस प्रकार समस्या उलझ गई। इसी बीच में तिब्बत वालों ने खम्बाजोंग के निकट अपनी सेनायें एकत्रित करनी आरम्भ कर दीं। अब कर्जन को अच्छा बहाना मिल गया। उसने गृह सरकार पर दबाव डालना आरम्भ किया और अन्त में ग्यान्तसे तक इस शर्त पर बृटिश सेना के बढ़ने के लिये आज्ञा प्राप्त कर ली कि क्षति-पूर्ति करते ही यह सेना वापस बुला ली जायगी। बृटिश सरकार के इस निर्णय की सूचना पाते ही रूसी राजदूत ने बृटिश परराष्ट्र सचिव लार्ड लैन्सडाउन से आपत्ति की। चूंकि इङ्गलैण्ड इसके पूर्व कई बार इस प्रकार की आपत्ति कर चुका था अतएव रूस का ऐसा करना स्वाभाविक ही था। लार्ड लैन्सडाउन ने रूस की आपत्ति का उत्तर देते हुये कहा कि बृटिश सरकार ने आत्म-नियन्त्रण का अद्भुत परिचय दिया है और यदि रूस को उतना ही उत्तेजित किया गया होता जितना बृटिश सरकार को किया गया था तो लासा पर बहुत पहिले ही रूसियों का अधिकार स्थापित हो गया होता। फिर भी लैन्सडाउन ने यह आश्वासन रूसी राजदूत को दिया कि तिब्बत को बृटिश साम्राज्य में नहीं मिलाया जायगा और न स्थायी रूप से उस पर आधिपत्य ही स्थापित किया जायगा।

तिब्बत के साथ युद्ध—मार्च १९०४ में बृटिश सेना ने ग्यान्तसे की ओर प्रस्थान कर दिया और इसी महीने के अन्त में तिब्बत की सेना से उसका संघर्ष हुआ। गुरु नामक स्थान पर एक भीषण युद्ध के उपरान्त तिब्बत की सेना बुरी तरह परास्त हुई।

शुरू उजाड़ दिया गया। इस पर कर्जन की नीति के विरोधियों ने इंगलैण्ड में बड़ा शोर मचाया। तिब्बतवासियों ने अंग्रेजी सेनाओं का मार्ग अवरुद्ध कर दिया और मार्ग से हटने से इन्कार कर दिया। क्षण भर में ही लगभग ७०० तिब्बतियों को अंग्रेजों ने अपने नवीन वैज्ञानिक अस्त्रों से बड़ी नृशंसता के साथ समाप्त कर दिया। परन्तु वहाँ पर भी दलाईलामा ने सन्धि की बातचीत करने से इन्कार कर दिया। ११ अप्रैल को बृटिश सेना ग्यान्त्से में प्रविष्ट हो गई। ग्यान्त्से से बृटिश सेना ने लासा के लिये प्रस्थान कर दिया। अब युद्ध की भयंकरता तथा बर्बरता में वृद्धि होने लगी। करोला दर्रे की उपत्यका पर जो सदैव तुषाराच्छादित रहती है अंग्रेजी सेना ने तिब्बतियों को फिर परास्त किया। अब हतोत्साह होकर दलाईलामा सन्धि की वार्ता करने के लिये उद्यत हो गया परन्तु यङ्गहस्बैण्ड ने लासा पहुँचने के पूर्व बात-चीत करने से इन्कार कर दिया। ३ अगस्त को बृटिश सेना ने लासा के पवित्र नगर में प्रवेश किया। इसके तीन सप्ताह के पूर्व ही रूस से किसी प्रकार की सहायता पाने की आशा न पाकर और अंग्रेजों की निरन्तर प्रगति देखकर पूर्णतया निराश होकर दलाईलामा नगर त्याग कर भाग गया था।

लासा की सन्धि—अब यङ्गहस्बैण्ड ने दलाईलामा के उस प्रतिनिधि से बात-चीत आरम्भ की जिसे वह पलायन करते समय लासा में छोड़ गया था। शीघ्र सम-झौता हो गया और ७ सितम्बर को सन्धि पर हस्ताक्षर हो गया। यह सन्धि लासा की सन्धि के नाम से प्रसिद्ध है। सन्धि के १६ दिन उपरान्त बृटिश सैनिकों ने प्रत्यागमन आरम्भ कर दिया। लासा की सन्धि की निम्न-लिखित शर्तें थीं :—

(१) ग्यान्त्से में एक बृटिश व्यापारिक एजेन्ट रक्खा गया और आवश्यकता पड़ने पर उसे लासा भी जाने का अधिकार दे दिया गया।

(२) यातुङ्ग, ग्यान्त्से तथा गारटोक में व्यापारिक मण्डियाँ स्थापित की गईं और भारत तथा तिब्बत के बीच व्यापारिक उन्नति का आयोजन किया गया।

(३) तिब्बत पर ७५ लाख रुपया युद्ध का जुर्माना किया गया और एक लाख प्रति-वर्ष देने का निश्चय हुआ।

(४) जब तक जुर्माने के इस समस्त रुपये का भुगतान न हो जायगा तब तक सिक्कम तथा भूटान के बीच स्थित तिब्बत की चुम्बी घाटी पर अंग्रेजों का आधिपत्य स्थापित रहेगा।

(५) तिब्बत की विदेशी नीति पर बृटिश सरकार का पूर्ण नियन्त्रण स्थापित हो गया।

(६) तिब्बत राज्य का कोई भी भाग किसी अन्य शक्ति को नहीं दिया जा सकता था।

(७) किसी भी विदेशी शक्ति के एजेन्ट को तिब्बत में रहने की आज्ञा नहीं दी जायगी।

(८) किसी भी विदेशी शक्ति को तिब्बत में रेल, तार, सड़क आदि बनाने की सुविधा न दी जायगी और यदि किसी को ऐसी सुविधायें दी जायंगी तो अंग्रेज भी इन सुविधाओं के अधिकारी हो जायंगे।

लासा की सन्धि में संशोधन—उपरोक्त सन्धि के करने में यङ्गहस्बैण्ड अपनी शक्ति का अतिक्रमण कर गया था। उसने सेक्रेटरी आफ स्टेट के आदेशों के विरुद्ध कार्य किया था। उसका आदेश था कि तिब्बत से क्षतिपूर्ति के रूप में केवल इतना धन प्राप्त किया जाय जिसे वह तीन वर्षों में थोड़ा-थोड़ा करके चुका दे। लासा अथवा ग्यान्त्से में बृटिश रेज़ीडेन्ट रखने के अधिकार प्राप्त करने की भी आज्ञा न थी। वास्तव में इंगलैण्ड की सरकार तिब्बत की समस्या को साम्राज्यवादी दृष्टिकोण से देख रही थी। कुछ काल पूर्व उसने रूस की सरकार को यह आश्वासन दिया था कि यदि कोई अन्य विदेशी शक्ति तिब्बत के मामले में हस्तक्षेप न करेगी तो बृटिश सरकार भी तिब्बत को बृटिश

साम्राज्य में मिलाने का प्रयत्न करेगी, न वह वहाँ पर अपना संरक्षण स्थापित करने का प्रयत्न करेगा और न तिब्बत के आन्तरिक मामलों में किसी प्रकार का हस्तक्षेप करेगी। यङ्गहस्बैण्ड ने रूस की समस्या पर बड़े संकीर्ण दृष्टिकोण से विचार किया और गृह-सरकार की आज्ञाओं की सर्वथा उपेक्षा की। यद्यपि भारत सरकार ने यङ्गहस्बैण्ड के समझौते का समर्थन किया परन्तु सेक्रेटरी आफ स्टेट अत्यन्त क्रुद्ध हुआ और उसने लासा की सन्धि के संशोधन पर बल दिया। फलतः संधि की शर्तों में सुधार कर दिया गया। यह संशोधन निम्न-लिखित थे :—

(१) युद्ध की क्षतिपूर्ति ७५ लाख से घटा कर २५ लाख रुपये कर दी गई।

(२) यह निश्चित किया गया कि यदि तिब्बत की सरकार संधि की अन्य शर्तों का पालन करती गई तो तीन वर्ष तक क्षतिपूर्ति का भुगतान होने पर चुम्बी घाटी से ब्रिटिश सेनायें हटा ली जायेंगी और उसे खाली कर दिया जायगा।

(३) ब्रिटिश एजेन्ट के ग्यान्तसे से लासा जाने के अधिकार को छीन लिया गया।

कर्जन की नीति की आलोचना—तिब्बत के सम्बन्ध में लार्ड कर्जन ने जिस नीति का अनुसरण किया उसकी तीव्र आलोचना की गई है। ऊपर यह बतलाया जा चुका है कि इङ्गलैण्ड की सरकार हस्तक्षेप के पक्ष में न थी परन्तु लार्ड कर्जन हस्तक्षेप के लिये कटिबद्ध था। लार्ड कर्जन का कहना था कि गृह सरकार का हस्तक्षेप आवश्यक था। इस बात पर बल दिया जाता है कि भारत सरकार तथा इङ्गलैण्ड की सरकार में मत-भेद नहीं होना चाहिये था। या तो इङ्गलैण्ड की सरकार यङ्गहस्बैण्ड के शिष्ट मण्डल को तिब्बत जाने की आज्ञा ही न देती और यदि जाने की आज्ञा दे दी तब लासा की संधि में संशोधन नहीं करना चाहिये था। परन्तु गृह सरकार के पक्ष में यह कहा जा सकता है कि ब्रिटेन के उच्चतर हित में रूस के साथ मैत्री पूर्ण व्यवहार रखना नितान्त आवश्यक था। उन दिनों जर्मनी से इङ्गलैण्ड को बहुत बड़ा भय था और आपत्ति की बहुत बड़ी आशङ्का थी। अतएव इस समस्या को सर्वोपरि रखना तथा प्राथमिकता देना आवश्यक था। इन परिस्थितियों में गृह-सरकार का लार्ड कर्जन की नीति का समर्थन न करना सर्वथा उचित था। कर्जन की अग्रगामी नीति अनावश्यक तथा निरर्थक थी। एक स्वतन्त्र, निर्बल तथा शान्तिप्रिय राष्ट्र के मामले में हस्तक्षेप करना सर्वथा अनुचित तथा निन्दनीय था। ब्रिटेन रूस के साथ वचन-बद्ध था कि यदि यूरोप की अन्य शक्तियाँ तिब्बत में हस्तक्षेप न करेंगी तो ब्रिटेन भी सर्वथा वहाँ की राजनीति से अलग रहेगा। अतएव कर्जन के इस कार्य से ब्रिटेन की प्रतिज्ञा भङ्ग हो गई और उसकी प्रतिष्ठा को बड़ा धक्का लगा। यङ्गहस्बैण्ड की यह शर्त कि ७५ वर्षों तक चुम्बी घाटी पर अंग्रेजों का अधिकार रहेगा और व्यापारिक एजेन्ट के रूप में रेजीडेन्ट लोग तिब्बत में रहेंगे सर्वथा अन्यायपूर्ण तथा साम्राज्यवादी थी। तिब्बतियों ने शिकम वालों को तिब्बत में पशु चराने का अधिकार दे दिया था और इसके बदले में ही इन लोगों ने शिकम में प्रवेश किया था। अतएव यह सर्वथा उचित ही था। पी० इ० राबर्ट्स के विचार में कर्जन की इस नीति से यदि किसी राष्ट्र को लाभ हुआ तो वह चीन था क्योंकि चीन ने तिब्बत पर अपनी पूर्ण राजसत्ता का दबाव किया। राबर्ट्स ने आगे कहा है, हमारे व्यापार की वैसी उन्नति नहीं हुई जैसी हमें आशा थी और भारत की उत्तरी-पूर्वी सीमा पर हमने अपने लिये नई तथा आपत्तिजनक स्थिति उत्पन्न कर ली है।"

कर्जन की नीति के समर्थन में भी कुछ तर्क उपस्थित किये जाते हैं। पहिला तर्क तो यह है कि रूस का प्रभाव तिब्बत में इतना अधिक बढ़ गया था कि उसने भारत में अंग्रेजों की प्रतिष्ठा को उसी प्रकार ठेस लग सकती थी जिस प्रकार अफ़गानिस्तान में। कर्नल यङ्गहस्बैण्ड की उसके निर्भीक उत्तरदायित्व के लिये बड़ी प्रशंसा की गई है और किसी भी एजेन्ट में ऐसी निर्भीकता को दबाना ठीक न होगा। एक बात और याद रखने

की है। वह यह है कि लासा का आक्रमण पूर्ण रूप से सफल रहा। निस्संदेह इसे हम संग-ठन तथा साहस की सफलता कहेंगे।"

संरक्षित राज्य—लार्ड कर्जन संरक्षित राज्यों में शासन-सुधार की प्रबल इच्छा रखता था। वह चाहता था कि देशी राज्यों का शासन उसी स्तर पर आ जाय जिस स्तर पर भारत में बृटिश साम्राज्य का शासन था। लार्ड कर्जन ने अपने राजकोट के भाषण में देशी राज्यों को "साम्राज्य के शासन की शृङ्खला की कड़ियाँ" बतलाया था। सारांश यह है कि वह देशी राज्यों के पार्थक्य को समाप्त करना चाहता था। १९०१ में राजकुमारों तथा उच्च-वंश वालों को सैनिक शिक्षा देने के लिये लार्ड कर्जन ने "इम्पीरियल कैडेट कोर्प्स" की स्थापना की। उनकी शिक्षा में भी उसने बड़ी दिलचस्पी ली। कर्जन ने बरार की समस्या को भी सुलझाया। १८५३ में बरार के सम्बन्ध में निजाम के साथ अँग्रेजों ने जो सन्धि की थी उसमें यह बतलाया गया था कि निजाम को बराबर हिसाब दिया जायगा और जितना धन बचेगा वह उसे दे दिया जायगा। बरार की आय से सात हजार सेना के व्यय के चलाने तथा ४८ लाख रुपये का ऋण भुगतान करने का निश्चय किया गया था। शासन का व्यय क्या होगा यह स्पष्ट रूप से नहीं बतलाया गया था परन्तु इतना इङ्गित कर दिया गया था कि यह व्यय दो लाख रुपया वार्षिक से अधिक न होगा। १८५३ तक सेना का वार्षिक व्यय ४० लाख रुपया होता था। अब यह व्यय घटा कर २४ लाख कर दिया गया परन्तु न तो सेना की संख्या में कमी की गई और न शासन में किसी प्रकार की त्रुटि आने दी गई। १८५७ की क्रान्ति के समय निजाम ने अङ्गरेजों की बड़ी सहायता की थी। अतएव इस सहायता के बदले में उन्होंने उसके कर्ज को क्षमा कर दिया। परन्तु जब निजाम ने सेना के व्यय के घट जाने तथा आबकारी की आय का हिसाब माँगा तब उन ३४ लाख का और ऋण दिखला दिया गया। इस ऋण की ओर इसके पहिले कभी संकेत भी नहीं किया गया था। १८६० में निजाम के साथ जो नई सन्धि की गई उसमें से हिसाब समझाने की शर्त भी निकाल दी गई। अब शासन का व्यय बढ़ाकर चार गुना कर दिया गया। इसमें सन्देह नहीं कि इससे बरार के शासन में बड़ा सुधार हो गया परन्तु शासन का व्यय अत्यधिक बढ़ गया। १९०२ में लार्ड कर्जन निजाम महबूब अली खाँ से मिला और उससे यह स्वीकार करवा लिया कि २५ लाख रुपया वार्षिक देने पर बरार अंग्रेजों को सदैव के लिये समर्पित कर दिया गया है। इस प्रकार बरार अंग्रेजों के हाथ बेच दिया गया परन्तु अंग्रेजों ने बरार पर अपने इस कृत्य से निजाम की प्रभुत्व-शक्ति को पुनः स्वीकार किया और निजाम को इस नये समझौते से आर्थिक लाभ भी हुआ। हैदराबाद में जो अंग्रेजी सेना रक्खी गई थी और जिसके कारण बरार की समस्या आरम्भ हुई थी भारतीय सेना का अङ्ग बना दी गई और अब उसे हैदराबाद में रखने की आवश्यकता न रह गई। बरार अब मध्य प्रान्त का एक अङ्ग बन गया। १९०५ में काश्मीर के महाराजा को भी उसका राज्य लौटा दिया गया।

कर्जन का आन्तरिक शासन—लार्ड कर्जन में सुधार का प्रबल उत्साह था और उसकी यह सुधारवादी प्रवृत्ति शासन की प्रत्येक शाखा में परिलक्षित होती है। जब कर्जन शासन-सम्बन्धी किसी समस्या को लेता था तब वह सर्व-प्रथम तत्सम्बन्धी जाँच करने के लिये एक आयोग की नियुक्ति करता था और फिर आयोग की सिफारिश के आधार पर वह यथोचित व्यवस्था तत्सम्बन्धी नियम बनवा कर करा देता था। उसने शासन की प्रत्येक समस्या पर विचार किया। न्यायालय को कार्यकारिणी से अलग करने की एक मात्र समस्या ऐसी थी जिस पर उसने विचार नहीं किया। लार्ड कर्जन में उच्च-कोटि की परिश्रमशीलता तथा कार्यकुशलता थी। अतएव वह अनेक सुधार करने में सफल हुआ जिन के परिणाम अत्यन्त हितकर सिद्ध हुये। उसने अपने शासन

को कुछ सिद्धान्तों पर आधारित किया था। उसका कहना था कि शासन के प्रत्येक विभाग की एक निश्चित नीति होनी चाहिये; भारतीय किसान की कभी उपेक्षा नहीं होनी चाहिये; सरकार को अपनी नीति स्पष्ट रूप से घोषित कर देनी चाहिये और उसका अनुसरण करना चाहिये; सभी विभाग में उसकी दृष्टि आगे रहती थी.. वह वर्तमान के लिये नहीं वरन् भविष्य के लिये निर्माण करता था।" कर्जन ने निम्न-लिखित आन्तरिक सुधार किये:—

(१) दुर्भिक्ष का प्रकोप—वास्तव में दुर्भिक्ष का प्रकोप लार्ड एलगिन द्वितीय के ही शासन काल से चल रहा था। लार्ड कर्जन ने बड़े धैर्य तथा साहस के साथ इस समस्या का सामना करना आरम्भ किया। उसने दुर्भिक्ष-पीड़ित क्षेत्रों का स्वयम् भ्रमण किया और प्रत्येक दिशा से सहायता प्राप्त करने का प्रयत्न किया। यथाशक्ति प्रयत्न करने पर भी कर्जन के शासन की तीव्र आलोचना की गई और यह आरोप लगाया गया कि दुर्भिक्ष पीड़ितों की सहायता करने में बड़ी मितव्ययता की गई है और करों तथा लगान में कमी करके जनता की यथोचित सहायता नहीं की गई है। फलतः मैकडानेल की अध्यक्षता में एक आयोग की नियुक्ति की गई जिसने दुर्भिक्ष पीड़ितों को दी गई सहायता के सम्बन्ध में जांच करके १६०१ में अपना रिपार्ट सरकार के सामने उपस्थित की। आयोग ने अपनी रिपोर्ट में बतलाया कि दुर्भिक्ष का सामना करने के लिये जितनी तैयारी करनी चाहिये थी वास्तव में उतनी तैयारी की नहीं गई थी। आयोग ने कुछ ऐसी आयोजनायें बतलाई जिससे भविष्य में अकाल न पड़े और यदि पड़ भी जाय तो सफलता-पूर्वक उसका सामना किया जाय। आयोग ने वर्तमान व्यवस्था के दोषों की ओर भी संकेत किया। आयोग ने इस बात पर बल दिया कि कुछ ऐसी व्यवस्था होनी चाहिये जिससे लोगों का नैतिक साहस भङ्ग न हो। सरकार को जनता के नैतिक बल तथा स्तर को उन्नत रखने का प्रयास करना चाहिये। आयोग ने गैर-सरकारी सहायता की आवश्यकता पर भी बड़ा बल दिया। इसने इस बात की भी सिफ़ारिश की कि रेलों के निर्माण में वृद्धि की जाय, कृषि सम्बन्धी बंक खोले जायँ और सिंचाई की समुचित व्यवस्था की जाय। इस आयोग की सिफ़ारिशों के अनुकूल दुर्भिक्ष सम्बन्धी नियमावली में संशोधन किया गया।

(२) महामारी का प्रकोप—अकाल की भाँति महामारी का प्रकोप भी एलगिन द्वितीय के शासन काल से ही चला आ रहा था। १६०० के पश्चात् दुर्भिक्ष से तो भारत को छुटकारा मिल गया परन्तु महामारी का प्रकोप कर्जन के सम्पूर्ण शासन काल तक चलता रहा और उसकी भयङ्करता तथा तीव्रता क्रमशः बढ़ती ही गई। महामारी को विनष्ट करने का यथाशक्ति प्रयत्न किया गया परन्तु सभी प्रयत्न सर्वथा निष्फल सिद्ध हुये और कर्जन के शासन के अन्त तक लगभग एक लाख व्यक्ति काल के गाल में चले गये। अप्रैल १६०० में कानपूर में महामारी निवारण नियमों के विरुद्ध उपद्रव आरम्भ हो गया। उत्तेजना फैलाने वाले सात व्यक्तियों को मृत्यु-दण्ड दे दिया गया।

(३) कृषि सम्बन्धी सुधार—लार्ड कर्जन का ध्यान भारतीय किसानों की ओर भी आकृष्ट हुआ और उसने कृषकों की दशा के सुधारने के लिये अनेक आयोजनायें कीं जिनमें से निम्न-लिखित आयोजनायें प्रमुख थी:—

(क) पंजाब भूमि हस्तान्तरण नियम (Punjab Land Alienation Act)—पंजाब में गरीब किसानों की भूमि साहूकारों तथा ऋणदाताओं के हाथ में चली जा रही थी। लार्ड कर्जन ने किसानों की भूमि की रक्षा के लिये १६०० में 'पंजाब भूमि हस्तान्तरण नियम बनवाया। इस नियम द्वारा यह निर्धारित किया गया कि यदि कोई

ऋणदाता किसी किसान के विरुद्ध न्यायालय की डिक्री पा जाता है तो वह मौरूसी किसान की भूमि को उस डिक्री के लिये विक्रय नहीं करा सकता। इसका परिणाम यह हुआ कि अन्त में भूमि प्राप्त करने के उद्देश्य से ऋण का दिया जाना बन्द हो गया। कर्जन की इस आयोजना से किसानों की रक्षा तो हो गई परन्तु ऋणदाता लोग भूमिपति बनने से वंचित रह गये। फलतः वे कर्जन को घृणा की दृष्टि से देखने लगे।

(ख) भूमि सम्बन्धी प्रस्ताव—भारत में भूमि-कर सम्बन्धी व्यवस्था की तीव्र आलोचना की गई है। १६०० में सिविल सर्विस के दस अफसरों ने जिनमें से एक भारतीय भी थे भारत-मन्त्री के सम्मुख एक स्मृति-पत्र उपस्थित किया जिसमें उन्होंने लगान सम्बन्धी कुव्यवस्था पर पूर्ण प्रकाश डाला। इन अफसरों ने अपने प्रस्ताव में निम्नलिखित सुझाव रक्खे :—

(१) जहाँ पर भूमि कर सीधा कृषकों से वसूल किया जाता है वहाँ पर उनके कृषि-सम्बन्धी आवश्यक व्यय को निकाल कर उनकी आय का आधा भाग कर के रूप में लेना चाहिये।

(२) जहाँ पर कर भूमिपतियों के माध्यम द्वारा वसूल किया जाता है वहाँ पर लगान आधे से अधिक नहीं लेना चाहिये।

(३) भूमि का प्रबन्ध ३० वर्षीय होना चाहिये।

(४) सामान्य मूल्य में वृद्धि हो जाने अथवा सिंचाई के साधनों के कारण भूमि के मूल्य में वृद्धि हो जाने पर ही भूमि कर में वृद्धि होनी चाहिये।

(५) भूमि कर और अतिरिक्त स्थानीय कर दस प्रतिशत से अधिक नहीं होना चाहिये।

उपरोक्त सुझावों तथा आलोचनाओं का उत्तर भारत सरकार ने १६ जनवरी १६०२ के "भूमि-प्रस्ताव" में दिया। इस प्रस्ताव में यह बतलाया गया कि सरकार प्रथम सुझाव के सम्बन्ध में नियम बनाने से विवश थी। दूसरा सुझाव भी अस्वीकृत कर दिया गया परन्तु तीसरा सुझाव स्वीकार कर लिया गया। पाँचवें के सम्बन्ध में यह कहा गया कि उस पर विचार करना ही निरर्थक है क्योंकि १० प्रतिशत की सीमा से अभी कर अधिक न था।

(ग) स्थगन तथा क्षमा प्रस्ताव—१६०५ में लार्ड कर्जन ने स्थगन तथा क्षमा प्रस्ताव (Suspension and Remission Resolution) पास कराया। इस प्रस्ताव द्वारा यह निश्चित किया गया कि ऋतु की स्थिति के अनुसार लगान की सरकारी माँग में परिवर्तन होना चाहिये। इसका यह तात्पर्य था कि यदि अनावृष्टि हुई तो सरकारी लगान में अनायास ही कमी हो जानी चाहिये।

(घ) बैंकों तथा सहकारी समितियों की स्थापना—साहूकारों तथा ऋणदाताओं के चङ्गुल से किसानों को मुक्त करने के लिये कर्जन ने कृषि-बैंकों तथा सहकारी समितियों की स्थापना की। साहूकार तथा महाजन न केवल अत्यधिक ब्याज लेते थे वरन् उत्पादन के स्थान पर उपभोग के लिये ऋण दिया करते थे। सहकारी समितियों ने किसानों की ऋण-सम्बन्धी समस्या को ठीक करने में बड़ा योग दिया। सहयोगी समितियों की स्थापना न केवल गाँवों में वरन् नगरों में भी की गई। इन समितियों को सभी प्रकार की सहायता देने की व्यवस्था की गई।

(ङ) वैज्ञानिक रीति से कृषि की व्यवस्था—लार्ड कर्जन ने भारत में वैज्ञानिक रीति से कृषि करने की व्यवस्था कराई तथा प्रोत्साहन दिया। लार्ड कर्जन ने स्वयम् एक बार कहा था, "हमारा वास्तविक सुधार यह रहा है कि हमने प्रथम बार भारतीय कृषि के अध्ययन तथा अभ्यास में बहुत बड़े परिमाण में विज्ञान का प्रयोग किया है।"

(च) कृषि के इन्स्पेक्टर जेनरल की नियुक्ति—लार्ड कर्जन ने कृषि की समुचित

व्यवस्था करने के लिये साम्राज्यी कृषि विभाग (Imperial Agricultural Department) की स्थापना की और उसके निरीक्षण तथा प्रबन्ध के लिये एक कृषि के इन्स्पेक्टर जेनरल की नियुक्ति कर दी।

(छ) पूसा अनुसन्धान संस्था की स्थापना—लार्ड कर्जन ने बंगाल में पूसा नामक स्थान पर अनुसन्धान संस्था (Research Institute) की स्थापना करवाई। यहाँ पर प्रयोग-शालाओं तथा प्रयोग-भूमि की समुचित व्यवस्था की गई। इसके स्थापित करने का प्रधान लक्ष्य यह था कि भारतीय किसान को वैज्ञानिक रीति से कृषि करना आ जाय। भारत सरकार ने अनुसन्धान तथा प्रयोग के लिये १३०००० पौंड वार्षिक स्वीकार कर दिया।

(ज) सिंचाई की सुव्यवस्था—लार्ड कर्जन ने सिंचाई की व्यवस्था की ओर भी ध्यान दिया और १९०१ में सिंचाई के सम्बन्ध में जाँच करने के लिये एक आयोग की नियुक्ति की जिसका अध्यक्ष सर वालविन स्काट मानक्रीफ नियुक्त किया गया। १९०३ में इस आयोग ने अपनी रिपोर्ट गवनमेण्ट के सामने उपस्थित कर दी और यह सिफारिश की कि २० वर्षों में ४४ करोड़ रुपया व्यय करना चाहिये। ऐसी आशा की जाती थी कि इतना व्यय करने से ६५ लाख एकड़ भूमि की और अधिक सिंचाई हो सकेगी है। कर्ज़न ने आयोग की अधिकांश सिफ़ारिशों को स्वीकार कर लिया। इसका परिणाम यह हुआ कि पंजाब की नहरों में सुधार हो गया और अपर चेनाब केनाल, अपर झेलम केनाल तथा लोअर बड़ी दोआब केनाल का निर्माण आरम्भ कर दिया गया।

(४) आर्थिक सुधार—लार्ड कर्जन के समय तक भारत की आर्थिक दशा में पर्याप्त सुधार हो चुका था। मुद्रालय के बन्द कर देने का प्रभाव अब स्पष्ट रूप से परिलक्षित होने लगा। १८९९ के पश्चात् भारत के बजट में बचत होने लगी थी। लार्ड कर्जन ने निम्न-लिखित आर्थिक सुधार किये :—

(क) स्वर्ण मुद्रा की कानूनी घोषणा—१८९८ में इण्डिया आफ़िस में एक आयोग की नियुक्ति की गई जिसे भारत की मुद्रा सम्बन्धी व्यवस्था पर विचार करने का आदेश दिया गया। इस आयोग ने इस बात की सिफ़ारिश की कि अंग्रेजी स्वर्ण मुद्रा को भारत की कानूनी मुद्रा घोषित कर दी जाय। १८९९ में लार्ड कर्जन ने स्वर्ण मुद्रा कानूनी नियम (Sovereign Legal Tender) पास करके आयोग की सिफ़ारिश को स्वीकार कर लिया और एक गिन्नी का मूल्य १४ रुपये के बराबर नियत कर दिया। इसका परिणाम यह हुआ कि अब सोना बाहर से भारत में आने लगा और रजत-मुद्रा के ढालने से जो लाभ होता था उसे स्वर्ण-रक्षित कोष में एकत्रित किया जाने लगा और जब लार्ड कर्ज़न वापस लौट कर गया तब वह भारत के कोष में ९० लाख पौण्ड छोड़ कर गया।

(ख) राजस्व का विकेन्द्रीकरण—राजस्व के विकेन्द्रीकरण की आयोजना को लार्ड मेयो ने आरम्भ किया था। लार्ड रिपन ने इस आयोजना को परिवर्धित एवं कार्यान्वित किया था। इसमें प्रति पाँचवें वर्ष परिवर्तन किया जा सकता था। १९०४ में लार्ड कर्जन ने इस पंचवर्षीय व्यवस्था को स्थायी बना दिया।

(ग) कर में कमी—१९०२ में उन प्रान्तों में जिनमें दुर्भिक्ष के भयङ्कर प्रकोप के कारण बहुत बड़ी क्षति उठानी पड़ी थी करों में कमी कर दी गई। नमक कर में सर्वत्र कमी कर दी गई।

(घ) व्यापार तथा उद्योग विभाग की स्थापना—लार्ड कर्जन ने व्यापार तथा

व्यवसाय की उन्नति के लिये एक नया विभाग स्थापित किया और इस विभाग का एक नया अध्यक्ष नियुक्त करके अपनी कौंसिल में छठा सदस्य बढ़ा दिया।

(५) शासन सम्बन्धी सुधार—लार्ड कर्ज़न ने अपने शासन काल में शासन सुधार की ओर विशेष रूप से ध्यान दिया। उसने सरकार के विभिन्न विभागों की परीक्षा करवाई और उनकी त्रुटियों के दूर करने की व्यवस्था कराई। जैसा पहिले उल्लेख किया जा चुका है लार्ड कर्ज़न ने सुधार का नियम बना लिया था कि वह कमीशन नियुक्त करके विभाग-विशेष की त्रुटियों तथा आवश्यकताओं की रिपोर्ट प्राप्त कर लेता था और फिर उस रिपोर्ट के आधार पर आवश्यक नियमों का निर्माण करवाता था। उसने शासन सम्बन्धी निम्नलिखित सुधार किये :—

(क) रेलों का सुधार—लार्ड कर्ज़न के पहिले रेलों के प्रबन्ध की दो प्रकार की व्यवस्था थी। कुछ रेलों का प्रबन्ध कम्पनियों द्वारा होता था और कुछ का भारत सरकार स्वयम् "लोक-सेवा-विभाग" (Public Work Department) के द्वारा करती थी। लार्ड कर्जन ने रेलों की कार्य-व्यवस्था पर रिपोर्ट देने के लिये सर टामस रावर्टसन को नियुक्त किया। १९०३ में उसने अपनी रिपोर्ट सरकार के समक्ष उपस्थित की। इस रिपोर्ट में उसने रेलवे के पूर्ण रूप से पुनसङ्गठन की सिफ़ारिश की। उसकी धारणा थी कि रेलवे को और अधिक व्यवसायिक दृष्टिकोण से चलाना चाहिये। १९०५ में लार्ड कर्ज़न ने "लोक सेवा विभाग" की रेलवे शाखा को समाप्त कर दिया। अब रेलवे का कार्य एक "रेलवे बोर्ड" को सौंप दिया गया जिसमें कुल तीन सदस्य थे। नई-नई रेलवे लाइनों का निर्माण किया गया। २८१५० मील लम्बी रेलवे लाइनों का निर्माण समाप्त किया गया और ३१६७ मील लम्बी रेलवे लाइनों का निर्माण जारी रक्खा गया।

(ख) पुलिस सम्बन्धी सुधार—१८६१ में पुलिस की जो व्यवस्था की गई थी वह समुचित रीति से कार्य नहीं कर रही थी और जिस समय लार्ड कर्ज़न ने वाइसराय के पद को ग्रहण किया उस समय पुलिस का प्रबन्ध इतना भ्रष्ट हो गया था कि जनता में बड़ा असन्तोष फैला था। लार्ड कर्ज़न का ध्यान पुलिस विभाग की कुव्यवस्था की ओर तुरन्त आकृष्ट हुआ और उसने फ्रेजर कमीशन को इस विभाग की त्रुटियों तथा कुव्यवस्थाओं का अन्वेषण करने के लिये नियुक्त किया। पूर्ण रूप से जाँच करने के उपरान्त कमीशन ने अपनी रिपोर्ट सरकार के समक्ष उपस्थित की। इस रिपोर्ट में कमीशन ने पुलिस व्यवस्था की तीव्र आलोचना की। कमीशन ने लिखा था, "पुलिस की व्यवस्था सन्तोषजनक नहीं है, इसकी शिक्षा तथा संगठन दोनों ही त्रुटि पूर्ण है, इसके निरीक्षण की समुचित व्यवस्था नहीं है, यह भ्रष्टाचारी तथा अत्याचारी समझी जाती है और यह जनता का सहयोग तथा सद्भावना प्राप्त करने में पूर्णतया असफल रही है।" फ्रेजर कमीशन ने अपनी रिपोर्ट में निम्नलिखित सिफारिशें कीं :—

(१) निम्न-कोटि से उच्चकोटि में उन्नति करने के स्थान-स्थान पर सीधे भर्ती करने की सिफ़ारिश की गई।

(२) पुलिस के सिपाही का कम से कम इतना वेतन होना चाहिये कि वह अपनी जीविका अच्छी प्रकार चला सके और यह वेतन किसी भी दशा में ८ रुपया मासिक से कम न होना चाहिये।

(३) प्रान्तीय पुलिस की संख्या में वृद्धि करने और गाँव के लोगों से पुलिस का काम लेने की कमीशन ने सिफ़ारिश की और यह बतलाया कि निश्चित सूचना प्राप्त करने के लिये पुलिस के सिपाही को गाँवों में जाना चाहिये।

(४) पुलिस के सिपाहियों तथा अफसरों की शिक्षा के लिये ट्रेनिङ्ग स्कूलों के खोलने की भी कमीशन ने सिफ़ारिश की।

(५) कमीशन ने सिफ़ारिश की कि अपराधों की जाँच घटना-स्थल पर जाकर करनी चाहिये और बिना औपचारिक रीति से कैद किये किसी व्यक्ति को जिस पर अपराध करने का सन्देह हो हिरासत में लेना गैर-क़ानूनी बतलाया जाय। अपराधियों से अपराध के स्वीकार कराने के प्रयत्न को हतोत्साह करने की सिफारिश की गई। पुलिस के कार्य की परीक्षा गणना द्वारा नहीं वरन् स्थानीय अन्वेषण तथा जाँच द्वारा होनी चाहिये।

(६) कमीशन ने इस बात कीभी सिफारिश की कि प्रत्येक प्रान्त में "अपराध अन्वेषण विभाग" (Criminal Investigation Department) स्थापित करना चाहिये। इसका अध्यक्ष एक अपराध अन्वेषण सचालक" (Director of Criminal Intelligence) होना चाहिये और इसे केन्द्रीय विभाग के अनुशासन में कार्य करना चाहिये।

भारत सरकार ने कमीशन की उपरोक्त सिफारिशों को स्वीकार कर लिया और उन्हें कार्यान्वित करने में सरकार को बड़ा धन व्यय करना पड़ा परन्तु जिस मात्रा में धन व्यय किया गया उतनी उत्तमता से पुलिस का कार्य न हो सका।

(ग) नौकरशाही व्यवस्था में सुधार—लार्ड कर्ज़न शासन का केन्द्रीकरण चाहता था परन्तु इस नीति के कार्यान्वित करने में उसे सबसे बड़ी कठिनाई नौकरशाही व्यवस्था से हुई। यह व्यवस्था समुचित रीति से कार्य नहीं कर रही थी। सरकारी विभागों में इतना अधिक काम बढ़ गया था कि कार्य में बड़ा विलम्ब होता था। काग़ज़ों का ऐसा ढेर लग जाता था कि उसमें से आवश्यक काग़ज़ों को ढूंढ़ निकालना एक दुष्कर कार्य था। लार्ड कर्ज़न ने स्वयं इसकी तुलना एक विशाल दलदल से की है। इस कुव्यवस्था को दूर करने के लिये लार्ड कर्ज़न ने विभिन्न विभागों के सचिवों की समिति बनवा कर एक नियमावली प्रस्तुत करवाई और सर्वप्र केन्द्रीय सचिवालय में उसे कार्यान्वित करवाया। नियमावली की प्रतियाँ प्रान्तीय सचिवालयों में कार्यान्वित कराने के लिये प्रान्तीय सरकारों के पास भेज दी गई। लार्ड कर्ज़न ने विभिन्न विभागों को यह आदेश दिया कि वे वैयक्तिक विचार विमर्ष करके सब कार्य कर लें, अधिक वाद-विवाद में न फँसे और एक निश्चित निष्कर्ष पर पहुँचने में विलम्ब न करें। लार्ड कर्ज़न ने सरकारी रिपोर्ट तथा लेखा के छपवाने के खर्च में भी कमी की। फ्रेजर के मतानुसार यह अच्छी नीति न थी। आकार के घट जाने के कारण सरकारी रिपोर्टों की रोचकता समाप्त हो गई। जनता के समक्ष लेखा के उपस्थित करने का क्या महत्व होता है इस सरकार समझ न सकी।

(घ स्थानीय स्वराज्य की संस्था के अधिकार में कमी—लार्ड कर्जन को स्थानीय स्वराज्य की संस्थाओं के कार्य-क्षेत्र को संकीर्ण बनाने का भी अवसर प्राप्त हुआ। कलकत्ता कारपोरेशन के सुधार का विधेयक बंगाल लेजिस्लेटिव कौंसिल के विचाराधीन था। रिपन के विरोधियों के आन्दोलन के फल-स्वरूप इस विधेयक का सूत्रपात हुआ था। आलोचकों का कहना था कि कलकत्ता कारपोरेशन का जिस प्रकार का संगठन था उस रूप में वह स्वच्छता की कठिन समस्या को सुलझा नहीं सकता था। इस विधेयक का लक्ष्य कलकत्ता कारपोरेशन के अधिकारों को कम करना तथा कार्यकारिणी के अधिकारों को बढ़ाना था। यद्यपि कारपोरेशन में निर्वाचित सदस्यों का बहुमत बना रहा परन्तु नगर के कार्यों पर वास्तविक नियन्त्रण कार्यकारिणी समिति को हस्तान्तरित हो गया जिसके अधिकांश सदस्य अंग्रेज थे। लार्ड कर्जन ने इस व्यवस्था को एक भद्दी तथा दुष्ट द्वैध व्यवस्था की सज्ञा दी। अन्त में लार्ड कर्जन की इच्छानुकूल विधेयक में परिवर्तन कर दिया गया और १९०० में वह क़ानून बन गया। इस नये विधान से कलकत्ता कारपोरेशन

के सदस्यों की संख्या को ७५ से घटा कर ५० कर दिया। कारपोरेशन के २५ निर्वाचित सदस्य जो कर दाताओं के प्रतिनिधि थे घटा दिये गये और अंग्रेजों का बहुमत कर दिया गया। अब कारपोरेशन एंग्लो-इण्डियन सदन बन गया। स्वर्गीय सुरेन्द्रनाथ बनर्जी के शब्दों में १६०० के विधान ने कलकत्ते में स्थानीय स्वराज्य को समाप्त कर दिया।

(ङ) प्रेसीडेन्सी के गवर्नरों की शक्ति के कम करने का प्रयास—लार्ड कर्जन शासन के सभी क्षेत्रों में केन्द्रीकरण की नीति में विश्वास करता था। वह सभी प्रमुख सूत्रों को अपने हाथ में केन्द्रीभूत करना चाहता था। भारत के विभिन्न भागों में जो घटनायें घटती थीं उनसे वह अवगत रहना चाहता था। वह किसी भी पदाधिकारी को स्वतंत्रता सहन नहीं कर सकता था चाहे वह कितने ही उच्च अथवा गौरवान्वित पद पर क्यों न हो। उसने प्रेसीडेन्सी गवर्नरों की शक्ति के कम करने का निष्फल प्रयास किया। बम्बई तथा मद्रास के गवर्नर वायसराय से अलग रहने का प्रयत्न कर रहे थे। लार्ड कर्जन को यह बात पसन्द न थी। १८६६ में कर्जन ने भारत-सचिव को लिखा था, "विकेन्द्रीकरण बिल्कुल ठीक है परन्तु मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि मद्रास तथा बम्बई की सरकार के सम्बन्ध में यह ऐसी सीमा पर पहुँच गया है कि केन्द्रीय सरकार कहीं की नहीं रह गई है।" लार्ड कर्जन को मद्रास तथा बम्बई के गवर्नरों के मौन रहने पर बड़ी आपत्ति थी और उसने उनसे कहा कि वे उसे अपने प्रान्त की घटनाओं से सूचित करते रहें। उसका यह सुझाव था कि प्रेसीडेन्सियों के गवर्नर अन्य प्रान्तों के गवर्नरों के समकक्षी बना दिये जायँ। अपने मत के समर्थन में उसने यह तर्क उपस्थित किया कि इन दो उच्चपदों के सन्निहित हो जाने से इण्डियन सिविल सर्विस में और अधिक आकर्षण आ जायगा। परन्तु ब्रिटिश मन्त्रि-मण्डल उससे सहमत न हुआ और उसका प्रस्ताव स्वीकृत न हो सका।

(च) भारतीयों में अविश्वास—लार्ड कर्जन की यह धारणा थी कि भारतीयों में शासन करने के उन सभी गुणों का अभाव था जो अंग्रेजों में पाये जाते थे। वह जनता द्वारा अथवा जनता की सहायता से शासन करने के पक्ष में न था। उसने सभी उच्च पदों को अंग्रेजों के लिये सुरक्षित रखने का निश्चय किया। उसकी धारणा थी कि अँग्रेजों में शासन करने के आनुवंशिक गुण होते हैं और उनकी शिक्षा-दीक्षा तथा उनका चरित्र अच्छे शासक बनने के योग्य होता है। उसकी सरकार का सिद्धान्त यह था कि सरकार स्वयम् इस बात को समझ सकती है कि जनता के लिये क्या हितकर होगा। उसकी यह नीति न थी कि भारतीयों को स्वायत्त शासन के लिये शिक्षित किया जाय। भारतीयों को स्वायत्त शासन करने के लिये वह शासन-कौशल पर कुठाराघात नहीं करना चाहता था। परिणाम यह हुआ कि लार्ड कर्जन के शासन काल में जनता को देश के शासन में भाग लेने का बहुत कम अवसर मिला और स्थानीय स्वराज्य की संस्थाओं के विकास की गति अवरुद्ध हो गई। हेनरी काटन के कथनानुसार "लार्ड कर्जन ने स्थानीय स्वराज्य की व्यवस्था को दुर्बल तथा निरुत्साह कर दिया था।" सरकारी नौकरियों में उसने प्रतियोगिता की परीक्षा द्वारा नियुक्त करने के स्थान पर मनोनीत करने की प्रथा का अनुसरण किया। उच्च सरकारी पदों के लिये उसने कुछ जाति वालों को अयोग्य ठहरा दिया था। वह सभी साधनों द्वारा शासन में अंग्रेजों का बाहुल्य और भारतीयों की न्यूनता चाहता था। कर्जन भारतीयों को घृणा की दृष्टि से देखता था। वह उन्हें कपटी, मक्कार तथा मिथ्यावादी समझता था। अपनी इस भावना को उसने १६०५ में अपने कलकत्ता विश्वविद्यालय के दीक्षान्त भाषण में व्यक्त किया था।

(छ) प्राचीन स्मारकों की सुरक्षा की व्यवस्था—लार्ड कर्जन का एक अत्यन्त श्लाघनीय कार्य यह था कि उसने प्राचीन स्मारकों की सुरक्षा तथा जीर्णोद्धार की व्यवस्था

कराई। इसने प्राचीन स्मारक चिह्नों के उत्खनन में अभिरुचि उत्पन्न हो गई और ऐतिहासिक अनुसंधान में बड़ा योग मिला। उसने एक डाइरेक्टर जेनरल आफ़ आर्कियोलोजी की नियुक्ति की और १९०४ में एन्शेन्ट मानूमेंटस प्रोटेक्शन ऐक्ट पास कराया। इस विधान द्वारा सरकार ने प्राचीन इमारतों की रक्षा तथा जीर्णोद्धार का उत्तरदायित्व अपने ऊपर ले लिया।

(ज) अन्य सुधार—लार्ड कर्जन के शासन काल में कई अन्य सुधार भी किये गये श्रमजीवियों को संरक्षण प्रदान करने के लिये "माइन्स ऐक्ट" तथा "आसाम लेबर ऐक्ट" पास किये गये। उसने चीफ़ इन्स्पेक्टर आफ़ माइन्स, सैनीटरी इन्स्पेक्टर, इन्स्पेक्टर जेनरल आफ़ एग्रीकल्चर, इन्स्पेक्टर जेनरल आफ़ इर्रीगेशन तथा डारेक्टर जेनरल आफ़ इन्टेलीजेन्स की नियुक्ति की व्यवस्था की।

(६) सेना सम्बन्धी सुधार—कर्जन के शासन काल में सेना सम्बन्धी सुधार भी किये गये। यह सुधार निम्न-लिखित थे :—

(क) संगठन में परिवर्तन—१९०२ से १९०४ तक स्थानीय रङ्गरूटों के स्थान पर मोपला, गुरखा तथा पंजाबी रङ्गरूटों को पैदल तथा घुड़सवारों की सेना में भर्ती किया गया। १९०० में देशी पैदल सेना को चार द्विगुणित कम्पनी बैटलियन में संगठित किया गया। आन्तरिक प्रबन्ध के लिये प्रत्येक कम्पनी देशी अफ़सरों के ही निरीक्षण में छोड़ दी गई परन्तु परेड तथा मैदान में अंग्रेज अफ़सर ही उनके अध्यक्ष होते थे।

(ख) पूर्ति व्यवस्था में सुधार—इस समय लार्ड किचनर भारत की सेना का कमाण्डर-इन-चीफ़ था। उसने देशी सेनाओं को पुनः अस्त्र-शस्त्र से सुसज्जित कराया। तोपखाने की सेना को पहिले से अधिक अच्छी बन्दूकों को देने की व्यवस्था की गई। सम्पूर्ण ट्रैन्सपोर्ट व्यवस्था को फिर से संशोधित तथा परिमार्जित किया गया।

(ग) इम्पीरियल कडेट कोर्प्स की स्थापना—१९०१ में लार्ड कर्जन ने इम्पीरियल केडेट कोर्प्स की स्थापना की। यह देशी राज्यों के राजकुमारों तथा कुलीन वंशीय सैनिकों की सेना थी।

(घ) विदेशों में भारतीय सैनिकों का प्रयोग—कर्जन के शासन काल में भारतीय सैनिकों का प्रयोग विदेशों में किया गया। चीन में बोक्सर विद्रोहियों के विरुद्ध तथा सोमाली लैण्ड में भी उनका भारतीय सेनाओं का प्रयोग किया गया। दक्षिणी अफ्रीका में नेटाल तथा लेडी स्मिथ की रक्षा में भारतीय सेनाओं से बड़ी सहायता मिली।

(ङ) समुद्र तट की सुरक्षा की व्यवस्था—समुद्र तट की सुरक्षा के लिये १८७१ में सामुद्रिक सुरक्षा सेना (*Naval defence Squadron*) की स्थापना की गई थी। १९०३ में भारत की सुरक्षा का भार रायल नेवी को सौंप दिया गया और आन्तरिक सुरक्षा सेना को समाप्त कर दिया गया।

(च) किचनर-कर्जन-विवाद—१९०२ में लार्ड किचनर भारत का कमाण्डर-इन-चीफ नियुक्त होकर आया। इस पद के प्राप्त करने की उसकी प्रबल कामना थी परन्तु भारत में आने पर यहाँ की द्वैध व्यवस्था देख कर उसे बड़ी निराशा हुई। यह द्वैध व्यवस्था इस प्रकार की थी। सेना का प्रबन्ध दो व्यक्तियों के हाथ में था। यह वाइसराय की कौंसिल के साधारण तथा असाधारण सदस्य होते थे। कमाण्डर-इन-चीफ़ असाधारण सदस्य होता था और भारतीय सेना का वह अध्यक्ष होता था। साधारण सदस्य भी सैन्य विभाग का कोई व्यक्ति होता था। वह कमाण्डर-इन-चीफ़ से कम आयु तथा कम अनुभव का व्यक्ति होता था और जब तक वह वाइसराय की कौंसिल का सदस्य रहता था तब तक वह किसी सेना का कमाण्ड नहीं ले सकता था। कमाण्डर-इन-चीफ़ सेना के

सम्बन्ध में जो प्रस्ताव रखता था वे पहिले साधारण सदस्य के पास जाते थे और वाइसराय के पास भेजने के पूर्व वह उनकी आलोचना तथा टीका-टिप्पणी कर सकता था। वास्तव में सेना के सम्बन्ध में साधारण सदस्य का ही निर्णय अन्तिम निर्णय माना जाता था। यह द्वैध व्यवस्था लार्ड किचनर जैसी प्रकृति के व्यक्ति के लिये सर्वथा असहनीय था। उसका कहना था कि इस व्यवस्था में अत्यन्त विलम्ब तथा अनन्त वाद-विवाद होता है। अपने असन्तोष को व्यक्त करते हुये उसने लिखा था, "इसमें सन्देह नहीं कि यदि सीमा पर महान् युद्ध हुआ तो भयानक विध्वंस हो जायगा।" लार्ड किचनर की आयोजना द्वैध व्यवस्था को समाप्त करके सैन्य विभाग का सम्पूर्ण नियन्त्रण कमाण्डर-इन-चीफ़ को सौंप देने की थी। इस प्रकार साधारण तथा असाधारण सदस्य का अन्तर समाप्त हो जाता और सम्पूर्ण सैन्य विभाग पर एक मात्र कमाण्डर-इन-चीफ़ की अध्यक्षता हो जाती और वह "कमाण्डर-इन-चीफ़ एण्ड वार मेम्बर आफ़ कौंसिल" कहलाता। १९०५ में जब भारत-सचिव ने सेना सम्बन्धी विवाद को वाइसराय के पास विचार-विमर्श के लिये भेज दिया तब स्थिति अत्यन्त गम्भीर हो गई। सम्पूर्ण विषय पर वाइसराय की कौंसिल में विचार किया गया और लार्ड कर्जन ने अपने तथा अपनी कौंसिल के निर्णय को भारत सचिव के पास भेज दिया। लार्ड किचनर ने अपना विरोध लिखते हुये निम्न-लिखित तीन सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया जिन पर सेना के प्रबन्ध को आधारित करना चाहिये :—

(१) सेना में द्वैध नियन्त्रण तथा सैन्य विभाग में द्वैध कार्य व्यवस्था समाप्त कर देनी चाहिये।

(२) सेना के प्रधान परामर्शदाता का सम्बन्ध सीधे वाइसराय तथा भारत सरकार के साथ होना चाहिये और बीच में किसी स्वतन्त्र मध्यस्थ की आवश्यकता नहीं है क्योंकि इससे मिथ्यार्थ तथा विचार के विकृत कर देने की सम्भावना रहती है।

(३) वाइसराय तथा भारत सरकार की प्रधान अध्यक्षता में सेना पर पूर्ण नियन्त्रण उसी व्यक्ति का होना चाहिये जिससे सेना का उत्तरदायित्व हो।

लार्ड राबर्ट्स की भी यही धारणा थी कि द्वैध व्यवस्था सैन्य कौशल के लिये अत्यन्त घातक सिद्ध होगी। लार्ड लैन्सडाउन भी द्वैध व्यवस्था के विरुद्ध था परन्तु लार्ड कर्ज़न प्रस्थापित व्यवस्था के ही पक्ष में था। फिर भी कुछ संशोधन तथा परिवर्तन के लिये उद्यत था। लार्ड किचनर की आयोजना का विरोध लार्ड कर्जन ने दो कारणों से किया था। पहिला कारण यह था कि कर्जन की यह धारणा थी कि कमाण्डर-इन-चीफ तथा सैन्य सदस्य दोनों व्यक्तियों का कार्य एक ही व्यक्ति के लिये सम्पादित करना असंभव हो जायगा। दूसरा कारण यह था कि कर्जन सोचता था कि साधारण तथा असाधारण दोनों ही सदस्यों का कार्य एक ही व्यक्ति के हाथ में दे देने से कमाण्डर-इन-चीफ में स्वेच्छाचारिता आ जायगी।

सैन्य विभाग के सदस्य सर एडमण्ड एलेस ने लार्ड कर्जन के आदेशानुसार एक प्रस्ताव बनाया जिसमें निम्नांकित बातें सन्निहित थीं :—

(१) द्वैध व्यवस्था की जो आलोचना की गई है अनुभव तथा क्रियात्मक स्वरूप में वह निराधार सिद्ध हो जाती है।

(२) यदि कमाण्डर-इन-चीफ गवर्नर-जनरल तथा उसकी कौंसिल की आधीनता को स्वीकार कर ले तो उसके विभाग तथा सेना के हेडक्वार्टर्स में अधिक घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित हो सकता था।

(३) क़ानूनी दृष्टिकोण से सैन्य सदस्य का कार्य गवर्नर-जनरल तथा उसकी कौंसिल का कार्य समझा जाता है।

(४) वाइसराय को सेना के सम्बन्ध में स्वतन्त्र परामर्श की आवश्यकता होती है अन्यथा वाइसराय के लिये एक दृढ़ संकल्पीय कमाण्डर-इन-चीफ का विरोध करना अत्यन्त

कठिन हो जायगा और असैनिक वाइसराय को सेना के अध्यक्ष के ऊपर अत्यधिक निर्भर रहना पड़ेगा।

भारत-सचिव लार्ड कर्जन के उपरोक्त विचारों से सहमत न हुआ। अब कर्जन-किचनर विवाद इस सीमा पर पहुँच गया था कि इङ्गलैंड के अधिकारियों को यह निश्चय हो गया कि दोनों अपने पद पर नहीं रह सकते और उन्हें एक को दूसरे के लिये त्यागना ही पड़ेगा। उन्हें कर्जन की अपेक्षा किचनर की अधिक आवश्यकता थी और किचनर अधिक लोकप्रिय भी था। फिर भी गृह सरकार ने दोनों को प्रसन्न करने के लिये निम्नलिखित प्रस्ताव उपस्थित किया :—

(१) सेना के शासन के शुद्ध सैन्य विभाग पर एक मात्र नियन्त्रण कमाण्डर-इन-चीफ का होना चाहिये और वही वाइसराय की कौंसिल में एक मात्र दक्ष सैन्य परामर्शदाता होना चाहिये।

(२) अन्य विभाग जो शुद्ध सैन्य विभाग नहीं हैं एक अन्य सदस्य को सौंप देना चाहिये जो सैन्य पूर्ति सदस्य (Military Supply Member) कहलायेगा।

(३) सर एडमण्ड एलस जो उस समय सैन्य विभाग का साधारण सदस्य था अपने पद से अलग हो जाय और उसके स्थान पर लार्ड कर्जन किसी अन्य व्यक्ति का नाम प्रस्तावित कर दे।

उपरोक्त सुझाव के अनुसार लार्ड कर्जन ने सर एडमण्ड बैरो का नाम पूर्ति विभाग के लिये प्रस्तावित किया परन्तु इङ्गलैण्ड की सरकार ने इस नाम को स्वीकार नहीं किया और भारत-सचिव ने कर्जन को लिखा कि दूसरा नाम भेजने के पूर्व वह लार्ड किचनर की परामर्श ले ले। लार्ड कर्जन के लिये यह असह्य था और अगस्त १९०५ में उसने त्याग-पत्र दे दिया। इसके उपरान्त १९०६ में सैन्य शासन का पुनर्संगठन किया गया। सैन्य विभाग हटा दिया गया और उसके स्थान पर दो नये विभाग स्थापित किये गये। एक का नाम सैन्य विभाग रक्खा गया जिसका अध्यक्ष कमाण्डर-इन-चीफ होगा और भारत की सेना के समुचित प्रबन्ध के लिये वह गवर्नर-जनरल तथा उसकी कौंसिल के प्रति उत्तरदायी होगा। दूसरे विभाग का नाम सैन्य पूर्ति विभाग रक्खा गया और उसके प्रबन्ध के लिये एक अन्य सदस्य नियुक्त कर दिया गया। प्रथम महान् युद्ध के समय मेसोपोटामिया में जिन कठिनाइयों तथा असुविधाओं का सामना करना पड़ा उससे यह सिद्ध होता है कि कर्ज़न ने किचनर के प्रस्तावों की आलोचना ठीक ही की थी।

(७) शिक्षा सम्बन्धी सुधार—लार्ड कर्ज़न का ध्यान शिक्षा सम्बन्धी सुधार की ओर भी आकृष्ट हुआ। यद्यपि लोवेट फ्रेज़र के शब्दों में लार्ड कर्ज़न की शिक्षा संबंधी नीति की गणना उसकी चार प्रमुख सफलताओं में होती है परन्तु जिस रीति से उसने सुधार करना आरम्भ किया उससे भारतीयों को बड़ा असन्तोष हुआ और उसकी अलोकप्रियता का एक बहुत बड़ा कारण बन गया। शिक्षा सम्बन्धी सुधार की आवश्यकता का सभी अनुभव कर रहे थे। उस समय जो शिक्षा प्रचलित थी वह मैकाले के १८३५ के प्रस्ताव तथा वुड के १८५४ के आदेश पर आधारित थी। इस शिक्षा का ध्येय एकमात्र क्लर्कों का उत्पादन था। इस प्रणाली में देश के नेताओं का प्रादुर्भाव नहीं हो सकता था। अतएव शिक्षा के पुनर्संगठन की बड़ी आवश्यकता थी। लार्ड कर्जन ने सम्पूर्ण स्थिति पर विचार किया और वह इस निष्कर्ष पर पहुंचा कि सम्पूर्ण कुव्यवस्था का कारण केन्द्रीय सरकार के नियन्त्रण का अभाव था। लार्ड कर्जन शिक्षा में परिवर्तनशीलता तथा विभिन्नता लाना चाहता था परन्तु इसके साथ-साथ वह सिद्धान्त तथा लक्ष्य को ध्यान में रख कर उसने शिक्षा संचालक (Director General of Education) की नियुक्ति पर बल दिया। परन्तु कोई केन्द्रीय शिक्षा विभाग के खोलने अथवा स्कूलों तथा कालेजों

को सरकारी कर्मचारियों की शृङ्खलाओं से भी बाँधने का उसका लक्ष्य न था। उसका ध्येय केवल इतना ही था कि सरकार जनता के कल्याण के लिये अपने को उत्तरदायी समझे। परन्तु जब कर्जन की शिक्षा सुधार की आयोजना बनी तब उससे यह स्पष्ट हो गया कि उच्च-शिक्षा को कम करने, विश्वविद्यालयों को राज्य का विभाग बनाने और सम्पूर्ण व्यवस्था पर सरकारी अफ़सरों का नियन्त्रण स्थापित करने का प्रयत्न किया जा रहा है। इससे उसकी आयोजना के प्रति अश्रद्धा उत्पन्न हो गई और असन्तोष क्रमशः बढ़ता ही गया।

शिक्षा पद्धति में दोष—तत्कालीन शिक्षा पद्धति अत्यन्त दोषपूर्ण थी। यह दोष संक्षेप में निम्न-लिखित थे :—

(१) कालेजों में जो शिक्षा दी जाती थी उसका स्तर ऊँचा न था और विश्व-विद्यालय केवल परीक्षा लेने का कार्य किया करते थे।

(२) कुछ विश्व-विद्यालयों के सेनेट अत्यन्त विशालकाय हो गये थे और उनमें ऐसे सदस्य थे जो इस कार्य के लिये सर्वथा अयोग्य थे।

(३) प्रतिवर्ष विश्व-विद्यालय बहुत से असन्तुष्ट स्नातक उत्पन्न करते थे और बहुत से असफल रहते थे जिनका असन्तोष कुछ कम न था।

(४) शिक्षा निर्जीव, यन्त्रवत् तथा निम्न-कोटि की थी।

उपरोक्त दोषों का निवारण करने और शिक्षा में नव-जीवन डालने का लार्ड कर्जन ने दृढ़-संकल्प कर लिया। शिक्षा सम्बन्धी सुधार में लार्ड कर्जन की गति-विधि निम्नांकित थीं।

शिमला सम्मेलन—सितम्बर १६०१ में लार्ड कर्जन ने शिमला में शिक्षा विभाग के उच्चतम पदाधिकारियों तथा प्रमुख विश्व-विद्यालयों के प्रतिनिधियों का सम्मेलन किया। इस सम्मेलन के सदस्यों में एक भी भारतीय न था और केवल डाक्टर मिलर ही जो मद्रास क्रिश्चियन कालेज के प्रिंसिपल थे गैर-सरकारी सदस्य थे। सम्मेलन की सम्पूर्ण कार्यवाही गुप्त रक्खी गई और उसे समाचार-पत्रों में प्रकाशित नहीं किया गया। ऐसी स्थिति में साम्राज्यवादी वाइसराय की ओर से जनता का विश्वास उठ गया और उसके लक्ष्य पर सन्देह होने लगा।

विश्वविद्यालय आयोग—शिमला सम्मेलन के उपरान्त १६०२ में लार्ड कर्जन ने विश्वविद्यालय कमीशन की बैठक सर टामस रैले की अध्यक्षता में जो वाइसराय की कौंसिल के क़ानूनी सदस्य थे कराई। प्रारम्भ में सैय्यद हुसेन बिलग्रामी जो निजाम के राज्य में सार्वजनिक शिक्षा संचालक (Di ector of Public Instructions) थे विश्व-विद्यालय आयोग के एक मात्र भारतीय सदस्य थे परन्तु जब हिन्दुओं ने यह कहना आरम्भ किया कि आयोग में उनका प्रतिनिधित्व नहीं था तब जस्टिस गुरु दास बनर्जी को भी जो कलकत्ता हाई कोर्ट के न्यायाधीश थे आयोग का सदस्य बना दिया गया। आयोग ने जून १६०२ में अपनी रिपोर्ट उपस्थित की जिसमें जस्टिस गुरु दास ने अपना विरोध लिख दिया। इसी रिपोर्ट के आधार पर जो अक्टूबर १६०२ में प्रकाशित की गई थी विश्वविद्यालय विधेयक निर्मित किया गया जो मार्च १६०४ में क़ानून बन गया।

आयोग की सिफारिशें—विश्व-विद्यालय आयोग ने जो सिफारिशें की उनका सम्बन्ध विश्वविद्यालय की शिक्षा के सुधार से उतना नहीं था जितना विश्वविद्यालय की शासन व्यवस्था से था। आयोग की प्रधान सिफ़ारिशें निम्नलिखित थीं :—

(क) सिनेट तथा सिन्डिकेट के आकार-प्रकार में कमी कर दी जाय।

(ख) विश्व-विद्यालयों का प्रादेशिक अधिकार-क्षेत्र निश्चित कर दिया जाय।

(ग) विश्व-विद्यालयों से संयोजित कालेजों की व्यवस्था और अच्छी कर दी जाय और कालेजों के संयोजन के नियम और कड़े बना दिये जायँ।

(घ) उन्हीं स्कूलों को मान्यता प्रदान की जाय जो शिक्षा विभाग के अथवा विश्वविद्यालय द्वारा निर्मित नियमों का समुचित रीति से पालन करें।

(ङ) कालेज की फीस की न्यूनतम दर निश्चित कर दी जाय। इस सुझाव से बड़ा असन्तोष फैला।

(च) द्वितीय श्रेणी के कालेजों को अर्थात् जिनमें केवल इन्टरमीडियट तक की शिक्षा दी जाती थी समाप्त कर देना चाहिये।

(छ) कला-कालेजों से संयोजित क़ानून की कक्षाओं में क़ानून की शिक्षा में परिवर्तन हो जाना चाहिये।

आयोग की सिफारिशों की आलोचना—भारतीय लोकमत आयोग की सिफारिशों के विरुद्ध था। श्री सुरेन्द्र नाथ बनर्जी ने कलकत्ता टाउन हाल में इसके विरुद्ध एक मीटिङ्ग की जिसमें वाइसराय के वास्तविक लक्ष्य के प्रति सन्देह प्रकट किया गया। श्री गोपाल कृष्ण गोखले ने सिफ़ारिशों की तीव्र आलोचना की और कहा कि इससे उच्च-शिक्षा को बड़ी क्षति पहुँचेगी। वाइसराय की नीति के विरुद्ध सम्पूर्ण भारत में असन्तोष प्रकट किया गया। सेनेट के आकार के कम करने तथा सरकारी सदस्यों की संख्या के बढ़ाने की आयोजना से यह अनुमान लगाया गया कि लार्ड कर्ज़न विश्वविद्यालयों को राज्य का एक विभाग बनाना चाहता है। सयोजन के प्रतिबन्ध, शुल्क की वृद्धि तथा द्वितीय श्रेणी के कालेजों को समाप्त कर देने की आयोजना से यही अनुमान लगाया गया कि वाइसराय उच्च-शिक्षा को निरुत्साहित करना चाहता है। लार्ड कर्ज़न के वास्तविक लक्ष्य का पता लगाना कठिन है। परन्तु आयोग की सिफारिशों तथा विश्वविद्यालय विधेयक का अध्ययन करने पर ऐसा प्रतीत होता है कि कर्ज़न का लक्ष्य सांस्कृतिक नहीं वरन् राजनीतिक था। चूँकि विश्वविद्यालय राष्ट्रीय भावना की जागृति के स्थल बन रहे थे अतएव वह उन पर सरकारी नियन्त्रण रखना चाहता था। उच्च-शिक्षा को निरुत्साहित करके वह भारतीय नवयुवकों की आशाओं तथा आकांक्षाओं को दबाना चाहता था जो विदेशी सरकार के लिये हानिकारक सिद्ध हो सकती थीं। वह जन-साधारण को अज्ञानता के अन्धकार में रखना चाहता था जिससे इङ्गलैण्ड उन पर और अच्छी तरह शासन कर सके और भारत में विदेशी शासन की नींव दृढ़ बनी रहे।

विश्वविद्यालय विधेयक की रूपरेखा—जून १९०४ में विश्व-विद्यालय विधेयक पारित कर दिया गया। इस विधेयक द्वारा निम्न-लिखित आयोजना की गई :—

(१) विश्व-विद्यालयों को केवल परीक्षा ही नहीं लेना चाहिये वरन् उन्हें अध्यापक नियुक्त करके अनुसन्धान तथा अध्यापन का भी कार्य करना चाहिये।

(२) विश्व-विद्यालयों तथा उनसे संयोजित कालेजों को एक दूसरे के पहिले से अधिक घनिष्ट सम्पर्क में आ जाना चाहिये। इन कालेजों का विश्व-विद्यालय के निरीक्षकों द्वारा निरीक्षण भी होना चाहिये। कालेजों के संयोजन तथा विसंयोजन का अधिकार विश्वविद्यालयों को दे दिया गया परन्तु सरकार की अन्तिम स्वीकृति की आवश्यकता होती थी।

(३) सेनेट तथा सेनेट के सदस्यों की संख्या बहुत कम कर दी गई और नये सेनेटों सिन्डीकेटों तथा फैकल्टियों का सूत्रपात किया गया। सेनेट के ८० प्रतिशत सदस्य सरकार द्वारा मनोनीत होंगे।

(४) इस विधान ने आदेश दिया कि स्कूलों तथा कालेजों में छात्रावास की व्यवस्था की जाय।

(५) विभिन्न प्रान्तों में वहाँ की देशी भाषा प्रारम्भिक कक्षाओं में शिक्षा का माध्यम बन गई और उच्च कक्षाओं में अंग्रेजी के माध्यम द्वारा शिक्षा देने की व्यवस्था की गई।

(६) विभिन्न प्रान्तों में विद्यार्थियों को अध्यापकों की शिक्षा देने के लिये ट्रेनिंग कालेजों के खोलने की व्यवस्था की गई

विश्व-विद्यालय विधेयक की विशेषतायें—लार्ड कर्जन ने स्वयम् इस विधेयक की विशेषताओं के सम्बन्ध में लिखा था, "इसका मुख्य सिद्धान्त शिक्षा के और विशेषकर उच्च-शिक्षा के सर्वतोमुखी स्तर को ऊंचा उठाना है। हम प्रस्तुत दोषपूर्ण परीक्षाओं के स्थान पर इससे उत्तम व्यवस्था चाहते हैं। हम यह नहीं चाहते कि कालेज को वेदी पर सर्वस्व अर्पित कर दिया जाय जैसा कि आजकल के विश्व-विद्यालयों की व्यवस्था है, हम रटन्त विद्या को समाप्त कर देना चाहते हैं। अच्छे वर्ग के अध्यापकों की नियुक्ति कर हम शिक्षा को उच्चतर बनाना चाहते हैं। जिन कालेजों तथा संस्थाओं को स्वतन्त्र छोड़ दिया गया है उनके निरीक्षण की व्यवस्था करना चाहते हैं। विश्व-विद्यालयों का शासन हम योग्य तथा कुशल एवं उत्साही व्यक्तियों के हाथ में देना चाहते हैं। हम सेनेट का पुनर्संगठन तथा सिन्डिकेट के अधिकारों को निश्चित करना चाहते हैं। हम निर्वाचित सदस्यों को जो केवल अनुमति से नियुक्त किये जाते हैं वैधानिक मान्यता देना चाहते हैं। हम वह मार्ग दिखलाना चाहते हैं जिससे हमारे विश्व-विद्यालय जो अभी केवल परीक्षा लेने की संस्थायें हैं पढ़ाने वाली संस्थाओं में परिवर्तित हो जायँ। वास्तव में भारत में हम उच्च-शिक्षा को जो इस समय है वास्तविक स्वरूप देना चाहते हैं।" यद्यपि भारतीय विश्व-विद्यालय विधेयक की तीव्र आलोचना की गई फिर भी १९०४ में वह पारित कर दिया गया।

प्रारम्भिक शिक्षा के कार्य—इसमें संदेह नहीं कि लार्ड कर्जन के शासन काल में शिक्षा को प्रोत्साहन प्राप्त हुआ। उसके समय में प्रारम्भिक शिक्षा की ओर विशेष रूप से ध्यान दिया गया और १९०२ में दी गई एक विशेष ग्रान्ट के अतिरिक्त प्रारम्भिक शिक्षा को प्रोत्साहन देने के लिये २३०००० पौंड की स्थायी ग्रान्ट भी दी गई।

शैक्षण सेवा में सुधार—लार्ड कर्जन ने शैक्षण सेवा में भी सुधार किये। उसने अध्यापकों के वेतन में वृद्धि कर दी और कृषि की शिक्षा पर विशेष रूप से बल दिया। उसने स्त्री शिक्षा तथा औद्योगिक शिक्षा में भी अपनी अभिरुचि प्रदर्शित की।

(८) वैधानिक सुधार—लार्ड कर्जन के शासन काल में दो एक के अतिरिक्त कोई अन्य महत्वपूर्ण वैधानिक परिवर्तन नहीं हुआ। जो थोड़े से वैधानिक परिवर्तन उसके शासन काल में हुये वे निम्नलिखित थे :—

(क) व्यवसाय तथा उद्योग विभाग की स्थापना—१९०४ में एक ऐक्ट पास किया गया जिसके द्वारा वाइसराय की कौंसिल के लिये एक छठें सदस्य की नियुक्ति की गई और व्यवसाय तथा उद्योग का एक नया विभाग खोल कर उसे उसका अध्यक्ष बना दिया गया।

(ख) सैन्य विभाग में सुधार—कर्जन-किचनर विवाद का उल्लेख पहिले किया जा चुका है। अन्त में किचनर के मतानुसार दो के स्थान पर एक ही सैन्य विभाग बना दिया गया और कमाण्डर-इन-चीफ उसका प्रधान बना दिया गया।

(ग) दिल्ली दरबार—२२ जनवरी १९०१ को महारानी विक्टोरिया का परलोकवास हो गया। सम्पूर्ण देश में शोक मनाया गया और महारानी को श्रद्धाञ्जलि अर्पित की गई। लार्ड कर्जन ने महारानी की स्मृति में कलकत्ते में "विक्टोरिया मेमोरियल हाल" का निर्माण कराया और उसके उत्तराधिकारी के सिंहासनारोहण की घोषणा करने के लिये १९०३ में दिल्ली में एक दरबार किया और अकाल तथा महामारी का प्रकोप होते हुये भी इस दरबार में अपार धन व्यय किया गया।

(९) बंग-भंग—एडवर्ड सप्तम के राज्याभिषेक के अवसर पर दिल्ली में किये गये दरबार के १५ मास उपरान्त कर्जन का शासन काल बढ़ा दिया गया और वह कुछ विश्राम करने के लिये कुछ समय के लिये इङ्गलैण्ड चला गया। मद्रास के गवर्नर ऐम्प्ट-

हिल ने नौ महीने तक उसके स्थान पर कार्य किया। दिसम्बर १९०४ में कर्जन भारतवर्ष लौट आया और उसने अविलम्ब भारत की अत्यन्त जटिल समस्याओं को सुलझाना आरम्भ किया। इनमें से एक समस्या बङ्ग-भङ्ग की भी थी।

बंग-भंग की परिस्थितियाँ—यहाँ पर उन परिस्थितियों का संक्षिप्त विवरण दे देना आवश्यक है जिनके फलस्वरूप बंग-भंग की आयोजना की गई। यह परिस्थितियाँ निम्नाङ्कित थीं :—

(१) १८७४ में सिलहट, कचार तथा गोलपाड़ा के जिले जिनमें अंग्रेजी भाषा बोली जाती थी बङ्गाल से अलग कर दिये गये और आसाम में सम्मिलित करके और एक अलग चीफ कमिश्नर के अनुशासन में रख दिये गये। यह नवीन प्रान्त इतना छोटा था कि इसे बड़े प्रान्त का सब सुविधायें नहीं प्राप्त हो सकती थीं। अतएव इस प्रान्त के आकार को बढ़ा कर इसे स्वावलम्बी बनाने का प्रयत्न किया जा रहा था।

(२) सीमा की सुरक्षा के दृष्टिकोण से भी आसाम की सीमा में वृद्धि करने की आवश्यकता का अनुभव किया जा रहा था। फलतः १८९१ में एक सम्मेलन करने की आवश्यकता पड़ी। इस सम्मेलन ने लुशाई की पहाड़ियों तथा चिटगाँव कमिश्नरी को आसाम में सम्मिलित कर लेने की परामर्श दी।

(३) १८९६ में एक अन्य सुझाव द्वारा ढाका तथा मोमेनसिंह जिलों को आसाम में सम्मिलित करने की आयोजना की गई परन्तु इस आयोजना का बड़ा विरोध हुआ। अतएव इसे स्थगित कर दिया गया और केवल लुशाई पहाड़ियों को आसाम में सम्मिलित किया गया। चिटगाँव कमिश्नरी तथा ढाका और मोमेनसिंह जिलों के आसाम में सम्मिलित करने की आयोजना त्याग दी गई।

(४) १९०२ में लार्ड कर्जन ने भारत-सचिव को लिखा था कि प्रान्तों की सीमाओं के और विशेषकर बंगाल की सीमा के पुनर्संगठन के प्रश्न पर वह निस्सन्देह एक व्यक्ति के प्रबन्ध के लिये अत्यन्त विशाल था विचार करना चाहता था। उसकी धारणा थी कि कुछ प्रान्तों की सीमायें जिनके अन्तर्गत बंगाल भी था तर्कसंगत न थीं और इससे कार्य-कुशलता को बड़ी क्षति पहुँचती थी।

(५) लार्ड कर्जन की यह भी धारणा थी कि आन्तरिक गमनागमन की असुविधाओं के कारण बंगाल में पुलिस का शासन अत्यन्त असन्तोषजनक था।

(६) चूँकि बंगाल का प्रान्त अत्यन्त विशाल था अतएव गंगा के पार के जिलों पर पदाधिकारी लोग उतना ध्यान नहीं दे पाते थे जितना उनको देना चाहिये था।

(७) १९०३ में जब बरार को मध्य-प्रान्त में सम्मिलित करने का प्रश्न विचाराधीन था उस समय फिर यह सुझाव रक्खा गया कि चिटगाँव की कमिश्नरी आसाम में सम्मिलित की जाय। बंगाल के लेफ्टीनेन्ट गवर्नर सर ऐन्ड्रू फ्रेजर ने तो यह भी सुझाव दिया कि ढाका तथा मीमेनसिंह के जिले भी आसाम में सम्मिलित कर दिये जाय। लार्ड कर्जन की स्वीकृति से १९०३ में इसे भारत सरकार के एक ऐक्ट के रूप में रक्खा गया और लोकमत के लिये इसे प्रकाशित किया गया। इस व्यवस्था का घोर विरोध हुआ। अतएव विवश होकर इसे स्थगित करना पड़ा।

(८) विरोध के कारण लार्ड कर्जन ने सम्पूर्ण आयोजना का रूप ही बदल दिया। उसने यह आयोजना की कि बंगाल को पूर्वी बंगाल तथा पश्चिमी बंगाल में विभक्त कर दिया जाय और आसाम का प्रान्त पूर्वी बंगाल में सम्मिलित कर दिया जाय। यह प्रस्ताव गुप्त रूप से भारत-सचिव के पास स्वीकृति के लिये भेज दिया गया जिसने थोड़े से परिवर्तनों के साथ प्रस्ताव को स्वीकार कर लिया। यह आयोजना जुलाई १९०५ में पास कर दी गई और भारत के सभी भागों से घोर विरोध होते हुये भी अक्टूबर १९०५ में इसे कार्यान्वित कर दिया गया।

आयोजना का विरोध—बंग-भंग की आयोजना के विरुद्ध एक देशव्यापी आन्दोलन आरम्भ हो गया। इस आन्दोलन का सबसे बड़ा कारण यह था कि बंगाली बोलने वाली जनता ने बंगाल के इस विभाजन में बृटिश सरकार की राजनैतिक चाल का अनुमान किया। उनकी यह धारणा बन गई कि हिन्दुओं तथा मुसलमानों में मतभेद उत्पन्न करने के लिये यह आयोजना की गई है। यह धारणा तथ्य-गर्भित भी थी क्योंकि आयोजना के प्रति सहानुभूति प्राप्त करने के लिये बृटिश सरकार ने मुसलमानों के साथ खुल्लमखुल्ला पक्षपात करना आरम्भ कर दिया। सरकारी नौकरियाँ बहुत बड़े अनुपात में मुसलमानों को दी गई। स्थानापन्न लेफ्टीनेन्ट गवर्नर ने स्पष्टरूप से बतला दिया कि अपनी दो पत्नियों में मुस्लिम पत्नी के साथ उसकी विशेष अनुरक्ति थी। लार्ड कर्ज़न ने स्वयम् पूर्वी बंगाल में मुसलमानों की एक सभा में कहा था कि विभाजन का एक लक्ष्य मुसलमान प्रान्त की स्थापना करना था जिसमें मुसलमानों का बाहुल्य तथा प्राबल्य रहेगा। इसे हम थोड़े से हित-साधकों का आन्दोलन नहीं कह सकते क्योंकि भारतीयों, एंग्लो-इंडियनों, हिन्दुओं, मुसलमानों, व्यापारियों तथा नगरों एवं गावों के भूस्वामियों सभी ने इसका विरोध किया था। अतएव इस आयोजना को हम कर्ज़न की कोरी मूर्खता ही कह सकते हैं। १९११ में इस आयोजना को फिर बदल दिया गया।

आयोजना के परिणाम—भारतीय जनता ने बंग-भंग की आयोजना का घोर विरोध किया। देश के बड़े-बड़े नेताओं ने वाइसराय के पास इस आयोजना के विरोध में तार भेजे परन्तु उस पर कोई प्रभाव न पड़ा और वह अपने निर्णय पर दृढ़ रहा। कलकत्ते में बड़ी-बड़ी सभायें की गई और स्वदेशी वस्तुओं के प्रयोग तथा विदेशी वस्तुओं के बहिष्कार करने की शपथ ली गई। इस आन्दोलन ने भारतीय नेशनल कांग्रेस में नव-जीवन का संचार कर उसे प्रबल बना दिया। कांग्रेस ने भी इसी प्रकार के स्वदेशी तथा बहिष्कार के प्रस्ताव पास किये और आन्दोलन को प्रोत्साहित किया। बंग-भंग की आयोजना के फल-स्वरूप भारत में उग्रवादी दल का आविर्भाव हुआ और क्रान्तिकारियों को बड़ा प्रोत्साहन मिला। १६ अक्टूबर को राष्ट्रीय शोक दिवस मनाया गया और इस दिन के प्रोग्राम में चार बातें रक्खी गई। (१) रक्षा-बन्धन द्वारा बंगाल की एकता तथा अविभाज्यता को व्यक्त किया गया, (२) सर्वत्र हड़ताल किया गया और व्रत रक्खा गया, (३) संघीय भवन (Federation Hall) के निर्माण करने की आयोजना की गई जिसमें बंगाल के सभी जिलों की मूर्तियाँ होंगी और विभक्त जिलों के पुनर्सङ्गठन तक आच्छादित रखने की आयोजना की गई। (४) कताई के व्यवसाय की सहायता करने के लिये "राष्ट्रीय कोष" (National Fund) की व्यवस्था की गई। देश में नई जागृति तथा नई स्फूर्ति उत्पन्न हो गई। नये-नये कारखाने खोले; गये समाचार-पत्रों में निर्भीकता आ गई; अशिक्षित समाज में भी देश की चर्चा होने लगी, एकता की भावना प्रबल होने लगी और राष्ट्रीयता का विकास द्रुतगति से होने लगा। विभाजन की आयोजना से न केवल बंगाल को वरन् सम्पूर्ण देश को ठेस लगी और इसे राष्ट्रीय आघात समझा गया। फलतः "वन्देमातरम" का महत्व बढ़ गया और उसे राष्ट्रीय संस्थाओं ने अपने आन्दोलन का एक अस्त्र बना लिया।

निष्कर्ष—बंग-भंग की आयोजना शासन की सुविधा के विचार से की गई थी परन्तु यह स्मरण रखना चाहिये कि शासन की असुविधाओं को दूर करने का बङ्गाल विभाजन एक मात्र उपाय न था वरन् इसके कई अन्य उपाय भी थे जिसमें बङ्गाल की जनता को किसी भी प्रकार की आपत्ति नहीं हो सकती थी। पहिला उपाय यह था कि बम्बई तथा मद्रास की भाँति बङ्गाल में भी लेफ्टीनेन्ट गवर्नर की सहायता के लिये कार्य-कारिणी समिति की स्थापना की जा सकती थी। दूसरा उपाय यह था कि विहार तथा उड़ीसा के

जिले अलग किये जा सकते थे जैसा कि बाद में किया गया। ऐसा प्रतीत होता है कि बंग-भंग का वास्तविक कारण शासन की सुविधा की आवश्यकता के अतिरिक्त कुछ और ही था। सत्य बात तो यह थी कि कलकत्ते के नेताओं का सम्पूर्ण प्रान्त में प्रभाव बढ़ रहा रहा था। कर्ज़न के लिये यह असह्य था और उसने उसके रोकने का दृढ़-संकल्प कर लिया था। वास्तव में बंग-भंग की आयोजना बंगालियों की संयुक्त शक्ति तथा कलकत्ते के राजनैतिक प्राबल्य को नष्ट करने तथा हिन्दुओं को दबा कर मुसलमानों के प्राबल्य को बढ़ाने के लिये की गई थी। पूर्वी बङ्गाल में मुसलमानों की संख्या अधिक थी। अतएव यह प्रदर्शन करने की चेष्टा की गई कि बंग-भंग की आयोजना करके मुसलमानों के हितों का विशेष रूप से ध्यान रक्खा गया है। यद्यपि अंग्रेजों ने सम्पूर्ण आन्दोलन को दम्भपूर्ण बतलाने का प्रयत्न किया परन्तु वास्तव में यह न्याय-सङ्गत था। बृटिश सरकार ने आन्दोलन को निरुत्साहित करने के लिये अपना दमन कुचक्र चलाया। सेनाय भंग कर दी गईं, "वन्देमातरम्" के नारे लगाना अपराध ठहराया गया, नेताओं पर अभियोग लगाये गये और अनेकों को कारागार में डाल दिया गया परन्तु इस दमन नीति ने आन्दोलन को और अधिक बल प्रदान कर दिया और अन्ततोगत्वा १९११ में बंग-भंग की आयोजना बदल दी गई।

लार्ड कर्ज़न का इस्तीफ़ा तथा उसके अन्तिम दिवस— किचनर-कर्ज़न विवाद का पहिले उल्लेख किया जा चुका है जिसके फलस्वरूप कर्ज़न ने अपने पद से त्याग-पत्र दे दिया। नवम्बर १९०५ में उसने भारत से अपने देश के लिये प्रत्यागमन कर दिया। १९०७ से १९२५ तक वह आक्सफ़ोर्ड विश्व-विद्यालय का चान्सलर रहा और १९११ से १९१४ तक वह रायल ज्योग्रफ़िकल सोसाइटी का प्रेसीडेन्ट था। १९११ में उसे अर्ल की और १९२१ में मारक्विस की उपाधि मिली। १९१५ में उसे मन्त्रिमण्डल में स्थान प्राप्त हो गया। २० अगस्त १९१७ के घोषणापत्र के तैयार करने में लार्ड कर्ज़न का भी हाथ था। लार्ड कर्ज़न माण्टेग्यू चेम्सफोर्ड आयोजना से सहमत न था और फ़रवरी १९१९ में उसने कैबिनेट कमेटी में कार्य करने से इन्कार कर दिया जो "इण्डिया बिल" के प्रस्तुत करने के लिये नियुक्त की गई थी। १९१९ से १९२४ तक वह फारेन सेक्रेटरी था और १९२४ में वह पंचत्व को प्राप्त हो गया।

कर्ज़न का चरित्र तथा उसके कार्यों का मूल्यांकन— लार्ड कर्ज़न ने दिसम्बर १८९८ में भारत में पदार्पण किया और नवम्बर १९०५ में उसने अपने देश के लिये प्रस्थान कर दिया। उसके आगमन तथा प्रत्यागमन दोनों ही पर भारतीय जनता ने हर्ष प्रकट किया था। उसके आगमन पर भारतीय जनता के मन में नई-नई आशाओं का संचार हुआ था। उसके प्रत्यागमन से जनता को विमुक्ति प्राप्त हुई थी। कर्ज़न का व्यक्तित्व अत्यन्त उच्चकोटि का था। उसमें अद्भुत शक्ति थी और उसमें अद्वितीय कार्यक्षमता थी। उसका ज्ञान-कोष अत्यन्त प्रचुर था और उसकी प्रतिभा अत्यन्त विलक्षण थी। विश्व की यात्रा ने उसके दृष्टिकोण को अत्यन्त व्यापक बना दिया था। कर्तव्यपरायणता उसमें उच्चकोटि की थी। वह बड़ा ही साहसी तथा धैर्यवान् था और भयानक से भयानक आपत्ति आने पर भी उसका साहस तथा धैर्य भंग नहीं होता था। जनता की भौतिक अभिवृद्धि के लिये वह अत्यन्त उत्सुक तथा चिन्तित रहता था। सङ्गठन करने की वह अद्भुत क्षमता रखता था। उसमें उच्चकोटि की विश्वास दृढ़ता थी। वह अत्यन्त दृढ़-प्रतिज्ञ तथा अटल संकल्प का व्यक्ति था। अपने पक्ष को अत्यन्त मनोरम तथा भव्य रूप में उपस्थित करने की वह विलक्षण प्रतिभा रखता था।

कर्ज़न के आदर्श बड़े उच्चकोटि के थे। सत्य के लिये लड़ना वह अपना परम धर्म समझता था। अयोग्य लोगों से उसे घृणा थी और अपूर्णता तो वह सहन नहीं कर पाता

था। अन्यायी तथा अत्याचारी लोगों से उसे घोर घृणा थी। वह अपनी बात पर अटल तथा दृढ़ रहता था। मिथ्या गुणगान, निन्दा, घृणा अथवा प्रशंसा की वह बिल्कुल चिन्ता नहीं करता था। जनता के साथ न्याय करना और उनकी भौतिक एवं नैतिक उन्नति का प्रयास करना वह अपना परम धर्म समझता था। वह यूरोपवासियों द्वारा भारतीयों के साथ किये गये अन्याय अथवा दुर्व्यवहार को सहन नहीं कर पाता था। लार्ड कर्ज़न के चरित्र में विरोधी तत्वों का समावेश था। आडम्बर के साथ-साथ उसमें सरलता थी, एकाकीपन के साथ-साथ उसमें मिलनसारिता भी थी, दृष्टिकोण की व्यापकता के साथ-साथ उसमें असहिष्णुता भी थी, दयालुता के साथ-साथ उसमें तुच्छता भी थी अगाढ़ प्रेम एवं स्नेह के साथ-साथ उसमें घोर घृणा की भी भावना थी, भयङ्कर उद्दण्डता के साथ-साथ उसमें आश्चर्यजनक विनम्रता भी थी। इन्हीं विरोधी तत्वों के सम्मिश्रण के कारण ही उसके व्यक्तित्व को समझना अत्यन्त कठिन कार्य था और वह लोकप्रिय न बन सका।

राज्य के सभी विभागों का कर्ज़न को पूर्ण ज्ञान था। वह सभी का पथ-प्रदर्शन करता था और सभी को उससे प्रेरणा मिलती थी। शासन का कोई भी ऐसा क्षेत्र न था जो उसके व्यक्तित्व से प्रभावित न हो और जहाँ पर उसकी दृष्टि न पड़ती हो। कोई ऐसी वस्तु न थी जो उसकी दृष्टि से बच सके यहाँ तक कि उसकी कौंसिल के सदस्यों के वस्त्र भी उपेक्षित नहीं होते थे। वह राज्य की सम्पूर्ण शक्ति को अपने हाथ में केन्द्रीभूत करना चाहता था। ठाट-बाट को उसमें विशेष अभिरुचि थी। स्वभाव से ही वह गर्वशील तथा स्वेच्छाचारी था और अपने अधिकारों के प्रति वह सदैव चैतन्यशील था। अपने पद तथा अपनी मर्यादा का उसे सदैव ध्यान रहता था। वह विरोध को कभी सहन नहीं कर पाता था और न अपने विपक्षियों के दृष्टिकोण के समझने का चिन्ता करता था। उसका आत्माभिमान सर्वोपरि रहता था। भारत में बृटिश साम्राज्य के स्थायित्व में उसका पूर्ण विश्वास था। वह प्रत्येक कार्य में अत्यन्त द्रुतगति से चलता था। वह प्रत्येक कार्य का सम्पादन अत्यन्त कुशलतापूर्वक कराना चाहता था और इस कौशल का स्तर इतना उच्च रहता था कि वहाँ तक पहुँचना दुर्लभ हो जाता था। वह सदैव अपनी बात पर दृढ़ रहता था और समझौते के लिये उद्यत नहीं रहता था। दूसरों के उत्साह, साहस तथा शक्ति के विकास का वह ध्यान नहीं रखता था और अपने अधीनस्थ कार्य करने वालों को स्वतन्त्रता पूर्वक कार्य करने का अवसर नहीं प्रदान करता था। वह अपने ही विचारों को दूसरों पर लादने का प्रयास करता था। वह अत्यन्त उद्धत तथा हठधर्मी था और ऐसे देश का शासन करने के लिये सर्वथा अयोग्य था जहाँ की जनता राष्ट्रीयता की भावना से ओत-प्रोत थी और जिसमें नये जीवन तथा नई स्फूर्ति का संचार हो रहा था। वह इतना अहंकारी था कि वह कहा करता था, "मैं भूल नहीं कर सकता, मैं सबसे अच्छा समझता हूँ।" यही उसकी अलोकप्रियता तथा असफलता का सबसे बड़ा कारण था। उसकी यह धारणा थी कि भारत में अंग्रेजी शासन ईश्वर की इच्छा तथा प्रेरणा से चल रहा है और अँग्रेज ही भारतीयों के भाग्य के निर्माता हैं और उन्हीं के शासन में भारत का अधिकाधिक कल्याण हो सकता है। इस धारणा के कारण उसने भारतीय लोकमत की सदैव उपेक्षा की। भारतीयों के सम्बन्ध में उसकी अत्यन्त तुच्छ कोटि की धारणा थी। वह उन्हें मिथ्यावादी तथा कुटिल समझता था। भारतीय चरित्र तथा भारतीय धर्म के सम्बन्ध में उसकी अत्यन्त घृणित धारणा थी। यही कारण था कि भारतीय लोकमत की वह बिल्कुल चिन्ता नहीं करता था और उसे निरन्तर पद-दलित करने के लिये उद्यत रहता था। शिक्षित भारतीयों को वह घृणा की दृष्टि से देखता था। उसकी धारणा थी कि कांग्रेस ध्वस्त होने जा रही है और शान्तिपूर्वक उसे समाधि देना वह अपना कर्तव्य समझता था। भारतीयों की राष्ट्रीय भावना तथा स्वायत्त शासन की

आकांक्षा के साथ उसकी बिल्कुल सहानुभूति न थी। ऐसी दशा में लार्ड कर्जन के शासन काल में वैधानिक विकास अथवा भारतीयों को सरकारी सेवाओं में उच्च-पद प्राप्त करने की कोई आशा न थी। वह स्वयम् अपने को भारतीयों का संरक्षक समझता था जिनका उसके अतिरिक्त कोई अन्य व्यक्ति प्रतिनिधि नहीं हो सकता था। यही कारण था कि वह भारत में स्वेच्छाचारी तथा निरंकुश शासन के पक्ष में था और उसकी असफलता का भी यही कारण था। लार्ड कर्जन इस महान् तथ्य को भूल गया था कि वह ऐसे समय में भारत का वाइसराय नियुक्त किया गया था जब स्वेच्छाचारिता का युग समाप्त हो चुका था। लार्ड कर्जन के प्रवचनों तथा कार्यों में पर्याप्त अन्तर था। सिद्धान्तः वह आलोचनाओं का आलिंगन करता था परन्तु क्रियात्मक रूप में वह विरोध का भयानक शत्रु था। उसकी म्युनिसिपल नीति, उसकी शिक्षा सम्बन्धी नीति, उसकी बङ्ग-भङ्ग की आयोजना, उसके आफिशल सेक्रेट ऐक्ट, उसकी प्रान्तीय नौकरियों सम्बन्धी प्रतियोगिता की परीक्षाओं के बन्द करने की नीति की भारतीयों ने तीव्र आलोचना की परन्तु लार्ड कर्जन ने भारतीय लोकमत की लेशमात्र चिन्ता न की और अपनी नीति को पूर्ण रूप से कार्यान्वित किया। उसके चरित्र की सबसे बड़ी दुर्बलता यह थी कि वह बड़ा ही हठधर्मी था और दूसरों की मनोवृत्ति को समझ नहीं पाता था। इसी से वह अधिक दिनों तक किसी के साथ अच्छा सम्बन्ध नहीं रख पाता था। यद्यपि आरम्भ में गृह सरकार के साथ उसका सम्बन्ध अच्छा था परन्तु उत्तरोत्तर यह सम्बन्ध बिगड़ता ही गया और अन्त में इसका अवसान उसके त्याग-पत्र में हुआ। अपने सहकारियों तथा अधीनता में कार्य करने वालों के साथ भी उसका सम्बन्ध अच्छा न था। वे उससे आतङ्कित तो रहते थे परन्तु उसे आदर की दृष्टि से नहीं देखते थे। भारतीय शिक्षित वर्ग के साथ प्रारम्भ में तो उसका सम्बन्ध अच्छा था परन्तु कालान्तर में वह अत्यन्त घृणास्पद हो गया। इसी से डा० रास बिहारी घोष ने कर्जन के सम्बन्ध में कहा था, "जो कुछ उसे बनाना चाहिये था उसे वह बिगाड़ कर गया और उन सभी कार्यों को उसने किया जो उसे नहीं करना चाहिये था।" भारत में लार्ड कर्जन का लक्ष्य था अयोग्य नौकरशाही को योग्य स्वेच्छाचारी सरकार में परिवर्तित करना और जहाँ तक सम्भव हो वह उदार स्वेच्छाचारी हो, इङ्गलैण्ड के प्रभुत्व को भारत में स्थायी बनाना, भारत सरकार के लिये स्वतन्त्रता प्राप्त करना परन्तु भारतीय जनता के लिये नहीं, जन साधारण की दशा को सुधारना और शिक्षित वर्ग में जो नवीन जागृति उत्पन्न हो रही थी उसे दबाना। अपने इस लक्ष्य की पूर्ति के लिये उसने शासन का केन्द्रीकरण किया, भारत की ओर से गृह-सरकार से पैरवी की, कृषि सम्बन्धी सुधार किये, कुशलता तथा योग्यता के नाम से उसने उच्च-शिक्षा पर प्रहार किया और लोकमत के विरोध में भी उसने बङ्ग-भङ्ग की आयोजना को कार्यान्वित किया। कहा जाता है कि लार्ड कर्जन ने अपने शासन-काल में चार महत्वपूर्ण कार्य किये थे और उनमें सफलता प्राप्त की थी। यह कार्य थे बंगाल का विभाजन, उसकी सीमा नीति, उसके शिक्षा सम्बन्धी सुधार तथा उसका भूमि प्रबन्ध। परन्तु बङ्ग-भङ्ग तथा शिक्षा सम्बन्धी नीति की सफलता संदिग्ध मानी जाती है। भारत के वाइसराय के रूप में लार्ड कर्जन को चाहे सफलता न प्राप्त हुई हो परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि उसका व्यक्तित्व अत्यन्त ऊँचा था और उसकी प्रतिभा अत्यन्त विलक्षण थी। इतिहास में ऐसे उदाहरण का प्राप्त करना दुर्लभ है जब अपनी ही प्रतिभा अपने विनाश का कारण सिद्ध हुई हो। स्वर्गीय गोखले ने जो उसकी अलौकिक प्रतिभा के प्रशंसक थे एक बार ठीक ही कहा था कि परमात्मा ने उसे उदार कल्पना से वंचित कर दिया था और इसी ने उसके भारतीय जीवन को ध्वस्त कर दिया।

क्या लार्ड कर्जन एक असफल वाइसराय था ?—यद्यपि लार्ड कर्जन

ने अपने शासन काल में अनेक लोकहितकारी सुधार किये थे परन्तु फिर भी उसकी गणना असफल वाइसरायों में होती है। उसने पुलिस विभाग में श्लाघनीय सुधार किये थे, रेलों के निर्माण का प्रबन्ध किया था और आर्थिक सुधार करके कृषकों का जिनकी संख्या उन दिनों ९० प्रतिशत थी बड़ा कल्याण किया था। इसमें सन्देह नहीं कि राज्य के विभिन्न विभागों को उसने अपने महान् व्यक्तित्व तथा विलक्षण प्रतिभा से प्रभावित किया। परन्तु अफसरशाही तथा योग्यतम शासन स्थापित करने की भावना से प्रेरित होने के कारण वह सर्वत्र अलोकप्रिय बन गया। उसके शासन काल के कृत्यों पर एक विहङ्गम दृष्टिपात करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि भारत के वाइसराय के रूप में वह सर्वथा असफल रहा क्योंकि उसकी नीति भारतीय जनता की भावनाओं के विरुद्ध थी और वाइसराय ने लोकमत की उपेक्षा करके अपनी नीति को कार्यान्वित किया था। कर्जन की अलोकप्रियता तथा विफलता के निम्नलिखित कारण थे :—

(१) कलकत्ता कारपोरेशन ऐक्ट—१९०० ई० में कर्जन की इच्छानुसार यह ऐक्ट पास किया गया था। इसने कारपोरेशन के सदस्यों की संख्या को कम कर दिया। २५ निर्वाचित सदस्यों को हटा कर कारपोरेशन के सदस्यों की संख्या ७५ से ५० कर दी गई। इससे कारपोरेशन में अंग्रेजों का बहुमत हो गया। वास्तव में कारपोरेशन एक "ऐंग्लो इण्डियन गृह" बन गया। इसी से सर सुरेन्द्रनाथ बनर्जी ने कहा था कि इस एक्ट ने नगर में स्थानीय स्वराज्य को समाप्त कर दिया है। यह रिपन-विरोधी एक संगठन था। भारतीय समाचार-पत्रों ने इसका घोर विरोध किया और इसके विरोध में कारपोरेशन के २८ भारतीय सदस्यों ने एक साथ त्याग-पत्र दे दिया।

(२) इंडियन यूनीवर्सिटीज ऐक्ट—इस आयोजना से एक भयानक विवाद उठ खड़ा हो गया और लार्ड कर्जन भारत के शिक्षित वर्ग में अत्यन्त अलोकप्रिय बन गया। भारतीयों को ऐसा विश्वास हो गया था कि लार्ड कर्जन भारतीय नव-युवकों की उच्च शिक्षा के द्वार को बन्द कर रहा है और इस प्रकार उनकी उन्नति के मार्ग को अवरुद्ध कर रहा है।

(३) आफिशल सेक्रेटस ऐक्ट—इस ऐक्ट से भारतीयों में बड़ा असन्तोष फैला। १८८९ में उसने सेना के रहस्य के उद्घाटन का निषेध कर दिया और इस प्रकार के कार्य को अपराध घोषित कर दिया। १९०१ में यह नियम बना दिया गया कि असैनिक मामलों के रहस्य के उद्घाटन करने वालों और उन समाचार-पत्रों को जो सरकार की ओर से संदेह अथवा घृणा उत्पन्न करेंगे दण्ड दिया जायगा।

(४) बंग-भंग आयोजना—इस आयोजना से भयानक आन्दोलन आरम्भ हो गया। चूँकि यह हिन्दुओं तथा मुसलमानों को विभक्त करने का उद्योग था अतएव इसका घोर विरोध आरम्भ हुआ। इसका मुख्य उद्देश्य मुस्लिम प्रान्त की स्थापना करना था। इस प्रकार लार्ड कर्जन ने पाकिस्तान का बीज-वपन कर दिया था।

(५) तिब्बत का अपव्ययी युद्ध—भारतवासी अंग्रेजों की साम्राज्यवादी नीति के विरुद्ध थे और सेना पर जो व्यय बढ़ रहा था उसके विरोधी थे। इस अपव्यय को रोक कर यही धन राष्ट्रीय निर्माण के कार्यों में व्यय किया जा सकता था। भारतवासी यह नहीं चाहते थे कि भारतीय धन तथा भारतीय सेना का प्रयोग शान्ति पूर्वक एकान्तवासी तिब्बतियों को आतङ्कित करने में लगाया जाय।

(६) सीमान्त प्रदेश का केन्द्रीय सरकार के नियन्त्रण में प्रस्थान—उत्तरी पश्चिमी सीमा प्रान्त को पंजाब से अलग कर दिया गया और उसे सीधे केन्द्रीय सरकार

के नियन्त्रण में कर दिया गया। इसके फल-स्वरूप अफगानिस्तान के साथ मनोमालिन्य आरम्भ हो गया और अन्ततोगत्वा सैनिक व्यय में भी वृद्धि हो गई।

(७) भारतीय सैनिकों का विदेशों में भेजना—लार्ड कर्जन ने भारतीय सैनिकों को चीन तथा दक्षिण अफ्रीका में भेजा था। इससे भारतीयों में बड़ा असन्तोष फैला क्योंकि यह सैनिक भारत की सीमा की रक्षा के लिये रक्खे गये थे न कि विदेशों में ब्रटिश साम्राज्य की वृद्धि के लिये।

निष्कर्ष—लार्ड कर्जन की नीति से भारत में बड़ा असन्तोष फैला। इसमें सन्देह नहीं कि वह बड़ा ही योग्य तथा विलक्षण प्रतिभा का शासक था परन्तु दुर्भाग्यवश उसकी नीति भारतीयों के दृष्टिकोण से अत्यन्त निन्दनीय तथा अहितकर सिद्ध हुई। शासन कौशल का उसका आदर्श इतना ऊचा था कि उसकी प्राप्ति के प्रयास में उसने अनेक भूलें की। कोरा कौशल ही जनता को सन्तुष्ट करने के लिये पर्याप्त नहीं होता। माण्टेग्यू साहब ने १९१७ में अपने एक भाषण में लार्ड कर्जन की तुलना एक मोटर ड्राइवर से की थी जो अपनी सम्पूर्ण शक्ति तथा अपना सम्पूर्ण समय मशीन के विभिन्न पुर्जों को साफ करने में लगा देता है परन्तु जो मोटर को चलाता नहीं क्योंकि उसे पता ही नहीं कि वह उसे कहां ले जाय। डलहौजी की भांति उसने वायु का वपन किया था और उसके उत्तराधिकारी को वातचक्र लुनन करना पड़ा। कर्जन में दूरदर्शिता न थी। लार्ड कर्जन चाहे एक योग्य शासक रहा हो परन्तु वह एक दूरदर्शी राजनीतिज्ञ कदापि न था। वह भारतीय राष्ट्रीयता के उत्कर्ष का सफलतापूर्वक सामना न कर सका और उसकी आयोजनायें स्थायित्व न प्राप्त कर सका। अतएव लार्ड कर्जन को भारत के असफल वाइसरायों की कोटि में रखना तथ्य-संगत तथा न्याय-संगत है।

लार्ड कर्जन तथा लार्ड डलहौजी की तुलना—प्रायः लार्ड कर्जन की तुलना लार्ड डलहौजी से की जाती है। इन दोनों की गणना भारत के प्रमुख गवर्नर जनरलों में की जाती है। इन दोनों के व्यक्तित्व, दृष्टिकोण तथा नीति में बड़ा साम्य था। दोनों का व्यक्तित्व अत्यन्त ऊंचा था और दोनों ही बड़ी हो विलक्षण प्रतिभा के व्यक्ति थे। दोनों ही उर्वर मस्तिष्क के थे और दोनों ही अत्यन्त कार्य-कुशल एवं परिश्रमशील थे। दोनों ही के आदर्श अत्यन्त ऊंचे थे और दोनों ही अपने आदर्श की पूर्ति की क्षमता रखते थे। दोनों ही उग्र साम्राज्यवादी थे और अग्रगामी नीति में विश्वास करते थे। दोनों ही ब्रटिश साम्राज्य की सीमाओं तथा प्रभाव का परिवर्धन करना चाहते थे। दोनों ही ने अपनी नीति के कार्यान्वित करने में भारतीयों की भावना की ओर बिल्कुल ध्यान न दिया और विरोध की चिन्ता न करके अपने गन्तव्य की ओर अग्रसर हुये। दोनों ही ने शासन के क्षेत्र में अत्यन्त व्यापक सुधार किये और भारतीयों के शुभचिन्तक बनने का आडम्बर रचा परन्तु दोनों ही अत्यन्त अलोकप्रिय तथा भारतीयों के कोपभाजन बने। दोनों ही के प्रत्यागमन के उपरान्त अशान्ति तथा आन्दोलन का प्रकोप बढ़ा। डलहौजी के भारत से जाने के उपरान्त १८५७ की क्रान्ति की वह्नि प्रज्वलित हो उठी और कर्जन के प्रस्थान के उपरान्त बंग-भंग के विरुद्ध आन्दोलन आरम्भ हो गया। दोनों ही का स्वास्थ्य असन्तोषजनक था और दोनों ही कौटुम्बिक कष्ट से पीड़ित थे।

कर्जन तथा रिपन की तुलना—लार्ड कर्जन तथा लार्ड रिपन एक दूसरे के विलोम थे। लार्ड रिपन ग्लैडस्टन के युग का उदार विचार का राजनीतिज्ञ था। वह उच्च-कोटि का सुधारवादी था और राजनैतिक तथा सामाजिक सुधारों में उसकी बड़ी अभिरुचि थी। शिक्षित भारतीयों की आकांक्षाओं के साथ उसकी विशेष सहानुभूति थी। वह उन्हें देश के शासन में भाग लेने के लिये प्रोत्साहित करना चाहता था और भारत में वैधानिक

तथा प्रतिनिधित्व शासन स्थापित करना चाहता था। अतएव वह भारतीयों को शासन कुशलता की बलि देकर भी स्वायत्त शासन का पाठ पढ़ाना चाहता था। अपने इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये उसने भारत में स्थानीय स्वराज्य की संस्थाओं के स्थापित करने की व्यवस्था की। वह भारतीयों को पहिले से अधिक अधिकार देना चाहता था और भारतीय मैजिस्ट्रेटों को यूरोपियनों के मुक़दमों का निर्णय करने का अधिकार देकर वह भारतीयों तथा यूरोपियनों को समान कोटि में लाना चाहता था। इस उद्देश्य की पूर्ति उसने इलबर्ट बिल द्वारा प्राप्त करने का प्रयास किया परन्तु दुर्भाग्यवश यूरोपवासियों के घोर विरोध के कारण यह बिल पारित न हो सका फिर भी वह इस नियम के बनाने में सफल हुआ कि भारतीय मैजिस्ट्रेट तथा न्यायाधीश जूरियों की सहायता से यूरोपियनों के मुक़दमों का निर्णय कर सकते हैं। वह भारतीयों को अपने देश की राजनैतिक तथा सामाजिक समस्याओं में अभिरुचि लेने के लिये प्रोत्साहित करना चाहता था। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये उसने लिटन के वर्नाक्युलर प्रेस एक्ट को हटा दिया और जन साधारण को राज्य की समस्याओं पर स्वतन्त्रतापूर्वक विचार तथा वाद-विवाद करने का अवसर प्रदान किया। ग़रीब भारतीयों की विपन्नता को दूर करने के लिये वह सदैव चिन्तित रहता था। १८८१ का फैक्ट्री एक्ट उसकी इस चिन्ता का फल था। इस विधान से कारखानों में काम करने वाले भारतीय श्रमजीवियों की विपन्नावस्था में बड़ा सुधार हो गया। रिपन इन लोकहितकारी आयोजनाओं के कारण बड़ा ही लोक-प्रिय तथा भारतीयों का श्रद्धापात्र बन गया। भारतीयों के लिये वह देव स्वरूप था। वह उनका शुभचिन्तक तथा हितकारी था। उसके समावर्तन के समय उसे अपनी श्रद्धाञ्जलि अर्पित करके और स्थान-स्थान पर उसका अभिनन्दन करके भारतीय जनता ने अपनी कृतज्ञता प्रकट की।

लार्ड कर्ज़न लार्ड रिपन से बिल्कुल विभिन्न प्रकृति का व्यक्ति था। यद्यपि वह भी भारतीय जनता के हित के कार्य करना चाहता था और उसने भूमि सुधार करके किसानों का बड़ा कल्याण किया था। प्राचीन स्मारकों की सुरक्षा का भी उसने पूर्ण व्यवस्था कराई थी परन्तु उसकी नीति रिपन की नीति से सर्वथा भिन्न थी। लार्ड कर्ज़न शासन कुशलता को सर्वोपरि रखता था और भारतीयों को वह स्वायत्त शासन प्रदान करने का घोर विरोधी था। उसने कलकत्ता कारपोरेशन एेक्ट पारित करा कर स्थानीय संस्थाओं को घातक प्रहार पहुँचाया था। भारतीयों की योग्यता तथा ईमानदारी पर उसे बिल्कुल विश्वास न था। अतएव वह उन्हें देश के शासन में भाग देने के पक्ष में न था। जहाँ लार्ड रिपन ने भारतीयों को देश की राजनैतिक तथा सामाजिक समस्याओं पर विचार करने के लिये प्रोत्साहित किया वहाँ कर्ज़न ने सदैव उन्हें हतोत्साहित किया। रिपन भारतीयों की भावनाओं का सदैव ध्यान रखता था परन्तु कर्ज़न ने भारतीयों की भावनाओं तथा आकांक्षाओं का बिल्कुल ध्यान न रक्खा और उनकी उपेक्षा करने में लेशमात्र संकोच न किया। विश्वविद्यालय विधेयक तथा बंग-भंग आयोजना ने उसे भारत में अत्यन्त अलोक-प्रिय बना दिया। रिपन जितना ही अधिक लोकप्रिय था कर्ज़न उतना ही अधिक अलोकप्रिय था। रिपन भारतीयों की परतन्त्रता की शृंखलाओं के विच्छिन्न करने का मार्ग परिष्कृत करना चाहता था परन्तु कर्ज़न भारतीयों की दासता के बन्धन को और जटिल बनाना चाहता था और बृटिश शासन को स्थायित्व प्रदान करना चाहता था। वह भारतीयों की आकांक्षाओं का दमन करना चाहता था। कर्ज़न स्वेच्छाचारी तथा निरङ्कुश शासन का पक्षपाती था और भारत में प्रतिनिधित्व सरकार का घोर विरोधी था परन्तु रिपन वैधानिक, उदार तथा प्रतिनिधित्व शासन का पक्षपाती था। लार्ड रिपन साधारण प्रतिभा का व्यक्ति था परन्तु कर्ज़न अत्यन्त विलक्षण प्रतिभा का व्यक्ति था और उसका

व्यक्तित्व अत्यन्त ऊँचा था। रिपन सहिष्णु था और सान्त्वना की नीति में विश्वास करता था और समझौता करने के लिये उद्यत रहता था। कर्ज़न उद्धत एवं उद्दण्ड था और समझौता करना उसने सीखा ही न था। वह जिस कार्य के करने का निश्चय कर लेता था उस पर अन्त तक दृढ़ रहता था और उसे पूरा करके ही दम लेता था। रिपन के लिये विरोध की उपेक्षा करना एक अत्यन्त दुष्कर कार्य था परन्तु कर्ज़न विरोध की लेशमात्र चिन्ता न करता था। रिपन के भारत से प्रस्थान करने के समय भारतीय जनता ने उसका अभिनन्दन करके उसके प्रति अपनी हार्दिक कृतज्ञता प्रकट की परन्तु कर्ज़न के भारत से प्रस्थान करने पर भारतीय जनता ने हर्ष ही प्रकट किया क्योंकि कर्ज़न बड़ा ही अलोकप्रिय तथा भारतीयों की घृणा का पात्र बन गया था।

अध्याय १३

लार्ड मिण्टो द्वितीय (१९०५-१०)

लार्ड मिण्टो का परिचय—गिल्बर्ट अर्ल आफ़ मिण्टो का जन्म ६८४७ में हुआ था। वह लार्ड मिण्टो का प्रपौत्र था जो १८०७ से १८१३ तक भारत का गवर्नर-जनरल रह चुका था। द्वितीय अफगान युद्ध में उसने भाग लिया था और १८६८ से १६०४ तक वह कनाडा का गवनर जनरल था। लार्ड कर्जन के त्यागपत्र के उपरान्त नवम्बर १९०५ में वह गवनर-जनरल तथा वाइसराय के पद पर नियुक्त होकर भारत आया। नवम्बर १९१० में वह भारत से वापस लौट गया और चार वर्ष उपरान्त १९१४ में उसकी जीवन-लीला समाप्त हो गई। उसके चरित्र के सम्बन्ध में प्रा० डाडवेल ने लिखा है, "नया गवनर-जनरल राजनीतिज्ञ न था परन्तु मनुष्य का उसे विस्तृत तथा विभिन्न अनुभव प्राप्त था। वह सदैव अच्छा खिलाड़ी रहा था। उसने कई वर्षों तक सेना में सेवा की थी और मिश्र तथा द्वितीय अफगान युद्ध में लड़ चुका था। अंग्रेजी कुलीन वंश की परम्परा के अनुसार वह स्थानीय शासन में सक्रिय भाग ले चुका था और कनाडा के गवर्नर-जनरल के उच्च पद पर रह चुका था। अतएव मनुष्यों को अनेक दृष्टिकोणों से उसने देखा था और इस अनुभव से उसकी दृष्टि को वह स्थूलता प्राप्त हो गई थी जिस से वे लोग वञ्चित रह जाते हैं जो जीवन का निरीक्षण अध्ययन गवाक्ष से करते हैं अथवा श्लीथ विवादों की अस्थिरता से राजनीतिज्ञता की समस्याओं को उलझा देते हैं। इन सुविधाओं के अतिरिक्त उसने अपने सम्पूर्ण क्रियात्मक जीवन में मनुष्यों पर अनुशासन करने की कला को सीख लिया था और जिनके साथ वह कार्य करता था उन्हें बिना कुद्ध अथवा दबाये अपनी इच्छानुसार कार्य कर लेने अथवा उसको इतनी मात्रा में कर लेने का गुण था जितनी की परिस्थितियाँ आज्ञा देतीं।"

जिस समय लार्ड मिण्टो भारत का गवर्नर-जनरल तथा वाइसराय नियुक्त होकर आया उस समय लार्ड मार्ले भारत-मन्त्री के पद पर आसीन था। वह बड़ा ही योग्य तथा सुधारवादी राजनीतिज्ञ था। वह वास्तविक अर्थ में भारत-सचिव बनना और भारत में वैधानिक सुधार करना चाहता था। मार्ले के पूर्व जितने भारत-सचिव हुये थे वे वाइसराय तथा ब्रिटिश मन्त्रिमण्डल के मध्य की कड़ी मात्र थे परन्तु मार्ले केवल एक कड़ी ही नहीं बनना चाहता था। साथ ही साथ वह वाइसराय को अपना एजेन्ट भी नहीं बनाना चाहता था तथापि वह भारत के शासन में अपने पूर्ववर्ती भारत-सचिवों की अपेक्षा अधिक रुचि लेता था। लार्ड मिण्टो तथा लार्ड मार्ले की नियुक्ति थोड़े ही आगे पीछे हुई थी और दोनों ही ने साथ-साथ शासन किया था। दोनों ही ने अपने-अपने कर्मचारियों की परामर्श पर ध्यान नहीं दिया और अपने स्वयम् के निर्णय से कार्य किया।

मिण्टो की प्रारम्भिक समस्या—जिस समय लार्ड मिण्टो भारत का गवर्नर-जनरल होकर आया उन दिनों बंग-भंग का आन्दोलन अत्यन्त द्रुतगति से चल रहा था और कर्जन किचनर विवाद अभी समाप्त नहीं हुआ। उदार दल जिसके हाथ में इन दिनों इँगलैण्ड के शासन की बागडोर थी बंग-भंग के विरुद्ध तथा लार्ड किचनर के मत का समर्थक था। लार्ड मार्ले स्थापित व्यवस्था के परिवर्तन करने के पक्ष में न था। अतएव कमाण्डर-इन-चीफ़ को वाइसराय की कौंसिल का एक साधारण सदस्य बना दिया गया।

सैन्य सप्लाई विभाग का निर्माण किया गया और उसे वाइसराय की कौंसिल के एक अन्य सदस्य के निरीक्षण तथा अनुशासन में कर दिया गया। लार्ड मार्ले ने परिस्थितियों से बाध्य होकर इस व्यवस्था को स्वीकार किया था। वास्तव में उसकी दृष्टि में यह व्यवस्था शासन तथा मितव्ययता दोनों ही दृष्टिकोणों से अवांछनीय थी। फलतः १९०७ में इस व्यवस्था को समाप्त कर दिया गया। इस प्रकार यद्यपि किचनर को विजय प्राप्त हुई और उसके सुझावों के अनुसार नई व्यवस्था की गई परन्तु इसके बारह वर्ष उपरान्त कर्जन की नीति की सार्थकता सिद्ध हो गई। इस नई व्यवस्था में भारत सरकार का देश की सैनिक नीति पर नियन्त्रण नगण्य हो गया क्योंकि सैन्य-विभाग पर कमाण्डर-इन-चीफ़ का प्रभुत्व स्थापित हो गया था। सम्पूर्ण शक्ति को कमाण्डर-इन-चीफ़ को हस्तान्तरित कर देने का परिणाम यह हुआ कि प्रथम महासमर के समय मेसोपोटामिया में यातायात तथा औषधि आदि भेजने की व्यवस्था अत्यन्त असन्तोषजनक हो गई थी। इस विषय पर अन्वेषण करने के लिये जो आयोग नियुक्त किया गया था उसने अपना मत प्रकट करते हुये लिखा था कि युद्ध-काल में कमाण्डर-इन-चीफ़ तथा सैनिक सदस्य के कार्यों का सम्पादन एक ही व्यक्ति सुचारु-रीति से नहीं कर सकता।

लार्ड मार्ले ने बंग-भंग की आयोजना को भी परिवर्तित करने में अपनी अनिच्छा प्रगट की। यद्यपि उसने इस बात को स्वीकार किया कि उसके पूर्ववर्ती राजनीतिज्ञों की नीति की विधि त्रुटिपूर्ण थी परन्तु वह स्थापित व्यवस्था को परिवर्तित करने के लिये उद्यत न था। परन्तु बंग-भंग के विरुद्ध आन्दोलन उग्रतर होता जा रहा था और बंगाल में इसने अत्यन्त विकराल रूप धारण कर लिया। सरकार की नीति के विरोध में बङ्गाल के सभी स्कूल तथा कालेज बन्द थे और विद्यार्थी लोग राजनैतिक सभाओं में बड़े उत्साह से भाग ले रहे थे। बङ्गाल के नये प्रान्त के लेफ्टिनेन्ट गवर्नर ने शिक्षा विभाग के लिये एक आदेश भेजा जिसमें यह धमकी दी गई कि जिन शैक्षण संस्थाओं के विद्यार्थी राजनैतिक आन्दोलनों में भाग लेंगे उनको सरकार द्वारा आर्थिक सहायता देना बन्द कर दिया जायगा और कलकत्ता विश्वविद्यालय से उनका सम्बन्ध विच्छेद करा दिया जायगा। पटने जिले की दो शिक्षा संस्थाओं ने इस आदेश का उल्लंघन किया और दो उपद्रवकारियों को अपने विद्यार्थियों में शरण दी। लेफ्टिनेन्ट गवर्नर ने कलकत्ता विश्वविद्यालय के पास इन संस्थाओं के साथ अपना सम्बन्ध विच्छेद करने के लिये एक आवेदन-पत्र भेजा। भारत सरकार इस कार्यवाही के विरुद्ध थी क्योंकि उस समय के अशान्तिमय वातावरण में विश्वविद्यालय की सिनेट में वह इस प्रकार के विवाद को नहीं उठाना चाहती थी। अतएव उसने लेफ्टीनेन्ट गवनर से अपना आवेदन-पत्र वापस लेने का अनुरोध किया। लेफ्टिनेन्ट गवनर ने इसे आत्म-प्रतिष्ठा के विरुद्ध समझा और अपना त्याग-पत्र दे दिया जो अविलम्ब स्वीकार कर लिया गया। आन्दोलन कर्ताओं ने इसे अपनी महान् विजय समझा। लार्ड कर्ज़न के विचार में आन्दोलन को शान्त करने के लिये भारत सरकार ने लेफ्टीनेन्ट गवनर का बलिदान कर दिया था।

मिण्टो की परराष्ट्र नीति—उदारदलीय सरकार को अपनी परराष्ट्र नीति में पूर्ण सफलता प्राप्त हुई। मिण्टो के शासन-काल की सब से महत्वपूर्ण घटना इङ्गलैण्ड तथा रूस का समझौता था। एशिया में रूस तथा इङ्गलैण्ड का झगड़ा तिब्बत, अफ़ग़ानिस्तान तथा फारस इन तीन देशों में चल रहा था। १९०७ में इन सभी झगड़ों को समाप्त कर दिया गया। अब रूस तथा इङ्गलैण्ड के सम्बन्ध पर एक विहंगम दृष्टि डाल कर समझौते का सिंहावलोकन कर देना आवश्यक है।

रूसी आपत्ति का सिंहावलोकन—रूस की ओर से आपत्ति का सूत्रपात सर्व-

प्रथम १८०७ में हुआ जब नेपोलियन तथा जार का इङ्गलैण्ड के विरुद्ध गठबन्धन हो गया। नेपोलियन भारत की विजय की कल्पना कर रहा था परन्तु १८१२ की दुर्घटना तथा १८१५ की बृटिश सफलता ने नेपोलियन की आकांक्षाओं पर पानी फेर दिया। बर्मा के प्रथम युद्ध (१८२४-२६) में सफलता प्राप्त कर लेने और भरतपुर के पतन (१८२६) ने भारत में अंग्रेजों की प्रतिष्ठा को बढ़ा दिया। इसका परिणाम यह हुआ कि प्रथम अफ़ग़ान युद्ध (१८३९-४२) के अवसर पर अंग्रेज लोग अफ़ग़ानिस्तान में रूसियों के प्रभाव को सहन करने के लिये उद्यत न थे और उनके हस्तक्षेप का विरोध करने के लिये दृढ़-सङ्कल्प थे। १८५४-५६ के क्रीमिया के युद्ध ने रूस को हतोत्साह अवश्य कर दिया परन्तु यह निराशा क्षणिक सिद्ध हुई। १८५७ की क्रान्ति तथा १८५९-६० के चीन के युद्ध ने रूसियों को फिर प्रोत्साहित कर दिया। उन्नीसवीं शताब्दी के द्वितीय चरण में मध्य-एशिया में रूस की प्रगति अत्यन्त द्रुतगति से बढ़ने लगी और ऐसा प्रतीत होने लगा कि रूस तथा इङ्गलैण्ड में संघर्ष होना अनिवार्य हो गया है। परन्तु पंजदेह की समस्या (१८८५-८७) को लार्ड डफरिन तथा अब्दुर्रहमान ने बड़ी बुद्धिमानी से शान्तिपूर्वक सुलझा लिया। इस शताब्दी के अन्तिम चरण में रूस तथा इङ्गलैण्ड के सम्बन्ध में बड़ा सुधार हो गया और क्रमशः सद्भावना का संचार होने लगा। १९०३ में तिब्बत में लार्ड कर्ज़न के हस्तक्षेप ने इस सम्बन्ध में कुछ कटुता अवश्य उत्पन्न कर दी परन्तु यह हस्तक्षेप रूस द्वारा भारत पर आक्रमण किये जाने के भय से नहीं किया गया था वरन् रूस की कूटनीतिक चाल को विफल बनाने के लिये किया गया था। १९०४-५ के रूस तथा जापान के युद्ध ने रूस की प्रतिष्ठा पर प्रबल प्रहार किया और पूर्व में उसकी आकांक्षायें मन्द पड़ गई। १९०७ में रूस तथा इङ्गलैण्ड के बीच एक समझौता हो गया जो एंग्लो रशियन कन्वेन्शन के नाम से प्रसिद्ध है। इस समझौते द्वारा तिब्बत, अफ़ग़ानिस्तान तथा फारस में अंग्रेजों तथा रूसियों के जितने झगड़े थे उन सब का अन्त कर दिया गया। अब मिण्टो के शासन काल में इन तीनों देशों के साथ भारत के सम्बन्ध का पृथक्-पृथक् वर्णन कर देना आवश्यक है।

तिब्बत के साथ सम्बन्ध—१९०४ में की गई लासा की सन्धि का वर्णन कर्ज़न के शासन काल की घटनाओं का उल्लेख करते समय किया जा चुका है। इस सन्धि पर चीन की अनुमति प्राप्त करना आवश्यक था क्योंकि तिब्बत पर चीन की राजसत्ता स्थापित थी। १९०६ में पेकिंग में चीन के साथ एक सन्धि हुई जिसमें चीन ने न केवल लासा की सन्धि को स्वीकार किया वरन् दो और बातों का निश्चय किया गया। पहिला निश्चय यह था कि बृटेन ने यह वचन दिया कि वह तिब्बत को कभी अपने साम्राज्य में नहीं मिलायेगा और न उसके आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप करेगा। दूसरा निश्चय यह था कि चीन ने इसी प्रकार के प्रतिबन्ध अन्य विदेशी शक्तियों पर भी लगाने का वचन दिया। इस दूसरी शर्त से जितना लाभ अंग्रेजों को हुआ उतना ही चीन को भी हुआ। ऐसा प्रतीत होता है कि तिब्बत में अंग्रेजों के हस्तक्षेप से चीन को लाभ हुआ। यद्यपि भारत सरकार कर्ज़न द्वारा की हुई सन्धि का अक्षरशः अनुगमन करना चाहती थी परन्तु भारत-सचिव ने इसका विरोध किया। क्षतिपूर्ति का धन तिब्बत के स्थान पर चीन ने देना स्वीकार किया और भारत सरकार की इच्छा के विरुद्ध भारत-मन्त्री ने चुम्बी घाटी को खाली कर देने का आदेश दे दिया। फलतः १९०८ में चुम्बी घाटी से अंग्रेजी सेनायें हटा ली गई। १९०७ के समझौते द्वारा इङ्गलैंड तथा रूस ने यह प्रतिबन्ध लगा दिया था कि कोई भी यूरोपीय शक्ति तिब्बत की सत्ता को प्रहार न पहुँचायेगी, उसके आन्तरिक शासन में हस्तक्षेप न करेगी, केवल चीन की सरकार के माध्यम द्वारा ही तिब्बत की सरकार से बात-चीत करेगी और लासा को कोई दूत न भेजेगी। इस प्रकार ग्रेट बृटेन तथा रूस ने स्वेच्छा से ही तिब्बत के मामले में हस्तक्षेप न करने का प्रतिबन्ध अपने ऊपर लगा दिया। इस

समझौते के दो परिणाम हुये जो अत्यन्त आश्चर्यजनक किन्तु अनिवार्य थे। अन्त में दलाई लामा पदच्युत कर दिया गया और सम्पूर्ण देश पर चीनी रेजीडेन्टों का नियन्त्रण स्थापित हो गया जो निश्चित रूप से अंग्रेजों के विरुद्ध कुभाव प्रकट करने लगे। जुलाई १६०८ में दलाई लामा को पीकिन बुलाया गया। वहां पर उसके साथ इस प्रकार का व्यवहार किया गया कि उसके स्वाभिमान पर बड़ा धक्का लगा। जब वह तिब्बत लौट कर आया तब उसने अंग्रेजों से चीनियों की उस सेना के विरुद्ध सहायता मांगी जो लासा की ओर बढ़ आई थी। इसी वर्ष फरवरी के महीने में एक बार फिर वह अपनी राजधानी से पलायन कर गया और भारत की सीमा को पार कर दारजिलिंग पहुंचा। अब तिब्बतियों का एकाकीपन समाप्त हो गया। १६०५-६ में ताशीलामा पहिले ही भारत भाग आया था और उस समय वाइसराय तथा वेल्स के राजकुमार ने जो उस समय भारत आया था उसका स्वागत किया था। अब दलाई लामा भी ब्रिटिश भारत की राजधानी में आया और लार्ड मिण्टो से भेंट की। उसने चीन के विरुद्ध सहायता की प्रार्थना की परन्तु उसकी प्रार्थना स्वीकार न की गई क्योंकि अंग्रेज एक सन्धि द्वारा चीन के साथ बंधे हुये थे और चीन के विरुद्ध युद्ध नहीं कर सकते थे। कुछ काल उपरान्त चीनियों ने एक दूसरे दलाई लामा को खोज निकाला जो उनके पूर्ण नियन्त्रण में था।

लार्ड मार्ले की तिब्बत सम्बन्धी नीति के सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि वह एक अत्यन्त जटिल समस्या के सुलझाने में सफल हुआ और अंग्रेजों को एक ऐसी विकट परिस्थिति से निकाल लिया जो अत्यन्त संकटापन्न थी। मार्ले की नीति के आलोचकों का कहना था कि १६०७ के समझौते द्वारा मार्ले ने कर्ज़न की नीति के सभी उद्देश्यों को त्याग दिया था परन्तु इस आलोचना के विरुद्ध यह कहा जा सकता है कि यंग हस्बैण्ड की तिब्बत की साहसिक यात्रा का एकमात्र लक्ष्य था कि रूस तिब्बत में प्रवेश न करे। इसमें सन्देह नहीं कि रूस के साथ किये गये १६०७ के समझौते से इस लक्ष्य की पूर्ति हो गई। कितना ही अच्छा हुआ होता यदि १६०३ में ही रूस तथा इंगलैण्ड इस प्रकार का समझौता कर लिये होते परन्तु दुर्भाग्यवश उस समय ऐसा न हो सका। यदि उस समय इस प्रकार का समझौता हो गया होता तो तिब्बत के युद्ध में व्यय किया गया अतुल धन बच गया होता, युद्ध में सैकड़ों तिब्बतियों का संहार न किया गया होता, दलाई लामा को पदच्युत न किया गया होता और तिब्बत पर चीन का निरंकुश शासन न स्थापित हुआ होता।

अफगानिस्तान के साथ सम्बन्ध—जहाँ तक अफगानिस्तान का सम्बन्ध था १६०७ के इंगलैण्ड तथा रूस के समझौते द्वारा यह निश्चित किया गया था कि अफगानिस्तान रूस के प्रभाव-क्षेत्र से सर्वथा बाहर है और रूस केवल इंगलैण्ड के ही माध्यम द्वारा अफगानिस्तान के साथ राजनैतिक सम्बन्ध रक्खेगा। रूस ने यह वचन दिया कि वह अफगानिस्तान में अपना कोई एजेन्ट न भेजेगा। अंग्रेज तथा रूसी व्यापारियों को अफगानिस्तान में व्यापार करने का समान रूप से अधिकार मिल गया। अफगानिस्तान के अमीर की भावना का ध्यान रखते हुये जो अंग्रेजों का मित्र था यह निश्चित किया गया कि जब तक ग्रेट ब्रिटेन इस समझौते के सम्बन्ध में अमीर की अनुमति रूस के पास न भेज दे तब तक समझौते की शर्तों को कार्यान्वित न किया जाय। वास्तव में इतनी सावधानी के होते हुये भी अमीर हबीबुल्ला ने अपने देश के सम्बन्ध में यूरोप की इन दो शक्तियों के सम्बन्ध को अपमानजनक समझा और अपनी स्वीकृति देने से इन्कार कर दिया।

फ़ारस के साथ सम्बन्ध—फारस के सम्बन्ध में रूस तथा इङ्गलैण्ड का १६०७ का समझौता तिब्बत तथा अफ़ग़ानिस्तान के सम्बन्ध में किये गये समझौते की अपेक्षा अधिक महत्वपूर्ण था। इस समझौते ने रूस तथा इङ्गलैण्ड के सम्भाव्य विनाशकारी युद्ध को

रोक दिया। अतएव इसकी गणना इस समय की सर्वोच्च कूटनीतिक विजयों में होनी चाहिये। फारस साम्राज्य छिन्न-भिन्न हो रहा था और १६०५ से १६१० तक अराजकता तथा कुव्यवस्था का प्रकोप बढ़ता जा रहा था। फारस की इस शोचनीय दशा का एक प्रधान कारण यह भी था कि फारस के स्वेच्छाचारी तथा निरंकुश शासन के विरुद्ध जनता में वैधानिक शासन तथा लोकतन्त्रात्मक व्यवस्था के भाव जागृत हो रहे थे। इन परिस्थितियों में रूस तथा इङ्गलैण्ड का समझौता इसमें सन्देह नहीं फारस तथा इन दोनों देशों के लिये भी लाभदायक सिद्ध हुआ। १६०७ के समझौते द्वारा इङ्गलैण्ड तथा रूस दोनों ने फारस की स्वतन्त्रता के आदर करने का वचन दिया। उत्तरी फारस को रूस का और दक्षिण फारस को इङ्गलैण्ड का प्रभाव-क्षेत्र स्वीकार कर लिया गया। दोनों देशों ने एक दूसरे के प्रभाव क्षेत्र में हस्तक्षेप न करने का वचन दिया। बृटिश विदेशी मन्त्री सर एडवर्ड ग्रे ने यह घोषणा की कि फारस की खाड़ी इस समझौते के बाहर है और समझौते की बात-चीत के समय रूस ने भी फारस की खाड़ी में अंग्रेजों के विशेष हित को स्वीकार किया था।

फारस के सम्बन्ध में किये गये इङ्गलैण्ड तथा रूस के १६०७ के समझौते की बड़ी आलोचना भी की है। इस समझौते के सिद्धान्तों में कोई विशेष त्रुटि न थी परन्तु जिस विधि का अनुसरण किया गया वह सर्वथा अनुचित थी। पाश्चात्य देशों द्वारा किसी अन्य जाति के भाग्य का निर्णय बिना उसकी अनुमति लिये करना सर्वथा अनुचित था। इस समझौते की एक यह भी आलोचना की जाती है कि रूस का प्रभावक्षेत्र इङ्गलैण्ड के प्रभाव-क्षेत्र से बहुत बड़ा था। वास्तव में ऐसा था भी और होना भी चाहिये था क्योंकि उत्तरी फारस में रूस पहिले ही दक्षिण की ओर बहुत अधिक बढ़ चुका था। १६०७ के समझौते की चाहे जितनी आलोचना की जाय इतना तो स्वीकार ही करना पड़ेगा कि इस समझौते से १६०७ से १६१० तक रूस तथा इङ्गलैण्ड के बीच कोई संघर्ष न हुआ जब कि युद्ध की बड़ी आशङ्का थी क्योंकि फारस में अराजकता का प्रकोप था और दोनों ही देशों के लिये अपने प्रभुत्व को बढ़ाने का यह स्वर्ण अवसर था।

देशी राज्य—लार्ड मिण्टो उदार विचारों का राजनीतिज्ञ था और वह कर्ज़न की अग्रगामी नीति के सर्वथा विरुद्ध था। यद्यपि वह बृटिश सरकार को भारत की सार्वभौम शक्ति (Paramount Power) बनाने के पक्ष में था और देशी राज्यों में कुशासन तथा कुव्यवस्था को सहन करने के लिये उद्यत न था परन्तु उसने यथाशक्ति देशी राज्यों में साधारण आदेश न भेजने का प्रयत्न किया।

अफीम का व्यापार—१६०७ में भारत सरकार ने एक बड़ी ही उदारता का कार्य किया। भारत से प्रतिवर्ष अफीम का निर्यात चीन के लिये होता था। इस व्यापार का भारत को एकाधिकार प्राप्त था और इससे ८ से १० करोड़ रुपये तक की आय भारत सरकार को होती थी। चीन की सरकार अफीम के इस व्यापार को बन्द करना चाहती थी क्योंकि अफीम के दुर्व्यसन के कारण चीनियों का स्वास्थ्य ध्वस्त हो जाता था। अतएव चीन की सरकार ने भारत सरकार के साथ कूटनीतिक वार्तालाप करना आरम्भ किया। इस कूटनीतिक वार्तालाप के फलस्वरूप भारत सरकार ने प्रतिवर्ष अफीम का निर्यात क्रमशः कम करने का वचन दिया। इस नीति का परिणाम यह हुआ कि कालान्तर में अफीम का निर्यात पूर्ण रूप से बन्द हो गया।

विकेन्द्रीकरण आयोग—१६०७-६ में सी० इ० एच० हाबहाउस की अध्यक्षता में विकेन्द्रीकरण की नीति पर परामर्श देने के लिये एक रायल कमीशन नियुक्त किया गया। इस आयोग ने उदार नीति की परामर्श नहीं दी और प्रान्तों को न तो विकेन्द्रीकरण का कोई विशेष लाभ प्राप्त हुआ और न शासन के सम्बन्ध में उन्हें ऊपर के नियन्त्रण से ही

स्वतन्त्रता मिली परन्तु आयोग ने स्थानीय स्वराज्य के परिवर्द्धित करने के महत्व पर और विशेषकर ग्राम पञ्चायतों की पुनर्स्थापना पर बड़ा बल दिया।

राष्ट्रीय आन्दोलन—१९०५ से राष्ट्रीय आन्दोलन के इतिहास में एक नये अध्याय का आरम्भ होता है। कर्ज़न की नीति ने सम्पूर्ण देश में अशान्ति तथा असन्तोष की अग्नि प्रज्वलित कर दी थी। बंग-भंग के प्रश्न को लेकर न केवल बंगाल में वरन् सम्पूर्ण भारत में बेचैनी फैल गई थी। लार्ड मार्ले के शब्दों में "धीरे-धीरे समस्त भारत में राजनैतिक बेचैनी की एक लहर...कुछ मौलिक कारणों से देश भर में फैल रही थी। क्रान्तिकारी आवाजें, कुछ मन्द, कुछ उग्र तथा तीव्र चारों ओर से सुनाई पड़ने लगीं, अपने देश के शासन में जनता का अधिकाधिक हाथ रखने की भावना ने सुव्यवस्थित रूप धारण कर लिया था।" यह आन्दोलन भारतीय इतिहास की एक अत्यन्त महत्वपूर्ण घटना थी। इसी समय उग्र राष्ट्रीयता का सूत्रपात हुआ जिसने देश के भीतर उदारवादियों और देश के बाहर साम्राज्यवादियों से भीषण संघर्ष करना आरम्भ किया। इसी समय क्रान्तिकारी दल का जन्म हुआ जिसने हिंसात्मक वृत्ति का आलिंगन किया और बम्ब तथा बन्दूकों का आश्रय लेकर देश को दासता की शृंखलाओं से उन्मुक्त करने का दृढ़ सकल्प कर लिया। इसी समय मुस्लिम साम्प्रदायिकता का भी प्रादुर्भाव हुआ जिसने भारतीय राष्ट्रीयता के सूर्य-चन्द्र में ग्रहण का कार्य करना आरम्भ किया।

आन्दोलन के कारण—इस राष्ट्रीय आन्दोलन के वाह्य तथा आन्तरिक दोनों कारण थे। इन कारणों पर अलग-अलग विचार कर लेना आवश्यक है। आन्दोलन के वाह्य कारण निम्न-लिखित थे:—

(१) भारतवर्ष का यह आन्दोलन एक बृहत् आन्दोलन का अंग मात्र था। शताब्दियों की दासता के उपरान्त एशिया में स्वतन्त्रता की भावना की लहर दौड़ने लगी थी। राजनीति तथा विचार के क्षेत्र में एशिया ने यूरोप के आधिपत्य से अपने को मुक्त कर लेने का निश्चय कर लिया था और उसके लिये प्रयत्नशील हो गया था। १९०५ में जापान ने रूस की विशाल सेना को परास्त कर दिया था। लार्ड कर्जन के शब्दों में "इस विजय की प्रतिध्वनि समस्त पूर्वी देशों में विद्युत की भांति दौड़ गई थी।" चीन, भारत तथा फ़ारस पर जापान की इस विजय का बहुत बड़ा प्रभाव पड़ा।

(२) भारत में राष्ट्रीय आन्दोलन का दूसरा वाह्य कारण इस समय इङ्गलैण्ड में सुधारवादी उदार दल की सरकार की प्रस्थापना थी। इस सरकार की भारतीयों के साथ अपेक्षाकृत अधिक सहानुभूति थी। यों तो इंगलैण्ड के सभी दल चाहे वे उदार हों अथवा अनुदार भारतीयों के लिये समान थे क्योंकि उनकी भावनाओं में कोई विशेष अन्तर नहीं होता था परन्तु उनकी कार्य-विधि तथा साधनों में अन्तर अवश्य होता था। कुछ भी हो इतना तो स्वीकार ही करना पड़ेगा कि कन्जरवेटिव दल की अपेक्षा लिबरल दल ने भारत-वासियों की राष्ट्रीय भावना के साथ अधिक सहानुभूति प्रदर्शित की है और अन्त में भारत को स्वतन्त्रता प्रदान करने का श्रेय इसी दल को प्राप्त है।

(३) राष्ट्रीय आन्दोलन का तीसरा वाह्य कारण यह था कि भारत में एक उच्च-कोटि का शिक्षित वर्ग था जो पाश्चात्य देशों के उदार एवं लोकतन्त्रात्मक विचारों से अत्यन्त प्रभावित था और अपने देश के शासन में अधिकाधिक भाग लेने के लिये व्यग्र हो रहा था।

इस समय राष्ट्रीय आन्दोलन के प्रवाह के आन्तरिक कारण निम्न-लिखित थे:—

(१) राष्ट्रीय आन्दोलन के आन्तरिक कारणों में लार्ड कर्जन की साम्राज्यवादी नीति अग्रगण्य है। उसके स्वेच्छाचारी तथा निरंकुश शासन से जो सर्वथा असामयिक था

सम्पूर्ण देश में असन्तोष की अग्नि प्रज्वलित हो गई थी। पूर्वी बंगाल के लेफ्टीनेन्ट गवर्नर बैन्फील्ड फुलर का शासन असह्य हो रहा था।

(२) राष्ट्रीय आन्दोलन के उत्कर्ष का आर्थिक कारण भी था। अकाल तथा प्लेग के प्रकोप से जनता पीड़ित थी; देश में धन का अभाव था और दरिद्रता तथा विपन्नता के वशीभूत होकर जनता त्राहि-त्राहि कर रही थी; देश का व्यापार विनष्ट हो रहा था क्योंकि इङ्गलैण्ड के व्यापारिक हित की वेदी पर भारतीय व्यापारिक हित का बलिदान हुआ करता था। शिक्षित वर्ग में बेकारी की समस्या भयानक रूप धारण करती जा रही थी।

(३) १८५७ की क्रान्ति के उपरान्त भारत के राजनैतिक गगनाङ्गण में जो निराशा के मेघ उमड़ आये थे वे अब विलुप्त हो चुके थे। भारतीयों में नव-जीवन तथा नवोत्साह का संचार हो रहा था। उनका दृष्टिकोण अत्यन्त व्यापक होता जा रहा था और न केवल सीमित शिक्षित वर्ग वरन् जन-साधारण में भी स्वतन्त्रता तथा स्वायत्त शासन की भावना अत्यन्त प्रबल तथा वेगवती हो रही थी। अपने भाग्य का निर्माण करने के लिये उनमें आत्म-विश्वास तथा आत्म-निर्भरता उत्पन्न हो रही थी।

(४) राष्ट्रीय आन्दोलन के विकास में बृटिश शासन-पद्धति से भी बड़ा योग मिला। सम्पूर्ण देश में शासन की एक रूपता तथा अंग्रेजी भाषा ने ऐक्य की भावना को प्रोत्साहित किया। भारत में आर्थिक तथा सांस्कृतिक एकता पहिले से ही विद्यमान् थी। बृटिश शासन ने राजनैतिक एकता भी प्रदान कर दी। इन सब का सामूहिक परिणाम यह हुआ कि भारतवासी एकता की भावना से प्रेरित होने लगे और देश के शासक तथा शोषक के विरुद्ध संयुक्त मोर्चा बनाने का उपाय सोचने लगे।

(५) अंग्रेजों ने भारत में बृटिश साम्राज्य की स्थापना विरोधी हितों में संघर्ष उत्पन्न करा कर, हिन्दुओं तथा मुसलमानों को एक दूसरे के विरुद्ध खड़ा कर तथा देशी राज्यों को एक दूसरे से लड़ा कर की थी। परन्तु बृटिश साम्राज्य के विकास तथा संगठन की गति के प्रवाह में व्यक्तियों, दलों तथा राज्यों के पारस्परिक विरोध विलीन हो गये थे। वह प्रति-द्वन्दिता जिसके सोपान के अवलम्ब से भारत में बृटिश साम्राज्य का निर्माण किया गया था उसके चूड़ान्त विकास हो जाने पर अन्तर्धान हो गई थी। शान्ति तथा समानता का वातावरण बृटिश शासन के फल-स्वरूप उत्पन्न हो गया था। यह वातावरण राजनैतिक जागृति के सर्वथा अनुकूल था।

(६) भारतीय नवयुवकों में इस समय बड़ी उत्तेजना फैल रही थी और उनका एक ऐसा दल स्थापित हो गया था जो बृटिश साम्राज्य को उन्मूलित करने के लिये कटिबद्ध हो गया था और देश के विभिन्न भागों में क्रियाशील हो रहा था। इनकी गुप्त समितियाँ निर्मित हो गई थीं और अनेक स्थानों में हिंसात्मक कार्य आरम्भ हो गये थे।

उदार दल का प्राबल्य—कांग्रेस का जन्म १८८५ में हुआ था। १८८५ से १९०५ तक उदार विचार वालों का काँग्रेस में प्राबल्य था। इनके नेतृत्व में १९०६ तक काँग्रेस का लक्ष्य था (१) अपने देश के शासन में १८९२ के विधान से जितना अधिकार दिया गया था उससे अधिक अधिकार प्राप्त करना, (२) नौकरियों का भारतीयकरण तथा (३) धारा सभाओं का विस्तार करना। उदार विचार वाले अपने इस लक्ष्य की पूर्ति वैधानिक साधनों द्वारा करना चाहते थे अर्थात् आवेदन-पत्र देकर, प्रस्ताव पारित कर तथा प्रतिनिधि भेज कर और अधिकांश नेता अब भी भारत तथा बृटेन के सम्बन्ध में विश्वास रखते थे।

अँग्रेजों की प्रतिक्रिया—राष्ट्रीय आन्दोलन की प्रारम्भिक अवस्था में अँग्रेजों की सहानुभूति प्राप्त थी। अनेक प्रसिद्ध अंग्रेज इसके सदस्य थे और कुछ इसके प्रेसीडेन्ट रह चुके थे। परन्तु समय की गति के साथ-साथ उनके व्यवहार में परिवर्तन होता गया और वे काँग्रेस से अलग होते गये। भारत सरकार का व्यवहार भी आरम्भ में मैत्रीपूर्ण था

क्योंकि वह भारत में ऐसी संस्था चाहती थी जो सरकारी नीति की आलोचना करे और उसकी त्रुटियों की ओर संकेत किया करे क्योंकि इससे भारत में ब्रिटिश सरकार की नींव के सुदृढ़ हो जाने की सम्भावना थी परन्तु कालान्तर में कांग्रेस की प्रगति से सरकार आशंकित हो गई और वह इस प्रगति के रोकने के लिये क्रियाशील हो गई।

कांग्रेस में मत-भेद—१९०६ में कलकत्ते में कांग्रेस की बैठक हुई। इस बैठक में सभापति का आसन वयोवृद्ध दादा भाई नौरोजी ने ग्रहण किया। इस अधिवेशन में नौरोजी ने "स्वराज्य" अर्थात उपनिवेशों के ढंग का शासन राजनैतिक आन्दोलन का मुख्य उद्देश्य बतलाया। इसका प्रारम्भ सरकार किस प्रकार करे इसके लिये कांग्रेस ने कई सुझाव दिये परन्तु दुर्भाग्यवश कांग्रेस में मत-भेद उत्पन्न हो गया। यह मत-भेद लक्ष्य के वैषम्य के कारण न था वरन् इसका कारण लक्ष्य की पूर्ति के साधनों का वैषम्य था। कांग्रेस में दो दल उत्पन्न हो गये अर्थात उग्र दल तथा नम्र दल। उग्र दल के नेता बाल गंगाधर तिलक थे। इस दल का सरकार में बिल्कुल विश्वास न रह गया। इस दल का कहना था कि कांग्रेस को प्रार्थना नीति छोड़ कर अधिक साहस से काम लेना चाहिये। नम्र दल के नेता गोपाल कृष्ण गोखले, ए० सी० दत्त, सर सत्येन्द्र सिनहा आदि थे। यह दल वैधानिक साधनों में ही विश्वास रखता था और प्रार्थना नीति से काम लेना चाहता था। यद्यपि यह मत-भेद कलकत्ते के अधिवेशन में ही उत्पन्न हो गया था परन्तु "स्वराज्य" कॉंग्रेस का लक्ष्य निर्धारित हो जाने तथा दादा भाई नौरोजी के अध्यक्ष के रूप में उपस्थित होने के कारण यह मत-भेद दब गया परन्तु दूसरे ही वर्ष १९०७ में सूरत के अधिवेशन में इस मत-भेद का विस्फोट हुआ। अब नम्र तथा उग्र दल वाले एक दूसरे से बिल्कुल अलग हो गये और अपने-अपने विचारानुसार अपने-अपने ढंग से कार्य करने लगे। नम्र दल के प्रमुख नेता गोपाल कृष्ण गोखले, सर फीरोजशाह मेहता, बाबू सुरेन्द्रनाथ बनर्जी, ए० सी० दत्त आदि थे। उन दिनों नम्र दल वालों का कॉंग्रेस में बहुमत था। इस दल ने "औपनिवेशिक स्वराज्य" कॉंग्रेस का ध्येय निर्धारित किया और वैधानिक साधनों द्वारा उसे प्राप्त करने का निश्चय किया। इस दल ने यह भी नियम बना दिया कि जो लोग कॉंग्रेस के ध्येय तथा नियमों को मानने की लिखित प्रतिज्ञा करेंगे वही उसके सदस्य हो सकेंगे। इसका स्पष्ट अर्थ यह था कि उग्र दल वालों के लिये कांग्रेस में कोई स्थान नहीं था। फलतः उग्र दल वाले कॉंग्रेस से अलग हो गये।

क्रान्तिकारी दल का प्रादुर्भाव—इस दल का प्रादुर्भाव १९०७ के सूरत के अधिवेशन में माना जाता है। इसके जन्मदाता बाल गंगाधर तिलक माने जाते हैं परन्तु वास्तव में इस दल का विकास इस तिथि के बहुत पहिले हो चुका था। कांग्रेस में बहुत से एसे उग्र विचार के लोग विद्यमान् थे जो वैधानिक रीति, प्रार्थना पत्र आदि में विश्वास नहीं करते थे। यह लोग क्रान्ति के लिये भी उद्यत रहना चाहते थे। बाल गंगाधर तिलक जैसे योग्य, दृढ़-प्रतिज्ञ तथा स्वतन्त्रता प्रेमी व्यक्ति के नेतृत्व में उग्र विचार वाले संगठित हो गये। तिलक ने अपनी "केसरी" नामक पत्र में और बंगाल के प्रतिष्ठित नेता बाबू विपिन चन्द्र पाल ने अपने "न्यू इण्डिया" नामक पत्र में उग्रवादी दल के विचारों को व्यक्त करना आरम्भ किया। पंजाब के नेता लाला लाजपत राय ने भी इनके साथ सहयोग करना आरम्भ किया। महाराष्ट्र, बंगाल तथा पंजाब के इन तीन योग्य विद्वानों के नेतृत्व में उग्रवादी दल संगठित रूप से कार्य करने लगा और उसके विचार सम्पूर्ण देश में फैल गये। उग्र दल वालों का कहना था कि शक्ति के बल से भारत में ब्रिटिश साम्राज्य की स्थापना की गई थी। अतएव शक्ति के बल से ही उसका उन्मूलन किया जा सकता था। विश्व की जिस किसी जाति ने विदेशी शासन का उन्मूलन किया है उसे शक्ति का ही आश्रय लेना पड़ा है। भारत जैसे दास देश के लिये वैधानिक साधन कोई महत्व नहीं

रखता। स्वयम् अंग्रेजों को भी अपने देश में लोकतन्त्रात्मक व्यवस्था स्थापित करने के लिये शक्ति का प्रयोग तथा रक्तपात करना पड़ा था। फलतः क्रान्तिकारी दल हिंसात्मक वृत्ति में क्रियाशील हो गया। ६ दिसम्बर १९०७ को मिदनापुर के निकट उस रेलगाड़ी को गिरा दिया गया जिसमें बंगाल का लेफ्टिनेन्ट गवर्नर सर एन्ड्रू फ्रेजर जा रहा था। २३ दिसम्बर १९०७ को श्री एलेन की पीठ पर जो पहिले ढाका का जिलाधीश रह चुका था गोली चलाई गई परन्तु सौभाग्य से आघात प्राणघातक न सिद्ध हुआ। अप्रैल १९०८ में एक बम के गोले से जो किंग्सफोर्ड के लिये जो एक प्रतिक्रियावादी था तैयार किया गया था भूल से श्रीमती केनेडी तथा कुमारी केनेडी की मुजफ्फर नगर में मृत्यु हो गई। गुप्त समितियों तथा बम्बोत्पादक कार्यालयों की स्थापना देश के विभिन्न भागों में की गई। सितम्बर १९०८ में कलकत्ते के एक प्रधान कारावास में मुजफ्फर पुर के दो व्यक्तियों ने एक सरकारी साक्षी की हत्या कर दी। नवम्बर १९०८ में सर एन्ड्रू फ्रेजर की हत्या का दूसरा प्रयत्न किया गया और कलकत्ता की सड़कों में एक भारतीय पुलिस इन्स्पेक्टर को गोली मार दी गई। पंजाब में भी उपद्रव की अग्नि बढ़ने लगी। लाहौर तथा रावलपिण्डी में उपद्रव आरम्भ हो गये। मद्रास में बी० सी० पाल तथा चिदम्बरम् पिल्लई के उत्तेजनापूर्ण भाषणों के फल-स्वरूप उपद्रव आरम्भ हो गये। न केवल भारत में वरन भारत के बाहर भी क्रान्तिकारियों का कार्य आरम्भ हो गया। लन्दन में श्यामजी कृष्ण वर्मा द्वारा एक "इण्डिया हाउस" खोला गया और "इण्डियन सोशियोलोजिस्ट" नामक एक पत्र प्रकाशित किया गया। "इण्डिया हाउस" क्रान्तिकारियों का कार्य-केन्द्र बन गया। जुलाई १९०९ में सर विलियम कर्जन विली तथा डा० लालकाका की इम्पीरियल इन्स्टीट्यूट लन्दन में हत्या कर दी गई।

सरकार की दमन नीति—क्रान्तिकारियों की गुप्त समितियों का अन्वेषण करना और उपद्रवकारियों को पकड़ना सरल कार्य न था। अतएव उग्र दल के नेता ही सरकार के कोप-भाजन बने। सबसे पहिले लाला लाजपत राय तथा श्री अजीत सिंह पंजाब से निर्वासित कर दिये गये। इसके उपरान्त "केसरी" में आपत्ति-जनक लेख लिखने का अभियोग लगा कर बाल गंगाधर तिलक को ६ वर्ष के लिये कारागार का दण्ड दिया गया। बंगाल का उपद्रव शान्त करने के लिये वहाँ के नौ प्रतिष्ठित नेताओं को निर्वासित कर दिया गया। नेताओं को निर्वासित करके ही सरकार शान्त न हुई। विस्फोटक पदार्थों का रखना तथा विक्रय करना अपराध घोषित कर दिया गया। समाचार-पत्रों की स्वतन्त्रता अपहृत कर ली गई। उन्हें जमानत जमा करने के लिये बाध्य किया गया। राजनैतिक अभियोगों का अविलम्ब निर्णय करने के लिये "जाब्ता फौजदारी का संशोधन किया गया। इस प्रकार राष्ट्रीय आन्दोलन का गमन तथा बृटिश सरकार का दमन साथ-साथ चल रहा था।

मुस्लिम साम्प्रदायिकता—अंग्रेज राजनीतिज्ञ इस तथ्य को भली-भाँति समझते थे कि हिन्दुओं तथा मुसल्मानों का ऐक्य भारत में बृटिश साम्राज्य के लिये अत्यन्त घातक सिद्ध हो सकता है। अतएव लार्ड कर्जन के शासन काल में ही विभक्त करके शासन करने की नीति का सूत्रपात हो गया था और "बंग-भंग" इस नीति का क्रियात्मक स्वरूप था। सर सैयद अहमद खाँ के नेतृत्व में मुसल्मान भी संगठित हो रहे थे और अपने हितों की रक्षा के लिये प्रयत्नशील हो रहे थे। राष्ट्रीय आन्दोलन की प्रगति को देख कर १९०६ में कुछ मुसल्मान नेताओं ने मुसल्मानों के राजनैतिक हितों की रक्षा के लिये कांग्रेस के ढङ्ग पर "मुस्लिम लीग की स्थापना की। मुसल्मानों के कुछ प्रतिनिधियों ने वाइसराय से भेंट भी की और वाइसराय को इस बात से प्रभावित करने का प्रयत्न किया कि मुसल्मानों ने सदैव अंग्रेजों का साथ दिया है, अतएव उनकी संख्या का ध्यान न रख कर उनके राजनैतिक

महत्व का निरन्तर ध्यान रखना चाहिये। मुसल्मानों के इन प्रतिनिधियों ने इस बात पर भी बल दिया कि कौंसिलों में प्रवेश करने के लिये मुसल्मान प्रतिनिधि केवल मुसल्मानों द्वारा ही निर्वाचित किये जाय। लार्ड मिण्टो ने इन बातों का ध्यान रखने का वचन दिया। इस प्रकार "पाकिस्तान" का बीजारोपण हो गया।

एडवर्ड सप्तम का घोषणापत्र—१८५७ में बृटिश भारत का शासन सम्राट् तथा पार्लियामेण्ट को हस्तान्तरित कर दिया गया था। इस प्रकार १९०८ में बृटिश सम्राटों को भारत में शासन करते ५० वर्ष हो चुके थे। अतएव इस अवसर पर सम्राट् की ओर से एक "घोषणा-पत्र" प्रकाशित किया गया। जोधपुर में एक दरबार किया गया और इस दरबार में वाइसराय ने इस घोषणापत्र को पढ़ कर सुनाया। इस घोषणापत्र में महारानी विक्टोरिया की प्रतिज्ञाओं की पुनरावृत्ति की गई थी। इतने वर्ष के शासन पर सन्तोष प्रकट किया गया और प्रजा के हित के लिये सरकार ने जो कुछ किया था उसकी प्रशंसा की गई। इस घोषणापत्र द्वारा यह भी बतलाया गया कि उत्तरदायित्वपूर्ण बड़ी बड़ी नौकरियों के सम्बन्ध में जातिगत भेद मिटाने का प्रयत्न किया जा रहा है और प्रतिनिधि संस्थाओं के सिद्धान्त की वृद्धि के प्रश्न पर भी विचार हो रहा है।

सुधार का प्रयत्न—*एडवर्ड सप्तम के घोषणापत्र को हम सुधारों की भूमिका कह* सकते हैं। भारत सचिव लार्ड मार्ले तथा वाइसराय लार्ड मिण्टो दोनों ही उदारदलीय सुधारवादी राजनीतिज्ञ थे। अतएव दोनों ही ने इस बात का अनुभव किया कि केवल दमन-नीति से कार्य न चलेगा। लार्ड मिण्टो के समक्ष एक विकट समस्या थी। एक ओर तो राजनैतिक आन्दोलन से अधीर होकर अंग्रेज पदाधिकारी दमन की नीति का अनुसरण करने के लिये उसे बाध्य कर रहे थे और दूसरी ओर भारत का शिक्षित समाज सुधारों के लिये आतुर हो रहा था। ऐसी स्थिति में "दमन तथा सुधार" की नीति का अवलम्ब लेना ही उसने उचित समझा और अन्त में उसने इसी का आलिंगन किया। यद्यपि मार्ले दमन नीति के बिल्कुल पक्ष में न था परन्तु यथासम्भव उसने वाइसराय का साथ दिया। बिना अन्वेषण के नेताओं को निर्वासित करना उसे अच्छा न लगा। सैनिक नियम के नाम से वह कम्पित हो जाता था। उसकी यह दृढ़ धारणा थी कि यदि सुधारों से राज्य की रक्षा नहीं हो सकती तो फिर किसी अन्य साधन से नहीं हो सकती। परन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं है कि वह भारतीयों को स्वराज्य देने के पक्ष में था। उसका ध्येय तो केवल थोड़े से शिक्षित भारतीयों को शासन में कुछ भाग देने का था। उसका मत था कि यथा सम्भव नम्र दलवालों को सन्तुष्ट करके अपने पक्ष में रखना चाहिये। लार्ड मिण्टो भी सुधारों की आवश्यकता का अनुभव कर रहा था। देश की परिवर्तित स्थिति के समझने और तद्नुसार कार्य करने का उसने प्रयत्न किया। वह समझ गया कि भारतीयों को कुछ अधिकार देना अनिवार्य हो गया है। फलतः भारत-सचिव तथा वाइसराय दोनों ही ने सुधार करने का दृढ़-सकल्प कर लिया जिसके फल-स्वरूप १९०९ में मार्ले-मिण्टो सुधार हुये।

मार्ले मिण्टो सुधार—इन सुधारों का विस्तृत वर्णन अन्यत्र किया जायगा। यहाँ पर केवल इसकी रूप-रेखा पर ही प्रकाश डाला जायगा। १९०९ में इण्डियन कौंसिल ऐक्ट पारित किया गया। इस ऐक्ट द्वारा वाइसराय तथा प्रान्तों की कौंसिलों में सदस्यों की संख्या में वृद्धि कर दी गई। मद्रास तथा बम्बई की कार्यकारिणी में सदस्यों की संख्या बढ़ाने तथा लेफ्टीनेन्ट गवर्नरों के प्रान्तों में कार्यकारिणी की स्थापना करने का आयोजन किया गया। व्यवस्थापिका सभाओं में इस विधान द्वारा निर्वाचन पद्धति का सूत्रपात किया गया परन्तु मनोनीत करने की प्रथा को समाप्त नहीं किया गया।

१९०९ के ऐक्ट द्वारा जो आयोजनायें की गई वे यथावत् अनिवार्य नहीं थी। उनके अन्तर्गत भारत-सचिव को नियम बनाने का अधिकार दिया गया था और बहुत कुछ इन्हीं नियमों पर अवलम्बित था।

नवम्बर के महीने में १९०९ के इण्डिया कौंसिल ऐक्ट के कार्य-क्रम की व्याख्या करने के लिये नियम प्रकाशित किये गये। यह नियम बड़े ही जटिल तथा अस्पष्ट थे। व्यवस्थापिका सभाओं में विभिन्न जातियों, हितों तथा अल्प-मतों के प्रतिनिधित्व के लिये अत्यन्त जटिल नियम बनाये गये। मुसलमानों, भूमिपतियों, चाय तथा जूट के व्यवसायों तथा भारतीय व्यापार के प्रतिनिधित्व का आयोजन किया गया। इम्पीरियल लेजिस्लेटिव कौंसिल के सदस्यों की संख्या २१ से बढ़ा कर अधिक से अधिक ६० कर दी गई तथा अन्य लेजिस्लेटिव कौंसिलों के सदस्यों की संख्या लगभग दो गुने से कुछ अधिक कर दी गई। मद्रास तथा बम्बई की एक्जीक्युटिव कौंसिलों में अब दो के स्थान पर चार सदस्य रखने का आयोजन किया गया। वायसराय की कार्यकारिणी में अब एक भारतीय रखने का निश्चय किया गया। मद्रास तथा बम्बई की कार्यकारिणी में भारतीयों की संख्या बढ़ा दी गई और इण्डिया आफ़िस की कौंसिल में भी अब दो भारतीयों को रखने का आयोजन किया गया।

आलोचना—मार्ले-मिण्टो सुधार से भारतीयों को बिल्कुल सन्तोष न हुआ और न राष्ट्रीय आन्दोलन में किसी भी प्रकार का शैथिल्य उत्पन्न हुआ। इस ऐक्ट का निर्माण १८९२ के ऐक्ट के आधार पर ही किया गया और उससे आगे बढ़ने का प्रयत्न भी किया गया था परन्तु भारतीयों के लिये यह अत्यन्त निराशाजनक विधान था क्योंकि इसका उद्देश्य "वैधानिक स्वेच्छाचारिता" थी। इस विधान की निम्नांकित आलोचनायें की गई हैं :—

(१) मताधिकार अत्यन्त संकीर्ण था। अतएव यह भारतीयों की राष्ट्रीय आकांक्षाओं को सन्तुष्ट न कर सका।

(२) इस ऐक्ट का दूसरा दोष यह था कि साधारण चुनाव तथा प्रादेशिक निर्वाचन-क्षेत्रों की कोई व्यवस्था नहीं की गई थी। लेजिस्लेटिव कौंसिलों के सदस्यों का चुनाव अप्रत्यक्ष रूप से करने की व्यवस्था की गई थी। अतएव निर्वाचन द्वारा निर्वाचित सदस्यों में जनता के प्रति उत्तरदायी रहने की भावना उत्पन्न करने की सम्भावना न थी।

(३) निर्वाचित सदस्यों को कोई वास्तविक सुविधा मिलने की सम्भावना न थी क्योंकि मनोनीत सदस्य सदैव सरकार के साथ मत देते थे और अत्यन्त लोक-प्रिय आयोजनाओं को भी ध्वस्त कर देते थे।

(४) केन्द्र तथा प्रान्त दोनों ही की व्यवस्थापिका सभायें केवल परामर्श देने वाली संस्थायें थीं। सरकार पर उनका कोई वास्तविक नियन्त्रण न था।

(५) कौंसिलों के कानून-निर्माण सम्बन्धी अधिकार अत्यन्त सीमित थे क्योंकि अधिकांश विषय उनके अधिकार क्षेत्र के बाहर थे।

(६) लेजिस्लेटिव कौंसिलों की बैठकों में प्रान्तों के अध्यक्ष सभापति का आसन ग्रहण करते थे। अतएव कौंसिल के निर्णयों पर उसका अत्यधिक प्रभाव पड़ता था।

(७) राजस्व के सम्बन्ध में प्रान्तों के लिये जो व्यवस्था की गई थी वह प्रान्त की आय पर नहीं वरन् उनकी आवश्यकताओं पर आधारित थी। ऐसी स्थिति में केन्द्रीय सरकार न केवल प्रान्त के व्यय पर नियंत्रण रखती थी वरन् अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये प्रान्तीय व्यय को कम से कम करने का प्रयत्न करती थी।

(८) मार्ले-मिण्टो सुधारों की सबसे तीव्र आलोचना इस आधार पर की जाती है कि इस ऐक्ट ने भावी पाकिस्तान के लिये बीज बो दिया। साम्प्रदायिक निर्वाचन का सूत्रपात

यहीं से होता है जिसका प्रकोप उत्तरोत्तर बढ़ता ही गया और अन्ततोगत्वा इसके फल-स्वरूप देश का विभाजन हो गया।

(६) सुधारों के सम्बन्ध में जो नियम बनाये गये उनसे उनका क्षेत्र और भी सीमित हो गया। किसी प्रतिनिधि को न चुने जाने की आज्ञा देने का अधिकार था सरकार को दे दिया गया। यह व्यवस्था उग्रदल के नेताओं को कौंसिलों में प्रवेश करने से रोकने के लिये की गई थी।

(१०) इन सुधार में स्वेच्छाचारी तथा प्रतिनिधि शासन के सिद्धान्तों के सम्मिश्रण की चेष्टा की गई थी जो सर्वथा असम्भव था।

एडवर्ड सप्तम की मृत्यु—१६१० में सम्राट एडवर्ड सप्तम का परलोकवास हो गया और उनके स्थान पर जार्ज पञ्चम सम्राट हुये। लार्ड मिण्टो ने नवम्बर १६१० में भारत से अपने देश के लिये प्रस्थान कर दिया।

मिन्टो का चरित्र तथा उसके कार्यों का मूल्यांकन—लार्ड मिण्टो प्रधानतः एक सैनिक था। किसी भी राजनैतिक दल में उसकी विशेष अनुरक्ति न थी। यद्यपि वह अनुदार दल द्वारा मनोनीत किया गया था परन्तु १६०५ में जब उदार दल का मन्त्रिमण्डल बना तो उसके साथ भी उसका पूर्ण सहयोग था। वह स्वभाव से ही उदार विचार का तथा सुधारवादी था. विरोधी दलों में सहयोग उत्पन्न करने की उसमें अद्भुत क्षमता थी। अनुदार दल ने उसे इसी उद्देश्य से मनोनीत किया था कि वह उन लोगों को सान्त्वना देने में सफल होगा जिन्हें कर्जन ने अप्रसन्न कर दिया था। मिण्टो बड़े अच्छे स्वभाव का व्यक्ति था। उसमें बड़ी दृढ़ता तथा गम्भीरता थी। मनुष्य की उसे अच्छी परख थी। वह अत्यन्त व्यवहार-कुशल था। उदारता तथा दया उसमें उच्च-कोटि की थी। मनुष्य से उसे प्रेम था यद्यपि वह उस पर सदैव विश्वास नहीं करता था। वह उनके साथ निर्वाह करने में निपुण था। उसमें सूक्ष्मदर्शिता तो न थी परन्तु चालाक अवश्य था।

भारत के वाइसराय के रूप में मिण्टो को पर्याप्त सफलता प्राप्त हुई। उसके शासन-काल में रूस तथा इङ्गलैण्ड के बीच अत्यन्त महत्वपूर्ण समझौता हुआ और तिब्बत, अफ़ग़ानिस्तान तथा फ़ारस में इन दोनों देशों का जो झगड़ा बहुत दिनों से चलता आ रहा था वह समाप्त हो गया। देशी राज्यों के साथ उसने बहुत अच्छा व्यवहार रक्खा। उसने देशी राज्यों के आन्तरिक विषयों में न्यूनतम हस्तक्षेप करने का प्रयत्न किया। वह उन्हें भारत के शासन में भी कुछ भाग देना चाहता था। इस ध्येय से उसने उनकी एक समिति बनाने का प्रस्ताव किया था। अफ़ीम के आयात को कम करके उसने एक अत्यन्त श्लाघनीय नैतिक सुधार किया था यद्यपि राष्ट्रीय आन्दोलन के दमन का उसने यथाशक्ति प्रयास किया परन्तु साथ ही साथ उसने सुधार की ओर भी ध्यान दिया। यद्यपि उसकी वैधानिक आयोजना भारतीयों को सन्तुष्ट न कर सकी परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि वैधानिक विकास के मार्ग में उसने एक पग आगे रक्खा। वास्तव में वह वास्तविक परिवर्तन के लिये उद्यत न था और न भारत में लोकतन्त्रात्मक व्यवस्था स्थापित करना चाहता था। उसका ध्येय नम्र दल वालों को प्रसन्न करके उग्र दल वालों को दबाना था परन्तु इसमें इसे निराश ही होना पड़ा।

अध्याय १४

लार्ड हार्डिञ्ज द्वितीय (१९१०-१६)

हार्डिञ्ज का परिचय—चार्ल्स, बैरन हार्डिञ्ज आफ पेन्सहर्स्ट का जन्म १८५८ में हुआ था। वह गवर्नर-जनरल हार्डिञ्ज का पौत्र था जो डलहौजी के पूर्व भारत का गवर्नर-जनरल था और प्रथम सिक्ख युद्ध में भाग लिया था। भारत का वाइसराय बनने के पूर्व वह परराष्ट्र स्थायी उप-सचिव के पद पर रह चुका था। वह एक कुशल कूटनीतिज्ञ था परन्तु भारत में आने के पूर्व उसे शासन सम्बन्धी कोई अनुभव न प्राप्त था परन्तु वह भारतीयों का सच्चा मित्र तथा शुभचिन्तक था और उनकी आकांक्षाओं के साथ उसकी पूर्ण सहानुभूति थी। देश के भीतर तथा देश के बाहर उसने भारतीयों के हित को अपना हित समझा और उसे सर्वोपरि रक्खा। फलतः भारत में जितने वाइसराय हुये उनमें वह सर्वाधिक लोकप्रिय था और उसका शासन अत्यधिक सफल सिद्ध हुआ। वह निःसंकोच भारतीयों से मिलता था और शिक्षण संस्थाओं तथा छात्रावासों में जाकर विद्यार्थियों से बात-चीत किया करता था। नवम्बर १९१० में लार्ड मिण्टो द्वितीय के प्रत्यागमन कर जाने पर वह भारत का वाइसराय होकर आया था।

राज्याभिषेक-दरबार—एडवर्ड सप्तम की मृत्यु के उपरान्त उसका पुत्र जार्ज पञ्चम मई १९१० में ग्रेट ब्रिटेन के सिंहासन पर आरूढ़ हुआ। २२ जून १९११ को वेस्टमिनिस्टर अबे में बड़े समारोह के साथ उसका राज्याभिषेक किया गया। इसके बाद भारतवर्ष में भी राज्याभिषेक-दरबार करने का निश्चय किया गया। सम्राट तथा सम्राज्ञी ने भारतवर्ष में आकर बड़े-बड़े सरकारी पदाधिकारियों तथा संरक्षित राज्यों के राजाओं से सम्मान प्राप्त करने का अपने मन्त्रियों की परामर्श से निश्चय किया। फलतः १२ दिसम्बर १९११ को दिल्ली में एक विराट दरबार किया गया जिसमें लगभग ८०००० व्यक्ति उपस्थित थे। सम्राट् तथा सम्राज्ञी के साथ भारत-सचिव भी यहाँ पधारे थे। राज-भक्तों को जागीरें दी गईं। सरकारी कर्मचारियों को एक महीने का अतिरिक्त वेतन दिया गया और सार्वजनिक शिक्षा के लिये ५० लाख रुपया दिया गया। दरबार में यह घोषणा की गई कि अब भारतवासी भी "विक्टोरिया क्रास" प्राप्त करने के अधिकारी होंगे। इसके पश्चात् महत्वपूर्ण राजनैतिक परिवर्तन की घोषणा की गई जिसे अभी तक गुप्त रक्खा गया था। कलकत्ता के स्थान पर अब दिल्ली को भारत की राजधानी बनाया गया। राजधानी के इस स्थानान्तरण का एक मुख्य कारण यह बतलाया गया था कि भारतवर्ष में ब्रिटिश सत्ता के सुदृढ़ हो जाने तथा देश में गमनागमन के साधनों की पूर्ण व्यवस्था हो जाने के फल-स्वरूप राजधानी को समुद्र तट पर रखना आवश्यक नहीं रहा था। अपनी केन्द्रीय स्थिति तथा ऐतिहासिक महत्व एवं गौरव के कारण दिल्ली अन्य नगरों की अपेक्षा दिल्ली का नगर राजधानी के लिये अधिक उपयुक्त था। बंगाल के दोनों प्रान्तों को मिला कर एक गवर्नर तथा उसकी कौंसिल के अनुशासन में उसे कर दिया गया। इस व्यवस्था से बङ्ग-भङ्ग से उत्पन्न हुये आन्दोलन को समाप्त कर दिया गया और जनता का रोष शान्त हो गया। बिहार, उड़ीसा तथा छोटा नागपूर के लिये एक पृथक् लेफ्टिनेन्ट गवर्नर नियुक्त कर दिया गया और आसाम फिर चीफ़ कमिश्नर का प्रान्त बना दिया गया।

आलोचना--उपरोक्त राजनैतिक परिवर्तनों की तीव्र आलोचना की गई है। इस आलोचना के निम्न-लिखित आधार थे :—

(१) आलोचकों का कहना था कि यह सब परिवर्तन केवल पार्लियामेण्ट के विधान द्वारा किये जा सकते थे। अतएव यह अवैधानिक थे। वास्तव में सम्राट द्वारा इनकी असामयिक घोषणा कराकर कार्यकारिणी द्वारा लोक-सभा के अधिकारों पर प्रहार कराया गया था जो सर्वथा अनुचित था। स्थिति अत्यन्त गम्भीर थी। बिना पार्लियामेण्ट की स्वीकृति के इनको कार्यान्वित करना सम्भव न था और साथ ही साथ सम्राट की घोषणा का भी उल्लंघन करना उचित न था क्योंकि ऐसा करने से बृटिश साम्राज्य को ठेस लगने की आशंका थी।

(२) अर्थशास्त्रियों ने इस आधार पर इन परिवर्तनों की आलोचना की है कि दिल्ली को नई राजधानी के बनाने में एक बड़ी धन राशि की आवश्यकता थी। प्रारम्भिक अनुमान से ४०००००० पौंड की आवश्यकता पड़ती परन्तु पुनः विचार करने पर यह अनुमान लगाया गया कि इसके ड्योढ़ गुने धन की आवश्यकता पड़ेगी।

(३) एक विशाल राजधानी के परिवर्तन से असन्तोष का उत्पन्न हो जाना अवश्य-म्भावी था। जाब चारनाक के समय से ही कलकत्ता बृटिश भारत का मुख्य स्थान रहा था। अतएव अंग्रेजों के लिये इसमें विशेष आकर्षण था। अंग्रेज लोग स्वभावतः ऐसे नाटकीय वैधानिक परिवर्तन को पसन्द नहीं करते।

(४) बहुत से लोगों का यह कहना था कि बंग-भंग के फल-स्वरूप जो आन्दोलन आरम्भ हुआ था वह अब लगभग शान्त हो चुका था। अतएव उस प्रश्न को अब फिर से उठाना उचित न था। वास्तव में आन्दोलन करने वालों को सन्तुष्ट करने का यह प्रयास सर्वथा निरर्थक था। इससे तो आन्दोलन करने वालों को प्रोत्साहन ही मिला और सरकार की प्रतिष्ठा को धक्का लगा।

तिब्बत के साथ सम्बन्ध—लार्ड हार्डिञ्ज के शासन काल में तिब्बत की राजनैतिक दशा में बहुत बड़ा परिवर्तन हुआ। इसका कारण चीन की क्रान्ति थी। लासा में चीनियों की एक सेना रक्षा के लिये रक्खी गई थी। १९११ में पेकिंग से वेतन तथा खाद्य-सामग्री न आने के कारण इस सेना ने विद्रोह का झण्डा खड़ा कर दिया और राजकोष को लूट लिया। अन्त में तिब्बत के लोगों ने इनको निकाल बाहर किया। दलाईलामा के लिये यह स्वर्ण अवसर था और इससे उसने पूरा लाभ उठाने का प्रयत्न किया। दो वर्ष के प्रवास के उपरान्त वह वापस लौट आया। उसने रेजीडेन्ट से यह समझौता कर लिया कि वह लासा ही में निवास करता रहे और अपनी रक्षा के लिये कुछ संरक्षक रख ले परन्तु देश के शासन में वह किसी भी प्रकार का हस्तक्षेप न करे। इस पर पेकिंग की सरकार ने एक आज्ञा निकाली जिसके द्वारा दलाईलामा को उसके सब पुराने अधिकार तथा विशेषा-धिकार दे दिये गये। १९१२ में यह अपवाद फैला कि चीन तिब्बत की पुनर्विजय के लिये आयोजनायें कर रहा है। इस पर बृटिश सरकार ने चीन की सरकार को सूचित किया कि यद्यपि वह तिब्बत पर चीन की प्रभुत्व-शक्ति को स्वीकार करती है परन्तु यदि चीन ने तिब्बत को अपने राज्य का एक प्रान्त बनाने का प्रयत्न किया तो अंग्रेज इसको सहन न कर सकेंगे और इसका घोर विरोध करेंगे। भारत सरकार के परराष्ट्र सचिव की प्रधानता में दिल्ली तथा शिमला में चीन तथा तिब्बत के प्रतिनिधियों का एक सम्मेलन हुआ जिसमें समस्या का समाधान हो गया। तिब्बत के साथ अंग्रेजों के अच्छे सम्बन्ध स्थापित हो गये जिसके फलस्वरूप दलाईलामा ने १९१४ के युद्ध में अंग्रेजों की सहायता की।

दक्षिणी अफ्रीका में भारतवासी—लार्ड हार्डिञ्ज के शासन काल में दक्षिणी

अफ्रीका के प्रवासी भारतीयों की समस्या उठ खड़ी हुई। १९१३ में दक्षिणी अफ्रीका की यूनियन सरकार ने एक विधान बनाया जिसके द्वारा भारतवासियों के वहाँ प्रवेश करने पर प्रतिबन्ध लगा दिया गया और आरेंज की स्टेट में उनको कृषि एवं व्यापार करने तथा वास्तविक सम्पत्ति पर अधिकार स्थापित करने का निषेध कर दिया गया। इस विधान से भारत की जनता में बड़ा असन्तोष फैला और भारत सरकार से अनुरोध किया गया कि वह अफ्रीका की सरकार के इस कार्य का विरोध करे। अफ्रीका के प्रवासी भारतीयों ने महात्मा गाँधी के नेतृत्व में सत्याग्रह आन्दोलन आरम्भ किया। लगभग २५०० भारतीयों के साथ गाँधी जी ने यह सिद्ध करने के लिये कि उन्हें एक प्रान्त से दूसरे प्रान्त में जाने का अधिकार है नेटाल से ट्रांसवाल में प्रवेश किया। गांधी जी अपने अनुयायियों के साथ बन्दी बना लिये गये। इस पर देश-व्यापी उपद्रव आरम्भ हो गया। स्थान-स्थान पर हड़ताल की गई और लोगों ने काम करना बन्द कर दिया। सैनिक शक्ति का प्रयोग करके मजदूरों को कार्य करने के लिये विवश किया गया जिसके फलस्वरूप अनेक निर्दोष श्रमजीवियों को अपनी जान से हाथ धो देना पड़ा। दीन, हीन भारतीयों पर भाँति-भाँति के अत्याचार किये गये। भारत के वाइसराय लार्ड हार्डिञ्ज ने अपने एक व्याख्यान में दक्षिणी अफ्रीका की सरकार की अत्यन्त तीव्र आलोचना की। इस आलोचना से वाइसराय की लोकप्रियता भारतीयों में बहुत बढ़ गई। उसने विधान की घोर निन्दा की, भारतीयों के साथ अपनी सहानुभूति प्रकट की और उनके साथ किये गये अत्याचार तथा दुर्व्यवहार का विरोध किया। उसने इस बात पर बल दिया कि अपनी स्थिति को स्पष्ट करने के लिये अफ्रीका की सरकार एक 'निरीक्षण समिति'' नियुक्त करे जिसमें भारतीयों को भी स्थान प्राप्त होना चाहिये। लार्ड हार्डिञ्ज के इस वक्तव्य का बहुत बड़ा प्रभाव पड़ा और दक्षिणी अफ्रीका की सरकार ने जाँच करने के लिये एक आयोग की नियुक्ति कर दी परन्तु इस कमीशन में भारतीयों को कोई स्थान न दिया गया। भारतीय नेता कारागार से मुक्त कर दिये गये। पहिले तो भारतीयों ने इसका बहिष्कार किया परन्तु बाद में इसके समक्ष उपस्थित होने का निश्चय किया। अन्त में एक ऐक्ट पास किया गया। इस ऐक्ट द्वारा यद्यपि भारतीयों की सभी माँगों की पूर्ति न हो सकी परन्तु गाँधी ने इस ऐक्ट को दक्षिणी अफ्रीका में ''भारतीयों की स्वतन्त्रता का आज्ञा पत्र'' (Magna Carta of India Liberty) कहा था। यद्यपि भारतीयों को कठोर प्रतिबन्धों के साथ दक्षिणी अफ्रीका में प्रवेश करने का अधिकार प्राप्त हो गया परन्तु कनाडा, बृटिश कोलम्बिया आदि अन्य बृटिश उपनिवेशों में भारतीय इस अधिकार से वंचित रहे। इसके विरोध में ३०० सिक्ख एक पोत में बैठकर वैन्कोवर गये परन्तु उपनिवेश में प्रविष्ट होने की उन्हें आज्ञा न मिली और विवश होकर उन्हें कलकत्ते लौट आना पड़ा जहाँ पर पोत से उतरते ही पुलिस के साथ उनका झगड़ा हो गया।

बनारस का राज्य—अप्रैल १९११ में बनारस की जमींदारी को एक राज्य बना दिया गया और महाराज वहाँ का शासक बना दिया गया। इस प्रकार बनारस अन्य छोटे देशी राज्यों की कोटि में आ गया।

लोक-सेवा-आयोग—सरकारी नौकरियों के भारतीयकरण का आन्दोलन प्रबल होता जा रहा था। अतएव सरकार इस प्रश्न को बहुत दिनों तक उपेक्षा की दृष्टि से नहीं देख सकती थी। फलतः लोक-सेवाओं पर रिपोर्ट देने के लिये १९१२ में लार्ड आइलिङ्गटन की अध्यक्षता में एक रायल कमीशन की नियुक्ति की गई। गोपाल कृष्ण गोखले, अब्दुर्रहीम तथा एम० बी० चौबल इसके तीन भारतीय सदस्य थे और अध्यक्ष के अतिरिक्त आठ सदस्य अंग्रेज थे। यद्यपि इस आयोग ने १९१५ में अपनी रिपोर्ट तैयार कर ली थी परन्तु प्रथम महासमर की प्रगति के कारण १९१७ तक प्रकाशित न हो सकी।

हार्डिंग्ज की हत्या का प्रयत्न—२३ दिसम्बर १९१२ को जब लार्ड हार्डिंग्ज ने दिल्ली में एक बड़े समारोह के साथ प्रवेश किया और जिस समय यह समारोह चाँदनी चौक से जा रहा था उसी समय वाइसराय पर एक बम फेंक दिया गया। बम से वाइसराय घायल अवश्य हो गया परन्तु यह घातक न सिद्ध हुआ। वाइसराय का एक सेवक जो उसके पीछे हाथी पर बैठा गया था पंचत्व को प्राप्त हो गया। यह कार्य किसी अराजकतावादी द्वारा किया गया था। इस से सारे देश में सनसनी फैल गई। इस घृणित कार्य के होते हुये भी वाइसराय ने साहस तथा धैर्य को नहीं त्यागा और पूर्ववत वह भारतीयों का मित्र बना रहा।

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय की स्थापना—१९१६ में पण्डित मदन मोहन मालवीय के उद्योग से काशी हिन्दू विश्वविद्यालय की स्थापना हुई। अलीगढ में मुसलमानों की शिक्षा के लिये विशेष व्यवस्था हो चुकी थी। काशी विश्वविद्यालय की स्थापना इसी की प्रतिक्रिया थी। काशी विश्वविद्यालय की स्थापना करके मालवीय जी ने हिन्दुओं का बड़ा कल्याण किया। हिन्दू शास्त्रों और संस्कृत साहित्य की शिक्षा द्वारा हिन्दुओं के सर्वोत्तम विचारों तथा उनकी गौरवमयी प्राचीन सभ्यता के प्रसिद्ध गुणों की रक्षा और उनका प्रचार करना, आधुनिक साहित्य और विज्ञान की सभी शाखाओं का अध्ययन और उनमें अन्वेषण करना, ऐसी वैज्ञानिक आर्थिक तथा व्यापारिक विद्याओं का काम में लाने योग्य शिक्षा के साथ फैलाना, जिनसे देश की सम्पत्ति बढ़े और धर्म तथा सदाचार की शिक्षा देकर विद्यार्थियों को चरित्रवान् बनाना" इस विश्वविद्यालय का प्रधान लक्ष्य रहा है।

औद्योगिक उन्नति—लार्ड हार्डिंग्ज के शासन काल में भारतीय उद्योग-धन्धों की भी अच्छी प्रगति रही। अब औद्योगिक उन्नति के लिये सभी उपक्रम उपलब्ध थे। १९१४ के विश्व समर के आरम्भ होने के पूर्व ही अमेरिकन विशेषज्ञों की सहायता से "टाटा आयरन एण्ड स्टील वर्क्स" का सम्पादन हुआ जो जमशेदजी टाटा का अत्यन्त श्लाघनीय कार्य था। यह भारतीय पूंजी से भारतीयों का प्रथम साहसिक कार्य था। प्रथम महासमर में अंग्रेजों को टाटा वर्क्स से बड़ी सहायता मिली। इसके फलस्वरूप १९१४ में सर टामस हालैण्ड की अध्यक्षता में "इंडियन इन्डस्ट्रियल कमीशन" की नियुक्ति की गई।

राष्ट्रीय आन्दोलन में प्रगति—लार्ड हार्डिंग्ज भारतीयों का सच्चा मित्र तथा शुभचिन्तक था। वह उनके साथ वास्तविक सहानुभूति रखता था। उसने अपने शासन काल में सान्त्वना की नीति का अनुसरण किया। उसने भारतीयों को सन्तुष्ट करने के लिये बंग-भंग की आयोजना को समाप्त करा दिया और दक्षिण अफ्रीका के प्रवासी भारतीयों के साथ अपनी हार्दिक सहानुभूति प्रकट की। लार्ड हार्डिंग्ज की इस सान्त्वना तथा सहानुभूति की नीति के फलस्वरूप कांग्रेस तथा सरकार के बीच की कटुता बहुत बड़े अंश में समाप्त हो गई। इन दिनों कांग्रेस का संचालन नम्र दल वालों के हाथ में था जो सरकार के साथ सहयोग करने के लिये उद्यत था। इसका परिणाम यह हुआ कि राष्ट्रीय आन्दोलन में शैथिल्य उत्पन्न हो गया और वैधानिक रीति से मन्द गति से इसका संचालन होता रहा। यह पहिले बतलाया जा चुका है कि १९०७ में सूरत के अधिवेशन में कांग्रेस में दो दल उत्पन्न हो गये थे अर्थात् उग्रदल तथा नम्र दल, तब से क्रान्तिकारी दल वाले कांग्रेस से अलग रहे और गुप्तरूप के उद्योग से उग्र तथा नम्र दल में मेल हो गया और बाल गंगाधर तिलक तथा बेसेन्ट के नेतृत्व में होम रूल आन्दोलन का बड़े उत्साह तथा साहस के साथ संचालन किया गया। लार्ड हार्डिंग्ज के शासन काल में कुछ ऐसी घटनायें घटीं जिससे

कांग्रेस तथा मुस्लिम लीग एक दूसरे के अत्यन्त सन्निकट आ गये। १९१२-१३ के बलकान युद्ध के फलस्वरूप टर्की तथा इंगलैण्ड में बड़ी कटुता उत्पन्न हो गई थी। टर्की का सुल्तान मुस्लिम जगत का नेता समझा जाता था। अतएव भारतीय मुसलमानों की उसके साथ विशेष सहानुभूति थी। इसका परिणाम यह हुआ कि मुस्लिम लीग राष्ट्रीय नेताओं के नेतृत्व में जिनमें मौलाना अबुल कलाम आजाद, मुहम्मद अली जिन्ना, मौलाना मुहम्मद अली तथा शौकत अली का नाम अग्रगण्य है कांग्रेस के अत्यन्त सन्निकट आ गई और हिन्दुओं तथा मुसलमानों में सहयोग बहुत बढ़ गया। १९१६ में कांग्रेस तथा मुस्लिम का वार्षिक अधिवेशन लखनऊ में एक साथ हुआ और दोनों में एक पैक्ट भी हो गया।

क्रान्तिकारियों का दमन—यद्यपि लार्ड हार्डिञ्ज अत्यन्त उदार राजनीतिज्ञ था और भारतीयों के साथ उसकी वास्तविक सहानुभूति थी परन्तु उपद्रव करने वालों का दमन करने में उसने लेशमात्र संकोच नहीं किया। समाचार-पत्रों पर लार्ड मिण्टो के ही शासन-काल में अनेक प्रतिबन्ध लगा दिये गये थे। लार्ड हार्डिञ्ज के आने पर मार्च १९११ में विप्लवकारी सभा निषेध नियम Prevention of Seditious Meeting Act) पास किया गया जिसके द्वारा सभा अथवा मीटिंग करने के अधिकार पर प्रतिबन्ध लगा दिया गया। इन प्रतिबन्धों तथा दमनकारी नियमों का क्रान्तिकारियों की क्रियाशीलता पर कोई प्रभाव न पड़ा और राजनैतिक हत्या तथा डकैती पूर्ववत् होती रही। यहाँ तक कि वाइसराय स्वयम् भी बम के प्रहार से उन्मुक्त न रहा। इस प्रकार सरकार की सुधार तथा दमन दोनों ही नीतियाँ क्रान्तिकारियों की क्रियाशीलता को अवरुद्ध करने में असफल सिद्ध हुई। मार्च १९१३ में "ताजीरात हिन्द" (India Penal Code) में कुछ ऐसे सुधार किये गये जिससे षड्यन्त्रकारियों के दमन करने में सुविधा हो परन्तु इस नियम का भी क्रान्तिकारियों की क्रियाशीलता पर कोई प्रभाव न पड़ा वरन उसमें और अधिक शक्ति तथा गति उत्पन्न हो गई और इसका सबसे अधिक प्रकोप बंगाल तथा पंजाब में परिलक्षित होने लगा। षड्यन्त्र, हत्या तथा डकैती का बाहुल्य बढ़ता गया। १९०५ में भारत सरकार ने "भारत सुरक्षा नियम" (Defence of India Rules) पास किया परन्तु क्रान्तिकारियों का उत्साह इससे भंग न हुआ और अपराधों में उत्तरोत्तर वृद्धि ही होती गई। टर्की तथा इंगलैण्ड के सम्बन्ध बिगड़ जाने के कारण भारतीय मुसलमान भी क्रान्तिकारी कार्यों में बड़े क्रियाशील रहे।

यूरोपीय महासमर—१९१४ में भारत में भीषण संग्राम आरम्भ हो गया। इस युद्ध की तैयारियाँ बहुत दिनों से हो रही थीं। यूरोप के विभिन्न राज्य दो दलों में विभक्त हो गये थे। आस्ट्रिया, जर्मनी तथा इटली का एक गुट था और फ्रांस, रूस तथा इङ्गलैण्ड का दूसरा गुट था। जून १९१४ में आस्ट्रिया का युवराज बोस्निया में मार डाला गया। इस हत्या का उत्तरदायित्व सर्विया पर रक्खा गया और आस्ट्रिया ने अविलम्ब उस पर आक्रमण कर दिया। रूस की सर्विया के साथ विशेष सहानुभूति थी। अतएव वह उसकी सहायता करने के लिये उद्यत हो गया। आस्ट्रिया के साथ अपनी सहानुभूति प्रकट करने के लिये जर्मनी ने रूस तथा फ्रांस के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी। इंगलैण्ड अभी तक तटस्थ था। जब जर्मनी ने इंगलैण्ड के साथ किये गये समझौते के विरुद्ध फ्रांस पर आक्रमण करने के लिये बेल्जियम में प्रवेश किया तब इङ्गलैण्ड ने भी तटस्थता त्याग कर जर्मनी तथा आस्ट्रिया के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी। इस संकट काल में भारतीयों ने बृटिश सरकार का साथ दिया। भारतीय नरेशों तथा नवाबों ने धन तथा सेना से बृटिश सरकार की यथाशक्ति सहायता की। कई राजाओं ने स्वयम् भी युद्ध में भाग लिया। भारतीय जनता ने भी यथाशक्ति सरकार की सहायता की और देश में किसी भी प्रकार का

उपद्रव न हुआ। गांधी जी ने भी इस युद्ध में अंग्रेजों के प्रति अपनी सहानुभूति प्रकट की और यथाशक्ति उनकी सहायता की। इस प्रकार धन तथा जन से भारत ने इंगलैण्ड की पूर्ण सहायता की। युद्ध के कारण अधिक धन की आवश्यकता थी। अतएव विदेश से आने वाले सभी सामान पर ७½ प्रतिशत आयात-कर लगा दिया गया। इसके अन्तर्गत लंकाशायर से आने वाला सूती कपड़ा भी था परन्तु इस बार भारत के बने कपड़ों पर इतना ही कर नहीं लगाया गया। यद्यपि मैनचेस्टर के उत्पादकों में बड़ा असन्तोष फैला और उन्होंने इसका बड़ा विरोध किया परन्तु इस समय बृटिश सरकार भारतीय जनता को अप्रसन्न नहीं करना चाहती थी। अतएव उसने इस विरोध की बिल्कुल चिन्ता न की। प्रथम महासमर में अन्ततोगत्वा जयलक्ष्मी अंग्रेजों को ही प्राप्त हुई।

लार्ड हार्डिंज का प्रत्यागमन—लार्ड हार्डिञ्ज के शासन से भारतीय जनता बहुत सन्तुष्ट थी। १९१५ में उसकी अवधि समाप्त हो गई परन्तु कांग्रेस ने उसके प्रति अपनी कृतज्ञता प्रकट करते हुये उसकी अवधि बढ़ाने का प्रस्ताव पास किया। इन दिनों विश्व महासमर की स्थिति अत्यन्त गम्भीर होती जा रही थी। अतएव गृह-सरकार ने ६ महीने के लिये उसकी अवधि बढ़ा दी। अप्रैल १९१६ में वह भारत से प्रत्यागमन कर गया।

लार्ड हार्डिंज का चरित्र तथा उसके कार्यों का मूल्यांकन—लार्ड हार्डिञ्ज बड़ा ही उदार तथा धैर्यवान् राजनीतिज्ञ था। उसका दृष्टिकोण बड़ा ही व्यापक तथा सहिष्णु था। भारतीयों के साथ उसकी पूर्ण सहानुभूति थी और वह उनकी भावनाओं का सदैव ध्यान रखता था। उन्हें सान्त्वना देने तथा प्रसन्न रखने का उसने सतत् प्रयास किया। बङ्ग-भङ्ग की आयोजना को समाप्त करके तथा अफ्रीका के प्रवासी भारतीयों के साथ अपनी पूर्ण सहानुभूति प्रकट करके उसने जो लोक-प्रियता प्राप्त की वह अन्य वाइसरायों को दुर्लभ थी। बृटिश भारत के इतिहास में प्रथम बार सम्राट् तथा सम्राज्ञी ने इस देश में पदार्पण किया था। कलकत्ते से दिल्ली के लिये राजधानी का स्थानान्तरण तथा नये नगर के निर्माण की आयोजना अत्यन्त महत्वपूर्ण-घटना थी। लार्ड हार्डिञ्ज के ही शासन-काल में कांग्रेस के उग्र तथा नम्र दल में मेल हो सका था और कांग्रेस तथा मुस्लिम लीग एक दूसरे के अत्यन्त-सन्निकट आकर एक दूसरे के साथ कंधे से कंधा मिलाकर कार्य करने के लिये उद्यत हो रहे थे। लार्ड हार्डिञ्ज के शासन काल में कई शासन सम्बन्धी सुधार भी किये गये थे। १९११ में इण्डियन हाइकोर्ट्स ऐक्ट पास किया गया था, विकेन्द्रीकरण की नीति का अनुसरण किया गया था और १९१२ में गवर्नमेंट आफ इण्डिया ऐक्ट पास किया गया था। लोक-सेवा-आयोग की नियुक्ति तथा उसकी रिपोर्ट लार्ड हार्डिञ्ज के ही शासन-काल में प्रस्तुत की गई थी। लार्ड हार्डिञ्ज के ही प्रयत्नों का फल था कि १९११ से १९१६ तक भारत में शान्ति स्थापित रही। उपरोक्त विवरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि लार्ड हार्डिञ्ज का शासन अत्यन्त सफल था और भारत के वाइसरायों में उसे वही स्थान प्राप्त होना चाहिये जो विलियम बेंटिङ्क, केनिङ्ग तथा रिपन को दिया जाता है।

अध्याय १५

लार्ड चेम्सफ़ोर्ड (१९१६-२१)

चेम्सफोर्ड का परिचय—फ्रेडरिक जान नेपियर थे सिगर, लार्ड चेम्सफ़ोर्ड का जन्म १८६८ में हुआ था। वह १९०५ से १९०९ तक क्वीन्सलैण्ड का और १९०९ से १९१३ तक न्यु साउथ वेल्स का गवर्नर था। अप्रैल १९१६ में वह भारत का गवर्नर-जनरल तथा वाइसराय होकर आया। पाँच वर्ष तक इस पद पर रहने के उपरान्त अप्रैल १९२१ में वह भारत से अपने देश के लिये प्रत्यागमन कर गया। १९२४ में वह एडमिरैल्टी का प्रथम लार्ड बना दिया गया। १९३३ में लार्ड चेम्सफ़ोर्ड का देहावसान हो गया।

यूरोपीय महासमर—१९१४ से १९१८ तक यूरोपीय महासमर का प्रकोप व्याप्त था। इस युद्ध में भारतीयों ने सैनिक तथा असैनिक दोनों रूपों में बृटिश सरकार की अत्यन्त श्लाघनीय सहायता की। भारतीय सैनिकों ने फ्रांस, बेल्जियम, गैलीपोली सैलोनीका, पैलेस्टाइन, मिश्र, सूदान्त, मेसोपोटामिया आदि के रण-क्षेत्रों में अपनी वीरता, साहस तथा राजभक्ति का पूर्ण परिचय दिया। इस विनाशकारी युद्ध में भारत को धन तथा जन की बहुत बड़ी क्षति उठानी पड़ी और उसके राष्ट्रीय ऋण में ३० प्रतिशत की वृद्धि हो गई। युद्ध-सामग्री के क्रय में भी भारत को बड़ी सहायता करनी पड़ी जिससे १९१७-१८ में इस देश में मुद्रा-सम्बन्धी संकट उत्पन्न हो गया। युद्ध सम्बन्धी दान में भी भारत ने बड़ी सहायता की थी। इस प्रकार युद्ध को सफलतापूर्वक समाप्त करने में भारत ने बड़ा योग दिया। संयुक्त-राष्ट्र-अमेरिका के राष्ट्रपति विल्सन महोदय ने युद्ध का आदर्श अत्यंत उच्च-कोटि का बतलाया था। उनका कहना था कि यह युद्ध "आत्म-निर्णय" तथा "लोकतन्त्रात्मक व्यवस्था की रक्षा' का युद्ध था। राष्ट्रपति विल्सन की इस घोषणा ने "मित्र-राष्ट्रों' के पक्ष को अत्यंत प्रबल बना दिया। परन्तु फ्रांसीसियों तथा अंग्रेजों ने राष्ट्रपति की इस घोषणा के अनुकूल आचरण नहीं किया। इसमें संदेह नहीं कि भारतीयों ने अपनी प्रशसनीय सेवा के उपलक्ष में कुछ प्राप्त किया परन्तु सेवा की गुरुता को ध्यान में रखते हुये वह इतना नगण्य था कि उससे भारतीयों को बिल्कुल सतोष न हुआ। भारतीय जनता के प्रतिनिधियों तथा देशी-नरेशों ने १९१८ की तथा उसके उपरान्त के साम्राज्य-युद्ध-सम्मेलन (Imperial War Conference) तथा शान्ति-सम्मेलन में भाग लिया। रायपूर के सत्येन्द्र प्रसन्न सिंह को भारत के लिये राज्य का उप-सचिव (Under Secretary of State for India) के पद पर नियुक्त किया गया और पीयर बनाकर लार्ड की उपाधि से विभूषित किया गया। इसके अतिरिक्त १९१९ में भारत एक प्रारम्भिक सदस्य के रूप में राष्ट्र-संघ (League of Nations में सम्मिलित हो गया। इससे भारत की अन्तर्राष्ट्रीय जगत में प्रतिष्ठा निस्संदेह बढ़ गई। इसके अतिरिक्त सुधार के कार्य में भी कुछ द्रुतता अवश्य आ गई परन्तु भारत के देश-भक्तों तथा स्वतन्त्रता प्रेमियों को इससे बिलकुल सतोष न हुआ। इतनी सेवायें करने पर भी युद्ध के अन्त में भारत को शान्ति के स्थान पर करवाल ही प्राप्त हुई।

मांटेग्यू घोषणा—२० अगस्त १९१७ को भारत सचिव माण्टेग्यू ने भारत के संबंध में इङ्गलैण्ड की भावी नीति की घोषणा की। इस घोषणा में उसने भारत के शासन

से सम्बन्ध रखने वाली इङ्गलैण्ड की नीति के भविष्य में पथ-प्रदर्शन के लिये उसने चार सिद्धान्तों का उल्लेख किया। पहिला सिद्धान्त यह था कि भारतवासियों को देश के शासन में अधिकाधिक भाग दिया जायगा। दूसरा सिद्धान्त यह था कि बृटिश साम्राज्य के अन्तर्गत भारत में उत्तरदायी शासन को जन्म देने के विचार से स्वायत्त शासन की संस्थाओं को धीरे-धीरे शक्तिशाली बनाया जायगा। तीसरा सिद्धान्त यह था कि इस नीति में प्रगति क्रमशः प्राप्त की जा सकेगी। चौथा सिद्धान्त यह था कि इङ्गलैण्ड की सरकार, भारत सरकार के साथ मिलकर जिस पर भारत की जनता की समृद्धि का उत्तरदायित्व है यह निर्णय करेगी कि कौन समय वैधानिक प्रगति के दूसरे पग के लिये उपयुक्त है।

मांटेग्यू चेम्सफोर्ड सुधार—उपरोक्त विज्ञप्ति के उपरान्त माण्टेग्यू भारतवर्ष आया और यहाँ के प्रमुख नगरों में जाकर भारत सरकार तथा प्रान्तीय सरकारों से परामर्श की। लार्ड चेम्सफोर्ड के साथ वह भारत की प्रमुख संस्थाओं के प्रतिनिधियों तथा नेताओं से भी मिला। वह देशी नरेशों से भी मिला और उनसे बातें कीं। इगलैण्ड जाकर उसने सुधार संबंधी अपने प्रस्तावों को एक रिपोर्ट के रूप में पार्लियामेंट के सामने उपस्थित किया। इस रिपोर्ट पर दो वर्ष तक विचार होता रहा। इन प्रस्तावों के संबंध में भारतवर्ष में भी राजनैतिक मत-भेद उत्पन्न हो गया। नम्र दल वालों ने इसके मुख्य सिद्धान्तों को स्वीकार कर लिया परन्तु उग्र दल वालो ने बड़ी निराशा तथा असंतोष प्रकट किया। भारत के प्रमुख दलों के प्रतिनिधि इगलैण्ड गये और पार्लियामेण्ट की कमेटी के समक्ष अपने-अपने विचार व्यक्त किया। न्यूनाधिक परिवर्तनों के उपरान्त १९१९ का ऐक्ट पास हो गया जो माण्टफोर्ड सुधार के नाम से प्रसिद्ध है इस ऐक्ट द्वारा निम्न-लिखित परिवर्तन किये गये :—

भारत-सचिव तथा इंडिया कौंसिल—भारतवर्ष के शासन के लिये भारत-सचिव को पार्लियामेण्ट के प्रति उत्तरदायी मान लिया गया। भारत-सचिव का वेतन इगलैण्ड के राज-कोष से देने की व्यवस्था की गई। भारत के शासन का पूर्ण निरीक्षण उसी को दे दिया गया और भारत सरकार को उसकी परामर्श से कार्य करने का आदेश दिया गया। इण्डिया कौंसिल का प्रधान कार्य भारत-सचिव को परामर्श देना रह गया। इसमें भारतीय सदस्यों की संख्या दो से बढ़ा कर तीन कर दी गई।

भारत सरकार—१९१९ के ऐक्ट द्वारा केन्द्रीय सरकार में भी अनेक परिवर्तन किये गये। गवर्नर-जनरल की कौंसिल के भारतीय सदस्यों की संख्या बढ़ा कर तीन कर दी गई। गवर्नर की कार्य-कारिणी के सदस्यों की संख्या अपरिमित कर दी गई थी। यह आशा की गई थी परन्तु यह आदेश नहीं था कि कौंसिल के आधे सदस्य ऐसे हों जिनका जन्म भारत में हुआ था। क़ानून निर्माण के लिये अब "इम्पीरियल लेजिस्लेटिव कौंसिल" के स्थान पर दो भवनों की केन्द्रीय व्यवस्थापिका की स्थापना की गई। प्रथम भवन का लोक सभा (Legislative Assembly) और द्वितीय भवन का नाम राज्य-परिषद् (Council of State) रक्खा गया। लोक सभा के सदस्यों की संख्या १४५ थी जिनमें १०३ निर्वाचित और शेष सरकारी पदाधिकारी तथा मनोनीत सदस्य होते थे। निर्वाचित सदस्यों में सभी प्रान्तों के प्रतिनिधि होते थे जिनका निर्वाचन जनता द्वारा होता था। राज्य-परिषद् के सदस्यों की संख्या ६० थी जिनमें से ३३ निर्वाचित सदस्य रक्खे गये। इनके निर्वाचक बड़े-बड़े धनी, भूमिपति तथा पूंजीपति ही हो सकते थे। लोक-सभा को अपना सभापति चुनने का अधिकार दे दिया गया था परन्तु राज्य-परिषद् का सभापति सरकार द्वारा मनोनीत किया जाता। लोक-सभा की अवधि ३ वर्ष और राज्य-परिषद् की अवधि ५ वर्ष रक्खी गई। कोई विधेयक तब तक कानून नहीं बन सकता था जब तक वह

दोनों भवनों द्वारा पारित न हो जाय और गवर्नर-जनरल की अन्तिम स्वीकृति न प्राप्त हो जाय। दोनों भवनों में मत-भेद हो जाने पर गवर्नर-जनरल को दोनों भवनों का सम्मिलित अधिवेशन करने का अधिकार दे दिया गया। बजट के कुछ भाग में घटाने बढ़ाने का अधिकार भी व्यवस्थापिका को दे दिया गया था परन्तु इसका अधिक भाग ऐसा था जिसमें सेना का व्यय, वेतन तथा अन्य इसी प्रकार की रकमें थीं जिन पर व्यवस्थापिका केवल वाद-विवाद कर सकती थी। वह उसमें कमी अथवा वृद्धि नहीं कर सकती थी। सरकारी ऋण भारत की आय, सैनिक प्रबन्ध तथा देशी एवं वाह्य राज्यों के साथ सम्बन्ध के विषय में व्यवस्थापिका को कुछ भी अधिकार नहीं दिया गया था। गवर्नर-जनरल व्यवस्थापिका को स्थगित, भंग तथा आमन्त्रित कर सकता था। आवश्यकता पड़ने पर वह व्यवस्थापिका के किसी भी भवन में भाषण दे सकता था। गवर्नर-जनरल किसी भी विधेयक को "बृटिश भारत की शान्ति, रक्षा तथा हित" की दृष्टि से व्यवस्थापिका की इच्छा के विरुद्ध भी पास या रद्द कर सकता था। बजट के सम्बन्ध में भी उसे इसी प्रकार के अधिकार प्राप्त थे। वह अपने निर्णय के अनुसार देश की शान्ति तथा व्यवस्था के लिये कितने ही धन के व्यय करने की स्वीकृति दे सकता था। गवर्नर-जनरल को अध्यादेश (Ordinance) भी पास करने का अधिकार था।

प्रान्तीय सरकार—बंगाल, मद्रास तथा बम्बई में तो पहिले से ही गवर्नर थे अब अन्य बड़े-बड़े प्रान्तों के लेफ्टिनेन्ट गवर्नर भी गवर्नर बना दिये गये और उनकी सहायता के लिये कार्यकारिणी समिति स्थापित कर दी गई जिनमें एक दो भारतीय सदस्य भी रखने की व्यवस्था की गई। इनके अतिरिक्त व्यवस्थापिका के चुने हुये सदस्यों में से दो-तीन मन्त्री भी चुनने का अधिकार प्रान्तीय गवर्नरों को दे दिया गया। इस प्रकार प्रान्तों में द्वैध शासन व्यवस्था (Dyarchy) स्थापित कर दी गई। प्रान्तीय शासन के समस्त विषयों को दो भागों में विभक्त कर दिया गया। एक का प्रबन्ध गवर्नर अपनी कौंसिल के सदस्यों की सहायता से और दूसरे का मन्त्रियों की सहायता से करता था। स्थानीय स्वशासन, शिक्षा, चिकित्सा, कृषि, उद्योग तथा अन्य छोटे-छोटे विभाग मन्त्रियों के अधिकार-क्षेत्र में रक्खे गये थे और न्याय, शान्ति स्थापन, पुलिस, टैक्स तथा आय के विभाग कौंसिल के अधिकार-क्षेत्र में रक्खे गये। मन्त्री लोग प्रान्तीय व्यवस्थापिका के प्रति उत्तरदायी होते थे और उनका वेतन भी उसी के द्वारा निर्धारित होता था। प्रान्तीय व्यवस्थापिका के सदस्यों की संख्या बढ़ा दी गई और उनमें निर्वाचित सदस्यों का आधिक्य रक्खा गया। प्रान्त के गवर्नरों को कुछ विशेषाधिकार दिये गये।

केन्द्रीय तथा प्रान्तीय सरकारों की अधिकार सीमा का निर्धारण—इस ऐक्ट द्वारा केन्द्रीय तथा प्रान्तीय सरकारों की अधिकार सीमा के निश्चित करने का प्रयत्न किया गया। देश-रक्षा, परराष्ट्र-सम्बन्ध, व्यापार-नीति, मुद्रा, डाक एवं तार तथा अन्य ऐसे विभागों पर भारत-सरकार का अधिकार बना रहा। स्थानीय शासन, न्याय, स्वच्छता, कृषि, शिक्षा आदि प्रान्तीय सरकारों के अधिकार-क्षेत्र में रक्खे गये। केन्द्रीय तथा प्रान्तीय सरकारों में आय का भी विभाजन कर दिया गया। भूमि-कर, आबकारी, सिंचाई तथा स्वास्थ्य की आय प्रान्तीय सरकारों को दे दी गई और आय-कर, नमक, अफ़ीम तथा रेलों की आय भारत सरकार के हाथ में रह गई। इतने से भारत सरकार का व्यय पूरा नहीं होता था। अतएव प्रान्तों द्वारा उसे एक निश्चित वार्षिक धन-राशि देने की व्यवस्था की गई। प्रान्तीय सरकारों को ऋण लेने तथा कुछ कर लगाने का भी अधिकार दे दिया गया। केन्द्र का प्रान्तीय सरकारों पर अभी पूर्ण नियंत्रण था। प्रत्येक क़ानून के लिये गवर्नर-जनरल की अन्तिम स्वीकृति आवश्यक थी।

निर्वाचन—पहिले प्रान्तीय व्यवस्थापिका के सदस्यों का निर्वाचन नगरपालिका,

जिला परिषद् तथा अन्य संस्थाओं द्वारा होता था और केन्द्रीय व्यवस्थापिका में प्रान्तीय व्यवस्थापिका से सदस्य जाते थे। अब जनता द्वारा इन सदस्यों के निर्वाचित करने की व्यवस्था की गई। निर्वाचकों की योग्यता बहुत ऊंची रक्खी गई। फलतः केवल दो ही प्रतिशत व्यक्तियों को मताधिकार प्राप्त हुआ। स्त्रियों को मत-दान का अधिकार देना अथवा उन्हें प्रतिनिधि बनाना व्यवस्थापिका की इच्छा पर छोड़ दिया गया। मुसल्मानों को अपने अलग प्रतिनिधि भेजने का अधिकार दे दिया गया। इसी प्रकार यूरोपियन तथा सिक्खों को भी अपने अलग प्रतिनिधि भेजने का अधिकार दे दिया गया।

नरेन्द्र मंडल—देशी नरेशों तथा नवाबों के एक मण्डल बनाने की व्यवस्था की गई जिसे "नरेन्द्र मण्डल" (Chamber of Princes) की संज्ञा दी गई। इसका सभापति वाइसराय को परामर्श देता था। इसके संगठन से बहुत से बड़े-बड़े राज्य सन्तुष्ट न थे। फलतः हैदराबाद, मैसूर तथा अन्य कई बड़े-बड़े राज्य इसमें सम्मिलित नहीं हुये।

पार्लियामेंट का अधिकार—१९१९ के ऐक्ट की भूमिका में भारत सरकार पर पार्लियामेंट का पूर्ण अधिकार स्पष्ट कर दिया गया था और यह आदेश दिया गया था कि प्रति दसवें वर्ष एक कमीशन द्वारा शासन की कार्य-विधि की जांच की जाय और उसकी रिपोर्ट के आधार पर परिवर्तन किये जायं। इस प्रकार भारत के भाग्य का निर्णय पार्लियामेंट के ही हाथ में रक्खा गया।

आलोचना—१९१९ के ऐक्ट से भारतीयों को बिल्कुल सन्तोष न हुआ। कारण यह था कि इसने भारतीयों की आकांक्षाओं की पूर्ति न हो सकी। कांग्रेस बहुत दिनों से इण्डिया कौंसिल के समाप्त कर देने पर बल दे रही थी परन्तु इस ऐक्ट में इस पर बिल्कुल ध्यान न दिया गया। इसके अधिकांश सदस्य भारत से लौटे हुये सिविलियन्स होते थे जो प्रत्येक बात पर निष्पक्ष रूप से अपने विचार नहीं प्रकट कर पाते थे। भारतीय सदस्यों को भारत-सचिव ही मनोनीत करता था। ऐसे अवसर प्रायः आ जाते थे जब इनमें से कोई भी इंगलैण्ड में उपस्थित नहीं रहता था। ऐसी स्थिति में इण्डिया कौंसिल को समाप्त कर देना ही उचित था।

केन्द्रीय व्यवस्था भी सन्तोषजनक न थी। गवर्नर-जनरल की कौंसिल के सदस्य व्यवस्थापिका के प्रति उत्तरदायी न थे। व्यवस्थापिका को अधिकार-सीमा अत्यन्त संकुचित थी। उसे केवल आलोचना करने का अधिकार था जिससे केवल लोकमत प्रकट हो जाता था। राज्य-परिषद् का संगठन इस प्रकार किया गया था कि वह सदैव सरकार के साथ गठ-बन्धन किये रहती थी। लोक-सभा को भी गवर्नर-जनरल अपने विशेषाधिकार से सदैव अपने नियंत्रण में रख सकता था।

प्रान्तीय व्यवस्था भी बड़ी असंतोषजनक थी। मन्त्रियों को केवल व्यय वाले विभाग हस्तान्तरित किये गये थे। अतएव धन के लिये उन्हें गवर्नर का आश्रय लेना पड़ता था। अर्थ-विभाग का प्रधान गवर्नर की कौंसिल का सदस्य ही होता था। रक्षित विषयों के व्यय में यदि व्यवस्थापिका कोई कमी करती तो गवर्नर उसे मानने के लिये बाध्य नहीं था। गवर्नर धारा-सभा के बहुमत दल से मन्त्री चुनने के लिये बाध्य नहीं था। यह एक बहुत बड़ा वैधानिक दोष था।

कनाट के ड्यूक की भारत यात्रा—१९१९ के अन्त में सम्राट् की ओर से एक घोषणापत्र प्रकाशित किया गया। इस घोषणापत्र में सुधारों के लिये स्वीकृति देते हुये यह कहा गया कि भारतवर्ष को यथासम्भव सुखी बनाने का प्रयत्न किया गया है परन्तु उसके हितों की रक्षा तथा उसके शासन के संचालन का अधिकार वहाँ के निवासियों को

अभी तक नहीं प्रदान किया गया था जिसके बिना किसी भी देश की पूर्ण रूप से उन्नति नहीं हो सकती। इसी का प्रारम्भ अब इन सुधारों से किया गया है और आशा की जाती है कि सरकारी पदाधिकारी तथा भारतीय नेता दोनों सहयोग के साथ इसे सफल बनाने का प्रयत्न करेंगे। नई संस्थाओं का उद्घाटन करने के लिये पहिले युवराज आने वाला था परन्तु यह निश्चय स्थगित कर दिया गया और सम्राट् का चाचा कनाट का ड्यूक १९२१ में भारत आया। इसने दिल्ली में राजकीय सन्देश को पढ़ कर सुनाया। इस सन्देश में यह बतलाया गया कि वर्षों से राजभक्त भारतवासी अपनी मातृ-भूमि के लिये स्वराज्य का स्वप्न देख रहे थे। उसके लिये अब अवसर दिया जा रहा है। ड्यूक ने अपने भाषण में अत्यंत बलपूर्वक कहा कि भारतवर्ष में शासन का आधार "बल तथा भय" नहीं होगा। वाइसराय के शब्दों में उसने यह भी बतलाया कि "स्वेच्छाचारी शासन का सिद्धान्त" अब त्याग दिया गया।

अफग़ानिस्तान का तीसरा युद्ध—अफ़ग़ानिस्तान का अमीर हबीबुल्ला यूरोपीय महासमर के समय अंग्रेजों का मित्र बना रहा और जर्मनी तथा रूस का दबाव पड़ने पर भी उसने तटस्थता की नीति का ही अनुसरण किया। फरवरी १९१९ में हबीबुल्ला की हत्या कर दी गई और उत्तराधिकार का झगड़ा आरम्भ हो गया। अन्त में हबीबुल्ला का पुत्र अमानुल्ला अफ़ग़ानिस्तान का अमीर हो गया। यद्यपि वह भारत सरकार के साथ मैत्री पूर्ण सम्बन्ध रखना चाहता था परन्तु भारत के अशान्तिमय वातावरण से प्रभावित होकर अफ़ग़ानिस्तान के युद्ध-पक्षी दल ने अमीर को भारत सरकार के साथ वैमनस्य करने के लिये बाध्य किया। फलतः सन् १९१९ में अफ़ग़ानिस्तान तथा भारत सरकार में युद्ध आरम्भ हो गया परन्तु दस ही दिन के युद्ध में अफ़ग़ानिस्तान बुरी तरह परास्त हुआ। जलालाबाद तथा काबुल पर आकाश से बम-वर्षा की गई। जेनरल डायर ने इस युद्ध में अत्यंत महत्वपूर्ण कार्य किया। अगस्त के महीने में अमीर के साथ सन्धि हो गई। इस संधि द्वारा अमीर को वार्षिक धन-राशि की सहायता और भारत से होकर अस्त्र-शस्त्र के आयात के अधिकार से वंचित कर दिया गया परन्तु उसकी स्वतन्त्रता पूर्ण रूप से स्वीकार कर ली गई।

शासन-सम्बन्धी कार्य—१९१६-१८ में सर टामस हालैण्ड की अध्यक्षता में भारतीय औद्योगिक आयोग (Indian Industrial Commission) ने इस बात पर बड़ा बल दिया था कि औद्योगिक उन्नति के लिये सरकार के सक्रिय सहयोग की बड़ी आवश्यकता है। यद्यपि भारत सरकार ने आयोग की इन सिफ़ारिशों को स्वीकार कर लिया था परन्तु विभिन्न कारणों से वे कार्यान्वित न हो सकीं। सन् १९१८ में भारत सरकार ने स्थानीय स्वराज्य पर एक प्रस्ताव पास किया। १९२० में भारत सरकार ने एक दूसरा प्रस्ताव पास किया जिसके द्वारा भारतवर्ष तथा इंगलैण्ड में एक साथ इण्डियन सिविल सर्विस की प्रतियोगिता की परीक्षा लेने की व्यवस्था की गई और साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व देने के लिये इस पद के लिये मनोनीत करने की भी व्यवस्था की गई।

राष्ट्रीय आन्दोलन की प्रगति—१९१६ में लोकमान्य तिलक ६ वर्ष का कारावास समाप्त कर माण्डले से भारतवर्ष आ गये। उनके नेतृत्व में उग्र दल वाले फिर काँग्रेस में सम्मिलित हो गये। गोपाल कृष्ण गोखले के पंचत्व प्राप्त कर जाने पर कांग्रेस का नेतृत्व लोकमान्य तिलक को प्राप्त हो गया। इसी समय श्रीमती एनीबेसेन्ट ने भी भारत के राजनैतिक मञ्च पर पदार्पण किया और तिलक तथा बेसेन्ट ने होम रूल का आन्दोलन बड़े उत्साह तथा साहस के साथ आरम्भ किया। इस प्रकार कांग्रेस में नव-जीवन तथा नई स्फूर्ति का संचार हो गया। अब देश की स्थिति, सरकार की दमन-नीति तथा राष्ट्रीय आन्दोलन का संक्षिप्त वर्णन कर देना आवश्यक है :—

देश की स्थिति—मार्ले-मिण्टो सुधारों से भारतीय जनता को बिल्कुल सन्तोष नहीं हुआ था। इन सुधारों का क्षेत्र अत्यन्त संकीर्ण था। इनसे स्थानीय स्वशासन की उन्नति में कोई विशेष योग नहीं मिला और पार्लियामेण्ट का भारत सरकार पर और भारत सरकार का प्रान्तीय सरकारों पर पूर्ववत् नियंत्रण स्थापित रहा। कौंसिलों में मनोनीत तथा सरकारी सदस्यों की सहायता से विजय सदैव सरकार की ही होती थी। इससे जनता के निर्वाचित प्रतिनिधियों को सुधारों की निरर्थकता का पूर्ण अनुभव हो गया। लार्ड मिंटो के शासन काल में पारित किये गये दमनकारी नियमों के कारण भी असन्तोष में वृद्धि हो गई थी। लार्ड हार्डिञ्ज पर बम विस्फोट के उपरान्त राजनैतिक षड्यन्त्रों के सम्बन्ध में जाब्ता फौजदारी के नियम अत्यधिक कठोर बना दिये गये थे। कौंसिलों में जनता के प्रतिनिधियों की सदैव उपेक्षा की जाती थी। उत्तरदायी पदों पर भारतवासियों को नियुक्त करने की ओर भी विशेष ध्यान नहीं दिया जाता था। गौर तथा कृष्ण वर्ण के विभेद का भी प्राबल्य था। भारतवासियों को लाइसेन्स के बिना अस्त्र रखने की आज्ञा न थी। देश की रक्षा में उन्हें कोई भाग नहीं दिया जाता था। यहाँ तक कि भारतवासी सैनिक वालन्टियर बनने के अधिकार से भी वञ्चित रक्खे गये थे। उपनिवेशों में प्रवासी भारतीयों के साथ बड़ा अनुचित व्यवहार होता था।

उपरोक्त कारणों से युद्ध काल में भी राजनैतिक आन्दोलन समाप्त न हुआ वरन् उसमें नई गति तथा नवजीवन उत्पन्न हो गया। युद्ध के प्रधान लक्ष्य प्रजातन्त्र के लिये संसार को सुरक्षित बनाना, स्वेच्छाचारी शासन को समाप्त करना और छोटे निर्बल राज्यों की रक्षा करना बतलाया गया था। संयुक्त राष्ट्र अमेरिका के राष्ट्रपति विलसन ने "आत्म निर्णय" के सिद्धान्त को विश्व के भावी राजनैतिक संगठन का आधार बतलाया था। भारतवासियों ने यूरोपीय युद्ध में अपार धन एवं जन की आहुति की थी। अतएव उन्हें आशा थी कि जिन सिद्धान्तों के लिये यूरोप में युद्ध लड़ा जा रहा है उनके लाभ से वे वंचित न रक्खे जायेंगे। "युद्ध समिति" तथा "साम्राज्य सम्मेलन" में भारतवासियों को आमन्त्रित कर लेने से भारतीयों की आशा की पुष्टि भी हो गई। इसी समय रूस में बोलशेविक राज्य क्रान्ति हो गई थी और ज़ार के स्वेच्छाचारी तथा निरंकुश शासन का उन्मूलन कर दिया गया था। रूस की इस क्रान्ति से भी भारत के राष्ट्रीय आन्दोलन को बड़ा प्रोत्साहन मिला। युद्धकालीन कठिनाइयों से लाभ उठाने के लिये भारत में एक "ग़दर पार्टी" का संगठन हो गया। श्रीमती एनी बेसन्ट का "होम रूल आन्दोलन" भी गतिमान् होता जा रहा था और इन्हें बन्दी बनाने के कारण देश में बड़ी उत्तेजना फैल रही थी। लखनऊ के हिन्दू-मुस्लिम समझौते तथा काँग्रेस के उग्र एवं नम्र दलों की एकता ने राष्ट्रीय आन्दोलन में नव-जीवन का संचार कर दिया था।

रौलट-ऐक्ट-सत्याग्रह—युद्ध काल में क्रान्तिकारी कार्यों को रोकने के लिये 'भारत-रक्षा-नियम" (Defence of India Rules) का निर्माण किया गया था। यद्यपि भारत सरकार ने यह वचन दिया था कि राजनैतिक आन्दोलन के दमन में इन नियमों का प्रयोग नहीं किया जायगा फिर भी कई बार इनका दुरुपयोग किया गया। चूँकि युद्ध में भारतीयों ने असाधारण सहायता प्रदान की थी और सुधारों की घोषणा कर दी गई थी। अतएव ऐसी आशा की जाती थी कि जनता की साधारण स्वतन्त्रता में विघ्न उत्पन्न करने वाले "भारत-रक्षा-नियमों" को समाप्त कर दिया जायगा परन्तु भारतीयों की यह आशा एक दुराशा मात्र सिद्ध हुई। इसके विपरीत इङ्गलैण्ड के न्यायाधीश रौलट की अध्यक्षता में इस प्रश्न पर विचार करने के लिये एक समिति बना दी गई। इस समिति ने गुप्त रूप से अन्वेषण करके यह निश्चित किया कि भारतवर्ष में अब भी क्रान्तिकारियों का प्राबल्य है। अतएव बिना किसी ऐसे नियम के हिंसा का रोकना असम्भव है। समिति

की इस रिपोर्ट के आधार पर सरकार ने कौंसिल में दो विधेयक उपस्थित किये। जिनमें पुलिस को बड़े अधिकार दिये गये और राजद्रोह सम्बन्धी अभियोगों को अत्यन्त द्रुतगति से निर्णय करने के नियम बनाये गये। गाँधी जी ने इनका विरोध किया और इन्हें "न्याय तथा स्वतन्त्रता के सिद्धान्तों के विरुद्ध और मनुष्यों के उन प्रारम्भिक अधिकारों को, जिन पर जनसमाज तथा राज्य अवलम्बित है, नष्ट करने वाला" बतलाया। गाँधी जी ने इन नियमों के विरोध में सत्याग्रह कर लेने का निश्चय कर लिया। सत्याग्रह की प्रतिज्ञा में कहा गया कि हम लोग ऐसे नियमों का पालन नहीं करेंगे और इस संघर्ष में "धर्मपूर्वक सत्य का आश्रय ग्रहण करके किसी के जीवन अथवा सम्पत्ति पर आघात न करेंगे।" दिल्ली में ३० मार्च १९१९ को और सम्पूर्ण देश में ६ अप्रैल को हड़ताल हुई। दिल्ली में दंगा हो जाने पर गोलियाँ भी चलीं।

पंजाब में अशान्ति—इन दिनों पंजाब में सर माइकेल ओडायर लेफ्टिनेन्ट गवर्नर था। वह बड़ा ही उद्दण्ड प्रकृति का व्यक्ति था और सुधारों से उसे लेशमात्र सहानुभूति न थी। उसने सैनिकों के भर्ती करने में बड़ी कठोरता दिखलाई। युद्ध के लिये ऋण लेने में भी बड़ी कठोरता का व्यवहार किया गया। युद्ध के कारण मँहगाई बहुत बढ़ गई थी। इससे जनता में बड़ा असन्तोष फैल रहा था। चूँकि टर्की तथा इङ्गलैण्ड में शत्रुता हो गई थी इससे मुसलमान अँग्रेजों से अप्रसन्न हो गये थे। इसी समय गाँधी जी ने अपना सत्याग्रह आन्दोलन भी आरम्भ कर दिया था। इसका भी पंजाब पर प्रभाव पड़ा। ओडायर ने अपना दमन-कुचक्र पंजाब में आरम्भ कर दिया। उसने राष्ट्रीय पत्रों का पंजाब में जाना बन्द कर दिया और कई नेताओं के साथ अनुचित व्यवहार किया। ६ अप्रैल १९१९ की हड़ताल में कोई उपद्रव न होने पर भी उसने क्रुद्ध होकर अमृतसर के नेताओं को निर्वासित कर दिया। उसने गाँधी जी को भी पंजाब में प्रवेश करने से रोक दिया। इस प्रकार पंजाब में अशान्ति का वातावरण उपस्थित हो गया था।

जलियान वाला बाग दुर्घटना—१० अप्रैल १९१९ को पंजाब के दो नेताओं को अमृतसर से हटा कर काँगड़ा ज़िले में धर्मशाला नामक स्थान में ले जाकर रक्खा गया। सरकार के इस कार्य से अमृतसर में बड़ी सनसनी फैली और जनता का एक समूह डेप्युटी कमिश्नर के निवास स्थान की ओर बढ़ा। इस जन-समूह को आगे बढ़ने से रोकने के लिये सैनिकों ने गोली चला दी जिससे बहुत से व्यक्तियों की मृत्यु हो गई। इस पर जनता उन्मत्त हो गई। पाँच यूरोपियनों की हत्या कर दी गई, एक अँग्रेज़ स्त्री के साथ अशिष्टता का व्यवहार किया गया, दो यूरोपीय बैंकों को लूट लिया गया और कुछ सार्वजनिक भवनों में आग लगा दी गई। जनरल डायर ने जिसे स्थिति के सँभालने की आज्ञा दी गई थी चार अथवा इससे अधिक व्यक्तियों को एक स्थान पर एकत्रित होने का निषेध कर दिया। १३ अप्रैल को अमृतसर में जलियानवाला बाग़ में एक सभा करने का आयोजन किया गया। इस सभा में सहस्रों व्यक्ति उपस्थित थे जिनमें अबोध बालक तथा अबला स्त्रियाँ भी थीं। सभा का स्थान चारों ओर से घिरा था और उसमें केवल एक ही द्वार था। डायर ने जनता को बिना चेतावनी दिये गोलियाँ चलवा दीं और दस मिनट तक निरन्तर अग्नि-वर्षा की गई। इस नर-मेध में ३७९ व्यक्तियों का संहार हुआ और सहस्रों से अधिक घायल हुये। पाँच ज़िलों में जिनमें अमृतसर भी था सैनिक नियम की घोषणा कर दी गई। जनता के साथ जिसमें स्कूलों के विद्यार्थी भी थे बड़ा ही नृशंस तथा घृणित व्यवहार किया गया और उन्हें बड़ी ही नीचता पूर्वक अपमानित किया गया। १९ अप्रैल को डायर ने अमृतसर में "रेंगने की आज्ञा" निकाली। इस आज्ञानुसार यदि कोई भारतीय उस सड़क से जाता जहाँ अँग्रेज स्त्री के साथ अशिष्टता का व्यवहार किया गया था तो उसे भूमि पर रेंग कर जाना पड़ता। परन्तु २६ अप्रैल को

पंजाब सरकार के आदेश से यह आज्ञा वापस ले ली गई। सैनिक पदाधिकारियों तथा पञ्जाब के लेफ़्टिनेन्ट गवर्नर ने डायर के इस घृणित कार्य का अनुमोदन किया। अक्तूबर के महीने में भारत सरकार ने पञ्जाब की दुर्घटनाओं की जाँच के लिये हन्टर कमेटी की नियुक्ति की। इस कमेटी की रिपोर्ट मार्च १९२० में तैयार हो गई। कांग्रेस ने भी नवम्बर १९१९ में अपनी एक कमेटी नियुक्त की जिसके सदस्य गाँधी जी भी थे। फ़रवरी १९२० में इस कमेटी की रिपोर्ट तैयार हो गई। सरकारी कमेटी के अधिकांश सदस्यों ने सैनिक शासन की और विशेषकर डायर के जलियानवाला बाग के कुकृत्य की घोर निन्दा की। डायर ने जनता को बिना चेतावनी दिये गोली चलवाई थी; उसने जनता को आतंकित करने के लिये अत्यधिक समय तक गोली चलवाई थी; उसने घायलों की चिन्ता न की क्योंकि उसमें मनुष्यता न थी। इसके अतिरिक्त उसकी "रेंगने की आज्ञा" अत्यन्त उद्दण्ड तथा अपमानजनक थी। भारत सरकार ने कमेटी के बहुमत की रिपोर्ट पर कार्य किया और डायर को पदच्युत कर दिया। गृह-सरकार ने भी भारत-सरकार के इस कार्य का समर्थन किया। कांग्रेस इससे भी कड़ी कार्यवाही चाहती थी। उसकी इच्छा थी कि पञ्जाब का लेफ्टिनेन्ट गवर्नर सर माइकल ओडायर भी जिसने डायर के कुकृत्यों का समर्थन किया था पदच्युत किया जाय और वाइसराय वापस बुला लिया जाय। अमृतसर की दुर्घटना के फल-स्वरूप माण्ट-फोर्ड सुधारों का विरोध और अधिक बढ़ गया।

ख़िलाफ़त—टर्की के विरुद्ध युद्ध छिड़ने पर इङ्गलैण्ड के प्रधान-मन्त्री की ओर से भारत के मुसलमानों को यह आश्वासन दिया गया था कि ख़लीफ़ा के मान तथा प्रतिष्ठा का सदैव ध्यान रक्खा जायगा और उसके पवित्र स्थान की रक्षा की जायगी। परन्तु सन्धि करने के समय अँग्रेजों ने अपने इस आश्वासन पर बिल्कुल ध्यान न दिया और ख़लीफ़ा से अत्यन्त अपमानजनक शर्तों को स्वीकार करने के लिये कहा गया। इस विश्वासघात से भारत के मुसलमानों में बड़ा असन्तोष फैला और आन्दोलन करने के लिये "ख़िलाफ़त कमेटी" का निर्माण कर दिया गया। सिन्ध तथा पश्चिमोत्तर सीमा प्रान्त के लगभग अठारह सहस्र मुसलमानों ने भारत छोड़ कर अफ़ग़ानिस्तान चले जाने का निश्चय किया इस "हिजरत" में यात्रियों को बड़ा कष्ट उठाना पड़ा। अफ़ग़ानिस्तान की सरकार ने अपने देश में इनके प्रवेश का निषेध कर दिया। अतएव विवश होकर इन्हें प्रत्यागमन करना पड़ा। मार्ग के कष्ट से अनेक व्यक्तियों की मृत्यु हो गई। अन्त में यह आयोजना समाप्त कर दी गई और भारतवर्ष में ही सङ्गठित रूप से आन्दोलन करने का निश्चय किया गया। गाँधी जी ने मुसलमानों के साथ सहानुभूति प्रकट की और खिलाफत को अपनाया। इस प्रकार हिन्दुओं का और विशेषकर कांग्रेस का पूर्ण सहयोग खिलाफत करने वालों को प्राप्त हुआ। इसका परिणाम यह हुआ कि हिन्दुओं तथा मुसलमानों में अद्भुत एकता का संचार हुआ यद्यपि यह एकता क्षणिक सिद्ध हुई।

असहयोग आन्दोलन—पंजाब की दुर्घटनाओं तथा खिलाफत के फल-स्वरूप असहयोग आन्दोलन आरम्भ हो गया। सितम्बर १९२० में कलकत्ते में कांग्रेस का एक विशेष अधिवेशन किया गया जिसमें गाँधी जी की परामर्श से यह निश्चित किया गया कि स्वराज्य प्राप्त करने के उद्देश्य से सरकारी उपाधियों का परित्याग कर दिया जाय, अवैतनिक पदों से त्याग-पत्र दे दिया जाय, सरकारी दरबारों तथा उत्सवों में भाग न लिया जाय, सरकारी अथवा सरकार से सहायता पाने वाले स्कूलों तथा कालेजों से लड़कों को हटा लिया जाय, उनकी शिक्षा के लिये राष्ट्रीय शिक्षालयों की व्यवस्था की जाय, धीरे-धीरे सरकारी न्यायालयों में जाना बन्द कर दिया जाय और उनके स्थान पर पंचायतों की स्थापना की जाय, नई कौंसिलों के निर्वाचन में भाग न लिया जाय और सूत की कताई तथा कपड़े की बुनाई का खूब प्रचार किया जाय। दिसम्बर में नागपुर की

कांग्रेस में इसका अनुमोदन किया गया और इसे अहिंसात्मक बनाये रखने पर बड़ा बल दिया गया। कांग्रेस का पुनः संगठन भी किया गया। निरन्तर कांग्रेस के कार्य का संचालन करने के लिये एक "कार्यकारिणी समिति" (Working Committee) का निर्माण किया गया और "न्याय-युक्त तथा शान्त उपायों द्वारा स्वराज्य की प्राप्ति" कांग्रेस का ध्येय बनाया गया। अगस्त १९२० में दुर्भाग्यवश लोकमान्य तिलक का परलोकवास हो गया। उनकी स्मृति में तिलक स्मारक कोष" की स्थापना की गई और सम्पूर्ण देश में असहयोग आन्दोलन की वह्नि प्रज्ज्वलित हो उठी। सहस्रों विद्यार्थियों ने सरकार से सम्बन्ध रखने वाली शैक्षण संस्थाओं को त्याग दिया। अनेक राष्ट्रीय विद्यालयों की स्थापना की गई। कौंसिलों के बहिष्कार में भी आशातीत सफलता प्राप्त हुई। उदार दलीय (Liberal) नेताओं के अतिरिक्त जो असहयोग की नीति से सहमत न थे। अन्य कोई नेता कौंसिलों में न गया। खद्दर राष्ट्रीय वस्त्र बन गया और चर्खा का प्रचार जोरों से आरम्भ हुआ। नेताओं ने देश का भ्रमण किया और गाँवों में भी कांग्रेस की शाखायें स्थापित की गईं। हिन्दू-मुस्लिम एकता से आन्दोलन में बड़ा योग मिला।

अध्याय १६

लार्ड रीडिङ्ग १६२१-२६

लार्ड रीडिङ्ग का परिचय—रूफस डेनियल आइजक का जन्म १८६० में हुआ था। वह एक यहूदी था और एक साधारण कुल में उसका जन्म हुआ था। वह एक अत्यन्त असाधारण प्रतिभा का व्यक्ति था। वह बड़ा ही योग्य बैरिस्टर था। १९१४ में उसे बैरन की और १९२६ में मारक्विस की उपाधियाँ प्राप्त हुई। रीडिंग के क्षेत्र से वह पार्लियामेण्ट का सदस्य उदार दल की ओर से निर्वाचित किया गया था। १९०४ से १९१३ तक वह पार्लियामेण्ट का सदस्य था। १९१३ में वह इँगलैण्ड के लार्ड चीफ़ जस्टिस के पद पर नियुक्त किया गया और १९२१ तक इस पद पर आसीन रहा। अपने उदार विचारों के कारण वह भारत के अत्यन्त अशान्तिमय वातावरण के समय अप्रैल १९२१ में भारत का गवर्नर-जनरल तथा वाइसराय नियुक्त कर दिया गया। अप्रैल १९२६ में वह अपने देश को लौट गया। १९३१ में वह विदेशी-सचिव नियुक्त किया गया और १९३५ में उसका परलोकवास हो गया।

मोपला विद्रोह—मद्रास के मलाबार प्रान्त में बसे हुये अरब लोग मोपला कहलाते थे। वे बड़े कट्टर मुसलमान थे और अशिक्षा तथा अज्ञानता का उनमें प्रकोप था। गत शताब्दी में उनके दो विद्रोह हो चुके थे। अगस्त १९२१ में सरकार को फिर इनके विद्रोह का सामना करना पड़ा। पुलिस ने तीरूरङ्गदी में कुछ मोपला अपराधियों को क़ैद कर लिया। फलतः मोपलों ने पुलिस पर आक्रमण कर दिया। यह लोग खिलाफत आन्दोलन से भी कुछ प्रभावित हुये थे। यद्यपि यह उसके वास्तविक अर्थ को नहीं समझते थे। थोड़े ही दिनों में विद्रोहियों ने तीन तालुकों पर अपना अधिकार स्थापित कर लिया। इन लोगों ने कुछ यूरोपियनों की हत्या कर दी और हिन्दुओं के साथ घोर अत्याचार करना आरम्भ किया। अनेक हिन्दुओं को बलपूर्वक मुसलमान बना लिया गया और उनकी स्त्रियों को अपमानित किया गया। ऐसी स्थिति में सरकार ने सैनिक शासन की घोषणा कर दी। विद्रोहियों से कई स्थानों पर संघर्ष हुआ। अन्त में विद्रोहियों ने छापामार रणनीति का अनुसरण किया फिर भी वे परास्त कर दिये गये। बहुत से मोपला निर्वासित कर दिये गये। ९७ मोपला क़ैदी मालगाड़ी के एक डिब्बे में भर दिये गये जिनमें से ७० दम घुटने से मर गये। फरवरी १९२२ तक मोपलों के क्षेत्र में सैनिक शासन चलता रहा।

राष्ट्रीय आन्दोलन की प्रगति—चूँकि लार्ड रीडिङ्ग इँगलैंड का प्रधान न्यायाधीश रह चुका था अतएव भारतीयों को उससे न्याय की बड़ी आशा थी। लार्ड रीडिङ्ग ने भी भारतीयों के साथ सहानुभूति प्रकट करना आरम्भ किया। भारत आते ही वह जलियानवाला गया और प्रधान नेताओं से बात-चीत की। जिसका जनता पर बहुत अच्छा प्रभाव पड़ा। उसने जनता का ध्यान दूसरी ओर आकृष्ट करने के लिये प्रिन्स आव वेल्स को भारत आने के लिये आमन्त्रित कर दिया परन्तु इस समय का वातावरण इसके विरुद्ध था। इस समय राष्ट्रीय नेता "सविनय अवज्ञा आन्दोलन" की तैयारियाँ कर रहे थे। देश के विभिन्न भागों में राष्ट्रीय स्वयं सेवक भर्ती किये जा रहे थे। विलायती वस्त्र के पूर्ण बहिष्कार तथा खद्दर के प्रचार पर बल दिया जा रहा था। अछूतोद्धार तथा मादक द्रव्यों के व्यवहार को रोकने का भगीरथ प्रयत्न किया जा रहा था। इस वातावरण में युवराज का

स्वागत असम्भव था। कांग्रेस ने युवराज के आगमन को एक राजनैतिक चाल समझ कर उसके बहिष्कार करने का निश्चय कर लिया परन्तु यह भी स्पष्ट कर दिया कि "भारतवर्ष को युवराज के साथ कोई व्यक्तिगत द्वेष नहीं है।" वाइसराय ने समझौते का प्रयत्न किया परन्तु उसके सभी प्रयत्न निष्फल सिद्ध हुये। बम्बई में विलायती वस्त्रों की होली जला कर युवराज का स्वागत किया गया। इस अवसर पर कुछ उपद्रव भी हो गया जिसमें कई व्यक्तियों की मृत्यु हो गई। इससे गान्धी जी अत्यन्त खिन्न हुये और ६ दिन का उपवास करके इसका प्रायश्चित किया। देश के जिस किसी भाग में युवराज का समागम हुआ वहीं पर हड़तालों द्वारा उसका स्वागत किया गया। इससे लार्ड रीडिंग बड़ा क्षुब्ध हुआ। अब उसने अपनी नीति बदल दी और असहयोग आन्दोलन के दमन करने का उसने दृढ़-संकल्प कर लिया।

सरकार का दमन कुचक्र—लार्ड रीडिङ्ग के भारत आने के पूर्व ही सरकार का दमन कुचक्र आरम्भ हो गया था। अब वाइसराय का प्रोत्साहन पाने से उसका बड़ी कठोरता के साथ प्रयोग आरम्भ कर दिया गया। उत्तर-प्रदेश में असहयोग आन्दोलन क्रान्तिकारी घोषित कर दिया गया था और बिहार में स्वयं-सेवकों के साथ घोर अत्याचार किया जा रहा था। स्थान-स्थान पर सरकारी पदाधिकारी "अमन सभायें" स्थापित कर रहे थे और इन सभाओं में असहयोगियों को बदनाम करने का प्रयत्न किया जा रहा था। जिस किसी स्थान में उपद्रव का प्रकोप हो जाता था उसका दोषारोपण असहयोगियों पर ही किया जाता था। सहस्रों असहयोगी बड़े-बड़े नेताओं के साथ कारागार में डाल दिये गये।

चौरीचौरा दुर्घटना—गान्धी जी असहयोग आन्दोलन को अहिंसात्मक रूप से चलाना चाहते थे परन्तु उनके भगीरथ प्रयास करने पर भी आन्दोलन अहिंसात्मक न रह सका क्योंकि इसके लिये बड़े आत्म-बल, आत्म-संयम धैर्य तथा सहनशीलता की आवश्यकता थी परन्तु दुर्भाग्यवश जन-साधारण में इन सद्गुणों का सर्वथा अभाव रहता है। सरकार की दमन-नीति से भी जनता का धैर्य भंग हो रहा था। फलतः फरवरी १९२२ में गोरखपूर के जिले में चौरी-चौरा के थाने में आग लगा दी गई और थानेदार तथा सिपाहियों को मिलाकर कुल २२ आदमियों की हत्या कर दी गई।

असहयोग स्थगन—चौरी-चौरा की दुर्घटना से गाँधी जी को बड़ी पीड़ा हुई। अब उनका यह दृढ़-विश्वास हो गया कि देश अभी सविनय अवज्ञा आन्दोलन के लिये उद्यत नहीं है। फलतः बारडोली में जहाँ अत्यन्त अदम्य उत्साह के साथ सत्याग्रह की तैयारियां की जा रही थीं काँग्रेस कार्य समिति की बैठक की गई। इस बैठक में "सविनय अवज्ञा आन्दोलन" को स्थगित करके खद्दर के प्रचार, अछूतोद्धार, मादक द्रव्य निषेध, राष्ट्रीय विद्यालयों तथा पञ्चायतों के स्थापित करने और काँग्रेस के सदस्यों की संख्या में वृद्धि करने का निश्चय किया गया। गाँधी जी के इस निश्चय से देश के अनेक नेताओं को बड़ी निराशा हुई। जनता का भी साहस भंग हो गया। इस निश्चय से गाँधी जी की लोकप्रियता पर भी बड़ा धक्का लगा परन्तु वे अपने संकल्प पर दृढ़ रहे। अब सरकार का भी प्रहार गाँधी जी के ऊपर आरम्भ हो गया। कुछ तीव्र लेखों के लिखने के कारण मार्च १९२२ में गाँधी जी को बन्दी बना लिया गया और उन पर अभियोग चलाने की आज्ञा दी गई। गाँधी जी पर सरकार के प्रति घृणा उत्पन्न करने की चेष्टा करने का अपराध लगाया गया और उन्हें ६ वर्ष के लिये साधारण करावास का दण्ड दे दिया गया।

स्वराज्य दल—गाँधी जी की जेल-यात्रा के फल-स्वरूप असहयोग आन्दोलन अत्यन्त शिथिल पड़ गया। विद्यार्थी पुनः सरकारी स्कूलों तथा कालेजों में प्रवेश करने लगे, राष्ट्रीय

संस्थायें छिन्न-भिन्न होने लगी, खद्दर का प्रचार अन्द पड़ गया, हिन्दुओं तथा मुसलमानों में भी वैमनस्य आरम्भ हो गया और गाँधी जी के कार्य-क्रम में अधिकांश जनता की श्रद्धा समाप्त हो गई। इन परिस्थितियों में काँग्रेस की ओर से एक "सविनय अवज्ञा समिति" नियुक्त की गई जिसने सम्पूर्ण देश का भ्रमण करके तत्कालीन परिस्थितियों में "सविनय अवज्ञा" को सर्वथा अनुचित बतलाया और कौंसिलों में प्रवेश करने की परामर्श दी। फलतः १९२२ में गया की काँग्रेस में "स्वराज्य दल" की स्थापना की गई जिसने कौंसिलों में प्रवेश करके सरकार के प्रत्येक कार्य में बाधा उत्पन्न करने का निश्चय कर लिया। श्री चितरञ्जन दास ने जिन्होंने असहयोग आन्दोलन के समय बैरिस्ट्री त्याग दी थी और कारावास में रह चुके थे इस दल का नेतृत्व ग्रहण किया। गाँधी जी की नीति के समर्थक इस दल के साथ सहयोग करने के लिये उद्यत न हुये। इस प्रकार काँग्रेस में दो दल हो गये, एक कौंसिलवादियों का और दूसरा असहयोगियों का। इन दोनों दलों में बहुत दिनों तक मनोमालिन्य चलता रहा। १९२३ के चुनाव में स्वराज्य दल ने भाग लिया और आश्चर्यजनक सफलता प्राप्त की। इस सफलता से स्वराज्य दल का प्रभाव बहुत बढ़ गया। १९२४ में रुग्णावस्था के कारण सरकार ने गाँधी जी को कारागार से मुक्त कर दिया। गाँधी जी ने स्पष्ट रूप से देख लिया कि कौंसिलों का बहिष्कार सम्भव नहीं है। अतएव राजनीति से वे कुछ काल के लिये अलग हो गये और हिन्दू-मुस्लिम एकता के स्थापित करने, अछूतोद्धार तथा खद्दर के प्रचार के कार्य में संलग्न हो गये। खद्दर धारण करना तथा सूत का कातना काँग्रेस के सदस्यों के लिये अनिवार्य कर दिया गया। सफलता न मिलने पर कातने का नियम हटा दिया गया परन्तु खद्दर धारण करने का नियम पूर्ववत् बना रहा। कताई का प्रचार करने के लिये गाँधी जी ने "अखिल भारतीय चर्खा संघ" की स्थापना की। १९२५ में काँग्रेस ने "स्वराज्य दल" की नीति को स्वीकार कर लिया। स्वराज्य दल ने कौंसिलों में बड़ी चहल-पहल उत्पन्न कर दी और अड़ङ्गे की नीति का अनुसरण सरकार के कार्य में बाधा उत्पन्न करना आरंभ किया। कालान्तर में इस दल की नीति में परिवर्तन आरम्भ हो गया और प्रत्येक कार्य में बाधा उत्पन्न करने के स्थान पर इसने प्रजाहित के कार्य में सरकार के साथ सहयोग भी करना आरंभ कर दिया। १९२४ में चितरञ्जनदास का परलोकवास हो गया। इस दुर्घटना का "स्वराज्य दल" पर बड़ा धक्का लगा। हिन्दू-मुस्लिम झगड़े का भी इस पर प्रभाव पड़ा। नीति-परिवर्तन का भी इस दल पर बड़ा धक्का लगा। इस दल में मत-भेद भी आरम्भ हो गया। अतएव १९२६ के चुनाव में इस दल को उतनी सफलता न मिली जितनी आशा की जाती थी।

खिलाफत का अन्त—१९२४ में टर्की में प्रजातन्त्र शासन की स्थापना हो गई। टर्की का सुल्तान गद्दी से हटा दिया गया और उसके स्थान पर मुस्तफ़ा कमाल पाशा राष्ट्रपति बना दिया गया। इन घटनाओं के पूर्व ही लोसान की सन्धि हो गई थी जिसमें यूरोप के राष्ट्रों ने टर्की की स्वतन्त्रता को स्वीकार कर लिया था। टर्की का यह कार्य भारतीय मुसलमानों को पसन्द न आया। खिलाफ़त की प्राचीन संस्था को बनाये रखने के प्रयत्न किये गये परन्तु ये सभी प्रयत्न निष्फल सिद्ध हुये। इस प्रकार खिलाफ़त का अपने आप अन्त हो गया।

हिन्दू-मुस्लिम संघर्ष—खिलाफ़त के अवसान के साथ-साथ हिन्दू-मुस्लिम-एकता का भी अन्त हो गया। १९२३ में दोनों जातियों का वैमनस्य इतना बढ़ गया कि साम्प्रदायिक दंगों का विस्फोट आरम्भ हो गया। १९२४ में सहारनपूर जिले में मुहर्रम के अवसर पर बड़ा भयानक साम्प्रदायिक दंगा हो गया। उत्तरी भारत के कई अन्य स्थानों में भी इसी प्रकार के विस्फोट हुये। सितम्बर १९२४ में सीमा प्रान्त के कोहाट नगर में बड़ा भयानक उपद्रव खड़ा हो गया। एक साधारण से झगड़े पर सीमा-प्रान्त के मुसल-

मानों ने हिन्दू मुहल्लों में आग लगा दी, उनकी दूकानें लूट लीं और अनेक व्यक्तियों की हत्या कर दी। बहुत से हिन्दू कोहाट से रावलपिंडी भाग आये। गुलबर्गा तथा लखनऊ में भी उपद्रव आरम्भ हो गये। कोहाट की दुर्घटना से गाँधी जी को बड़ी पीड़ा पहुँची और दिल्ली में उन्होंने २१ दिन का उपवास किया। इसी समय दिल्ली में एक एकता सम्मेलन हुआ जिसमें हिन्दू, मुसलमान, ईसाई, पारसी तथा सिक्ख सभी सम्प्रदायों के प्रतिनिधि सम्मिलित हुये। इस सम्मेलन में धार्मिक सहिष्णुता पर बड़ा बल दिया गया परन्तु क्रियात्मक रूप में इस सम्मेलन से कोई लाभ न हुआ और वैमनस्य पूर्ववत् बना रहा। काँग्रेस के भी इन झगड़ों के दूर करने के सभी प्रयत्न निष्फल सिद्ध हुये। साम्प्रदायिक झगड़ों का प्रकोप उत्तरोत्तर बढ़ता ही गया। सरकार पूर्ण रूप से उदासीन रही। १९२६ में गुरुकुल काँगड़ी के संस्थापक श्री श्रद्धानन्द जी का वध कर दिया गया। इलाहाबाद तथा कलकत्ते में भी साम्प्रदायिक दंगे हुये।

सरकार की नीति— असहयोग आन्दोलन के काल में नव निर्मित कौंसिलों में प्रजा के प्रतिनिधियों का कुछ ध्यान रक्खा गया और कुछ दमनकारी नियमों को समाप्त कर दिया गया तथा समाचारपत्रों को कुछ अधिक स्वतन्त्रता देने का प्रयत्न किया गया परन्तु असहयोग आन्दोलन के मन्द पड़ जाने पर सरकार की नीति फिर परिवर्तित हो गई। असेम्बली में प्रजा के प्रतिनिधियों के विरोध करने पर भी "देशी नरेश रक्षक क़ानून" को गवर्नर-जनरल ने अपने विशेषाधिकार से पारित कर दिया और नमक-कर भी बढ़ा दिया गया। प्रान्तों में उदार दल के मन्त्रियों का कार्य करना असम्भव कर दिया गया जिससे विवश होकर उन्हें त्याग-पत्र दे देना पड़ा। मज़दूर दल के शासन काल में भी जिससे भारतीयों को बड़ी आशा थी बंगाल में क्रान्तिकारी आन्दोलन का दमन करने के लिये "बंगाल अध्यादेश" (Bengal Ordinance) पास किया गया। इस नियम के अनुसार किसी पर षड्यन्त्र करने का सन्देह होने पर ही बिना अभियोग चलाये हुये उसे कारागार में डालने अथवा निर्वासित करने का अधिकार बंगाल सरकार को दे दिया गया। सभी स्थानों पर विशेषाधिकारों का प्रयोग किया जा रहा था। सरकार की इस दमन नीति से जनता को पूर्ण विश्वास हो गया कि सुधारों से सरकार के स्वेच्छाचारी तथा निरंकुश शासन का अन्त नहीं हुआ है। १९१९ के विधान में यह व्यवस्था की गई थी कि प्रत्येक दस वर्ष के उपरान्त विधान के क्रियात्मक स्वरूप पर विचार करके उसमें आवश्यक परिवर्तन किये जायेंगे परन्तु परिस्थितियों का ध्यान रख कर दस वर्ष के पूर्व ही इस पर विचार करने के लिये बल दिया गया। अन्त में सुधार-क़ानून के अन्तर्गत और क्या परिवर्तन हो सकते हैं केवल इस पर विचार करने के लिये १९२४ में मुडीमैन की अध्यक्षता में एक समिति निर्मित की गई। इस समिति के समक्ष जो प्रमाण उपस्थित किये गये उनसे यह स्पष्ट हो गया कि द्वैध शासन व्यवस्था न केवल असफल सिद्ध हुई है वरन् भविष्य में भी उससे देश का किसी भी प्रकार का लाभ होने की सम्भावना नहीं है। गवर्नर तथा उसकी कार्यकारिणी कौंसिल मन्त्रियों के साथ सहयोग नहीं करते थे और उनमें सद्भावना का सर्वथा अभाव था। बहुत से प्रान्तों में मन्त्रियों का सामूहिक उत्तरदायित्व न था और प्रत्येक मन्त्री अलग-अलग उत्तरदायी समझा जाता था। विषयों का जिस प्रकार विभाजन किया गया था वह वांछनीय न था। शासन के सभी विभागों का एक दूसरे से सम्बन्ध रहता है। अतएव सम्पूर्ण शासन का एक ही उत्तरदायित्व हो सकता है। चूँकि "अर्थ-विभाग" कार्यकारिणी कौंसिल के एक सदस्य के हाथ में था अतएव मन्त्रियों के कार्य में बड़ी बाधा उत्पन्न होती थी। यद्यपि मन्त्री लोग जनता के प्रति उत्तरदायी समझे जाते थे परन्तु भारत-सचिव तथा गवर्नर का उन पर पूरा नियन्त्रण रहता था। मुडीमैन समिति की जो रिपोर्ट प्रकाशित की गई उसमें समिति के अधिकांश सदस्यों ने यही विचार

प्रकट किया कि राजनैतिक अशान्ति के कारण नवीन शासन-व्यवस्था से पूर्ण लाभ नहीं उठाया जा सका। अतएव १९१९ के विधान के अन्तर्गत ही कुछ परिवर्तन करके लाभ उठाया जा सकता है। इसके विपरीत समिति के तीन भारतीय सदस्यों की यह धारणा थी कि द्वैध शासन-व्यवस्था में लाभ की कोई सम्भावना नहीं है। अतएव "रायल कमीशन" द्वारा पुनः विचार कराना चाहिये और इस व्यवस्था का यथासम्भव अन्त कर देना ही अधिक हितकर होगा।

अकाली आन्दोलन—सिक्खों के बहुत से गुरुद्वारे हिन्दू महन्तों के अनुशासन तथा नियन्त्रण में थे जिनका प्रबन्ध सन्तोषजनक नहीं था। इनका सुधार करने के लिये एक आन्दोलन आरम्भ कर दिया गया जिसमें अकालियों ने बड़ी उत्तेजना तथा साहस के साथ काम किया। इस सम्बन्ध में सरकार ने जो प्रस्ताव पास किया वह अकालियों के लिये मान्य न हुआ और उन लोगों ने सत्याग्रह द्वारा अपने उद्देश्य के प्राप्त करने का निश्चय कर लिया। फलतः १९२० के अन्तिम चरण में "शिरोमणि गुरुद्वारा प्रबन्धक समिति" की नियुक्ति की गई जिसके आदेशानुसार सिक्खों ने गुरुद्वारों पर अपना अधिकार स्थापित करना आरम्भ कर दिया। इसकी प्रतिक्रिया अत्यन्त भयानक सिद्ध हुई। फरवरी १९२१ में ननकाना के महन्त ने १३० अकालियों की हत्या करवा दी। इस दुर्घटना से सिक्खों में बड़ा आतंक छा गया। सिक्खों का पक्ष प्रबल था। वे न्यायालय की शरण भी नहीं ले सकते थे। अतएव सरकार को मध्यस्थता करके समझौता करा देना चाहिये था परन्तु ऐसा न करके आन्दोलन को दमन करना आरम्भ कर दिया गया। कई स्थानों पर सरकार ने सिक्खों के साथ अत्याचार किया और अक्तूबर १९२३ में "गुरुद्वारा प्रबन्ध समिति" को ग़ैर-कानूनी घोषित कर दिया गया और उसके सभी सदस्यों को कारागार में डाल दिया गया। सिक्खों का उत्साह इससे भंग न हुआ। उन्होंने फिर से एक नई प्रबन्धक समिति का निर्माण कर लिया और प्रतिदिन २५ व्यक्तियों का एक जत्था जेल-यात्रा करता रहा। फ़रवरी १९२४ में अमृतसर से ५०० व्यक्तियों के एक "शहीदी जत्थे" ने पैदल प्रस्थान कर दिया। सिक्खों पर गोलियाँ चलाई गई जिसमें अनेकों के प्राण गये। सिक्खों की दूसरी प्रबन्धक समिति के सदस्य भी कारागार में डाल दिये गये और कृपाण बाँधने पर प्रतिबन्ध लगा दिया गया। सरकार का सैनिक बल अधिक अंश में सिक्खों पर निर्भर है। अतएव उनको असन्तुष्ट रखना उचित न समझा गया और सरकार ने उनसे समझौता करने का प्रयत्न आरम्भ कर दिया। फलतः जुलाई १९२५ में पंजाब कौंसिल में "गुरुद्वारा क़ानून" पास किया गया जिसके अनुसार यथा-सम्भव गुरुद्वारों का प्रबन्ध सिक्खों को हस्तान्तरित कर दिया गया। जो सिक्ख कारागार में डाल दिये गये थे वे भी धीरे-धीरे मुक्त कर दिये गये।

संरक्षित राज्य—लार्ड रीडिंग ने देशी राज्यों के साथ जो व्यवहार किया उससे दो बातें स्पष्ट हो गईं। पहिली बात तो यह थी कि बृटिश सरकार किसी भी देशी राज्य के आन्तरिक मामले में हस्तक्षेप कर सकती है और दूसरी बात यह थी कि कोई भी देशी राज्य बृटिश सरकार के साथ समानकक्षी के रूप से बात-चीत नहीं कर सकता। १९२५ में नाभा राज्य में तथा १९२६ में इन्दौर राज्य में हस्तक्षेप करके लार्ड रीडिंग ने इस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया कि सर्व-प्रभुत्व-सम्पन्न शक्ति होने के कारण बृटिश सरकार किसी भी संरक्षित राज्य के आन्तरिक मामले में हस्तक्षेप कर सकती है। बरार के सम्बन्ध में निज़ाम ने यह दावा किया कि वह बृटिश सरकार का समकक्षी है और उसके आन्तरिक मामले में बृटिश सरकार को हस्तक्षेप करने का कोई अधिकार नहीं है। लार्ड रीडिंग ने निज़ाम के इन दोनों अधिकारों को अस्वीकार कर दिया और मार्च १९२६ में अपने एक

वक्तव्य द्वारा यह स्पष्ट कर दिया कि भारत में ब्रिटिश सम्राट् की सत्ता सर्व-प्रधान है और कोई भी देशी राज्य उससे समानता का अधिकार नहीं पा सकता और ब्रिटिश सरकार किसी भी देशी राज्य के आन्तरिक मामले में हस्तक्षेप कर सकती है।

चुंगी बोर्ड—१९२१-२२ में सर इब्राहीम रहीमतुल्ला की अध्यक्षता में एक आर्थिक आयोग की नियुक्ति की गई थी। इस आयोग ने संरक्षण की सिफ़ारिश करते हुये एक चुंगी मण्डल (*Tariff Board*) के नियुक्त करने पर बल दिया जो व्यवसाय विशेष के संरक्षणों पर विचार करेगा। फलतः १९२३ में इस बोर्ड की स्थापना कर दी गई और १९२४ में इसी की सिफ़ारिश पर लोह व्यवसाय संरक्षण नियम (Steel Industry Protection Act) पास कर दिया गया। दिसम्बर १९२५ में रुई कर भी स्थगित कर दिया गया और मार्च १९२६ में रुई पर से चुंगी हटा दी गई। इस प्रकार भारतीयों की एक बहुत बड़ी शिकायत दूर कर दी गई।

विश्व-विद्यालय—१९२१ में ढाका में, १९२२ में नागपूर में तथा १९२३ में नागपुर विश्वविद्यालयों की स्थापना की गई। १९२५ में अन्तर्विश्वविद्यालय की बोर्ड की स्थापना हो गई।

अध्याय १७

लार्ड इरविन (१९२६-३१)

लार्ड इरविन का परिचय—एडवर्ड फ्रेडरिक लिन्डले वुड का जन्म १८८१ ई० में हुआ था। वह सर चार्ल्स वुड का जिसने १८५४ में शिक्षा सम्बन्धी आदेश भेजा था पौत्र था। वह १९२१-२२ में उपनिवेशों का संसदीय उप-सचिव (Parliamentary Under Secretary) था। १९२२-२४ में वह शिक्षा बोर्ड का प्रेसीडेन्ट था और १९२४-२५ में वह कृषि-मन्त्री था। १९२५ में उसे बैरन की उपाधि प्राप्त हो गई। अप्रैल १९२६ में वह वाइसराय होकर भारत आ गया। १९३४ में अपने पिता की मृत्यु के उपरान्त वह तृतीय विस्काउण्ट हैलीफ़ाक्स हो गया। लार्ड इरविन बड़ा ही योग्य, विद्वान् तथा धार्मिक प्रवृत्ति का व्यक्ति था। यद्यपि भारतीयों के साथ उसकी बड़ी सहानुभूति थी परन्तु इंगलैण्ड के अनुदार दल का सदस्य होने तथा साम्राज्यवादी कल का एक प्रमुख पुर्ज़ा होने के कारण वह भारतीयों के लिये कुछ कर न सका। उसकी उदार नीति की उसके विरोधी प्रायः टीका टिप्पणी किया करते थे।

दक्षिणी अफ्रीका में भारतीयों की दशा—गत यूरोपीय महासमर के काल से साम्राज्य-सम्मेलनों में भारतीयों को भी भाग लेने का अवसर प्राप्त होने लगा। इससे वे उपनिवेशों के प्रतिनिधियों के सम्पर्क में आने लगे और उनसे प्रवासी भारतीयों के सम्बन्ध में बात-चीत करने का अवसर मिलने लगा। इस विचार-विनिमय से अनेक भ्रम दूर हो गये और कनाडा तथा आस्ट्रेलिया में प्रवासी भारतीयों के साथ कुछ अच्छा व्यवहार होने लगा परन्तु दक्षिण अफ्रीका पर इसका कोई प्रभाव न पड़ा। गाँधी जी के साथ जो समझौता हुआ था इसके विरुद्ध फिर कार्य आरम्भ हो गया। अनेक बार कुलियों को निकालने तथा प्रवासी भारतीयों के अधिकारों के छीनने का प्रयत्न किया गया। इसका परिणाम यह हुआ कि भारत में फिर असन्तोष बढ़ने लगा। १९२६ ई० में भारत सरकार ने पारस्परिक भ्रम को मिटाने के लिये एक प्रतिनिधि-मण्डल दक्षिणी अफ्रीका भेजा और वहां से भी एक प्रतिनिधि-मण्डल भारत आया। इस विचार विनिमय के फल-स्वरूप फिर समझौता हो गया। दक्षिण अफ्रीका में प्रवासी भारतीयों की संख्या लगभग डेढ़ लाख थी। अतएव अब वहाँ पर भारतीयों की देख-भाल करने के लिये भारत का एक प्रतिनिधि रखने का निश्चय किया गया और इस पद पर श्रीनिवास शास्त्री नियुक्त कर दिये गये।

राष्ट्र संघ की सदस्यता—प्रथम महासमर के उपरान्त विश्व में शान्ति स्थापित रखने के लिये राष्ट्र-संघ (League of Nations) की स्थापना की गई थी। भारत भी इस संघ का सदस्य बना दिया गया था और उसके व्यय को चलाने के लिये एक बहुत बड़ी धन-राशि प्रतिवर्ष उसे देनी पड़ती थी। यद्यपि इस व्यय का भार भारतीय जनता को उठाना पड़ता था परन्तु राष्ट्र-संघ के लिये प्रतिनिधि सरकार मनोनीत करती थी और १९२८ तक इन प्रतिनिधियों का नेता कोई अंग्रेज़ ही हुआ करता था परन्तु १९२९ में प्रथम बार गवर्नर-जनरल की कौंसिल का एक भारतीय सदस्य नेता बनाया गया।

सीमा-नीति—इन दिनों अफ़ग़ानिस्तान में बड़ी उथल-पुथल मची हुई थी। १९१९ के तृतीय अफ़ग़ानिस्तान के युद्ध के उपरान्त सीमा प्रदेश के वज़ीरी तथा महसूदियों ने उपद्रव करना आरम्भ कर दिया। सेना भेज कर इन उपद्रवों के शान्त करने का प्रयत्न किया गया। तृतीय अफ़ग़ान युद्ध के बाद अमानुल्ला ने पाश्चात्य देशों की भाँति अपने देश में सुधार करने का प्रयत्न किया। उसकी प्रजा की सहानुभूति इन सुधारों के साथ बिल्कुल न थी। अतएव अमानुल्ला बड़ा ही लोकप्रिय बन गया। विवश होकर जनवरी १९२९ में उसे क़ाबुल से कन्दहार चला जाना पड़ा और मई के महीने में उसे अमीर के पद से हट जाना पड़ा। अब उसका बड़ा भाई इनायतुल्ला अफ़ग़ानिस्तान का अमीर बन गया परन्तु दुर्भाग्यवश वह केवल पाँच ही दिन तक अपने पद पर रह सका। अफ़ग़ानिस्तान की अव्यवस्था से लाभ उठा कर बचा-ए-सकाओ ने जो एक जल-वाहक का पुत्र था क़ाबुल के सिंहासन को हस्तगत कर लिया परन्तु वर्ष के भीतर ही जेनरल नादिर खाँ ने जो राज-वंश का था अपहर्ता को पद-च्युत करके उसकी हत्या करवा दी। भारत सरकार इस गृह-युद्ध में पूर्ण रूप से तटस्थ रही परन्तु अफ़ग़ानिस्तान में अपनी प्रजा की रक्षा की पूर्ण व्यवस्था रक्खी। नये अमीर नादिरशाह ने बड़ी सफलतापूर्वक शासन किया और भारत सरकार के साथ सद्व्यवहार रक्खा। परन्तु सीमा-प्रदेश के क़बीले निरन्तर भारत सरकार को परेशान करते रहे।

उत्तर की ओर से भारत सरकार को कोई विशेष चिन्ता न थी। तिब्बत के साथ मित्रता का सम्बन्ध था। नैपाल के साथ एक नई सन्धि हो गई थी जिसमें उसने सीमा का निरीक्षण करने का वचन दिया था और इसके बदले में भारत सरकार ने उसे अनेक व्यापारिक सुविधायें दी थीं। पूर्व की ओर चीन की अनिश्चित राजनैतिक स्थिति के कारण बर्मा की सीमा पर सेना में वृद्धि की जा रही थी। इन दिनों बर्मा को भारत से अलग करने का बर्मा में आन्दोलन चल रहा था और यह प्रचार किया जा रहा था कि बर्मियों की सभ्यता तथा संस्कृति भारतीयों से भिन्न है और भारत से अलग होने में ही बर्मा का कल्याण है। इस आन्दोलन को अंग्रेज भी प्रोत्साहित कर रहे थे।

शासन सम्बन्धी सुधार—लार्ड इरविन के शासन काल में अनेक सुधार किये गये जिनमें प्रमुख सुधार निम्नांकित हैं :—

(१) देश-रक्षा—गत महासमर के समय मेसोपोटामिया तथा अफ़ग़ान-युद्ध में भारतीय सेना के कुप्रबन्ध का जो अनुभव किया गया था उसके फल-स्वरूप १९१९ में लार्ड एशर की अध्यक्षता में सेना का पुनर्संगठन करने के लिये एक समिति नियुक्त की गई थी। अक्तूबर १९२० में इस समिति की रिपोर्ट प्रकाशित की गई। कई सुधारों का सुझाव देते हुये इस समिति ने इस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया कि चूँकि भारतीय सेना साम्राज्य की सेना का एक अङ्ग है अतएव इसकी नीति का निर्धारण तथा संचालन इङ्गलैण्ड के युद्ध-विभाग के हाथ में होना चाहिये। भारत की लेजिस्लेटिव असेम्बली ने इस सिद्धान्त का अनुमोदन करने से इन्कार कर दिया। उसका कहना था कि चूँकि भारतीय सेना का मुख्य कर्तव्य भारत की रक्षा करना है अतएव उसका पूर्ण प्रबन्ध भारत सरकार के हाथ में रहना चाहिये और भारत सरकार का ही उस पर पूर्ण नियन्त्रण होना चाहिये। यथा-सम्भव स्वदेश रक्षा के अतिरिक्त उसे भारत से बाहर अन्य किसी काम के लिये नहीं भेजना चाहिये। असेम्बली ने यह भी प्रस्ताव पास किया कि जल, स्थल तथा वायु-सेना में बिना किसी जातिगत भेद-भाव के भारतीयों को भर्ती करना चाहिये, प्रति-वर्ष बड़े-बड़े पदों पर २५ प्रतिशत भारतीयों को "रायल कमीशन्स" द्वारा नियुक्त करना चाहिये और उन्हें शिक्षा देने के लिये प्रादेशिक सेना का संगठन इस प्रकार का होना चाहिये जिससे भारतवासी

स्वदेश रक्षा में भाग ले सकें और अंग्रेज़ी सेना की भी कोई विशेष आवश्यकता न रहे जिसमें बड़ा धन व्यय करना पड़ता था।

असेम्बली के बड़ा बल देने पर "सहायक सेना" (Auxillary Force) जिसमें केवल यूरोपियन होते थे तथा प्रादेशिक सेना (Territorial Force) के कुछ भेदों के मिटाने का प्रयत्न आरम्भ किया गया। विश्वविद्यालयों में सैनिक शिक्षा की व्यवस्था की गई और देहरादून में सैनिक शिक्षा के लिये एक कालेज खोला गया। यहां की शिक्षा समाप्त करने पर इङ्गलैण्ड के सैन्डहर्स्ट कालेज में प्रवेश करने की व्यवस्था की गई। इसमें भारतीयों के लिये दस स्थान रक्खे गये। "रायल कमीशनों" के सम्बन्ध में यह निश्चित किया गया कि भारतीय सैनिकों के आठ दलों में धीरे-धीरे सब पदाधिकारी भारतीय कर दिये जायँ। सैन्डहर्स्ट कालेज में शिक्षा पाने पर प्रायः "रायल कमीशन" मिलता था। असेम्बली के बड़ा बल देने पर भारत में भी एक इसी प्रकार के कालेज के खोलने की आवश्यकता पर विचार करने के लिये जेनरल स्कीन की अध्यक्षता में एक समिति नियुक्त की गई। इस समिति ने १९३३ में कालेज खोलने और तब तक सैन्डहर्स्ट में भारतीयों के लिये स्थान बढ़ाने की परामर्श दी परन्तु इस पर विशेष ध्यान न देकर भारत सरकार ने "आठ दल वाली योजना" की ही ओर विशेष ध्यान दिया।

भारत के पास कोई जल-सेना की सुव्यवस्था न थी। १८२१ में ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने भारत के लिये एक जल-सेना की व्यवस्था की थी परन्तु १८५७ की क्रान्ति के उपरान्त यह सेना समाप्त कर दी गई और भारत के समुद्र तट की रक्षा इङ्गलैण्ड की जल-सेना द्वारा की जाती थी। इस सेना के व्यय के लिये भारत को एक बहुत बड़ी धन-राशि प्रतिवर्ष इङ्गलैण्ड भेजना पड़ता था। १८९२ में भारत के पास एक छोटी सी अपनी जल-सेना हो गई जो "रायल इण्डियन मैरीन" कहलाने लगी। १९२६-२७ में इसी को भारत की जल-सेना (Indian Navy) में परिवर्तित करने का प्रयत्न किया गया। इसमें कुछ भारतीयों को भर्ती करने का वचन दिया गया परन्तु यह भी स्पष्ट कर दिया गया कि आवश्यकता पड़ने पर साम्राज्य की रक्षा के लिये भी इसका प्रयोग किया जायगा। चूँकि भारत की लेजिस्लेटिव असेम्बली ने इसका विरोध किया अतएव यह विचार त्याग दिया गया। इण्डियन मैरीन के तीन जहाज़ जंगी बना दिये गये और कुछ भारतीयों को जहाज़ी शिक्षा देने की व्यवस्था की गई। सरकार के अधिकार में "शाही वायु सेना" (Royal Air Force) के कुछ वायुयान भी थे।

(२) **आर्थिक प्रगति**—१९२५-२६ में हिल्टन यङ्ग कमीशन ने यह सिफ़ारिश की कि रुपये की दर स्वर्ण के विनिमय में १ शिलिङ्ग ६ पेन्स कर देना चाहिये और भारत में एक रिज़र्व बैङ्क की स्थापना होनी चाहिये। यद्यपि सर पुरुषोत्तमदास ठाकुरदास ने इसका विरोध किया और १ शिलिङ्ग ४ पेन्स की पुरानी दर का अनुमोदन किया परन्तु लोक-सभा तथा राज्य-परिषद् दोनों ही ने १ शिलिङ्ग ६ पेन्स की दर को स्वीकार कर लिया।

१९२९ में देश की आर्थिक स्थिति अत्यन्त शोचनीय हो गई थी। १९३१ में स्थिति पहिले से भी अधिक बिगड़ गई। अतएव सभी विभागों में कमी की गई और लोगों के वेतनों में १० प्रतिशत की कटौती कर दी गई। आय-कर में वृद्धि कर दी गई और नये कर भी लगाये गये।

१९२६ में "कृषि आयोग" (Agricultural Commission) नियुक्त किया गया था। १९२८ में इसकी रिपोर्ट प्रकाशित की गई। आयोग ने पूसा के कृषि-कालेज को विस्तृत बना कर कृषि सम्बन्धी अन्वेषण के लिये अधिक सुविधायें देने की परामर्श दी। आयोग ने यह भी बतलाया कि कृषि-विभाग में केवल भारतीयों को रखने से काम न चलेगा, अतएव विशेषज्ञों को बाहर से बुलाना चाहिये और कृषकों को कृषि की उचित शिक्षा देने की व्यवस्था होनी चाहिये। आयोग इन सिफ़ारिशों से किसानों को कोई

विशेष लाभ न हुआ क्योंकि भूमि-कर बहुत बढ़ गया था और उसमें कोई परिवर्तन न हुआ। परन्तु १६२६ में "कृषि अनुसन्धान शाही समिति" (Imperial Council of Agricultural Research) की स्थापना हो गई।

चुङ्गी बोर्ड (१६२७) की सिफ़ारिशों के अनुसार जापान तथा चीन के विरुद्ध सूती मिलों के व्यवसाय को संरक्षण प्रदान किया गया। इसी समय बम्बई की प्रेसीडेन्सी में सिंचाई की दो विशाल आयोजनायें की गईं। एक आयोजना १६२६ में भण्डारद्वारा में की गई जो विल्सन डैम के नाम से प्रसिद्ध है और दूसरी आयोजना १६२८ में भटगर में की गई जो लायड डैम के नाम से प्रसिद्ध है। १६२८ में अवध में भी सिंचाई की सुविधा के लिये शारदा केनाल की आयोजना की गई।

सड़कों के निर्माण में भी विशेष अभिरुचि प्रदर्शित की गई और १६२६ में "मार्ग-कोष" (Road Fund) की स्थापना की गई। मोटर के गमनागमन में वृद्धि हो जाने के कारण सड़कों के सम्बन्ध में जाँच करने के लिये एक समिति नियुक्त की गई थी। इसी समिति की सिफ़ारिश पर मार्ग-कोष की स्थापना की गई थी।

(३) विश्वविद्यालयों की स्थापना—लार्ड इरविन के शासन काल में कई विश्व-विद्यालयों की भी स्थापना की गई। १६२६ में वाल्टेयर नामक स्थान में आन्ध्र विश्व-विद्यालय की स्थापना की गई। १६२७ में आगरा विश्वविद्यालय की और १६२६ में मद्रास जिले में अन्नामलाई नगर नामक स्थान में अन्नामलाई विश्वविद्यालय की स्थापना की गई। १६२८ में सर फ़िलिप हारटोग के सभापतित्व में "सहायक शिक्षा समिति" (Auxillary Education Committee) की स्थापना की गई जिसने भारतीय शिक्षा का निरीक्षण कर अगले वर्ष अपनी रिपोर्ट प्रकाशित की।

(४) शारदा ऐक्ट—लार्ड इरविन के शासन काल में सामाजिक सुधार का भी प्रयत्न किया गया। १६२६ में "बाल-विवाह निषेध नियम" (Child Marriage Restraint Act) पास किया गया। इसे "शारदा ऐक्ट" भी कहते हैं क्योंकि इसके जन्मदाता हरबिलास शारदा थे। इस नियम द्वारा १८ वर्ष की अवस्था के पूर्व बालकों और १४ वर्ष के पूर्व बालिकाओं का विवाह करने का निषेध कर दिया गया। इन अवस्थाओं के पूर्व विवाह करना अपराध घोषित किया गया। इस अपराध में एक वर्ष के लिये कारागार का साधारण दण्ड और एक सहस्र रुपये तक का जुर्माने का दण्ड दिया जा सकता था। विवाह होने के एक वर्ष के भीतर ही आरोप लगाना चाहिये था।

(५) मजदूर संघ की स्थापना—गत महायुद्ध के उपरान्त मिलों तथा कारखानों में कार्य करने वाले श्रमजीवियों में भी संगठन करके अपने अधिकारों के सुरक्षित रखने की भावना जागृत हो गई और उन्होंने बड़े-बड़े व्यापारिक केन्द्रों में अपने अधिकारों के लिये आन्दोलन आरम्भ कर दिया और अपने लक्ष्य की पूर्ति के लिये अपने संघ बना लिये। १६२६ में "मज़दूर संघ क़ानून" (Trade Union Bill) पास किया गया जिसके द्वारा ऐसे संघों के स्थापित करने के अधिकार को स्वीकार कर लिया गया और उनके संगठन तथा रजिस्ट्री कराने के नियम बनाये गये। अब मज़दूरों ने हड़ताल के द्वारा अपनी मांगों को पूरा कराने का प्रयत्न आरम्भ किया। एक मिल में हड़ताल हो जाने पर अन्य मिलों में कार्य करने वाले अपनी सहानुभूति प्रदर्शित करने के लिये हड़तालें करने लगे। हड़तालों में उत्तरोत्तर वृद्धि होती गई। अतएव १६२६ में सरकार ने "व्यवसायी संघर्ष नियम" (Trades Dispute Bill) पास किया। इस बिल द्वारा हड़तालों के सम्बन्ध में बड़े कठोर नियम बना दिये गये और झगड़े का निर्णय करने के लिये पञ्चायतों की व्यवस्था की गई। इसी समय श्रमजीवियों की स्थिति पर विचार करने के लिये ह्विटला की अध्यक्षता में एक आयोग नियुक्त किया गया।

(६) बारदोली सत्याग्रह—असहयोग आन्दोलन के फलस्वरूप कृषकों में भी जागृति उत्पन्न हो रही थी और वे अपने को सङ्गठित करने लगे। दक्षिण भारत में भी किसानों में बड़ा उत्साह उत्पन्न हो गया था। बारदोली में बिना पूरी जाँच किये हुये सरकार ने भूमि-कर में अभिवृद्धि कर दी। इस पर १९२८ में वहाँ के किसानों ने सत्याग्रह आन्दोलन आरम्भ कर दिया। सरकार ने आन्दोलन को दबाने के लिये बड़ी भयङ्करता के साथ अपना दमन कुचक्र चलाना आरम्भ किया परन्तु किसानों का धैर्य भङ्ग न हुआ। अन्ततोगत्वा विजय किसानों को ही मिली। सरकार ने उनकी बात को मान लिया और जाँच करने के लिये एक समिति नियुक्त की गई जिसने लगान के सरकारी अनुमान को अनुचित बतलाया।

(७) जनता रक्षक नियम—रूस की बोलशेविक क्रान्ति ने रूस की राजनैतिक, सामाजिक तथा आर्थिक दशा में आश्चर्यजनक परिवर्तन आरम्भ कर दिया था। इसका प्रभाव भारत पर भी पड़े बिना न रहा। देश की सामाजिक तथा आर्थिक असमानता नव-युवकों को खटकने लगी और इन कुव्यवस्थाओं को समाप्त करने के लिये "युवक संघ" स्थापित होने लगे। इन आन्दोलनों से सरकार शंकित हो उठी और उसने अपना दमन-कुचक्र फिर आरम्भ कर दिया। परन्तु आन्दोलन पर इसका विरोधी प्रभाव पड़ा। नव-युवकों की उत्तेजना में वृद्धि हो गई और हिंसात्मक वृत्ति से वे कार्य करने लगे। लाहौर में पुलिस कमिश्नर साण्डर्स की हत्या कर दी गई। अन्य स्थानों में भी क्रान्तिकारियों के षड्यन्त्र का पुलिस को पता लगा। इन षड्यन्त्रों से आतङ्कित होकर सरकार ने १९२८ में "जनता रक्षक नियम" (Public Safety Bill) उपस्थित किया। इस विधेयक का आशय यह था कि यदि किसी विदेशी पर भारत सरकार को यह सन्देह हो गया कि वह साम्यवादी सिद्धान्तों का प्रचार कर रहा है तो सरकार उस पर बिना अभियोग चलाये उसे निर्वासित कर सकेगी। भारतीयों ने इस विधेयक को राष्ट्रीय आन्दोलन के दमन करने का एक अस्त्र समझा। अतएव भारत की लोक-सभा ने इसे अस्वीकार कर दिया। इसी समय सरकार ने श्रमजीवियों तथा कृषकों के कुछ नेताओं तथा तीन अंग्रेजों पर यह दोष लगा कर कि वे रूस के साम्यवादी दल की सहायता से सम्राट् के विरुद्ध षड्यन्त्र रच रहे हैं मेरठ के न्यायालय में अभियोग चला दिया। इसके उपरान्त ही १९२९ में "जनता रक्षक विधेयक" फिर लोक-सभा के समक्ष उपस्थित किया गया। लोक-सभा में इसका घोर विरोध आरम्भ हो गया। फलतः वाइसराय ने अपने विशेषाधिकार से इसे ६ महीने के लिये क़ानून बना दिया।

देशी राज्य तथा बटलर कमेटी की रिपोर्ट—देशी राज्यों की शासन व्यवस्था सन्तोषजनक न थी। अतएव बृटिश सरकार को इनके आन्तरिक मामलों में प्रायः हस्तक्षेप करने की आवश्यकता पड़ा करती थी। गत दस वर्षों में भारत सरकार को १८ देशी राज्यों के आन्तरिक झगड़ों में हस्तक्षेप करना पड़ा था। देशी राज्यों को भारत सरकार का यह हस्तक्षेप पसन्द न था। लार्ड रीडिङ्ग के शासन काल में निज़ाम ने भी भारत सरकार के साथ इस सम्बन्ध में लिखा पढ़ी की थी और वाइसराय ने स्पष्ट रूप से यह बतला दिया था कि भारत में बृटिश राजसत्ता पूर्ण रूप से स्थापित है और उसके साथ किसी भी देशी राज्य की बराबरी नहीं हो सकती। देशी राज्यों की स्थिति को निश्चित करने तथा बृटिश सरकार के साथ उनके सम्बन्ध को स्पष्ट करने के लिये १९२८ में हारकोर्ट बटलर की अध्यक्षता में एक समिति का निर्माण किया गया। १९१९ के ऐक्ट द्वारा "नरेन्द्र-मण्डल" की स्थापना कर दी गई थी। इससे देशी नरेशों को परस्पर विचार-विनिमय का अवसर प्राप्त होने लगा था। देशी नरेशों की ओर से यह तर्क उपस्थित किया गया कि उसकी

सन्धियाँ बृटिश सम्राट् के साथ हुई हैं जिनमें उन्हें शासन की स्वतन्त्रता प्रदान की गई है। अतएव भारत-सरकार को मनमानी हस्तक्षेप करने का अधिकार नहीं प्राप्त है और भारत सरकार तथा देशी राज्यों के झगड़ों का निर्णय करने के लिये एक स्वतन्त्र न्यायालय की आवश्यकता है। बटलर समिति के सदस्यों ने देशी राज्यों के इस तर्क को अत्यन्त उपेक्षा की दृष्टि से देखा और कहा कि राज्य के अन्तर्गत राजा तथा प्रजा दोनों हैं और यदि सन्धियों में राजाओं को शासन की स्वतंत्रता दी गई है तो उनका यह कर्तव्य भी बना दिया गया है कि वे प्रजा के हित का ध्यान रख कर शासन करें। पटियाला तथा अन्य कई राज्यों के साथ की गई सन्धियों में इसे बिलकुल स्पष्ट कर दिया गया था। इसमें सन्देह नहीं कि भारत सरकार को मनमानी हस्तक्षेप करने का कोई अधिकार नहीं है परन्तु सर्व प्रभुत्व सम्पन्न शक्ति के कारण प्रजा के हित में देशी राज्यों के शासन पर कड़ी दृष्टि रखना उसका कर्तव्य है।

१६२६ के प्रारम्भ में ही बटलर कमेटी की रिपोर्ट प्रकाशित कर दी गई। इस रिपोर्ट में देशी राज्यों का बृटिश सम्राटों के साथ सम्बन्ध स्वीकार कर लिया गया और यह परामर्श दी गई कि देशी नरेशों की इच्छा के विरुद्ध यह सम्बन्ध किसी ऐसी भारत सरकार को न हस्तान्तरित किया जाय जो व्यवस्थापिका के प्रति उत्तरदायी हो। बटलर कमेटी ने यह भी स्पष्ट कर दिया कि भारत में बृटिश सम्राटों का आधिपत्य सर्व प्रभुत्व-शक्ति-सम्पन्न है और जहाँ उचित जान पड़े वहाँ अपने प्रतिनिधियों द्वारा उन्हें हस्तक्षेप करने का पूर्ण अधिकार है परन्तु भारत में बृटिश सम्राट् का प्रतिनिधि वाइसराय है न कि गवर्नर-जनरल तथा उसकी कौंसिल। नरेन्द्र मण्डल ने बटलर कमेटी की रिपोर्ट पर अपना असन्तोष प्रकट किया और "पूर्ण आधिपत्य" के सिद्धान्त का विरोध किया।

वैधानिक प्रगति—अब भारत की वैधानिक प्रगति पर एक विहङ्गम दृष्टि डाल देना आवश्यक है। यह प्रगति निम्नांकित थीं :—

साइमन कमीशन—१६१६ के विधान में यह व्यवस्था की गई थी कि प्रति दसवें वर्ष संविधान के क्रियात्मक स्वरूप की जाँच करने के लिये एक आयोग की नियुक्ति की जायगी परन्तु इस जाँच की आवश्यकता का अनुभव संविधान के कार्यान्वित होते ही होने लगा। १६२१ में ही भारत की लोक-सभा ने जाँच कराने का प्रस्ताव पारित किया था। मुडीमैन समिति के तीन सदस्यों ने भी यही परामर्श दी थी। भारत के उदार दल ने भी इसी प्रकार का सुझाव दिया था परन्तु सरकार पूर्ण रूप से उदासीन रही। गणना के अनुसार अन्वेषण समिति की नियुक्ति १६२६ में होनी चाहिये थी परन्तु बृटिश सरकार ने इसके दो वर्ष पूर्व ही १६२७ में कमीशन के नियुक्त करने की घोषणा कर दी। दो वर्ष पूर्व ही आयोग के नियुक्त करने का कारण यह बतलाया गया कि जिससे सब सरकार के विचारों से अवगत हो जायँ और सन्देह दूर हो जाय तथा शान्ति स्थापित हो जाय। फलतः इँगलैण्ड के उदार दल के प्रसिद्ध बैरिस्टर सर जान साइमन की अध्यक्षता में एक कमीशन नियुक्त किया गया जो साइमन कमीशन के नाम से प्रसिद्ध है। इस आयोग में बृटिश पार्लियामेंट के उदार दल का एक सदस्य, मज़दूर दल के दो सदस्य तथा अनुदार दल के चार सदस्य थे। साइमन आयोग में एक भी भारतीय न था। इसी से इसे "श्वेत आयोग" (White Commission) भी कहते हैं। भारतीयों को इस आयोग में सम्मिलित न करने के कई कारण बतलाये गये थे। पहिला कारण यह बतलाया गया कि भारतवर्ष के संविधान में परिवर्तन करने का अधिकार केवल बृटिश पार्लियामेंट को है। अतएव उसके ही सदस्य विधान सम्बन्धी प्रश्नों पर ठीक ठीक विचार कर सकते हैं और उन्हीं की परामर्श पार्लियामेण्ट को भी मान्य होगी। इसका दूसरा कारण यह बतलाया गया कि भारतवर्ष में जातिगत झगड़ों का प्रकोप है। अतएव इसका निर्णय करना अत्यन्त

कठिन है कि किस किस जाति के नेता आयोग में सम्मिलित किये जाय। आयोग के सदस्यों की संख्या भी अधिक बढ़ाना ठीक नहीं है। इसका तीसरा कारण यह बतलाया गया कि आयोग का विचार अत्यन्त निष्पक्ष होना चाहिये परन्तु भारतीय नेताओं से जो राजनैतिक आन्दोलन में भाग ले रहे थे निष्पक्षता की आशा करना एक दुराशा मात्र थी। इन्हीं तीन तर्कों के आधार पर किसी भी भारतीय को आयोग में सम्मिलित नहीं किया गया परन्तु भारतीयों के सन्तोष के लिये इतना अवश्य निश्चित किया गया कि जाँच के कार्य में आयोग को सहायता देने के लिये भारतीय तथा प्रान्तीय धारा-सभाओं की समितियाँ बना दी जायँ।

भारतीयों को स्थान न देने के कारण भारतीयों ने साइमन कमीशन के बहिष्कार करने का निश्चय कर लिया। तीन फ़रवरी १९२८ को जब आयोग के सदस्यों ने भारत-भूमि पर पदार्पण किया तब सम्पूर्ण देश में हड़ताल मनाई गई। भारत की लोक-सभा तथा कुछ प्रान्तों की व्यवस्थापिकाओं ने साइमन कमीशन पर अपना अविश्वास प्रकट किया। कमीशन की सहायता के लिये जो भारतीय तथा प्रान्तीय समितियाँ बनाई गई थीं उनके चुनाव में जनता के अधिकांश प्रतिनिधियों ने कोई भाग नहीं लिया। पहिली जांच के उपरान्त नवम्बर के महीने में साइमन कमीशन फिर भारतवर्ष आया परन्तु जहाँ कहीं वह गया वहीं पर हड़ताल मनाई गई और उसका बहिष्कार किया गया। सभी स्थानों पर काले झण्डों तथा "लौट जाओ" की ध्वनि से इनका स्वागत किया गया। कमीशन के विरोध में जो जुलूस निकाले गये उन पर कई स्थानों में पुलिस वालों ने लाठी का प्रहार किया। इस प्रकार कमीशन का सर्वत्र विरोध हुआ।

सर्वदल सम्मेलन—१९२० में कांग्रेस ने "स्वराज्य" अपना अन्तिम लक्ष्य निर्धारित किया था परन्तु स्वराज्य शब्द का अर्थ स्पष्ट नहीं किया गया था। इसमें "यदि सम्भव हो तो बृटिश साम्राज्य के अन्तर्गत नहीं तो उसके बाहर" दोनों ही भाव अन्तर्भूत थे। परन्तु असहयोग आन्दोलन के काल से ही भारत में एक ऐसा दल था जो ऐसा सोचता था कि बृटिश साम्राज्य में रहने से भारत का कल्याण नहीं हो सकता। अतएव यह दल पूर्ण स्वतन्त्रता पर बल दे रहा था। साइमन कमीशन के सङ्गठन से भारतीयों को बड़ा असन्तोष हुआ था। अतएव १९२७ में कांग्रेस ने अपने ध्येय में बिना कुछ परिवर्तन किये हुये "पूर्ण स्वतन्त्रता" को अपना अन्तिम लक्ष्य निर्धारित किया। इसी समय "स्वराज्य" शब्द की विवेचना करने के लिये देश के प्रमुख राजनैतिक दलों की एक समिति बनाने का निश्चय किया गया। फलतः पंडित मोतीलाल नेहरू की अध्यक्षता में एक समिति बना दी गई। इस समिति ने कई महीने के विचार-विमर्ष के उपरान्त १९२८ में अपनी रिपोर्ट प्रकाशित की जो "नेहरू रिपोर्ट" के नाम से प्रसिद्ध है।

"नेहरू रिपोर्ट" में स्वराज्य का अर्थ औपनिवेशिक स्वराज्य मान लिया गया और यह निश्चित किया गया कि भारत-सचिव तथा इण्डिया कौंसिल को अविलम्ब हटा देना चाहिये। यह भी सुझाव दिया गया कि भारत का शासन सम्राट् तथा एक भारतीय संसद् के हाथ में रहना चाहिये। संसद् में प्रतिनिधि सभा तथा राज्य-परिषद् दो भवन होने चाहिये। सम्राट् के प्रतिनिधि के रूप में गवर्नर-जनरल को एक मन्त्रि-परिषद् की परामर्श से कार्य करना चाहिये जो संसद् के प्रति उत्तरदायी हो। भाषाओं के आधार पर देश का विभाजन प्रान्तों में होना चाहिये और इन प्रान्तों में भी उत्तरदायी शासन की स्थापना होनी चाहिये। प्रान्तीय कौंसिलों में प्रति लाख जन-संख्या के लिये एक प्रतिनिधि होना चाहिये। सम्पूर्ण जनता को वयस्क मताधिकार प्रदान कर देना चाहिये और साम्प्रदायिक निर्वाचन प्रणाली को समाप्त कर देना चाहिये परन्तु जन-संख्या के आधार पर मुसलमान सदस्यों की संख्या दस वर्ष तक निश्चित रहे। इनके अतिरिक्त भी मुसलमानों को प्रतिनिधि बनने का अधिकार होना चाहिये। पश्चिमोत्तर प्रान्त में अल्प-संख्यक

हिन्दुओं के लिये भी ऐसा ही प्रबन्ध किया जाय। पंजाब तथा बङ्गाल में जहाँ मुसलमान बहु-संख्यक हैं उनके सदस्यों की संख्या निश्चित न रक्खी जाय। सम्पूर्ण देश के लिये एक सर्वोच्च न्यायालय की स्थापना की जाय। देशी राज्यों का भारत सरकार के साथ पूर्ववत सम्बन्ध बना रहे।

उपरोक्त योजना से बहुत से मुसलमानों तथा सिक्खों को सन्तोष नहीं हुआ। मुसलमान भारतीय संसद में अपने एक तिहाई सदस्य चाहते थे। वे साम्प्रदायिक निर्वाचन को त्यागने के लिये भी उद्यत न थे। सिक्खों का कहना था कि यदि मुसलमान सदस्यों की संख्या निश्चित की गई तो पंजाब में उनके सदस्यों की संख्या निश्चित होनी चाहिये। दिसम्बर १९२८ में कांग्रेस के अधिवेशन के अवसर पर कलकत्ता में नेहरू योजना पर विचार करने के लिये भारत की प्रमुख संस्थाओं के प्रतिनिधियों का एक "सर्वदल सम्मेलन किया गया। दुर्भाग्यवश इस सम्मेलन में भी समझौता न हो सका। गांधी जी के बहुत बल देने पर कांग्रेस ने यह निश्चित किया कि यदि वर्ष के भीतर "नेहरू योजना" के अनुसार औपनिवेशिक स्वराज्य न दिया गया तो असहयोग आन्दोलन फिर से आरम्भ कर दिया जायगा।

औपनिवेशिक स्वराज्य का आश्वासन—१९२९ में इङ्गलैण्ड में बहुत बड़ा राजनैतिक परिवर्तन हुआ। चुनाव में मज़दूर दल को विजय प्राप्त हुई और इङ्गलैण्ड में इसी दल का मन्त्रिमण्डल बना। अब वेजवुड बेन भारत-सचिव के पद पर नियुक्त किये गये। यद्यपि मज़दूर दल से भी भारतीयों को बड़ी निराशा ही गई थी परन्तु इस दल ने मौखिक सहानुभूति सदैव भारतीयों के साथ प्रकट की है। भारतीयों का आन्दोलन अत्यन्त द्रुतगति से आगे बढ़ रहा था। साइमन कमीशन का सम्पूर्ण देश में विरोध तथा बहिष्कार किया गया था। नेहरू योजना का समर्थन अधिकांश राजनैतिक दलों ने किया था। इससे बृटिश सरकार की चिंता का बढ़ जाना स्वाभाविक ही था। फलतः वाइसराय लार्ड इरविन ने मज़दूर सरकार से परामर्श करने के लिये इङ्गलैण्ड के लिये प्रस्थान कर दिया। इङ्गलैण्ड से लौटने के उपरान्त ३१ अक्तूबर १९२९ को उन्होंने एक विज्ञप्ति प्रकाशित की। इस विज्ञप्ति में यह बतलाया गया कि १९१७ की घोषणा में "उत्तरदायी शासन" देने का वचन दिया गया था। उत्तरदायी शासन का अर्थ "औपनिवेशिक स्वराज्य" है। वाइसराय ने अपनी विज्ञप्ति में यह भी बतलाया कि देशी राज्यों का प्रश्न भारतीय शासन व्यवस्था से बिल्कुल अलग नहीं है। अतएव सम्पूर्ण शासन-व्यवस्था पर विचार करने के लिये बृटिश भारत तथा देशी राज्यों के प्रतिनिधियों का एक गोलमेज़ सम्मेलन शीघ्र ही लन्दन में किया जायगा।

वाइसराय की विज्ञप्ति पर भारतीय नेताओं की प्रतिक्रिया दिल्ली से प्रकट की गई। प्रमुख दलों के नेताओं ने एक वक्तव्य प्रकाशित किया जिसमें सरकार का ध्यान इस बात की ओर आकृष्ट किया गया कि गोलमेज़ सम्मेलन की सफलता के लिये यह आवश्यक है कि शासन में उदार नीति का अनुसरण किया जाय और राजनैतिक बन्दी मुक्त कर दिये जायें। इन नेताओं ने इस बात पर बल दिया कि औपनिवेशिक स्वराज्य को ही आधार मान कर गोलमेज़ सम्मेलन को भावी शासन-व्यवस्था की योजना पर विचार करना चाहिये।

पूर्ण स्वराज्य की माँग—दिसम्बर १९२९ में लाहौर में कांग्रेस का अधिवेशन हुआ। इसके कुछ दिन पूर्व ही दिल्ली के निकट वाइसराय की ट्रेन के नीचे बम रख कर उसके प्राण लेने का प्रयास किया गया था परन्तु सौभाग्यवश किसी को चोट न आई। लाहौर अधिवेशन में कांग्रेस ने इस दुर्घटना पर खेद प्रकट करते हुये वाइसराय के प्रति अपनी सहानुभूति प्रकट की। परन्तु लाहौर कांग्रेस का सबसे अधिक महत्वपूर्ण निर्णय

यह था कि कलकत्ता कांग्रेस के निर्णय के अनुसार "पूर्ण-स्वराज्य" कांग्रेस का अन्तिम लक्ष्य निर्धारित किया गया और इसकी प्राप्ति के लिये सत्याग्रह आरम्भ करने का निश्चय किया गया। सत्याग्रह आन्दोलन कब और किस रूप में आरम्भ किया जाय इसका निर्णय अखिल भारतीय कांग्रेस समिति (All India Congress Committee) के ऊपर छोड़ दिया गया। लाहौर अधिवेशन में यह भी निश्चित किया गया कि कौंसिलों का बहिष्कार करके फिर असहयोग आन्दोलन को आरम्भ करना चाहिये। लाहौर कांग्रेस के निर्णय के अनुसार २६ जनवरी १९३० को सम्पूर्ण देश में "पूर्ण स्वतन्त्रता दिवस' मनाया गया। इस दिन देश के सभी नगरों में सभायें की गईं और स्वतन्त्रता सम्बन्धी प्रस्ताव पास किये गये और ब्रिटिश सरकार के बन्धन से उन्मुक्त होने का निश्चय किया गया।

सविनय अवज्ञा आन्दोलन तथा नमक सत्याग्रह—असहयोग आन्दोलन को प्रारम्भ करने का निर्णय कर लेने के फल-स्वरूप केन्द्रीय तथा प्रान्तीय धारा-सभा के कॉंग्रेसी सदस्यों ने त्याग पत्र दे दिया। गाँधी जी ने "सविनय अवज्ञा आन्दोलन" के प्रारम्भ करने का निश्चय कर लिया और शान्तिमय सामूहिक सत्याग्रह का नेतृत्व ग्रहण करने के लिये उद्यत हो गये। १५ फरवरी १९३० को कॉंग्रेस कार्य-समिति ने सम्पूर्ण अधिकार गाँधी जी को देकर उन्हें आन्दोलन का अधिनायक घोषित कर दिया। गाँधी जी ने सत्याग्रह के सञ्चालन का कार्य आरम्भ कर दिया। ६ मार्च को उन्होंने वाइसराय के पास एक पत्र भेज कर सूचित कर दिया कि वे "नमक-कर" को भङ्ग करने जा रहे हैं। १२ मार्च को गाँधी जी ने अपनी प्रसिद्ध ऐतिहासिक "डण्डी यात्रा" आरम्भ की जिसका नारा था "विजय अथवा मृत्यु।" प्रारम्भ में सत्याग्रहियों की संख्या केवल ७९ थी परन्तु मार्ग में उत्तरोत्तर उनकी संख्या में वृद्धि होती गई। सत्याग्रहियों के साथ पैदल यात्रा करते हुये ६ अप्रैल को गाँधी जी समुद्र तट पर डण्डी पहुँचे और नमक एकत्रित कर उन्होंने नमक-क़ानून को भङ्ग किया। इस पर गाँधी जी के साथी बन्दी बना लिये गये। इसी समय गाँधी जी ने यह घोषणा की कि सम्पूर्ण देश में नमक क़ानून भङ्ग किया जाय। गाँधी जी के इस आदेश के निकलते ही देश के विभिन्न भागों में नमक बना कर सरकारी क़ानून को भङ्ग किया गया। सरकार का दमन कुचक्र भी आरम्भ हो गया और सहस्रों की संख्या में सत्याग्रही कारागारों में बन्द कर दिये गये। ४ मई को गाँधी जी भी बन्दी बना लिये गये और पूना के यरावदा कारागार में भेज दिये गये।

धरसना पर धावा—यद्यपि गांधी जी तथा अन्य नेता कारागार में डाल दिये गये परन्तु सत्याग्रह बन्द न हुआ। लगभग दो सहस्र सत्याग्रहियों ने श्रीमती सरोजिनी नायडू के नेतृत्व में धरसना नमक गोदाम पर धावा बोल दिया। पुलिस ने सत्याग्रहियों पर लाठी का प्रहार किया जिससे लगभग तीन सौ सत्याग्रही घायल हो गये। श्रीमती सरोजनी नायडू को बन्दी बना लिया गया और उन्हें नौ महीने के लिये कारावास का दण्ड दिया गया। फिर भी सत्याग्रह आन्दोलन में शैथिल्य न उत्पन्न हुआ और धरसना, बादला आदि नमक-गोदामों पर सत्याग्रहियों के धावे निरन्तर होते रहे। अन्य स्थानों में भी सत्याग्रह का प्राबल्य बढ़ता गया। कैम्पबेलपूर में पंडित मदनमोहन मालवीय अपने साथियों के साथ बन्दी बना लिये गये। सत्याग्रह की प्रगति के साथ-साथ सरकार का दमन कुचक्र भी तीव्र गति से चल रहा था। जून के महीने में कांग्रेस कार्य-समिति तथा अन्य कांग्रेसी संस्थाओं को गैर-क़ानूनी घोषित कर दिया गया और कांग्रेस के प्रधान पंडित मोती लाल नेहरू को बन्दी बना लिया गया। "नव जवान भारत सभा" तथा अन्य बहुत सी संस्थाओं को गैर-क़ानूनी घोषित कर दिया गया। इस दमन कुचक्र ने सत्याग्रह को और अधिक बल प्रदान कर दिया और ऐसा प्रतीत होता था कि सरकार के दमन

तथा सत्याग्रह के गमन में होड़ सी लगी है। सत्याग्रह आन्दोलन से क्रान्तिकारियों को भी बड़ा प्रोत्साहन प्राप्त हो गया और वे अत्यन्त क्रियाशील हो गये। अप्रैल के महीने में चटगांव के शस्त्रागार पर कुछ क्रान्तिकारियों ने धावा बोल दिया और बहुत सी सामग्री विनष्ट कर दी। अगस्त में कलकत्ते के पुलिस कमिश्नर पर बम फेंका गया और ढाका में पुलिस इन्स्पेक्टर जेनरल को गोली मार दी गई। अनेक अन्य स्थानों में उपद्रव हुये जहां पुलिस को शान्ति स्थापित करने के लिये गोली चलानी पड़ी।

प्रथम गोलमेज सभा—सरकार अपना दमन-कुचक्र तो चला रही थी परन्तु साथ ही साथ वह समझौते के लिये भी प्रयत्नशील थी। लार्ड इरविन ने अपने १९२९ के वक्तव्य में बृटिश भारत तथा देशी राज्यों के प्रतिनिधियों की एक गोलमेज़ सभा के लन्दन में करने की ओर संकेत किया था। अब इस सभा की आवश्यकता की अनिवार्यता का अत्यधिक अनुभव किया जाने लगा। फलतः १२ मई १९३० को वाइ-सराय ने यह घोषणा की कि २० अक्तूबर को अथवा उसके सन्निकट किसी अन्य तिथि को लन्दन में भारतीय वैधानिक समस्या पर विचार करने के लिये एक गोलमेज सम्मेलन होगा। कांग्रेस इस सम्मेलन में भाग लेने के लिये उद्यत न थी। सर तेजबहादुर सप्रू तथा श्री मुकुन्दराव जयकर ने काँग्रेस तथा सरकार में मेल कराने का अथक प्रयास किया परन्तु उनके सारे पयत्न निष्फल सिद्ध हुये। कांग्रेस चाहती थी कि सब सत्याग्रही बन्दी-गृहों से मुक्त कर दिये जायँ, नमक कानून समाप्त कर दिया जाय और बृटिश सरकार भारत सम्बन्धी अपने लक्ष्य को स्पष्ट कर दे। कांग्रेस की यह सब मांगे स्वीकार करने के लिये सरकार उद्यत न थी। फलतः कांग्रेस ने प्रथम गोलमेज़ सम्मेलन में अपना कोई प्रतिनिधि नहीं भेजा और केवल उदार दल, देशी राज्यों तथा मुसल्मानों के प्रतिनिधियों ने इस सम्मेलन में भाग लिया। १२ नवम्बर को बृटिश पार्लियामेण्ट के लार्ड सभा भवन में सम्राट् पञ्चम जार्ज ने प्रथम गोलमेज़ सम्मेलन का उद्घाटन किया। सम्मेलन का कार्यक्रम और जटिल वैधानिक समस्या पर विचार करने की विधि को निश्चित करने के लिये वाद-विवाद चलता रहा।

इरविन गांधी समझौता—कांग्रेस भारत का सबसे बड़ा राजनैतिक दल था परन्तु इसने प्रथम गोलमेज़ सभा में भाग नहीं लिया। अँग्रेज़ राजनीतिज्ञों ने अचिरात् इस बात का अनुभव किया कि बिना कांग्रेस के सहयोग के गोलमेज़ सम्मेलन का सफल होना असम्भव है। लार्ड इरविन को भी दमन-नीति में सफलता नहीं प्राप्त हो रही थी और सविनय अवज्ञा आन्दोलन को वे सरकार के लिये अत्यन्त आपत्तिजनक समझते थे। गांधी जी के आध्यात्मिक बल को भी उन्होंने स्वीकार कर लिया था। अब वे सद्भावना प्रदर्शित करने लगे और कांग्रेस के साथ समझौता करने के लिये उद्यत हो गये। २५ जनवरी १९३१ को उन्होंने कांग्रेस कार्य-समिति को गैर क़ानूनी संस्था घोषित करने की आज्ञा को रद्द कर दिया और गांधी जी तथा कांग्रेस कार्य-समिति के सभी सदस्यों को कारागार से मुक्त कर देने की आज्ञा दे दी। वाइसराय महोदय ने दो बार गाँधी जी से भेंट की और ४ मार्च १९३१ को दोनों व्यक्तियों में एक समझौता हो गया जो "इरविन गाँधी समझौता" के नाम से प्रसिद्ध है। इस समझौते द्वारा यह निश्चित हुआ कि "हिंसात्मक अपराध करने वालों के अतिरिक्त सभी सत्याग्रही मुक्त कर दिये जायँ, अपहृत सम्पत्ति लौटा दी जाय तथा दमनकारी विशेषाज्ञाओं को समाप्त कर दिया जाय। काँग्रेस अपना आन्दोलन स्थगित कर दे। गोलमेज़ सम्मेलन में भारत में संघ व्यवस्था स्थापित करने, भारतीयों को उत्तरदायी शासन देने, संरक्षित विषयों तथा अल्पसंख्यकों की समस्या पर विचार किया जाय।"

मुसल्मानों की प्रतिक्रिया—मुस्लिम लीग प्रारम्भ से ही कांग्रेस के साथ सहयोग

करने के लिये उद्यत न थी। उसने कांग्रेस के पूर्ण स्वराज्य के प्रस्ताव का विरोध किया और उसे आपत्तिजनक बतलाया। परन्तु मौलाना अबुल कलाम आज़ाद, डा० अनसारी आदि राष्ट्रीय मुसल्मान कांग्रेस के साथ थे। मौलाना आज़ाद तथा अन्य अनेक मुसल्मानों ने नमक सत्याग्रह में भाग लिया था और जेल-यात्रायें की थीं। मौलाना मुहम्मद अली तथा शौकत अली ने प्रथम सत्याग्रह आन्दोलन में गांधी जी के साथ पूर्ण सहयोग किया था परन्तु अब उनके विचारों में परिवर्तन उत्पन्न हो गया था। मौलाना मुहम्मद अली जो प्रथम गोलमेज़ सभा में भाग लेने के लिये लन्दन गये थे पंचत्व को प्राप्त हो गये। श्री मुहम्मद अली जिन्ना जो पहिले कांग्रेस के साथ थे सत्याग्रह आन्दोलन के कारण उससे अलग हो गये। अब वे मुस्लिम लीग के प्रमुख नेता बन गये। हिन्दू-मुस्लिम एकता के लिये उन्होंने १४ शर्तें रक्खीं। इनमें मुसलमानों का पृथक् निर्वाचन, केन्द्रीय व्यवस्थापिका में तिहाई प्रतिनिधित्व, सिन्ध का बम्बई से पृथक्करण आदि प्रमुख शर्तें थीं। मुसलमान नेता इन्हीं शर्तों की पूर्ति पर बल दे रहे थे। हिन्दू-मुस्लिम दङ्गों का प्रकोप भी इस समय बढ़ गया। मार्च १९३१ में कानपुर में साम्प्रदायिक दंगे का भीषण विस्फोट हो गया और हिन्दी दैनिक पत्र "प्रताप" के सम्पादक श्री गणेश शङ्कर विद्यार्थी की मुस्लिम मुहल्ले में जहाँ वे मुसल्मानों की सहायता करने गये थे मुसल्मानों द्वारा हत्या कर दी गई। गोलमेज़ सभा में मुसलमान प्रतिनिधि कांग्रेस को राष्ट्रीय संस्था मानने के लिये उद्यत न थे और अपनी मांगों की पूर्ति पर बल दे रहे थे। इस समय मुसल्मानों का नेतृत्व सर आग़ा खाँ कर रहे थे। ५ अप्रैल १९३१ को मौलाना शौकत अली की अध्यक्षता में एक "अखिल भारतीय मुस्लिम सम्मेलन हुआ। इस सम्मेलन में हिन्दू मुस्लिम दंगों तथा कांग्रेस की नीति पर अत्यन्त क्षोभ प्रकट किया गया और गृह-युद्ध आरम्भ करने की धमकी दी गई। मुसल्मानों की इस प्रतिक्रिया का परिणाम यह हुआ कि पण्डित मदनमोहन मालवीय के नेतृत्व में हिन्दू महासभा ने कठोर नीति का अनुसरण करना आरम्भ किया और मुस्लिम लीग की अनुचित मांगों का उसने घोर विरोध करना आरम्भ किया। सिक्खों ने भी अपनी मांगों को बढ़ा ली। इसी समय डा० भीमराव अम्बेडकर के नेतृत्व में अन्त्यजों ने भी पृथक् निर्वाचन की माँग आरम्भ कर दी।

कांग्रेस का कराची अधिवेशन—६ फरवरी १९३१ को पण्डित मोतीलाल नेहरू देश के दुर्भाग्य से पंचत्व को प्राप्त हो गये। उनकी मृत्यु पर सम्पूर्ण देश में शोक प्रकट किया गया। श्री बल्लभ भाई पटेल की अध्यक्षता में कराँची में कांग्रेस का पैंतालीसवाँ अधिवेशन हुआ। इस अधिवेशन में लन्दन की गोलमेज़ सभा में भाग लेने का निश्चय किया गया। गान्धी जी ने इस अधिवेशन में स्पष्ट रूप से बतला दिया कि उन्हें यह आशा न थी कि वे पूर्ण स्वराज्य लेकर लौटेंगे परन्तु वे देश के लिये अधिक दासता भी लेकर न लौटेंगे। इस अधिवेशन में मूल-भूत अधिकारों के सम्बन्ध में भी एक प्रस्ताव पास किया गया और भाषण, प्रेस आदि की स्वतन्त्रता तथा सबकी समानता पर बल दिया गया। देश के लिये एक आर्थिक कार्य-क्रम भी रक्खा गया और सेना के व्यय के कम करने, श्रमजीवियों को उचित पारिश्रमिक देने, सरकारी पदाधिकारियों को साधारणतः पाँच सौ रुपये मासिक से अधिक वेतन न देने, कृषकों की लगान घटाने, आधार भूत उद्योगों के राष्ट्रीयकरण पर बल दिया गया। गांधी जी ने इसे "भावी स्वराज्य की रूप-रेखा" बतलाया।

लार्ड इरविन की वापसी तथा उसके कार्यों का मूल्यांकन—अप्रैल १९३१ में लार्ड इरविन का कार्य-काल समाप्त हो गया और वह अपने देश को वापस लौट गया। लार्ड इरविन के शासन की तीव्र आलोचना की गई है। कुछ विद्वानों ने उसके शासन

की निन्दा इस आधार पर की है कि उसका शासन अत्यन्त निर्बल था। अन्य विद्वानों ने इसकी निन्दा इस आधार पर की है कि वह अत्यन्त दमनकारी था। वास्तव में लार्ड इरविन एक अत्यन्त भद्र तथा उदार शासक था। वह बृटेन तथा भारत में सन्तोषजनक समझौता करवाना चाहता था और भारत को बृटिश राष्ट्रमण्डल का एक सम्मानित सदस्य बनाना चाहता था। अपने देश के लिये प्रत्यागमन करते समय उसने भारतीयों को यह आश्वासन दिया था कि बृटेन पहुँच कर वह इसके लिये अथक प्रयास करेगा। इसमें सन्देह नहीं कि अपने शासन काल में उसे दमन कुचक्र चलाना पड़ा परन्तु परिस्थितियों से बाध्य होकर उसने ऐसा किया था। वास्तव में हृदय से वह इस नीति का समर्थक न था। उसके शासन काल में राष्ट्रीय आन्दोलन ने अत्यन्त भयावह रूप धारण कर लिया था और क्रान्तिकारी क्रिया-शील हो रहे थे। अतएव दमन-नीति के अतिरिक्त कोई दूसरा चारा ही न था परन्तु अवसर पाने पर उसने सदैव मेल का प्रयत्न किया।

अध्याय १८

लार्ड विलिङ्गडन (१६३१-३६)

लार्ड विलिङ्गडन का परिचय—फ्रीमैन टामस, लार्ड विलिंगडन का जन्म १८६६ ई० में हुआ था। १६०० ई० में उसने पार्लियामेंट में प्रवेश किया और १६१० तक वह उसका सदस्य बना रहा। १६१० में वह बैरन हो गया। १६१३ से १६१८ तक वह बम्बई का और १६१६ से १६२४ तक मद्रास का गवर्नर रहा। १६२४ में वह विस्काउन्ट हो गया और १६२६ से १६३१ तक वह कनाडा का गवर्नर-जनरल था। विलिंगडन के अर्ल के रूप में १६३१ में वह भारत आया और अप्रैल के महीने में वाइसराय के पद को ग्रहण किया। पांच वर्ष उपरान्त वह मारक्विस हो गया और १६४१ में उसका परलोकवास हो गया। भारत के वाइसराय के रूप में उसने अत्यन्त कठोर नीति का अनुसरण किया क्योंकि उसका विश्वास था कि "सरकार की उदारता का अर्थ उसकी दुर्बलता लगाया जा रहा है।" फलतः उसने आरम्भ से ही अत्यन्त दृढ़ता के साथ शासन करने का निश्चय कर लिया।

सन् १६३१ की जन गणना—प्रति दसवें वर्ष भारत की जनगणना की व्यवस्था की गई थी। अतएव १६३१ में फिर जन-गणना की गई। इसका विवरण सितम्बर १६३३ में प्रकाशित किया गया जिसके अनुसार कुल जन-संख्या ३५ करोड़ ३० लाख पाई गई। यह जन-संख्या १६२१ की जन-संख्या से ३ करोड़ ३८ लाख अधिक थी। इस प्रकार गत दस वर्षों में भारत की जन-संख्या में १० प्रतिशत की वृद्धि हुई थी। भारत की यह जन-संख्या संसार की जन-संख्या की पंचमांश थी। इस गणना के अनुसार भारत वर्ष में २२५ भाषायें प्रचलित पाई गईं।

वैधानिक समस्या—अँग्रेजों ने राष्ट्रीय आन्दोलन की प्रगति के साथ-साथ अपने दमन कुचक्र को अत्यन्त कठोरता के साथ प्रयोग करना आरम्भ कर दिया था परन्तु इससे कोई विशेष लाभ न हुआ। अतएव वे इस निष्कर्ष पर पहुँच चुके थे कि बिना वैधानिक सुधार के भारतीय जनता को सन्तुष्ट नहीं किया जा सकता। अतएव भारत के लिये नये संविधान के निर्माण के लिये बृटिश सरकार प्रयत्नशील हो गई थी।

द्वितीय गोलमेज सभा—प्रथम गोलमेज सम्मेलन लार्ड इरविन के शासन काल में हुआ था परन्तु कांग्रेस ने इसमें भाग नहीं लिया था। गांधी इरविन समझौते के फलस्वरूप कांग्रेस ने लन्दन की वार्ता में भाग लेने का निश्चय किया। सितम्बर १६३१ में गोलमेज का द्वितीय सम्मेलन हुआ। काँग्रेस ने केवल गांधी जी को अपना प्रतिनिधि बना कर भेजने का निश्चय किया था। गाँधी जी की यह उत्कट इच्छा थी कि राष्ट्रीय मुसलमानों का प्रतिनिधित्व डा० अन्सारी को करने दिया जाय परन्तु अधिकांश मुसलमानों ने इसका विरोध किया। अतएव बृटिश सरकार ने इस सुझाव को स्वीकार नहीं किया। कांग्रेस के निश्चय के अनुसार गांधी जी ने द्वितीय गोलमेज सम्मेलन में भाग लेने के लिये इँगलैण्ड के लिये प्रस्थान कर दिया। गोलमेज सम्मेलन में आरम्भ से ही गांधी जी को अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। सबसे जटिल समस्या अल्प-

संख्यकों के प्रतिनिधित्व तथा संघ व्यवस्था के स्थापित करने की थी। सम्मेलन का कार्य सुचारु रीति से संचालित करने के लिये विभिन्न विषयों की उप समितियाँ बना दी गई थीं। मुसल्मानों, सिक्खों तथा अन्त्यजों के प्रतिनिधियों ने कांग्रेस को अपनी प्रतिनिधि संस्था मानने से इन्कार कर दिया और अल्पसंख्यक समिति ने मुसल्मानों, अन्त्यजों, भारतीय ईसाइयों, एँग्लो-इण्डियनों, यूरोपियनों तथा सिक्खों को पृथक् निर्वाचनाधिकार देने का निश्चय किया। इस निश्चय से गांधी जी के समक्ष एक जटिल समस्या उपस्थित हो गई। उन्होंने मुसलमानों तथा सिक्खों के अतिरिक्त अन्य सम्प्रदाय के अल्प-संख्यकों को इस प्रकार का अधिकार देने का घोर विरोध किया। नेताओं के भगीरथ प्रयास करने पर भी समस्या सुलझ न सकी। बृटिश सरकार तथा अल्प-संख्यकों के प्रतिनिधियों ने इस बात पर बल दिया कि पहिले अल्प-संख्यकों की समस्या सुलझा ली जाय तब विधान की समस्या पर विचार किया जाय। देशी राज्यों के प्रतिनिधियों ने भी संघ-व्यवस्था की स्थापना में अनेक कठिनाइयों की ओर संकेत किया। इन सब कठिनाइयों का परिणाम यह हुआ कि बिना किसी अन्तिम निर्णय पर पहुँचे हुये गोलमेज सभा का द्वितीय अधिवेशन समाप्त कर दिया गया। विभिन्न विषयों का विचार उप-समितियों तथा अल्प-संख्यकों की समस्या का निर्णय इंगलैण्ड के प्रधान मन्त्री रामजे मैकडोनल्ड पर छोड़ दिया गया।

इङ्गलैंड में राष्ट्रीयता सरकार की स्थापना—इस समय इङ्गलैण्ड में भयानक आर्थिक संकट उत्पन्न हो गया जिसे मजदूर सरकार दूर करने में असमर्थ रही। अतएव विवश होकर उसे त्याग-पत्र दे देना पड़ा और आर्थिक सङ्कट का सफलतापूर्वक सामना करने के लिये राष्ट्रीय सरकार का निर्माण किया गया जिसमें अनुदारदल वालों का प्राबल्य था जिसे भारत के राजनैतिक विकास की विशेष चिन्ता न थी।

सरकार का दमन कुचक्र तथा सत्याग्रह आन्दोलन—गांधी जी के इङ्गलैण्ड से लौटने के पूर्व ही लार्ड विलिंगडन ने अपना दमन-कुचक्र आरम्भ कर दिया था। भारत का क्रान्तिकारी दल भी क्रियाशील था। असेम्बली में बम फेंकने के अपराध में भगतसिंह को फांसी का दण्ड दिया गया। बम्बई के स्थानापन्न गवर्नर सर अर्नेस्ट हाटसन पर पूना में गोली चलाई गई परन्तु सौभाग्य से उनके प्राण बच गये। अलीपुर के न्यायाधीश श्री गार्लिक पर भी गोली चलाई गई जिससे उनके प्राण-पखेरू उड़ गये। इसी प्रकार ढाका के जिलाधीश श्री दुर्नो की भी जीवन-लीला गोली चलाकर समाप्त कर दी गई। "यूरोपियन असोसियेशन" के अध्यक्ष श्री विलियर्स पर भी गोली चलाई गई परन्तु निशाना खाली गया और सौभाग्य से उनके प्राण बच गये। उत्तर-प्रदेश में किसान आन्दोलन प्रबल होने लगा और कांग्रेसी नेताओं ने किसानों को लगान न देने की परामर्श दी। लगानबन्दी का आन्दोलन चलाने के लिये किसानों को संगठित किया जाने लगा। फलतः पण्डित जवाहरलाल नेहरू अन्य नेताओं के साथ बन्दी बना लिये गये। सरकार का दमन-कुचक्र अत्यन्त तीव्र गति से चल रहा था। सीमाप्रान्त के "लालकुर्ती दल" को गैर-क़ानूनी घोषित कर दिया गया और उनके नेता खाँ अब्दुल गफ़्फ़ार खाँ तथा उनके भाई डाक्टर खान को बन्दी बना लिया गया। सरकार के दमन-कुचक्र के फल-स्वरूप कांग्रेस कार्य-समिति ने फिर से सत्याग्रह आन्दोलन आरम्भ करने का निश्चय कर लिया। देश की इस गम्भीर परिस्थिति में गांधी जी लंदन से वापस आये। बंबई पहुँचते ही उन्होंने वाइसराय के पास तार भेजा और देश की स्थिति के सम्बन्ध में बातचीत करने की इच्छा प्रकट की परन्तु वाइसराय ने गांधी जी से बातचीत करने से इन्कार कर दिया और बम्बई पहुँचने के तीन दिन उपरान्त गांधी जी भी बन्दी बना लिये गये। गांधी जी के जेल जाते ही सत्याग्रह आन्दोलन अत्यन्त भयङ्कर रूप में आरम्भ हो गया। अविलम्ब कांग्रेस

कार्य-समिति गैर-कानूनी घोषित कर दी गई। स्थान-स्थान पर पुलिस द्वारा लाठी प्रहार किया गया और गोलियाँ चलाई गईं। प्रायः सभी कांग्रेसी नेताओं को कारागार में डाल दिया गया। स्त्रियों ने भी आन्दोलन में बड़े उत्साह के साथ भाग लिया और अत्यन्त श्लाघनीय कार्य किया। दिल्ली में कांग्रेस के अधिवेशन करने की आयोजना की गई और पण्डित मदनमोहन मालवीय को उसका अध्यक्ष मनोनीत कर लिया गया परन्तु दिल्ली पहुँचने के पूर्व ही उन्हें बन्दी बना लिया गया। फलतः कांग्रेस का अधिवेशन न हो सका। इस अशान्ति तथा दमन-कुचक्र के वातावरण में क्रान्तिकारी लोग भी अत्यन्त क्रियाशील हो रहे थे। कलकत्ता विश्वविद्यालय के उपाधि वितरणोत्सव के अवसर पर बीणा दास नामक एक छात्रा ने बङ्गाल के गवर्नर सर स्टेनले जैक्सन पर गोली चला दी परन्तु निशाना ठीक न लगा और वे बच गये। साम्प्रदायिक दङ्गों का प्रकोप भी बढ़ गया और बम्बई में इनका प्राचुर्य हो गया।

साम्प्रदायिक निर्णय—इस बात का पहिले उल्लेख किया जा चुका है कि द्वितीय गोलमेज़ सभा में अल्प-संख्यकों की समस्या सुलझ न सकी थी और प्रमुख नेताओं की सम्मति से इसे इङ्गलैण्ड के प्रधान-मन्त्री सररामजे मैकडोनल्ड के निर्णय पर छोड़ दिया गया था। उन्होंने १६ अगस्त १६३२ को अपने निर्णय की घोषणा की। इस निर्णय को "साम्प्रदायिक निर्णय" (Commual Award) की संज्ञा दी गई है। इसके अनुसार मुसल्मानों, सिक्खों, भारतीय ईसाइयों, एँग्लो इण्डियनों तथा यूरोपियनों को अपने अलग-अलग प्रतिनिधि चुनने का अधिकार दे दिया गया। अन्त्यजों के लिये यह व्यवस्था की गई कि वे सवर्ण हिन्दुओं के साथ भी निर्वाचन में भाग लें और कुछ क्षेत्रों में बीस वर्षों तक वे अपने अलग प्रतिनिधि चुनें। "लखनऊ समझौते" द्वारा मुसल्मानों को जो सुविधायें दी गई थीं वे सब स्वीकार कर ली गईं। पंजाब तथा बङ्गाल में मुसल्मानों को बहु-सख्यक मान लिया गया। साम्प्रदायिक अनुपात के अनुसार स्त्रियों को भी प्रतिनिधित्व प्रदान किया गया। यह व्यवस्था केवल प्रान्तीय धारा-सभाओं के लिये की गई थी। केन्द्रीय व्यवस्थापिका के सम्बन्ध में कोई निर्णय नहीं दिया गया था।

पूना पैक्ट—इङ्गलैण्ड के प्रधान-मन्त्री के इस निर्णय से गांधी जी अत्यन्त क्षुब्ध हुये। अन्त्यजों का सवर्ण हिन्दुओं से पृथक् किया जाना उनके लिये असह्य था। अतएव उन्होंने इस व्यवस्था को परिवर्तित करने के लिये आमरण अनशन करने का निश्चय कर लिया। उन्होंने जेल से प्रधान-मन्त्री तथा भारत-सचिव को लिखा, "गोलमेज सम्मेलन में मैं यह प्रतिज्ञा कर चुका हूँ कि अपने जीते जी अन्त्यजों को हिन्दुओं से अलग न होने दूँगा। साम्प्रदायिक निर्णय से उसी प्रतिज्ञा को पूर्ण करने के लिये मैं बाध्य हो गया हूँ।" गाँधी जी के इस पत्र के उत्तर में प्रधान-मन्त्री ने लिख भेजा, "यदि अन्त्यजों के साथ कोई समझौता हो जाय तो साम्प्रदायिक निर्णय के तत्सम्बन्धी अंश को मैं परिवर्तित कर देने के लिये उद्यत हूँ।" गाँधी जी के अनशन से सम्पूर्ण देश में हलचल मच गई। सवर्ण हिन्दू तथा अन्त्यज दोनों ही अत्यन्त भयभीत हो गये और समझौते का भगीरथ प्रयास आरम्भ हो गया। पण्डित मदनमोहन मालवीय के नेतृत्व में सवर्ण हिन्दू तथा अन्त्यज नेताओं का सम्मेलन हुआ और समझौते का मार्ग ढूँढा जाने लगा। अन्ततोगत्वा डाक्टर अम्बेदकर के प्रस्ताव पर यह निश्चित हो पाया कि अन्त्यज प्रतिनिधियों की संख्या निश्चित रहेगी, निर्वाचन संयुक्त प्रणाली से होगा और कुछ क्षेत्रों में अन्त्यज अपने प्रतिनिधि स्वयम् मनोनीत करेंगे।" गांधी जी ने इस समझौते को स्वीकार कर लिया जो "पूना पैक्ट" के नाम से प्रसिद्ध है और इङ्गलैण्ड के प्रधान-मन्त्री ने भी इस समझौते के अनुसार अपने "साम्प्रदायिक निर्णय" में संशोधन कर दिया। समझौता हो जाने पर गाँधी जी ने अपना

अनशन भङ्ग कर दिया। "पूना पैक्ट" का परिणाम यह हुआ कि अन्त्यजों को साम्प्रदायिक निर्णय की अपेक्षा अब अधिक प्रतिनिधित्व प्राप्त हो गया।

अन्त्यजोद्धार आन्दोलन--जब गांधी जी यरवदा जेल में थे तभी उन्होंने अन्त्यजोद्धार आन्दोलन का दृढ़ सङ्कल्प कर लिया था और उन्हें इस आन्दोलन के चलाने की सुविधायें भी प्राप्त हो गई थीं। फलतः अन्त्यजोद्धार सम्बन्धी गांधी जी के लेख "नव जीवन" में प्रकाशित होने लगे। अस्पृश्यता के दूर करने का भगीरथ प्रयास आरम्भ हो गया और अन्त्यजों को मन्दिर में प्रवेश करने की आज्ञा देने पर बल दिया जाने लगा। कट्टर सनातनी हिन्दुओं ने इसका विरोध किया। मद्रास की प्रान्तीय कौंसिल ने "हरिजन मन्दिर प्रवेश बिल" पास किया परन्तु वाइसराय ने उस पर अपनी स्वीकृति देने से इन्कार कर दिया। उनका कहना था कि ऐसे विषय पर सम्पूर्ण देश का मत जानना आवश्यक है। गांधी जी अपने सङ्कल्प पर दृढ़ रहे और हरिजनोद्धार के कार्य में संलग्न रहे। मई १९३३ के आरम्भ में गांधी जी ने यरावदा जेल से यह घोषित किया कि हरिजनोद्धार के सम्बन्ध में वे २१ दिन का अनशन करेंगे। गांधी जी की इस घोषणा के उपरान्त ही सरकार ने उन्हें कारागार से मुक्त कर दिया। गांधी जी ने पूना की एक कोठी में अपना अनशन आरम्भ किया। इस अनशन का ध्येय गांधी जी ने "आत्मशुद्धि तथा विरोधियों का हृदय-परिवर्तन" बतलाया। कारागार से मुक्त होते ही गांधी जी ने सत्याग्रह आन्दोलन को एक मास के लिये स्थगित करने की घोषणा कर दी। अनेक काँग्रेसी नेताओं ने गांधी जी की इस घोषणा पर क्षोभ प्रकट किया परन्तु गांधी जी अपने निर्णय पर अटल रहे। उनका २१ दिन का अनशन सफलतापूर्वक सम्पादित हो गया।

तृतीय गोलमेज सम्मेलन--१७ नवम्बर १९३२ से लंदन में तृतीय गोलमेज सभा की बैठक आरम्भ हुई। भारत में सत्याग्रह आन्दोलन अत्यन्त द्रुतगति से चल रहा था और कांग्रेसी नेता कारागार में ही पड़े थे। अतएव कांग्रेस ने इस सम्मेलन में भाग नहीं लिया परन्तु उदार दल के नेता और मुसलमानों तथा देशी राज्यों के प्रतिनिधि सभा में विद्यमान् थे। जो विभिन्न समितियां विभिन्न विषयों पर विचार करने के लिये नियुक्त की गई थीं उनकी रिपोर्ट पर विचार किया गया। बृटिश प्रान्तों तथा देशी राज्यों को एक संघ-सूत्र में बांधने की आयोजना की गई। इस सङ्घीय विधान की रूप-रेखा बनाई गई और विभिन्न अङ्गों के अधिकारों का निरूपण किया गया। विधान की इस रूप-रेखा के आधार पर एक विधेयक निर्मित कर पार्लियामेण्ट में उपस्थित करने का निश्चय किया गया।

१९३५ का संविधान-- गोलमेज सम्मेलन तथा विभिन्न समितियों की रिपोर्ट के आधार पर भारत के लिये एक नये संविधान की रूपरेखा मार्च १९३३ में एक "श्वेत-पत्र" के रूप में प्रकाशित की गई। विभिन्न वर्गों तथा दलों ने अपने-अपने दृष्टिकोण से इसकी आलोचना की। १९३४ के अन्त में यह एक विधेयक के रूप में पार्लियामेण्ट में उपस्थित किया गया और उसके दोनों भवनों द्वारा पास कर दिया गया। अगस्त १९३५ में सम्राट् ने उस पर अपनी स्वीकृति दे दी और वह ऐक्ट बन गया। इस संविधान द्वारा निम्नलिखित आयोजनायें की गई :--

संघ शासन की आयोजना--१९३५ के ऐक्ट द्वारा भारत में संघ सरकार के स्थापित करने की आयोजना की गई थी। यह संघ बृटिश प्रांतों तथा देशी राज्यों को मिला कर बना होता। यद्यपि सभी बृटिश प्रान्त संघ में सम्मिलित होने के लिये बाध्य थे परन्तु सभी देशी राज्य संघ में सम्मिलित होने के लिये बाध्य न थे। जो देशी राज्य संघ में सम्मिलित होना चाहता उसे एक प्रवेशपत्र (Instrument of Accession) पर हस्ताक्षर करना पड़ता और इस प्रवेश-पत्र में उन सब विषयों का उल्लेख करना

पड़ता जिन्हें वह देशी राज्य संघ-सरकार को हस्तान्तरित करना चाहता। एक बार संघ का सदस्य बन जाने पर फिर कोई राज्य उससे अलग नहीं हो सकता था। जहाँ तक बृटिश प्रान्तों का सम्बन्ध था इनके अधिकार स्पष्ट रूप से उल्लिखित कर दिये गये थे और जो विषय-संघ सरकार को हस्तान्तरित किये गये थे वे सङ्घ सूची में समाविष्ट कर दिये गये थे।

सङ्घ सरकार की स्थापना के लिये तीन शर्तें रक्खी गई थीं। पहिली शर्त यह थी कि कम से कम इतने देशी राज्य सङ्घ में सम्मिलित होने के लिये उद्यत हों जिनकी जन-संख्या सम्पूर्ण भारत के देशी राज्यों की जन-संख्या की आधी हो। दूसरी शर्त यह थी कि कम से कम इतने देशी राज्य सङ्घ में सम्मिलित होने की इच्छा प्रकट करें जिन्हें राज्य-परिषद् में देशी राज्यों के लिये निर्धारित सदस्यों की संख्या के कम से कम आधे सदस्य भेजने का अधिकार हो। तीसरी शर्त यह थी कि इङ्गलैण्ड की पार्लियामेंट के दोनों भवन सम्राट् से प्रार्थना करें कि वह सङ्घ सरकार की स्थापना की घोषणा करे।

गृह-सरकार में परिवर्तन—१६३५ के ऐक्ट द्वारा गृह सरकार में अनेक परिवर्तन किये गये। इण्डिया कौंसिल जिसका भारतीय नेताओं ने अनेक बार विरोध किया था हटा दी गई और उसके स्थान पर भारत-सचिव की सहायता के लिये परामर्शदाताओं के नियुक्त करने की व्यवस्था की गई। इन परामर्शदाताओं की संख्या कम से कम ३ और अधिक से अधिक ६ हो सकती थी जिनमें से कम से कम आधे सदस्य ऐसे होने चाहिये थे जो कम से कम १० वर्ष तक भारत में सरकारी नौकरी कर चुके हों और २ वर्ष से पहिले नौकरी से अलग न हुये हों। नौकरियों के अतिरिक्त अन्य विषयों में भारत-सचिव अपने परामर्शदाताओं की परामर्श लेने अथवा मानने के लिये बाध्य न था परन्तु नौकरियों के सम्बन्ध में वह परामर्शदाताओं की परामर्श लेने तथा उनके बहुमत के निर्णय के अनुसार कार्य करने के लिये बाध्य था। इस प्रकार १६३५ के विधान ने भारत-सचिव की शक्ति में पहिले से अधिक वृद्धि कर दी।

केन्द्रीय व्यवस्था—१६३५ के ऐक्ट द्वारा केन्द्र में सङ्घ सरकार के स्थापित करने की आयोजना की गई थी। बृटिश सम्राट् इस सङ्घ का प्रधान स्वीकार कर लिया गया था और भारत का शासन अपने प्रतिनिधि (वाइसराय) द्वारा संचालित करने का उसे अधिकार दे दिया गया था।

भारत के गवर्नर-जनरल तथा वाइसराय के कार्यों को तीन भागों में विभक्त किया गया था अर्थात् स्वेच्छाचारी निर्णय से किये जाने वाले कार्य, व्यक्तिगत निर्णय से किये जाने वाले कार्य तथा मन्त्रियों की परामर्श से किये जाने वाले कार्य। स्वेच्छाचारी निर्णय से किये जाने वाले कार्यों को गवर्नर-जनरल अपनी इच्छानुसार कर सकता था और किसी की परामर्श लेने के लिये बाध्य नहीं था। व्यक्तिगत निर्णय से किये जाने वाले कार्यों में उसे अपने मन्त्रियों की परामर्श लेनी पड़ती थी परन्तु वह उनकी परामर्श मानने के लिये बाध्य न था। इसके विपरीत मन्त्रियों की परामर्श से किये जाने वाले कार्यों में वह अपने मन्त्रियों की परामर्श लेने तथा उनके बहुमत के निर्णय को मानने के लिये बाध्य था। स्वेच्छाचारी तथा व्यक्तिगत निर्णय से किये जाने वाले कार्यों में गवर्नर-जनरल भारत-सचिव तथा पार्लियामेंट के प्रति उत्तरदायी बनाया गया था। गवर्नर-जनरल की कुछ विशेष ज़िम्मेदारियाँ निर्धारित की गई थीं जिनका क्षेत्र इतना व्यापक था कि उनकी आड़ में वह भारत के शासन का कोई ऐसा कोना न था जिसमें वह हस्तक्षेप नहीं कर सकता था।

१६३५ के ऐक्ट ने केन्द्र में द्वैध शासन-व्यवस्था के स्थापित करने की आयोजना की थी। सम्पूर्ण केन्द्रीय विषयों को दो भागों में विभक्त किया गया था अर्थात् रक्षित तथा हस्तान्तरित। रक्षित विषयों का प्रबन्ध गवर्नर-जनरल अपने परामर्शदाताओं की परामर्श

से कर सकता था जिनकी संख्या अधिक से अधिक तीन हो सकती थी और जो पूर्ण-रूप से गवर्नर-जनरल के ही प्रति उत्तरदायी होते थे। हस्तान्तरित विषयों का प्रबन्ध गवर्नर-जनरल अपने मन्त्रियों की परामर्श से करता जो सङ्घीय धारा-सभा के सदस्य होते थे और उसी के प्रति उत्तरदायी होते थे। कोई ऐसा भी व्यक्ति मन्त्रि-पद पर नियुक्त किया जा सकता था जो धारा-सभा का सदस्य न हो परन्तु ६ महीने के भीतर उसे उसका सदस्य बन जाना चाहिये था अन्यथा उसे अपना पद त्याग देना पड़ता।

केन्द्र में एक दो भवनों की सङ्घीय धारा-सभा के स्थापित करने की व्यवस्था की गई थी। प्रथम सदन का नाम सङ्घीय लोक-सभा (Federal Assembly) और द्वितीय सदन का नाम राज्य-परिषद् (Council of states) रक्खा गया था। सङ्घीय लोक-सभा के सदस्यों की संख्या ३७५ निश्चित की गई थी जिनमें से १२५ देशी राज्यों के प्रतिनिधि होते और शेष २५० बृटिश प्रान्तों के प्रतिनिधि होते। राज्य-परिषद् के सदस्यों की संख्या २५८ रक्खी गई थी जिनमें से १०२ सदस्य देशी राज्यों के प्रतिनिधि होते और शेष १५६ बृटिश प्रान्तों के प्रतिनिधि होते। लोक-सभा की अवधि ५ वर्ष रक्खी गई थी यदि वह पहिले न भङ्ग कर दी जाय। राज्य-परिषद् एक स्थायी संस्था थी जो कभी भङ्ग न होती और उसके एक-तिहाई सदस्य प्रति तीसरे वर्ष अलग हो जाया करते और उतने ही नये सदस्य निर्वाचित कर लिये जाते। लोक-सभा का चुनाव प्रत्यक्ष और राज्य-परिषद् का अप्रत्यक्ष निर्वाचन पद्धति द्वारा होता। विभिन्न सम्प्रदायों को "साम्प्रदायिक निर्णय" के अनुसार स्थान प्रदान किये गये थे। देशी राज्यों के प्रतिनिधि उन राज्यों के नरेशों द्वारा मनोनीत किये जाते।

विषय-विभाजन—सङ्घ-सरकार में विषय-विभाजन अनिवार्य होता है। अतएव १९३५ के ऐक्ट द्वारा विषय-विभाजन की व्यवस्था भी की गई और तीन सूचियों का निर्माण किया गया अर्थात् सङ्घीय सूची, प्रान्तीय सूची तथा सम्मिलित सूची। इनके अतिरिक्त अवशिष्ट शक्तियों (Residuary Powers) की भी व्यवस्था की गई थी। सङ्घीय सूची के अन्तर्गत कुल ५१ विषय थे जिनका सम्बन्ध सम्पूर्ण भारत से था यथा देश की रक्षा, विदेशी सम्बन्ध, रेल, डाक तथा तार आदि। इन विषयों पर क़ानून बनाने का एक मात्र अधिकार संघीय धारा-सभा को था। प्रान्तीय सूची में कुल ५४ विषय रक्खे गये थे जिनका सम्बन्ध प्रान्तीय तथा स्थानीय बातों से था यथा शिक्षा, भूमि-कर, स्थानीय स्वराज्य, पुलिस इत्यादि। इन विषयों पर क़ानून बनाने का अधिकार प्रान्तीय धारा-सभा को दिया गया था। सम्मिलित सूची (Concurrent List) में कुल ३६ विषय थे। इन विषयों पर संघीय तथा प्रान्तीय दोनों धारा-सभाओं को क़ानून बनाने का अधिकार था। परन्तु दोनों के क़ानूनों में विरोध हो जाने पर संघीय धारा-सभा के बनाये हुये क़ानून को प्राथमिकता मिलती और प्रान्तीय धारा-सभा का बनाया हुआ नियम समाप्त हो जाता। इन तीनों सूचियों के अतिरिक्त अवशिष्ट शक्तियों की भी व्यवस्था की गई थी। यह शक्तियाँ भारत के गवर्नर-जनरल को दे दी गई थीं और वह उन विषयों पर जो निर्धारित तीन सूचियों के अन्तर्गत नहीं आते थे संघीय अथवा प्रान्तीय किसी भी धारा-सभा को नियम बनाने का अधिकार दे सकता था।

प्रान्तीय व्यवस्था—१९३५ के विधान द्वारा प्रान्तों में द्वैध शासन को समाप्त कर दिया गया और प्रान्तों को प्रान्तीय स्वतन्त्रता दे दी गई। प्रान्तों का कार्य-क्षेत्र तथा उनकी आय का साधन निश्चित रूप से निर्धारित कर दिया गया और अपने क्षेत्र में उन्हें स्वतन्त्रतापूर्वक कार्य करने का अधिकार दे दिया गया।

प्रान्तीय गवर्नरों को भी गवर्नर-जनरल की भांति अनेक विशेषाधिकार प्रदान किये गये और अपनी विशेष जिम्मेदारियों की आड़ में वह प्रान्त के सभी कार्यों में हस्तक्षेप कर

सकता था और अपने मन्त्रियों के किसी निर्णय को रद्द कर सकता था। गवर्नर-जनरल की भांति उसे भी कुछ कार्यों को अपने स्वेच्छाचारी निर्णय से, कुछ को अपने व्यक्तिगत निर्णय से और कुछ को अपने मन्त्रियों की परामर्श से करने का अधिकार दे दिया गया था। स्वेच्छाचारी तथा व्यक्तिगत निर्णय से कार्य करने पर गवर्नर प्रत्यक्ष रूप में गवर्नर-जनरल के प्रति और अप्रत्यक्ष रूप में भारत-सचिव तथा पार्लियामेण्ट के प्रति उत्तरदायी होता था।

प्रान्तों में द्वैध शासन व्यवस्था को हटा कर रक्षित तथा हस्तान्तरित विषयों के विभेद को समाप्त कर दिया गया और सभी प्रान्तीय विषयों को एक मन्त्रि-परिषद् की सहायता से प्रबन्ध करने का आदेश गवर्नर को दिया गया। गवर्नर को यह आदेश दिया गया था कि अपने मन्त्रियों का चयन करते समय वह इस बात का ध्यान रक्खे कि वह ऐसे व्यक्ति हों जो प्रान्तीय धारा-सभा में अपना बहुमत बनाये रखने की क्षमता रखते हों। मन्त्रि-परिषद् में अल्पसंख्यकों के भी प्रतिनिधित्व का ध्यान रखने का आदेश गवर्नर को दिया गया था। मन्त्री तभी तक अपने पद पर रह सकते थे जब तक वे प्रान्तीय धारा-सभा तथा गवर्नर के विश्वास-पात्र बने रहे।

बम्बई, मद्रास, बङ्गाल, आसाम, बिहार तथा उत्तर-प्रदेश में दो भवनों की और शेष प्रांतों में एक भवन की धारा-सभाओं के स्थापित करने की व्यवस्था की गई। प्रथम भवन का नाम लेजिस्लेटिव असेम्बली और द्वितीय भवन का नाम लेजिस्लेटिव कौंसिल रक्खा गया। लेजिस्लेटिव असेम्बली की अवधि ५ वर्ष रक्खी गई परन्तु गवर्नर उसे इसके पहिले भी भङ्ग कर सकता था। कौंसिल एक स्थायी संस्था थी जिसके एक तिहाई सदस्य प्रति तीसरे वर्ष अलग हो जाया करते थे और इतने ही नये सदस्य निर्वाचित कर लिये जाते थे। कौंसिल के थोड़े से सदस्यों को छोड़ कर दोनों भवनों के सभी सदस्य "साम्प्रदायिक निर्णय" के अनुसार पृथक् निर्वाचन पद्धति द्वारा निर्वाचित किये जाते थे। दोनों भवनों को समानाधिकार प्राप्त थे और कोई विधेयक तब तक नियम नहीं बन सकता था जब तक वह दोनों सदनों द्वारा पारित न कर दिया जाय परन्तु राजस्व विधेयक केवल प्रथम ही सदन में अर्थात् असेम्बली में ही आरम्भ हो सकते थे। सिन्ध को बम्बई से और उड़ीसा को बिहार से अलग करके दो नये प्रन्तों के प्रस्थापित करने की आयोजना की गई। यह आयोजना पहिली अप्रैल १६३६ को कार्यान्वित कर दी गई। बर्मा को भी भारत से अलग करने तथा अदन को जो १८३६ में अरब वालों से छीन लिया गया था और जो भारत सरकार के अनुशासन तथा नियन्त्रण में था शाही उपनिवेश बनाने की आयोजना की गई। यह आयोजना भी पहिली अप्रैल १६३७ को कार्यान्वित हो गई।

संघीय न्यायालय की व्यवस्था—संघीय-संविधान में संघीय न्यायालय की व्यवस्था का करना अनिवार्य होता है क्योंकि सङ्घ सरकार तथा सङ्घ की इकाइयों में झगड़ा उत्पन्न हो जाने की संभावना सदैव बनी रहती है जिसके निर्णय के लिये एक स्वतंत्र न्यायालय का होना आवश्यक होता है। इसके अतिरिक्त संविधान की संदिग्ध धाराओं का भी स्पष्टीकरण आवश्यक होता है। अतएव १६३५ के विधान द्वारा दिल्ली में एक संघीय न्यायालय के स्थापित करने की व्यवस्था की गई। इसमें एक प्रधान न्यायाधीश तथा उसकी सहायता के लिये ६ सहायक न्यायाधीशों को नियुक्त करने की आयोजना की गई। इस न्यायालय को प्राथमिक, अपीलों के तथा परामर्श देने के अधिकार प्रदान किये गये। संविधान की संदिग्ध धाराओं के स्पष्ट करने के सम्बन्ध में संघीय न्यायालय को प्राथमिक अधिकार प्राप्त था। विभिन्न प्रान्तों की उच्च न्यायालयों में निर्णित ऐसे मामलों की अपीलें भी संघ न्यायालय को सुनने का अधिकार था जिनमें उच्च-न्यायालय इस बात के लिये सर्टिफ़िकेट दे कि कोई गम्भीर क़ानूनी प्रश्न उपस्थित हो गया है

और उसका सम्बन्ध १६३५ के संविधान की किसी धारा से है। गवर्नर-जनरल क़ानूनी मामलों में संघ न्यायालय की परामर्श ले सकता था। इसी संघ न्यायालय ने अब सुप्रीम कोर्ट का रूप धारण कर लिया है।

१६३५ के विधान की आलोचना—इसमें सन्देह नहीं कि १६३५ का संविधान अपने पूर्ववर्ती १६१६ के संविधान के बहुत आगे था परन्तु भारतीयों को इससे बिल्कुल सन्तोष न हुआ। इसका कारण यह था कि विधान में अनेक त्रुटियाँ थीं। इस विधान में पहिली त्रुटि यह थी कि यद्यपि ब्रिटिश प्रान्तों में लोकतन्त्रात्मक शासन की व्यवस्था थी परन्तु देशी राज्यों में जो अब संघ में सम्मिलित होने जा रहे थे पूर्ववत् स्वेच्छाचारी तथा निरंकुश व्यवस्था का विधान रहा और वहाँ की प्रजा के अधिकारों की ओर बिल्कुल ध्यान नहीं दिया गया क्योंकि इन राज्यों के प्रतिनिधियों को वहाँ के नरेश ही मनोनीत करते और प्रजा को उनके निर्वाचित करने का अधिकार नहीं दिया गया था। इसी प्रकार ब्रिटिश प्रान्त तथा देशी राज्य जो संघ की इकाई थे समान कोटि में नहीं रक्खे गये थे। १६३५ के विधान की दूसरी बहुत बड़ी त्रुटि यह थी कि भारत के गवर्नर-जनरल तथा प्रान्तीय गवर्नरों को इतने विशेषाधिकार दे दिये गये थे और उनके विशेष उत्तरदायित्व का क्षेत्र इतना व्यापक बना दिया गया था कि वे स्वेच्छाचारी तथा निरंकुश शासन कर सकते थे और मन्त्रियों तथा भारतीय लोकमत की पूर्ण रूप से उपेक्षा कर सकते थे। इस संविधान का तीसरा महान् दोष यह था कि यद्यपि प्रान्तों में द्वैध शासन व्यवस्था सर्वथा असफल सिद्ध हुई थी परन्तु इस कटु अनुभव के उपरान्त भी इसे केन्द्र में पुनः स्थापित करने का दुस्साहस किया गया।

बिहार का भूकम्प—१५ जनवरी १६३४ में उत्तरी भारत के कई प्रान्तों में भूकम्प आया। इसका सर्वाधिक प्रकोप बिहार में रहा। इस भूकम्प में सहस्रों व्यक्तियों के प्राण गये। कुछ जिलों में तो भूकम्प का वेग इतना भयानक था कि एक भी भवन सुरक्षित न बचा। धन तथा जन की जो क्षति इस भूकम्प में हुई वह भयावह थी। वाइसराय की ओर से एक सहायता कोष खोला गया जिसमें सम्राट् तथा सम्राज्ञी ने भी चन्दा दिया। कांग्रेस की ओर से भी एक कोष खोला गया जिसका प्रबन्ध बाबू राजेन्द्र प्रसाद जी को सौंपा गया। पीड़ितों की सहायता सरकारी तथा गैर-सरकारी दोनों रूपों में की गई।

आर्थिक तथा शिक्षा सम्बन्धी उन्नति—लार्ड विलिंगडन के शासन काल में आर्थिक तथा शिक्षा सम्बन्धी भी कुछ सुधार किये गये। भारतीय श्रमजीवियों की दशा पर विचार करने के लिये १६२६-३१ में जे० एच० ह्विटले की अध्यक्षता में नियुक्त रायल कमिशन ने अपनी रिपोर्ट प्रकाशित की जिसमें अत्यन्त महत्वपूर्ण सुधारों की सिफ़ारिशें की गई थीं। इन सिफ़ारिशों के आधार पर १६३४ में फैक्ट्री ऐक्ट तथा १६३५ में माइन्स ऐक्ट पास किये गये। १६३३ में वर्कमेन्स कम्पेन्सेशन ऐक्ट में सुधार किया गया। १६३४ में रिजर्व बैंक आफ़ इण्डिया ऐक्ट भी पास किया गया। १६३३ में जापान के साथ व्यवसायिक सन्धि की बातचीत की गई। इसी वर्ष लङ्काशायर के प्रतिनिधियों के साथ समझौता किया गया। १६३४ में रायल इण्डियन नेवी का सूत्रपात किया गया। सिन्ध में सक्कर बैरेज भी इसी समय समाप्त हो पाया जो विश्व की सबसे बड़ी सिंचाई की आयोजना है। मद्रास में भी सिंचाई की कई आयोजनाओं की पूर्ति इसी समय हुई। पंजाब यूनीवर्सिटी इन्क्वायरी कमेटी (१६३२-३३) ने इस विश्वविद्यालय के अधिकार क्षेत्र के बढ़ाने की आवश्यकता पर बल दिया और उच्च-शिक्षा की असुविधाओं पर क्षोभ प्रकट किया। कमीशन ने इस बात की सिफ़ारिश की कि माध्यमिक शिक्षा की व्यवस्था में सुधार

किया जाय और विद्यार्थियों का ध्यान आद्यौगिक तथा उपयोगी शिक्षा की ओर आकृष्ट किया जाय।

लार्ड विलिंगडन का चरित्र तथा उसके कार्यों का मूल्यांकन— विलिंगडन बड़ा ही उग्र तथा हठधर्मी वाइसराय था। वह दमन नीति में पूर्ण विश्वास रखता था। उसकी धारणा थी कि उदारता तथा सान्त्वना की नीति से सरकार की दुर्बलता प्रकट होती है। अतएव वाइसराय का पद ग्रहण करते ही उसने अपना दमन-कुचक्र आरम्भ कर दिया। अपने पूरे शासन काल में उसने अपनी कठोरता तथा दमन की नीति से काम लिया और राष्ट्रीय आन्दोलन के दमन का उसने यथाशक्ति प्रयत्न किया परन्तु उसके सभी प्रयत्न निष्फल सिद्ध हुये।

अध्याय १६

लार्ड लिनलिथगो (१९३६-४३)

लिनलिथगो का परिचय—लार्ड लिनलिथगो का जन्म १८८७ ईसवी में हुआ था। उसका प्रारम्भिक नाम विक्टर एलेक्जन्डर होप था। उसका पिता आस्ट्रेलिया का प्रथम गवर्नर-जनरल तथा लिनलिथगो का प्रथम मारक्विस था। १९०८ में अपने पिता के स्थान पर विक्टर एलेक्जन्डर होप लिनलिथगो का मारक्विस हो गया। १९१४-१८ के प्रथम यूरोपीय महासमर में उसने अपने देश की सेवा की। १९२६ में भारतीय कृषि के सम्बन्ध में जो रायल कमिशन नियुक्त किया गया था उसका वह अध्यक्ष बना दिया गया था। १९३३ में भारतीय संविधान के सुधार के लिये नियुक्त की गई पार्लियामेण्ट की संयुक्त विशेषज्ञ समिति (Joint Select Committee) का वह अध्यक्ष नियुक्त किया गया। १९३६ में वह लार्ड विलिंगडन के स्थान पर वाइसराय नियुक्त होकर भारत आ गया और १८ अप्रैल को अपना कार्य-भार ग्रहण कर लिया। इस प्रकार लार्ड लिनलिथगो भारतीय परिस्थितियों से पूर्णतया अवगत थे। भारत के ग्राम्य-जीवन से वे परिचित थे और सुधार क़ानून का उन्हें पूर्ण ज्ञान था। सम्भवतः वाइसराय के पद पर उनकी नियुक्ति का यही सबसे बड़ा कारण था। पद ग्रहण करते ही वाइसराय ने भारतीयों के प्रति अपनी सहानुभूति तथा सद्भावना प्रकट की और तन-मन से उनकी सेवा करने का आश्वासन दिया।

नया निर्वाचन—*१९३५ के संविधान द्वारा आयोजित केन्द्रीय व्यवस्था कार्यान्वित* नहीं की गई परन्तु प्रान्तीय व्यवस्था के अनुसार कार्य करना आरम्भ कर दिया गया। केन्द्रीय लोक-सभा का निर्वाचन १९१९ के विधान के ही अनुसार किया गया। इस निर्वाचन में कांग्रेस ने ४४ स्थान प्राप्त किया और इतने ही स्थान अन्य राजनैतिक दल वालों को प्राप्त हुये। इनके अतिरिक्त २६ सरकारी सदस्य और १३ सरकार द्वारा मनोनीत सदस्य थे। इस प्रकार केन्द्रीय लोक-सभा में कांग्रेस का ही बहुमत था। लोक-सभा में कांग्रेस को मुस्लिम लीग का सहयोग प्राप्त हो गया। इस सहयोग के फलस्वरूप सरकारी बजट अस्वीकृत कर दिया गया और बाध्य होकर गवर्नर-जनरल को उसे अपने विशेषाधिकार से पास करना पड़ा।

१९३६ के अन्त में प्रान्तीय धारा-सभाओं के लिये १९३५ के विधान के अनुसार निर्वाचन आरम्भ हुये। यद्यपि भारत के सभी प्रमुख राजनैतिक दलों ने और विशेष कर कांग्रेस ने १९३५ के विधान की तीव्र आलोचना तथा विरोध किया था परन्तु निर्वाचन में सभी राजनैतिक दलों ने भाग लिया। इस चुनाव में कांग्रेस को अभूतपूर्व सफलता प्राप्त हुई और मद्रास, उत्तर-प्रदेश, बिहार, उड़ीसा तथा मध्य-प्रदेश में कांग्रेस का पूर्ण बहुमत रहा। सीमा-प्रान्त में लालकुर्ती दलवालों का बहुमत रहा जिन्होंने कांग्रेस के कार्य-क्रम को स्वीकार कर लिया। अतएव उस प्रान्त में भी कांग्रेस का बहुमत रहा परन्तु पंजाब सिन्ध, आसाम तथा बङ्गाल में मुस्लिम लीग का ही बहुमत रहा।

मन्त्रि-मण्डल के निर्माण की समस्या—चूँकि कई प्रान्तों में कांग्रेस का बहुमत था अतएव उन प्रान्तों में कांग्रेसी मन्त्रिमण्डल बनाने की जटिल समस्या

सामने आ गई। पद-ग्रहण के सम्बन्ध में कांग्रेस में बहुत दिनों से मत-भेद चल रहा था। पद-ग्रहण की समस्या पर विचार करने के लिये फ़रवरी १९३७ में अखिल भारतीय कांग्रेस समिति की एक बैठक की गई। इस बैठक में यह निश्चित हुआ कि "यदि गवर्नर यह आश्वासन दें कि वे मन्त्रियों की वैधानिक कार्यवाहियों को निष्फल करने के लिये अपने विशेषाधिकारों का प्रयोग न करेंगे तो प्रान्तों में कांग्रेसी सरकारों का निर्माण किया जाय।" पहिली अप्रैल १९३७ से नये संविधान के अनुसार प्रान्तों में कार्य आरम्भ हो गया। अस्तु जिन प्रान्तों में कांग्रेस का बहुमत था वहाँ के गवर्नरों ने कांग्रेस दल वालों को मन्त्रिमण्डल बनाने के लिये आमन्त्रित किया। इस पर कांग्रेस महासमिति के निर्णयानुसार गवर्नरों से विशेषाधिकारों के प्रयोग न करने का आश्वासन माँगा गया परन्तु गवर्नरों ने आश्वासन देने में अपनी असमर्थता प्रकट की। फलतः कांग्रेस ने मन्त्रिमण्डल बनाने से इन्कार कर दिया। तब अल्प-संख्यकों की सहायता से मन्त्रिमण्डल बनाये गये परन्तु इस व्यवस्था का चलना असम्भव था क्योंकि कांग्रेस का बहुमत होने के कारण यह मन्त्री किसी भी समय अविश्वास का प्रस्ताव पास करके पद से हटाये जा सकते थे। अतएव सरकार कांग्रेस से समझौता करने के लिये बाध्य थी। मन्त्रिमण्डल के निर्माण करने के सम्बन्ध में कांग्रेस तथा भारत सरकार में बहुत दिनों तक वार्ता चलती रही। गाँधी जी ने इस झगड़े के निवारण में मध्यस्थता की जिसके फल-स्वरूप अन्त में समझौता हो गया। जून १९३७ में लार्ड लिनलिथगो ने यह घोषणा की कि "संरक्षण के अधिकार केवल विशेष परिस्थितियों के लिये रक्खे गये हैं। साधारण कार्यों में गवर्नरों द्वारा विशेषाधिकारों के प्रयोग की कोई आवश्यकता नहीं। भारत में पूर्ण रूप से संसदीय व्यवस्थाए थापित हों, इसके लिये मैं स्वयम् प्रयत्नशील रहूँगा।" गवर्नर-जनरल द्वारा इस प्रकार का आश्वासन दिये जाने पर कांग्रेस मन्त्रिमण्डल बनाने के लिये उद्यत हो गई। अल्प-संख्यकों के जो मन्त्रिमण्डल बने थे वे स्वतः समाप्त हो गये और उनके स्थान पर कांग्रेसी मन्त्रिमण्डल बन गये।

प्रथम कांग्रेसी मन्त्रिमण्डल—कांग्रेस के उपरोक्त निर्णय के फल-स्वरूप मद्रास, बम्बई, उत्तर-प्रदेश, बिहार, मध्य-प्रदेश, उड़ीसा तथा सीमा-प्रान्त में कांग्रेसी मन्त्रिमण्डलों का निर्माण हो गया। कांग्रेस के बड़े-बड़े नेता मन्त्रिमण्डलों में नहीं सम्मिलित हुये परन्तु इन मन्त्रिमण्डलों की कार्य-विधि का निरीक्षण करने के लिये बड़े-बड़े नेताओं का एक बोर्ड बना दिया गया। प्रान्तीय नेताओं को ही इन प्रान्तों का प्रधान-मन्त्री बनाया गया। राष्ट्रीय विचार के मुसल्मानों तथा हरिजनों को भी इन मन्त्रिमण्डलों में स्थान प्रदान किया गया। कांग्रेसी मन्त्रियों ने बड़े उत्साह के साथ अपने कार्य को आरम्भ किया। सभी कांग्रेसी प्रान्तों में एक ही प्रकार की नीति का अनुसरण किया गया और कांग्रेसी मन्त्रियों ने कराची कांग्रेस के प्रस्तावानुसार केवल ५०० रुपये मासिक वेतन लेना स्वीकार किया। सभी प्रान्तीय असेम्बली में एक प्रस्ताव पारित करके विधान सम्मेलन की माँग बृटिश सरकार से की गई। मद्य-निषेध के लिये भी नियम बनाये गये। लोकोपयोगी कार्यों में अधिक धन व्यय करने की आयोजनायें की गई। बुनियादी शिक्षा जिसे "वार्धा योजना" की संज्ञा दी गई है अपनायी गई। चिकित्सा के क्षेत्र में देशी-पद्धतियों की ओर विशेष ध्यान तथा प्रोत्साहन दिया गया। जो असहयोग आन्दोलन के काल में बृटिश सरकार के दमन कुचक्र के शिकार बन गये थे उनकी भी सहायता करने का प्रयत्न किया गया। अनेक राजनैतिक बन्दियों को मुक्त कर दिया गया। कुछ राजनैतिक बन्दियों के प्रश्न पर उत्तर-प्रदेश तथा बिहार के गवर्नरों तथा मन्त्रियों में मत-भेद उत्पन्न हो गया जिसके फल-स्वरूप इन दोनों प्रान्तों के मन्त्रियों ने त्याग-पत्र दे दिया और महान् वैधानिक संकट उत्पन्न हो गया। किन्तु वाइसराय तथा महात्मा गांधी की

मध्यस्थता के फल-स्वरूप समझौता हो गया और मन्त्रियों ने अपना त्याग-पत्र वापस ले लिया। कांग्रेसी सरकार ने देशी उद्योग-धन्धों को भी प्रोत्साहन दिया और किसानों तथा श्रमजीवियों की स्थिति के सुधारने के लिये भी प्रयत्न किये गये और कुछ नियम बनाये गये। समाज के सुधार की ओर भी विशेष रूप से ध्यान दिया गया और हरिजनों को शिक्षा तथा नौकरियों की विशेष सुविधायें दी गईं। मन्दिर-प्रवेश तथा अस्पृश्यता-निवारण का भी प्रयत्न किया गया। जनता को सैनिक शिक्षा भी देने की आयोजनायें बनाई गईं।

अन्य प्रान्तों का शासन—बङ्गाल, आसाम, पंजाब तथा सिन्ध में मुसलमानों का बहुमत था परन्तु इन प्रान्तों में किसी एक दल का पूर्ण बहुमत न था। अतएव किसी एक दल के मन्त्रिमण्डल बनने की सम्भावना न थी। अतः इनमें कुछ दलों के संयुक्त मन्त्रिमण्डल बने। उनमें अल्पसंख्यकों के भी कुछ प्रतिनिधियों का समावेश हो सका। किसी एक दल का मन्त्रिमण्डल न होने के कारण इन प्रान्तों में दलबन्दी का प्रकोप व्याप्त हो गया और निरन्तर संघर्ष चलता रहा। सिन्ध में मन्त्रिमण्डल बड़ा अस्थायी था और १९३७ से १९४३ तक पाँच बार मन्त्रिमण्डल का परिवर्तन हुआ। ऐसी स्थिति में इन प्रान्तों में कोई विशेष योजनायें न बन सकीं। इन प्रान्तों में कांग्रेस ने विरोधी दल का स्थान ग्रहण किया और सरकार की आलोचना करना ही इसका प्रमुख कार्य रहा।

पाकिस्तान का बीजारोपण—दो राष्ट्र के सिद्धान्त पर भारत में इन्हीं दिनों पाकिस्तान का भी बीजारोपण हुआ। इसमें सन्देह नहीं कि शताब्दियों से साथ-साथ रहने पर भी हिन्दुओं तथा मुसलमानों के सामाजिक तथा सांस्कृतिक जीवन में साम्य न उत्पन्न हो सका और उनकी रहन-सहन तथा उनके आचार-व्यवहार एक दूसरे से भिन्न रहे। धार्मिक दृष्टिकोण से भी यह दोनों जातियाँ एक दूसरे से सर्वथा भिन्न हैं। इस सामाजिक, सांस्कृतिक तथा धार्मिक वैषम्य के कारण द्विराष्ट्र सिद्धान्त का सूत्रपात हुआ अर्थात् भारत में एक के स्थान पर दो राष्ट्र हैं जिनकी सभ्यता तथा संस्कृति एक दूसरे से भिन्न है। अत-एव मुसलमानों तथा हिन्दुओं का अलग-अलग राज्य होना चाहिये। फलतः कुछ मुसल-मान नेताओं ने पंजाब, सीमा-प्रान्त, सिन्ध तथा बलूचिस्तान को मिला कर एक मुस्लिम राज्य स्थापित करने की कल्पना करनी आरम्भ कर दी। इस राज्य को पाकिस्तान की संज्ञा देने का निश्चय किया गया। वास्तव में गोलमेज सम्मेलन के अधिवेशन के समय ही लन्दन में पाकिस्तान राष्ट्रीय आन्दोलन वहाँ रहने वाले मुसलमानों ने आरम्भ कर दिया था। पंजाब निवासी चौधरी रहमत अली इस आन्दोलन के नेता थे। उन्होंने अपनी एक पुस्तिका में लिखा "भारत में मुसलमान एक राष्ट्र के रूप में बारह सौ वर्षों से रह रहे हैं। उनका इतिहास, उनकी संस्कृति तथा उनकी सभ्यता अलग है। जिस प्रदेश में उनकी अधिकता है वह मुख्य भारत का भाग नहीं। यमुना नदी से वह भाग अलग हो जाता है। वहाँ के निवासियों के पूर्वज मध्य-एशिया से आये थे। केवल भौगोलिक दृष्टि से ही नहीं वहाँ के रहने वालों के जीवन की प्रत्येक बात में हिन्दुओं से भेद है।" उस समय इस आन्दोलन पर विशेष ध्यान नहीं दिया गया परन्तु यह आन्दोलन क्रमशः प्रबल होता गया। पंजाब के सर सिकन्दर हयात खाँ ने १९३९ में भारत के पश्चिमोत्तर तथा पूर्वोत्तर के उन प्रदेशों का जिनमें मुसलमान बहुसंख्यक हैं एक स्वतन्त्र समूह बनाने और इसी प्रकार जिन प्रदेशों में हिन्दू बहुसंख्यक हैं उनका अलग स्वतन्त्र समूह बनाने की आयोजना की और बतलाया कि इन दोनों का एक संघ हो जिसमें केन्द्रीय संघ-सरकार के हाथ में सुरक्षा, परराष्ट्रनीति, मुद्रा तथा यातायात हों। मुहम्मद अली जिन्ना ने इस सिद्धान्त को और परिवर्द्धित किया और अपने एक लेख में लिखा, "भारत में दो राष्ट्र हैं,

इन दोनों का अपनी मातृ-भूमि में साझा होना चाहिये।" इस प्रकार पाकिस्तान की चर्चा आरम्भ हो गई जिसके फल स्वरूप अन्ततोगत्वा देश का विभाजन हो गया।

पाकिस्तान के आन्दोलन के फल-स्वरूप कांग्रेस तथा मुस्लिम लीग का मनोमालिन्य द्रुतगति से बढ़ने लगा और हिन्दुओं तथा मुसलमानों की पारस्परिक घृणा तथा द्वेष में वृद्धि होने लगी। फलतः साम्प्रदायिक दंगों का प्रकोप बढ़ने लगा। मुस्लिम लीग वालों ने कांग्रेसी सरकारों की घोर निन्दा करनी आरम्भ की। मुहम्मद अली जिन्ना ने अपने एक वक्तव्य में कहा कि "कांग्रेसी शासन में मुसलमानों के साथ न्याय नहीं हो सकता। उसकी तानाशाही नीति की चट्टान पर साम्प्रदायिक शान्ति की आशा चकनाचूर हो गई।" इस प्रकार के वक्तव्यों से स्थिति बिगड़ती ही गई। तिरंगे झण्डे के साथ-साथ लीग के झण्डे के फहराने का भी प्रयत्न किया गया और वन्देमातरम् के गान पर आपत्ति की गई। इस प्रकार के कार्यों में लीग को बृटिश सरकार से भी बड़ा प्रोत्साहन मिला और हमारे राष्ट्रीय आन्दोलन में बाधायें उत्पन्न होने लगीं।

हिन्दू महासभा की प्रतिक्रिया—मुस्लिम लीग की पृथक् राष्ट्र तथा भारत में स्वतन्त्र मुस्लिम राज्य स्थापित करने की नीति के फल-स्वरूप हिन्दू महासभा की प्रतिक्रिया आरम्भ हुई। लाहौर के भाई परमानन्द तथा पूना के विनायक दामोदर सावरकर के नेतृत्व में हिन्दू महासभा ने इस बात पर बल देना आरम्भ किया कि "हिन्दुस्तान हिन्दुओं का ही देश है। वस्तुतः हिन्दू ही राष्ट्र है, वे मुसलमानों की खुशामद नहीं कर सकते।" १९३९ के नागपुर के अधिवेशन में अध्यक्षपद से श्री सावरकर जी ने कहा था, "कम से कम गत पांच हजार वर्षों से हिन्दुत्व का भाव हिन्दू राष्ट्र का निर्माण कर रहा है, हिन्दू राष्ट्र यह एक तथ्य है, उसे बनाना नहीं है। हिन्दुस्तान में हिन्दू पद पादशाही स्थापित करना प्राचीन काल से हिन्दुओं का आदर्श रहा है।" इस प्रकार हिन्दुओं तथा मुसलमानों के पार्थक्य की वृद्धि करने में मुस्लिम लीग तथा हिन्दू महासभा क्रियाशील थे और कांग्रेस किम्कर्तव्यविमूढ़ सी हो रही थी।

अग्रगामी दल का जन्म—कांग्रेस की शैशवावस्था से ही उसमें उग्र तथा नम्र दो दल विद्यमान् थे। इनमें प्रायः मत-भेद चलता रहता था। इन दिनों यह मत-भेद बहुत बढ़ गया और इसने अत्यन्त उग्र रूप धारण कर लिया। हरिपुरा कांग्रेस के अधिवेशन में श्री सुभाषचन्द्र बोस ने अध्यक्ष का आसन ग्रहण किया। उन्होंने इस बात पर बल दिया कि नम्र नीति से कार्य नहीं चलेगा। अतएव कांग्रेस को उग्र कार्य-क्रम बनाना चाहिये और बृटिश सरकार को स्वतन्त्रता देने के लिये बाध्य करना चाहिये। कांग्रेस के अधिकांश वयोवृद्ध नेता बोस जी के कार्य-क्रम से सहमत न थे। कांग्रेस का अगला अधिवेशन त्रिपुरी में होने वाला था। कांग्रेस के महारथियों की इच्छा के विरुद्ध सुभाष जी अध्यक्ष-पद के लिये चुनाव लड़े और उसमें सफलता प्राप्त की। इस चुनाव में डा० पट्टाभि सीतारमैया जी के विरुद्ध खड़े हुये थे। पट्टाभि की पराजय को गांधी जी ने अपनी पराजय समझा। ज्वर-ग्रस्त होने पर भी बोस जी त्रिपुरी गये। वहाँ उनका कांग्रेस के वयोवृद्ध नेताओं के साथ बड़ा मत-भेद रहा। इस विरोध के फल-स्वरूप इस प्रकार की स्थिति उत्पन्न हो गई कि सुभाष जी को अपना पद-त्यागने के लिये विवश होना पड़ा। अब उन्होंने कांग्रेस के अन्तर्गत ही अपना एक अग्रगामी दल (Forward Block) बनाया जिसका ध्येय रक्खा गया सभी साम्राज्य विरोधी उग्र विचारवालों का एक संयुक्त मोर्चा बनाना। यद्यपि इस अग्रगामी दल को सुभाष चन्द्र बोस जैसे योग्य तथा उत्साही व्यक्ति का नेतृत्व प्राप्त था परन्तु कांग्रेस के भीतर यह अपना सम्बल स्थापित न कर सका।

राजकोट का झगड़ा—राजकोट का छोटा सा राज्य काठियावाड़ में स्थित है। चूँकि गांधी जी के पिता राजकोट के दीवान रह चुके थे अतएव गांधी जी का उस राज्य से अत्यन्त घनिष्ठ सम्बन्ध था। राजकोट के किसान ने अपने कुछ कष्टों के कारण सत्याग्रह आन्दोलन आरम्भ कर दिया। अन्त में यह समझौता हो गया कि मामले की जाँच के लिये एक समिति बनाई जाय। दोनों पक्षों के प्रतिनिधि इस समिति के सदस्य मनोनीत किये जायँ जो मामले की जांच करके सुधार के सुझाव दें। परन्तु इस समिति के सङ्गठन के सम्बन्ध में मत-भेद आरम्भ हो गया। इससे मामला खटाई में पड़ गया। गांधी जी को इससे बड़ा दुःख हुआ। वे राजकोट गये और वहां पर उन्होंने अनशन करना आरम्भ कर दिया। इससे जनता में बड़ी हलचल मच गई। मत-भेद में कौन सा पक्ष दोषी था इसका निर्णय कराने के लिये मामला संघ-न्यायालय के प्रधान न्याया-धीश के पास भेजा गया। उन्होंने अपना निर्णय गांधी जी के पक्ष में दे दिया। वाइसराय का भी राजकोट के शासक पर बहुत बड़ा दबाव रहा। फलतः समझौता हो गया। शासक ने गांधी जी के प्रति अपनी कृतज्ञता प्रकट की और किसानों की शिकायतों के दूर करने तथा सुधार करने का वचन दिया। इस प्रकार झगड़ा समाप्त हो गया। राजकोट के सम्बन्ध में गांधी जी ने बाद में स्वीकार किया कि वे अहिंसात्मक न रह सके थे क्योंकि उनके अनशन से राजकोट के शासक पर दबाव पड़ा था।

द्वितीय महासमर तथा भारत—सितम्बर १६३६ में द्वितीय महासमर यूरोप में आरम्भ हो गया। जर्मनी ने पोलैंड पर आक्रमण कर दिया और इटली को अपनी ओर मिला लिया। इन दिनों नेवाइल चेम्बरलेन इङ्गलैण्ड के प्रधान-मन्त्री थे। वे शान्ति तथा सान्त्वना की नीति का अनुसरण करना चाहते थे परन्तु युद्ध आरम्भ हो जाने पर विवश होकर उन्हें अपनी नीति बदल देनी पड़ी और इङ्गलैण्ड तथा फ्रांस ने जर्मनी के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी। भारत सरकार ने भी अविलम्ब अपनी नीति निर्धारित कर ली। ३ सितम्बर को वाइसराय लार्ड लिनलिथगो ने यह घोषणा की कि भारत का भी जर्मनी के साथ युद्ध है। यद्यपि भारत के सभी बड़े-बड़े नेताओं की सहानुभूति ग्रेट बृटेन के साथ थी और इस सङ्कटापन्न स्थिति में वे उसे तङ्ग नहीं करना चाहते थे परन्तु भारत के बरबस युद्ध में घसीट जाने के पक्ष में वे न थे। अतएव युद्ध में बृटेन को सहायता देने के सम्बन्ध में नेताओं में मत-भेद उत्पन्न हो गया। कांग्रेस की ओर से एक वक्तव्य निकाला गया जिसमें कहा गया कि "बृटिश सरकार को पहिले युद्ध का उद्देश्य स्पष्ट शब्दों में घोषित कर देना चाहिये। यदि इसका मुख्य उद्देश्य लोकतन्त्र की रक्षा है जैसा कि बतलाया जाता है तो बृटिश सरकार को यह स्पष्ट रूप से बतला देना चाहिये कि भारत में साम्राज्यवाद का अन्त करके किस प्रकार की व्यवस्था स्थापित की जायगी जिससे वह एक स्वतन्त्र राष्ट्र होकर अपने भविष्य का निर्णय कर सके।" युद्ध के सम्बन्ध में मुस्लिम लीग की प्रतिक्रिया उसके इस प्रस्ताव में निहित थी "नई शासन-व्यवस्था से कई प्रान्तों में हिन्दू राज्य स्थापित हो गया है जिससे मुसलमानों के जीवन, उनकी सम्पत्ति तथा स्वतन्त्रता को आपत्ति उत्पन्न हो गई है। यदि बृटिश सरकार युद्ध में मुसलमानों का पूर्ण सहयोग प्राप्त करना चाहती है तो उसे मुसलमानों को इस अत्याचार से मुक्त करना चाहिये और यह वचन देना चाहिये कि बिना मुस्लिम लीग की पूर्ण स्वीकृति के कोई भी नवीन शासन-व्यवस्था निश्चित न की जायगी।' हिन्दू महासभा ने मुस्लिम लीग की साम्प्रदायिक मनोवृत्ति की घोर निंदा की और यह मत प्रकट किया कि "केन्द्र में उत्तरदायी सरकार स्थापित होनी चाहिये और शीघ्र ही औपनिवेशिक स्वराज्य प्रदान करने का आश्वासन मिलना चाहिये।"

वाइसराय की घोषणा—प्रमुख राजनैतिक दलों की प्रतिक्रियाओं से अवगत हो

जाने के उपरान्त वाइसराय ने यह घोषणा की कि "सम्राट् की सरकार की यह इच्छा है कि युद्ध समाप्त हो जाने पर भारत के प्रधान राजनैतिक दलों तथा देशी नरेशों के प्रतिनिधियों से परामर्श करके शासन-व्यवस्था में समुचित संशोधन किये जायें। इस बीच में प्रतिनिधियों की एक परामर्शदात्री समिति निर्मित की जाय जो सरकार को युद्ध सम्बन्धी विषयों में अपनी सम्मति देती रहे।" वाइसराय के इस वक्तव्य से गाँधी जी को बड़ा क्षोभ हुआ और अपनी भावनाओं को उन्होंने इस प्रकार व्यक्त किया, "यदि घोषणा न की गई होती तो अच्छा होता। वाइसराय के लम्बे वक्तव्य से ज्ञात होता है कि बृटिश सरकार अब भी 'विभाजन तथा शासन' की नीति का परित्याग करना नहीं चाहती। कांग्रेस इसमें कदापि साथ नहीं दे सकती। युद्ध के उपरान्त फिर एक गोलमेज सम्मेलन का वचन दिया गया है। पहिले की भांति उसका भी निष्फल होना निश्चित है। कांग्रेस ने माँगी रोटी परन्तु मिले उसे पत्थर।"

कांग्रेसी मन्त्रियों द्वारा पद-त्याग—गाँधी जी के इस वक्तव्य ने अविलम्ब विरोध का वातावरण उपस्थित कर दिया। फलतः कांग्रेसी प्रान्तों की व्यवस्थापिकाओं में यह प्रस्ताव पारित किया गया कि "असेम्बली को खेद है कि बिना जनता की परामर्श लिये ही बृटिश सरकार ने भारत की ओर से युद्ध की घोषणा कर दी है।" बृटिश सरकार ने कांग्रेस द्वारा किये गये प्रश्नों का कोई सन्तोषजनक उत्तर न दिया। फलतः कांग्रेस कार्य-समिति ने यह निश्चय किया कि "प्रान्त के सभी मन्त्रियों को अपने पद से त्याग-पत्र दे देना चाहिये।" इसी समय मुस्लिम लीग के अध्यक्ष मुहम्मद अली जिन्ना ने यह माँग उपस्थित की कि "मुसलमानों पर कांग्रेसी अत्याचारों की जाँच के लिये एक शाही कमीशन नियुक्त किया जाय।" इसके बाद जिन्ना साहब ने यह आदेश निकाला कि "कांग्रेसी सरकारों द्वारा पद-त्याग करने पर २२ दिसम्बर को मुसलमान सर्वत्र "मुक्ति दिवस" मनायें, उस दिन सभायें करके कांग्रेसी अत्याचार के विरुद्ध प्रस्ताव पास किये जायें और उससे मुक्ति प्राप्त होने के उपलक्ष में आनन्दपूर्वक प्रार्थनायें की जायँ।" कांग्रेस कार्य-समिति के आदेशानुसार कांग्रेसी प्रान्तों के मन्त्रियों ने त्याग-पत्र दे दिया। फलतः इन प्रान्तों में गवर्नरों का शासन स्थापित हो गया और यह लोग परामर्शदाता नियुक्त करके अपने-अपने प्रान्त का शासन चलाने लगे।

व्यक्तिगत सत्याग्रह—अगस्त १९४० में लार्ड लिनलिथगो ने यह घोषणा की कि "कुछ भारतीय नेताओं को सम्मिलित करने के विचार से वाइसराय की कार्य-कारिणी के सदस्यों की संख्या में वृद्धि की जायगी और सभी दलों के प्रतिनिधियों की एक 'युद्ध परामर्शदात्री समिति' नियुक्त की जायगी। भावी शासन-विधान के सम्बन्ध में भी समय आने पर बृटिश सरकार प्रतिनिधियों का एक सम्मेलन आमन्त्रित करेगी।" वाइसराय की कार्यकारिणी के पुनर्संगठन तथा अन्य विषयों के सम्बन्ध में गाँधी जी की वाइसराय के साथ कई बार बात-चीत हुई परन्तु समझौते के सभी प्रयत्न निष्फल सिद्ध हुये और कांग्रेस वाइसराय की कार्यकारिणी में अपने प्रतिनिधि भेजने के लिये उद्यत न हुई। इसके बाद गाँधी जी ने वाइसराय से यह अनुमति माँगी कि काँग्रेसी नेताओं को युद्ध में भाग न लेने का प्रचार करने का अधिकार मिलना चाहिये। वाइसराय के लिये इस प्रकार की अनुमति देना असम्भव था। अतएव उन्होंने अनुमति देने से इन्कार कर दिया। मुस्लिम लीग को मिलाने का वाइसराय ने प्रयत्न किया और केन्द्रीय कार्यकारिणी में उसे दो स्थान प्रदान किया गया परन्तु उसने इसे स्वीकार नहीं किया लेकिन इतना स्पष्ट कर दिया कि युद्ध प्रयत्न में वह सरकार के साथ सहयोग करेगी। गांधी जी के निर्णय के अनुसार युद्ध-विरोधी भाषण आरम्भ हो गये और नवम्बर १९४० में पं० जवाहरलाल नेहरू की युद्ध-विरोधी

भाषण देने के अपराध में बन्दी बना लिया गया और १६ महीने के लिये कारागार का कठोर दण्ड दिया गया। गांधी जी ने व्यक्तिगत सत्याग्रह की पूर्ण योजना बना ली थी और १५०० सत्याग्रहियों की सूची तैयार हो गई थी। सरकार ने अपना दमन-चक्र चलाना आरम्भ कर दिया और कांग्रेसी नेताओं की जेल-यात्रा आरम्भ हो गई। जनवरी १९४१ में कांग्रेस के अध्यक्ष मौलाना अबुल कलाम आजाद को बन्दी बना लिया गया। इससे देश भर में बड़ी सनसनी फैल गई। आजाद साहब को अठारह महीने का कारागार का दण्ड दे दिया गया। २७ जनवरी को श्री सुभाष चन्द्र बोस जो अपने घर में ही नजरबन्द किये गये थे अज्ञात स्थान के लिये विलुप्त हो गये।

युद्ध की प्रगति—इधर भारत में राष्ट्रीय आन्दोलन गतिमान् हो रहा था उधर यूरोप का महासमर भी अत्यन्त विकराल रूप धारण करता जा रहा था। पोलैण्ड की स्वतन्त्रता को जर्मनी ने समाप्त कर दिया और रूस तथा जर्मनी ने उसे आपस में बाँट लिया। रूस ने फिनलैंड पर आक्रमण कर दिया परन्तु थोड़े ही दिनों बाद दोनों राज्यों में सन्धि हो गई। जर्मनी की विजय आयोजना अत्यन्त द्रुतगति से चल रही थी और नार्वे, डेनमार्क, हालैंड, बेल्जियम आदि देश जर्मनी की सेनाओं के सम्मुख धराशायी हो गये। जब जर्मनी ने फ्रांस पर आक्रमण किया तब इटली भी जो अभी तक तटस्थ था जर्मनी की ओर से युद्ध में सम्मिलित हो गया। इस प्रकार मित्र राष्ट्रों के विरुद्ध धुरी राष्ट्रों का प्रादुर्भाव हुआ। अब जर्मनी ने यूनान पर आक्रमण कर दिया और उस पर अपना अधिकार स्थापित कर लिया। रूमानिया, बलगारिया आदि बल्कान राज्यों पर भी जर्मनी का अधिकार स्थापित हो गया। अब जर्मनी ने इङ्गलैंड पर बुरी तरह बम-वर्षा आरम्भ की। इन्हीं विकट परिस्थितियों में अमेरिका भी मित्र राष्ट्रों की ओर से युद्ध में सम्मिलित हो गया। जून १९४१ में बिना युद्ध की घोषणा किये सहसा जर्मनी ने रूस पर आक्रमण कर दिया। फलतः रूस भी मित्र-राष्ट्रों के गुट में सम्मिलित हो गया। इस प्रकार युद्ध का क्षेत्र क्रमशः बढ़ने लगा। धुरी राष्ट्रों की सेनाओं ने अफ्रीका को रण-क्षेत्र बना दिया और वहाँ पर घमासान युद्ध आरम्भ हो गया। मिश्र भी युद्ध की लपटों से बच न सका। इस प्रकार पश्चिम की ओर से युद्ध की गति क्रमशः भारत की ओर बढ़ रही थी। दिसम्बर १९४१ में जापान भी धुरी राष्ट्रों की ओर से युद्ध में सम्मिलित हो गया और बिना किसी प्रकार की सूचना दिये उसने हवाई द्वीप के बन्दरगाह में स्थित अमेरिका के जहाजों पर आक्रमण करके उन्हें नष्ट-भ्रष्ट कर दिया। जापान के युद्ध में सम्मिलित हो जाने के फलस्वरूप युद्ध की स्थिति तथा प्रगति में बहुत बड़ा परिवर्तन हो गया। जापान ने अत्यन्त द्रुतगति से थाइलैंड, मलाया, फिलिपाइन, हाँगकाँग पर आक्रमण करके उन पर अपना अधिकार स्थापित कर लिया। जनवरी १९४२ में सिंगापूर भी जापान के अधिकार में आ गया। जावा पर अपना प्रभुत्व स्थापित करने के उपरान्त जापानियों ने बर्मा पर आक्रमण कर दिया और अत्यन्त द्रुतगति से उस पर अपना आधिपत्य स्थापित करना आरम्भ किया। बर्मा को बचाने के अंग्रेजों के सभी प्रयत्न निष्फल सिद्ध हुये और अचिरात् जापानी सेनायें भारत की पूर्वी सीमा पर आ डटीं। जापानी जहाजों ने भी हिन्द महासागर में प्रवेश किया और अन्डमन द्वीप पर अपना अधिकार स्थापित कर लिया। लंका पर भी वायुयान द्वारा आक्रमण किये गये। भारत में भी विज़गापट्टम तथा कोकोनद पर बम वर्षा की गई। जापान के इस आक्रमण का भारत की राजनीति पर बहुत बड़ा प्रभाव पड़ा।

क्रिप्स योजना—जापान की सामरिक प्रगति से बृटिश सरकार की चिन्ता बहुत बढ़ गई। भारत की अधिकांश सेनायें बाहर भेज दी गई थी। भारत जैसे विशाल देश की रक्षा एक विकट समस्या थी। भारतीयों के सहयोग के बिना इस कार्य का सम्पादन अत्यन्त दुष्कर कार्य था। अतएव अमेरिका की सरकार ने भारतीय समस्या के सुल-

जाने के लिये बृटिश सरकार पर बड़ा दबाव डाला। बृटिश सरकार ने स्वयम् भी अपनी संकटापन्न स्थिति का अनुभव किया। फलतः मार्च १९४२ में बृटिश सरकार ने समाजवादी नेता सर स्टैफोर्ड क्रिप्स को कुछ योजनाओं के साथ भारत भेजा। यह योजनायें निम्नांकित थीं।

(१) युद्ध के समाप्त हो जाने पर भारतवासी अपना विधान स्वयम् अपनी चुनी हुई विधान-सभा द्वारा बनायेंगे।

(२) इस विधान-सभा के लिये प्रान्तीय विधान सभाओं द्वारा सदस्य चुने जायेंगे जिनकी संख्या प्रान्तीय विधान-सभा के कुल सदस्यों की संख्या की $\frac{1}{10}$ होगी।

(३) देशी राज्यों को भी इस विधान सभा में अपने प्रतिनिधि भेजने का अधिकार होगा जिनकी संख्या उनकी जन-संख्या के अनुपात से उतनी ही होगी जितनी प्रान्तों की।

(४) इस संविधान-सभा को अपनी इच्छानुसार भारत के लिये विधान बनाने की स्वतन्त्रता होगी। उनसे केवल अल्प-संख्यकों के हितों की रक्षा तथा बृटिश सरकार से एक प्रकार के समझौते का आयोजन होगा।

(५) यदि कुछ प्रान्त अथवा देशी राज्य विधान सभा में भाग लेने के बाद इस बात का अनुभव करें कि प्रस्तावित संविधान उन्हें स्वीकार नहीं है तो उन्हें भारतीय यूनियन से अलग अपना स्वतन्त्र उपनिवेश बनाने का अधिकार होगा। इस प्रकार बृटिश सरकार ने अप्रत्यक्ष रूप से पाकिस्तान की योजना को स्वीकार कर लिया।

(६) उपरोक्त सभी परिवर्तन युद्ध के उपरान्त होंगे। युद्ध काल में केवल इतना ही परिवर्तन होगा कि वाइसराय अपनी कार्यकारिणी के कार्यों में किसी प्रकार का हस्तक्षेप नहीं करेगा।

योजना अस्वीकृत—सर स्टैफोर्ड क्रिप्स भारत के प्रमुख दलों के तथा अन्य नेताओं से मिले और अपनी योजना के सम्बन्ध में उनसे बातें कीं परन्तु योजना किसी को पसन्द न आई। कॉग्रेस ने अपनी प्रतिक्रिया को इस प्रकार व्यक्त किया, "घोषणा का सम्बन्ध युद्ध समाप्त होने के उपरान्त भविष्य से था, विधान परिषद् की सङ्गठन-व्यवस्था दोषपूर्ण थी, उसमें राज्यों की जनता की सर्वथा उपेक्षा की गई है, प्रान्तों को संघ से अलग रहने का अधिकार देकर प्रकारान्तर में देश का विभाजन स्वीकार कर लिया गया और देश की रक्षा का भार बृटिश नियन्त्रण में ही रहा।" कांग्रेस पूर्ण रूप से संसदीय कार्यकारिणी चाहती थी और देश की रक्षा सम्बन्धी समस्याओं पर पूर्ण नियंत्रण चाहती थी। परन्तु यह दोनों ही बातें बृटिश सरकार को अमान्य थी। क्रिप्स योजना मुस्लिम लीग को भी अमान्य थी। उसकी प्रधान आपत्ति यह थी कि इस योजना से मुसलमानों के स्वतन्त्र राष्ट्र के माँग की पूर्ति नहीं होती। मुस्लिम लीग पाकिस्तान बनाने के चक्कर में थी। हिन्दू महासभा की प्रतिक्रिया को सावरकर जी ने इस प्रकार व्यक्त किया, "प्रान्तों को अलग रहने की स्वीकृति देने से उनके स्वतन्त्र राज्य निर्मित हो जायेंगे और देश का विभाजन हो जायगा। हम हिन्दुओं के लिये अपनी मातृ भूमि पवित्र भारत की एकता धार्मिक विश्वास है।" चूँकि भारत के सभी प्रमुख राजनैतिक दलों ने क्रिप्स योजना को अस्वीकार कर दिया अतएव बृटिश सरकार ने उसे वापस ले लिया और सर स्टैफोर्ड क्रिप्स निराश होकर लन्दन वापस लौट गये।

भारत छोड़ो आन्दोलन—क्रिप्स योजना के असफल हो जाने से भारतीयों में बड़ा असन्तोष फैला। अब उन्हें ऐसा अनुभव होने लगा कि जब तक बृटिश सरकार भारत में रहेगी तब तक भारतीय समस्याओं का सुलझना सम्भव नहीं है। अतएव कॉग्रेस इस निष्कर्ष पर पहुँची कि बृटिश सरकार से भारत छोड़ने के लिये कहा जाय और यदि इसके

फल-स्वरूप अराजकता का सामना करना पड़े तो उसके लिये भी उद्यत रहना चाहिये। फलतः ८ अगस्त १९४२ को बम्बई के अधिवेशन में कांग्रेस ने अपना प्रसिद्ध "भारत छोड़ो प्रस्ताव" (Quit India Resolution) पास किया। इस प्रस्ताव के पास करते ही सरकार का दमन-कुचक्र आरम्भ हो गया। गांधी जी, कांग्रेस कार्य-समिति के सदस्य तथा अन्य नेता बन्दी बना लिये गये।

सरकार का दमन कुचक्र—नेताओं की गिरफ्तारी ने सम्पूर्ण देश में आन्दोलन की अग्नि प्रज्वलित कर दिया। १९४२ का यह राष्ट्रीय आन्दोलन न केवल भारत के वरन् विश्व के इतिहास में अमर रहेगा। निरस्त्र भारतीय जनता पर गोलियाँ चला कर और उसकी सम्पत्ति का अपहरण कर अत्यन्त नृशंसतापूर्वक आन्दोलन का दमन किया गया। भारतीयों का यह आन्दोलन पूर्ववर्ती आन्दोलनों से भिन्न था। इस आन्दोलन ने हिंसात्मक रूप धारण कर लिया। फलतः इसमें तार काटे गये, रेल की पटरियाँ उखाड़ी गईं, पुलिस चौकियों को भस्मीभूत किया गया, सरकारी कार्यालयों पर आक्रमण किया गया और रेलवे स्टेशनों तथा पोस्ट आफिसों को लूटा गया। १९४२ की क्रान्ति प्रधानतः नवयुवक विद्यार्थियों की क्रान्ति थी जिनकी उत्तेजना के फल-स्वरूप इसने अत्यन्त उग्र-रूप धारण कर लिया। जितना ही उग्र आन्दोलन था उतना ही उग्र सरकार का दमन-कुचक्र था। असंख्य निरपराध व्यक्तियों को जेल-यात्रा करनी पड़ी। सैकड़ों युवकों ने स्वतन्त्रता की वेदी पर अपने प्राणों का बलिदान कर दिया। सरकार ने इस क्रान्ति का पूरा उत्तरदायित्व कांग्रेस के ऊपर रक्खा। गांधी जी को पूना में सर आगा खां के प्रासाद में बन्दी बना कर रक्खा गया था। वहीं पर गांधी जी ने तीन सप्ताह का पुनः अनशन किया। इसी समय गांधी जी की धर्मपत्नी कस्तूरबा गांधी का जिन्होंने आजन्म राष्ट्रीय आन्दोलन में अपने पति का साथ दिया था परलोकवास हो गया। कस्तूरबा की मृत्यु पर सम्पूर्ण देश में शोक मनाया गया।

बंगाल का अकाल—इसी मानवी उत्तापों के समय दैवी उत्ताप का भी प्रकोप बङ्गाल में व्याप्त हो गया। इसका प्रमुख कारण युद्ध की गति-विधि थी। युद्ध के कारण बहुत सा खाद्यान्न सेनाओं के लिये भेज देना पड़ता था। खाद्यान्न के अभाव के साथ-साथ उसकी वितरण व्यवस्था भी अत्यन्त दोष-पूर्ण थी। बहुत सा खाद्यान्न कुप्रबन्ध के कारण सड़ कर नष्ट हो गया। दुर्भिक्ष के कुछ प्राकृतिक कारण भी थे। दुर्भिक्ष का रूप अत्यन्त भयावह था और सम्पूर्ण बङ्गाल में त्राहि-त्राहि मच गई। असंख्य नर-नारी काल के गाल में चले गये। सरकार किंकर्तव्यमूढ़ सी बनी रही। गैर-सरकारी रूप से पीड़ितों की सहायता करने का भगीरथ प्रयास किया गया। इस प्रकार सरकार की असावधानी तथा कुप्रबन्ध के कारण लाखों व्यक्तियों के प्राण गये।

कन्ट्रोल तथा राशन की व्यवस्था—इन दिनों खाद्य पदार्थों तथा वस्त्रों की समस्या ने अत्यन्त विकराल रूप धारण कर लिया। युद्ध की प्रगति के साथ-साथ वस्तुओं के मूल्य में वृद्धि होने लगी और व्यापारी लोग अधिकाधिक लाभ प्राप्त करने की भावना से प्रेरित होकर मनोवांछित मूल्य मांगने लगे। वस्तुओं का अभाव बाजारों में क्रमशः बढ़ने लगा और चोर-बाजार का प्रकोप बढ़ने लगा। इस प्रकार सरकार के समक्ष एक जटिल समस्या उपस्थित हो गई। इस समस्या को सुलझाने के लिये सरकार ने "कन्ट्रोल तथा राशन" की व्यवस्था को अपना प्रबल अस्त्र बनाया। इस व्यवस्था के अनुसार अनेक वस्तुओं के आयात-निर्यात तथा क्रय-विक्रय पर नियंत्रण लगा दिया गया। विभिन्न प्रकार की वस्तुओं का मूल्य निर्धारित कर दिया गया और प्रत्येक व्यक्ति को किस मात्रा में वस्तुयें उपलब्ध होंगी यह भी निर्धारित कर दिया गया। नियन्त्रण की व्यवस्था केवल नगरों में

ही लागू की गई थी। इससे नागरिकों को कुछ सुविधा तो अवश्य हो गई परन्तु चोर बाज़ार" की उत्तरोत्तर वृद्धि होती गई और नियन्त्रण की वस्तुओं का चोरी से विक्रय होने लगा। नियन्त्रण की व्यवस्था का दूसरा दुष्परिणाम यह हुआ कि सरकारी कर्मचारियों तथा जनता का नैतिक पतन हो गया और भ्रष्टाचार का प्रकोप बढ़ गया।

शारदा ऐक्ट में सुधार—१९३८ ई० में बाल-विवाह नियंत्रण सुधार ऐक्ट (Child Marriage Restraint Amendment Act) पास किया गया। इस सुधार द्वारा शारदा ऐक्ट का क्षेत्र पहिले से भी व्यापक बना दिया गया। अब यह न केवल सम्पूर्ण बृटिश भारत में वरन् देशी राज्यों में भी लागू कर दिया गया। अब न्यायालयों को यह अधिकार दिया गया कि शारदा विधान के विरुद्ध होने वाले विवाहों को रोकने के लिये आज्ञायें निकालें। इन आज्ञाओं का उल्लंघन करने वालों को तीन मास तक का कारावास का अथवा १००० रुपये तक का जुर्माने का अथवा दोनों प्रकार के दण्ड देने का विधान बनाया गया।

शिक्षा की व्यवस्था—१९३७ में ट्रावङ्कोर विश्वविद्यालय की स्थापना की गई। यह भारत का अठारहवाँ विश्वविद्यालय था। १९३८ में "वार्धा शिक्षा प्रणाली" का प्रादुर्भाव गांधी जी की प्रेरणा से हुआ। इस व्यवस्था में हस्त-कला तथा व्यवहारिक शिक्षा पर विशेष बल दिया गया। बम्बई में स्त्री शिक्षा की समुचित व्यवस्था की गई। हरद्वार में गुरुकुल कांगड़ी तथा रवीन्द्र नाथ टैगोर द्वारा स्थापित की हुई विश्व भारती गैर-सरकारी संस्थायें थीं जो शिक्षा के श्लाघनीय कार्य कर रही थीं।

रवीन्द्र नाथ टैगोर का देहावसान—विश्वविख्यात कवि रत्न रवीन्द्र नाथ टैगोर १९४१ में पंचत्व को प्राप्त हो गये। उनके निधन पर सम्पूर्ण देश शोकाकुल हो उठा। टैगोर जी ने यद्यपि अपनी मातृ-भाषा बँगला को ही अपनी साहित्य-साधना का माध्यम बनाया था परन्तु अँग्रेजी भाषा पर भी उनका पूर्ण अधिकार था। उनके ग्रन्थों का अन्य भाषाओं में अनुवाद किया गया है। उनकी साहित्य साधना इतनी उच्च-कोटि की थी कि उन्हें "नोबेल पुरस्कार" प्राप्त हुआ जिससे न केवल स्वयम् टैगोर वरन् उनका देश भी गौरवान्वित हुआ। टैगोर जी की प्रतिभा बहुमुखी थी। वे न केवल महान् साहित्यकार वरन् उच्च-कोटि के दार्शनिक, कलाकार तथा राजनीतिज्ञ भी थे। सामयिक समस्याओं पर आपके अत्यन्त विचार पूर्ण तथा सारगर्भित लेख निकला करते थे। "गीताञ्जली" आपकी विश्व-विश्रुत अमर कृति है। आपका स्थापित किया हुआ "शान्ति निकेतन" एक अन्तर्राष्ट्रीय सांस्कृतिक संस्था है।

संरक्षित राज्य—१९३६ ई० में "बरार समझौता" किया गया। इस समझौते के द्वारा बरार पर निजाम की राजसत्ता पुनः स्वीकार कर ली गई परन्तु शासन तथा व्यवस्था के दृष्टिकोण से वह मध्य-प्रान्त का एक अभिन्न अङ्ग मान लिया गया। निजाम को एक निर्धारित धन-राशि प्राप्त होती रहेगी और निजाम का उत्तराधिकारी "बरार का राजकुमार" कहलाता था।

लार्ड लिनलिथगो के शासन काल में ट्रावङ्कोर तथा कोचिन में भी कुछ अत्यन्त श्लाघनीय कार्य किये गये। नवम्बर १९३६ में ट्रावङ्कोर राज्य में "मन्दिर-प्रवेश-घोषणा" की गई। इससे ट्रावङ्कोर राज्य की प्रतिष्ठा में बड़ी वृद्धि हो गई। नवम्बर १९३७ में एक दूसरी घोषणा द्वारा ट्रावङ्कोर विश्वविद्यालय की स्थापना की गई। ट्रावङ्कोर में शासन-सम्बन्धी भी अनेक सुधार किये गये। वहाँ पर वैधानिक तथा उत्तरदायी सरकार के स्थापित करने का प्रयत्न आरम्भ किया गया। कोचिन में द्वैध शासन-व्यवस्था स्थापित

की गई और बड़ौदा, ग्वालियर आदि राज्यों में भी वैधानिक शासन के स्थापित करने का प्रयत्न किया गया। कोचिन बन्दरगाह के निर्माण की तीन कोटियों का सम्पादन १९३६ में हुआ और चौथी कोटि का निर्माण आरम्भ किया गया।

च्यांगकाई शेक का भारत आगमन—फरवरी १९४२ में चीन सरकार के अध्यक्ष तथा प्रधान सेनापति जेनरल च्यांग काई शेक ने अपनी पत्नी के साथ भारत आये। उनकी भारत-यात्रा का मुख्य प्रधान लक्ष्य भारत तथा चीन की सुरक्षा के लिये संयुक्त सैन्य योजना पर विचार करना था। इस समय भारत की ब्रिटिश सरकार तथा चीन की सरकार में गठबन्धन हो जाना स्वाभाविक ही था। जापान तथा चीन का संघर्ष बहुत दिनों से चल रहा था। अब जापान भी महासमर में सम्मिलित हो गया था और उसकी सेनायें अत्यन्त द्रुतगति से भारत की ओर बढ़ रही थीं। भारत पर जापानी आक्रमण का प्रतिरोध करने के लिये चीन की रक्षा नितान्त आवश्यक थी। च्यांग काई शेक भारत की राजनैनिक समस्या के सुलझाने के लिये बहुत उत्सुक थे। अतएव वे महात्मा गांधी, पंडित जवाहरलाल नेहरू तथा अन्य नेताओं से मिले। उनकी यह धारणा थी कि विश्व शान्ति के लिये भारत तथा चीन का पूर्ण रूप से स्वतन्त्र होना आवश्यक है। अपनी शुभकामनाओं के साथ वे भारत से अपने देश को लौट गये।

अध्याय २०

लार्ड वेवल (१९४३-४७)

वेवल का आगमन—द्वितीय महायुद्ध के कारण लार्ड लिनलिथगो की कार्यावधि एक वर्ष के लिये बढ़ा दी गई। अक्तूबर १९४३ में उसके स्थान पर लार्ड वेवल भारत का वाइसराय तथा गवर्नर-जनरल बन कर आया। व्यवसाय से वह एक सैनिक, स्वभाव से कवि और स्वेच्छा से राजनीतिज्ञ था। वाइसराय के पद पर नियुक्त किये जाने के पूर्व वह लीबिया तथा बर्मा में युद्ध का संचालन कर चुका था परन्तु दोनों रणक्षेत्रों में उसे असफलता का आलिंगन करना पड़ा था। इसके उपरान्त वह भारत का प्रधान सेनापति नियुक्त किया गया था। इस पद पर रह कर कांग्रेस के अध्यक्ष मौलाना अबुल कलाम आज़ाद तथा पं० जवाहरलाल नेहरू से उसका विचार-विनिमय हो चुका था। एक सैनिक के रूप में वेवल की चाहे जैसी योग्यता रही हो परन्तु उसकी राजनैतिक योग्यता से सभी अनभिज्ञ थे। वास्तव में उसकी नियुक्ति पर लोगों को बड़ा आश्चर्य हुआ था। सम्भवतः युद्ध-कालीन परिस्थितियों के कारण ही ऐसा किया गया था। वाइसराय का पद ग्रहण करने के पाँच ही दिन उपरान्त उन्होंने कलकत्ते के लिये प्रस्थान कर दिया और दुर्भिक्ष पीड़ितों की दशा का निरीक्षण किया। वाइसराय ने बङ्गाल में अन्न पहुँचाने के लिये सेना को आदेश दिया। इसका जनता पर बहुत अच्छा प्रभाव पड़ा। ज्वर ग्रस्त हो जाने पर गाँधी जी भी कारावास से मुक्त कर दिये गये।

साम्प्रदायिक समस्या के सुलझाने का प्रयत्न—जापान भारत की सीमा पर आ डटा था, सरकार तथा काँग्रेस में समझौते की बात समाप्त हो चुकी थी, वस्तुओं का मूल्य द्रुतगति से बढ़ रहा था और चोर बाज़ार का विस्तार बढ़ रहा था। देश की इस गम्भीर परिस्थिति में साम्प्रदायिक सङ्घर्ष का भी प्रकोप बढ़ रहा था। देश को विदेशी शासन से उन्मुक्त करने के लिये साम्प्रदायिक समस्या का सुलझाना नितान्त आवश्यक था। फलतः श्री राजगोपालाचारी ने लीग के साथ समझौते का प्रयत्न आरम्भ किया। उनकी यह धारणा थी कि मुस्लिम लीग की कुछ माँगों को स्वीकार कर लेना चाहिये और फिर उसके सहयोग से भारत में राष्ट्रीय सरकार के बनाने का प्रयत्न करना चाहिये। उनके विचारों से काँग्रेस के अनेक महारथी सहमत न थे। फलतः काँग्रेस से अलग होकर वे स्वतन्त्र रूप से मुस्लिम लीग के साथ समझौता करने के मार्ग के अन्वेषण में संलग्न हो गये। इसी समय केन्द्रीय धारा-सभा में काँग्रेस तथा मुस्लिम लीग ने मिल कर राजस्व विधेयक को अस्वीकार कर दिया। इससे साम्प्रदायिक समझौते की आशा बढ़ गई और राजगोपालाचारी को बड़ा प्रोत्साहन मिला। उन्होंने गाँधी जी तथा मुहम्मद अली जिन्ना से बात-चीत करने के उपरान्त समझौते की एक योजना बनाई। इस योजना के अन्तर्भूत निम्न-लिखित बातें थीं:—

(१) मुस्लिम लीग को भारतीयों की स्वतन्त्रता की माँग को स्वीकार कर लेना चाहिये और अस्थायी अल्पकालीन राष्ट्रीय सरकार के निर्माण में काँग्रेस के साथ सहयोग करना चाहिये।

(२) युद्ध के अवसान के उपरान्त एक आयोग नियुक्त किया जाय जो भारत के उत्तर-पश्चिम तथा पूर्व में उन सङ्गठित क्षेत्रों को निर्धारित करे जिनमें मुसलमानों का

बहुमत है। इन क्षेत्रों में वयस्क सम्मिलित निर्वाचन पद्धति द्वारा विभाजन के प्रश्न पर जनता का मत लेना चाहिये।

(३) यदि लोकमत द्वारा विभाजन का निश्चय हो जाय तो देश-रक्षा, व्यापार तथा यातायात् की रक्षा के लिये समझौता होना चाहिये।

(४) यह समझौता तभी कार्यान्वित होगा ;जब ब्रिटेन सम्पूर्ण शक्ति हस्तान्तरित कर देगा।

राजगोपालाचारी की उपरोक्त आयोजना भी मुहम्मद अली जिन्ना को मान्य न हुई। वह सभी मुस्लिम प्रान्तों को हथियाना चाहते थे। वह लोक-निर्णय को केवल मुसलमानों तक सीमित रखना चाहते थे। जहाँ तक देश रक्षा, यातायात आदि की बात थी वे संयुक्त नियन्त्रण के पक्ष में न थे। राजगोपालाचारी की आयोजना के समाप्त हो जाने से लोगों को बड़ी निराशा हुई।

महायुद्ध में मित्र राष्ट्रों की विजय—इन दिनों महासमर की गति-विधि में सहसा परिवर्तन आरम्भ हो गया। रूस के साथ जर्मनी का विनाशकारी युद्ध जर्मनी के लिये अत्यन्त घातक सिद्ध हुआ। रूसी मोर्चे पर जर्मनी को ऐसी महती क्षति उठानी पड़ी कि उसका पतन आरम्भ हो गया और युद्ध के विभिन्न मोर्चों पर उसकी पराजय आरम्भ हो गई। इटली तथा यूनान पर मित्रराष्ट्रों ने आक्रमण कर दिया और ९ मई १९४५ को बर्लिन के युद्ध में जर्मनी ने भी आत्म समर्पण कर दिया। एशिया के पूर्वी मोर्चे पर जापान कुछ समय तक युद्ध को चलाता रहा परन्तु जब अमेरिका ने परमाणु बम का प्रयोग आरम्भ किया तब जापान का भी साहस भंग हो गया और १५ अगस्त १९४५ को विवश होकर उसे भी आत्म-समर्पण कर देना पड़ा। मित्रराष्ट्रों की इस विजय में भारत ने बहुत बड़ा योग दिया था। भारत की विशाल सेना तथा इसके प्रचुर सामान का पूर्ण रूप से उपयोग किया गया था। देशी राज्यों ने भी अपनी पूरी शक्ति से मित्रराष्ट्रों की सहायता की थी। युद्ध-ऋण में भारतीय जनता ने करोड़ों की धन-राशि दी। अब विजय प्राप्त करने के उपरान्त ब्रिटिश सरकार की गतिविधि का अवलोकन भारतीय जनता बड़ी उत्सुकता के साथ कर रही थी।

वेवल योजना—मार्च १९४५ में लार्ड वेवल इङ्गलैण्ड गये और वहाँ के अधिकारियों की परामर्श लेने के उपरान्त जून में भारत लौट आये। यहाँ लौटने पर उनकी एक विज्ञप्ति प्रकाशित हुई जिसमें उनकी योजना की रूप-रेखा का उद्घाटन किया गया। इस योजना द्वारा निम्न-लिखित सुझाव रक्खे गये:—

(१) वाइसराय की कार्यकारिणी का फिर से सङ्गठन किया जाय जिसमें वाइसराय तथा प्रधान सेनापति को छोड़ कर शेष सभी सदस्य भारतीय हों।

(२) वाइसराय की कार्यकारिणी में सवर्ण हिन्दू तथा मुसलमान सदस्य बराबर संख्या में हों। इसके अतिरिक्त भारतीय ईसाई, सिक्ख तथा दलित जातियों के अलग प्रतिनिधि होंगे।

(३) यदि उपरोक्त योजना सफल हो गई तो प्रान्तों में भी फिर से मन्त्रिमण्डलों की स्थापना हो जायगी।

(४) यदि यह सम्मेलन सफल न हुआ तो वर्तमान कार्यकारिणी तब तक कार्य करती रहेगी जब तक परस्पर समझौता न हो जायगा।

लार्ड वेवल की उपरोक्त योजना में अनेक दोष थे। इसका सर्व प्रथम दोष यह था कि इसमें मुसलमानों तथा सवर्ण हिन्दुओं के प्रतिनिधियों की समान संख्या करके ७० प्रतिशत हिन्दुओं को २६ प्रतिशत मुसलमानों के बराबर कर दिया गया था। इस योजना का दूसरा दोष यह था कि वाइसराय की कार्यकारिणी व्यवस्थापिका सभा के स्थान पर

वाइसराय के प्रति उत्तरदायी होगा और यद्यपि साधारणतया वाइसराय कार्यकारिणी के कार्यों में हस्तक्षेप न करता परन्तु विशेष परिस्थितियों में उसे अपनी कार्यकारिणी के कार्यों में हस्तक्षेप करने का पूरा अधिकार होता। वेवल योजना का तीसरा दोष यह था कि वाइसराय की कार्यकारिणी के सदस्यों की नियुक्ति किसी एक दल के राजनैतिक दल के नेता द्वारा न करके वाइसराय स्वयम् करता।

वेवल की उपरोक्त योजना पर विचार करने के लिये लार्ड वेवल ने शिमला में भारतीय नेताओं के सम्मेलन का आयोजन किया। फलत. कांग्रेसी नेता जो कारागारों में बन्द थे मुक्त कर दिये गये और शिमला सम्मेलन में भाग लेने के लिये उन्हें आमन्त्रित किया गया। यद्यपि वेवल योजना अत्यन्त दोषपूर्ण थी फिर भी भारतीय नेताओं ने समझौते का प्रयत्न आरम्भ किया परन्तु कांग्रेस तथा मुस्लिम लीग के मतभेद के कारण समझौता न हो सका। लीग सभी मुस्लिम सदस्यों के नियुक्त करने का अपना एकाधिकार समझती थी। इसके विपरीत कांग्रेस एक राष्ट्रीय संस्था होने के कारण यह कहती थी कि उसे राष्ट्रीय मुसलमान के नियुक्त करने का अधिकार होना चाहिये। चूंकि कांग्रेस तथा लीग दोनों ही अपनी-अपनी बात पर दृढ़ रहे अतएव वेवल वार्ता भङ्ग हो गई और शिमला सम्मेलन असफल घोषित कर दिया गया।

ब्रिटिश राजनीति में परिवर्तन—शिमला सम्मेलन के उपरान्त इङ्गलैण्ड में आम चुनाव का फल घोषित किया गया। इस चुनाव में अनुदार दल की पराजय हुई और मजदूर दल की विजय प्राप्त हुई। मजदूर दल की सहानुभूति सदैव भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन के साथ रही है। इधर भारत में भी आम चुनाव हो रहा था जिसके परिणाम स्वरूप आठ प्रान्तों में कांग्रेस के मन्त्रिमण्डल बन गये। लीग केवल बङ्गाल तथा सिन्ध में मन्त्रिमण्डल बना सकी। पंजाब में खिज्रहयात खाँ तीवाना के नेतृत्व में लीग के विरुद्ध संयुक्त मन्त्रिमण्डल की स्थापना हुई। मजदूर दल ने मेजर एटली के नेतृत्व में भारतीय नेताओं से समझौता करने का प्रयास तुरन्त आरम्भ कर दिया।

आज़ाद हिन्द फ़ौज पर अभियोग—जिन दिनों जापान तथा मित्रराष्ट्रों में एशिया के पूर्वी मोर्चे पर भीषण संग्राम हो रहा था और जापानियों ने सिंगापूर से मित्रराष्ट्रों की सेनाओं को मार भगाया था उन्हीं दिनों श्री सुभाषचन्द्र बोस ने जो उन दिनों जापान में थे अपने देश को परतन्त्रता की शृंखलाओं से उन्मुक्त करने के लिये "आजाद हिन्द फौज" का सङ्गठन किया। इस सेना में किसी प्रकार का जातिगत अथवा साम्प्रदायिकता का भेद-भाव नहीं रक्खा गया था। युद्ध समाप्त हो जाने पर "आजाद हिन्द फौज" के सैनिक तथा अफ़सर भारत लाये गये। दिल्ली के लाल दुर्ग में "आजाद हिन्द फ़ौज" के कई अफ़सरों पर राज-द्रोह का अपराध लगा कर अभियोग चलाया गया। इन अफ़सरों में कर्नल शाह नेवाज, कैप्टन सहेगल तथा ढिल्लन प्रमुख थे। कांग्रेसी नेता श्री भूलाभाई देसाई ने आजाद हिन्द फ़ौज के अफ़सरों की ओर से पैरवी की। अन्त में सभी अफ़सर मुक्त कर दिये गये। अब ब्रिटिश राजनीतिज्ञों ने भारत की राजनैतिक समस्या के सुलझाने की ओर ध्यान दिया।

भारत में ब्रिटिश शिष्ट मंडल का आगमन—इङ्गलैण्ड का मजदूर दल भारत की राजनैतिक समस्या के सुलझाने के लिये दृढ़-सङ्कल्प हो गया था। अतएव पद ग्रहण करने के थोड़े ही दिन उपरान्त ९ दिसम्बर १९४५ को पार्लियामेंट के सदस्यों का एक शिष्ट-मंडल भारत भेजा गया। इस शिष्ट-मंडल ने लगभग डेढ़ महीने तक भारत के भिन्न-भिन्न भागों में भ्रमण किया और भारतीय नेताओं से बात-चीत की। भारतीय स्थिति का पूर्ण ज्ञान प्राप्त करने के उपरान्त यह शिष्ट-मंडल इङ्गलैण्ड वापस चला गया और वहाँ

पर पार्लियामेंट के सामने अपनी रिपोर्ट उपस्थित की। इस रिपोर्ट के फलस्वरूप मेजर एटली ने १६ फरवरी १९४६ को भारत में एक "कैबिनेट मिशन" के भेजने की घोषणा की। अपने एक वक्तव्य में मेजर एटली ने यह भी कहा कि बृटिश सरकार भारतीयों की पूर्ण स्वतन्त्रता की मांग को स्वीकार करती है। जहां तक बृटिश कामनवेल्थ की सदस्यता का प्रश्न था भारतीयों को उसका सदस्य बनने अथवा न बनने की पूर्ण स्वतन्त्रता दी गई। अपने एक अन्य वक्तव्य में बृटिश प्रधान-मन्त्री ने यह भी कहा कि किसी अल्प-संख्यक जाति को राजनैतिक मांग पर अनियमित काल तक अवरोध करने का अधिकार नहीं दिया जा सकता। इन वक्तव्यों से भारतवासियों को यह आशा हो गई कि मजदूर सरकार वास्तव में भारतीयों को स्वराज्य देना चाहती है।

कैबिनेट मिशन का भारत में आगमन—मेजर एटली की घोषणा के अनुसार ३ मार्च १९४६ को कैबिनेट मिशन के तीनों सदस्य पेथिक लारेन्स, सर स्टैफर्ड क्रिप्स तथा मि० अलेक्जण्डर भारत आ गये। इन लोगों ने भारतीय समस्या के सुलझाने का भगीरथ प्रयास किया। मुस्लिम लीग ने पाकिस्तान की स्थापना पर जोर दिया और कांग्रेस ने अखण्ड भारत का समर्थन करना आरम्भ किया। ऐसी स्थिति में कांग्रेस तथा लीग में समझौता होना असम्भव था। अतएव कैबिनेट मिशन ने अपनी ओर से एक ऐसी आयोजना उपस्थित की जो उनके विचार में सभी दलों तथा वर्गों को अधिक से अधिक सन्तुष्ट कर सकती थी।

कैबिनेट मिशन की योजना—इस योजना को दो भागों में विभक्त किया जा सकता है अर्थात् दीर्घकालीन योजना तथा अल्पकालीन योजना। दीर्घकालीन योजना की निम्नलिखित रूपरेखा थी :—

(१) सम्पूर्ण भारत के लिये जिसमें देशी राज्य भी सम्मिलित होंगे एक संघ होगा। इस संघ के अनुशासन में केवल तीन विषय होंगे अर्थात् विदेशी मामले, देश-रक्षा तथा यातायात के साधन।

(२) संघ की एक कार्यकारिणी तथा एक व्यवस्थापिका होगी। इसमें देशी राज्यों के भी प्रतिनिधि होंगे। प्रत्येक महत्वपूर्ण साम्प्रदायिक प्रश्न का निर्णय दो प्रमुख जातियों के सदस्यों तथा उपस्थित सदस्यों के बहुमत से होगा।

(३) जो विषय केन्द्र को नहीं दिये गये हैं उन सबका प्रबन्ध प्रान्तीय सरकारें स्वयम् करेंगी।

(४) जो विषय संघ सरकार को सौंप दिये गये हैं उनके अतिरिक्त शेष सभी विषयों पर देशी राज्यों का अपना नियंत्रण होगा।

(५) बृटिश प्रान्तों को उप-संघ बनाने का अधिकार दिया गया। इन उप-संघों में कार्यकारिणी तथा व्यवस्थापिकायें भी होंगी। प्रत्येक संघ उन विषयों का निर्णय करेगा जो सामान्य होंगे।

(६) भारतीय राष्ट्र तथा प्रान्त समूहों के विधानों में इस प्रकार की धारा रहनी चाहिये जिसके द्वारा कोई भी प्रान्त अपनी धारा-सभा के बहुमत से प्रथम दस वर्ष बाद और फिर प्रति दस वर्ष बाद विधान की शर्तों पर फिर से विचार करने का प्रस्ताव उपस्थित कर सके।

(७) विधान परिषद् के संगठन के लिये सदस्यों का निर्वाचन इस प्रकार होगा :—

(क) प्रत्येक प्रान्त से दस लाख व्यक्ति के पीछे एक सदस्य भेजा जायगा।

(ख) प्रान्त की कुल सदस्य संख्या को प्रमुख सम्प्रदायों में उनकी संख्या के अनुपात से विभाजित कर दिया जायगा।

(ग) जो सदस्य-संख्या जिस सम्प्रदाय के लिये निर्धारित की गई है उसका निर्वाचन पृथक् निर्वाचन प्रणाली द्वारा प्रान्तीय व्यवस्थापिका परिषद् करेगी।

कैबिनट मिशन की अल्पकालीन योजना यह थी कि अन्तर्कालीन प्रबन्ध के लिये एक राष्ट्रीय सरकार स्थापित की जायगी जिसमें बड़े-बड़े राजनैतिक दलों के प्रतिनिधि होंगे। इस सरकार के सभी सदस्य भारतीय होंगे।

मिशन की योजना पर प्रतिक्रिया—मुस्लिम लीग ने मिशन की दीर्घकालीन तथा अन्तर्कालीन दोनों योजनाओं को स्वीकार कर लिया परन्तु कांग्रेस ने केवल दीर्घकालीन योजना को स्वीकार किया। अन्तर्कालीन योजना को कांग्रेस ने अस्वीकार कर दिया क्योंकि कांग्रेस इस बात पर दृढ़ थी कि केन्द्रीय कार्यकारिणी में एक राष्ट्रीय मुसलमान का होना अनिवार्य है परन्तु मुस्लिम लीग कांग्रेस की इस बात को मानने के लिये उद्यत न थी। मुस्लिम लीग को यह आशा थी कि चूंकि उसने अन्तर्कालीन तथा दीर्घकालीन दोनों आयोजनाओं को स्वीकार कर लिया है अतएव उसे केन्द्र में सरकार बनाने के लिये आमन्त्रित किया जायगा परन्तु कैबिनेट मिशन को यह साहस न हुआ कि वह बहुमत दल की इच्छा के विरुद्ध मुस्लिम लीग की सहायता से राष्ट्रीय कार्यकारिणी के निर्माण की आयोजना करे। इससे अप्रसन्न होकर मुस्लिम लीग ने मिशन योजना पर पुनः विचार किया और दीर्घकालीन तथा अन्तर्कालीन दोनों ही योजनाओं को अस्वीकार कर दिया और प्रत्यक्ष कार्यवाही की धमकी दी। जून १९४६ में गवर्नर-जनरल की पुरानी कौंसिल को समाप्त कर दिया गया और एक काम चलाऊ सरकार बना दी गई क्योंकि पं० जवाहरलाल नेहरू तथा श्री मुहम्मद अली जिन्ना में कोई समझौता न हो सका।

अन्तः कालीन सरकार की स्थापना—बृटिश सरकार योजना को कार्यान्वित करने के लिये सन्नद्ध थी। अतएव जुलाई १९४६ में लार्ड वेवल ने कांग्रेस तथा मुस्लिम लीग दोनों को अन्तः कालीन सरकार के निर्माण में योग देने के लिये आमन्त्रित किया। मुहम्मद अली जिन्ना ने वाइसराय के इस निमन्त्रण को अस्वीकार कर दिया परन्तु और सक्रिय विरोध की तैयारी आरम्भ कर दी। लीग द्वारा योजना के अस्वीकृत कर देने पर स्थिति बिलकुल बदल गई। अब बृटिश सरकार को केवल कांग्रेस से समझौता करना था जो भारत की सबसे बड़ी राजनैतिक संस्था है। अगस्त १९४६ में वाइसराय ने पं० जवाहर लाल नेहरू को अन्तः कालीन सरकार बनाने के लिये आमन्त्रित किया। इससे जिन्ना की क्रोधाग्नि और प्रज्वलित हो उठी। पं० जवाहर लाल ने लीग से समझौता करने का एक बार फिर प्रयत्न किया परन्तु उनका प्रयत्न बिलकुल निष्फल सिद्ध हुआ। अब बिना लीग के ही राष्ट्रीय सरकार के निर्माण का प्रयत्न किया गया। पं० जवाहर लाल ने प्रतिनिधियों की एक सूची वाइसराय के पास भेजी जिसमें सात कांग्रेसी जिसमें एक हरिजन का नाम था, एक भारतीय ईसाई, एक सिक्ख, एक पारसी और दो गैर-लीगी मुसलमान थे। वाइसराय ने इस सूची को स्वीकार कर लिया और अन्तः कालीन सरकार का निर्माण हो गया।

लीग द्वारा प्रत्यक्ष कार्यवाही—कांग्रेस की सरकार बन जाने पर जिन्ना के क्रोध की सीमा न रही और उन्होंने प्रत्यक्ष कार्यवाही करने का निश्चय कर लिया। १६ अगस्त १९४६ को कलकत्ते में प्रत्यक्ष कार्यवाही दिवस मनाने की लीग द्वारा घोषणा की गई। इस दिन कलकत्ते में हड़ताल मनाई गई। बंगाल में इन दिनों लीगी सरकार थी और सुहरावर्दी वहाँ के प्रधान-मन्त्री थे। प्रातः काल से ही हिन्दुओं का हत्याकाण्ड तथा उनकी सम्पत्ति की लूट आरम्भ हो गई। चार दिन तक यह नर-संहार चलता रहा। लग-

भग ३००० व्यक्तियों के प्राण गये और सहस्त्रों की सम्पत्ति नष्ट कर दी गई। कलकत्ते के इस हत्याकाण्ड से सम्पूर्ण देश में आतंक फैल गया और लोगों के हृदय में क्षोभ तथा प्रतिशोध की भावना दौड़ गई। इन सब दुर्घटनाओं का पूर्ण उत्तरदायित्व लीग ही पर था। यह लीग की दुर्नीति तथा उसके द्वारा घृणा के प्रचार का फल था। कलकत्ते के दंगों से सम्पूर्ण देश का वातावरण बिगड़ गया और इसका कुप्रभाव पंजाब पर भी पड़ा। देश के अन्य भागों में भी साम्प्रदायिक दंगे हुये। २ सितम्बर १९४६ को पं० जवाहर लाल नेहरू के नेतृत्व में अन्तर्कालीन सरकार का निर्माण हो गया। इससे जिन्ना को बड़ी निराशा तथा वेदना हुई और उन्होंने यह निश्चित किया कि उस दिन लीग द्वारा काले झण्डे द्वारा "शोक दिवस" मनाया जाय। इसके फल-स्वरूप देश के विभिन्न भागों में कुछ साधारण दंगे हुये।

नोआखाली तथा बिहार में हत्याकांड—अन्तर्कालीन सरकार के बन जाने पर लीग का घृणा का प्रचार पहिले से भी अधिक बढ़ गया, फलतः साम्प्रदायिक दंगों का प्रकोप फिर बढ़ गया। इन दंगों ने सबसे भयावह रूप बङ्गाल तथा बिहार में धारण कर लिया। बंगाल के नोआखाली जिले में १५ अक्तूबर १९४६ को भीषण साम्प्रदायिक दंगा आरम्भ हो गया। हिन्दुओं की हत्या के लिये पठानों को भर्ती किया गया और गाँव-गाँव में घूम-घूम कर हिन्दुओं का हत्याकाण्ड आरम्भ किया गया और उनकी सम्पत्ति लूटी गई। उनकी स्त्रियों को अपमानित तथा उनके सतीत्व को नष्ट किया गया। सहस्त्रों व्यक्ति बङ्गाल से भाग कर शरण प्राप्त करने के लिये बिहार चले आये और अपनी हृदय-विदारक कहानियाँ लोगों को सुनाये। फलतः बङ्गाल के हत्याकाण्डों की प्रतिक्रिया बिहार में आरम्भ हुई। नोआखाली के हत्याकाण्ड का बदला लेने के लिये नवम्बर १९४६ में बिहार प्रान्त में मुसल्मानों का हत्याकाण्ड आरम्भ हुआ। बिहार की कांग्रेस सरकार ने बड़ी कठोरता से इन विद्रोहों को दमन करने का प्रयत्न किया और पण्डित जवाहरलाल ने आकाश से बम-वर्षा की भी धमकी दी। परन्तु प्रतिशोध की भावना से प्रेरित जनता पर इसका कुछ प्रभाव न पड़ा और हत्याकाण्ड चलता ही गया। गांधी जी इन घटनाओं से अत्यन्त दुखी हुये और अपने प्राणों की चिन्ता न करके वे शान्ति स्थापित करने के लिये इन साम्प्रदायिक दंगों की अग्नि में कूद पड़े। कलकत्ता, नोआखाली तथा बिहार में वे गये और शान्ति स्थापित करने का प्रयत्न किया। गांधी जी की इन शान्ति यात्राओं का अच्छा प्रभाव पड़ा और मार-काट बन्द हो गई परन्तु हिन्दुओं तथा मुसल्मानों के मध्य जो खाई बन गई थी वह कभी पूरी न हो सकी।

लीग का अन्तर्कालीन सरकार में प्रवेश—उधर साम्प्रदायिक दंगों का प्रकोप चल रहा था इधर काँग्रेस तथा लीग में समझौते की भी बात-चीत चल रही थी परन्तु इससे कुछ लाभ न हुआ। मुहम्मद अली जिन्ना तथा वाइसराय लार्ड वेवल में भी बात-चीत चल रही थी। लार्ड वेवल लीग को अन्तर्कालीन सरकार में सम्मिलित करने के लिये अत्यन्त उत्सुक थे। वेवल-जिन्ना वार्तालाप का परिणाम यह हुआ कि लीग ने अन्तर्कालीन सरकार में सम्मिलित होने का निश्चय कर लिया और १५ अक्तूबर १९४६ को लीग द्वारा मनोनीत पाँच सदस्य जिनमें एक अन्त्यज जाति के योगेन्द्र नाथ मण्डल भी थे अन्तर्कालीन सरकार में सम्मिलित हो गये। लीग के सम्मिलित होते ही केन्द्रीय सरकार में दो गुट बन गये एक लीग का और दूसरा कांग्रेस का और सहयोग की सम्पूर्ण आशा समाप्त हो गई। वास्तव में लीग भीतर से लड़ने के लिये ही सरकार में सम्मिलित हुई थी। इस प्रकार केन्द्र में दो मन्त्रिमण्डल काम करने लगे एक लीग का और दूसरा काँग्रेस का।

विधान सभा की बैठक—९ नवम्बर १९४६ को दिल्ली में विधान सभा की

बैठक आरम्भ हुई। मुस्लिम लीग ने इसका बहिष्कार किया। इसने एक नई समस्या खड़ी हो गई। इससे यह स्पष्ट हो गया कि लीग कैबिनेट मिशन की दीर्घकालीन योजना को मानने के लिये उद्यत नहीं है। मुहम्मद अली जिन्ना ने एक पाकिस्तान का विधान बनाने के लिये एक अलग विधान सभा की माँग उपस्थित की।

भारत छोड़ने की घोषणा—२० फरवरी १९४७ को ब्रिटेन के प्रधान मन्त्री मेजर एटली ने ब्रिटिश पार्लियामेंट में एक घोषणा की जिससे न केवल भारतवासी वरन् सारा संसार स्तम्भित हो गया। अपने इस वक्तव्य में प्रधान-मन्त्री ने कहा, "सम्राट् की सरकार यह स्पष्ट कर देना चाहती है कि यह उसकी निश्चित इच्छा है कि वह जून १९४८ के पूर्व ही किसी तिथि को उत्तरदायी भारतीयों को शक्ति हस्तान्तरित करने के लिये आवश्यक कार्यवाही करे।' प्रधान मन्त्री ने यह भी कहा कि यदि विधान सम्मेलन सर्व-सम्मति से कोई विधान निर्मित कर देगा तो सरकार उसे पार्लियामेंट के पास सिफ़ारिश करके भेज देगी परन्तु यदि निश्चित तिथि अर्थात् जून १९४८ के पूर्व पूर्ण रूप से प्रतिनिधित्व करने वाली सभा द्वारा इस प्रकार विधान न बनाया जा सका तब सम्राट् की सरकार को यह विचार करना पड़ेगा कि भारत में केन्द्रीय सरकार की शक्ति को उस निश्चित तिथि पर किसको हस्तान्तरित किया जाय। क्या ब्रिटिश भारत की किसी स्वरूप की केन्द्रीय सरकार को अथवा कुछ क्षेत्रों में वर्तमान प्रान्तीय सरकारों को अथवा किसी अन्य प्रकार को जो अधिक से अधिक तर्क पूर्ण प्रतीत हो और जिससे भारतीय जनता का अधिक से अधिक कल्याण हो सके।

मेजर एटली का उपरोक्त वक्तव्य भारतीय राजनीतिज्ञों को एक प्रकार की चुनौती थी। अब अंग्रेज शक्ति को हस्तान्तरित कर भारत छोड़ने के लिये उद्यत थे और भारतीयों को उस शक्ति को लेने के लिये अपने को तैयार करना था। यद्यपि मेजर एटली के वक्तव्य का सर्वत्र स्वागत किया गया परन्तु उल्लास का सवत्र अभाव था। हिन्दुओं तथा मुसलमानों के पारस्परिक सम्बन्ध इतने बिगड़ गये थे कि भारतीय राजनीतिज्ञ किंकर्तव्यविमूढ़ से हो रहे थे। देश में गृह-युद्ध की अग्नि सुलग रही थी और इसी गम्भीर स्थिति में सत्ता के ग्रहण करने की समस्या भी आ उपस्थित हुई।

अफ्रीका में भारतीयों की समस्या—इन दिनों दक्षिण अफ्रीका में जेनरल स्मट्स की दुर्नीति के कारण प्रवासी भारतीयों के साथ बड़ा अत्याचार हो रहा था। भारत सरकार ने इस नीति का विरोध किया और दक्षिण अफ्रीका से अपने प्रतिनिधि को वापस बुला कर उसके साथ व्यापारिक सम्बन्ध विच्छेद कर दिया। भारत सरकार इतना ही करके सन्तुष्ट न रही। उसने संयुक्त राष्ट्र संघ में इसकी शिकायत की और भारत की ओर से प्रतिनिधि मण्डल का नेतृत्व पं० जवाहर लाल नेहरू की भगिनी श्रीमती विजय लक्ष्मी पण्डित ने किया। दक्षिण अफ्रीका के प्रतिनिधियों का कहना था कि यह उनकी आन्तरिक समस्या है और संयुक्त राष्ट्र संघ को इसमें हस्तक्षेप करने का अधिकार नहीं है। परन्तु भारत के प्रतिनिधि इसे अन्तर्राष्ट्रीय समस्या बतलाते थे क्योंकि जातिगत विभेद के कारण प्रवासी भारतीयों के साथ अत्याचार किया जा रहा था और उन्हें नागरीय अधिकारों से वंचित किया जा रहा था। बड़े वाद-विवाद के उपरान्त यह प्रस्ताव स्वीकृत हुआ कि "अधिकार-पत्र के सिद्धान्तों का ध्यान रखते हुये दोनों देशों को शान्तिपूर्वक आपस में समझौता कर लेना चाहिये।" परन्तु पर्याप्त बहुमत न प्राप्त होने के कारण यह प्रस्ताव सार्थक न हो सका।

मालवीय जी का परलोकवास—पण्डित मदनमोहन मालवीय जी का स्वास्थ्य बहुत दिनों से अच्छा न था और उत्तरोत्तर उनकी दशा शोचनीय होती जा रही

थी। नोआखाली की दुर्घटनाओं का उनके हृदय पर बहुत बड़ा आघात लगा। उन्होंने इस बात का अनुभव किया कि हिन्दू धर्म तथा संस्कृति संकटापन्न है और इसकी रक्षा के लिये हिन्दुओं को सङ्गठित हो जाना चाहिये। साम्प्रदायिक दङ्गों के फल-स्वरूप देश में जो नर-संहार हुआ उसे वृद्ध मालवीय जी सहन न कर सके और १२ नवम्बर १९४६ को वह पञ्चत्व को प्राप्त हो गये। पं० मदनमोहन मालवीय हमारे देश की एक महान् विभूति थे। "वे धर्म के महान् सेवक, राष्ट्र के कर्मठ नेता, निरभिमान होते हुये भी हिन्दुत्व के परम अभिमानी, सरस्वती के सच्चे पुजारी, भारतमाता के सपूत और आदर्श ब्राह्मण थे"। काशी हिन्दू विश्वविद्यालय आपकी अमर कृति है।

लार्ड वेवल का प्रस्थान—इङ्गलैण्ड के प्रधान-मन्त्री मेजर एटली ने अपनी २० फ़रवरी १९४८ के वक्तव्य में कहा था कि "वर्तमान वाइसराय लार्ड वेवल की नियुक्ति केवल युद्ध-काल के लिये हुई थी। अब उनके स्थान पर लार्ड लुई माउन्टबेटन नियुक्त किये गये हैं। वे आगामी मार्च के भीतर ही अपना कार्य-भार ग्रहण कर लेंगे।" इस घोषणा के अनुसार मार्च १९४८ में लार्ड वेवल ने भारत से इङ्गलैण्ड के लिये प्रस्थान कर दिया और लार्ड माउन्टबेटन उनके स्थान पर भारत के वाइसराय तथा गवर्नर-जनरल नियुक्त कर दिये गये।

लार्ड वेवल का चरित्र तथा उनके कार्यों का मूल्यांकन—लार्ड वेवल के जीवन का अधिकांश भाग सैन्य-सेवा में व्यतीत हुआ था और शासन का उन्हें कोई विशेष अनुभव न था। रण-क्षेत्र में उन्हें जापानियों के विरुद्ध नत-मस्तक होना पड़ा था। युद्धकालीन परिस्थितियों में उन्हें भारत के वाइसराय तथा गवर्नर-जनरल के पद पर नियुक्त किया गया था परन्तु भारत में यह भयानक राजनैतिक क्रान्ति का युग था और भारतीय समस्या इतनी जटिल हो गई थी कि एक अद्वितीय प्रतिभा का अत्यन्त अनुभवी राजनीतिज्ञ ही इसे सुलझा सकता था। दुर्भाग्यवश लार्ड वेवल में इन गुणों का अभाव था। अपने शासन काल में उन्होंने जिस नीति का अनुसरण किया उसमें उन्हें सफलता न मिली। उनकी दुर्बल नीति से लीग को सदैव प्रोत्साहन मिला। शिमला सम्मेलन में हिन्दुओं तथा मुसलमानों का समान प्रतिनिधित्व रख कर भी वे सफल न हो सके। लीग से बिना यह वचन लिये कि वह विधान सम्मेलन में सम्मिलित होगी उन्होंने उसे अन्तर्कालीन सरकार में सम्मिलित कर लिया। एक सेनानायक होते हुये भी बङ्गाल तथा पञ्जाब के हत्याकाण्डों को वे रोक न सके और साम्प्रदायिक उपद्रवों को सतर्कता तथा तत्परता के साथ दबा न सके। यदि वे चाहते तो सेना की सहायता से शीघ्र ही उपद्रवकारियों का दमन कर देते। जब बृटिश सरकार को इस बात का पूर्ण विश्वास हो गया कि वे भारतीय समस्या को सुलझाने में बिलकुल असमर्थ हैं तब वे वापस बुला लिये गये और उनसे अधिक योग्य तथा कुशल राजनीतिज्ञ को भारतीयों की जटिल समस्या को सुलझाने के लिये भेजा गया।

अध्याय २१

लार्ड माउन्टबेटन (१९४७-४८)

माउन्टबेटन की नियुक्ति—२० फ़रवरी १९४७ के अपने भाषण में बृटिश प्रधान मन्त्री मेजर एटली ने कहा था कि लार्ड वेवल की कार्य-अवधि समाप्त कर दी गई है और उनके स्थान पर लार्ड माउण्टबेटन भारत के वाइसराय तथा गवर्नर-जनरल नियुक्त कर दिये गये हैं। यह बृटिश भारत के अन्तिम और स्वतन्त्र भारत के प्रथम गवर्नर-जनरल थे। इनका सम्बन्ध बृटेन के राज-वंश से है। बर्मा की पुनर्विजय के दुष्कर कार्य को आपने अत्यन्त सफलता पूर्वक सम्पादित किया था। यह न केवल एक कुशल सेनानी हैं वरन् बड़े ही दक्ष राजनीतिज्ञ भी हैं। यह स्वभाव से ही अत्यन्त मृदुल तथा सज्जन हैं शिष्टता इनमें उच्च-कोटि की है और यह अत्यन्त मधुरभाषी हैं। कर्त्तव्यपरायणता इनका एक प्रमुख गुण है। उलझी हुई गुत्थियों के सुलझाने तथा लोगों में मेल कराने की इनमें अपूर्व क्षमता है। यह बड़े ही नीति निपुण समझे जाते हैं और सौभाग्य से उन्हें अपनी योग्य तथा व्यवहार कुशल पत्नी की सहायता प्राप्त रहती है। इनका पण्डित जवाहरलाल नेहरू से सिंगापूर में परिचय हो चुका था। कुछ समय तक नई दिल्ली में यह रह भी चुके थे और भारतीय परिस्थिति से पूर्णतया अवगत हो चुके थे। वास्तव में भारतीय समस्या के सुलझाने की वे अपूर्व क्षमता रखते थे। उनकी पत्नी ने उनके लन्दन से प्रस्थान करते समय कहा भी था, "यदि भारत की समस्या को कोई सुलझा सकता है तो वे हैं मेरे पति।" इस प्रकार उपयुक्तता के आधार पर लार्ड माउण्टबेटन की नियुक्ति की गई थी। २४ मार्च १९४७ को भारत आकर उन्होंने अपना पद ग्रहण किया।

एशियाई राष्ट्रों का सम्मेलन—इस समय की एक प्रमुख घटना एशिया के राष्ट्रों का सम्मेलन था। यह आयोजना पंडित जवाहरलाल नेहरू के मस्तिष्क से उद्भूत हुई थी। पद-ग्रहण के थोड़े ही दिन उपरान्त उन्होंने एशिया के सभी राष्ट्रों को नई दिल्ली के एक सम्मेलन में सम्मिलित होने के लिये आमन्त्रित किया। इस सम्मेलन की कार्यवाही २३ मार्च १९४७ से आरम्भ हुई। इस सम्मेलन में श्रीमती सरोजिनी नायडू ने अध्यक्ष का आसन ग्रहण किया। इस सम्मेलन में एशिया के ३० राष्ट्रों के २३० प्रतिनिधियों ने भाग लिया। इस सम्मेलन का लक्ष्य एशिया के राष्ट्रों में सद्भावना तथा मैत्री भाव उत्पन्न करके ऐसे मार्ग की खोज निकालना था जिससे परमाणु बम के युग में एशिया में पूर्ण शान्ति स्थापित रह सके। पंडित जवाहरलाल नेहरू के शब्दों में "एक-विश्व" के आदर्श के लिये प्रयत्नशील होना इस सम्मेलन का प्रधान लक्ष्य था। सम्मेलन का उद्घाटन करते हुये पंडित जवाहरलाल नेहरू ने कहा था, "हम यहाँ किसी देश की आन्तरिक राजनैतिक समस्याओं पर विचार न करेंगे। हम चाहते हैं कि इस सम्मेलन के फल-स्वरूप कोई ऐसी एशियाई संस्था स्थापित हो जाय जहाँ समान हित की समस्याओं का अध्ययन किया जा सके और एशियाई राष्ट्रों में सम्बन्ध घनिष्ठतर हो।" यही सम्मेलन का मुख्य लक्ष्य था। एशिया में इस प्रकार के सम्मेलन करने का यह प्रथम प्रयास था। दुर्भाग्यवश लीग ने इसमें भाग नहीं लिया। सम्मेलन कई दिन तक चलता रहा, और एशिया के राष्ट्रों में पारस्परिक सम्पर्क तथा सहयोग स्थापित करने के लिये आर्थिक, व्याप्त-

रिक तथा सांस्कृतिक समितियों का निर्माण किया गया। तीन वर्ष उपरान्त चीन में सम्मेलन के आगामी अधिवेशन के करने का निश्चय किया गया।

माउन्टबेटन योजना—लार्ड माउण्टबेटन को भारत में आते ही अखण्ड भारत तथा पाकिस्तान की दो विरोधी माँगों की जटिल समस्या को सुलझाना पड़ा। दोनों ही पक्ष अपनी-अपनी माँगों पर दृढ़ थे और गृह युद्ध के लिये भी उद्यत थे। यह समस्या कई शताब्दियों की समस्या थी और अब वह इतनी पुष्ट हो गई थी कि मध्यस्थ मार्ग का अनुसरण करके ही समस्या का समाधान हो सकता था। भारतीय नेताओं से बात-चीत करने के उपरान्त लार्ड माउण्टबेटन इसी निष्कर्ष पर पहुँचे कि तत्कालीन परिस्थितियों तथा वातावरण में न तो अखण्ड भारत रह सकता है और न अखण्ड पाकिस्तान ही सम्भव है। मुस्लिम लीग के पास जो पाकिस्तान का मान-चित्र था उसमें अनेक क्षेत्र ऐसे थे जिनमें हिन्दू बहुसंख्यक थे। अतएव जिन तर्कों के आधार पर पाकिस्तान हिन्दुस्तान से अलग किया जा रहा था उन्हीं तर्कों के आधार पर इन क्षेत्रों को पाकिस्तान से अलग हो जाना चाहिये था। इस प्रकार मुस्लिम लीग ने पाकिस्तान के निर्माण के लिये जो जाल बुना था उसमें वह स्वयम् फंस गई। लार्ड माउण्टबेटन ने अविलम्ब इस नये मध्यम मार्ग का अवलम्ब लिया और पंजाब तथा बङ्गाल के विभाजन की योजना भारतीय नेताओं के समक्ष उपस्थित की। उन्होंने मुस्लिम लीग के नेताओं से यह स्पष्ट रूप में बतला दिया कि यदि वे पाकिस्तान का निर्माण करना चाहते हैं तो उन्हें उन क्षेत्रों की जनता को जिनमें हिन्दू बहुसंख्यक हैं हिन्दुस्तान के साथ रहने की स्वतन्त्रता देनी होगी। विवश होकर मुस्लिम लीग को वाइसराय का यह प्रस्ताव स्वीकार कर लेना पड़ा। काँग्रेस को भी तत्कालीन परिस्थितियों में कोई दूसरा मार्ग परिलक्षित नहीं होता था। अतएव विवश होकर उसने भी वाइसराय के सुझाव को स्वीकार कर लिया। भारत के दोनों प्रमुख राजनैतिक दलों की स्वीकृति प्राप्त कर लेने के उपरान्त बृटिश सरकार से परामर्श लेने के लिये इङ्गलैण्ड के लिये प्रस्थान कर दिया। बृटिश सरकार की सहानुभूति प्राप्त करने के उपरान्त पहिली जून १९४७ को लार्ड माउण्टबेटन भारत वापस आ गये। ३ जून को दिल्ली से अपने रेडियो भाषण द्वारा भारत को दो स्वतन्त्र राज्यों में विभक्त कर देने की अपनी योजना प्रकाशित की। इस योजना की निम्नांकित रूप-रेखा थी:—

(१) बङ्गाल तथा पंजाब को दो भागों में विभक्त कर दिया जाय। एक भाग वह होगा जिसमें हिन्दुओं का बहुमत होगा और दूसरा भाग वह होगा जिसमें मुसलमानों का बहुमत होगा। योजना के अन्तर्गत इन हिन्दू तथा मुस्लिम क्षेत्रों के प्रान्तीय धारा सभा के सदस्यों को यह अधिकार दिया गया कि वे इस बात का निर्णय करें कि विभाजन हो अथवा न हो और यदि न हो तो वे देश की किस विधान सभा में सम्मिलित होंगे हिन्दुस्तान अथवा पाकिस्तान की।

(२) विभाजन की दशा में राज्यों की सीमा का अन्तिम निर्धारण करने के लिये एक सीमा निर्धारण आयोग की नियुक्ति का निश्चय किया गया।

(३) चूँकि सीमा-प्रान्त में काँग्रेस का बहुमत था, अतएव उस प्रान्त की जनता को एक बार फिर यह अवसर प्रदान किया गया कि वह अब अपना अन्तिम निर्णय दे कि वह किसके साथ रहना चाहती है हिन्दुस्तान के साथ अथवा पाकिस्तान के।

(४) आसाम में सिलहट ज़िले के निवासियों का मत जानने के लिये कि विभाजन की दशा में वे पूर्वी बङ्गाल अथवा पच्छिमी बङ्गाल के साथ रहना चाहेंगे जनमत लेने का निश्चय किया गया।

(५) अब यह निश्चय किया गया कि जून १९४८ के स्थान पर तत्काल भारत की सत्ता हस्तान्तरित कर दी जाय।

योजना की स्वीकृति—वाइसराय के रेडियो भाषण के उपरान्त पं० जवाहर लाल नेहरू ने काँग्रेस की ओर से, मुहम्मद अली जिन्ना ने मुस्लिम लीग की ओर से तथा सरदार बलदेव सिंह ने सिक्खों की ओर से रेडियो पर भाषण देकर माउण्टबेटन की योजना को स्वीकार किया। इसके बाद ६ जून १९४७ को दिल्ली के अधिवेशन में मुस्लिम लीग ने और १४ जून को दिल्ली ही में अखिल भारतीय काँग्रेस कमेटी के अधिवेशन में काँग्रेस ने विभाजन के प्रस्ताव को बहुमत से स्वीकार कर अपने-अपने नेताओं के निर्णय का अनुमोदन किया। भारत के दोनों प्रमुख राजनैतिक दलों की स्वीकृति प्राप्त कर लेने के उपरान्त लार्ड माउण्टबटेन अपनी योजना को कार्यान्वित करने के लिये द्रुतगति से अग्रसर हुये। उन्होंने प्रांतों की विधान सभाओं को आदेश दिया कि वे अविलम्ब भारत अथवा पाकिस्तान में सम्मिलित होने का अपना निर्णय दें। फलतः २० जून को बंगाल तथा २३ जून को पंजाब की विधान सभाओं ने बँटवारे का निश्चय कर लिया और जिन जिलों में मुसलमानों का बहुमत था वे पाकिस्तान में सम्मिलित हो गये। इसके थोड़े ही दिन बाद सिंध तथा बिलोचिस्तान ने भी पाकिस्तान में सम्मिलित होने का निश्चय कर लिया। सीमा-प्रान्त में भारत अथवा पाकिस्तान में सम्मिलित होने के प्रश्न पर जनमत लिया गया। काँग्रेस तथा खुदाई खिद्मतगारों ने इसका बहिष्कार किया। यह इनकी बहुत बड़ी भूल थी अन्यथा परिणाम कुछ और ही हुआ होता। जनमत के निर्णय के फल-स्वरूप सीमा-प्रान्त भी पाकिस्तान में सम्मिलित हो गया। इसके थोड़े ही दिन बाद आसाम के सिलहट जिले में भी मत लिया गया जहाँ की जनता ने बहुमत से पाकिस्तान में सम्मिलित होने के लिये अपना निर्णय दे दिया। इस प्रकार लार्ड माउन्टबेटन ने भारत विभाजन के कार्य को सम्पादित किया।

१९४७ का भारतीय स्वाधीनता का कानून—४ जुलाई १९४७ को लार्ड माउण्टबेटन की भारत-विभाजन योजना को कार्यान्वित करने के लिये ब्रटिश पार्लियामेंट में एक विधेयक उपस्थित किया गया। इस विधेयक द्वारा भारत को दो स्वतन्त्र उपनिवेशों में विभक्त कर दिया गया। इनमें से एक को पाकिस्तान की संज्ञा दी गई और दूसरे को इण्डिया। १५ जुलाई १९४७ को यह विधेयक पारित हो गया। इस नियम के अनुसार १५ अगस्त १९४७ को भारत को दो भागों में विभक्त कर दिया गया। सरकार की सम्पूर्ण सम्पत्ति दो भागों में विभक्त हो गई और १५ अगस्त से ही दो स्वतन्त्र सरकारें एक दिल्ली में और दूसरी कराची में काम करने लगी।

स्वतन्त्र राष्ट्रीय सरकार की स्थापना—भारत के स्वतन्त्र हो जाने पर भी लार्ड माउण्टबेटन की सेवाओं की आवश्यकता का अनुभव किया गया। अतएव वही पूर्ववत् स्वतन्त्र भारत के गवर्नर-जनरल बने रहे। पं० जवाहरलाल नेहरू के नेतृत्व में स्वतन्त्र भारत की राष्ट्रीय सरकार का निर्माण किया गया। सरकार का निर्माण करते समय सभी वर्गों तथा हितों का ध्यान रक्खा गया और सभी के प्रतिनिधित्व का प्रयत्न किया गया और मन्त्रिमण्डल में हिन्दू, सिक्ख, अन्त्यज, ईसाई, मुसलमान, पारसी सभी सम्प्रदाय वालों के प्रतिनिधियों को स्थान दिया गया। इस मन्त्रिमण्डल में स्त्रियों को भी प्रतिनिधित्व मिला। बम्बई तथा मद्रास में कुछ काल के लिये अँग्रेज गवर्नरों को ही रक्खा गया परन्तु शेष प्रान्तों में भारतीय गवर्नर नियुक्त किये गये। उत्तर-प्रदेश में श्रीमती सरोजिनी नायडू को गवर्नर के पद पर नियुक्त किया गया। प्रान्तों में पहिले से ही राष्ट्रीय सरकार कार्य कर रही थी अतएव उसके संगठन में कोई विशेष परिवर्तन करने की आवश्यकता न पड़ी।

हत्याकांड का प्रकोप—स्वतन्त्रता प्राप्त करते ही देश में हत्याकांड का प्रकोप

आरम्भ हो गया। यह मुस्लिम लीग द्वारा घृणा के प्रचार का फल था। मियाँ जिन्ना भारत तथा पाकिस्तान की जनता के विनिमय का प्रस्ताव पहिले रख चुके थे परन्तु वह अव्यवहारिक समझा गया था और कार्यान्वित न हो सका था। पाकिस्तान बनने के पूर्व हिन्दुओं को वहाँ से निष्कासित करने का जो कार्य असम्भव प्रतीत हो रहा था वह पाकिस्तान बनने के उपरान्त अत्यन्त सरल प्रतीत होने लगा। फलतः स्वतन्त्रता प्राप्त करते ही मार-काट आरम्भ हो गई और देश रक्त-रंजित हो गया। पूर्व बंगाल में तो पहिले से ही हत्याकाण्ड चल रहा था अब अन्य स्थानों में भी रक्तपात आरम्भ हो गया। पंजाब, सिन्ध तथा सीमाप्रान्त की भी यही दशा थी। अब पाकिस्तान के सभी प्रान्तों में हिन्दुओं को निष्कासित करने के लिये भीषण हत्याकाण्ड आरम्भ हुआ। इसकी प्रतिक्रिया भारत में भी हुये बिना न रही। पूर्वी पंजाब तथा दिल्ली में मुसलमानों का भी हत्याकांड तथा निष्कासन आरम्भ हो गया। फलतः दोनों ओर से उत्पीड़ितों का गमनागमन आरम्भ हो गया। इस प्रकार स्वतन्त्रता मनाने के दिन भी पंजाब के दोनों भागों तथा स्वयम् दिल्ली में हाहाकार मचा हुआ था। करोड़ों की संख्या में इस प्रकार का जनता की सामूहिक परिवर्तन भारत ही क्यों विश्व के इतिहास में एक नयी घटना थी। इस प्रकार भारत तथा पाकिस्तान दोनों ही को उत्पीड़ितों की समस्या का सामना करना पड़ा। लाखों की संख्या में लोगों को सुरक्षित लाना, उनके रहने, भोजन तथा वस्त्र की व्यवस्था करना कोई साधारण समस्या न थी। स्वतन्त्रता का प्रथम वर्ष इन्हीं शरणार्थियों की समस्या के सुलझाने में व्यतीत हुआ और सरकार कोई अन्य रचनात्मक कार्य न कर सकी।

जूनागढ़ की समस्या—जूनागढ़ का राज्य काठियावाड़ में स्थित है। यह राज्य चारों ओर से ऐसे राज्यों से घिरा था जो भारत-संघ में सम्मिलित हो चुके थे। जूनागढ़ का शासक मुसलमान था परन्तु वहाँ की बहुसंख्यक जनता हिन्दू थी। इन परिस्थितियों में भी जूनागढ़ के नवाब ने पाकिस्तान में सम्मिलित होने का निश्चय कर लिया। नवाब के इस अविवेकपूर्ण निश्चय का परिणाम यह हुआ कि जूनागढ़ की जनता में बड़ा असन्तोष फैला और एक अलग स्वतन्त्र सरकार का निर्माण हो गया। इससे आतंकित होकर अपना राजकोष लेकर नवाब कराची भाग गये। नवाब के पलायन करते ही वहाँ के दीवान ने राज्य में शान्ति स्थापित करने के लिये भारतीय सेना को आमन्त्रित किया। भारतीय सेना ने तुरन्त जूनागढ़ पर अपना अधिकार स्थापित कर लिया और वहाँ पर शान्ति स्थापित कर दी। राज में जो स्वतन्त्र सरकार स्थापित हो गई थी उसी को शासन-भार सौंप दिया गया। शीघ्र ही इस सरकार के नियन्त्रण में लोक-मत द्वारा यह निर्णय कराया गया कि जूनागढ़ भारत-संघ में सम्मिलित होना चाहता है अथवा पाकिस्तान में। ९९ प्रतिशत मत भारत-संघ में सम्मिलित होने के पक्ष में पड़े। इस प्रकार जूनागढ़ भारत-संघ का एक अंग बन गया।

गोवध निषेध आन्दोलन—हिन्दू गाय को अत्यन्त पवित्र मानते हैं। अतएव उसकी हत्या का विरोध करना उनके लिये स्वाभाविक ही है। परन्तु इस देश का सबसे बड़ा दुर्भाग्य यह रहा है कि जिस गाय को गोमाता कहा जाता है उसकी उन्नति की सर्वथा उपेक्षा होती रही है। यद्यपि उन्हें जीवित रखने का भगीरथ प्रयास किया जाता है और इसके लिये लोग अपने प्राणों की बल तक देने को उद्यत हो जाते है परन्तु उन्हें जीवित रहने तथा योग्य बनाने की बिल्कुल चिन्ता नहीं की जाती। गोवध निषेध आन्दोलन का सूत्रपात करपात्री जी ने मथुरा में आरम्भ किया था। आन्दोलन आरम्भ करने के एक दिन पूर्व ही वे वृन्दाबन में बन्दी बना लिये गये। जन-सुरक्षा कानून के अन्तर्गत उन्हें ६ महीने के लिये कारागार का दंड दिया गया और वे आगरा जेल में भेज दिये गये। करपात्री जी के जेल चले जाने से आन्दोलन बन्द न हुआ और मथुरा में सत्याग्रह पूर्ववत्

चलता रहा तथा गिरफ्तारियाँ होती रहीं। देश के अन्य भागों में भी शीघ्र ही गोवध निषेध आन्दोलन आरम्भ हो गया। इस आन्दोलन के फलस्वरूप अनेक नगरपालिकाओं तथा जिला परिषदों ने अपने अपने क्षेत्र के भीतर गोवध का निषेध कर दिया और तत्सम्बन्धी नियम बना दिये गये। मथुरा की नगरपालिका ने भी अपने अधिकार क्षेत्र के अन्दर गो-वध-निषेध करा दिया। प्रान्तीय सरकारों ने भी नगरपालिकाओं तथा जिला परिषदों के इस निर्णय का अनुमोदन कर दिया और यह घोषित कर दिया कि स्थानीय स्वराज्य की इन संस्थाओं को गो-वध-निषेध सम्बन्धी नियम बनाने का अधिकार है। स्वतन्त्र भारत के अनुकूल वातावरण में मुसलमानों की ओर से भी कोई विशेष विरोध नहीं हुआ। उदार मुसलमान नेताओं ने बकरीद के अवसर पर गोवध न करने का अपने बन्धुओं से अनुरोध किया। भारत सरकार का ध्यान भी इस ओर आकृष्ट हुआ और यह समस्या अब भी चल रही है, परन्तु गो-वध-निषेध से अधिक महत्वपूर्ण समस्या है गौओं को रहने योग्य बनाने तथा उनकी नस्ल बदलने की।

काश्मीर की समस्या—काश्मीर का राज्य भारत तथा पाकिस्तान की सीमा पर स्थित है। अतएव इसका बहुत बड़ा राजनैतिक महत्व है। यहाँ की बहु-संख्यक जनता मुसलमान है परन्तु वहाँ के राजा हिन्दू हैं। देश के विभाजन के समय एक अत्यन्त विकट समस्या यह उत्पन्न हो गई कि काश्मीर तथा जम्मू का राज्य पाकिस्तान में सम्मिलित हो अथवा भारत संघ में। दोनों ही राज्यों की दृष्टि काश्मीर पर लगी थी और दोनों ही उसे अपने संघ में सम्मिलित करने के लिये आतुर तथा व्यग्र हो रहे थे। पाकिस्तान ने यह प्रचार करना आरम्भ किया कि काश्मीर की मुसलमान जनता के साथ वहाँ के शासक द्वारा घोर अत्याचार किया जा रहा है। काश्मीर के एक जन-समूह ने जिसकी सहानुभूति पाकिस्तान के साथ थी और जो काश्मीर को पाकिस्तान का एक अंग बनाना चाहता था राज्य में उपद्रव करना आरम्भ कर दिया। पाकिस्तानी नेताओं से प्रोत्साहन पाकर कबाइलियों ने काश्मीर पर आक्रमण कर दिया। नाम तो कबाइलियों का था परन्तु वास्तव में था यह पाकिस्तान का आक्रमण। स्वतन्त्रता-प्रेमी काश्मीरी पाकिस्तान के इस अत्याचार को सहन न कर सके और आत्म-रक्षा के लिये कटिबद्ध हो गये। काश्मीर स्वयम् इस आक्रमण के रोकने की क्षमता नहीं रखता था। अतएव इस संकटापन्न स्थिति में उसे भारत की शरण में जाना पड़ा। काश्मीर तुरन्त भारत-संघ में सम्मिलित हो गया और अविलम्ब भारतीय सेनाओं ने काश्मीर की रक्षा के लिये प्रस्थान कर दिया। काश्मीर नरेश ने तुरन्त काश्मीर में शेख अब्दुल्ला की अध्यक्षता में उत्तरदायी राष्ट्रीय सरकार के स्थापित करने की घोषणा कर दी। काश्मीर में शान्ति स्थापित हो जाने तथा आक्रमणकारियों के काश्मीर से हट जाने के उपरान्त काश्मीर के भारत में सम्मिलित होने के प्रश्न को लोकमत द्वारा निर्णय करने का निश्चय किया गया।

अब युद्ध ने अत्यन्त भयानक रूप धारण कर लिया। भारतीय सेना ने तुरन्त आक्रमणकारियों को पीछे ढकेलना आरम्भ किया। पाकिस्तान इस बात को स्वीकार करने के लिये उद्यत न था कि काश्मीर के आक्रमण में उसका कोई हाथ है। वह यह कहता था कि काश्मीर में "आजाद काश्मीर सरकार की स्थापना हो गई है और वही इस युद्ध का संचालन कर रही है। ऐसी स्थिति में भारत सरकार ने संयुक्त संघ की सुरक्षा परिषद् के समक्ष काश्मीर के झगड़े को उपस्थित किया और पाकिस्तान पर यह आरोप लगाते हुये कि आक्रमणकारियों को पाकिस्तान से होकर आने दिया जाता है, उन्हें पाकिस्तान में अड्डा बनाने की आज्ञा दे दी गई है, पाकिस्तान से उन्हें अस्त्र-शस्त्र तथा पेट्रोल मिलता है, पाकिस्तानी अफ़सर उन्हें शिक्षा देते हैं तथा आक्रमणकारियों में पाकिस्तान के भी नागरिक सम्मिलित हैं सुरक्षा परिषद् से यह माँग

की गई वह पाकिस्तान को आदेश दे कि वह आक्रमणकारियों को अपने यहाँ से होकर न जाने दे, उनको किसी भी प्रकार की सहायता न दे और अपने नागरिकों को युद्ध में भाग लेने से रोके। भारत सरकार को यह आशा थी कि सुरक्षा परिषद् अविलम्ब अपना आदेश भेज देगी परन्तु दुर्भाग्यवश काश्मीर के प्रश्न पर ऐसा लम्बा वाद-विवाद चला कि मामला खटाई में पड़ गया। बहुत दिनों के वाद-विवाद के उपरान्त यह निश्चित हो पाया कि काश्मीर की समस्या को सुलझाने के लिये संयुक्त राष्ट्र संघ की ओर से एक कमीशन नियुक्त किया जाय जो युद्ध को बन्द कराने के उपरान्त निष्पक्ष मतगणना की व्यवस्था कराये। फलतः मार्च १६४८ में संयुक्त राष्ट्र संघ द्वारा नियुक्त किया हुआ कमीशन भारत आ पहुँचा। इस कमीशन ने कई बार दिल्ली तथा कराची में, भारत तथा पाकिस्तान की सरकारों से बात-चीत की। कमीशन ने काश्मीर का भी दौरा किया। कमीशन के सामने अन्त में पाकिस्तान ने बड़ी निर्लज्जतापूर्वक इस बात को स्वीकार कर लिया कि उसकी सेनायें काश्मीर में आजाद काश्मीर सरकार की सहायता के लिये लड़ रही हैं। कमीशन ने भारत तथा पाकिस्तान के समक्ष तुरन्त युद्ध बन्द कर देने का प्रस्ताव रक्खा। भारत ने निःसंकोच इस प्रस्ताव को स्वीकार कर लिया परन्तु पाकिस्तान ने कुछ ऐसे अड़ङ्गे लगाये जिससे तत्काल युद्ध स्थगित न किया जा सका। कमीशन ने अपनी अन्तः कालीन रिपोर्ट सुरक्षा परिषद् के समक्ष उपस्थित की। यद्यपि काश्मीर की समस्या को संयुक्त राष्ट्र संघ में सात-आठ वर्ष पूर्व ले जाया गया था परन्तु अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियाँ ऐसी जटिल हो गई हैं कि इसका निर्णय अभी तक न हो सका और न अभी इसके निर्णय की सम्भावना ही है।

हैदराबाद के साथ समझौता—स्वतन्त्रता की घोषणा करते समय बृटिश सरकार ने यह स्पष्ट कर दिया था कि देशी राज्यों के साथ उसके जो समझौते तथा सन्धियाँ हुई थीं वह सब समाप्त हो गईं और देशी राज्य भारत अथवा पाकिस्तान में सम्मिलित होने अथवा उनसे अलग रहने के लिये वे स्वतन्त्र हैं। हैदराबाद के निज़ाम के समक्ष एक विकट समस्या उत्पन्न हो गई। हैदराबाद का राज्य चारों ओर से भारत संघ के प्रदेशों से घिरा है और उसकी ८० प्रतिशत जनता हिन्दू है। ऐसी स्थिति में हैदराबाद का पाकिस्तान में सम्मिलित होना असम्भव था। निज़ाम भारत-संघ में सम्मिलित होना नहीं चाहता था। फलतः उसने यह घोषणा की कि हैदराबाद का राज्य स्वतन्त्र रहेगा। हैदराबाद बरार को भी वापस चाहता था परन्तु इसमें उसे सफलता न मिली। हैदराबाद की इस समय की स्थिति सन्तोषजनक न थी। राज्य में साम्प्रदायिकता का प्रकोप उत्तरोत्तर बढ़ता जा रहा था। इससे भारत सरकार की भी चिन्ता बहुत बढ़ गई। दोनों सरकारों में बहुत दिनों तक समझौते की बात-चीत चलती रही। अन्त में समझौता हो गया। जिसके द्वारा यह निश्चित किया गया कि १५ अगस्त के पूर्व भारत सरकार तथा निज़ाम के जो पारस्परिक सम्बन्ध थे वे पूर्ववत् बने रहेंगे, समझौते की शर्तों का समुचित रीति से पालन हो रहा है अथवा नहीं इसके निरीक्षण के लिये दोनों सरकारों के प्रतिनिधि एक दूसरे के यहाँ रहेंगे, इस समझौते का निजाम की प्रभुत्व शक्ति पर कोई प्रभाव न पड़ेगा, इससे किसी राज्य को कोई नूतन अथवा अतिरिक्त अधिकार न प्राप्त होगा, सन्धि के सम्बन्ध में मतभेद हो जाने पर पञ्चायत द्वारा निर्णय न होगा, निज़ाम विदेशों में अपने राजदूत रख सकेंगे परन्तु किसी विदेशी राज्य से शस्त्रास्त्र खरीद न सकेंगे और शस्त्रों की आवश्यकता की पूर्ति भारत सरकार ही करेगी, युद्ध की स्थिति में भारत सरकार निज़ाम के राज्य में सेना रख सकेगी और इस स्थिति के समाप्त हो जाने से ६ महीने उपरान्त सेना वहाँ से हटा ली जायगी, सिकन्दराबाद में जो भारतीय सेना थी वह हटा ली जायगी, साधारणतया तथा निज़ाम के नियन्त्रण पर ही हैदराबाद में भारतीय सेना जा सकेगी। यह

समझौता तुरन्त लागू होगा और दोनों पक्ष एक वर्ष तक इससे बाध्य होंगे। इस समझौते के उपरान्त दोनों ही सरकारों ने साम्प्रदायिक तथा जातिगत भेद को मिटा कर निष्पक्ष शासन करने का वचन दिया। भारत सरकार की ओर से हैदराबाद में श्री कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी प्रथम एजेन्ट जेनरल नियुक्त किये गये।

भारत की विदेशी नीति—स्वतन्त्रता प्राप्त कर लेने के उपरान्त भारत को अपनी परराष्ट्र नीति निर्धारित करनी पड़ी। इन दिनों यूरोप के राष्ट्र दो गुटों में विभक्त थे। एक गुट संयुक्त राष्ट्र अमेरिका का था जिसमें ग्रेट ब्रिटेन, फ्रांस तथा पश्चिमी यूरोप के अन्य राष्ट्र सम्मिलित थे और दूसरा गुट रूस का था जिसमें पूर्वी यूरोप के अधिकांश राज्य सम्मिलित थे। भारत की सरकार ने यह निश्चित किया कि वह किसी भी गुटबन्दी में सम्मिलित न होगी वरन् तटस्थ रहेगी और अपनी स्वतन्त्र नीति का अनुसरण करेगी परन्तु तटस्थता का तात्पर्य अकर्मण्यता नहीं है। भारत सरकार विश्व में शान्ति स्थापित रखने के लिये तथा स्वतन्त्रता की रक्षा के लिये सदैव क्रियाशील रहेगी। भारत सरकार सदैव न्याय का पक्ष लेगी और प्रत्येक विषय पर अपना स्वतन्त्र निर्णय देगी। इस प्रकार भारत सरकार जातीय समानता चाहती है। उपनिवेशीय साम्राज्य के समाप्त कर देने के पक्ष में है। जो पिछड़े हुये देश हैं उनकी औद्योगिक उन्नति करना वह चाहती है और अन्तर्राष्ट्रीय झगड़ों को शान्तिपूर्वक पारस्परिक समझौते द्वारा निर्णय कर लेने के पक्ष में वह है। छोटे तथा दलित राज्यों का पक्ष भारत सरकार लेती रही है। इससे अन्तर्राष्ट्रीय जगत में हमारे देश की प्रतिष्ठा बहुत बढ़ गई है। भारत सरकार ने सभी बड़े-बड़े राज्यों में अपने राजदूत भेजकर उनके साथ कूटनीतिक सम्बन्ध स्थापित कर लिया है। पं० जवाहर लाल नेहरू हमारे देश की परराष्ट्र नीति के कर्णधार हैं।

राज्यों का विलयन—देश के स्वतन्त्र होते ही राज्यों के विलयन की समस्या आ उपस्थित हुई। राज्य-विभाग की स्थापना केन्द्रीय सरकार में ५ जुलाई १९४७ को की गई थी और स्वर्गीय श्री वल्लभ भाई पटेल इस विभाग के अध्यक्ष बना दिये गये थे। राज्यों के विलयन की समस्या के वे सर्वथा योग्य थे। देशी राज्यों का स्वतन्त्र अस्तित्व अवांछनीय था क्योंकि भारत को एक प्रबल राष्ट्र बनाने के लिये इन राज्यों का विलयन कर राजनैतिक एकता स्थापित करना नितान्त आवश्यक था। स्वतन्त्रता प्राप्त करने के पूर्व हमारे देश में ५८५ देशी राज्य थे। इन राज्यों को भारत संघ में सम्मिलित करने के लिये दो उपाय सोचे गये। एक तो राज्यों को सम्बद्ध करना और दूसरे उन्हें राज्यों में विलीन कर देना। राज्यों के सम्बद्ध अथवा प्रान्तों में विलयन करने के सम्बन्ध में तीन योजनायें बनाई गई। पहिली योजना के अनुसार २१९ छोटे राज्य अपने पड़ोसी प्रान्तों में विलीन कर दिये गये। दूसरी योजना के अनुसार २२ राज्य केन्द्रीय सरकार द्वारा शासित क्षेत्रों में संघटित कर दिये गये। इस प्रकार के दो क्षेत्र हिमाचल प्रदेश तथा कच्छ हुये। तीसरी योजना के अनुसार २९१ राज्यों को सम्बद्ध कर दिया गया और सौराष्ट्र मत्स्य, विन्ध्य-प्रदेश, राजस्थान; मध्य-भारत, पटियाला तथा पूर्वी पञ्जाब के राज्यों के संघ बनाये गये। सौराष्ट्र संघ में कठियावाड़ के राज्य, मत्स्य संघ में अलवर, भरतपूर, धौलपूर के राज्य, विन्ध्य-प्रदेश में बुन्देलखण्ड तथा बघेलखण्ड के राज्य, राजस्थान में राजपूताने के राज्य, मध्य भारत में ग्वालियर, इन्दौर आदि मध्य भारत के राज्य तथा पूर्वी पञ्जाब में पटियाला और पूर्वी पञ्जाब के छोटे-छोटे राज्य सम्मिलित हैं। इन संघों में जो राज्य सबसे अधिक बड़े थे उनके राजाओं को राज-प्रमुख बना दिया गया है। इन संघों में सम्मिलित होने वाले राज्यों की शासन तथा न्याय-व्यवस्था एक कर दी गई। प्रत्येक संघ का एक मन्त्रिमण्डल बना दिया गया और उसमें सम्मिलित सभी राज्यों की एक ही व्यवस्थापिका बना दी गई। देशी नरेशों को एक निश्चित धन-राशि (Privy

Purse) दे दी गई और उनके मान-मर्यादा की रक्षा की समुचित व्यवस्था की गई। उत्तराधिकार भी उन्हीं के वंश में बना रहा परन्तु शासन का कार्य उनसे ले लिया गया। भारत सङ्घ से सम्बद्ध राज्यों की परराष्ट्र नीति, सुरक्षा तथा यातायात व्यवस्था विलयन के समय भारत सरकार के हाथ में रक्खी गई थी। राज्यों के विलयन के कार्य को सरदार पटेल ने बड़ी ही योग्यता के साथ किया था। वास्तव में भारत के इतिहास में यह एक बहुत बड़ी रक्तहीन-क्रान्ति थी जिसका सम्पादन सद्भावना तथा सहयोग के साथ किया गया था।

सामाजिक तथा आर्थिक व्यवस्था—देश के विभाजन के फल-स्वरूप भारत के समक्ष अनेक सामाजिक तथा आर्थिक समस्यायें उपस्थित हो गईं जिनका सुलझाना अत्यन्त दुष्कर कार्य था परन्तु हमारे देश के नेताओं ने अदम्य उत्साह तथा साहस के साथ उन समस्याओं के सुलझाने का भगीरथ प्रयास किया। इन समस्याओं में सबसे विकट समस्या भोजन की थी। पश्चिमी पञ्जाब तथा सिन्ध जहाँ गेहूँ का बाहुल्य था पाकिस्तान में चले गये। इससे हमारे देश में गेहूँ का अभाव हो गया। हमारी सरकार ने विदेशों से गेहूँ मँगा कर इस समस्या का सामना किया। खाद्यान्न के समुचित वितरण के लिये सरकार ने नियन्त्रण की व्यवस्था कर दी थी परन्तु इससे चोरबाजारी बढ़ने लगी और भ्रष्टाचार तथा नैतिक पतन बढ़ने लगा। गांधी जी के लिये यह सब असह्य था। अतएव उन्होंने नियन्त्रण व्यवस्था के समाप्त कर देने पर बल दिया। फलतः सरकार ने धीरे-धीरे नियन्त्रण के हटाने का निश्चय कर लिया और अपनी इस योजना को कार्यान्वित करना आरम्भ किया। हमारी राष्ट्रीय सरकार के समक्ष दूसरी विकट समस्या औद्योगिक उन्नति की थी। औद्योगिक उन्नति के लिये मिल मालिकों तथा मजदूरों में सद्भावना का होना आवश्यक था। परन्तु दुर्भाग्यवश मजदूरों में इन दिनों बड़ा असन्तोष फैला था। मँहगी के कारण उनकी दशा अत्यन्त शोचनीय हो गई थी। अतएव वे अधिक मजदूरी तथा अन्य प्रकार की सुविधायें चाहते थे। अपनी इन माँगों की पूर्ति के लिये वे प्रायः हड़ताल कर दिया करते थे। इसमें उन्हें कम्युनिस्टों से बड़ी सहायता मिलती थी। इन हड़तालों के कारण उत्पादन घट रहा था और देश की औद्योगिक उन्नति में बाधा पड़ रही थी। इस समस्या को सुलझाने के लिये दिसम्बर १९४७ में नई दिल्ली में एक औद्योगिक सम्मेलन किया गया। इस सम्मेलन में मजदूरों, मिल मालिकों तथा सरकार के प्रतिनिधि सम्मिलित हुये। इस सम्मेलन का उद्घाटन पं० जवाहरलाल नेहरू ने किया था। इस सम्मेलन में सर्व-सम्मति से यह पास किया गया कि मजदूरों की स्थिति में सुधार कर उन्हें उचित मजदूरी देने और शान्तिपूर्ण नीति ढंग से उनके झगड़ों के निर्णय करने का प्रयत्न किया जाय। औद्योगिक उन्नति में कच्चा माल की कमी के कारण भी बड़ी बाधा पड़ रही थी। देश के विभाजन के कारण कच्चे जूट की कमी का बड़ा अनुभव किया जा रहा था क्योंकि जूट के उत्पादन का बहुत बड़ा क्षेत्र पूर्वी बङ्गाल में चला गया था। रूई का भी बड़ा अभाव था। इसके अतिरिक्त पूँजीपति भी उदासीन से हो रहे थे और अत्यन्त मन्दगति से आगे बढ़ रहे थे। युद्ध के उपरान्त बड़ी सावधानी तथा सतर्कता से काम ले रहे थे। इन गम्भीर परिस्थितियों में भी हमारी राष्ट्रीय सरकार ने अदम्य उत्साह के साथ कार्य करना आरम्भ किया। भारत सरकार ने देश की औद्योगिक उन्नति के लिये वैज्ञानिक अनुसन्धान विभाग की स्थापना की। औद्योगिक अनुसन्धान में योग देने के लिये दिल्ली, पूना, जमशेदपूर, कलकत्ता तथा धनबाद में अनुसन्धानशालाओं के खोलने की व्यवस्था की गई। कृषि सम्बन्धी अनुसन्धानशालाओं की भी व्यवस्था की गई। देश के विभाजन के फल-स्वरूप लगभग ९ सहस्र डाक तथा तार के कर्मचारी पाकिस्तान चले गये परन्तु हमारी राष्ट्रीय सरकार ने इस अभाव की पूर्ति की

तत्काल व्यवस्था की। व्यापारिक उन्नति के लिये यातायात की भी समुचित व्यवस्था का प्रबन्ध किया गया। देश की रक्षा के लिये सेना का पुर्नसङ्गठन किया गया। प्रान्तीय सरकारों ने भी शिक्षा, स्वास्थ्य तथा ग्राम सुधार सम्बन्धी श्लाघनीय कार्य किया। ग्राम पंचायत क़ानून पास किया गया। जिसके अनुसार गाँवों में ग्राम पंचायतों का सङ्गठन किया गया। हिन्दी के प्रचार का यथाशक्ति प्रयत्न आरम्भ हुआ। इस प्रकार राष्ट्रीय सरकार ने देश की विभिन्न समस्याओं के सुलझाने का कार्य आरम्भ किया।

गांधी जी का निधन—साम्प्रदायिक दंगों के कारण गांधी जी बड़े दुखी थे। हिन्दुओं तथा मुसलमानों के हत्याकाण्ड का उनके हृदय पर बहुत बड़ा आघात लगा। दोनों ही सम्प्रदाय वालों के साथ समान रूप से उनकी सहानुभूति थी। अधिकांश हिन्दुओं की यह धारणा हो चली थी कि गाँधी जी मुसलमानों का बड़ा पक्षपात करते हैं। उत्पीड़ितों के मन में इस प्रकार के कुभाव उत्पन्न हो गये थे। २ जनवरी १६४८ को जब उनकी प्रार्थना सभा हो रही थी तब उनके स्थान से १५ गज की दूरी पर बम विस्फोट हुआ परन्तु सौभाग्यवश किसी को कोई हानि नहीं पहुँची। बम विस्फोट करने वाला व्यक्ति एक उत्पीड़ित था जिसका नाम मदनलाल था। गाँधी जी ने उसके लिये क्षमादान की सिफ़ारिश की परन्तु गांधी जी के अन्तिम दिन अब निकट आ गये थे। ३० जनवरी की सन्ध्या समय बिड़ला भवन में जब गाँधी जी अपने निवास स्थान से प्रार्थना सभा में आ रहे थे तब नाथूराम विनायक गोडसे नामक एक मराठा नव-युवक ने चार बार गोली चलाई। गोली गांधी जी के पेट में लगी और वे वहीं धाराशायी हो गये और उनके प्राण-पखेरू उड़ गये। भारत ही क्या सम्पूर्ण विश्व इस दुर्घटना से स्तब्ध तथा शोकाकुल हो उठा। संसार भर में अन्य किसी व्यक्ति के निधन पर इतना अधिक शोक नहीं मनाया गया जितना गांधी जी के निधन पर मनाया गया। गांधी जी के निधन से देश को बहुत बड़ी हानि पहुँची। उनका निधन ऐसे समय में हुआ था जब देश को उनके पथ-प्रदर्शन की बड़ी आवश्यकता थी। परन्तु गांधी जी के अनुयायियों ने उनकी शिक्षाओं तथा उनके सिद्धान्तों को विस्मरण नहीं किया और उनके बनाये हुये मार्ग पर निरन्तर चलते रहे। गांधी जी के आदर्शों के अनुसार अब भी हमारे देश के नेता कार्य कर रहे हैं और सफलता प्राप्त कर रहे हैं। गांधी जी न केवल भारत की वरन् विश्व की महान् विभूति थे। उन्हीं के सिद्धान्तों तथा आदर्शों पर चल कर विश्व का कल्याण हो सकता है।

माउन्टबेटन की वापसी—२१ जून १६४८ को लार्ड माउन्टबेटन ने अपने देश के लिये प्रस्थान कर दिया। अपने शासन के अल्पकाल में लार्ड माउन्टबेटन ने जो लोकप्रियता प्राप्त की है वह उसके पूववर्ती वाइसरायों को सर्वथा दुर्लभ थी। उन्होंने ऐसे समय में वाइसराय के पद को ग्रहण किया था जब देश की राजनैतिक स्थिति अत्यन्त गम्भीर थी और देश के बड़े-बड़े नेता भी उन जटिल परिस्थितियों में किंकर्तव्यविमूढ़ से हो रहे थे। लार्ड वेवल जिस गुत्थी के सुलझाने में अपनी असमर्थता प्रकट करके यहाँ से चले गये थे उसी गुत्थी के सुलझाने का दायित्व लार्ड माउन्टबेटन को दिया गया था। श्री जिन्ना से समझौता करना सरल कार्य न था परन्तु जिस विश्वास के साथ मज़दूर सरकार ने उन्हें भेजा था उसके योग्य उन्होंने अपने को सिद्ध कर दिया। १५ महीने के भीतर ही उन्होंने भारत के मान चित्र को बदल दिया। अपनी सौजन्यता, सहृदयता, सहानुभूति, व्यवहार कुशलता तथा कूटनीतिज्ञता से इन्होंने भारत के सभी नेताओं को मुग्ध कर लिया और वे सभी के विश्वासपात्र बन गये। एक अत्यन्त कुशल राजनीतिज्ञ की भांति वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे थे कि न अखण्ड भारत सम्भव है और न पूर्ण पाकिस्तान। अतएव उन्हें एक मध्यम मार्ग का अनुसरण किया और भारत के विभाजन के साथ-साथ उन्होंने

पाकिस्तान के विभाजन की भी योजना प्रस्तुत कर दी। काँग्रेस तथा लीग को वह अपने इस प्रस्ताव को स्वीकार करने के लिये तैयार कर लिये यही उनका भारत में सबसे बड़ा श्लाघनीय कार्य था। उनमें भारतीय नेताओं का इतना अटल विश्वास था कि देश को स्वतन्त्रता मिलने के उपरान्त भी उनकी सेवायें प्राप्त की गई और विभिन्न क्षेत्रों में व्यवस्था स्थापित करने के उपरान्त ही बड़ी कृतज्ञतापूर्वक उनकी विदाई की गई।

अध्याय २२

चक्रवर्ती राजगोपालाचारी (१९४८-५०)

राजगोपालाचारी का परिचय—आपका जन्म १८७९ ई० में सेलेम जिले में होसूर के निकट एक गांव में हुआ था। आपकी शिक्षा-दीक्षा सेन्ट्रल कालेज बङ्गलौर, प्रेसीडेन्सी कालेज तथा ला कालेज मद्रास में हुई थी। आपने १९०० में वकालत करना आरम्भ किया। सेलेम में आपकी वकालत खूब चली और आपने बड़ा धन अर्जन किया। १९१९ में आपने सत्याग्रह आन्दोलन में और १९२० में असहयोग आन्दोलन में भाग लिया। जब गांधी जी जेल चले गये तब आपही उनके "यंग इण्डिया" नामक पत्र का सम्पादन करते रहे। १९२१-२२ में आप इण्डियन नेशनल कांग्रेस के जनरल सेक्रेटरी रहे। १९२२ से १९४२ तथा १९४६ से १९४७ तक आप कांग्रेस की कार्य-कारिणी के सदस्य रहे। आप "आल-इण्डिया-स्पिनर्स एसोसियेशन" की कौंसिल के सदस्य आरम्भ से १९३५ तक बने रहे। १९३० में आप "प्रोहिबिशन लीग आफ़ इण्डिया" के सेक्रेटरी बना दिये गये। आप "दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा" के अध्यक्ष चुन लिये गये थे। जुलाई १९३७ से १९३९ तक आप मद्रास के मुख्य मन्त्री तथा गृह एवं अर्थ विभाग के अध्यक्ष रहे। अन्य कांग्रेस मन्त्रियों के साथ अक्तूबर १९३९ में आपने मुख्य मन्त्री के पद से त्याग-पत्र दे दिया। २८ जुलाई १९४० को अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी की पूना की बैठक में आपने इस बात पर बल दिया कि यदि तुरन्त अस्थायी राष्ट्रीय सरकार का निर्माण हो जाय तो युद्ध के उद्योग में पूर्ण सहयोग प्रदान करना चाहिये। ४ दिसम्बर १९४० को भारत सुरक्षा नियम के अनुसार आप बन्दी बना लिये गये और आपको एक वर्ष के लिये कारावास का दण्ड दिया गया। मतभेद हो जाने के कारण कांग्रेस वर्धा अधिवेशन के उपरान्त अप्रैल १९४२ में आपने त्याग-पत्र दे दिया। सितम्बर १९४४ में गाँधी-जिन्ना वार्तालाप के अवसर पर आपने गाँधी जी को बड़ा योग दिया। सितम्बर १९४६ से १५ अगस्त १९४७ तक आप गवर्नर-जनरल की कौंसिल के सदस्य और कई विभागों के विभिन्न समय अध्यक्ष में रहे। अगस्त १९४७ में आप पश्चिमी बङ्गाल के गवर्नर नियुक्त किये गये और नवम्बर १९४७ में आप स्थानापन्न गवर्नर-जनरल रहे। जून १९४८ से २६ जनवरी १९५० तक आप गवर्नर-जनरल के पद पर आसीन रहे। मई १९५० से दिसम्बर १९५० तक आप भारत सरकार के बिना किसी विभाग की अध्यक्षता के मन्त्री बने रहे। इसके उपरान्त आप मद्रास के मुख्य मन्त्री हो गये और इस समय आप इसी पद पर आसीन हैं। आप स्वतंत्र भारत के प्रथम तथा अन्तिम भारतीय गवर्नर-जनरल थे।

आर्थिक संकट—इस समय भारत को भयानक आर्थिक संकट का सामना करना पड़ा। पौंड पावने के सम्बन्ध में बृटिश सरकार से समझौता करने के लिये सरकार ने अपना एक प्रतिनिधि मण्डल लन्दन भेजा। कई सप्ताह के विचार-विनिमय के उपरान्त तीन वर्ष के लिये एक समझौता हो गया। भारत में बृटिश सरकार की जितनी सैनिक सामग्री थी उसका मूल्य एक अरब तैंतीस करोड़ आँका गया और इस धन की पूर्ति की गई। इसी प्रकार बृटिश अफ़सरों के पेन्शन की धन-राशि की भी पूर्ति की गई। बृटिश सरकार ने शेष में से एक अरब सात करोड़ रुपया तीन वर्षों में देने का वचन दिया। भारत सरकार का व्यय इन दिनों बहुत बढ़ गया था और आय के कोई नये साधन दृष्टि-

गोचर नहीं होते थे। इससे देश बड़े आर्थिक संकट में पड़ गया था। भारत सरकार अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये कागज़ी मुद्रा में वृद्धि करती गई। इसके दुष्परिणाम अत्यन्त भयानक सिद्ध हुये। वस्तुओं का मूल्य बहुत बढ़ गया और जनता के कष्ट की कोई सीमा न रह गई। अतएव सरकार का ध्यान मुद्रा-नीति की ओर आकृष्ट हुआ और मुद्रास्फीति रोकने के उपायों पर विचार करने के लिये नई दिल्ली में सरकार के प्रतिनिधियों अर्थ विशेषज्ञों तथा बैंकों के मजदूरों के प्रतिनिधियों का एक सम्मेलन हुआ। उसने यह निश्चित किया कि सरकारी व्यय में यथासम्भव कमी की जाय। केंद्रीय तथा प्रान्तीय सभी विकास योजनाओं की जाँच की जाय और जो अनावश्यक हों उन्हें स्थगित कर दिया जाय। जमींदारी उन्मूलन तथा मद्य-निषेध योजनायें कार्यान्वित करने के लिये प्रान्तीय सरकारें केन्द्रीय सरकार से आर्थिक सहायता प्राप्त करने की आशा न रक्खें। उत्तराधिकार में प्राप्त सम्पत्ति पर कर लगाने का क़ानून शीघ्र पास किया जाय। डाकखाने के सेविङ्ग बैंक में रुपया जमा करने की रक़म बढ़ा दी जाय। कम्पनियों के लाभ पर नियंत्रण रक्खा जाय और सब प्रकार से उत्पादन के बढ़ाने का प्रयत्न किया जाय।"

श्रमजीवियों से सम्बन्धित नियम—इन दिनों मजदूरों की दशा बड़ी *शोचनीय हो रही थी। अतएव मजदूरों की स्थिति को सुधारने के लिये कई नियम बनाये* गये। सरकार ने "फैक्ट्री ऐक्ट" पास किया। इस नियम द्वारा उन कारखानों में जिनमें ५०० अथवा इससे अधिक व्यक्ति काम कर रहे थे श्रमजीवी-हित-पदाधिकारियों (Labour Welfare Officers) के नियुक्त करने की व्यवस्था कर दी और १४ वर्ष से कम अवस्था के बच्चों को नियुक्त करने का निषेध कर दिया गया। सरकार ने "न्यूनतम मजदूरी नियम" (Minimum Wages Act) भी पास किया। यह नियम उन फैक्ट्रियों के लिये बनाया गया था जहाँ मजदूरों का रक्त-शोषण होता था। सरकार ने "कर्मचारियों का राज्य-बीमा-नियम" (Employees State Insurance Act) पास किया। इस *नियम के अनुसार उन सभी कर्मचारियों को जिनकी आय ४०० रुपये मासिक से कम थी* बीमा कराने की व्यवस्था की गई। इन व्यक्तियों की रुग्ण में सहायता, अङ्ग-भङ्ग हो जाने पर सहायता, आश्रितों की सहायता तथा मृत्यु हो जाने पर सहायता की व्यवस्था की गई। मजदूरों के हित के दृष्टिकोण से यह सबसे अधिक महत्वपूर्ण नियम था।

व्यापारिक व्यवस्था—हमारे देश के बड़े-बड़े कारखानों को वह सब वस्तुयें समुचित रीति से नहीं प्राप्त हो रही थीं जिनकी उन्हें अत्यधिक आवश्यकता थी। इसके अतिरिक्त सरकार को उस अन्न का भी मूल्य चुकाना था जो विदेशों से मँगाया गया था। इन समस्याओं को सुलझाने के लिये हमारी राष्ट्रीय सरकार ने सात राज्यों के साथ व्यापारिक समझौता किया और रूस तथा अर्जेन्टाइना के साथ वस्तु-विनिमय की व्यवस्था की। जापान, पच्छिमी जर्मनी आदि देशों के साथ जो भारत का पुराना व्यापारिक सम्बन्ध था उसे फिर से स्थापित किया गया और नये देशों के साथ नये व्यापारिक सम्बन्ध किये गये। इस प्रकार व्यापारिक असुविधाओं का निराकरण कर देशी व्यापार की अभिवृद्धि का प्रयास किया।

औद्योगिक अवस्था—राष्ट्रीय सरकार ने देश की औद्योगिक दशा के भी सुधारने का प्रयास किया। सरकार ने दस वर्ष उपरान्त उद्योगों के राष्ट्रीयकरण की नीति को घोषित किया। इस नीति का प्रतिपादन करते समय स्पष्ट रूप से बतला दिया गया कि प्रस्तुत आवश्यकता वस्तुओं के मूल्यों की वृद्धि को रोकने के लिये उत्पादन में वृद्धि करने की है। अतएव उत्पादन की वृद्धि के लिये सभी प्रकार के साधनों के प्रयोग करने की आवश्यकता है। घरेलू उद्योग धन्धों को प्रोत्साहन देने के लिये दिल्ली में एक केन्द्रीय

एम्पोरियम स्थापित करने की व्यवस्था की गई। भारतीय उद्योग धन्धों की आर्थिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये एक इण्डस्ट्रियल फिनान्स कार्पोरेशन तथा एक स्टेट आरगेनाइजेशन की स्थापना की गई।

कृषि की व्यवस्था—हमारे किसानों की दशा बड़ी ही शोचनीय हो गई थी। जमींदारों के अत्याचारों से किसानों की रक्षा के लिये कई प्रान्तों में जमींदारी उन्मूलन विधेयक उपस्थित किये गये। मद्रास तथा बिहार में जमींदारी उन्मूलन विधेयक पारित कर दिया गया। १६४६ में गवर्नर-जनरल ने उस पर अपनी स्वीकृति दे दी। कृषि की उन्नति की बहुत सी आयोजनायें हमारी राष्ट्रीय सरकार ने की जिससे किसानों का बड़ा कल्याण हुआ।

राजनैतिक दलों का संघर्ष—देश के विभिन्न राजनैतिक दलों ने सरकार की गम्भीर स्थिति से लाभ उठाने का प्रयत्न आरम्भ किया। कम्युनिस्ट धीरे-धीरे क्रियाशील हो रहे थे और हड़तालें करवा दिया करते थे। जब रेलवे विभाग के लोगों ने हड़ताल की धमकी दी तब कम्युनिस्टों को पकड़ना आरम्भ किया गया और उन्हें जेल में बन्द कर दिया। राष्ट्रीय स्वयम् सेवक दल भी इन दिनों बड़ा क्रियाशील हो गया था और सत्याग्रह करना आरम्भ कर दिया था। फलतः इनके नेता गोलवलकर को बन्दी बना कर जेल भेज दिया गया। अन्त में इस दल ने अपना सत्याग्रह बन्द कर दिया। सिक्खों का अकाली दल १६ फरवरी १६४६ को नई दिल्ली में एक सभा करना चाहता था परन्तु सरकार ने इसका निषेध कर दिया। अकाली नेता मास्टर तारा सिंह तथा कुछ अन्य अकालियों ने सरकार की आज्ञा को भङ्ग करके सभा करने का प्रयत्न किया। फलतः वे बन्दी बना लिये गये। पं० जवाहरलाल नेहरू ने स्पष्ट रूप से बतला दिया कि जो राज्य की शान्ति के भङ्ग करने का प्रयत्न करेंगे उनके साथ कठोरता का व्यवहार किया जायगा।

गांधी-हत्या-अभियोग—१० फरवरी १६४६ को गाँधी-हत्या-अभियोग में गोडसे तथा आप्टे को प्राण-दण्ड करकरे, मदन लाल, किस्टय, गोपाल गोडसे तथा परचुरे को देश निकाला का दण्ड मिला और श्री सावरकर निरपराध सिद्ध हुये। अतएव वे जेल से मुक्त कर दिये गये। इस मुकदमे की अपील की सुनवाई २ मई को आरम्भ हुई जिसके फल स्वरूप परचुरे तथा किस्टय निर्दोष सिद्ध हुये और कारागार से मुक्त कर दिये गये। जिन्हें कारावास का दण्ड दिया गया था उन्हें प्रिवी कौंसिल से अपील की आज्ञा नहीं मिली। गवर्नर-जनरल ने गोडसे तथा आप्टे के क्षमादान के आवेदन-पत्र को अस्वीकार कर दिया। फलतः १५ नवम्बर को वे दोनों फाँसी पर लटका दिये गये।

देशी राज्यों का विलयन—भारत-संघ में देशी राज्यों का क्रमागत विलयन होता रहा। ३० मार्च १६४६ को मत्स्य संघ तथा राजस्थान को मिलाकर बृहत्तर राजस्थान का सूत्रपात हुआ। इसके पूर्व ही पहिली मार्च १६४६ को कोल्हापूर राज्य को बम्बई प्रान्त में मिला दिया गया और भारत सरकार ने सिरोही राज्य को भी बम्बई प्रान्त को सौंप दिया। पहिली मई को बड़ौदा राज्य भी बम्बई प्रान्त में मिला दिया गया। सन्डूर राज्य को मद्रास प्रान्त में मिला दिया गया। पहिली अगस्त को टेहरी गढ़वाल को और १५ अक्तूबर को बनारस राज्य को उत्तर-प्रदेश में सम्मिलित कर दिया गया। पहिली दिसम्बर १६४६ को भारत सरकार ने रामपूर राज्य को उत्तर-प्रदेश के प्रान्त को सौंप दिया। पहिली जुलाई को ट्रावङ्कोर-कोचिन संघ का सूत्रपात हुआ और पहिली जुलाई को भारत सरकार ने भोपाल के शासन को अपने हाथ में ले लिया। १५ अक्तूबर को त्रिपुरा तथा

मनीपूर राज्यों का भारत-संघ में विलयन हो गया और वे चीफ़ कमिश्नर के प्रान्त बन गये।

हैदराबाद में पुलिस कार्यवाही—भारत के स्वतन्त्र हो जाने पर हैदराबाद के निज़ाम ने अपने राज्य को स्वतन्त्र घोषित कर दिया था और भारत-संघ अथवा पाकिस्तान में सम्मिलित होने से अपनी अनिच्छा प्रकट की थी। हैदराबाद में "इतिहादुल मुसलमीन" नाम की एक संस्था स्थापित हो गई थी जो मुसलमानों का आधिपत्य बनाये रखने के लिये सन्नद्ध थी इसका एक स्वयं सेवक दल बना जिसके सदस्य "रज़ाकार" कहलाते थे। इस दल ने हिन्दू जनता में आतंक फैला रक्खा था। इस दल को निजाम तथा उसकी सरकार का पूर्ण सहयोग प्राप्त था। हैदराबाद राज्य में सरकारी नौकरियाँ प्रायः मुसलमानों को ही मिलती थीं। हैदराबाद में "राज्य कांग्रेस" का भी संगठन हो गया था जो राजनैतिक अधिकारों के लिये आन्दोलन चला रही थी। इस प्रकार हैदराबाद में बड़ी कशाकश चल रही थी। यद्यपि भारत सरकार तथा निज़ाम में समझौता हो गया था परन्तु निजाम ने आरम्भ से ही सन्धि की शर्तों को भङ्ग करना आरम्भ किया। अपनी विशेषाज्ञा द्वारा उन्होंने अपने राज्य में भारतीय मुद्रा का प्रचलन बन्द कर दिया और पाकिस्तान को २० करोड़ रुपये के ऋणपत्र दे दिये। इधर सिकन्दराबाद से भारतीय सेना के हट जाने के कारण रजाकारों का उपद्रव दिन प्रतिदिन बढ़ता जा रहा था। रजाकार खुल्लमखुल्ला लूटमार करने लगे और हिन्दू जनता को सताने लगे रजाकारों के नेता कासिम रिजवी ने यह धमकी दी कि यदि भारत सरकार बल का प्रयोग करेगी तो भारत में भी उपद्रव मचा दिया जायगा। निजाम के प्रतिनिधियों ने मुस्लिम देशों में भारत के विरुद्ध बड़ा प्रचार किया। भारत सरकार ने कई बार निजाम को चेतावनी दी परन्तु उसके सारे प्रयत्न निष्फल सिद्ध हुये। निजाम ने संयुक्त-राष्ट्र-संघ की सुरक्षा-परिषद् में भी शिकायत की और भारत पर समझौता भंग करने का आरोप लगाया। जब भारत सरकार को समझौते की कोई आशा न रही तब १३ सितम्बर को हैदराबाद में भारतीय सेना भेज कर पुलिस कार्यवाही की घोषणा कर दी। पांच ही दिन के भीतर निजाम ने आत्मसमर्पण कर दिया। रजाकारों का नेता क़ासिम रिजवी बन्दी बना लिया गया और निजाम के प्रधान-मन्त्री लायक अली अपने साथियों के साथ नजरबन्द कर लिये गये। हैदराबाद में भारतीय सेना का सचालन महराज राजेन्द्रसिंह ने किया था। निजाम ने अपने कृत्यों पर बड़ा क्षोभ प्रकट किया और बतलाया कि वे तो सदैव भारत सरकार से समझौता करने के लिये उद्यत रहते थे परन्तु लायक अली मन्त्रिमण्डल तथा रजाकारों के मारे उनकी एक न चलती थी। अब निज़ाम ने अपने परराष्ट्र-मन्त्री को यह आदेश दिया कि वह सुरक्षा परिषद् से हैदराबाद के मामले को उठा ले परन्तु उसने ऐसा नहीं किया और कहा कि इस समय निजाम स्वतन्त्र नहीं हैं वरन् वे भारत सरकार के नियन्त्रण में हैं और वही कह रहे हैं जो भारत सरकार उनसे कहला रही है। निजाम के साथ बड़ा दुर्व्यवहार हो रहा है। अतएव सुरक्षा-परिषद् को अपने प्रतिनिधि भेज कर वास्तविक स्थिति की जाँच करनी चाहिये। भारत सरकार की ओर से यहाँ तक उपस्थित किया गया कि यह भारत का घरेलू मामला है और वह बिलकुल सुलझ गया है। अतएव उसमें सुरक्षा परिषद् को हस्तक्षेप करने का कोई अधिकार नहीं है। हैदराबाद में कुछ दिनों तक सैनिक शासन चलता रहा परन्तु शान्ति तथा सुव्यवस्था स्थापित हो जाने पर वहाँ लोक-मत द्वारा यह निश्चित हुआ कि हैदराबाद भारत-संघ में सम्मिलित हो जाय। अतएव हैदराबाद भारत संघ का एक अंग बना दिया गया और निजाम वहाँ के राजप्रमुख हो गये। अब वे वैधानिक रीति से वहाँ का शासन अपने उत्तरदायी मन्त्रिमण्डल द्वारा चलाते हैं।

प्रधान-मन्त्रियों का सम्मेलन—२१ अक्टूबर को लन्दन में बृटिश राष्ट्र-मण्डल के प्रधान-मन्त्रियों का एक सम्मेलन हुआ। उसमें भारत, आस्ट्रेलिया, पाकिस्तान, कनाडा, ग्रेट बृटेन, लंका तथा बर्मा के प्रधान-मन्त्री उपस्थित हुये। भारत से पं० जवाहर लाल नेहरू लन्दन गये। वहां राष्ट्रमण्डल की रचा तथा आर्थिक नीति के सम्बन्ध में विचार-विनिमय हुआ। राष्ट्र-मण्डल के संगठन के सम्बन्ध में भी विचार किया गया जिसमें भारत-संघ उसका सदस्य बन सके। अन्त में निश्चय पाया गया कि बृटिश शब्द निकाल कर उसका नाम केवल राष्ट्र-मण्डल रक्खा जाय जो स्वतन्त्र राज्यों का एक मंडल होगा और जिसकी एकता का प्रतीक बृटिश सम्राट् होगा। इस प्रकार भारत-संघ बृटिश राष्ट्र मण्डल का सदस्य बन गया।

पाकिस्तान के साथ सम्बन्ध—भारत संघ तथा पाकिस्तान के सम्बन्ध बहुत बिगड़ गये थे और काश्मीर की समस्या ने स्थिति को और गम्भीर बना दिया। संयुक्त राष्ट्र संघ द्वारा भेजा हुआ कमीशन भी दोनों राज्यों में सद्भावना तथा मेल उत्पन्न कराने में असमर्थ रहा। परन्तु अन्त में युद्ध से तंग आकर दोनों राज्यों ने स्वयम् काश्मीर में सन्धिविराम का निश्चय कर लिया। फलतः पहिली जनवरी १९४९ को अर्द्ध-रात्रि से काश्मीर में युद्ध स्थगित कर दिया गया। काश्मीर के जितने भाग पर पाकिस्तान की सेना का अधिकार हो गया था उतना उसके अधिकार में रहा और जितने भाग पर भारत की सेना का अधिकार था वह भारत के अधिकार में रहा। दोनों राज्यों ने अपनी-अपनी सेनायें धीरे-धीरे हटा लीं। पाकिस्तानी क्षेत्र में आजाद काश्मीर की सरकार का शासन है और शेष भाग पर काश्मीर की पुरानी सरकार का शासन है। यद्यपि काश्मीर में युद्ध स्थगित कर दिया गया है परन्तु दोनों देशों में दुर्भावना का प्रकोप बढ़ता ही जा रहा है। काश्मीर युद्ध विराम सन्धि के उपरान्त दोनों देशों के प्रतिनिधियों का एक सम्मेलन हुआ जिसमें उत्पीड़ितों की सम्पत्ति के सम्बन्ध में दोनों राज्यों में समझौता हो गया। दोनों देशों में व्यापार तथा यातायात सम्बन्धी भी अनेक समझौते हुये। पूर्वी पंजाब से पश्चिमी पञ्जाब में बहने वाली नहर की समस्या पर भी विचार हुआ परन्तु यह समस्या पूर्ण रूप से सुलझ न सकी। काश्मीर की समस्या पर कोई समझौता न हो सका।

राजगोपालाचारी का पद-त्याग—भारत के विधान सम्मेलन ने नये संविधान का निर्माण कर दिया और २५ जनवरी १९५० को हमारे देश में गणतन्त्रात्मक व्यवस्था की स्थापना हो गई। फलतः राजगोपालाचारी को अपना पद त्याग देना पड़ा और उनके स्थान पर डा० राजेन्द्र प्रसाद स्वतन्त्र भारत के प्रथम राष्ट्रपति निर्वाचित कर लिये गये।

अध्याय २३

राष्ट्रपति डा० राजेन्द्रप्रसाद (१९५० से अब तक)

डा० राजेन्द्रप्रसाद का परिचय—आपका जन्म ३ दिसम्बर १८८४ में उत्तर विहार प्रान्त सारन जिले के एक प्रतिष्ठित कायस्थ परिवार में हुआ था। आपकी शिक्षा अधिकतर प्रेसीडेन्सी कालेज कलकत्ते में ही हुई थी। यहीं से आपने वकालत पास किया। १९०८ में आप मुजफ्फरपूर के जी० बी० बी० कालेज में अंग्रेजी के प्रोफ़ेसर नियुक्त किये गये। १९११ से १९१६ तक आपने कलकत्ता हाई कोर्ट में वकालत भी की और उसमें श्लाघनीय सफलता प्राप्त की। १९१६ से १९२० तक आपने पटना हाई कोर्ट में वकालत की और आपकी गणना उच्च-कोटि के वकीलों में थी। जब महात्मा गान्धी ने चम्पारन में किसानों का आन्दोलन आरम्भ किया तो आप भी उसमें सम्मिलित हो गये। १९२० में आप ने वकालत छोड़ दी और सत्याग्रह आन्दोलन में कूद पड़े। १९२२ में गया कांग्रेस के अधिवेशन में आप अखिल भारतीय कांग्रेस के जेनरल सेक्रेटरी चुन लिये गये। इसके बाद आप काँग्रेस कार्य समिति के सदस्य चुन लिये गये। १९३२, १९३४, १९३९ तथा १९४७ में आप कांग्रेस के सभापति भी चुने गये थे। सविनय अवज्ञा आन्दोलन में भाग लेने के कारण आपको अनेक बार जेल-यात्रायें करनी पड़ी। आपको अन्तिम जेल-यात्रा अगस्त १९४२ में करनी पड़ी थी और १९४५ में आप कारावास से मुक्त कर दिये गये। २ सितम्बर १९४६ को जब अन्तर्कालीन सरकार का निर्माण हुआ तब आप खाद्य तथा कृषि-मन्त्री के पद पर नियुक्त हुये। दिसम्बर १९४६ में जब विधान सभा का निर्माण हुआ तब आप उसके अध्यक्ष निर्वाचित कर लिये गये। १५ जनवरी १९४८ को आपने सरकारी पद से त्याग-पत्र दे दिया। १८ नवम्बर १९४७ से दिसम्बर १९४८ तक आप फिर कांग्रेस के अध्यक्ष रहे। २६ जनवरी १९५० में आप स्वतन्त्र भारत के प्रथम राष्ट्रपति निर्वाचित कर लिये गये। तब से आप इसी पद पर आसीन हैं।

राजेन्द्र बाबू की प्रतिभा बहुमुखी थी। पटना तथा प्रयाग विश्वविद्यालय ने आपको एल० एल० डी० की उपाधि देकर सम्मानित किया था। पटना विश्वविद्यालय की स्थापना के समय से ही आप उसकी सेनेट के सदस्य रहे हैं। पटना से प्रकाशित "पटना ला वीकली" नामक पत्र का आपने सम्पादन भी किया। विहार विद्यापीठ के आप उप-कुलपति हैं। १९२८ में कोकनाडा तथा १९३६ में अखिल भारतीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन का सभापतित्व आपने किया था। आप भारतीय इतिहास परिषद् (Indian Academy of History) के रेक्टर भी रह चुके हैं।

राजेन्द्र बाबू अत्यंत सरल प्रकृति के व्यक्ति हैं। भारतीय सभ्यता तथा संस्कृति के आप पुजारी हैं। आप सत्य तथा अहिंसा के प्रतिरूप हैं। आपकी तपश्चर्या तथा साधना महान् है। जान गुन्थर के शब्दों में "काँग्रेस के त्रिगुट में पटेल उसकी कठोर मुष्टिका थे मौलाना आजाद उसके मस्तिष्क हैं और राजेन्द्र प्रसाद उसके हृदय हैं"। वास्तव में हैं भी राजेन्द्र बाबू काँग्रेस के प्राण। यदि काँग्रेस के विभिन्न दलों में समन्वय रखने की अपूर्व क्षमता कोई व्यक्ति रखता है तो वह हैं राजेन्द्र बाबू। आप दमा के रोग से पीड़ित होते हुये भी देश के गुरुतम भार को वहन कर रहे हैं। परमेश्वर आप को दीर्घायु बनाये।

पंचवर्षीय योजना—यद्यपि हमारे देश को अँग्रेजों के पलायन कर जाने से राजनैतिक स्वतन्त्रता प्राप्त हो गई थी परन्तु अभी हमारा देश आर्थिक तथा सांस्कृतिक परतन्त्रता के बन्धनों से उन्मुक्त न था। अभी हमें अपने देश को अपनी मातृ भाषा की उन्नति करके विदेशी भाषा के चङ्गुल से मुक्त करना था और देश की कृषि सम्बन्धी तथा औद्योगिक उन्नति करके देश की दरिद्रता तथा विपन्नता को दूर करना था और पर राष्ट्रों की सहायता पर निर्भर न रह कर अपने देश को अधिकाधिक स्वावलम्बी बनाना था। इसमें सन्देह नहीं कि राजनैतिक स्वतन्त्रता आर्थिक स्वतन्त्रता प्राप्त करने का एक बहुत बड़ा साधन है। अंग्रेजी शासन में दो सौ वर्षों से हमारे देश का आर्थिक शोषण हो रहा था। अतएव देश की आर्थिक दशा अत्यन्त शोचनीय हो गई थी। यद्यपि हमारा देश अत्यन्त निर्धन हो गया था परन्तु सौभाग्यवश इसके साधन अत्यन्त अपार हैं जिनका समुचित रीति से उपयोग करने पर देश को धन-धान्य पूर्ण बनाया जा सकता है।

देश को धन-धान्य पूर्ण बना कर देश को आर्थिक परतन्त्रता से उन्मुक्त करने तथा उसे अधिकाधिक स्वावलम्बी बनाने के लिये १९५१ में हमारी स्वतन्त्र सरकार ने पञ्चवर्षीय योजना का निर्माण किया। इस आयोजना का उद्देश्य देश की सर्वतोन्मुखी उन्नति करना और देशवासियों के जीवन-स्तर को ऊर्ध्वगामी बनाना है। इस आयोजना के उद्देश्य को हम तीन भागों में विभक्त कर सकते हैं अर्थात् (१) उत्पादन में वृद्धि कर आर्थिक उन्नति करना जिससे देशवासियों के जीवन का स्तर ऊंचा उठ जाय, (२) सम्पत्ति, आय तथा अवसर की प्राप्ति का समान विभाजन तथा वितरण करके दरिद्रता को दूर करना, सामाजिक सुरक्षा स्थापित करना और सामाजिक असन्तोष को दूर करना तथा (३) नये कार्य-क्षेत्रों की व्यवस्था कर लोगों को कार्य देना जिससे देश में बेकारी की समस्या न उत्पन्न हो।

हमारा देश कृषि-प्रधान है। अतएव पञ्चवर्षीय योजना में सर्वोच्च स्थान कृषि को ही दिया गया है। कृषि की उन्नति के लिये सिंचाई तथा शक्ति उत्पादन की वृहत् योजना बनाई गई है। कृषि के अतिरिक्त, यातायात के साधनों में वृद्धि, औद्योगिक उन्नति, समाज सेवा के कार्य, उत्पीड़ितों की व्यवस्था तथा अन्य विभागों की उन्नति का कार्य-क्रम पञ्च-वर्षीय योजना के अन्तर्गत आता है।

१९५३-५४ की जो रिपोर्ट पञ्चवर्षीय योजना के सम्बन्ध में प्रकाशित हुई है उससे यह स्पष्ट हो जाता है कि आयोजना को आशातीत सफलता प्राप्त हो रही है। खाद्यान्न के उत्पादन में श्लाघनीय परिवर्तन हुआ है जिसके फल-स्वरूप हमारी विदेशों की निर्भरता समाप्त हो रही है और खाद्यान्नों का मूल्य क्रमशः घट रहा है। रूई के उत्पादन में भी बड़ी वृद्धि हुई है जिससे प्रचुर मात्रा में कपड़ा उपलब्ध हो गया है। केवल जूट तथा गन्ने के उत्पादन में श्लाघनीय वृद्धि नहीं हो सकी है। सिंचाई की व्यवस्था में प्रचुर उन्नति हो सकी है और खाद के उत्पादन में भी बड़ी वृद्धि हुई है। बेकार भूमि को कृषि योग्य बनाने का भी प्रशंसनीय प्रयत्न किया गया है। औद्योगिक उन्नति का भी श्लाघनीय प्रयास किया गया है और मशीनों के उत्पादन में बड़ी वृद्धि की गई है। साइकिलों का उत्पादन हमारे देश में बहुत बढ़ गया है। सीमेन्ट के उत्पादन में भी बड़ी वृद्धि हो गई है। सिलाई की मशीनों के उत्पादन का भी प्रशंसनीय कार्य किया गया है। जहाज़ निर्माण में भी वृद्धि हुई है। शिक्षा तथा स्वास्थ्य के क्षेत्र में भी श्लाघनीय कार्य किया गया है और स्कूलों, अध्यापकों, औषधालयों तथा डाक्टरों की संख्या में आशातीत वृद्धि हो गई है। इन आयोजनाओं से बेकारी की समस्या दूर करने में भी बड़ी सहायता मिली है। सारांश यह है कि गत महायुद्ध तथा देश के विभाजन से जो आर्थिक अव्यवस्था उत्पन्न हो गई थी उसे पंचवर्षीय योजना द्वारा पर्या-

सांश दूर कर दिया गया है और आशा की जाती है कि जनता के सहयोग से शीघ्र ही सरकार देश की आर्थिक समस्या के सुलझाने में सफल होगी।

प्रजा समाजवादी दल का सूत्रपात—सितम्बर १९५० में नासिक में कांग्रेस का वार्षिक अधिवेशन हुआ। इस अधिवेशन की अध्यक्षता के लिये राजर्षि पुरुषोत्तम दास टण्डन तथा आचार्य कृपलानी में प्रतिद्वन्द्विता हो गई परन्तु कृपलानी जी पराजित हो गये और टण्डन जी अध्यक्ष चुन लिये गये। इस प्रतिद्वन्द्विता के फल-स्वरूप कांग्रेस में बहुत बड़ी फूट आरम्भ हो गई। आचार्य कृपलानी ने अब कांग्रेस के अन्दर रह कर ही एक लोकतन्त्रात्मक मोर्चा (Democratic Front) बनाने का निश्चय किया। कांग्रेस के प्रायः सभी महारथी और विशेषकर पण्डित जवाहरलाल नेहरू इसके घोर विरोधी थे। यह लोग कांग्रेस के भीतर गुटबन्दी नहीं चाहते थे क्योंकि उससे संस्था के विश्रृङ्खल हो जाने की सम्भावना थी। ऐसी स्थिति में कृपलानी जी कांग्रेस से अलग हो गये और जुलाई १९५१ में उन्होंने अपना एक नया दल बनाया जिसका नाम किसान मजदूर पार्टी रक्खा गया। धीरे-धीरे समाजवादी दल तथा किसान मजदूर पार्टी एक दूसरे के सन्निकट आने लगे और कालान्तर में दोनों दलों का विलयन हो गया और संयुक्त दल का नाम प्रजा समाजवादी दल रक्खा गया। आज कल कांग्रेस के बाद प्रजा समाजवादी दल का ही देश में जोर है।

आम चुनाव—हमारे नये संविधान के अनुसार १९५२ में नया आम चुनाव हुआ। यह चुनाव लोकतन्त्रात्मक व्यवस्था का महान् अभ्यास था। हमारे नये संविधान द्वारा वयस्क मताधिकार की व्यवस्था की गई है। फलतः २१ वर्ष अथवा इससे अधिक अवस्था वाले सभी स्त्री-पुरुषों को मताधिकार प्रदान कर दिया गया है। इतने विशाल देश की विशाल जनता का शान्तिपूर्वक चुनाव सम्पादन करना एक दुष्कर कार्य था। परन्तु सौभाग्य वश यह चुनाव बड़ी शालीनता के साथ सम्पादित हुआ और इसमें कांग्रेस की ही जीत हुई। केन्द्रीय चुनाव में कांग्रेस का पूर्ण बहुमत रहा। विभिन्न राज्यों के चुनावों में भी पटसू, ट्रावङ्कोर-कोचिन तथा मद्रास को छोड़कर शेष सभी प्रान्तों में कांग्रेस का बहुमत रहा।

रेलों का पुनर्सङ्गठन—रेलों का पुनर्सङ्गठन करके हमारी सरकार ने एक अत्यन्त महत्वपूर्ण कार्य किया है। इस नई व्यवस्था ने मितव्ययता उत्पन्न कर दी है और रेलों का प्रबन्ध केन्द्रीय सरकार के प्रत्यक्ष नियंत्रण तथा संचालन में कर दिया है। रेलों का पुन-सङ्गन का कार्य १९५० में ही आरम्भ कर दिया गया था। अब भारत की सभी रेलों को ६ क्षेत्रों में विभक्त कर दिया गया है। प्रत्येक क्षेत्र के अन्तर्गत १२६००० से २१०००० वर्ग-मील तक रक्खा गया है। १९५१ में दक्षिण की तीन रेलों को संयुक्त करके एक साउथ इण्डियन रेलवे बना दिया गया। इसी वर्ष दो अन्य क्षेत्रों अर्थात् सेन्ट्रल रेलवे तथा वेस्टर्न रेलवे का निर्माण किया गया। १९५२ में तीन अन्य क्षेत्रों अर्थात् उत्तरी, उत्तरी पूर्वी तथा पूर्वी रेलों का निर्माण किया गया। रेलों को इन ६ क्षेत्रों में विभक्त कर देने से व्यय में मितव्ययता तथा यात्रियों को अधिक सुविधा देने की आशा की जा रही है। रेलवे के प्रबन्ध में सुविधा होने की सम्भावना है। ऐसी आशा की जा रही है कि यह व्यवस्था अत्यन्त सफल सिद्ध होगी।

समाजीय आयोजनायें—देश में आर्थिक प्रजातन्त्र स्थापित करने के लिये महात्मा गाँधी के जन्म दिवस अर्थात् २ अक्तूबर १९५२ को समाजीय आयोजनाओं (Community Progects) का सूत्रपात किया गया। इसका मुख्य उद्देश्य देश की ग़रीबी को दूर करना तथा बेकारी की समस्या को सुलझाना है। इन आयोजनाओं द्वारा

भारतीय नेताओं ने वास्तव में समाजवाद तथा साम्यवाद को चुनौती दी है। इन आयोजनाओं को सफलीभूत बनाने के लिये अमेरिका ने धन तथा विशेषज्ञों दोनों से भारत की सहायता करने का वचन दिया है। इस व्यवस्था के अन्तर्गत ५५ आयोजनायें बनाई गई हैं। इन आयोजनाओं को भारत संघ के २५ से अधिक राज्यों में लागू किया गया है। अ वर्ग के राज्यों के लिये ३५ आयोजनायें, ब वर्ग के लिये ६ और शेष स वर्ग के लिये बनाई गई हैं। इन आयोजनाओं द्वारा जनता में स्वावलम्बन की भावना जागृत की जा रही है। तीन वर्ष के भीतर इन आयोजनाओं के सम्पादन का प्रयत्न किया जा रहा है। इन आयोजनाओं को पूर्ण रूप से सफल बनाने के लिये जनता तथा सरकार में पूर्ण सहयोग की आवश्यकता है।

वनमहोत्सव—हमारे देश की आर्थिक दशा को सुधारने के लिये वनों की उन्नति करना नितान्त आवश्यक है। हमारा देश कृषि प्रधान देश है अतएव कृषि की उन्नति के लिये खाद्य की बड़ी आवश्यकता है। पशुओं के गोबर की खाद अत्युत्तम मानी जाती है परन्तु दुर्भाग्यवश हमारे देश के किसान इसका कंडा बना कर जला डालते हैं। यदि वे इसके स्थान पर लकड़ी जलायें तो उनकी कृषि की उन्नति के लिये उन्हें पर्याप्त गोबर प्राप्त हो जाय। इसी ध्येय से श्री कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी ने वनमहोत्सव आन्दोलन चलाया है। यह आन्दोलन बड़े जोरों से चला है और लाखों वृक्षों का आरोपण किया जा चुका है। आशा की जाती है कि इस कार्य को जनता तथा सरकार दोनों ही करते रहेंगे।

भारत की परराष्ट्र नीति—हमारे देश की परराष्ट्र नीति के संचालन का भार हमारे प्रधान-मन्त्री पण्डित जवाहरलाल नेहरू पर पड़ा है जिनका दृष्टिकोण बड़ा ही व्यापक है और जिनकी गणना विश्व के महान् राजनीतिज्ञों में होती है। आपकी परराष्ट्र नीति की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि आपने अपने देश का गठबन्धन किसी गुट के साथ नहीं होने दिया है वरन् प्रत्येक विषय पर सत्य तथा न्याय के आधार पर निर्णय देना अपने देश का सिद्धान्त बनाया है। भारत दलित तथा छोटे-छोटे देशों का पक्ष सदैव लेता आ रहा है। इस निष्पक्षता की नीति के कारण विश्व के राष्ट्रों में भारत का आदर सम्मान बहुत बढ़ गया है।

३ अक्तूबर १९५० को लखनऊ में "प्रशान्ति-सम्बन्ध-सम्मेलन" (Pacific Relations Conference) पण्डित हृदय नाथ कुंजरू की अध्यक्षता में लखनऊ में हुआ था। यह एक अन्तर्राष्ट्रीय गैर-सरकारी संस्था है और इसका उद्देश्य अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं का वैज्ञानिक रीति से अध्ययन करना है। इस सम्मेलन में भारत की ओर से यह स्पष्ट कर दिया गया कि वह अन्तर्राष्ट्रीय मामलों में किसी गुटबन्दी के चक्कर में न पड़ेगा।

३० सितम्बर १९५० को लखनऊ में भारत-पाकिस्तान सद्भावना-सम्मेलन हुआ। इसका उद्घाटन उत्तर-प्रदेश के मुख्य-मन्त्री पंडित गोविन्द बल्लभ पन्त ने किया था। इस सम्मेलन में भारत तथा पाकिस्तान के लगभग २०० प्रतिनिधि उपस्थित थे।

जनवरी १९५० में नई दिल्ली में भारत तथा अफ़ग़ानिस्तान में मैत्री-सन्धि हुई। इस सन्धि द्वारा यह निश्चित हुआ कि दोनों देशों में सदैव शान्ति तथा मैत्री रहेगी। दोनों देशों में सांस्कृतिक ग्रन्थि को प्रबल बनाने तथा औद्योगिक सहयोग करने का वचन दिया। भारत ने इन्डोनेशिया के साथ भी व्यापारिक समझौता किया।

इन्हीं दिनों नैपाल में राना लोगों के स्वेच्छाचारी तथा निरङ्कुश शासन को समाप्त करने के लिये आन्दोलन आरम्भ हुआ। वहाँ की जनता राज्य में लोकतन्त्रात्मक व्यवस्था स्थापित करना चाहती थी। नैपाल के राजा त्रिभुवन को भारत में शरण लेनी पड़ी और नैपाल के सिंहासन पर एक अल्प-वयस्क बालक को नैपाल के प्रधान-मन्त्री महाराना

मोहन शमशेर जंग बहादुर राना ने बिठा दिया। भारत निकटस्थ पड़ोसी होने के कारण उदासीन नहीं रह सकता था क्योंकि नैपाल की कुव्यवस्था भारत के लिये घातक सिद्ध हो सकती थी। फलतः भारत सरकार ने हस्तक्षेप करने का निश्चय किया। नैपाल के वैधानिक झगड़े को तय करने के लिये नैपालियों का एक प्रतिनिधि मण्डल भारत के प्रधान मन्त्री पण्डित जवाहरलाल नेहरू से मिला। लम्बी वार्ता के उपरान्त समझौता हो गया जिसके अनुसार महाराजा त्रिभुवन ने नैपाल जाकर उत्तरदायी सरकार के निर्माण करने का वचन दिया।

इन दिनों कोरिया में भी संग्राम चल रहा था। भारत ने कोरिया के सम्बन्ध में अपने विचार स्पष्ट रूप से प्रकट कर दिये थे। भारत सरकार ३८ वीं लाइन के आगे बढ़ने के विरुद्ध थी क्योंकि उत्तरी तथा दक्षिणी कोरिया के बीच समझौता कराने के लिये ऐसा करना आवश्यक था। कोरिया में भारत सरकार ने चिकित्सा की व्यवस्था में योग दिया है।

नवम्बर १९५० में चीन ने तिब्बत पर आक्रमण कर दिया और चीन की सेनाओं ने लासा में प्रवेश कर दिया। भारत ने चीन के इस कार्य का विरोध किया और इसकी घोर निन्दा की क्योंकि दोनों देशों का झगड़ा शान्तिपूर्वक निर्णय किया जा सकता था।

जून १९५३ में महारानी एलिजाबेथ द्वितीय का राज्याभिषेक सम्पादित हुआ। भारत के प्रधान-मन्त्री पं० जवाहरलाल नेहरू इस समारोह में भारत सरकार के प्रतिनिधि के रूप में उपस्थित हुये और महारानी को श्रद्धाञ्जलि अर्पित की।

अध्याय २४

स्वतन्त्र भारत की समस्यायें

भूमिका—लगभग दो सौ वर्षों से हमारा देश परतन्त्रता के पाश में आबद्ध था। इस दीर्घकालीन पराधीनता ने देश को न केवल दीन, हीन तथा विपन्न बना दिया वरन् कुछ ऐसी समस्यायें उत्पन्न कर दीं जिनका समाधान अत्यन्त दुष्कर हो गया। लगभग सात दशाब्दियों के भीषण संघर्ष के उपरान्त १५ अगस्त १९४७ को हमारा देश पराधीनता के बन्धन से मुक्त हो गया परन्तु हमारा देश अन्य अनेक बन्धनों में आबद्ध था जिनको विच्छिन्न किये बिना सम्प्रति राजनैतिक स्वतन्त्रता का उपयोग करना असम्भव था। अतएव पदासीन होते ही हमारे देश के नेताओं को अनेक राजनैतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक तथा आर्थिक समस्याओं का सामना करना पड़ा। इनमें से प्रमुख समस्यायें निम्न-लिखित थीं:—

(१) वैधानिक समस्या—हमारे देश के नेताओं के समक्ष सर्व प्रथम समस्या संविधान के निर्माण की थी। राष्ट्रीय आन्दोलन की अवधि में हमारे देश के नेताओं ने अनेक सिद्धान्तों तथा आदर्शों का प्रतिपादन किया था। अब उन्हें एक ऐसे संविधान का निर्माण करना था जिसमें इन सिद्धान्तों तथा आदर्शों का समावेश हो। संविधान का निर्माण करने के लिये १९४६ में एक विधान सभा का निर्माण किया गया था। अगस्त १९४६ में उसे पूर्ण प्रभुत्व शक्ति सम्पन्न संसद् का स्वरूप प्राप्त हो गया। १९४९ तक यह संविधान के निर्माण करने में संलग्न रही और २६ जनवरी १९५० को बड़े समारोह के साथ भारत को गणतन्त्र राज्य घोषित किया गया।

हमारे नये संविधान ने हमारे देश में लौकिक लोकतन्त्र की स्थापना कर दी है और सभी के लिये एक नागरिकता की व्यवस्था की गई है। इस विधान में जनता के मौलिक अधिकारों की व्यवस्था की गई है और राज्य के नीति निर्देशक सिद्धान्तों का निरूपण कर दिया गया है। इस विधान द्वारा हमारे देश में संघात्मक सरकार की स्थापना कर दी गई है और सङ्घ तथा उसकी इकाइयों के कार्य-क्षेत्र को स्पष्ट रूप से निश्चित कर दिया गया है। विधान की संदिग्ध धाराओं को स्पष्ट करने तथा केन्द्र तथा राज्यों के झगड़ों का निर्णय करने लिये सुप्रीम कोर्ट की व्यवस्था की गई है। अवशिष्ट शक्तियाँ केन्द्र को देकर तथा राष्ट्रपति को सङ्कट कालीन अधिकार देकर प्रबल केन्द्र की स्थापना की गई है। समान न्यायालय, समान क़ानून, समान नौकरियाँ तथा एक राष्ट्र भाषा का निरूपण कर शासन में एक रूपता रक्खी गई है। हमारे नये विधान में वयस्क मताधिकार तथा सम्मिलित निर्वाचन पद्धति की व्यवस्था की गई है। राज्यों की धारा-सभाओं तथा केन्द्रीय संसद के लिये प्रत्यक्ष रूप से निर्वाचन की व्यवस्था की गई है। केन्द्रीय सरकार का प्रधान राष्ट्रपति है और उसकी सहायता के लिये एक उत्तरदायी मन्त्रि परिषद् की व्यवस्था की गई है।

(२) देशी राज्यों की समस्या—स्वतन्त्रता प्राप्त करने के उपरान्त हमारे देश के नेताओं के समक्ष दूसरी समस्या देशी राज्यों की थी। इनकी संख्या लगभग ५५० थी। इन राज्यों में इस लोकतन्त्रात्मक युग में भी स्वेच्छाचारी तथा निरङ्कुश शासन का प्रकोप था। ब्रिटिश सरकार बिना इन देशी राज्यों के भाग्य का निर्णय किये चल बसी थी। देश

में राजनैतिक एकता स्थापित करने तथा देशी राज्यों में लोकतन्त्रात्मक व्यवस्था स्थापित करने के लिये इन देशी राज्यों का भारतीय संघ में विलयन आवश्यक था। हमारे देश के नेताओं ने इस समस्या के सुलझाने में बिलम्ब न किया। ५ जुलाई १९४७ को स्वर्गीय सरदार वल्लभ भाई पटेल की अध्यक्षता में एक अलग राज्य-विभाग की स्थापना की गई। हैदराबाद तथा जूनागढ़ के अतिरिक्त शेष सभी राज्यों का बिना रक्तपात के भारतीय सङ्घ में विलयन हो गया। इन दोनों राज्यों को भी विवश होकर भारतीय सङ्घ में सम्मिलित होना पड़ा। ५५० देशी राज्यों का अस्तित्व बनाये रखना सम्भव न था। अतएव इनको पुनर्सङ्गठन करके इन्हें तीन कोटियों में विभक्त कर दिया गया। कुछ छोटे-छोटे देशी राज्यों को समीपवर्ती प्रान्तों में सम्मिलित कर दिया गया, कुछ राज्यों का सङ्घ बना दिया गया और कुछ को केन्द्रीय सरकार के अनुशासन में रख दिया गया। तीन बड़े-बड़े देशी राज्य अर्थात् हैदराबाद, जम्मू तथा काश्मीर और मैसूर इस व्यवस्था के बाहर रक्खे गये। इन सभी राज्यों में प्रजातन्त्र शासन की स्थापना कर दी गई है। अब देशी राज्यों तथा ब्रिटिश प्रान्तों का विभेद मिटा कर सङ्घ की सभी इकाइयों को राज्य के नाम से पुकारा जाता है और सभी राज्यों के शासन में एकरूपता स्थापित कर दी गई है।इस प्रकार राज्यों के विलयन द्वारा प्रबल लोकतन्त्रात्मक भारतीयसंघ की स्थापना कर दी गई है और देशी राज्यों में स्वेच्छाचारी तथा निरंकुश शासन का अन्त करके जनतन्त्रात्मक व्यवस्था की स्थापना कर दी गई है।

(३) मूल्यों के वृद्धि की समस्या—दुर्भाग्यवश हमारे देश को राजनैतिक स्वतन्त्रता ऐसे कुसमय में प्राप्त हुई थी जब युद्ध का अवसान हुआ था और देश की भौतिक तथा नैतिक अवस्था अत्यन्त शोचनीय हो रही थी। वस्तुओं के मूल्य में इतनी वृद्धि हो गई थी कि चारों ओर त्राहि-त्राहि मची हुई थी। देश में अकाल की स्थिति भी उत्पन्न हो गई थी। अधिकाधिक लाभ प्राप्त करने की मनोवृत्ति के कारण चोर-बाज़ार का प्राबल्य था। इस गम्भीर स्थिति से साम्यवादी दल ने अधिकाधिक लाभ उठाने का प्रयत्न किया। कलकत्ता तथा बम्बई जैसे बड़े-बड़े नगरों में हिंसात्मक प्रदर्शन किये जाने लगे और हड़तालें मनाई जाने लगीं। इस परिस्थिति में शान्ति के भंग हो जाने की सदैव सम्भावना बनी रहती थी। साम्यवादियों ने हिंसात्मक कार्य करना आरम्भ कर दिया था और कलकत्ते में वे इतने क्रियाशील हो गये थे कि उनका पुलिस के साथ प्रायः प्रतिदिन संघर्ष हो जाया करता था। हमारी राष्ट्रीय सरकार ने बड़ी दृढ़ता के साथ कार्य करना आरम्भ किया और शान्ति भङ्ग करने वालों तथा कुव्यवस्था के फैलाने वाले इन साम्यवादियों को कैद कराना आरम्भ किया। अब साम्यवादी गुप्त रूप से कार्य करने लगे और पश्चिमी बङ्गाल, मद्रास तथा हैदराबाद में इन लोगों के हिंसात्मक कार्य के फल-स्वरूप आतङ्क छा गया। हमारी राष्ट्रीय सरकार ने इन साम्यवादियों के कुचक्रों को निष्फल बनाने के लिये सेना तथा पुलिस दोनों की सहायता ली और अचिरात् इनका दमन कर दिया।

(४) खाद्यान्न की समस्या—स्वतन्त्रता प्राप्त करने के उपरान्त सबसे बड़ी समस्या खाद्यान्न के अभाव की थी। देश के विभाजन ने खाद्यान्न की स्थिति को अत्यन्त गम्भीर बना दिया। जितने उत्पीड़ित भारत से पाकिस्तान गये उसके कई गुने वहाँ से हमारे देश में आये। इस समस्या का सामना करने के लिये विदेशों से याचना करनी पड़ी और बहुत बड़े परिमाण में खाद्यान्न का आयात किया गया। परन्तु विदेशों की सहायता पर ही निर्भर नहीं रहा गया और अपने देश में उत्पादन की वृद्धि का भगीरथ प्रयास किया गया। पंचवर्षीय योजना बनाई गई और नई भूमि जो बेकार पड़ी थी कृषि योग्य बनाई गई। उत्पादन की वृद्धि के लिये कृषकों को अनेक प्रकार का प्रोत्साहन तथा सहायता प्रदान की गई। अब हमारे देश की खाद्यान्न की स्थिति अत्यन्त सुदृढ़ हो गई

है और देश लगभग स्वावलम्बी हो गया है। उत्पादन में वृद्धि हो जाने के कारण अब खाद्यान्नों का मूल्य भी गिर रहा है।

(५) शरणार्थियों की समस्या—स्वतन्त्रता प्राप्त करते ही हमारी सरकार को शरणार्थियों की विकट समस्या का सामना करना पड़ा। यह उत्कट साम्प्रदायिकता का परिणाम था। पाकिस्तान से लाखों उत्पीड़ित नर-नारी अपना सर्वस्व त्याग कर भाग आये। यद्यपि भारत से भी बहुत से उत्पीड़ित पाकिस्तान को गये परन्तु दोनों की स्थिति में बड़ा अन्तर था। पाकिस्तान से जो उत्पीड़ित आये थे उनमें से अधिकांश व्यवसायी तथा बहुत से उच्च वर्ग के थे जो अपनी अपार सम्पत्ति पाकिस्तान छोड़ आये थे परन्तु जो उत्पीड़ित भारत से पाकिस्तान गये वे मध्यम तथा निम्न श्रेणी के थे और उनके पास अधिक सम्पत्ति न थी। अतएव पाकिस्तान से आने वाले उत्पीड़ितों में से अधिकांश को फिर से जीवन आरम्भ करना पड़ा। इन उत्पीड़ितों के तत्काल भोजन, वस्त्र तथा निवास स्थान की समस्या सभी समस्याओं की समस्या थी। हमारी सरकार ने बड़े धैर्य तथा साहस के साथ उत्पीड़ितों की सहायता करना आरम्भ किया। लगभग दस लाख प्रतिदिन शरणार्थियों पर व्यय होने लगा। उनके पुनर्वास का कार्य आरम्भ किया गया। जो कृषि करना चाहते थे उन्हें भूमि दी गई। जो नौकरी के योग्य थे उन्हें नौकरियाँ दी गईं। व्यवसाय करने वालों को यथाशक्ति व्यवसाय करने की सुविधायें दी गईं। उनके निवास-स्थान की भी व्यवस्था करने का यथाशक्ति उद्योग किया गया।

(६) साम्प्रदायिक दलों की समस्या—हमारे देश में अनेक राजनैतिक दलों का निर्माण साम्प्रदायिकता के आधार पर किया गया है। इन दलों में सहिष्णुता का सर्वथा अभाव पाया जाता है। पाकिस्तान की दुर्घटनाओं का इन साम्प्रदायिक दलों पर बहुत बुरा प्रभाव पड़ा और प्रतिशोध की भावना से इनका हृदय प्रज्वलित हो उठा। भारत के मुसलमानों की स्थिति अत्यन्त संकटापन्न हो गई। राष्ट्रीय स्वयम् सेवकों का प्राबल्य बहुत बढ़ गया और वे अत्यन्त क्रियाशील हो गये। वे अपने को हिन्दू सभ्यता तथा संस्कृति के संरक्षक बतलाते थे और जनता में हिन्दुत्व की भावना को उत्तेजित करते थे। इन लोगों ने बालकों तथा नवयुवकों को सैनिक शिक्षा देना आरम्भ किया और उनमें साम्प्रदायिकता के भाव जागृत करने लगे। इससे ऐसा प्रतीत होने लगा कि महात्मा गाँधी ने जिस हिन्दू मुस्लिम एकता के लिये अपने प्राणों की बलि दे दी थी वह सम्पन्न न हो सकेगी और साम्प्रदायिक वैमनस्य का प्रकोप बढ़ जायगा। सरकार ने राष्ट्रीय स्वयम् सेवकों के विरुद्ध अत्यन्त कड़ी कार्यवाही करनी आरम्भ की। उन्हें जेलों में बन्द कर दिया गया और जब उन्होंने शान्ति से रहने का वचन दिया तभी उनको मुक्त किया गया।

दूसरा साम्प्रदायिक दल अकाली सिक्खों का था जो मास्टर तारा सिंह के नेतृत्व में साम्प्रदायिकता के आधार पर कार्य कर रहा था और सरकार की लौकिक राज्य की नीति का विरोध कर रहा था। सरकार ने यह आज्ञा निकाली थी कि धार्मिक स्थानों का प्रयोग राजनैतिक कार्यों के लिये न किया जाय। मास्टर तारा सिंह ने इस आज्ञा का उल्लंघन किया। अतएव वे कैद करके जेल भेज दिये गये। परन्तु कुछ महीने बाद वे जेल से मुक्त कर दिये गये।

तीसरा दल मुस्लिम लीग का था। लीगी मुसलमान देश के विभाजन के उपरान्त भी पाकिस्तान से प्रोत्साहन की आशा करते थे और साम्प्रदायिक घृणा का प्रचार किया करते थे। यह लोग पाकिस्तान, रजाकार तथा आजाद काश्मीर के पक्ष में गुप्त सभायें करके प्रचार किया करते थे। इनमें से कुछ रजाकारों के गुप्तचर के रूप में कार्य किया करते थे। हमारी

सरकार ने इन लीगियों के कुकृत्यों तथा षडयन्त्रों का पता लगाया और उनके विरुद्ध कड़ी कार्यवाही करनी आरम्भ की। इससे यह लोग अत्यन्त आतङ्कित हो उठे और अन्य राजनैतिक दलों में सम्मिलित होकर राष्ट्रीय मुसलमान होने का स्वांग बना लिया।

(७) लोक सेवा की समस्या—स्वतन्त्रता प्राप्त करते ही हमारी सरकार ने इस बात का अनुभव किया कि शासन की समस्या अत्यन्त गम्भीर हो गई है। बृटिश अफ़सरों के पद त्याग कर अपने देश को चले जाने तथा बहुत से मुसलमान अफसरों के पाकिस्तान चले जाने के फलस्वरूप आई० सी० एस० तथा आई० पी० एस० के कर्मचारियों का बड़ा अभाव हो गया। युद्ध काल में वार्षिक भर्ती बन्द हो जाने के कारण इन अफ़सरों का पहिले ही से अभाव था। स्वतन्त्रता के प्राप्त कर लेने और देश के विभक्त हो जाने पर इनकी संख्या बहुत घट गई। १९४८ में स्वर्गीय सरदार वल्लभ भाई पटेल ने इस अभाव की पूर्ति के लिये एक बोर्ड नियुक्त किया। नौकरियों का पुनसङ्गठन करके शीघ्र ही इस अभाव की पूर्ति की गई। न केवल अखिल भारतीय नौकरियों का वरन् अन्य नौकरियों का भी पुनर्संगठन किया गया।

(८) सेना के पुनर्सङ्गठन की समस्या—स्वतन्त्रता प्राप्त करते ही सेना के पुनर्सङ्गठन की भी समस्या हमारी सरकार के समक्ष उपस्थित हो गई। विभाजन के पूर्व सेना का सङ्गठन साम्प्रदायिकता के आधार पर किया गया था। अतएव मुसलमानों की सेनायें पाकिस्तान को मिल गईं और हिन्दुओं की सेनायें हिन्दुस्तान को। हिन्दुस्तान अथवा पाकिस्तान में अपनी इच्छानुसार कार्य करने की आज्ञा दी गई। २८ फरवरी १९४८ तक सभी बृटिश सैनिक भारत से चले गये। इसके बाद सेना के राष्ट्रीयकरण तथा पुन-र्संगठन का कार्य आरम्भ किया गया। आज की हमारी सेना पूर्ण रूप से राष्ट्रीय है क्योंकि उसमें प्रधान सेनापति से लेकर साधारण सैनिक तक सभी भारतीय हैं। वायु-सेना में राष्ट्रीयकरण का प्रश्न ही नहीं उठा क्योंकि इसमें कोई विदेशी अफ़सर न था। जल-सेना का तुरन्त राष्ट्रीय-करण सम्भव न था परन्तु धीरे-धीरे इसका भी राष्ट्रीयकरण हो रहा है। युद्ध सामग्री के उत्पादन की भी पूर्ण व्यवस्था कर दी गई है और सैनिकों की शिक्षा के लिये ट्रेनिंग कालेज खोले गये हैं।

(९) आर्थिक समस्या—विदेशी शासन में दो सौ वर्षों के आर्थिक शोषण के फल स्वरूप हमारा देश अत्यन्त निर्धन हो गया था। अतएव राजनैतिक स्वतन्त्रता प्राप्त कर लेने के उपरान्त देश में आर्थिक लोकतन्त्र के स्थापित करने का प्रश्न आ उपस्थित हुआ। यद्यपि हमारा देश पराधीनता के कारण दरिद्र हो गया था परन्तु इसके साधन प्रचुर तथा अनन्त हैं जिनके समुचित उपयोग से देश को धन-सम्पन्न बनाया जा सकता है। हमारी सरकार अब इन साधनों का प्रयोग कर रही है। देश की आर्थिक दशा को सुधारने के लिये नदियों की घाटियों की योजनायें बनाई जा रही हैं। इन आयोजनाओं में पञ्जाब का भाकरा नेवल प्रोजेक्ट, "उड़ीसा का हरिकुण्ड प्रोजेक्ट", बङ्गाल का "दामोदर वेली प्रोजेक्ट", मद्रास का "तुङ्ग भद्रा प्रोजेक्ट", बम्बई का "काकड़ापाड़ा प्रोजेक्ट" तथा उत्तर प्रदेश का "शारदा प्रोजेक्ट" अधिक प्रसिद्ध हैं। देश की आर्थिक उन्नति के लिये जो भूमि बेकार पड़ी थी उसे कृषि करने योग्य बनाया जा रहा है। सिन्द्री में खाद बनाने का एक कारखाना खोला गया है। इसी प्रकार चितरंजन में मशीन बनाने के और बंगलौर में जहाज़ बनाने के कारखाने खोले गये हैं। अन्य दिशाओं में भी देश की आर्थिक उन्नति के लिये कार्य किया जा रहा है।

(१०) श्रमजीवियों की समस्या—युद्ध कालीन परिस्थितियों के समाप्त हो जाने पर बेकारी की समस्या सबसे भयानक समस्या आ खड़ी हुई जिसका सामना हमारी

सरकार ने बड़ी दृढ़ता तथा धैर्य के साथ किया। श्रमजीवी अपनी जीविका के लिये अपने प्राणों की बलि देने के लिये उद्यत थे। सरकार ने स्थिति की गम्भीरता का अनुभव किया और उत्पादन की वृद्धि की समुचित व्यवस्था कर इस समस्या का सामना किया। सरकार ने श्रमजीवियों तथा मिल मालिकों में सहयोग तथा सद्भावना उत्पन्न करने का पूर्ण प्रयत्न किया। इसके लिये सरकार, श्रमजीवियों तथा मिल मालिकों के प्रतिनिधियों की एक केन्द्रीय परामर्शदात्री समिति (Central Advisory Body) की स्थापना की गई। इस समिति की सिफारिशों पर मज़दूरों के हित-सम्बन्धी अनेक नियम बनाये गये। मार्च १८४८ में न्यूनतम पारिश्रमिक नियम (Minimum Wages Act) पास किया गया। इसी प्रकार तीन अन्य नियम अर्थात् एम्प्लोयीज़ स्टेट इन्श्योरेन्स ऐक्ट, फैक्ट्री ऐक्ट तथा कोलमाइन्स प्रोविडेन्ड फंड एंड बोनस स्कीम्स ऐक्ट बनाये गये जिनके द्वारा मज़दूरों की दशा के सुधारने का प्रयत्न किया गया। कई अन्य नियम भी बनाये गये हैं जिनसे मज़दूरों की उन्नति हो रही है। मज़दूरों के रहने के लिये सरकार ने गृह निर्माण की आयोजना बनाई है। इनके स्वास्थ्य की रक्षा के लिये औषधि तथा उपचार की सुविधायें दी जा रही हैं। श्रमजीवियों को कार्य प्रदान करने की सुविधा के लिये नियुक्ति विनिमय (Employment Exchauge) की व्यवस्था की गई है।

(११) औद्योगिक समस्या—पराधीनता के कारण हमारा देश परावलम्बी हो गया था। अतएव हमारी सरकार को औद्योगिक समस्या का भी सामना करना पड़ा। देश को शीघ्रातिशीघ्र स्वावलम्बी बनाने की आवश्यकता थी। सरकार अन्य अनेक समस्याओं के सुलझाने में व्यस्त थी। अतएव उसके साधन अत्यन्त सीमित थे। ऐसी स्थिति में व्यवसायों का पूर्ण रूप से राष्ट्रीयकरण सम्भव न था। फलतः सरकार ने मध्यम मार्ग का अनुसरण किया है। व्यवसायों का राष्ट्रीयकरण के साथ-साथ वैयक्तिक साहस को भी प्रोत्साहन दिया जा रहा है। इस प्रकार सरकारी तथा गैर-सरकारी दोनों शक्तियों तथा साधनों के उपयोग से देश की औद्योगिक उन्नति का प्रयत्न किया जा रहा है। परन्तु सरकार का अन्तिम लक्ष्य व्यवसायों का राष्ट्रीयकरण ही है जिससे देश में अन्ततोगत्वा आर्थिक लोकतन्त्र की स्थापना हो जाय। हमारी सरकार देशी कारोबार के संरक्षण की नीति का अनुसरण कर रही है। आशा है हमारा देश अधिकांश में शीघ्र ही स्वावलम्बी हो जायगा।

(१२) व्यापारिक समस्या—हमारी सरकार को स्वतन्त्रता प्राप्त करते ही व्यापारिक समस्या का भी सामना करना पड़ा। हमारे देश का व्यापार विदेशों के हाथ में था और विदेशी पूँजी का प्राबल्य था। हमें स्वावलम्बी बनना था और अपने देश के व्यापार की उन्नति करनी थी। विदेशों में अपने देश के व्यापार की उन्नति के लिये हमारी सरकार ने अन्य देशों के साथ व्यापारिक समझौता किया। आयात नियंत्रण को उदार बनाया गया, अन्तर्राष्ट्रीय मेलों, तथा प्रदर्शनियों में भाग लिया गया और विदेशों में अपने व्यापारिक प्रतिनिधि भेजे गये। इन सब उद्योगों का परिणाम यह हुआ कि विदेशों में भारत का व्यापार बढ़ गया। जूट तथा रूई बहुत बड़ी मात्रा में विदेशों में जाने लगी। वस्तुओं के मूल्य की वृद्धि का अवरोध हो गया और क्रमशः उसमें कमी होने लगी। देशीय उद्योग-धन्धों को प्रोत्साहन देने के लिये संरक्षण की नीति का अनुसरण किया गया।

(१३) यातायात की समस्या—स्वतन्त्रता की प्राप्ति के उपरान्त यातायात की समस्या का भी हमारी सरकार को सामना करना पड़ा। युद्ध-काल में इनसे कार्य अधिक लिया गया था परन्तु उनके जीर्णोद्धार की ओर अधिक ध्यान नहीं दिया गया था। देश

के विभाजन ने नई आपत्तियाँ उत्पन्न कर दीं। रेलवे विभाग पर इसका घातक प्रहार पड़ा। सहस्त्रों कर्मचारी तथा अपार सामग्री भारत से पाकिस्तान चली गई। अधिकांश इञ्जिन ड्राइवर तथा फिटर यहाँ से चले गये। नये व्यक्तियों को शिक्षा देकर कार्य के योग्य बनाना एक दुष्कर कार्य था। देश का विभाजन हो जाने के कारण नई रेलवे लाइनों का भी निर्माण करना था। हमारी सरकार ने इन सभी समस्याओं का सफलतापूर्वक समाधान करने का प्रयत्न किया है। पश्चिमी बङ्गाल में चितरञ्जन नामक स्थान में मशीनों के निर्माण करने का कार्यालय खोला गया है। नई रेलवे लाइनें खोली गई हैं और यात्रियों को अधिक से अधिक सुविधायें देने का प्रयास किया जा रहा है। देश के विभाजन का धक्का डाक तथा तार घर भी लगा था परन्तु धीरे-धीरे हमारी सरकार ने न केवल क्षति की पूर्ति कर ली है वरन् उत्तरोत्तर इस विभाग के कार्य में उन्नति होती जा रही है और जनता को अधिकाधिक सुविधायें प्राप्त होती जा रही हैं। रेडियो विभाग में भी उन्नति के श्लाघनीय कार्य किये जा रहे हैं।

(१४) शिक्षा तथा स्वास्थ्य की समस्या—विदेशी शासन का सबसे बड़ा कुप्रभाव हमारी शिक्षा तथा हमारे स्वास्थ्य पर पड़ा। अंग्रेजों के शासन काल में हमारे देश में निरक्षरता का प्रकोप था और अंग्रेजी के माध्यम से शिक्षा दी जाती थी। हमारी सरकार ने निरक्षरता के दूर करने का भगीरथ प्रयास किया है और विश्वविद्यालयों तक की शिक्षा अब अंग्रेज़ी के माध्यम से दी जाने लगी है। लेखकों तथा साहित्यकारों को भी प्रोत्साहन दिया जा रहा है। स्वास्थ्य विभाग की भी उन्नति का भगीरथ प्रयास किया गया है।

उपसंहार—ऊपर स्वतन्त्र भारत की प्रमुख समस्याओं का संक्षिप्त विवरण दिया गया है और सरकार ने किस सीमा तक उनके सुलझाने का प्रयत्न किया है। यह समस्यायें इतनी विकट थी कि नव-जात स्वतन्त्र राज्य को किंकर्तव्यविमूढ़ बना सकती थीं परन्तु हमारे नेताओं ने बड़े धैर्य तथा उत्साह के साथ उनका सामना किया। विरोधी परिस्थितियों में जो सफलता प्राप्त की गई है वह सर्वथा श्लाघनीय है।

अध्याय २५

वैधानिक विकास (१८५८-१९४७)

प्राक्कथन—यह पहिले बतलाया जा चुका है कि १८५७ की क्रान्ति ने भारत में नव-युग का सूत्रपात किया। इस क्रान्ति ने कम्पनी के शासन को समाप्त कर दिया और सम्राट् तथा बृटिश पार्लियामेंट की सत्ता को भारत में स्थापित कर दिया। सम्राट् तथा पार्लियामेंट के शासन-काल की एक बहुत बड़ी विशेषता भारत में वैधानिक विकास है। इस वैधानिक विकास को दो भागों में विभक्त किया जा सकता है अर्थात् १८५८ से १९१९ तक का काल तथा १९२० से १९४७ तक का काल। पहिले काल की विशेषता यह है कि भारत सरकार भारत-सचिव के माध्यम द्वारा पूर्ण-रूप से बृटिश पार्लियामेंट के प्रति उत्तरदायी बनी रही। इस काल में लोक-नियन्त्रण की कोई व्यवस्था न थी। जनता द्वारा निरन्तर माँग उपस्थित करने पर केवल धारा-सभाओं के सदस्यों की तथा भारतीयों के प्रतिनिधियों की संख्या में कुछ वृद्धि कर दी जाती थी। जनता के प्रतिनिधियों का कार्य-कारिणी पर कोई नियन्त्रण नहीं रहता था। वैधानिक विकास के द्वितीय काल में स्वायत्त शासन की उत्तरोत्तर वृद्धि हुई और भारत राजनैतिक एकता की ओर अग्रसर किया गया। इस काल में पहिले प्रान्तों में उत्तरदायी शासन के स्थापित करने की व्यवस्था की गई और कालान्तर में केन्द्र में भी इसी प्रकार की व्यवस्था स्थापित करने की आयोजना की गई परन्तु १९३९ में द्वितीय महायुद्ध के आरम्भ हो जाने से यह आयोजना कार्यान्वित न हो सकी। १९४७ में "भारत स्वतन्त्रता विधान" पारित किया गया जिसके द्वारा भारत दो उपनिवेशों में विभक्त कर दिया गया अर्थात् पाकिस्तान तथा इण्डिया। भारतवासियों ने अपनी "विधान सभा" निर्मित करके अपना स्वतन्त्र नया संविधान निर्मित किया जिसके अनुसार इस समय भारत का शासन चल रहा है। अब १८५८ से १९५० तक के वैधानिक विकास का आलोचनात्मक विश्लेषण कर लेना आवश्यक है।

१८५८ का विधान—ईस्ट इण्डिया कम्पनी के शासन के विरुद्ध इङ्गलैंड में बहुत दिनों से आन्दोलन चल रहा था। कम्पनी के विरोधियों का कहना था कि कम्पनी एक व्यापारिक संस्था है जिसका प्रधान लक्ष्य अधिकाधिक लाभ प्राप्त करना है। अतएव भारत जैसे उप-महाद्वीप का शासन उसके हाथ में रखना सर्वथा असंगत तथा अवांछनीय है। १८५७ की क्रान्ति के विस्फोट तथा उसके दमन ने कम्पनी के विरोधियों की आलोचना को सार्थक सिद्ध करके उनके हाथों को और प्रबल बना दिया और कम्पनी के अवसान की माँग इन लोगों ने उपस्थित की। फलतः बृटिश सरकार ने कम्पनी के शासन को समाप्त कर देने का निश्चय कर लिया। कम्पनी ने इस निश्चय का विरोध किया और १८५७ की क्रान्ति के कारणों के अन्वेषण की माँग उपस्थित करते हुये बतलाया कि यदि कम्पनी से कोई भूल-चूक हुई है तो उसका उत्तरदायित्व बृटिश सरकार पर भी है क्योंकि ,कम्पनी के सभी कार्यों में अन्तिम निर्णय बृटिश सरकार का ही होता था। कम्पनी ने भारत में जो अनेक श्लाघनीय कार्य किये थे उस पर भी उसे बड़ा गर्व था। परन्तु इन तर्कों पर विशेष ध्यान न देकर लार्ड पामर्स्टन ने भारत के श्रेष्ठतर शासन के लिये विधेयक(Bill for the Better Government of India) पार्लियामेंट में उपस्थित किया। इस विधेयक को उपस्थित करते हुये प्रधान-मन्त्री ने अपने वक्तव्य में कहा, "हमारी राजनैतिक व्यवस्था का सिद्धान्त यह है कि सभी शासन सम्बन्धी कार्य मन्त्रियों के उत्तरदायित्व, पार्लिया-

मेंट के प्रति उत्तरदायित्व से संयुक्त होना चाहिये परन्तु इस सम्बन्ध में भारत सरकार में प्रधान कार्य एक ऐसी संस्था को सौंपा गया है जो न तो पार्लियामेंट के प्रति उत्तरदायी है और न सम्राट् द्वारा उसकी नियुक्ति होती है वरन् वे ऐसे लोगों द्वारा निर्वाचित किये जाते हैं जिनका भारत में कुछ पूँजी के अधिकारी होने के अतिरिक्त और कोई सम्बन्ध नहीं होता।" घोर विरोध होने पर भी पार्लियामेंट ने इस विधेयक को पारित कर दिया और २ अगस्त १८५८ को सम्राज्ञी ने इस विधेयक पर अपनी स्वीकृति दे दी और वह विधान बन गया। इस विधान द्वारा निम्न-लिखित परिवर्तन किये गयेः—

(१) सम्राट तथा पार्लियामेंट की सत्ता की स्थापना—इस विधान द्वारा कम्पनी के शासन का अन्त कर दिया गया और भारत में "सम्राट् तथा पार्लियामेंट की राज-सत्ता स्थापित हो गई। अब भारत का शासन सम्राट् द्वारा तथा उसी के नाम में किया जायगा। भारत में कम्पनी ने जितनी भूमि प्राप्त की थी वह सब सम्राट् को हस्तान्तरित हो गई और उससे जितनी आय होगी वह सब सम्राज्ञी के लिये तथा उसी के नाम में प्राप्त की जायगी। यह आय केवल भारत सरकार के ही कार्य में लगाई तथा व्यय की जायगी। इस प्रकार भारत के वैधानिक विकास में एक युग का अवसान तथा दूसरे युग का प्रादुर्भाव हुआ परन्तु इस तथ्य का कभी विस्मरण नहीं करना चाहिये कि यह सरकार का रूपान्तर मात्र था, इससे सरकार की वास्तविक शक्ति में कोई परिवर्तन नहीं हुआ।।भारत सरकार का रूप पूर्ववत् बना रहा और वाइसराय को सम्राज्ञी के प्रतिनिधि के रूप में भारत का शासन चलाने का आदेश दिया गया।

(२) भारत-सचिव के पद की स्थापना—इस विधान द्वारा भारत-सचिव के पद की स्थापना की गई और जो कार्य अभी तक नियन्त्रण समिति (Board of Control) तथा संचालक समिति (Court of Directors) द्वारा किये जाते थे वे अब भारत-सचिव को हस्तान्तरित कर दिये गये। इस प्रकार पिट के इण्डिया ऐक्ट द्वारा स्थापित की हुई १७८४ की द्वैध शासन-व्यवस्था का अन्त कर दिया गया। अब नियन्त्रण समिति तथा संचालक परिषद् के स्थान पर केवल भारत मन्त्री अपनी कौंसिल की सहायता से भारत के शासन का निरीक्षण करेगा और उस पर अपना नियन्त्रण रक्खेगा। भारत-सचिव को भारत सरकार के कार्यों के निरीक्षण, नियंत्रण तथा संचालन का अधिकार दे दिया गया। भारत-सचिव को पार्लियामेंट में बैठने का अधिकार होगा और उसकी सहायता के लिये एक पार्लियामेंट्री सेक्रेटरी भी होगा। यद्यपि वह बृटिश मन्त्रि-मण्डल का भी सदस्य होगा परन्तु उसका वेतन भारतीय कोष से दिया जायगा।

(३ इंडिया कौंसिल की स्थापना—इस विधान द्वारा भारत-सचिव की सहायता के लिये एक इण्डिया कौंसिल की स्थापना की गई। इस कौंसिल के सदस्यों की संख्या १५ रक्खी गई जिनमें से ७ संचालन परिषद् (Court of Directors) निर्वाचित करेगी और शेष ८ सम्राट् द्वारा मनोनीत किये जायेंगे। इनमें से आधे सदस्य ऐसे हों जो कम से कम १० वर्ष तक भारतवर्ष में रह चुके हों और नियुक्ति से १० वर्ष से अधिक पहिले भारत से प्रस्थान न कर गये हों। कौंसिल के सदस्य तभी तक अपने पद पर रह सकते थे जब तक उनका व्यवहार अच्छा हो। परन्तु पार्लियामेंट के दोनों भवनों द्वारा प्रार्थना किये जाने पर सम्राट् उसे पद-च्युत भी कर सकता था। प्रत्येक सदस्य को १२०० पौण्ड वार्षिक वेतन भारतीय कोष से देने की व्यवस्था की गई।

(४ भारत-सचिव तथा कौंसिल का सम्बन्ध—कौंसिल की बैठकों में भारत-सचिव सभापति के आसन को ग्रहण करेगा। कौंसिल का प्रधान कार्य भारत-सचिव की सहायता करना तथा उसे परामर्श देना था। भारत-सचिव को न केवल मत वरन् निर्णयात्मक मत देने का अधिकार था। सप्ताह में दो बार कौंसिल की बैठक की व्यवस्था की

गई। शासन की सुविधा के लिये इण्डिया कौंसिल के सदस्यों को विभिन्न समितियों में विभक्त किया जा सकता था। साधारणतया भारत-सचिव अपनी कौंसिल के बहुमत के निर्णय को भी रद्द कर सकता था परन्तु भारत की आय के व्यय के सम्बन्ध में वह अपनी कौंसिल के बहुमत के निर्णय से वाध्य रहती थी। नौकरियों के वितरण, समझौता करने, भारत सरकार की ओर से किये गये क्रय विक्रय तथा भारत सरकार की सम्पत्ति से सम्बन्धित अन्य सभी विषयों में कौंसिल के उपस्थित सदस्यों के बहुमत की स्वीकृति की आवश्यकता पड़ती थी। सम्राट् के सैनिक तथा असैनिक कर्मचारियों पर इण्डिया कौंसिल का नियंत्रण स्थापित कर दिया गया था। भारत सचिव को बिना इण्डिया कौंसिल को सूचित किये गवनर-जनरल के पास गुप्त सूचनायें भेजने तथा उससे प्राप्त करने का अधिकार दे दिया गया था। इण्डिया कौंसिल स्थायी प्रशासकीय सदस्यों की ऐसी संस्था थी जिन्हें भारतीय समस्याओं का पूर्ण ज्ञान रहता था। अत्यन्त आवश्यक परिस्थितियों में बिना कौंसिल के समक्ष पहिले उपस्थित किये वह अपने आदेश भारत भेज सकता था परन्तु उसे आवश्यक परिस्थिति का कारण बतलाना पड़ता था। भारत-सचिव तथा इण्डिया कौंसिल अब मिलाकर गृह सरकार कहलाने लगे।

(५) भारत-सचिव का उत्तरदायित्व—इस विधान द्वारा भारत-सचिव का यह कर्तव्य बना दिया गया कि वह प्रतिवर्ष भारत सरकार की आय-व्यय का विवरण पार्लियामेंट के दोनों भवनों के समक्ष उपस्थित करे और भारत में भारतवासियों की भौतिक तथा नैतिक उन्नति के सम्बन्ध में अपनी रिपोर्ट दे। इस विधान द्वारा यह भी निश्चय किया गया कि यदि भारत में युद्ध सम्बन्धी कोई आज्ञा भेजी जायगी तो तीन महीने के भीतर ही भारत-सचिव इसकी सूचना पार्लियामेंट को देगा। इस विधान द्वारा यह भी निश्चित किया गया कि बिना पार्लियामेंट के दोनों भवनों की आज्ञा के भारत की सीमाओं के बाहर किये गये युद्धों का व्यय भारत कोष से नहीं दिया जायगा। इस विधान द्वारा भारत-सचिव को एक सामूहिक संस्था मान लिया गया और भारत तथा इङ्गलैण्ड में उसकी ओर से तथा उसके विरुद्ध मुक़दमा चलाया जा सकता था।

(६) नियुक्तियों की व्यवस्था—इस विधान द्वारा नियुक्तियों को तीन भागों में विभक्त किया गया अर्थात् सम्राट् द्वारा की जाने वाली, भारत-सचिव तथा उसकी कौंसिल द्वारा की जाने वाली तथा भारत के पदाधिकारियों द्वारा की जाने वाली नियुक्तियाँ। इस विधान ने यह निश्चित किया कि गवर्नर जनरल, उसकी कौंसिल का क़ानूनी सदस्य, प्रेसीडेन्सियों के गवर्नरों तथा ऐडवोकेट जनरल को सम्राट् नियुक्त करेगा, गवर्नर-जनरल की कौंसिल के सदस्यों तथा प्रान्तीय गवर्नरों की नियुक्ति भारत-सचिव अपनी कौंसिल के सदस्यों के बहुमत की परामर्श से करेगा और भारत में जो पहिले नियुक्तियाँ हुआ करती थीं उनकी नियुक्ति पूर्ववत् हुआ करेगी।

(७) सेना का सेवान्तरण—इस विधान द्वारा कम्पनी की स्थल तथा जल सेनायें सम्राट् की सेवा में कर दी गईं। अब वह सम्राज्ञी की भारतीय स्थल तथा जल सेनायें हो गईं।

आलोचना—१८५८ के विधान द्वारा किये गये परिवर्तनों पर एक विहंगम दृष्टि डालने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि सर एच० एस० कनिंघम का यह कथन सर्वथा सार्थक है कि भारत के शासन का हस्तान्तरण केवल औपचारिक था वास्तविक नहीं क्योंकि १८५८ के पूर्व ही सारी शक्तियाँ नियन्त्रण समिति (Board of Control) के अध्यक्ष के हाथ में चली गई थीं और ब्रिटिश सरकार का उस पर पूर्ण नियन्त्रण स्थापित था। १८५३ के ऐक्ट ने १८५८ के ऐक्ट के लिये पहिले ही से भूमि प्रस्तुत कर दी थी। १८५३ के पूर्व कम्पनी को जितने चार्टर प्रदान किये गये थे उनकी अवधि

२० वर्ष की रक्खी गई थी परन्तु इस ऐक्ट की कोई अवधि नहीं रक्खी गई। अतएव बृटिश सरकार जिस समय चाहती उसी समय कम्पनी से भारत का शासन अपने हाथ में ले सकती थी। १८५३ के ऐक्ट ने कम्पनी के संचालकों को नियुक्तियों के अधिकार से वंचित कर दिया था। इनकी संख्या भी घटा कर २४ से १८ कर दी गई थी। इन १८ सदस्यों में से ६ की नियुक्तियाँ सम्राट् स्वयम् करता था। १८५८ के विधान के सम्बन्ध में एक बात ध्यान देने की यह है कि भारत सरकार के संगठन अथवा स्वरूप में कोई परिवर्तन नहीं किया गया जिसकी बहुत बड़ी आवश्यकता थी। अतएव एक नये विधान के निर्माण की आवश्यकता का अचिरात् अनुभव किया जाने लगा और १८६१ में एक नये विधान का निर्माण किया गया परन्तु इसका विश्लेषण करने के पूर्व सम्राज्ञी की घोषणा पर एक विहंगम दृष्टि डाल देना स्थान-संगत होगा।

महारानी की घोषणा—पहिली नवम्बर १८५८ की एक घोषणा द्वारा सम्राज्ञी ने भारत के शासन का उत्तरदायित्व प्रत्यक्ष रूप में अपने हाथ में ले लिया। इस घोषणा द्वारा भारतीय नरेशों को यह विश्वास दिलाया गया कि उनके राज्य को बृटिश साम्राज्य में न मिलाया जायगा और निःसन्तान होने पर उन्हें पुत्र गोद लेने का अधिकार होगा। उन्हें यह भी विश्वास दिलाया गया कि कम्पनी के साथ अथवा उसकी आज्ञा से की गई जितनी सन्धियां तथा समझौते हैं वह सब सम्राज्ञी द्वारा स्वीकृत किये जायेंगे और आदृत होंगे और वह उनके अधिकारों तथा उनकी मान-मर्यादा को अपना अधिकार तथा अपनी मर्यादा समझ कर उनका आदर करेगी। भारतीय जनता को भी यह आश्वासन दिया गया कि बृटिश सरकार सहिष्णुता की नीति का अनुसरण करेगी और उनके धार्मिक मामलों में किसी प्रकार का हस्तक्षेप न करेगी। फलतः बृटिश सरकार ने भारत में अपने कर्मचारियों को यह आदेश दिया कि वे भारतीयों के धार्मिक मामलों में किसी प्रकार का हस्तक्षेप न करें। यह भी आदेश दिया गया कि भारत में क़ानून बनाते तथा लागू करते समय भारतीयों के रीति-रिवाजों तथा उनके परम्परागत आचार-व्यवहारों का पूरा ध्यान रक्खा जाय। इस घोषणा में यह भी बतलाया गया कि सम्राज्ञी की भारतीय प्रजा उसके साम्राज्य के अन्य भागों की बृटिश प्रजा के समान समझी जायगी। भारतीय जनता को यह भी आश्वासन दिया गया कि आवश्यक योग्यता प्राप्त भारतीयों को जाति, धर्म तथा रंग के बिना किसी भेद-भाव के सरकारी नौकरियाँ उपलब्ध होंगी। उन सभी क्रान्तिकारियों को जो अब भी बृटिश सरकार के विरुद्ध अस्त्र धारण किये हुये थे परन्तु जिन्होंने बृटिश प्रजा की हत्या नहीं की थी क्षमा-दान प्राप्त हो गया।

महारानी की उपरोक्त घोषणा का भारत के वैधानिक इतिहास में बहुत बड़ा महत्व है। १९१७ तक यही घोषणा भारतीय-शासन की आधार शिला बनी रही। १९१७ में बृटिश सरकार ने एक दूसरी घोषणा द्वारा अपनी नई नीति निर्धारित की। इस घोषणा ने भारतीय नरेशों तथा भारतीय जनता दोनों ही को सान्त्वना तथा आश्वासन देकर सन्तुष्ट करने का प्रयत्न किया। इसमें सन्देह नहीं कि इस घोषणा में सम्राज्ञी की उच्च-कोटि की सद्भावनायें निहित थीं और उन्हें अत्यन्त अलंकृत तथा प्राञ्जल भाषा में व्यक्त किया गया था। भारतीय जनता ने बड़े उत्साह के साथ इस घोषणा का स्वागत भी किया और सम्राज्ञी के प्रति अपनी कृतज्ञता तथा राज-भक्ति भी प्रकट की परन्तु इस घोषणा द्वारा भारतीयों को जो आश्वासन दिया गया उसे पूरा न किया गया।

१८६१ का विधान—ऊपर यह बतलाया जा चुका है कि १८५८ के विधान द्वारा भारत सरकार के सङ्गठन में कोई परिवर्तन नहीं किया गया था परन्तु इसमें परिवर्तन की आवश्यकता का अनुभव किया जा रहा था। बहुत से लोगों की यह धारणा थी कि १८५७ की क्रान्ति का एक बहुत बड़ा कारण यह था कि शासक तथा शासित में वास्तविक

सम्पर्क का सर्वथा अभाव था। इस वास्तविक सम्पर्क के अभाव का एक बहुत बड़ा कारण यह था कि भारतीयों को व्यवस्थापिका में कोई प्रतिनिधित्व नहीं दिया गया था। सर सय्यद अहमद खां जैसे राजभक्तों का कहना था कि भारत सरकार के पास कोई ऐसा साधन न था जिससे वह इस बात को जान सके कि उसके बनाये हुये क़ानून भारतीयों की दृष्टि से ठीक हैं अथवा नहीं। जनता की आवाज को सरकार तक पहुँचाने का कोई साधन न था। ऐसी दशा में सरकार के दृष्टिकोण, उसके इरादों तथा उसके द्वारा निर्मित विधानों के प्रति मिथ्या-भाव उत्पन्न होने की बड़ी सम्भावना रहती थी। सर सय्यद अहमद खाँ का कहना था कि यदि लेजिस्लेटिव कौंसिल में कोई भारतीय होता तो भारतीय जनता १८५७ की क्रांति जैसी भूल कदापि न किये होती। बृटिश सरकार भी भारतीयों को व्यवस्थापिका में प्रतिनिधित्व प्रदान करने की आवश्यकता का अनुभव कर रही थी और १८५८ में ही भारतीयों को प्रतिनिधित्व प्रदान करने के सम्बन्ध में बृटिश पार्लियामेण्ट में प्रश्न उठ खड़ा हुआ था परन्तु उस समय जब भारतीय जनता बृटिश सरकार के विरुद्ध कुठार-हस्त थी यह प्रश्न असामयिक समझा गया। भारत सरकार भी इस बात का अनुभव कर रही थी कि १८५७ की क्रान्ति के फल-स्वरूप शासक तथा शासित में जो पार्थक्य तथा कटुता उत्पन्न हो गई है उसे दूर करने के लिये भारतीयों को प्रतिनिधित्व प्रदान करना नितान्त आवश्यक है। भारत में क़ानून बनाने की विधि भी अत्यन्त दोषपूर्ण थी। इसका सबसे बड़ा दोष यह था कि इसमें गैर-सरकारी सदस्यों के लिये कोई स्थान न था। नियम-निर्माण का कार्य सरकारी सदस्यों द्वारा ही सम्पादित होता था। इसका दूसरा दोष यह था कि यद्यपि प्रत्येक प्रान्तीय सरकार का एक सरकारी प्रतिनिधि उपस्थित रहता था परन्तु फिर भी लेजिस्लेटिव कौंसिल के पास प्रान्तों के लिये आवश्यक नियमों के बनाने के लिये न तो समय रहता था और न उन्हें उनका समुचित ज्ञान ही रहता था। तीसरा दोष यह था कि लेजिस्लेटिव कौंसिल ऐसे कार्य करने लगी थी जो स्थापित शासन-व्यवस्था के विरुद्ध थे। इसने इङ्गलैण्ड की लोक-सभा के अनुसार कार्य करना आरम्भ कर दिया था जो तत्कालीन व्यवस्था के अनुकूल न था। इन्हीं परिस्थितियों में सर चार्ल्स वुड ने ६ जून १८६१ को पार्लियामेण्ट की लोक-सभा में एक विधेयक उपस्थित करने की आज्ञा माँगी जो कालान्तर में १८६१ का भारतीय कौंसिल ऐक्ट बन गया। इस विधान द्वारा निम्नलिखित परिवर्तन किये गये :—

(१) इस विधान ने गवर्नर-जनरल को यह अधिकार दे दिया कि क़ानून-निर्माण के लिये वह अपनी कौंसिल में कम से कम ६ और अधिक से अधिक १२ सदस्य और बढ़ा ले। इस प्रकार मनोनीत किये गये सदस्यों में से कम से कम आधे गैर-सरकारी होने चाहिये। यह गैर-सरकारी सदस्य केवल दो वर्ष के लिये मनोनीत किये जायेंगे। इस प्रकार क़ानून निर्माण के कार्य में प्रथम बार भारतीयों को अवसर प्राप्त हुआ। यह एक बहुत बड़ा परिवर्तन था जो १८६१ के विधान द्वारा किया गया था। परन्तु यहाँ पर एक ध्यान देने योग्य बात यह है कि यह गैर-सरकारी सदस्य कौंसिल में गवर्नर-जनरल द्वारा मनोनीत किये जायेंगे जनता द्वारा उनका निर्वाचन न होगा। फिर भी तत्कालीन परिस्थितियों में इतनी प्रगति भी नगण्य नहीं कही जा सकती। अब गवर्नर-जनरल यथोचित व्यक्तियों को मनोनीत करके वास्तविक लोकमत से अवगत हो सकता था परन्तु दुर्भाग्यवश ऐसा न हो सका क्योंकि जो गैर-सरकारी सदस्य मनोनीत किये जाते थे वे प्रायः भारतीय नरेश अथवा उनके दीवान अथवा बड़े-बड़े जमींदार या रिटायर्ड अफ़सर ही हुआ करते थे। जनता के ऐसे नेताओं को मनोनीत करने का प्रयास नहीं किया गया जो वास्तव में भारतीय जनता का मत प्रकट करते। यह मनोनीत सदस्य कौंसिल की बैठकों में कोई अभिरुचि नहीं लेते थे। प्रथम तो यह इन बैठकों में सम्मिलित ही नहीं होते थे और यदि सम्मिलित भी होते थे तो शीघ्रातिशीघ्र लौट जाने के लिये आतुर रहते थे। कौंसिल की बैठकों में इन

सदस्यों के अभिरुचि न लेने का सबसे बड़ा कारण यह था कि इसके कार्य अत्यन्त सीमित थे। कौंसिल का प्रधान कार्य था कार्य-कारिणी की आज्ञाओं की रजिस्ट्री करना और उन पर वैधानिक स्वीकृति देना। इस प्रकार क़ानून निर्माण सम्बन्धी कार्यों पर गैर-सरकारी सदस्यों का बहुत कम प्रभाव पड़ता था। इस दृष्टिकोण से देखने पर १८६१ का विधान सर्वथा असफल रहा। परन्तु इसमें तो सन्देह ही नहीं कि इस विधान के प्रतिनिधि संस्थाओं का बीजारोपण कर दिया गया।

क़ानून निर्माण की विधि के दृष्टिकोण से भी यह व्यवस्था सन्तोषजनक न थी। यह एक प्रकार से वाद-विवाद की संस्था हो गई थी और क़ानून-निर्माण के अतिरिक्त यह अन्य कार्यों में भी हस्तक्षेप करने लगी जो गवर्नमेण्ट को पसन्द न था। अतएव इसका कार्य क्षेत्र अत्यन्त संकीर्ण बना दिया गया और यह नियम बना दिया गया कि विस्तृत कौंसिल केवल उन्हीं विषयों पर विचार कर सकती है जो उसके पास कार्यकारिणी द्वारा विचारार्थ भेजे जायँ। उसके बाहर अन्य किसी विषय पर वह न विचार कर सकती थी और न क़ानून बना सकती थी। वह न प्रश्न कर सकती थी और न नीति पर विचार कर सकती थी। इस प्रकार कौंसिल को विस्तृत करने से केवल इतना लाभ हुआ कि कार्यकारिणी के सदस्यों को सहायता मिल जाती थी और क़ानून बनने के पूर्व ही विधेयक का विज्ञापन हो जाया करता था। कार्यकारिणी पर उसका किसी भी प्रकार का नियन्त्रण न था परन्तु इतना तो स्वीकार ही करना पड़ेगा कि इस विधान ने भावी स्वायत्त शासन के बीज को बो दिया।

कौंसिल की विधायनी शक्ति पर कुछ प्रतिबन्ध भी लगा दिये गये थे। कुछ विशेष प्रकार के विषयों यथा सार्वजनिक ऋण, राजकीय आय, सैनिक अनुशासन, भारतीय धार्मिक नियमों, देशी राज्यों से सम्बन्धित नीति आदि से सम्बन्ध रखने वाले विधेयकों में गवनर-जनरल की पूर्व स्वीकृति प्राप्त करना अनिवार्य था। कौंसिल कोई ऐसा नियम नहीं बना सकती थी जिसका प्रभाव गृह-सरकार के अधिकारों पर पड़े अथवा पार्लियामेण्ट द्वारा बनाये गये किसी नियम के विरुद्ध हो। कौंसिल द्वारा पास किये हुये किसी भी क़ानून को गवनर-जनरल रद्द कर सकता था। कौंसिल द्वारा पारित किया हुआ कोई भी विधेयक बिना गवनर-जनरल की अन्तिम स्वीकृति प्राप्त किये क़ानून नहीं बन सकता था।

(२) इस विधान द्वारा केन्द्र की भांति बम्बई तथा मद्रास की प्रेसीडेन्सियों में भी व्यवस्थापिकाओं के स्थापित करने की व्यवस्था की गई और गवर्नर-जनरल को यह अधिकार दिया गया कि घोषणाओं द्वारा वह उत्तरी-पश्चिमी प्रान्त (आगरा) तथा पंजाब में भी इसी प्रकार की संस्थायें स्थापित करे। दूसरे शब्दों में यों कहा जा सकता है कि इन प्रान्तों की कार्य-कारिणी के सदस्यों में क़ानून निर्माण के लिये कम से कम चार और अधिक से अधिक आठ सदस्य और बढ़ा दिये गये जिनमें से कम से कम आधे गैर-सरकारी हों। इन कौंसिलों के अधिकार अत्यन्त सीमित थे। वे केवल ऐसे ही विषयों पर क़ानून बना सकती थीं जो प्रान्त से सम्बन्धित हों। इनके बनाये हुये क़ानूनों पर न केवल गवर्नर की वरन् गवर्नर-जनरल की भी स्वीकृति की आवश्यकता पड़ती थी।

(३) इस विधान द्वारा गवर्नर-जनरल की कौंसिल में एक पाँचवां सदस्य जोड़ दिया गया। यह सदस्य आर्थिक विषयों का विशेषज्ञ होना चाहिये था। इन पाँच सदस्यों में से तीन ऐसे होने चाहिये थे जो कम से कम दस वर्ष तक भारत में सरकारी नौकरी कर चुके हों और शेष दो में से एक ऐसा हो जो बैरिस्टर हो या स्काटलैण्ड का ऐडवोकेट हो और कम से कम दस वर्ष तक प्रैक्टिस की हो। इस विधान ने गवर्नर-जनरल को यह भी अधिकार दे दिया कि वह समुचित रीति से अपनी कौंसिल का कार्य चलाने के लिये नियम बनाये। इससे लाभ उठा कर तत्कालीन वाइसराय लार्ड केनिंग ने अपनी कौंसिल में

विभागीय व्यवस्था (Portfolio System) को स्थापित किया। इस व्यवस्था में कार्य-कारिणी के प्रत्येक सदस्य का अपना अलग विभाग हो गया और अपने विभाग का समुचित रीति से संचालन करना उसका कर्तव्य हो गया। अब केवल अत्यन्त महत्वपूर्ण विषय गवर्नर-जनरल के समक्ष उपस्थित करने पड़ते थे और मतभेद उत्पन्न हो जाने पर उसे सम्पूर्ण कौंसिल के सामने रखना पड़ता था। अब गवर्नर जनरल को अपनी कौंसिल का प्रेसीडेन्ट नियुक्त करने का अधिकार प्राप्त हो गया जो उसकी अनुपस्थिति में सभापति का आसन ग्रहण करे। इस विधान द्वारा क़ानून निर्माण के लिये नये प्रान्तों के स्थापित करने तथा उनमें लेफ्टीनेन्ट गवर्नरों के नियुक्त करने का अधिकार गवनर-जनरल को दिया गया।

(४) इस विधान द्वारा अत्यन्त आवश्यक स्थितियों में भारत की शान्ति तथा सुव्यवस्था के लिये अध्यादेश (Ordinance) पास करने का अधिकार दे दिया गया। यह अध्यादेश ६ महीने तक लागू रह सकते थे परन्तु सम्राट् द्वारा अथवा व्यवस्थापिका के क़ानून द्वारा यह पहिले भी समाप्त कर दिये जा सकते थे। इन अध्यादेशों को घोषित करने के उपरान्त अविलम्ब भारत-सचिव को इनके पास करने के कारणों के साथ सूचित कर देना आवश्यक था।

(५) केन्द्रीय तथा प्रान्तीय विषयों में कोई भेद नहीं रक्खा गया था।परन्तु सार्वजनिक ऋण, राजस्व, मुद्रा, डाक घर, तार, धर्म आदि से सम्बन्ध रखने वाले विषय केन्द्रीय सरकार के नियन्त्रण में रक्खे गये थे।

आलोचना—१८६१ के विधान का वैधानिक दृष्टिकोण से बहुत बड़ा महत्व है। प्रतिनिधि संस्थाओं तथा क़ानून निर्माण के कार्य के निरूपण का सूत्रपात यहीं से हुआ। इस विधान ने गैर-सरकारी भारतीयों को क़ानून बनाने के लिये कौंसिल में सम्मिलित करके गवर्नर-जनरल को लोकमत के जानने का अवसर प्रदान किया। अब केन्द्रीय तथा प्रान्तीय कौंसिलें विज्ञापन, विवेचन तथा सूचना वितरण के महत्वपूर्ण कार्यों को करने लगीं। जनता को अब अपनी शिकायतों के प्रकट करने तथा सरकार को अपनी नीति के अनुमोदन करने का अवसर प्राप्त होने लगा। इस विधान का एक और महत्व यह है कि प्रान्तीय सरकारों को क़ानून बनाने का अधिकार देकर एक ऐसी व्यवस्था का सूत्रपात किया गया जिसका चूड़ान्त विकास १९३५ के विधान में हुआ जब प्रान्तों को पूर्ण प्रान्तीय स्वतन्त्रता प्रदान कर दी गई। इस विधान में सबसे बड़ा अभाव यह था कि इसमें निर्वाचन-पद्धति का समावेश नहीं हो सका था। गैर-सरकारी सदस्य गवर्नर-जनरल द्वारा मनोनीत किये जाते थे जो जनता के वास्तविक नेता नहीं होते थे। फलतः वास्तविक लोकमत का उद्‌घाटन नहीं हो पाता था। इस अभाव के होते हुये भी इतना तो स्वीकार ही करना पड़ेगा कि वैधानिक विकास के मार्ग में १८६१ के विधान द्वारा एक लम्बा पग आगे रक्खा गया था।

१८९२ का विधान—उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम चरण तथा बीसवीं शताब्दी में हमारे देश में जो वैधानिक विकास हुआ है उसका हमारे राष्ट्रीय आन्दोलन से अत्यन्त घनिष्ट सम्बन्ध रहा है। कांग्रेस की स्थापना हमारे देश में १८८५ ई० में गई थी। तभी से इस राष्ट्रीय संस्था ने लोकमत के निर्माण तथा जनता को शिक्षा देने में योग देना आरम्भ किया। राजनैतिक विषयों में यह संस्था जनता का पथ-प्रदर्शन करने लगी। १८६१ के सुधारों से भारतीय जनता को संतोष नहीं हुआ था। अब कांग्रेस ने व्यवस्थापिका के सुधार के प्रश्न को लेकर आन्दोलन करना आरम्भ किया। कांग्रेस के प्रथम अधिवेशन में ही हमारे देश के नेताओं ने एक प्रस्ताव में सुधारों की आवश्यकता को व्यक्त किया। कांग्रेस की चार प्रमुख माँगे थीं। पहिली माँग यह थी कि केन्द्रीय तथा प्रान्तीय लेजिस्लें-

टिव कौंसिलों में निर्वाचित सदस्यों की संख्या बढ़ा दी जाय। दूसरी माँग यह थी कि उत्तरी पच्छिमी प्रान्त तथा अवध में और पंजाब में भी व्यवस्थापिका सभाओं की स्थापना की जाय। कांग्रेस की तीसरी माँग यह थी कि राजस्व बिल विचार करने के लिये कौंसिलों में भेजा जाय। चौथी माँग यह थी कि कौंसिल के सदस्यों को शासन के सभी विभागों के सम्बन्ध में प्रश्नोत्तर का अधिकार हो जाना चाहिये। इस प्रकार कांग्रेस चाहती थी कि कौंसिलों में भारतीयों की संख्या में वृद्धि कर दी जाय, कौंसिलों के अधिकार बढ़ा दिये जायें, निर्वाचन पद्धति का सूत्रपात किया जाय और जिन प्रान्तों में यह कौंसिलें नहीं हैं उनमें इनकी स्थापना की जाय। कांग्रेस के दूसरे अधिवेशन में भी इन माँगों का प्रतिपादन किया गया और निर्वाचन पद्धति का सूत्रपात करने पर बल दिया गया। तत्कालीन वाइसराय लार्ड डफ़रिन ने भी सुधारों की आवश्यकता का अनुभव किया और आन्दोलन को शांत करने का एकमात्र उपाय यही समझा कि कांग्रेस की माँगों को कुछ अंश में स्वीकार कर लिया जाय। सुधार की दिशा में पहिला पग चार्ल्स ब्रैडला द्वारा उठाया गया। यह पार्लियामेंट के सदस्य थे और भारतीयों के साथ इनकी पूरी सहानुभूति थी। इन्होंने पार्लियामेंट में एक विधेयक उपस्थित किया जिसमें कांग्रेस की माँगे सन्निहित थीं। इससे बृटिश सरकार सुधार की दिशा में ध्यान देने के लिये बाध्य हो गई। अतएव उसने स्वयम् भी एक विधेयक पार्लियामेंट में रक्खा। १८९१ में ब्रैडला का परलोकवास हो गया। अतएव सरकार द्वारा प्रस्तावित विधेयक पारित कर दिया गया और १८९२ में सम्राट् की स्वीकृति प्राप्त कर लेने पर वह भारत का विधान बन गया। इस विधान द्वारा निम्न-लिखित सुधार किये गये।

(१) इस विधान द्वारा यह व्यवस्था की गई कि गवर्नर-जेनरल की लेजिस्लेटिव कौंसिल में कम से कम १० और अधिक से अधिक १६ मनोनीत सदस्य होंगे। इन अतिरिक्त मनोनीत सदस्यों में से कम से कम १० सदस्य गैर-सरकारी होंगे।

(२) प्रान्तीय कौंसिलों में भी अतिरिक्त मनोनीत सदस्यों की संख्या में वृद्धि कर दी गई। बम्बई तथा मद्रास की कौंसिलों में इनकी संख्या कम से कम ८ और अधिक से अधिक २० हो सकती थी। बङ्गाल की कौंसिल में अधिकतम संख्या २० और उत्तरी पच्छिमी प्रान्त तथा अवध में १५ हो सकती थी। इन अतिरिक्त सदस्यों में से $\frac{2}{5}$ गैर-सरकारी होने चाहिये थे।

(३) गैर-सरकारी सदस्यों के मनोनीत करने के सम्बन्ध में इस विधान के अन्तर्गत जो नियम बनाये गये उनके द्वारा यह निश्चित किया गया कि ५ सदस्यों को गवर्नर-जनरल कलकत्ता के चेम्बर्स आफ़ कामर्स की सिफ़ारिश पर और शेष ५ सदस्यों को मद्रास, बम्बई, बङ्गाल तथा उत्तरी पच्छिमी प्रान्त की लेजिस्लेटिव कौंसिलों के गैर-सरकारी सदस्यों की सिफ़ारिश पर मनोनीत करेगा। इस प्रकार अप्रत्यक्ष निर्वाचन पद्धति के आधार पर मनोनीत करने की प्रथा का सूत्रपात हुआ। प्रान्तीय लेजिस्लेटिव कौंसिलों में स्थानीय स्वराज्य की संस्थाओं अर्थात् म्युनिसिपल बोर्डों तथा चेम्बर्स आफ़ कामर्स द्वारा भेजे हुये सदस्यों में से मनोनीत करने की व्यवस्था की गई। इस प्रकार प्रान्तों में भी अप्रत्यक्ष निर्वाचन के आधार पर मनोनीत करने की पद्धति का सूत्रपात किया गया। यद्यपि विधान में "निर्वाचन" शब्द का कहीं भी प्रयोग नहीं किया गया था परन्तु वास्तव में निर्वाचन के सिद्धान्त को इस विधान द्वारा स्वीकार कर लिया गया था। प्रत्येक संस्था द्वारा भेजे गये नामों को गवर्नर-जनरल तथा गवर्नर लोग स्वीकार कर लिया करते थे। अतएव निर्वाचन पद्धति का श्री गणेश यहीं से मानना चाहिये और यही १८९२ के विधान की सबसे बड़ी विशेषता है।

(४) इस विधान द्वारा लेजिस्लेटिव कौंसिलों के अधिकारों में भी वृद्धि कर दी गई। अब इन्हें राजस्व-बिल पर वाद-विवाद करने का अधिकार प्राप्त हो गया परन्तु अभी मत-

दान का अधिकार नहीं प्राप्त हुआ था और तत्सम्बन्धी अन्य विषयों पर भी मतदान की मांग नहीं उपस्थित कर सकते थे। इस प्रकार इस विधान द्वारा एक पग आगे रक्खा गया। अब गैर-सरकारी सदस्यों को सरकार की अर्थ-नीति पर पूर्ण-रूप से वाद-विवाद करने तथा उसकी आलोचना करने का अवसर प्राप्त होने लगा। सरकार को भी जनता के भ्रम को दूर करने, अपने पक्ष के स्पष्टीकरण तथा आलोचनाओं का सन्तोषजनक उत्तर देने का अवसर मिलने लगा। इस विधान ने सार्वजनिक हित के विषयों पर प्रश्न करने का भी अधिकार प्रदान कर दिया परन्तु अभी पूरक प्रश्न करने का अधिकार न मिल सका।

आलोचना—१८९२ के विधान द्वारा जो सुधार किये गये उनसे भारतीयों को बिल्कुल सन्तोष न हुआ। आलोचकों का कहना था कि कौंसिलों में भारतीय जनता का पर्याप्त प्रतिनिधित्व नहीं है और जो अधिकार उन्हें दिये गये थे उन पर अनेक प्रतिबन्ध लगाये गये थे परन्तु इतना तो स्वीकार ही करना पड़ेगा कि इस विधान द्वारा वैधानिक विकास में प्रगति अवश्य हुई। वास्तव में शिक्षित भारतीयों तथा सरकारी पदाधिकारियों के दृष्टिकोण का समन्वय इस विधान में किया गया था। इस विधान द्वारा हमारे देश में संसदात्मक उत्तरदायी शासन के स्थापित करने का कोई प्रयत्न नहीं किया गया था। गैर-सरकारी सदस्य अभी अल्प-संख्यक थे और कार्य-कारिणी पर नियन्त्रण रखने का अधिकार अभी उन्हें प्रदान नहीं किया गया था परन्तु संसदात्मक एवं उत्तरदायित्व पूर्ण सरकार का बीजारोपण इस विधान द्वारा अवश्य कर दिया गया। भारतीय संविधान का विकास मन्दगति से हुआ है और मन्थर गति से ही हमारे देश में उत्तरोत्तर उत्तरदायी सरकार की स्थापना होती गई है। अतएव १८९२ के विधान को उस विकसित शृङ्खला की एक कड़ी मात्र समझना चाहिये।

१९०९ का विधान—हमारे देश के वैधानिक विकास की शृङ्खला में दूसरी कड़ी १९०९ के विधान की थी। १८९२ के विधान की भाँति यह विधान भी राष्ट्रीय आन्दोलन के फल-स्वरूप निर्मित किया गया था। १८९२ से १९०९ तक का काल हमारे देश के इतिहास में भयानक राष्ट्रीय आन्दोलन का काल था। इस काल में देश की राजनैतिक स्थिति अत्यन्त गम्भीर तथा चिन्ताजनक हो गई थी। केन्द्रीय व्यवस्थापिका के गैर-सरकारी सदस्य तथा राष्ट्रीय नेता इस बात की मांग कर रहे थे कि कौंसिलों में सदस्यों की संख्या बढ़ाई जाय और उनमें जनता का अधिकाधिक प्रतिनिधित्व होना चाहिये। यद्यपि राष्ट्रीय आन्दोलन के दमन के लिये सरकारी कुचक्र अपनी पूरी शक्ति के साथ चल रहा था परन्तु सरकार इस बात का अनुभव कर रही थी कि वह समय आ गया है जब केवल दमन-नीति से काम नहीं चलेगा और सुधारों का करना नितान्त आवश्यक है। वास्तव में अब परिस्थितियाँ बदल गई थीं। शिक्षा के विकास के फल-स्वरूप भारतीयों में एक अत्यन्त महत्वपूर्ण शिक्षित वर्ग उत्पन्न हो गया था जो अपनी स्थिति का अनुभव कर रहा था और जिसके मस्तिष्क में शासक वर्ग के समान ही नागरीय अधिकारों के उपभोग करने की चेतना जागृत हो रही थी। इन दिनों लार्ड कर्ज़न की स्वेच्छाचारी तथा निरङ्कुश नीति के फल-स्वरूप भारत में क्रान्तिकारी दल का जोर बढ़ रहा था। कर्ज़न की शिक्षा-सम्बन्धी नीति तथा बङ्ग-भङ्ग योजना के कारण सम्पूर्ण देश में असन्तोष की अग्नि प्रज्वलित हो उठी थी और कांग्रेस के भीतर उग्रवादी दल का प्रादुर्भाव हो गया था जो कांग्रेस के कार्य क्रम तथा उसकी नीति से सहमत न था। इस दल के नेता बाल गंगाधर तिलक, लाला लाजपतराय तथा विपिन चन्द्र पाल थे। सरकार की कठोर दमन नीति के फल-स्वरूप क्रान्तिकारी दल का भी प्राबल्य बढ़ रहा था। इसके अतिरिक्त पंजाब में किसानों का आन्दोलन और बम्बई तथा अन्य स्थानों में राजनैतिक आन्दोलन बड़े जोरों के साथ चल रहा था। देश की इस भयङ्कर स्थिति में केवल दमन कुचक्र से कार्य चलना

असम्भव था। अतएव सरकार ने आवश्यक सुधार करके कम से कम कांग्रेस के नम्र-दल को प्रसन्न करने का प्रयास किया। नम्र-दल के नेता श्री गोपल कृष्ण गोखले इङ्गलैण्ड गये और स्थानापन्न भारत-सचिव मिस्टर मार्ले से मिले और सुधारों की आवश्यकता पर बल दिया। फलतः भारत-सचिव तथा वाइसराय मिण्टो में सुधार सम्बन्धी बात-चीत आरम्भ हुई। इन दोनों में लगभग तीन वर्ष तक विचार-विनिमय होता रहा और अन्त में १९०९ ई० में मार्ले-मिण्टो सुधार आयोजना ने विधान का रूप धारण कर लिया। इस विधान के निर्माण के पूर्व ही भारत के मुसलमानों का एक प्रतिनिधि-मण्डल वाइसराय से मिला और पृथक् निर्वाचन तथा विशेष प्रतिनिधित्व की माँग उपस्थित किया। वाइसराय ने प्रतिनिधि-मण्डल के साथ सहानुभूति प्रकट की और उनकी माँगों पर ध्यान देने का पूर्ण आश्वासन दिया। मिस्टर मार्ले पृथक् निर्वाचन पद्धति के विरुद्ध थे परन्तु भारत सरकार के दबाव के कारण उन्हें मुसलमानों की माँग को स्वीकार करने के लिये विवश हो जाना पड़ा। इस प्रकार पृथक् निर्वाचन-पद्धति का समावेश भारतीय राजनीति में प्रथम बार मार्ले-मिण्टो सुधार आयोजना में हो गया। इसी के फल-स्वरूप आगे चल कर देश का विभाजन हो गया। १९०९ के विधान द्वारा निम्न-लिखित परिवर्तन किये गये :—

(१) इस विधान द्वारा लेजिस्लेटिव कौंसिलों की संख्या में वृद्धि कर दी गई। गवर्नर-जनरल की कौंसिल के अतिरिक्त सदस्यों की संख्या अब अधिक से अधिक ६० हो सकती थी। मद्रास, बङ्गाल, बम्बई, उत्तर-प्रदेश तथा बिहार और उड़ीसा की कौंसिलों के सदस्यों की संख्या अधिक से अधिक ५० और पंजाब, बर्मा तथा आसाम की कौंसिलों के सदस्यों की संख्या अधिकाधिक ३० हो सकती थी।

(२) लार्ड मोर्ले केन्द्रीय व्यवस्थापिका में सरकारी सदस्यों का बहुमत चाहते थे। अतएव यह व्यवस्था की गई कि केन्द्रीय व्यवस्थापिका में ३७ सरकारी तथा २३ गैर-सरकारी सदस्य होंगे। ३७ सरकारी सदस्यों में से २८ को गवर्नर-जनरल मनोनीत करेगा और शेष पुराने पदाधिकारी (Ex-Officio) होंगे। इन पदाधिकारियों में एक गवर्नर-जनरल कौंसिल के ६ साधारण सदस्य तथा दो असाधारण सदस्य होंगे। २३ गैर-सरकारी सदस्यों में से ५ को गवर्नर-जनरल मनोनीत करेगा और शेष सदस्य निर्वाचित होंगे।

(३) इस विधान ने प्रान्तीय कौंसिलों में सरकारी सदस्यों का बहुमत नहीं रक्खा वरन् गैर-सरकारी सदस्यों का ही बहुमत रक्खा गया। परन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं है कि गैर-सरकारी निर्वाचित सदस्यों का भी बहुमत रक्खा गया। कुछ गैर-सरकारी सदस्य गवर्नर द्वारा मनोनीत किये जायेंगे और शेष निर्वाचित होंगे। सरकार इन मनोनीत सदस्यों की सहायता तथा राजभक्ति पर सदैव भरोसा कर सकती थी। इस प्रकार सरकारी तथा मनोनीत गैर-सरकारी सदस्यों का एक प्रबल गुट निर्वाचित गैर-सरकारी सदस्यों के विरुद्ध बन सकता था। प्रान्तीय व्यवस्थापिका में इस गुट का पूर्ण बहुमत रहता था जो सदैव सरकार की नीति का समर्थन करने के लिये उद्यत रहता था।

(४) भारत सरकार की यह धारणा थी कि भारतवासियों के लिये प्रादेशिक प्रतिनिधित्व की व्यवस्था ठीक न होगी। अतएव विभिन्न वर्गों तथा हितों के प्रतिनिधित्व के आधार पर निर्वाचन की व्यवस्था की गई। फलतः इस विधान में विभिन्न सम्प्रदायों, वर्गों तथा हितों के पृथक् निर्वाचन की व्यवस्था की गई। शेष स्थान नगरपालिकाओं तथा जिला परिषदों को दे दिये गये जिन्हें साधारण मतदान (General electorates) के नाम से पुकारा गया। इस प्रकार जमींदारों, चैम्बर्स आफ़ कामर्स आदि को अपने प्रतिनिधि निर्वाचित करके भेजने का अधिकार प्राप्त हो गया।

(५) लेजिस्लेटिव कौंसिलों के कार्यों तथा अधिकारों में भी वृद्धि कर दी गई। केन्द्रीय व्यवस्थापिका में राजस्व विधेयक पर वाद-विवाद करने के सम्बन्ध में विस्तृत नियम

बनाये गये। अर्थ-सम्बन्धी कुछ विषयों में प्रत्येक सदस्य को प्रस्ताव रखने का अधिकार दे दिया गया परन्तु कुछ विषय ऐसे थे जिन पर कौंसिल के सदस्यों को वाद-विवाद करने का अधिकार नहीं प्राप्त था। यहाँ पर यह ध्यान देने की बात है कि राजस्व-विवरण पहिले कौंसिल की एक समिति के पास भेज दिया जाता था जिसका अध्यक्ष अर्थ-विभाग का मेम्बर होता था। इस समिति के आधे सदस्यों को गवर्नर-जनरल मनोनीत करता था और शेष आधे सदस्यों को कौंसिल के गैर-सरकारी सदस्य निर्वाचित करते थे।

(६) किसी भी विषय पर अधिक प्रकाश डलवाने के लिये प्रश्न तथा पूरक प्रश्न करने का अधिकार प्राप्त हो गया परन्तु जिस विभाग के अध्यक्ष से प्रश्न किये जाते थे वह पूरक प्रश्नों का तुरन्त उत्तर देने से इन्कार कर सकता था। वह उसके उत्तर के लिये आवश्यक समय माँग सकता था।

(७) इस विधान द्वारा कौंसिल के सदस्यों को कौंसिल के समक्ष प्रस्ताव उपस्थित करने का अधिकार प्राप्त हो गया। इन प्रस्तावों में कुछ निश्चित सिफारिशें सरकार के पास भेजने के लिये की जानी चाहिये थीं। इन प्रस्तावों को अत्यन्त स्पष्ट तथा निश्चित होना चाहिये था और इनमें किसी निश्चित समस्या का निर्देश रहना चाहिये था। प्रेसीडेन्ट किसी भी प्रस्ताव को अथवा उसके किसी अंश को बिना कारण बतलाये ही उपस्थित करने से रोक सकता था।

(८) इस विधान के अन्तर्गत सार्वजनिक हित के कार्यों के सम्बन्ध में वाद-विवाद करने के सम्बन्ध में नियम बनाये गये। परन्तु जो विषय व्यवस्थापिका के अधिकार क्षेत्र से बहिर्गत होते थे उन पर उसके सदस्य वाद-विवाद नहीं कर सकते थे। इस प्रकार कौंसिल के सदस्य उन विषयों पर वाद-विवाद नहीं कर सकते थे जिन पर किसी न्यायालय में विचार हो रहा हो अथवा जो भारत सरकार द्वारा किसी विदेशी अथवा देशी राज्य के साथ किये गये समझौते से सम्बन्धित हों।

(९) इस विधान द्वारा बम्बई, बङ्गाल तथा मद्रास में कार्य-कारिणी के सदस्यों की संख्या बढ़ा कर ४ कर दी गई। इस विधान द्वारा भारत सरकार को लेफ्टीनेन्ट गवर्नरों के प्रान्तों में कार्यकारिणी स्थापित करने का अधिकार प्राप्त हो गया।

(१०) प्रान्तों में विश्वविद्यालयों के सेनेटो, जमींदारों, जिला परिषदों, नगरपालिकाओं तथा चैम्बर्स आफ़ कामर्स द्वारा सदस्यों के निर्वाचित करने की व्यवस्था की गई। मुसलमानों को अलग अपने प्रतिनिधि चुनने का अधिकार दे दिया गया।

(११) राजनैतिक अपराधी इस विधान द्वारा चुनाव लड़ने से वंचित कर दिये गये थे परन्तु राज्य के प्रधान को इनकी अयोग्यता के हटा देने का अधिकार दे दिया गया था।

आलोचना—१९०९ के विधान से भारतीयों को सन्तोष न हुआ क्योंकि उनकी माँग उत्तरदायी सरकार की थी परन्तु इस विधान द्वारा केवल उदार-स्वेच्छाचारी शासन की ही व्यवस्था बनी रही। वास्तव में इस विधान के निर्माता उन दिनों भारत में उत्तरदायी सरकार की स्थापना करना ही नहीं चाहते थे। उनका ध्येय केवल १८९२ के विधान को कुछ और परिवर्द्धित कर देना था। अतएव १९०९ के विधान को उसके पूर्ववर्ती विधानों का केवल परिवर्द्धित तथा विस्तृत स्वरूप समझना चाहिये इस विधान में एक बहुत बड़ी गड़बड़ी यह थी कि यद्यपि विधान का स्वरूप संसदात्मक था परन्तु उत्तरदायित्व का सर्वथा अभाव था। इस अवस्था में सरकार की निरर्थक तथा अविवेकपूर्ण आलोचना हुआ करती थी। व्यवस्थापिकायें भारतीय नेताओं के लिये सरकार की आलोचना करने का स्थान बन गई। यद्यपि इस विधान द्वारा निर्वाचन पद्धति का सूत्रपात कर दिया गया था परन्तु मतदाताओं की संख्या अत्यन्त सीमित थी। कुछ निर्वाचन-क्षेत्रों में मतदाताओं की संख्या केवल ९ या १० ही थी। ऐसी स्थिति में सभी वोटों को अनुचित रीति से प्राप्त कर लेने की सम्भावना रहती थी। स्त्रियों के हित पर बिलकुल

ध्यान नहीं दिया गया था। इस विधान द्वारा अप्रत्यक्ष निर्वाचन की व्यवस्था की गई थी। स्थानीय संस्थाओं के सदस्यों को जनता चुनती थी। यही चुने हुये सदस्य निर्वाचन कालेज के सदस्यों को चुनते थे। इस कालेज के सदस्य प्रान्तीय व्यवस्थापिका के सदस्य चुनते थे और प्रान्तीय व्यवस्थापिका के सदस्य केन्द्रीय व्यवस्थापिका के सदस्यों को चुनते थे। इस अप्रत्यक्ष निर्वाचन पद्धति का परिणाम यह होता था कि जनता तथा व्यवस्थापिका के इन निर्वाचित सदस्यों में कोई सम्पर्क नहीं रहता था। अतएव यह सदस्य अपने को जनता के प्रति उत्तरदायी नहीं समझते थे। इस विधान द्वारा पृथक् साम्प्रदायिक निर्वाचन पद्धति का सूत्रपात किया गया। इस प्रकार पाकिस्तान तथा भारत विभाजन का बीजारोपण इस विधान द्वारा कर दिया गया। मुसलमानों के अतिरिक्त अन्य सम्प्रदाय वालों ने भी पृथक् निर्वाचन की माँग आरम्भ कर दी। इस विधान ने न केवल विभिन्न सम्प्रदायों वरन् विभिन्न हितों को भी पृथक् प्रतिनिधित्व प्रदान किया। इस प्रकार जमींदारों तथा चेम्बर्स आफ़ कामर्स को अपने अपने प्रतिनिधि भेजने का अधिकार प्राप्त हो गया। केन्द्रीय व्यवस्थापिका में सरकारी सदस्यों का बहुमत था। इससे भारतीयों में बड़ा असन्तोष फैला था। यद्यपि प्रान्तीय व्यवस्थापिका में ग़ैर सरकारी सदस्यों का बहुमत था परन्तु क्रियात्मक रूप में इसका कुछ भी अर्थ नहीं था क्योंकि मनोनीत ग़ैर-सरकारी सदस्य सदैव सरकार का साथ देते थे और सरकारी सदस्यों के साथ उनका गठबन्धन हो जाने के कारण निर्वाचित ग़ैर-सरकारी सदस्यों का कभी बहुमत नहीं हो पाता था। इस प्रकार जनता के वास्तविक प्रतिनिधि सदैव अल्प-संख्या में ही रहते थे। भारतीय नेता इस बात के जानने के लिये अत्यन्त उत्सुक थे कि ब्रिटिश सरकार उत्तरदायी सरकार स्थापित करना चाहती है अथवा नहीं और यदि स्थापित करना चाहती है तो कब और किस प्रकार? १९०९ के विधान द्वारा भारतीयों की यह जिज्ञासा शान्त न हुई। वास्तव में यह सुधार अर्द्ध-मार्गी थे जो भारतीयों को कदापि संतुष्ट नहीं कर सकते थे क्योंकि वे शक्ति के हस्तान्तरण के लिये आतुर हो रहे थे। इस विधान का सबसे बड़ा दोष यह था कि इसमें उत्तरदायी सरकार के लिये कोई स्थान न था। यद्यपि संसदात्मक प्रथाओं तथा व्यवहारों का अनुसरण किया गया था परन्तु संसदात्मक सरकार की आत्मा का कहीं पता न था। केन्द्र तथा प्रान्त दोनों ही में कार्यकारिणी सर्वथा अनुत्तरदायी थी। इस व्यवस्था का परिणाम संघर्ष के अतिरिक्त और कुछ नहीं हो सकता था। कौंसिल में जो विवाद होते थे वे निरर्थक तथा नीरस होते थे क्योंकि उनका सरकार पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता था। निर्वाचित ग़ैर-सरकारी सदस्यों के मत का कोई महत्व नहीं होता था क्योंकि सरकारी तथा मनोनीत ग़ैर-सरकारी सदस्यों की सहायता से सरकार जो चाहती थी वही कर लेती थी। चूँकि १९०९ का सुधार भारतीयों को सन्तुष्ट न कर सका अतएव राष्ट्रीय आन्दोलन की प्रगति भी मन्द न पड़ी और उत्तरदायी सरकार के स्थापित करने की माँग पूर्ववत् बलवती बनी रही।

मान्टफ़ोर्ड सुधार के कारण—भारत के संविधान का क्रमागत विकास होता गया है। अंग्रेज राजनीतिज्ञ अत्यन्त मन्दगति से आगे बढ़ना चाहते थे। वे वैधानिक प्रगति में अग्र-पग तभी उठाते थे जब भारतीयों का असन्तोष तथा आन्दोलन अत्यन्त उग्र रूप धारण कर लेता था और परिस्थितियों से वे सुधार करने के लिये बाध्य हो जाते थे। जिन परिस्थितियों में मान्टफ़ोर्ड सुधार की योजना बनाई गई वे निम्नलिखित थीं :—

(१) १९०९ के विधान से असन्तोष—१९०९ के विधान से भारतीयों को बिल्कुल सन्तोष न हुआ। यद्यपि इस विधान के पास होने पर नम्र दल वालों ने इसका स्वागत किया था परन्तु कालान्तर में उदारमना गोखले भी इस विधान की निस्सारता से अवगत

हो गये। भारतीय यह जानना चाहते थे कि बृटिश सरकार का भारत में अन्तिम लक्ष्य क्या था और उस लक्ष्य की प्राप्ति के लिये वे क्या करने जा रहे थे। मार्लेमिण्टो सुधार भारतीयों की उपरोक्त जिज्ञासा को शांत नहीं कर सके। १९०८ के 'विकेन्द्रीकरण आयोग' ने जो सिफारिशें की वे अपर्याप्त तथा निराशाजनक थीं। बृटिश राजनीतिज्ञ जिस मन्दगति से कार्य कर रहे थे उससे भारतीयों की क्रोधाग्नि भड़क उठती थी।

(२) क्रान्तिकारियों का प्रकोप—आलोचनात्मक दृष्टि से अवलोकन करने पर १९०९ के विधान की निस्सारता का उद्घाटन हो जाता है। इस विधान का एक मात्र लक्ष्य नम्र दल वालों को सन्तुष्ट करके उनका सहयोग प्राप्त करना था परन्तु इसे अपने उस उद्देश्य में भी सफलता नहीं प्राप्त हुई। जनता के असन्तोष तथा निराशा का परिणाम यह हुआ कि क्रान्तिकारी क्रियाओं का प्रकोप बढ़ने लगा। हिंसात्मक वृत्ति की वृद्धि होने लगी और बम विस्फोट का प्राबल्य हो गया। क्रान्तिकारी लोग अपने उपद्रव के कार्य में संलग्न हो गये और हत्या तथा हिंसा द्वारा अपने असन्तोष को व्यक्त करने लगे।

(३) मुसलमानों का असन्तोष—इन दिनों कुछ ऐसी घटनायें घटीं जिनसे मुसलमान भी बृटिश सरकार से असन्तुष्ट हो गये। पृथक् निर्वाचन से अब वे अपने महत्व का अनुभव करने लगे थे और वे इस तथ्य से अवगत हो गये थे कि बृटिश सरकार उन्हें प्रसन्न रखना चाहती है। १९११ में बंग-भंग की आयोजना समाप्त कर दी गई। इससे हिन्दुओं को कोई प्रसन्नता न हुई क्योंकि बहुत कष्ट भोगने तथा बहुत बड़ा त्याग करने के उपरान्त वे इसे भंग करा सके थे। मुसलमान इससे बहुत असन्तुष्ट हुये क्योंकि वे यह नहीं चाहते थे कि पूर्वी बङ्गाल की बहु-संख्यक मुसलमान जनता पश्चिमी बंगाल की बहु-संख्यक हिन्दू जनता के साथ संयुक्त रहे। मुसलमान सोचते थे कि बृटिश सरकार क्रान्तिकारियों से भयभीत होकर हिन्दुओं के साथ यह उदारता का व्यवहार किया है।

मुसलमानों के असन्तोष का एक और कारण था। इन दिनों बल्कान का युद्ध चल रहा था। इस युद्ध में बृटेन टर्की के विरुद्ध युद्ध कर रहा था। मोरक्को, फारस तथा त्रिपोली में बृटिश सरकार के जो कारनामे थे उससे भारतीय मुसलमान अत्यन्त क्षुब्ध थे। उनकी यह धारणा हो गई थी कि बृटिश सरकार इस्लाम धर्म पर प्रहार कर रही है। इस प्रकार हिन्दू तथा मुसलमान दोनों ही बृटिश सरकार से अप्रसन्न थे यद्यपि दोनों की अप्रसन्नता के अलग-अलग कारण थे।

(४) प्रवासी भारतीयों के साथ दुर्व्यवहार—प्रवासी भारतीयों के साथ जो दुर्व्यवहार किया जाता था उससे भी भारतीयों में बड़ा असन्तोष फैला था। इन दिनों नैटाल तथा ट्रान्सवाल में भारतीयों के साथ बड़ी निर्दयता तथा क्रूरता का व्यवहार किया जाता था। इससे भारतवासी बृटिश सरकार से बहुत असन्तुष्ट थे और उस पर उपेक्षा करने का आरोप लगा रहे थे।

(५) सिक्खों के साथ दुर्व्यवहार—जो सिक्ख आस्ट्रेलिया तथा कनाडा में बस गये थे उनके साथ भी बड़ा दुर्व्यवहार किया जाता था। कनाडा के पश्चिमी तट पर कुछ क्रान्तिकारी भारतीय क्रियाशील थे। इन लोगों ने कई हिंसात्मक कार्य भी कर डाले थे। कुछ सिक्ख एक जापानी जहाज में बैठकर भारत से बैंकूवर जा रहे थे। उन्हें जहाज से उतरने नहीं दिया गया। अनेक यातनायें सह कर यह लोग वापस चले आये और पञ्जाब में एक क्रान्तिकारी दल बना लिया और उपद्रव करने में संलग्न हो गये।

(६) प्रथम महासमर—इसी असन्तोष के वायुमण्डल में १९१४ में प्रथम महा-

समर आरम्भ हो गया और बृटिश सरकार की स्थिति अत्यन्त संकटापन्न हो गई। भारतीयों ने इस स्थिति से लाभ उठाने का प्रयत्न नहीं किया वरन् सरकार के साथ सहयोग करने के लिये उद्यत हो गये। गाँधी जी ने अपने देश वासियों से आग्रह किया कि वे यथाशक्ति बृटिश सरकार की इस सङ्कटापन्न स्थिति में सहायता करें। फलतः भारत केरा जनैतिक दल शान्त हो गये और बृटिश सरकार को अपनी पूरी शक्ति युद्ध में लगा देने की सुविधा प्रदान की। भारत सरकार ने धन तथा जन की सहायता से युद्ध में पूरी सहायता पहुँचाई। इस सद्भावना के फलस्वरूप भारत में जो बृटिश सेनायें थीं वे बाहर भेजी जा सकी क्योंकि आन्तरिक अशान्ति की कोई शङ्का न रह गई।

(७) परिस्थिति में परिवर्तन—युद्धकालीन परिस्थितियां प्रतिकूल होती जा रही थीं। यद्यपि युद्ध को आरम्भ हुये दो वर्ष से अधिक हो चुके थे परन्तु उसके निकट भविष्य में समाप्त होने की कोई आशा न थी। वस्तुओं के मूल्य के बढ़ जाने से भारतीय जनता में बड़ा असन्तोष फैला। भारतीय सैनिकों को यूरोपीय अफसरों के नियन्त्रण तथा अध्यक्षता में युद्ध करना पड़ता था। इससे उनके स्वाभिमान पर बड़ा धक्का लगा। आयरलैण्ड की क्रान्ति तथा पाश्चात्य सभ्यता के विनाशोन्मुख हो जाने से भारतीय नेताओं को बड़ा प्रोत्साहन मिला और उनमें नव-जीवन का संचार हो गया। युद्ध कालीन प्रतिबन्धों के कारण भारत का व्यापारी वर्ग भी बृटिश सरकार से अप्रसन्न था। गोखले के पंचत्व प्राप्त कर जाने से नम्र दल का प्रभाव काँग्रेस में समाप्त हो गया और उग्र-दल का प्रभाव बढ़ने लगा। लार्ड सिनहा का प्रभाव जिन्होंने काँग्रेस तथा बृटिश सरकार में सद्भावना तथा सहयोग स्थापित कराया था अब काँग्रेस में लगभग समाप्त सा हो गया था। यद्यपि एस्क्विथ महोदय ने यह घोषणा की थी कि भारतीय प्रश्न को भिन्न दृष्टिकोण से देखने की आवश्यकता है परन्तु दो वर्ष तक कुछ न किया गया।

(८) नीति के स्पष्टीकरण की आवश्यकता—१९१२ में बम्बई में काँग्रेस का अधिवेशन हुआ। लार्ड सिनहा ने अध्यक्ष पद से भाषण देते हुये बृटिश सरकार से यह अनुरोध किया कि भारतीय नव युवकों को सन्तुष्ट करने के लिये जो स्वतन्त्रता, राष्ट्रीयता तथा स्वायत्त शासन की भावना से उन्मत्त थे वह भारत में अपने अन्तिम लक्ष्य की घोषणा करे। लार्ड हार्डिञ्ज ने जो १९१५ में लार्ड चेम्सफोर्ड के स्थान पर भारत के वाइसराय होकर आये इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि बृटिश शासन का लक्ष्य स्वायत्त शासन के साथ भारत को बृटिश साम्राज्य का अविच्छिन्न अङ्ग बनाना था। परन्तु यह निश्चित रूप से बतलाना कठिन था कि सरकार किस रीति से उस लक्ष्य की पूर्ति का प्रयत्न करेगी। सर आस्टेन चेम्बरलेन जो उन दिनों भारत-सचिव के पद पर थे केवल इतना ही निश्चित तथा स्पष्ट रूप से बतलाने के लिये उद्यत थे कि बृटिश सरकार स्वायत्त शासन स्थापित करने के दृष्टिकोण से क्रमशः स्वतन्त्र संस्थाओं का विकास करना चाहती है। चेम्बरलेन को मेसोपोटामिया के प्रश्न पर त्याग-पत्र दे देना पड़ा और उनके स्थान पर माण्टेग्यू महोदय भारत-सचिव के पद पर नियुक्त किये गये।

मान्टेग्यू घोषणा—माण्टेग्यू भारतीयों के सच्चे मित्र थे और भारतीयों के साथ उनकी वास्तविक सहानुभूति थे। उन्होंने पद-ग्रहण करते ही भारतीय समस्या को नये दृष्टिकोण से देखना आरम्भ किया। इन दिनों युद्ध की विरोधी गति विधि के कारण बृटिश सरकार की स्थिति अत्यन्त सङ्कटापन्न हो गई थी। अगस्त १९१७ को माण्टेग्यू ने अपने एक वक्तव्य में घोषित किया, "सम्राट् की सरकार की यह नीति है जिससे भारत सरकार पूर्ण रूप से सहमत है कि शासन के प्रत्येक भाग में भारतीयों को अधिकाधिक भाग दिया जाय और बृटिश साम्राज्य के अन्तर्गत भारत में उन्नतशील उत्तरदायी शासन के स्थापित करने के दृष्टिकोण से क्रमशः स्वायत्त शासन की संस्थाओं का विकास किया

जाय। उन्होंने यह निर्णय किया है कि जितना शीघ्र सम्भव हो सके इस में वास्तविक पग बढ़ाया जाय और सबसे अधिक आवश्यक यह है कि यह निश्चय करने के पूर्व कि यह कौन सा पग होगा गृह तथा भारत के पदाधिकारियों में विचार-विनिमय करना आवश्यक है। अतएव सम्राट् की सरकार ने सम्राट् की स्वीकृति से यह निर्णय किया है कि वाइसराय तथा भारत सरकार से इस सम्बन्ध में बात-चीत करने, वाइसराय के साथ स्थानीय सरकारों के दृष्टिकोण परवि चार करने और उसके साथ प्रतिनिधि संस्थाओं तथा अन्य लोगों के सुझावों को प्राप्त करने के लिये मैं भारत जाने के वाइसराय के निमन्त्रण को स्वीकार करूँ। मैं यह भी कहूँगा कि इस नीति में प्रगति क्रमशः ही प्राप्त की जा सकती है। बृटिश सरकार तथा भारत सरकार जिस पर भारतीय जनता के कल्याण तथा उन्नति का उत्तरदायित्व है इस बात का निर्णय करेंगी कि किस समय और किस सीमा तक प्रत्येक प्रगति होगी और इसमें इनको उन लोगों से प्राप्त सहयोग के साथ कार्य करना चाहिये जिनको सेवा करने का नूतन अवसर प्रदान किया जायगा और उस सीमा तक यह अनुभव किया जाए कि उनकी उत्तरदायित्व की भावना पर विश्वास किया जा सकता है।"

माण्टेग्यू की उपरोक्त घोषणा का विश्लेषण करने पर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि (१) भारतवासियों को देश के शासन में अधिकाधिक भाग दिया जायगा, (२) बृटिश साम्राज्य के अन्तर्गत भारत में उत्तरदायी शासन को जन्म देने के विचार से स्वायत्त शासन की संस्थाओं को धीरे-धीरे शक्तिशाली बनाया जायगा, (३) इस नीति में प्रगति क्रमशः ही प्राप्त की जा सकेगी तथा (४) बृटिश सरकार भारत सरकार के साथ मिल कर जिस पर भारतीय जनता की समृद्धि का उत्तरदायित्व है यह निर्णय करेगी कि किस समय वैधानिक प्रगति के मार्ग में आगे पग उठाया जायगा और किस सीमा तक।

माण्टेग्यू की उपरोक्त घोषणा का भारत के वैधानिक विकास के इतिहास में बहुत बड़ा महत्व है। इस घोषणा द्वारा प्रथम बार अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में बृटिश सरकार ने यह बतला दिया कि भारत में उसका अन्तिम लक्ष्य क्या है। इसके पूर्व बृटिश सरकार ने कभी उत्तरदायी तथा स्वायत्त शासन का आश्वासन नहीं दिया था परन्तु माण्टेग्यू की घोषणा ने स्पष्ट रूप से बतला दिया कि बृटिश सरकार का ध्येय भारत में उत्तरदायी शासन स्थापित करना है। अतएव यह कहना सार्थक होगा कि उत्तरदायी शासन का प्रारम्भ यहीं से होता है और औपनिवेशिक स्वायत्त शासन का बीजारोपण यहीं से हुआ। इसी से प्रधान ने कहा है कि यह एक क्रान्तिकारी घोषणा थी। वास्तव में माण्टेग्यू की घोषणा से एक युग का अवसान तथा दूसरे युग का प्रारम्भ होता है।

माण्टफोर्ड आयोजना—भारतीय नेताओं तथा भारत सरकार के पदाधिकारियों की परामर्श से एक सुधार योजना बनाने के लिये माण्टेग्यू महोदय नवम्बर १९१७ में भारत पधारे और मई १९१८ तक यहां पर रहे। वह कांग्रेस तथा मुस्लिम लीग दोनों ही के बड़े-बड़े नेताओं से मिले और उनसे विचार-विनिमय किया। माण्टेग्यू महोदय बड़े ही उदार तथा सुधारवादी राजनीतिज्ञ थे और द्रुतगति से अग्रसर होना चाहते थे परन्तु भारत सरकार उनके मार्ग में बाधक सिद्ध हो रही थी। लार्ड चेम्सफोर्ड की परामर्श से माण्टेग्यू महोदय ने सुधार सम्बन्धी एक योजना प्रस्तुत की जो "माण्टफोर्ड योजना" के नाम से प्रसिद्ध है। यह योजना जुलाई १९१८ में प्रकाशित की गई। योजना के निर्माता मार्ले-मिण्टो सुधारों के क्रियात्मक स्वरूप का अवलोकन कर चुके थे और भारतीयों की स्वायत्त शासन की मांगों से भी अवगत थे। अब वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि भारतीयों को उनके देश के शासन का कुछ उत्तरदायित्व प्रदान कर देना आवश्यक ही नहीं वरन्

अनिवार्य हो गया है। लोगों ने इस बात का भी अनुभव किया कि भारत जैसे देश में जहां संसदात्मक सरकार की कोई परम्परा नहीं है सहसा पूर्ण रूप से उत्तरदायी शासन प्रदान कर देना व्यवहारिक दृष्टिकोण से उचित न होगा। ऐसा करने से शासन के ध्वस्त हो जाने की भी सम्भावना हो सकती है। अतएव यह निश्चय किया गया कि भारतीयों को स्वायत्त शासन धीरे-धीरे तथा क्रमशः दिया जाय। परन्तु प्रथम पग वास्तविक तथा सारगर्भित होगा। फलतः माण्टफ़ोर्ड योजना में निम्न-लिखित सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया गया :—

(१) यथा-सम्भव स्थानीय संस्थाओं में जनता का पूर्ण नियंत्रण होना चाहिये और बाह्य नियंत्रण न्यूनतम करके उन्हें अधिकाधिक कार्य-स्वतन्त्रता प्रदान करनी चाहिये।

(२) सर्व प्रथम प्रान्तों में ही उत्तरदायी शासन का अभ्यास आरम्भ करना चाहिये। कुछ उत्तरदायित्व तो तुरन्त दे देना चाहिये और पूर्ण उत्तरदायित्व परिस्थितियों के अनुकूल होने पर दे देना चाहिये। इसका यह तात्पर्य है कि क़ानून निर्माण, शासन तथा राजस्व सम्बन्धी कार्यों में प्रान्तों को पर्याप्त स्वतन्त्रता दे देनी पड़ेगी और भारत सरकार का नियंत्रण कम हो जायगा।

(३) भारत सरकार पूर्ण रूप से पार्लियामेंट के प्रति उत्तरदायी रहेगी और जब तक प्रान्तों की नवीन व्यवस्था की कार्य-विधि का अनुभव न प्राप्त कर लिया जाय तब तक सभी महत्वपूर्ण विषयों में भारत सरकार का निर्णय सबको मान्य होगा। इस बीच में इण्डियन लेजिस्लेटिव कौंसिल का आकार बढ़ा देना होगा, उसमें जनता का प्रतिनिधित्व पहिले से अधिक कर देना होगा और गवर्नमेंट के प्रभावित करने के लिये इसे अधिक अवसर प्रदान करना होगा।

(४) उपरोक्त परिवर्तनों के साथ-पार्लियामेंट तथा भारत-सचिव का नियन्त्रण भारत सरकार तथा प्रान्तीय सरकारों पर से कम कर देना होगा।

उपरोक्त योजना का अवलोकन करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि यह योजना चार सिद्धान्तों पर आधारित थी अर्थात् स्थानीय संस्थाओं में पूर्ण रूप से जनता का नियन्त्रण स्थापित हो जाय, प्रान्तों में आंशिक उत्तरदायित्व अथवा द्वैध शासन व्यवस्था स्थापित की जाय, केन्द्र में सरकार को प्रभावित करने का अधिक अवसर प्रदान किया जाय परन्तु किसी प्रकार का उत्तरदायित्व न होगा और जिस सीमा तक भारतीयों को उत्तरदायित्व हस्तान्तरित कर दिया जायगा उसी सीमा तक भारत-सचिव के नियन्त्रण में कमी कर दी जायगी। पृथक् साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व के सम्बन्ध में बड़ा मत-भेद था और इसकी तीव्र आलोचना की गई। इसे राष्ट्र-विरोधी तथा प्रजातन्त्र-विरोधी बतलाया गया परन्तु तत्कालीन परिस्थितियों में इसकी उपेक्षा करना योजना निर्माताओं को असम्भव प्रतीत हुआ। अतएव इसका समावेश योजना में करना पड़ा।

माण्टेग्यू की उपरोक्त योजना की घोषणा ने हमारे देश के नेताओं में मत-भेद उत्पन्न कर दिया और इसका हमारे राष्ट्रीय आन्दोलन पर बहुत बड़ा प्रहार पड़ा। उग्र दल वालों को बड़ा असन्तोष हुआ और वे उसे स्वीकार करने के लिये उद्यत न थे परन्तु नम्र दल वालों ने इसका स्वागत किया और देश के हित में उसे स्वीकार करने के लिये उद्यत हो गये। इन लोगों ने अपना एक अलग दल बना लिया जो उदार दल (Liberal Federation) के नाम से प्रख्यात हुआ।

१९१९ का विधान—माण्टेग्यू-चेम्स फोर्ड योजना के आधार पर २ जून १९१९ को पार्लियामेंट में एक विधेयक उपस्थित किया गया और उसके दोनों भवनों द्वारा पारित कर दिया गया। २५ दिसम्बर १९१९ को सम्राट् ने उस पर अपनी स्वीकृति दे दी और वह भारत का विधान बन गया। जुलाई में इस विधान के अन्तर्गत नियम बनाये

गये। नवम्बर १६२० में धारा-सभाओं का निर्वाचन हुआ और १६२१ में नई धारा-सभाओं का उद्घाटन किया गया। १६१६ के विधान द्वारा निम्न-लिखित परिवर्तन किये गये :—

गृह सरकार में परिवर्तन—गृह सरकार का तात्पर्य भारत-सचिव तथा इण्डिया कौंसिल से है। सिद्धान्त भारत-सचिव का अधिकार तथा नियंत्रण भारत सरकार के ऊपर बना रहा और भारत सरकार के कार्यों का निरीक्षण करने, उसके आदेश देने तथा उस पर नियंत्रण रखने का अधिकार पूर्ववत् बना रहा। केन्द्रीय तथा प्रान्तीय सरकारें उसके आदेशों के अनुसार कार्य करने तथा उसकी आज्ञाओं का पालन करने के लिये बाध्य थीं। केन्द्रीय तथा प्रान्तीय धारा-सभाओं द्वारा पास किये हुये विधेयकों पर उसकी अनुमति प्राप्त करना आवश्यक था। भारत की धन-राशि पर उसका पूर्ण नियन्त्रण था। भारतीय नौकरियों पर उसका पूर्ण नियंत्रण था और उसी की परामर्श से सम्राट्-नियुक्तियाँ करता था परन्तु क्रियात्मक रूप में उसके अधिकारों तथा उसके विभाग में निम्न-लिखित परिवर्तन किये गये :—

(१) १६१६ के विधान द्वारा प्रान्तों में आंशिक उत्तरदायी शासन स्थापित कर दिया गया और कुछ प्रान्तीय विषय मन्त्रियों को हस्तान्तरित कर दिये गये जो प्रान्तीय व्यवस्थापिका के प्रति उत्तरदायी बना दिये गये। इन हस्तान्तरित विषयों पर से भारत-सचिव का नियन्त्रण हटा दिया गया परन्तु रक्षित विषयों पर पूर्ववत् भारत सचिव का नियंत्रण बना रहा।

(२) १६१६ के विधान के पूर्व केन्द्रीय तथा प्रान्तीय व्यवस्थापिका से कोई विधेयक बिना भारत-सचिव की पूर्व स्वीकृति प्राप्त किये उपस्थित नहीं किया जा सकता था परन्तु अब केवल थोड़े से विशेष प्रकार के विधेयकों को केन्द्रीय व्यवस्थापिका में उपस्थित करने के लिये भारत-सचिव की पूर्व स्वीकृति की आवश्यकता रह गई। प्रान्तीय धारा-सभाओं में उपस्थित किये जाने वाले केवल ऐसे ही विधेयकों में भारत-सचिव की पूर्व स्वीकृति की आवश्यकता पड़ सकती थी जिन पर गवर्नर-जनरल अपनी पूर्व स्वीकृति देने से इन्कार कर दे।

(३) इसी प्रकार अर्थ-सम्बन्धी विषयों में भी भारत-सचिव का नियंत्रण कम कर दिया गया। यह नियम बना दिया गया कि यदि किसी आर्थिक विषय में केन्द्रीय धारा-सभा तथा केन्द्रीय कार्य-कारिणी का मतैक्य हो तो भारत-सचिव साधारणतया उसमें हस्तक्षेप न करे। परम्परागत व्यवहार के आधार पर इस नियम को भी स्वीकार कर लिया गया कि यदि किसी शुद्ध प्रान्तीय विषय पर प्रान्तीय व्यवस्थापिका तथा प्रान्तीय कार्यकारिणी का मतैक्य हो तो भारत सरकार उसमें हस्तक्षेप न करे।

(४) अभी तक भारत-सचिव का वेतन भारतीय कोष से दिया जाता था परन्तु १६१६ के विधान द्वारा बृटिश कोष से उसके वेतन के देने की व्यवस्था की गई। इस परिवर्तन के फल-स्वरूप पार्लियामेंट का पूर्ण नियन्त्रण स्थापित हो गया और अब वह उसके कार्यों की तीव्र आलोचना करने लगी और भारत के सम्बन्ध में अधिक रुचि लेने लगी।

(५) अभी तक भारत-सचिव भारत सरकार के व्यवसायिक एजेन्ट के रूप में कार्य किया करता था परन्तु १६१६ के विधान द्वारा हाई कमिश्नर के पद की व्यवस्था की गई और एजेन्सी का कार्य उसी को हस्तान्तरित कर दिया गया।

(६) १६१६ के विधान ने इण्डिया कौंसिल के सदस्यों की संख्या में भी कमी कर दी। अब इनकी संख्या कम से कम ८ और अधिक से अधिक १२ हो सकती थी।

(७) इण्डिया कौंसिल के सदस्यों की अवधि में भी कमी कर दी गई। पहिले इनकी

नियुक्ति सात वर्ष के लिये की जाती थी परन्तु अब इनकी कार्य अवधि घटा कर पाँच वर्ष कर दी गई।

(८) इण्डिया कौंसिल के प्रत्येक सदस्य का वार्षिक वेतन १२०० पौंड निश्चित किया गया। जो सदस्य अपनी नियुक्ति के समय भारत में निवास करते हों उन्हें ६०० पौंड वार्षिक भत्ता दिये जाने की व्यवस्था की गई।

(९) इंडिया कौंसिल के भारतीय सदस्यों की संख्या में भी वृद्धि कर दी गई। पहिले इनकी संख्या केवल २ होती थी परन्तु अब ३ कर दी गई।

केन्द्रीय सरकार में परिवर्तन—१९१९ के विधान द्वारा कुछ परिवर्तन केन्द्रीय सरकार के कार्यों, संगठन तथा कार्य-विधि में भी किये गये। केन्द्र में सर्वाधिक परिवर्तन व्यवस्थापिका के सङ्गठन, कार्यों तथा अधिकारों में किया गया। केन्द्रीय कार्यकारिणी के भी सङ्गठन तथा कार्यों में न्यूनाधिक परिवर्तन किये गये परन्तु यह उतने महत्वपूर्ण न थे जितने व्यवस्थापिका के परिवर्तन। केन्द्र में किये गये सुधार निम्नाङ्कित थे:—

(१) केन्द्रीय कार्यकारिणी के सदस्यों की संख्या इस विधान द्वारा अनिश्चित कर दी गई। १९१५ के सङ्गठन विधान (Consolidation Act) द्वारा यह निश्चित किया गया था कि गवर्नर-जनरल तथा कमांडर-इन-चीफ के अतिरिक्त केन्द्रीय कार्यकारिणी के सदस्यों की संख्या ६ होगी। अब इन सदस्यों की संख्या की कोई निश्चित सीमा न रही परन्तु १९४१ तक इस परिवर्तन से कोई लाभ न उठाया गया। युद्धकालीन परिस्थितियों के कारण १९४१ में गवर्नर-जनरल की कौंसिल के सदस्यों की संख्या में वृद्धि की गई थी।

(२) इस विधान ने क़ानूनी सदस्य की योग्यता में भी संशोधन किया। अब कोई भी प्लीडर जिसने कम से कम १० वर्ष तक भारतीय हाई कोर्ट में वकालत की हो क़ानूनी सदस्य के पद पर नियुक्त किया जा सकता था।

(३) केन्द्रीय कार्यकारिणी के सदस्यों के लिये कोई योग्यता नहीं रक्खी गई। केवल एक ही शर्त थी कि उनमें से कम से कम ३ सदस्य ऐसे हों जिन्होंने भारत में कम से कम १० वर्ष तक सरकारी नौकरी की हो। इस परिवर्तन से इण्डियन सिविल सर्विस के सदस्यों को केन्द्रीय कार्यकारिणी में प्रवेश करने का सुअवसर प्राप्त हो गया। यह व्यवस्था १९४७ तक चलती रही।

(४) केन्द्रीय कार्य-कारिणी में भारतीयों की संख्या एक से बढ़ा कर तीन कर दी गई। १९४१ में जब कार्यकारिणी का विस्तार किया गया तब भारतीय सदस्यों की संख्या में और अधिक वृद्धि की गई।

(५) केन्द्रीय कार्यकारिणी के सदस्यों की नियुक्ति सम्राट् भारत सचिव की सिफ़ारिश पर करता था और इन सदस्यों की कार्य-अवधि ५ वर्ष रक्खी गई थी।

(६) अब कमाण्डर-इन-चीफ़ केन्द्रीय कार्यकारिणी का असाधारण सदस्य न रह गया। इस विधान द्वारा साधारण तथा असाधारण सदस्यों का भेद समाप्त कर दिया गया। अब कमाण्डर-इन-चीफ़ कौंसिल का वाइस प्रेसीडेन्ट भी न रह गया।

(७) इस विधान में गवर्नर-जनरल को अपनी कौंसिल के सदस्यों की परामर्श तथा सहायता से सभी कार्यों के करने का आदेश दिया गया था परन्तु क्रियात्मक रूप में वाइसराय अपने पद तथा स्थिति के कारण सर्वेसर्वा था और कोई भी सदस्य उसका विरोध करने का दुस्साहस नहीं करता था। सम्राट् अपने प्रधान मन्त्री की परामर्श से प्रायः ५ वर्ष के लिये गवर्नर-जनरल को नियुक्त करता था। व्यवस्था, शासन तथा राजस्व सम्बन्धी उसे बहुत बड़े अधिकार दिये गये थे। भारत में शान्ति तथा सुव्यवस्था रखने का पूर्ण उत्तरदायित्व उसी पर रक्खा गया था और सैन्य तथा शासन दोनों पर उसका पूर्ण अधिकार तथा नियंत्रण था। अपनी कार्य-कारिणी के अध्यक्ष के रूप में उसे कौंसिल के सदस्यों में कार्य विभक्त करने तथा कौंसिल के कार्य को समुचित रीति से सम्पादित

करने के लिये नियम बनाने का अधिकार दे दिया गया था। नियुक्तियों का भी उसे विस्तृत अधिकार दिया गया था। कौंसिल के सदस्यों तथा प्रान्तीय गवर्नरों की नियुक्ति प्रायः उसी की सिफ़ारिश पर की जाती थी। केन्द्रीय धारा-सभा की बैठक कराने, समाप्त करने तथा उसे भङ्ग करने का अधिकार गवर्नर जनरल को ही दिया गया था। विशेष परिस्थितियों में वह धारा-सभा की अवधि को बढ़ा भी सकता था। यदि किसी विधेयक अथवा उसकी किसी धारा पर वाद-विवाद करने से देश की शान्ति तथा व्यवस्था के भङ्ग हो जाने की आशङ्का होती तो धारा-सभा के किसी भी सदन में वह उस विधेयक अथवा उसकी धारा पर बहस रुकवा सकता था। वह धारा-सभा में कुछ प्रश्नों के करने का निषेध भी कर सकता था। गवनर-जनरल के राजस्व सम्बन्धी अधिकार अत्यन्त व्यापक थे। धारा-सभा में धन की माँग अथवा कर सम्बन्धी प्रस्ताव उसी की सिफारिश पर रक्खे जा सकते थे। धारा-सभा द्वारा अस्वीकृत अथवा कम की हुई किसी धन-राशि अथवा कर की पूर्ति गवर्नर-जनरल कर सकता था। ब्रिटिश भारत की सुरक्षा, शान्ति तथा हित के लिये वह धारा-सभा द्वारा अस्वीकृत किसी भी विधेयक को क़ानून घोषित कर सकता था। देश की शान्ति तथा सुशासन के लिये उसे अध्यादेश भी पास करने का अधिकार दिया गया था। केन्द्रीय धारा-सभा द्वारा पारित किये हुये किसी भी विधेयक को वह अस्वीकार कर सकता था। सभी विधेयकों पर उसकी स्वीकृति की आवश्यकता पड़ती थी। सम्राट् के प्रतिनिधि के रूप में उसे अपराधियों को क्षमा करने और लोगों को उपाधियाँ तथा मान-पद देने का अधिकार था।

(८) १९१९ के विधान द्वारा केन्द्रीय सरकार का प्रान्तीय सरकार पर नियन्त्रण कम कर दिया गया। यह कमी तीन प्रकार से की गई थी। प्रथम तो सभी विषयों को दो सूचियों में विभक्त कर दिया गया था। एक सूची का नाम केन्द्रीय सूची और दूसरी का प्रान्तीय सूची रक्खा गया था। प्रान्तीय सूची के अन्तर्भूत विषयों पर प्रान्तीय सरकार को शासन करने की पर्याप्त स्वतन्त्रता दे दी गई थी। दूसरे प्रान्तीय राजस्व को केन्द्रीय राजस्व से पृथक् कर दिया गया था और प्रान्तीय सरकारों के पृथक् आय के साधन निश्चित कर दिये गये थे। तीसरे इन प्रान्तीय विषयों पर से जो मन्त्रियों को हस्तान्तरित कर दिये गये थे केन्द्रीय सरकार का नियन्त्रण हटा लिया गया। चूँकि यह मन्त्री प्रान्तीय धारा-सभा के प्रति उत्तरदायी बना दिये गये थे अतएव केवल अत्यन्त विशेष परिस्थितियों में ही गवर्नर-जनरल को मन्त्रियों के कार्यों में हस्तक्षेप करने का आदेश दिया गया। परन्तु प्रान्त के रक्षित विषयों पर केन्द्रीय सरकार का पूर्ववत् नियंत्रण बना रहा।

(९) १९१९ के विधान द्वारा केन्द्र में दो भवनों की धारा-सभा के स्थापित करने की व्यवस्था की गई। निम्नवर मण्डल अथवा प्रथम सदन का नाम लोक-सभा (Legislative Assembly) और उच्चतर मण्डल अथवा द्वितीय सदन का नाम राज्यपरिषद् (Council of States) रक्खा गया। प्रथम सदन लोकतन्त्रात्मक और द्वितीय सदन उच्चतन्त्रात्मक था। यह एक बहुत बड़ा परिवर्तन था। इसके पूर्व इम्पीरियल कौंसिल अर्थात् केन्द्रीय धारा-सभा केवल एक ही सदन की हुआ करती थी। दूसरे सदन की व्यवस्था प्रथम सदन पर नियंत्रण रखने के लिये की गई थी। केन्द्रीय धारा-सभा के आकार में भी वृद्धि कर दी गई। राज्य-परिषद् के सदस्यों की संख्या ६० रक्खी गई जिनमें से ३३ निर्वाचन द्वारा आयेंगे और शेष २७ गवर्नर-जनरल द्वारा निर्वाचित किये जायेंगे। केन्द्रीय लोक-सभा के सदस्यों की संख्या १४५ निर्धारित की गई जिनमें से १०३ निर्वाचन द्वारा आयेंगे और शेष गवर्नर-जनरल द्वारा मनोनीत किये जायेंगे। इन मनोनीत सदस्यों में से २५ सरकारी और शेष ग़ैर-सरकारी रक्खे गये। १०३ निर्वाचित सदस्यों में से ५१ साधारण निर्वाचन क्षेत्रों से, ३२ साम्प्रदायिक निर्वाचन क्षेत्रों से जिनमें से ३० मुसलमानों द्वारा और २ सिक्खों द्वारा और २० विशेष निर्वाचन क्षेत्रों द्वारा। जिनमें से ७ जमींदारों द्वारा,

४ यूरोपियनों द्वारा तथा ५ भारतीय व्यापार मण्डल द्वारा निर्वाचित किये जाते। इस प्रकार केन्द्रीय धारा-सभा के कुल सदस्यों की संख्या २०५ रक्खी गई जब कि इसके पूर्व केवल ६८ थी। दूसरी ध्यान देने योग्य बात यह है कि केन्द्रीय धारा-सभा के दोनों ही सदनों में निर्वाचित सदस्यों का बहुमत रक्खा गया। तीसरी बात ध्यान देने की यह है कि गवर्नर-जनरल केन्द्रीय धारा-सभा में अध्यक्ष का आसन न ग्रहण करेगा और न वह उसका सदस्य ही होगा परन्तु वह उसका अभिन्न अंग अवश्य होगा। चौथी विचारणीय बात यह है कि भिन्न-भिन्न सम्प्रदायों तथा हितों को प्रतिनिधित्व प्रदान करने का प्रयत्न किया गया। इस प्रकार पृथक् साम्प्रदायिक निर्वाचन की व्यवस्था को स्वीकार कर लिया गया।

(१०) केन्द्रीय लोक-सभा की अवधि ३ वर्ष और राज्य-परिषद् की ५ वर्ष रक्खी गई परन्तु गवर्नर-जनरल इन्हें इसके पूर्व भी भङ्ग कर सकता था और इनकी अवधि को बढ़ा भी सकता था।

(११) यद्यपि प्रथम चार वर्षों के लिये लोक-सभा का अध्यक्ष गवर्नर-जनरल द्वारा मनोनीत कर दिया गया था परन्तु इस अवधि के समाप्त हो जाने के उपरान्त लोक-सभा को अपना अध्यक्ष निर्वाचित करने का अधिकार दे दिया गया। परन्तु राज्य परिषद् का अध्यक्ष गवर्नर-जनरल द्वारा मनोनीत किया जाता था और वह कोई सरकारी सदस्य हुआ करता था।

(१२) केन्द्रीय धारा-सभा के दोनों सदनों के सदस्यों को प्रत्यक्ष निर्वाचन पद्धति द्वारा निर्वाचित करने की व्यवस्था की गई। दोनों ही भवनों के मतदाताओं तथा उम्मेदवारों की संख्या अत्यन्त सीमित थी। सम्पत्ति सम्बन्धी योग्यता इतनी ऊँची रक्खी गई थी कि केवल थोड़े ही से व्यक्तियों को मतदान तथा चुनाव लड़ने का अवसर प्राप्त हो सका। स्त्रियाँ मतदान तथा निर्वाचित होने के अधिकार से वंचित थीं।

(१३) केन्द्रीय धारा-सभा के अधिकारों पर अनेक प्रतिबन्ध लगा दिये गये थे। यह पूर्ण प्रभुत्व सम्पन्न धारा-सभा न थी। इसे देश के संविधान में परिवर्तन, सुधार अथवा उसके समाप्त करने का अधिकार न था। यह सब कार्य केवल बृटिश पार्लियामेंट ही कर सकती थी। केन्द्रीय धारा-सभा कोई ऐसा नियम नहीं बना सकती थी जो भारत-सचिव के भारत सरकार के लिये ऋण लिये जाने वाले अधिकारों पर प्रभाव डाले। केन्द्रीय धारा-सभा कोई ऐसा भी क़ानून नहीं बना सकती थी जिसके द्वारा हाईकोर्ट के अतिरिक्त अन्य किसी न्यायलय को यूरोप में उत्पन्न सम्राट् की किसी प्रजा को अथवा उसके बच्चों को मृत्यु-दण्ड देने का अधिकार प्रदान करे। इनके अतिरिक्त अन्य विषय थे जिन पर केन्द्रीय धारा-सभा क़ानून नहीं बना सकती थी। परन्तु बृटिश भारत के अन्तर्गत स्थित सभी व्यक्तियों, वस्तुओं, स्थानों तथा न्यायालयों लिये यह क़ानून बना सकती थी। सम्राट् की सभी प्रजा के लिये केन्द्रीय सूची में रक्खे गये सभी विषयों पर इसे क़ानून बनाने का अधिकार था। सिंचाई, कारख़ानों, मज़दूरों आदि से सम्बन्ध रखने वाले प्रान्तीय सूची में रक्खे गये विषयों पर भी केन्द्रीय धारा-सभा क़ानून बना सकती थी।

(१४) राजस्व के अतिरिक्त अन्य सभी विषयों में केन्द्रीय धारा-सभा के दोनों सदनों को समानाधिकार प्राप्त थे। कोई विधेयक तब तक गवर्नर-जनरल की अन्तिम स्वीकृति के लिये नहीं भेजा जा सकता था जब तक दोनों सदन उसे एक ही रूप में न पास कर दें। सभी विधेयकों पर गवर्नर-जनरल की अन्तिम स्वीकृति प्राप्त करना अनिवार्य था। दोनों सदनों द्वारा पारित किसी भी विधेयक पर गवर्नर-जनरल अपनी स्वीकृति देने से इन्कार कर सकता था अथवा सम्राट् की स्वीकृति के लिये रोक सकता था।

(१५) व्यय की वार्षिक अनुमानित धन-राशि एक ही साथ दोनों सदनों के समक्ष वाद-विवाद के लिये उपस्थित करना पड़ता था परन्तु दातव्य धन-राशि पर मत देने का एक

मात्र अधिकार लोक-सभा को था। स्वीकृति के लिये जो विभिन्न प्रकार की माँगें रक्खी जाती थीं वे राज्य परिषद् में स्वीकृति के लिये उपस्थित नहीं की जाती थीं। एक बात यह याद रखने की है कि बजट के बहुत बड़े अंश पर धारा-सभा को वोट देने का अधिकार नहीं था। गवर्नर-जनरल के वेतन, विदेशी तथा राजनैतिक विभाग पर व्यय की जाने वाली धन-राशि, देश की सुरक्षा पर व्यय किये जाने वाले धन आदि पर लोक-सभा गवर्नर जनरल की पूर्व स्वीकृति लेकर बहस कर सकती थी परन्तु वह उस पर वोट नहीं दे सकती थी। यदि लोक-सभा किसी माँग को अस्वीकार अथवा कम कर देती तो गवर्नर-जनरल उसकी पूर्ति कर सकता था। यदि ऐसा करना उसके कर्तव्यों के पालन करने के लिये आवश्यक होता। इस प्रकार व्यय पर लोक-सभा का कोई वास्तविक तथा प्रभावपूर्ण नियंत्रण न था। लोक-सभा को राजस्व बिल पर वाद विवाद करने तथा मत देने का अधिकार था। लोक सभा में पारित हो जाने पर राजस्व बिल राज्य परिषद् में वाद-विवाद तथा मत दान के लिये भेज दिया जाता था। धारा-सभा राजस्व बिल को अस्वीकार कर सकती थी परन्तु गवर्नर-जनरल अपने विशेषाधिकार से उसे पास कर सकता था। इस प्रकार देश के कोष पर धारा-सभा का कोई नियंत्रण न था।

(१६) १९१९ के विधान द्वारा केन्द्र में उत्तरदायी शासन के स्थापित करने की इच्छा कदापि न थी। अतएव धारा-सभा का कार्य-कारिणी पर कोई नियंत्रण न था। कार्यकारिणी के सदस्य एक निश्चित काल के लिये मनोनीत होते थे और धारा-सभा उन्हें अविश्वास प्रस्ताव पास करके अपदस्थ नहीं कर सकती थी। धारा-सभा के सदस्य केवल प्रश्न कर सकते थे और स्थगित प्रस्ताव पास करके उनके कार्यों की तीव्र आलोचना कर सकते थे तथा प्रस्ताव पास करके किसी विषय की ओर कार्यकारिणी का ध्यान आकृष्ट कर सकते थे। परन्तु इस अधिकार का कोई विशेष महत्व न था। धारा-सभा द्वारा पास किये गये प्रस्तावों की उपेक्षा कार्यकारिणी कर सकती थी। अतएव धारा-सभा का कार्यकारिणी पर कोई नियंत्रण न था। वह केवल उसे प्रभावित कर सकती थी क्योंकि धारा-सभा के निर्वाचित बहु-संख्यक सदस्यों की पूर्ण उपेक्षा कार्यकारिणी कदापि नहीं कर सकती थी।

(१७) केन्द्रीय धारा-सभा के दोनों सदनों के मत-भेद को दूर करने के लिये कई व्यवस्थायें इस विधान में की गई थीं। पहिली व्यवस्था मत-भेद उत्पन्न होने के पूर्व के लिये की गई थी। मत-भेद की आशंका उत्पन्न हो जाने पर विधेयक दोनों भवनों के सदस्यों की संयुक्त समिति (Joint Committee) के पास भेजा जा सकता था। इस प्रकार दोनों सदनों के सदस्यों में विचार विनिमय हो जाने से आगे चल कर मत-भेद उत्पन्न हो जाने की बहुत कम सम्भावना रहती है। दूसरी व्यवस्था यह की गई थी कि मत-भेद उत्पन्न हो जाने पर दोनों सदनों का संयुक्त सम्मेलन (Joint Conference) हो सकता था। इसमें दोनों सदनों के समान संख्या में सदस्य होते थे और विचार-विनिमय द्वारा मत-भेद के दूर करने का प्रयत्न किया जाता था। तीसरी व्यवस्था यह थी कि दोनों सदनों के सदस्यों की संयुक्त बैठक (Joint Sitting) की जा सकती थी। इस बैठक में दोनों सदनों के सभी सदस्य उपस्थित रहते थे। चूँकि लोक-सभा के सदस्यों की संख्या राज्य परिषद् के सदस्यों की संख्या से अधिक होती थी अतएव सम्मिलित बैठक में लोक-सभा का ही निर्णय मान्य हो जाता था। यदि कार्यकारिणी किसी विधि में रुचि लेना आरम्भ कर देती थी तो गवर्नर-जनरल अपने विशेषाधिकार से उसे पास कर सकता था।

प्रान्तीय सरकार में परिवर्तन—१९१९ के विधान द्वारा सबसे अधिक महत्व पूर्ण परिवर्तन प्रान्तीय शासन में किया गया। इस विधान द्वारा प्रान्तों में आंशिक उत्तरदायी शासन की स्थापना की गई। प्रान्तीय शासन व्यवस्था में इस विधान द्वारा निम्न-लिखित परिवर्तन किये गये :—

(१) इस विधान ने प्रान्तों में द्वैध शासन-व्यवस्था (Dyarchy) स्थापित की। इस व्यवस्था में सभी प्रान्तीय विषयों को दो भागों में विभक्त कर दिया गया था। एक का नाम रक्षित और दूसरे का हस्तान्तरित विषय रक्खा गया था। हस्तान्तरित विषयों में स्थानीय स्वराज्य, शिक्षा, स्वास्थ्य तथा सफ़ाई, औद्योगिक उन्नति, कृषि, सहकारी समितियां आदि प्रमुख थे। रक्षित विषयों में भूमि-कर, सिंचाई, जङ्गल, न्याय, पुलिस, जेल, राजस्व, फक्ट्री, मज़दूरों की समस्या आदि प्रमुख थे। हस्तान्तरित विषयों का प्रबन्ध गवर्नर अपने मन्त्रियों की परामर्श से करेगा जो प्रान्तीय धारा-सभा के प्रति उत्तरदायी होंगे और रक्षित विषयों का प्रबन्ध वह अपनी कौंसिल के सदस्यों की परामर्श से करेगा जो उसी के प्रति उत्तरदायी होंगे। प्रान्तीय धारा-सभा का उन पर कोई नियंत्रण नहीं रहेगा। मन्त्रियों की संख्या विधान द्वारा निश्चित नहीं की गई थी परन्तु क्रियात्मक रूप में कुछ प्रान्तों में इनकी संख्या ३ और कुछ में २ रक्खी गई थी। मन्त्रियों की नियुक्ति गवर्नर करता था और वह उन्हें अपदस्थ भी कर सकता था। कोई सरकारी कर्मचारी मन्त्री के पद पर नियुक्त नहीं किया जा सकता था। मन्त्रियों के लिये प्रान्तीत धारा-सभा का सदस्य होना अवश्यक था। कोई ऐसा भी व्यक्ति मन्त्री के पद पर नियुक्त किया जा सकता था जो प्रान्तीय धारा-सभा का सदस्य न हो परन्तु ६ महीने के अन्दर उसे धारा-सभा का सदस्य बन जाना पड़ता था अन्यथा उसे अपने पद से हट जाना पड़ता था। वास्तव में गवर्नर प्रान्तीय धारा-सभा के प्रमुख निर्वाचित व्यक्तियों में से अपने मन्त्रियों को चुनता था। चूँकि मन्त्री प्रान्तीय धारा सभा के प्रति उत्तरदायी थे और उनका वेतन वही निर्धारित करती थी अतएव मन्त्री तभी तक अपने पद पर रह सकते थे जब तक प्रान्तीय धारा-सभा का उनमें विश्वास हो। यद्यपि विधान में यह बतलाया गया था कि मन्त्री गवर्नर की इच्छानुसार अपने पद पर रह सकेंगे परन्तु कोई भी गवर्नर ऐसे मन्त्री को प्रस्थापित रखने का दुस्साहस नहीं कर सकता था जिसने धारा-सभा का विश्वास खो दिया हो। इस प्रकार जहां तक हस्तान्तरित विषयों का सम्बन्ध था प्रान्तों में संसदात्मक सरकार की स्थापना कर दी गई थी। गवर्नर अपने मन्त्रियों की सभी परामर्श को मानने के लिये वाध्य न था। प्रान्त की शान्ति तथा सुव्यवस्था एवं जनता के हित में वह मन्त्रियों की परामर्श को ठुकरा भी सकता था। गवर्नर तथा मन्त्री में मत-भेद उत्पन्न हो जाने पर या तो मन्त्री त्याग-पत्र दे देता था या गवर्नर उसे अपदस्थ कर देता था। यद्यपि विधान निर्माताओं की इच्छा मन्त्रियों में सामूहिक उत्तरदायित्व के उत्पन्न करने की थी परन्तु क्रियात्मक रूप में ऐसा न हो सका।

रक्षित विषयों का प्रबन्ध गवर्नर अपनी कौंसिल के सदस्यों की सहायता से करता था। इनकी संख्या ४ से अधिक नहीं हो सकती थी। तीनों प्रेसीडेन्सियों में इनकी संख्या ४ और शेष प्रान्तों में २ थी। इनमें से आधे गैर-सरकारी भारतीय होते थे और आधे सिविल सर्विस के यूरोपियन होते थे। कौंसिल के सदस्यों की नियुक्ति सम्राट् भारत सचिव की सिफारिश पर पाँच वर्ष के लिये करता था। इनका वेतन विधान द्वारा निश्चित कर दिया गया था। यह लोग धारा-सभा के सदस्य तो बन जाते थे परन्तु यह उसके प्रति उत्तरदायी नहीं होते थे। इनका उत्तरदायित्व भारत सचिव के प्रति होता था। कौंसिल की बैठक में गवर्नर सभापति का आसन ग्रहण करता था और मत-भेद हो जाने पर बहुमत से निर्णय हो जाता था। गवर्नर कौंसिल के बहुमत के निर्णय को भी रद्द कर सकता था यदि वह सोचता कि यह निर्णय गलत है अथवा इससे प्रान्त की सुव्यवस्था के भङ्ग होने की आशंका है अथवा उसके अपने विशेष उत्तरदायित्व पर धक्का लगता है। गवर्नर मन्त्रियों तथा कौंसिल के सदस्यों की सम्मिलित बैठक कर विचार विनिमय करा सकता था। इस प्रकार मन्त्री लोग कौंसिल के सदस्यों के शासन सम्बन्धी अनुभव से लाभ उठा सकते थे और कौंसिल के सदस्य

मन्त्रियों द्वारा लोकमत से अवगत हो सकते थे परन्तु दुर्भाग्यवश ऐसा हो न सका और प्रान्तीय कार्य-कारिणी के दोनों अंगों में सहयोग तथा सद्भावना का सदैव अभाव ही रहा।

(२) १९१९ के विधान द्वारा प्रान्तीय धारा-सभा के संगठन अधिकार तथा कार्यों में अत्यन्त महत्व पूर्ण परिवर्तन किये गये। विभिन्न प्रान्तों में सदस्यों की संख्या विभिन्न रक्खी गई। मुसलमानों तथा सिक्खों को पृथक् निर्वाचन का अधिकार दिया गया। अन्य अल्प-संख्यकों को मनोनीत करके प्रतिनिधित्व प्रदान करने की व्यवस्था की गई। प्रान्तीय धारा-सभा के सदस्यों को तीन श्रेणियों में विभक्त किया गया था। पहिली श्रेणी में गैर-सरकारी निर्वाचित सदस्य थे। इनकी संख्या ७० प्रतिशत से कम नहीं हो सकती थी। दूसरी श्रेणी में मनोनीत सरकारी सदस्य थे जिनकी संख्या अधिक से अधिक २० प्रतिशत हो सकती थी। तीसरी श्रेणी में वह मनोनीत गैर-सरकारी सदस्य आते थे जो उन वर्गों तथा हितों का प्रतिनिधित्व करते थे जिनके प्रतिनिधि अल्प-संख्यक अथवा पिछड़े होने के कारण प्रत्यक्ष निर्वाचन द्वारा नहीं जा पाते थे।

(३) प्रान्तीय धारा-सभा अर्थात् लेजिस्लेटिव कौंसिल की अवधि तीन वर्ष निर्धारित की गई थी परन्तु गवर्नर उसे पहिले भी भंग कर सकता था। विशेष परिस्थितियों में गवर्नर अधिक से अधिक एक वर्ष के लिये उसकी अवधि को बढ़ा सकता था।

(४) गवर्नर लेजिस्लेटिव कौंसिल का सदस्य न रह गया परन्तु वह उसमें भाषण दे सकता था। प्रथम चार वर्षों के लिये गवर्नर ने ही उसके अध्यक्ष को नियुक्त कर दिया। तदुपरान्त वह अपने सदस्यों में से किसी को स्वयम् निर्वाचित कर सकती थी।

(५) प्रान्तीय धारा-सभा को प्रान्त की शान्ति तथा सुशासन के लिये प्रान्तीय सूची के सभी विषयों पर क़ानून बनाने का अधिकार था। कुछ विषयों पर बिना गवर्नर-जनरल की पूर्व स्वीकृति प्राप्त किये विधेयक लेजिस्लेटिव कौंसिल के समक्ष उपस्थित नहीं किये जा सकते थे। इसके द्वारा पास किये हुये प्रत्येक विधेयक पर गवर्नर की अन्तिम स्वीकृति की आवश्यकता पड़ती थी। गवर्नर किसी भी विधेयक पर अपनी स्वीकृति देने से इन्कार कर सकता था और प्रान्तीय धारा-सभा में उस पर पुनर्विचार के लिये भेज सकता था। धारा-सभा द्वारा पास किये हुये तथा गवर्नर की स्वीकृति प्राप्त किये हुये विधेयक तब तक क़ानून नहीं बनते थे जब तक गवर्नर-जनरल उन पर अपनी अन्तिम स्वीकृति न प्रदान कर दे। प्रान्तीय धारा सभाओं को प्रस्ताव तथा स्थगित प्रस्ताव के पास करने, प्रश्न करने तथा माँग को स्वीकार करने का अधिकार था परन्तु उनका नियंत्रण केवल हस्तान्तरित विषयों पर था रक्षित विषयों पर नहीं। रक्षित विषयों से सम्बन्ध रखने वाले यदि किसी विधेयक को प्रान्तीय धारा-सभा अस्वीकार कर देती तो गवर्नर उसे अपने विशेषाधिकार से पास कर सकता था परन्तु हस्तान्तरित विषयों में उसे कोई इस प्रकार का अधिकार नहीं प्राप्त था। अपने विशेषाधिकार से पास किये हुये विधेयक को गवर्नर-जनरल तथा भारत-सचिव के पास भेज देना पड़ता था। भारत-सचिव उसे पार्लियामेण्ट के दोनों भवनों के समक्ष उपस्थित करता था। इसके बाद वह सम्राट् की स्वीकृति के लिये भेज दिया जाता था। गवर्नर किसी विधेयक पर वाद-विवाद बन्द करा सकता था यदि उसे ऐसी आशङ्का हो कि इस प्रकार के वाद-विवाद से प्रान्त की शान्ति तथा व्यवस्था भङ्ग हो जायगी। वार्षिक व्यय का ब्यौरा गवर्नर उपस्थित करता था। कुछ व्यय ऐसा था जिन पर प्रान्तीय धारा-सभा को मत देने का अधिकार न था। यदि रक्षित विषयों के व्यय में धारा-सभा किसी प्रकार की कमी कर देती अथवा उसको इन्कार कर देती तो गवर्नर अपने विशेषाधिकार से उसकी पूर्ति कर सकता था परन्तु हस्तान्तरित विषयों में वह ऐसा नहीं

कर सकता था। प्रान्त की शान्ति तथा सुव्यवस्था के लिये वह रक्षित अथवा हस्तान्तरित किसी भी विषय पर कितना ही धन व्यय करने की आज्ञा दे सकता था।

१९१९ के विधान का क्रियात्मक स्वरूप—१९१९ के विधान की रूपरेखा से अवगत हो जाने के उपरान्त उसके क्रियात्मक स्वरूप का परिचय प्राप्त कर लेना आवश्यक है। इसमें सन्देह नहीं कि हमारे देश के वैधानिक विकास के इतिहास में १९१९ के संविधान का अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान है। यह प्रथम विधान था जिसके द्वारा हमारे देश में उत्तरदायी शासन के स्थापित करने की व्यवस्था की गई थी। इस बात को भी स्वीकार करना पड़ेगा कि प्रजातन्त्रात्मक व्यवस्था का विकास क्रमागत ही शनैः शनैः हो सकता है क्योंकि जनता को इस व्यवस्था के योग्य बनाने के लिये पर्याप्त शिक्षा की आवश्यकता पड़ती है। यह शिक्षा कालान्तर में ही क्रमशः अभ्यास द्वारा ही दी जा सकती है। इसी दृष्टिकोण से १९१९ के विधान के निर्माताओं ने प्रान्तों में आंशिक उत्तरदायी शासन की व्यवस्था करके इस देश में उत्तरदायी शासन का सूत्रपात किया था। अतएव १९१९ के विधान की क्रियात्मक सफलता पर आशङ्का करने के लिये कोई विशेष स्थान न था परन्तु दुर्भाग्यवश इस विधान का निर्माण तथा प्रयोग ऐसे समय पर किया गया जब परिस्थितियाँ इसके अनुकूल न थी। यह ऐसा समय था जब भारतवासी राष्ट्रीयता की भावना से ओत-प्रोत थे और पूर्ण स्वायत्त शासन के लिये अत्यन्त व्यग्र तथा आतुर हो रहे थे। उनके भावी भाग्य का निर्णय विदेशी पार्लियामेंट करे यह उनके लिये असह्य हो रहा था। इसका परिणाम यह हुआ कि इस विधान का भारतीय जनता ने स्वागत नहीं किया और क्रियात्मक रूप में इसे सफल बनाने का उसमें बिलकुल उत्साह अथवा चेष्टा न थी। १९१९ के विधान का प्रयोग ऐसे समय आरम्भ किया गया था जब कांग्रेस का संचालन उग्र दल वालों के हाथ में चला गया था जो इस विधान के घोर विरोधी थे। अतएव यह पहले से ही ज्ञात था कि वे इसे असफल बनाने का प्रयत्न करेंगे। पञ्जाब की दुर्घटनाओं ने वायुमण्डल को अत्यन्त दूषित बना दिया। खिलाफ़त आन्दोलन भी इन दिनों जोरों पर था। इन्हीं दिनों महात्मा जी ने अपना असहयोग आन्दोलन भी आरम्भ कर दिया और धारा-सभाओं के बहिष्कार का निश्चय किया गया। इस वायुमण्डल में सद्भावना तथा सहयोग के लिये कोई स्थान न रह गया और चारों ओर कटुता, अविश्वास तथा असहयोग का वातावरण उपस्थित हो गया। ऐसी स्थिति में १९१९ के विधान का असफल हो जाना अवश्यम्भावी था। कांग्रेस ने जो देश की सबसे बड़ी राजनैतिक संस्था थी धारा-सभा के चुनावों का बहिष्कार किया। जिन लोगों ने धारा-सभाओं में प्रवेश किया और जिन थोड़े से व्यक्तियों ने मन्त्रियों के पद को ग्रहण किया उनकी स्थिति बड़ी ही गम्भीर थी। देशवासियों में उच्चकोटि की उत्तेजना उत्पन्न हो गई थी और लोकमत के विरुद्ध जिन लोगों ने विधान को सफल बनाने का प्रयत्न किया वे जनता के कोपभाजन तथा घृणा के पात्र बन गये। इससे सुधारवादियों का उत्साह ध्वस्त हो गया। इस प्रकार परिस्थितियाँ सुधार के सर्वथा प्रतिकूल थीं। उस समय स्थिति अत्यन्त शोचनीय हो गई जब भारत सचिव माण्टेग्यू महोदय अपने पद से अलग हो गये और उनके स्थान पर अनुदार दलीय मन्त्री ने भारत-सचिव के पद को ग्रहण किया। माण्टेग्यू महोदय बड़े ही उदार विचार के तथा भारतीयों के शुभचिन्तक थे। अतएव जब तक वे अपने पद पर विद्यमान् थे तब तक सद्भावना तथा सहयोग के साथ कार्य चलता रहा और उनके अपदस्थ होते ही सम्पूर्ण वातावरण ही बदल गया। टोरी दल वालों ने जिनका उस समय ब्रिटिश सरकार में प्राबल्य था दृढ़ नीति के अनुसरण करने का निश्चय कर लिया और यह आदेश दिया कि सुधारों को इस प्रकार कार्यान्वित किया जाय जिससे भारतीयों को अधिकाधिक स्वायत्त शासन के स्थान पर न्यूनतम स्वायत्त

शासन प्राप्त हो। इस नीति का परिणाम यह हुआ कि मन्त्रियों को बड़ी निराशा उत्पन्न हुई और उन्होंने त्याग-पत्र देना आरम्भ कर दिया। सर्व-प्रथम अप्रैल १९२२ में सर तेज बहादुर सप्रू ने त्याग पत्र दे दिया। श्री सी० वाई० चिन्तामणि तथा पं० जगत नारायण मुल्ला ने मई १९२३ में त्याग-पत्र दे दिया। न केवल प्रान्तों में वरन् केन्द्र में स्थिति बड़ी ही चिन्ताजनक हो गई थी। भारत-सरकार केन्द्रीय लोक-सभा की पूर्ण रूप से उपेक्षा करने लगी। इस प्रकार अनुत्तरदायी कार्यकारिणी ने विधान के उद्देश्यों का समाप्त करना आरम्भ किया। संयोगवश १९२३ के चुनाव के फल-स्वरूप स्वराज्य दल वालों का धारा-सभाओं में प्रवेश हुआ। वे अड़ंगे की नीति का अनुसरण करने के लिये दृढ़-संकल्प थे और प्रत्येक बात में सरकार का विरोध करने के लिये उद्यत थे। इस प्रकार अनुदार दलीय सरकार तथा स्वराज्य दल ने १९१९ के विधान को ध्वस्त कर दिया और वह क्रियात्मक रूप में सर्वथा असफल रहा।

द्वैध शासन की असफलता के कारण—प्रान्तों में द्वैध शासन का सूत्र-पात १९१९ के विधान द्वारा किया गया था और १९३७ तक इसका अस्तित्व बना रहा परन्तु यह योजना पूर्ण रूप से असफल सिद्ध हुई। इसकी असफलता के निम्न-लिखित कारण थे :—

(१) सिद्धान्तः गलत योजना—द्वैध शासन की असफलता का सबसे बड़ा कारण यह था कि सिद्धान्तः यह योजना गलत थी। शासन का दो ऐसे विभागों में विभाजन करना जो एक दूसरे से पूर्ण स्वतन्त्र तथा पृथक् हों राजनैतिक सिद्धान्त तथा सरकार के क्रियात्मक स्वरूप के विरुद्ध है। यह योजना सिद्धान्तः इसलिये गलत थी कि यह इस कल्पना पर आधारित थी कि सरकार के विभिन्न विभागों को दो वर्गों में विभक्त करना सम्भव है और इनका शासन दो विभिन्न कर्मचारियों को दिया जा सकता है जो दो विभिन्न शक्तियों के प्रति उत्तरदायी हों। यह कल्पना इस तथ्य के विरुद्ध पड़ती है कि सरकार के विभिन्न विभागों में अविच्छिन्न सम्बन्ध है और उन्हें एक दूसरे से पूर्णतया अलग नहीं किया जा सकता। प्रान्तीय विषयों का रक्षित तथा हस्तान्तरित इन दो वर्गों में विभक्त करना ही अविवेकपूर्ण था क्योंकि रक्षित वर्ग सरकारी तथा अनिर्वाचित था और हस्तान्तरित वर्ग लोकतन्त्रीय तथा निर्वाचित था। इस व्यवस्था की दुर्बलता इसी से स्पष्ट है कि एक वर्ग में उत्तरदायी और दूसरे में अनुत्तरदायी शासन का विधान किया गया था।

(२) विषयों का अवैज्ञानिक विभाजन—द्वैध शासन की विफलता का दूसरा कारण यह था कि प्रान्तीय विषयों का जो विभाजन रक्षित तथा हस्तान्तरित इन दो वर्गों में किया गया था वह अवैज्ञानिक था। यह विभाजन इस प्रकार किया गया था कि हस्तान्तरित वर्ग का कोई भी विभाग पूर्ण रूप से उनके नियन्त्रण में न था। इस प्रकार कृषि विभाग के मन्त्री का सिंचाई से कुछ सम्बन्ध न था और उस पर उसका कोई नियं-त्रण न था। उद्योग मन्त्री का फैक्ट्रियों से कोई सम्बन्ध न था और शिक्षा मन्त्री का यूरो-पियनों तथा ऐंग्लो इण्डियनों की शिक्षा से कोई सम्बन्ध न था। इस प्रकार कार्यों का विभाजन इस प्रकार किया गया था कि मन्त्री लोग स्वतन्त्रतापूर्वक अपने विभाग का प्रबन्ध नहीं कर सकते थे। हस्तान्तरित विभागों को रक्षित विभागों पर निर्भर तथा आश्रित रहना पड़ता था। यह द्वैध शासन की सबसे बड़ी कुव्यवस्था थी और उसकी असफलता बहुत बड़े अंश में इसी कुव्यवस्था के कारण हुई।

(३) गवर्नर का अत्यधिक हस्तक्षेप—द्वैध शासन की असफलता का एक बहुत बड़ा कारण यह भी था कि गवर्नरों ने उदारता तथा सद्भावना एवं सहयोग से कार्य करने के स्थान पर मन्त्रियों के कार्यों में अत्यधिक हस्तक्षेप करना आरम्भ कर दिया। यद्यपि

यह सत्य है कि १६१६ के विधान का लक्ष्य प्रान्तीय गवर्नर को पूर्णरूप से वैधानिक प्रधान बनाने का न था और वह अपने मन्त्रियों के निर्णय को स्वीकार करने के लिये बाध्य न था वरन् उसे उन पर नियन्त्रण रखने का अधिकार दिया गया था और वह उनके प्रस्तावों को प्रान्त के हित में अस्वीकार कर सकता था परन्तु विधान के विधायकों का यह मन्तव्य था कि गवर्नर अधिकाधिक अपने मन्त्रियों की इच्छा की पूर्ति करेंगे और यथा-सम्भव उनकी नीति का समर्थन करेंगे तथा उनको प्रोत्साहन देंगे परन्तु दुर्भाग्यवश ऐसा न हो सका। माण्टेग्यू महोदय के अपदस्थ होते ही गवर्नरों का व्यवहार बदल गया और मन्त्रियों के कार्यों में उनका हस्तक्षेप उत्तरोत्तर बढ़ता ही गया। गवर्नरों ने अपने मन्त्रियों की उपेक्षा करनी आरम्भ की और इनके निर्णय के विरुद्ध कार्य करने लगे। गवर्नरों ने तीन साधनों से शक्ति को अपने हाथों में केन्द्रीभूत करने का प्रयत्न किया। पहिला साधन यह था कि संविधान ने कार्य की सुगमता के लिये आवश्यक आज्ञायें निकालने तथा नियम बनाने का गवर्नर को अधिकार दिया था। गवर्नरों ने अपने इस अधिकार का दुरुपयोग करना आरम्भ किया और इस प्रकार की आज्ञायें निकालना तथा नियम बनाना आरम्भ किया जिससे शक्ति उन्हीं के हाथों में केन्द्रीभूत हो जाय। गवर्नरों ने शक्ति को अपने हाथों में केन्द्रीभूत करने के लिये दूसरा उपाय यह निकाला कि अपने मन्त्रियों की सामूहिक परामर्श लेने के स्थान पर वह उनकी पृथक् परामर्श लेने लगे। इससे मन्त्रियों में मतभेद हो जाने पर वे अत्यन्त सरलता से उनकी परामर्श को अस्वीकार कर सकते थे। शक्ति के अपने हाथों में केन्द्रीभूत करने की तीसरी विधि गवर्नरों ने यह निकाली कि कुछ गवर्नरों ने इस सिद्धान्त का प्रतिपादन करना आरम्भ किया कि मन्त्री उनके केवल परामर्शदाता मात्र हैं और वे उनकी परामर्श को मानने अथवा न मानने के लिये स्वतन्त्र थे। इस प्रकार मन्त्रियों की इच्छा की गवर्नरों द्वारा निरन्तर उपेक्षा होने लगी और उनके कार्यों में निरर्थक हस्तक्षेप होने लगा। ऐसी स्थिति में सहयोग तथा सद्भावना का सदैव अभाव रहता था जिसके बिना द्वैध शासन व्यवस्था का सफल होना असम्भव था।

(४) मन्त्रियों तथा कौंसिल के सदस्यों में असहयोग—द्वैध शासन की असफलता का एक यह भी कारण था कि मन्त्रियों तथा गवर्नरों की कौंसिल के सदस्यों में सद्भावना तथा सहयोग का सर्वथा अभाव था। गवर्नरों को यह आदेश दिया गया था कि वे अपनी, अपने मन्त्रियों तथा अपनी कौंसिल के सदस्यों की सम्मिलित बैठक करके विचार-विनिमय की व्यवस्था करें क्योंकि ऐसी व्यवस्था करने से मन्त्री लोग कौंसिल के सदस्यों के अनुभव तथा ज्ञान से लाभ उठा सकते थे और कौंसिल के सदस्य मन्त्रियों के माध्यम से लोकमत से अवगत हो सकते थे। परन्तु दुर्भाग्यवश गवर्नरों ने इस आदेश की सर्वथा उपेक्षा की और दोनों वर्गों में सहयोग तथा सद्भावना उत्पन्न कराने का प्रयास न किया गया। यद्यपि कौंसिल के सदस्य मन्त्रियों का धारा-सभा में अपने अनुयायियों पर जो प्रभाव रहता था उससे लाभ उठाने को उद्यत थे परन्तु मन्त्रियों पर वे विश्वास नहीं करते थे और महत्वपूर्ण विषयों में उनकी परामर्श लेने के लिये उद्यत न थे। ऐसी स्थिति में मन्त्रियों को रक्षित विषयों के शासन को प्रभावित करने का अवसर नहीं मिलता था परन्तु उनसे यह आशा की जाती थी कि कौंसिल के सदस्यों द्वारा उपस्थित किये गये प्रस्तावों का वे धारा-सभा में समर्थन करेंगे। मन्त्रियों की स्थिति बड़ी ही गम्भीर हो जाती थी। यदि वे इन प्रस्तावों का समर्थन करते तो वे जनता के विश्वास-पात्र न रह जाते और उन पर यह आरोप लगाया जा सकता था कि पद-ग्रहण करने के उपरान्त वे सिद्धान्तों को त्याग कर सरकार से मिल गये हैं और यदि वे विरोध करते तो कौंसिल के सदस्यों के साथ उनका संघर्ष और भयानक हो जाता। इस प्रकार मन्त्रियों की दशा बड़ी ही दयनीय थी। वास्तव में द्वैध व्यवस्था इस प्रकार की थी कि दोनों वर्गों में

सहयोग होना सम्भव ही न था। मन्त्री लोग प्रजा के प्रतिनिधि होते थे और कौंसिल के सदस्य सरकार के समर्थक होते थे। अतएव इनका एक साथ चलना सम्भव न था। उनमें निरन्तर संघर्ष चला करता था और वे एक दूसरे पर दोषारोपण किया करते थे। इससे शासन की गति में अवरोध पड़ता था। गवर्नर इस संघर्ष में कौंसिल के सदस्यों का ही पक्ष लेता था।

(५) सरकारी नौकरियों की समस्या—द्वैध शासन व्यवस्था की सफलता में सरकारी नौकरियाँ भी कुछ कम बाधक न सिद्ध हुईं। गवर्नरों को यह आदेश दिया गया था कि वे सरकारी नौकरियों को संरक्षण प्रदान करें जिससे वे अपने स्वीकृत अधिकारों का उपभोग कर सकें। इसका गवर्नरों ने यह अर्थ लगाना आरम्भ किया कि हस्तान्तरित विभाग में कार्य करने वालों का स्थानान्तरण, तरक्की आदि का अधिकार उन्हीं को है। १९२२ के पूर्व प्रान्तीय नौकरियों के विभिन्न पदों पर गवर्नर अपनी कौंसिल के सदस्यों के बहुमत की परामर्श से नियुक्त किया करता था। कालान्तर में वह स्वयम् नियुक्ति करने लगा और अपनी कौंसिल के सदस्यों को केवल सूचित कर दिया करता था। इससे गवर्नर की शक्ति बहुत बढ़ गई। यद्यपि भारत-सचिव का नियन्त्रण इन गवर्नरों पर कम कर दिया गया था परन्तु गवर्नरों की प्रान्तीय धारा-सभा के प्रति उत्तरदायित्व में कोई वृद्धि न की गई। अतएव यद्यपि द्वैध शासन व्यवस्था उत्तरदायी सरकार स्थापित करने के लिये आरम्भ की गई थी परन्तु वास्तव में उसने गवर्नरों को पहिले से भी अधिक अनुत्तरदायी बना दिया।

(६) अधीनस्थ कर्मचारियों पर मन्त्रियों के नियन्त्रण का अभाव—द्वैध शासन व्यवस्था की असफलता का एक यह भी कारण था कि हस्तान्तरित विभागों में भी जो पदाधिकारी कार्य करते थे उन पर भी मन्त्रियों का नियन्त्रण नहीं रहता था। इन पदाधिकारियों की नियुक्ति, वेतन, उन्नति, स्थानान्तरण, मुअत्तली तथा अपदस्थ करना सब कुछ भारत-सचिव के नियन्त्रण में था। अतएव वे मन्त्रियों की बिलकुल चिन्ता नहीं करते थे। यदि मन्त्रियों को हस्तान्तरित किये गये विभाग में कोई स्थान रिक्त हो जाता था तो मन्त्री इसकी पूर्ति नहीं कर सकता था। यदि उनके विभाग में कुछ निरर्थक स्थान होते तो मन्त्री उन्हें समाप्त भी नहीं कर सकता था। मन्त्रियों तथा उनके अधीनस्थ पदाधिकारियों में यदि किसी प्रकार का विरोध उत्पन्न हो जाता था तो यही आशा की जाती थी कि गवर्नर मन्त्रियों के विरुद्ध पदाधिकारियों का पक्ष लेगा। वह व्यवस्था कदापि सफलीभूत नहीं हो सकती जिसमें अध्यक्ष का अपने अधीनस्थ कर्मचारियों पर पूर्ण नियन्त्रण न हो। इस व्यवस्था में अनुशासनहीनता की सदैव सम्भावना बनी रहती है।

(७) मन्त्रियों में सामूहिक उत्तरदायित्व का अभाव—द्वैध शासन की असफलता का एक बहुत बड़ा कारण यह भी था कि अपने स्वार्थ में गवर्नर मन्त्रियों में सामूहिक उत्तरदायित्व के उत्पन्न करने का बिलकुल प्रयत्न नहीं करते थे। मन्त्री लोग मिल जुल कर कार्य नहीं करते थे और प्रायः आपस में लड़ा करते थे। इस संघर्ष से गवर्नर लोग अधिकाधिक लाभ उठाने का प्रयत्न करते थे। वे प्रत्येक मन्त्री से अलग अलग सम्बन्ध रखते थे। किसी मन्त्री के त्याग-पत्र अथवा अपदस्थ हो जाने का प्रभाव अन्य मन्त्रियों पर बिलकुल नहीं पड़ता था। मन्त्रियों के इस संघर्ष का एक बहुत बड़ा कारण यह था कि सभी मन्त्री एक ही दल अथवा वर्ग के नहीं होते थे। अतएव उनकी नीति में एकता तथा साम्य नहीं रहता था। प्रायः यह मन्त्री विरोधी दलों के हुआ करते थे और खुल्लमखुल्ला एक दूसरे की आलोचना तथा एक दूसरे पर प्रहार किया करते थे। इस स्थिति में सामूहिक उत्तरदायित्व का प्रश्न ही नहीं आता था।

(८) मन्त्रियों के उत्तरदायित्व का अभाव—द्वैध शासन व्यवस्था के असफल हो जाने का एक बहुत बड़ा कारण यह था कि प्रान्तीय धारा-सभा का संगठन इस प्रकार का था कि उसमें मन्त्रियों के वास्तविक उत्तरदायित्व का होना असम्भव था। मन्त्रियों के उत्तरदायित्व का तात्पर्य यह होता है कि मन्त्री तभी तक अपने पद पर आसीन रह सके जब तक धारा-सभा के निर्वाचित सदस्यों का उनमें विश्वास हो और धारा-सभा के इन निर्वाचित सदस्यों को मन्त्रियों के कार्यों के निरीक्षण तथा उन कार्यों के अनुमोदन अथवा खण्डन करने का पूर्ण अवसर प्राप्त होना चाहिये। उन दिनों प्रान्तीय धारा-सभा की जो व्यवस्था थी उसमें यह सब सम्भव न था।

प्रान्तीय धारा-सभा के सभी सदस्य निर्वाचित नहीं होते थे। इनमें से बहुत से सरकारी तथा मनोनीत ग़ैर-सरकारी सदस्य होते थे जिनकी संख्या कुल सदस्यों की संख्या की लगभग ३० प्रतिशत थी। कुछ निर्वाचित सदस्य विशेष हितों के प्रतिनिधि होते थे और प्रायः गवर्नमेण्ट के साथ ही वोट दिया करते थे। इस प्रकार यदि किसी मन्त्री को थोड़े से निर्वाचित सदस्यों का बहुमत प्राप्त होता तो निर्वाचित सदस्यों के बहुमत की सहायता न प्राप्त होने पर गवनर सरकारी तथा मनोनीत सदस्यों की सहायता से उसे मन्त्री के पद पर रख सकता था। मन्त्रियों के उत्तरदायित्व का तात्पर्य था धारा-सभा के कुल सदस्यों के प्रति उत्तरदायित्व न कि केवल निर्वाचित सदस्यों के प्रति। चूँकि उन दिनों राजनैतिक दलों का समुचित संगठन नहीं हो सका था और कुछ वर्गों तथा हितों को पृथक् प्रतिनिधित्व प्रदान किया गया था अतएव कोई भी मन्त्री बिना सरकारी सदस्यों की सहायता के अपने पद पर नहीं रह सकता था। इस प्रकार मन्त्री लोग सरकार के एक अंग से बन गये और प्रजा के प्रतिनिधियों के प्रति उनका उत्तरदायित्व न रह सका। मन्त्रियों की स्थिति धारा-सभा में इस प्रकार की थी कि पदस्थ रहने के लिये उन्हें विवश होकर गवर्नर की शरण में जाना पड़ता था और सरकारी तथा मनोनीत सदस्यों के साथ गठबन्धन करना पड़ता था।

(९) मन्त्रियों की आर्थिक कठिनाइयाँ—द्वैध शासन व्यवस्था की असफलता का एक यह भी कारण था कि मन्त्रियों को निरन्तर आर्थिक कठिनाइयों का सामना करना पड़ता था। अर्थ विभाग कार्यकारिणी कौंसिल के एक सदस्य के हाथ में था। यद्यपि राष्ट्र-निर्माण के सभी कार्य मन्त्रियों को हस्तान्तरित कर दिये गये थे परन्तु इसके लिये धन देने की समुचित व्यवस्था नहीं की गई थी। इसका परिणाम यह होता था कि मन्त्रियों को अर्थ-सचिव का मुँह ताकना पड़ता था परन्तु अर्थ सचिव का मन्त्रियों के साथ कोई सहानुभूति न रहती थी और वह हस्तान्तरित विभाग की उतनी चिन्ता नहीं करता था जितनी रक्षित विभाग की।

(१०) प्रतिकूल वातावरण—द्वैध शासन की सफलता का एक बहुत बड़ा कारण यह भी था कि उस समय का वातावरण इसके अनुकूल न था। पञ्जाब की दुर्घटनाओं तथा खिलाफत आन्दोलन ने अविश्वास तथा कटुता का वातावरण उपस्थित कर दिया था। अकाल तथा सस्ती ने आर्थिक दशा पर बड़ा आघात पहुँचाया। केन्द्रीय तथा प्रान्तीय दोनों सरकारों के समक्ष आर्थिक संकट आ खड़ा हुआ। ऐसी दशा में द्वैध शासन का सफल होना असम्भव था। भारतीय जनता भी सुधारों के सफल बनाने के लिये उत्सुक न थी। इन्हीं सब कारणों से द्वैध शासन व्यवस्था प्रान्तों में असफल हो गई।

१९३५ के संविधान के पूर्व की घटनायें—१९१९ के विधान से भारतीयों को बिलकुल सन्तोष न हुआ। इसका सबसे बड़ा कारण यह था कि भारतीयों को यह आशा थी कि उनके देश में पूर्ण रूप से उत्तरदायी सरकार की स्थापना हो जायगी

और कार्यकारिणी धारा-सभा के प्रति पूर्ण रूप से उत्तरदायी बना दी जायगी। केन्द्र में उनकी यह आशा एक दुराशा मात्र सिद्ध हुई क्योंकि केन्द्र में लेशमात्र उत्तरदायी शासन की स्थापना न की गई और केन्द्रीय धारा-सभा का केन्द्रीय कार्यकारिणी पर कोई नियंत्रण न रक्खा गया और गवर्नर-जनरल तथा उसकी कौंसिल पूर्ववत् स्वेच्छाचारी शासन करते रहे। यद्यपि प्रान्तों में उत्तरदायी शासन का सूत्रपात किया गया था परन्तु यह उत्तरदायित्व केवल आंशिक था। जो कुछ अधिकार हस्तान्तरित किये गये थे उन पर भी अनेक प्रकार के प्रतिबन्ध लगाये गये थे जिससे मन्त्रियों को पूर्ण कार्य-स्वतन्त्रता न थी और उन्हें विवश होकर गवर्नर तथा उसके गुट से गठबन्धन करना पड़ता था। सभी विषयों में अन्तिम निर्णय सरकार के हाथ में था। अतएव धारा-सभायें आलोचना के अतिरिक्त और कुछ न कर पाती थीं। इसका परिणाम यह हुआ कि आरम्भ से ही भारतीयों ने इस विधान का विरोध करना आरम्भ किया और यह माँग उपस्थित की कि कार्यकारिणी पूर्ण रूप से धारा-सभा के प्रति उत्तरदायी बना दी जाय। अब १९१९ तथा १९३५ के विधानों के अन्तर्कालीन घटनाओं का उल्लेख कर देना आवश्यक है :—

(१) लेजिस्लेटिव असेम्बली का प्रस्ताव—१९२१ में केन्द्रीय लेजिस्लेटिव असेम्बली ने यह प्रस्ताव पास किया कि प्रान्तीय कौंसिलों में पूर्ण रूप से उत्तरदायी सरकार स्थापित कर दी जाय और भारतीय सविधान में संशोधन किया जाय।

(२) मुडीमैन कमेटी—१९२४ में मुडीमैन की अध्यक्षता में मुडीमैन कमेटी की स्थापना की गई। इस कमेटी ने द्वैध शासन व्यवस्था को दोषपूर्ण तथा असफल घोषित किया और अपनी रिपोर्ट में यह सुझाव दिया कि द्वैध शासन व्यवस्था में सुधार होना चाहिये। कमेटी के अल्पमत का यह कहना था कि द्वैध शासन व्यवस्था का चलाना ही असम्भव है।

(३) साइमन कमीशन—१९१९ के विधान में दस वर्ष के उपरान्त एक शाही कमीशन की नियुक्ति का आयोजन किया गया था जो भारत जाकर १९१९ के विधान की क्रियात्मक सफलता तथा विफलता का अन्वेषण करता और संविधान में परिवर्तन के सुझाव रखता। निश्चित समय के दो वर्ष पूर्व ही १९२७ ई० में संविधान के क्रियात्मक रूप पर रिपोर्ट देने के लिये सर जान साइमन की अध्यक्षता में एक कमीशन भारत भेजा गया। चूँकि इस कमीशन के सभी सदस्य अंग्रेज थे अतएव इसे ह्वाइट कमीशन भी कहते हैं। चूँकि भारतीयों ने इसका घोर विरोध किया अतएव इस कमीशन की रिपोर्ट से कोई लाभ न हुआ।

(४) नेहरू रिपोर्ट—सरकार ने भारतीय राजनीतिज्ञों को यह चुनौती दी थी कि वे मिल कर ऐसा संविधान बनाये जो सभी दलों के लिये मान्य हो। भारतीय नेताओं ने सरकार की इस चुनौती को स्वीकार कर लिया और १९२६ में सभी दलों की सम्मति से एक रिपोर्ट तैयार की गई जो नेहरू रिपोर्ट के नाम से प्रसिद्ध है परन्तु सरकार ने इसे स्वीकार नहीं किया।

(५) प्रथम गोलमेज सभा—भारतीयों के असन्तोष में उत्तरोत्तर वृद्धि होती गई। इसी समय इङ्गलैण्ड की राजनीति में बहुत बड़ा परिवर्तन हो गया। वहाँ पर अनुदार दल अपदस्थ हो गया और उसके स्थान पर मजदूर दल की सरकार बन गई। इस दल की भारतीयों के साथ सदैव सहानुभूति रही है। पद ग्रहण करते ही इस दल ने भारतीय समस्या के सुलझाने का प्रयत्न आरम्भ किया और भारतीयों से विचार-विनिमय करने के लिये लन्दन में एक गोलमेज़ सम्मेलन का आयोजन किया। यह सम्मेलन १२ नवम्बर १९३० से जनवरी १९३१ तक चलता रहा। चूँकि सम्मेलन को बुलाते समय यह घोषणा नहीं की गई थी कि भारत को स्वतन्त्र उपनिवेश बना दिया जायगा अतएव कांग्रेस ने

इस सम्मेलन का बहिष्कार किया और देशव्यापी आन्दोलन आरम्भ किया। प्रथम गोल-मेज सभा में १३ प्रतिनिधि देशी राज्यों के और ५७ प्रतिनिधि बृटिश भारत के सम्मिलित हुये। इस सम्मेलन में यह निर्णय हो पाया कि भारत में संघ शासन व्यवस्था की स्थापना की जाय और विशेष प्रतिबन्धों के साथ केन्द्र में उत्तरदायी शासन की स्थापना की जाय।

(६) दूसरी गोलमेज सभा—प्रथम गोलमेज सभा के समाप्त हो जाने के उपरान्त श्री जयकर तथा सर तेज बहादुर सप्रू ने कांग्रेस तथा सरकार में समझौता कराने का अथक प्रयत्न किया। इस प्रयत्न के फल-स्वरूप गांधी जी तथा लार्ड इरविन में एक समझौता हो गया जो गांधी-इरविन समझौता के नाम से प्रसिद्ध है। इस समझौते द्वारा सभी सत्याग्रही कारागार से मुक्त कर दिये गये और गांधी जी ने द्वितीय गोल-मेज सभा में भाग लेने का निश्चय किया। ७ सितम्बर १९३१ से १८ दिसम्बर १९३१ तक गोलमेज सभा का दूसरा सम्मेलन हुआ। इस समय इङ्गलैण्ड की राजनीति ने फिर पलटा खाया। आर्थिक समस्या को सुलझाने में मजदूर सरकार सफल न हो सकी। अतएव उसे त्याग-पत्र दे देना पड़ा और उसके स्थान पर संयुक्त मन्त्रिमण्डल का निर्माण हुआ परन्तु मजदूर दल के नेता रामजे मैकडानल्ड पूर्ववत् प्रधान-मन्त्री के पद पर आसीन रहें परन्तु मन्त्रिमण्डल में बहुमत अनुदार दल वालों का ही था। भारत-सचिव के पद पर अनुदारदलीय सदस्य सर सैमुअल होर आ गये। ऐसी परिस्थिति में सम्मेलन की सफलता की सम्भावना न थी। कांग्रेस की ओर से इस सम्मेलन में गांधी जी ने प्रतिनिधित्व किया। इस सम्मेलन में साम्प्रदायिक समस्या आ खड़ी हुई जिसे सुलझाने में गांधी जी भी असमर्थ रहे। फलतः सम्मेलन निष्फल सिद्ध हुआ। गांधी जी भारत लौट आये और पोत से उतरते ही बन्दी बना लिये गये। सरकार का दमन कुचक्र फिर आरम्भ हो गया।

(७) साम्प्रदायिक निर्णय—द्वितीय गोलमेज सम्मेलन में जब भारतीय नेता साम्प्रदायिक प्रश्न पर किसी निर्णय पर न पहुंच सके तब साम्प्रदायिक झगड़े का निर्णय बृटिश प्रधान मन्त्री रामजे मैकडोनल्ड पर छोड़ दिया गया। अगस्त १९३२ में प्रधान-मन्त्री ने अपना निर्णय प्रकाशित किया। यह निर्णय साम्प्रदायिक निर्णय (Communal Award) के नाम से प्रसिद्ध है। इस निर्णय के अनुसार सवर्ण हिन्दुओं, हरिजनों तथा मुसलमानों को राजनैतिक दृष्टिकोण से अलग-अलग कर दिया गया और उन्हें धारा-सभाओं के लिये अपने अलग-अलग प्रतिनिध निर्वाचित करने का अधिकार दे दिया गया।

(८) पूना का समझौता—साम्प्रदायिक निर्णय द्वारा अछूतों को पृथक् निर्वाचन का अधिकार देकर उन्हें हिन्दू समाज से अलग कर दिया गया था। गाँधी जी के लिये यह अत्याचार असहनीय था। उन्होंने गोलमेज सम्मेलन में ही इस बात को स्पष्ट कर दिया था कि यदि इस प्रकार के अन्याय का प्रयत्न किया गया तो वे अपने प्राणों की बाजी लगा कर इसका विरोध करेंगे। फलतः साम्प्रदायिक निर्णय के विरोध में उन्होंने आमरण अनशन आरम्भ किया। थोड़े दिन उपरान्त गाँधी जी की दशा अत्यन्त चिन्ताजनक हो गई। सम्पूर्ण देश में हलचल मच गई। अन्त में हिन्दू तथा हरिजन नेताओं ने पूना में एक समझौता १९३२ में कर लिया जो "पूना पैक्ट" के नाम से प्रसिद्ध है। इस समझौते द्वारा अछूतों को ७१ स्थानों के स्थान पर १४८ स्थान दे दिये गये परन्तु उन्हें राजनैतिक दृष्टिकोण से भी हिन्दू समाज का एक अभिन्न अंग मान लिया गया और उन्हें हिन्दुओं के साथ सम्मिलित मतदान का अधिकार मिला। बृटिश सरकार ने इस समझौते को स्वीकार कर लिया।

९ तीसरी गोलमेज सभा—साम्प्रदायिक निर्णय की घोषणा करने के उपरान्त तीसरी गोलमेज सभा की आयोजना की गई। यह सम्मेलन १६ नवम्बर से २४ दिसम्बर १९३२ तक चलता रहा। इस सम्मेलन का भी कांग्रेस ने बहिष्कार किया और अपना कोई प्रतिनिधि नहीं भेजा। इस सम्मेलन में कोई विशेष बात नहीं हुई। केवल पूर्व निश्चित कार्य-क्रम का सम्पादन हुआ।

(१०) श्वेत पत्र—तीसरी गोलमेज सभा के समाप्त हो जाने पर १९३२ में बृटिश सरकार ने गोलमेज सभा के वाद-विवाद के आधार पर कुछ प्रस्ताव प्रकाशित किये जो श्वेतपत्र के नाम से प्रसिद्ध हैं। इस श्वेत-पत्र में वर्णित योजनाओं ने एक निराशा तथा क्षोभ की लहर भारतीय नेताओं के हृदय में उत्पन्न कर दी और सभी दलों ने योजना को अस्वीकार करने का निश्चय कर लिया।

(११) पार्लियामेंट की संयुक्त कमेटी की रिपोर्ट—श्वेत-पत्र के प्रकाशित करने के उपरान्त पार्लियामेंट के दोनों भवनों के सदस्यों की एक कमेटी बनाई गई। इस कमेटी ने श्वेत-पत्र के प्रस्तावों के आधार पर अपनी रिपोर्ट तैयार की। १९३५ का संविधान श्वेत-पत्र के प्रस्तावों तथा पार्लियामेण्ट की संयुक्त कमेटी की रिपोर्ट के आधार पर बनाया गया।

१९३५ का संविधान—२ अगस्त १९३५ को बृटिश पार्लियामेण्ट ने भारत के लिये नया संविधान पारित कर दिया। इस संविधान की दो प्रमुख विशेषतायें थीं। पहिली विशेषता तो यह थी कि इसके द्वारा भारत में संघ शासन के स्थापित करने की आयोजना की गई और दूसरी विशेषता यह थी कि प्रान्तों को प्रान्तीय स्वतन्त्रता प्रदान की गई। अब १९३५ के संविधान द्वारा आयोजित व्यवस्थाओं का उल्लेख कर देना आवश्यक है। इस विधान द्वारा निम्न-लिखित परिवर्तन किये गये :—

गृह सरकार में परिवर्तन—गृह सरकार का तात्पर्य भारत-सचिव तथा इण्डिया कौंसिल स है। १९१९ के विधान द्वारा भारत-सचिव के अधिकारों में कुछ कमी कर दी गई थी। १९३५ के विधान द्वारा गृह सरकार में निम्न-लिखित परिवर्तन किये गये :—

(१) १९१९ के विधान में भारत-सचिव अग्र-भाग में और सम्राट् पृष्ठ-भाग में रक्खा गया था परन्तु १९३५ के विधान में सम्राट् अग्र-भाग में और भारत-सचिव पृष्ठ-भाग में चला गया। इस विधान में यह स्पष्ट रूप से बतला दिया गया कि भारत की भूमि तथा कार्य-पालिका शक्ति सम्राट् के हाथ में होगी। इस प्रकार सम्राट् अब सामने आ गया परन्तु चूँकि सम्राट् को भारत के सम्बन्ध में सभी कार्य भारत-सचिव की परामर्श से करना पड़ता था अतएव भारत-सचिव की वास्तविक स्थिति में कोई विशेष परिवर्तन नहीं हुआ। अतएव १९३५ के विधान द्वारा किया गया यह परिवर्तन केवल औपचारिक था वास्तविक नहीं।

(२) १९३५ के विधान द्वारा यह व्यवस्था की गई कि जब गवर्नर-जनरल तथा प्रान्तीय गवर्नर अपने स्वेच्छाचारी अथवा व्यक्तिगत निर्णय से कार्य करेंगे अथवा जब उनके विशेष उत्तरदायित्व का प्रयोग होगा तब वे भारत-सचिव के प्रति उत्तरदायी होंगे और उन्हें उसकी आज्ञाओं तथा आदेशों के अनुसार कार्य करना आवश्यक था। चूँकि १९३५ के विधान द्वारा केन्द्र में उत्तरदायी सरकार के स्थापित करने की आयोजना की गई थी और प्रान्तों को प्रान्तीय स्वतन्त्रता प्रदान कर दी गई थी अतएव भारत-सचिव के नियंत्रण में भी कमी करना आवश्यक था। फलतः विधान में यह व्यवस्था की गई कि जब गवर्नर-जनरल तथा प्रान्तीय गवर्नर अपने मन्त्रियों की परामर्श से कार्य करेंगे, तब भारत सचिव हस्तक्षेप न करेगा। परन्तु यह स्मरण रखना चाहिये कि इस विधान द्वारा गवर्नर-जनरल

तथा प्रान्तीय गवर्नरों को कुछ विशेष उत्तरदायित्व सौंप दिये गये थे। इनका क्षेत्र इतना व्यापक था कि इनकी आड़ में मन्त्रियों के किसी भी कार्य में हस्तक्षेप किया जा सकता था। अतएव वास्तव में यदि भारत-सचिव चाहता तो वह शासन के किसी भी भाग में हस्तक्षेप कर सकता था।

(३) भारतीय नेता इण्डिया कौंसिल के अस्तित्व के घोर विरोधी थे और बहुत दिनों से इसका विरोध चला आ रहा था। अतएव १६३५ के विधान द्वारा इसको समाप्त कर दिया गया और भारत-सचिव की सहायता के लिये परामर्शदाताओं के नियुक्त करने की व्यवस्था की गई जिनकी संख्या कम से कम ३ और अधिक से अधिक ६ हो सकती थी। इनकी नियुक्ति भारत-सचिव स्वयम् करता था। इन परामर्शदाताओं में से कम से कम आधे ऐसे होने चाहिये थे जो कम से कम १० वर्ष तक भारत में सरकारी नौकरी कर चुके हों और अपनी नियुक्ति से वह दो वर्ष से अधिक पहिले सरकारी नौकरी से अलग न हुये हों। इनकी नियुक्ति ५ वर्ष के लिये की जाती थी और दूसरी बार वे फिर इस पद पर नहीं नियुक्त किये जा सकते थे। वे पाँच वर्ष के पूर्व भी अपना त्याग पत्र दे सकते थे और भारत-सचिव उन्हें किसी मानसिक अथवा शारीरिक दुर्बलता के आधार पर अपदस्थ भी कर सकता था। प्रत्येक परामर्शदाता का १३५० पौंड वार्षिक वेतन रक्खा गया परन्तु भारत में निवास करने वाले परामर्शदाता को ६०० पौंड अधिक मिलता था। यह परामर्शदाता पार्लियामेण्ट के सदस्य हो सकते थे परन्तु अपने कार्य काल में न वे पार्लियामेण्ट में बैठ सकते थे और न वोट दे सकते थे। किसी विषय पर भारत-सचिव अपने परामर्शदाताओं की परामर्श ले अथवा न ले, किसी एक की, कुछ की अथवा सबकी परामर्श ले यह भारत-सचिव की स्वेच्छा पर छोड़ दिया गया था। वह अपने परामर्शदाताओं की परामर्श मानने अथवा न मानने के लिये स्वतन्त्र था परन्तु सरकारी नौकरियों के सम्बन्ध में वह अपने सभी परामर्शदाताओं की परामर्श लेने तथा उनके बहुमत के निर्णय को मानने के लिये बाध्य था।

(४) १६३५ के विधान के पूर्व इण्डिया आफिस का व्यय भारतीय कोष से दिया जाता था और बृटिश कोष से १५०००० पौंड की वार्षिक सहायता की जाती थी परन्तु १६३५ के विधान ने इस व्यवस्था को उलट दिया। अब इण्डिया आफिस के व्यय की व्यवस्था बृटिश पार्लियामेण्ट करने लगी और भारतीय कोष से वार्षिक सहायता दी जाने लगी। यह वार्षिक सहायता कितनी हो इसका निर्णय गवर्नर-जनरल के ऊपर छोड़ दिया गया। ऐसी स्थिति में आर्थिक दृष्टिकोण से इस परिवर्तन से कोई विशेष अन्तर न उत्पन्न हुआ।

केन्द्रीय सरकार में परिवर्तन—१६१६ के विधान द्वारा केन्द्रीय सरकार की व्यवस्था में कोई विशेष परिवर्तन नहीं किया गया था परन्तु १६३५ के संविधान ने केन्द्रीय शासन व्यवस्था को पूर्ण रूप से परिवर्तित कर देने की आयोजना की। यह परिवर्तन निम्न-लिखित थे :—

(१) १६३५ के विधान द्वारा भारत में बृटिश प्रान्तों तथा देशी राज्यों का संघ-शासन स्थापित करने की आयोजना की गई। यह संघ कुछ ऐसी विशेषतायें रखता था जो विश्व के अन्य संघों में नहीं पाई जाती। इसकी पहिली विशेषता यह थी कि यद्यपि संघ शासन स्वतन्त्र राज्यों का होता है परन्तु यहाँ न तो बृटिश प्रान्त ही स्वतन्त्र थे और न देशी राज्य ही। इसकी दूसरी विशेषता यह थी कि इसकी इकाइयों में शासन की एकरूपता नहीं पाई जाती थी क्योंकि यद्यपि बृटिश प्रान्तों में प्रजातन्त्रात्मक व्यवस्था थी परन्तु देशी राज्यों में स्वेच्छाचारी तथा निरङ्कुश शासन का प्रकोप था। इसकी तीसरी विशेषता यह थी कि यह संघ की इकाइयों की स्वेच्छा से नहीं बन रहा था वरन् यह सम्राट् द्वारा आयोजित था। भारतीय संघ की चौथी विशेषता थी कि यद्यपि सभी बृटिश प्रान्त संघ में सम्मिलित होने के लिये बाध्य थे परन्तु सभी देशी राज्य संघ में सम्मिलित

होने के लिये बाध्य न थे वरन् यह उनकी स्वेच्छा पर छोड़ दिया गया था। प्रान्तीय संघ की पाँचवीं विशेषता यह थी कि यद्यपि सभी प्रान्त समान शर्तों पर संघ में सम्मिलित होने के लिये बाध्य थे परन्तु सभी देशी राज्य समान शर्तों पर इसमें सम्मिलित होने के लिये बाध्य न थे। इस संघ की छठी विशेषता यह थी कि यद्यपि ब्रिटिश प्रान्तों की जनता को संघ के लिये अपने प्रतिनिधि निर्वाचित कर के भेजने का अधिकार था परन्तु देशी राज्यों की जनता इस अधिकार से वंचित कर दी गई थी। देशी राज्यों के प्रतिनिधियों को वहाँ के शासक मनोनीत करते।

भारत में संघ सरकार के लिये तीन शर्तें रक्खी गई थीं। पहिली शर्त तो यह थी कि कम से कम इतने देशी राज्य संघ में सम्मिलित होने के लिये उद्यत हों जिनकी जन-संख्या कुल देशी राज्यों की जन-संख्या की कम से कम आधी हो। दूसरी शर्त यह थी कि कम से कम इतने देशी राज्य संघ में सम्मिलित होने के लिये उद्यत हों जिनको राज्य परिषद् में देशी राज्यों के लिये निर्धारित सदस्यों की संख्या के आधे सदस्य भेजने का अधिकार हो। चूंकि देशी राज्यों को राज्य-परिषद् में १०४ सदस्य भेजने का अधिकार था अतएव भारत में संघ राज्य तभी स्थापित हो सकता था जब कम से कम इतने राज्य संघ में सम्मिलित होने के लिये उद्यत होते जिन्हें राज्य-परिषद् के लिये ५२ सदस्य भेजने का अधिकार होता। इन दो शर्तों के पूरी हो जाने पर तीसरी शर्त यह थी कि पार्लियामेण्ट के दोनों भवन सम्राट् से संघ शासन स्थापित करने के लिये घोषणा करने की प्रार्थना करते।

जब कोई देशी राज्य संघ में सम्मिलित होने का निश्चय करता तब उसे प्रवेश-पत्र (Instrument of Accession) पर हस्ताक्षर करना होता। इस प्रवेश-पत्र में उसे उन सब विषयों का उल्लेख कर देना पड़ता जिन्हें वह संघ सरकार को हस्तान्तरित करने के लिये उद्यत होता। इन विषयों की संख्या कालान्तर में एक दूसरे प्रवेश-पत्र पर हस्ताक्षर करके बढ़ाई जा सकती थी परन्तु किसी भी दशा में घटाई नहीं जा सकती थी। सम्राट् सभी प्रवेश-पत्रों को स्वीकार करने के लिये बाध्य न था। वह उन्हें अस्वीकार भी कर सकता था। यदि कोई देशी राज्य संघ शासन के स्थापित होने के २० वर्ष उपरान्त संघ में सम्मिलित होना चाहता तो संघीय धारा-सभा के दोनों भवनों द्वारा सम्राट् से प्रार्थना किये जाने पर ही उसे संघ में सम्मिलित होने की आज्ञा मिल सकती थी। यह प्रार्थना गवर्नर-जनरल द्वारा सम्राट् के पास भेजी जा सकती थी।

(२) प्रत्येक संघ शासन में विषय-विभाजन अनिवार्य होता है। अतएव भारतीय संघ में भी संघ तथा उसकी इकाइयों में कार्य विभक्त कर दिया गया था। इस विभाजन के लिये तीन सूचियाँ बनाई गई थीं अर्थात् संघ-सूची, प्रान्तीय सूची तथा समवर्ती सूची। संघ-सूची में कुल ५९ विषय थे जिनमें सेना, मुद्रा, डाक तथा तार आदि आते थे। प्रान्तीय सूची में कुल ५४ विषय थे जिनमें न्याय, पुलिस तथा जेल, स्थानीय स्वराज्य, स्वास्थ्य तथा सफाई आदि थे। समवर्ती सूची में कुल ३६ विषय थे जिनमें फ़ौजदारी तथा दीवानी के क़ानून, विवाह तथा तिलाक़ आदि आते थे।

जो विषय संघीय सूची में रक्खे गये थे उन पर क़ानून बनाने का एक मात्र अधिकार संघीय धारा-सभा को दिया गया। इसी प्रकार जो विषय प्रान्तीय सूची में रक्खे गये थे उन पर क़ानून बनाने का एक मात्र अधिकार प्रान्तीय सरकार को दिया गया था। साधारण स्थिति में संघीय धारा-सभा उन पर क़ानून नहीं बना सकती थी परन्तु गम्भीर परिस्थिति उत्पन्न हो जाने पर गवर्नर-जनरल की अनुमति लेने के उपरान्त संघीय धारा-सभा प्रान्तीय विषयों पर भी क़ानून बना सकती थी। समवर्ती सूची में आने वाले विषयों पर संघीय धारा-सभा तथा प्रान्तीय धारा-सभा दोनों ही को क़ानून बनाने का अधिकार था परन्तु संघीय धारा-सभा द्वारा बनाये हुये नियमों को प्राथमिकता दी गई थी। उपरोक्त तीन सूचियों के अतिरिक्त

अवशिष्ट शक्तियों की भी व्यवस्था की गई थी। यह शक्तियाँ गवर्नर-जनरल को दे दी गई थीं और यह व्यवस्था कर दी गई थी कि जो विषय उपरोक्त तीन सूचियों के अन्तर्गत नहीं हैं उन पर गवर्नर-जनरल संघीय अथवा प्रान्तीय किसी भी धारा-सभा को कानून बनाने का अधिकार दे सकता है।

(३) गवर्नर-जनरल संघीय कार्यकारिणी का प्रधान मान लिया गया था और वह अपने सभी कार्यों को सम्राट् के प्रतिनिधि के रूप में करता था। गवर्नर-जनरल के कार्यों को तीन भागों में विभक्त कर दिया गया था। कुछ कार्यों को गवर्नर-जनरल अपने स्वेच्छाचारी निर्णय से कर सकता था। इन कार्यों में वह अपने मन्त्रियों की परामर्श लेने के लिये बाध्य न था। वह विषय जिनमें गवर्नर-जनरल अपने स्वेच्छाचारी निर्णय से कार्य कर सकता था विदेशी सम्बन्ध, देश की सुरक्षा, धार्मिक मामले तथा कबाइली क्षेत्र थे। कुछ कार्य ऐसे थे जिन्हें गवर्नर-जनरल को अपने व्यक्तिगत निर्णय से कार्य करने का अधिकार दिया गया था। व्यक्तिगत निर्णय का यह तात्पर्य है कि इन विषयों में गवर्नर-जनरल अपने मन्त्रियों की परामर्श लेने के लिये बाध्य तो था परन्तु वह उनकी परामर्श को मानने के लिये बाध्य न था। जो विषय मन्त्रियों को हस्तान्तरित कर दिये गये थे उनमें गवर्नर-जनरल अपने मन्त्रियों की परामर्श से कार्य करने के लिये बाध्य था परन्तु यदि उसके विशेषोत्तरदायित्व पर किसी प्रकार का धक्का लगता तब वह अपने व्यक्तिगत निर्णय से कार्य कर सकता था। यह विशेषोत्तरदायित्व आठ प्रकार के थे अर्थात् भारत अथवा उसके किसी भाग की शान्ति एवं सुव्यवस्था को भङ्ग करने वाली आपत्ति को रोकना, संघ-सरकार की आर्थिक सुदृढ़ता को बनाये रखना, अल्प-संख्यकों के समुचित अधिकारों की सुरक्षा करना; सरकारी कर्मचारियों तथा उनके आश्रितों के हितों की रक्षा करना, व्यवसायिक भेद-भाव को रोकना, ग्रेट ब्रिटेन तथा बर्मा में बने हुये सामान के प्रति भेद-नीति को रोकना, देशी राज्यों तथा उनके राजाओं की प्रतिष्ठा की रक्षा करना तथा अपने स्वेच्छाचारी तथा व्यक्तिगत निर्णय से किये जाने वाले कार्यों का समुचित रीति से सम्पादन करना। इन विशेष ज़िम्मेदारियों का क्षेत्र इतना व्यापक था कि इनकी आड़ में गवर्नर-जनरल मन्त्रियों के किसी भी कार्य में हस्तक्षेप कर सकता था। जब गवर्नर-जनरल अपने स्वेच्छाचारी अथवा व्यक्तिगत निर्णय से कार्य करता तब वह प्रत्यक्ष रूप में भारत-सचिव के प्रति और अप्रत्यक्ष रूप में सम्राट् तथा पार्लियामेण्ट के प्रति उत्तरदायी होता। कुछ ऐसे भी विषय थे जिनमें गवर्नर-जनरल अपने मन्त्रियों की परामर्श लेने तथा उनके बहुमत के निर्णय को मानने के लिये बाध्य था। जब गवर्नर-जनरल मन्त्रियों के बहुमत के निर्णय के अनुसार कार्य करता तब साधारणतया भारत-सचिव उसके कार्यों में हस्तक्षेप न करता क्योंकि यह मन्त्री संघीय धारा-सभा के प्रति उत्तरदायी बना दिये गये थे।

(४) यद्यपि प्रान्तों में द्वैध शासन व्यवस्था का अत्यन्त कटु अनुभव हो चुका था परन्तु इससे कोई लाभ न उठाया गया और १९३५ के संविधान में इसे प्रान्तों से हटा कर केन्द्र में कर दिया गया। केन्द्रीय विषयों को दो भागों में विभक्त कर दिया गया अर्थात् रक्षित तथा हस्तान्तरित। रक्षित वर्ग में विदेशी सम्बन्ध, सुरक्षा, धार्मिक मामले तथा कबाइली क्षेत्र रक्खे गये। शेष विषय हस्तान्तरित वर्ग में रख दिये गये थे।

चूँकि रक्षित वर्ग में रक्खे गये विषय अत्यन्त महत्वपूर्ण थे और उनका कार्य क्षेत्र अत्यन्त व्यापक था अतएव एक ही व्यक्ति उन्हें संभाल नहीं सकता था। फलतः इन विषयों के कार्यों का समुचित रीति से सम्पादन कराने के लिये अधिक से अधिक ३ परामर्शदाताओं को नियुक्त करने की व्यवस्था की गई। इनकी नियुक्ति गवर्नर-जनरल स्वयम् करता परन्तु इनके वेतन तथा इनकी नौकरी की शर्तों का निर्णय सम्राट् अपने

मन्त्रियों की परामर्श से करता। यह परामर्शदाता अपने विभाग के अध्यक्ष के प्रतिनिधि के रूप में संघीय धारा-सभा के दोनों भवनों के सदस्य हो जाते थे और सभी प्रकार के वाद-विवादों में भाग ले सकते थे परन्तु उन्हें वोट देने का अधिकार न था।

हस्तान्तरित विषयों का प्रबन्ध गवर्नर-जनरल अपने मन्त्रियों की सहायता तथा परामर्श से करता। इन मन्त्रियों की संख्या अधिक से अधिक दस हो सकती थी और इनको गवर्नर-जनरल चुनता तथा नियुक्त करता। वह तभी तक अपने पद पर रह सकते थे जब तक गवर्नर-जनरल का उनमें विश्वास होता और अपनी इच्छानुसार गवर्नर-जनरल उनको पद-च्युत भी कर सकता था। गवर्नर-जनरल को यह आदेश दिया गया था कि वह अपने मन्त्रियों को ऐसे व्यक्ति की परामर्श से चुने जिसे संघीय लोक-सभा में बहुमत प्राप्त करने की आशा हो। गवर्नर-जनरल को यह भी आदेश दिया गया था कि वह अपने मन्त्रियों में सामूहिक उत्तरदायित्व के उत्पन्न करने का प्रयत्न करे और अपने मन्त्रिमण्डल में अल्प-संख्यकों तथा देशी राज्यों को भी प्रतिनिधित्व प्रदान करे। संघीय धारा-सभा के दोनों सदनों के सदस्य मन्त्री के पद पर नियुक्त किये जा सकते थे। कोई ऐसा भी व्यक्ति मन्त्री के पद पर नियुक्त किया जा सकता था जो संघीय धारा-सभा का सदस्य न हो परन्तु ६ महीने के अन्दर उसे धारा-सभा का सदस्य बन जाना चाहिये था अन्यथा उसे अपने पद से अलग हो जाना पड़ता। मन्त्रियों का वेतन केन्द्रीय धारा-सभा निर्धारित करती परन्तु उनकी कार्य-अवधि के भीतर फिर उसमें परिवर्तन नहीं किया जा सकता था। मन्त्री लोग संघीय धारा-सभा के प्रति उत्तरदायी बना दिये गये थे और वह उनके विरुद्ध अविश्वास प्रस्ताव पास करके उन्हें अपदस्थ कर सकती थी। मन्त्रियों में कार्य-विभाजन गवर्नर-जनरल ही करता और वह मन्त्रि-परिषद् की बैठक में अध्यक्ष का आसन ग्रहण कर सकता था।

(५) इस विधान द्वारा संघ के लिये एक ऐडवोकेट जेनरल के नियुक्त करने की व्यवस्था की गई। उसकी नियुक्ति गवर्नर-जनरल अपने व्यक्तिगत निर्णय से करता। उसके वेतन आदि का भी निर्णय वही करता। उसमें वही योग्यता होनी चाहिये थी जो संघीय न्यायालय के न्यायाधीश में होनी चाहिये। उसका मुख्य कर्त्तव्य संघीय धारा-सभा को कानूनी बातों में परामर्श देना था। उसे ऐसे भी कार्य करना पड़ता जिनके करने के लिये गवर्नर-जनरल उसे आदेश देता। वह धारा-सभा के दोनों भवनों में भाषण दे सकता था और तभी तक अपने पद पर रह सकता था जब तक गवर्नर-जनरल का उसमें विश्वास हो।

(६) इस विधान में गवर्नर-जनरल को उसकी नियुक्ति के समय आदेश-पत्र (Instrument of Instructions) के दिये जाने की व्यवस्था की गई थी। इन आदेश पत्रों को भारत-सचिव तैयार कर पार्लियामेण्ट के समक्ष उपस्थित करता। तब पार्लियामेण्ट के दोनों भवन सम्राट् से इन आदेश-पत्रों के जारी करने के लिये प्रार्थना करते। इन आदेश पत्रों का बहुत बड़ा राजनैतिक महत्त्व था। इनके द्वारा देश में उत्तरदायी शासन के स्थापित करने का प्रयत्न किया गया था। इन आवेदन पत्रों द्वारा गवर्नर-जनरलों को यह आदेश दिया जाता था कि वे अपने मन्त्रियों में सामूहिक उत्तरदायित्व के उत्पन्न करने का प्रयत्न करें, उस व्यक्ति की परामर्श से अपने मन्त्रियों की नियुक्ति करें जिसका धारा-सभा में बहुमत होने की अधिकाधिक सम्भावना हो और मन्त्रि-परिषद् में प्रमुख अल्प-संख्यकों तथा देशी राज्यों का प्रतिनिधित्व हो। उन्हें यह भी आदेश दिया गया था कि देश की रक्षा के सम्बन्ध में मन्त्रियों की परामर्श लें। आदेश पत्रों के सम्बन्ध में एक ध्यान रखने की यह बात है कि इनके भङ्ग हो जाने पर न्यायालय की शरण नहीं प्राप्त हो सकती थी।

(७) इस विधान में स्वेच्छाचारी निर्णय तथा विशेष उत्तरदायित्व की व्यवस्था करके बृटिश, मुसलमानों तथा देशी राज्यों के हितों के संरक्षण की व्यवस्था की गई थी।

(८) इस विधान द्वारा केन्द्र में दो भवनों की धारा-सभा के स्थापित करने की आयोजना की गई थी। प्रथम सदन का नाम लोक सभा (House of Assembly) और द्वितीय सदन का नाम राज्य-परिषद् (Council of state) रक्खा गया। सम्राट् को संघीय धारा-सभा का एक अभिन्न अंग मान लिया गया जो गवर्नर-जनरल के माध्यम द्वारा अपनी शक्ति का प्रयोग करता।

राज्य परिषद् में १५६ सदस्य बृटिश भारत से और अधिक से अधिक १०४ सदस्य देशी राज्यों से रखने की व्यवस्था की गई। देशी राज्यों के प्रतिनिधि वहाँ के शासकों द्वारा मनोनीत किये जाते। वहाँ की जनता को इनके चुनने का अधिकार नहीं था। बृटिश भारत के १५६ प्रतिनिधियों में से १५० प्रतिनिधि जनता द्वारा पृथक् साम्प्रदायिक निर्वाचन पद्धति द्वारा निर्वाचित किये जाते। शेष ६ सदस्य गवनर-जनरल द्वारा मनोनीत किये जाते जिनमें अल्प-संख्यकों, हरिजनों तथा स्त्रियों का प्रतिनिधित्व किया जाता। राज्य-परिषद् एक स्थायी संस्था थी। उसके एक-तिहाई सदस्य प्रति तीसरे वर्ष अलग हो जाते। इस प्रकार प्रत्येक व्यक्ति ९ वर्ष तक इसका सदस्य रह सकता था।

लोक सभा में २५० प्रतिनिधि बृटिश भारत के प्रान्तों से आते और अधिक से अधिक १२५ प्रतिनिधि देशी राज्यों के होते। राज्य परिषद् की भाँति लोक सभा में भी देशी राज्यों के प्रतिनिधि वहां के राजाओं द्वारा मनोनीत किये जाते और बृटिश प्रान्तों के प्रतिनिधि अप्रत्यक्ष निर्वाचन पद्धति द्वारा चुने जाते। यह एक अत्यन्त विचित्र बात थी। संसार के किसी भी देश में इस प्रकार की व्यवस्था न थी कि प्रथम सदन अप्रत्यक्ष निर्वाचन पद्धति द्वारा संगठित किया जाय। लोक सभा का निर्वाचन अप्रत्यक्ष कर देने से राष्ट्रीय एकता तथा देश-भक्ति की भावना पर घातक प्रहार पड़ सकता था क्योंकि इस व्यवस्था में अखिल भारतीय समस्यायें जनता के समक्ष नहीं आ सकती थीं। इससे जनता का सम्बन्ध केवल प्रान्तीय विषयों के साथ रह जाता और वह देश की समस्याओं को प्रान्तीयता के दृष्टिकोण से देख सकती थी। इससे राष्ट्रीयता की भावना पर कुठाराघात हो सकता था। दूसरी कठिनाई अप्रत्यक्ष निर्वाचन से यह हो सकती थी कि संघीय लोक सभा तथा संघीय सरकार में मतभेद उत्पन्न हो जाने पर लोक-मत से याचना करने का कोई साधन न मिलता। लोक सभा की अवधि ५ वर्ष रक्खी गई थी परन्तु गवर्नर-जनरल उसे पहिले भी भङ्ग कर सकता था। लोक-सभा की अवधि बढ़ाई नहीं जा सकती थी। इसे अपने अध्यक्ष तथा उपाध्यक्ष के निर्वाचित करने का अधिकार था। जो किसी भी समय अपना त्याग-पत्र गवर्नर-जनरल के पास दे सकता था और लोक-सभा किसी भी समय अविश्वास प्रस्ताव पास कर उन्हें अपदस्थ कर सकती थी।

कोई भी व्यक्ति एक साथ संघीय धारा-सभा के दोनों सदनों का सदस्य नहीं बन सकता था। इसी प्रकार कोई भी व्यक्ति केन्द्रीय तथा प्रान्तीय दोनों धारा-सभाओं का सदस्य एक साथ नहीं हो सकता था। कोई वेतन भोगी सरकारी कर्मचारी अथवा जो न्यायालय से पागल घोषित कर दिया गया हो अथवा दिवालिया हो जो ऋण न चुका सका हो अथवा जो चुनाव में अनुचित साधनों का प्रयोग करने के कारण दण्ड पा चुका हो अथवा जिसे देश निकाले अथवा कम से कम दो वर्ष का दण्ड मिल चुका है और उसे जेल से निकले ५ वर्ष से अधिक न हुये हो संघीय धारा-सभा का सदस्य नहीं हो सकता था। राज्य-परिषद् का सदस्य बनने के लिये कम से ३० वर्ष और लोक-सभा का सदस्य बनने के लिये कम से कम २५ वर्ष की अवस्था होनी चाहिये थी।

प्रत्येक सदस्य को सम्राट् के प्रति राज-भक्ति की शपथ लेनी पड़ती थी। धारा-सभा के

नियमों का पालन करते हुये प्रत्येक सदस्य को भाषण की पूर्ण स्वतन्त्रता रहती थी। धारा-सभा में भाषण अथवा मतदान के विरुद्ध न्यायालय में कोई कार्यवाही नहीं हो सकती थी। धारा-सभा के सदस्यों को धारा-सभा द्वारा निर्धारित वेतन अथवा भत्ता प्राप्त हो सकता था।

संघीय धारा-सभा को चार प्रकार के अधिकार प्रदान किये गये थे अर्थात् क़ानून सम्बन्धी, राष्ट्रीय नीति निर्देश सम्बन्धी, राजस्व सम्बन्धी तथा शासन सम्बन्धी। संघीय सूची के अन्तर्भूत विषयों पर क़ानून बनाने का एकाधिकार संघीय धारा-सभा को प्राप्त था। समवर्ती सूची के अन्तर्भूत विषयों पर भी संघीय धारा सभा को क़ानून बनाने का अधिकार था। यद्यपि साधारण स्थिति में संघीय धारा सभा को उन विषयों पर क़ानून बनाने का अधिकार न प्राप्त था जो प्रान्तीय सूची के अन्तर्गत थे परन्तु आन्तरिक उपद्रव अथवा वाह्य आक्रमण की स्थिति में अथवा दो या अधिक प्रान्तों द्वारा प्रार्थना किये जाने पर संघीय धारा-सभा प्रान्तीय सूची के अन्तर्भूत विषयों पर भी क़ानून बना सकती थी। चूँकि संघीय धारा-सभा को महत्वपूर्ण विषयों में प्रस्ताव पास करने बजट पर वाद-विवाद करके उसे पारित करने तथा मन्त्रियों के विरुद्ध अविश्वास प्रस्ताव पास करने का अधिकार प्राप्त था अतएव यह कहा जा सकता है कि उसका राष्ट्रीय नीति के निर्धारण में बहुत बड़ा हाथ था। संघीय धारा-सभा के क़ानून-निर्माण सम्बन्धी अधिकार अत्यन्त सीमित थे। वह कोई ऐसा क़ानून नहीं बना सकती थी जिसका प्रभाव सम्राट्, राजवंश के उत्तराधिकार के नियम, सम्राट् की राजसत्ता, सैन्य विधान आदि पर पड़े। इसे १९३५ के संविधान की किसी धारा में अथवा भारत-सचिव द्वारा बनाये गये किसी नियम में अथवा अपने स्वेच्छाचारी एवं व्यक्तिगत निर्णय से किये जाने वाले कार्यों के सम्बन्ध में गवर्नर-जनरल तथा गवर्नरों द्वारा बनाये हुये किसी भी नियम में किसी भी प्रकार का परिवर्तन अथवा संशोधन करने का कोई अधिकार न था। इसी प्रकार के अन्य बहुत से प्रतिबन्ध लगाये गये थे। बहुत से ऐसे महत्वपूर्ण विषय थे जिन पर बिना गवर्नर-जनरल की पूर्व स्वीकृति प्राप्त किये संघीय धारा-सभा क़ानून नहीं बना सकती थी। बजट में बहुत सी ऐसी मदें थीं जिन पर संघीय धारा-सभा को बिल्कुल वोट देने का अधिकार न था और उन पर उसका बिल्कुल नियंत्रण न था। यह मदें जिन पर संघीय धारा सभा को मत-दान का अधिकार न था संघीय बजट की ८० प्रतिशत थी। यदि संघीय लोक-सभा बजट की किसी मद को अस्वीकार कर देती तो गवर्नर-जनरल की इच्छानुसार वह राज्य-परिषद् के सम्मुख भी उपस्थित किया जा सकता था। यदि दोनों भवनों में किसी मद पर मत-भेद हो जाता तो गवर्नर-जनरल दोनों भवनों की सामूहिक बैठक कर सकता था और उपस्थित सदस्यों के बहुमत का निर्णय मान्य होता। यदि एक सदन द्वारा पारित विधेयक दूसरे सदन द्वारा अस्वीकृत कर दिया जाता अथवा उसमें इस प्रकार का संशोधन कर दिया जाता जो प्रथम सदन को अमान्य होता तो गवर्नर-जनरल दोनों सदनों की सामूहिक बैठक करा सकता था। संघीय धारा-सभा द्वारा पारित विधेयकों पर गवर्नर-जनरल अपनी स्वीकृति दे सकता था अथवा स्वीकृति देने से इन्कार कर सकता था अथवा पुनर्विचार के लिये वापस भेज सकता था अथवा सम्राट् के विचार के लिये रोक सकता था। गवर्नर-जनरल की स्वीकृति प्राप्त हो जाने पर भी एक वर्ष के भीतर सम्राट् अपने मन्त्रियों की परामर्श से किसी भी क़ानून को रद्द कर सकता था। संघीय धारा सभा प्रस्ताव, स्थगित प्रस्ताव तथा अविश्वास प्रस्ताव पास करके और प्रश्नोत्तर द्वारा देश के शासन पर नियंत्रण रखती थी। १९३५ के विधान द्वारा संघीय धारा-सभा के दोनों सदनों को समानाधिकार प्रदान किया गया था और कोई विधेयक तब तक क़ानून नहीं बन सकता था जब तक वह दोनों भवनों द्वारा पारित न कर दिया जाय। अन्तर केवल इतना ही था कि राजस्व विधेयक केवल लोक सभा ही में प्रारम्भ किया जा सकता था।

गवर्नर-जनरल संघीय धारा-सभा पर कई प्रकार से अपना नियंत्रण रखता था। वह गवर्नर-जनरल के ऐक्ट बना सकता था तथा अध्यादेश पास कर सकता था। वह धारा-सभा को बुलाता था तथा उसकी बैठक कराता था। लोक-सभा को वह उसकी ५ वर्ष की अवधि के पूर्व भङ्ग भी कर सकता था। वर्ष में धारा-सभा की कम से कम एक बैठक उसे करानी पड़ती थी, उसे धारा-सभा के सदस्यों की अयोग्यता के सम्बन्ध में नियम बनाने का अधिकार था और वह किसी व्यक्ति विशेष की अयोग्यता को हटा सकता था। कुछ परिस्थितियों में वह संघीय धारा-सभा के दोनों सदनों की सामूहिक बैठक करा सकता था। वह धारा-सभा में अनेक विषयों में वाद-विवाद का निषेध कर सकता था। अनेक विधेयकों को धारा-सभा में उपस्थित करने के पूर्व गवर्नर-जनरल की स्वीकृति की आवश्यकता पड़ती थी। कुछ विधेयकों को वह अपनी सिफ़ारिश से धारा-सभा में भेज सकता था और उसके पारित करने का आदेश दे सकता था। बिना उसकी अन्तिम स्वीकृति के कोई विधेयक क़ानून नहीं बन सकता था।

(९) यदि वैधानिक संकट उत्पन्न हो जाता और गवर्नर-जनरल को यह विश्वास हो जाता कि विधान के अनुसार संघ सरकार का शासन चलाना असम्भव है तो वह अपनी घोषणा द्वारा विधान को स्थगित कर सकता था, शासन को अपने हाथों में ले सकता था। यह घोषणा भारत-सचिव के पास भेजनी पड़ती जो उसे पार्लियामेंट के सम्मुख उपस्थित करता। यह घोषणा ६ महीने तक लागू हो सकती थी परन्तु पार्लियामेंट इसकी अवधि को एक वर्ष के लिये बढ़ा सकती थी। इन घोषणाओं द्वारा अधिक से अधिक तीन वर्ष तक इस प्रकार शासन चलाया जा सकता था। इसके उपरान्त पार्लियामेंट द्वारा किये गये सुधारों के अनुसार शासन चलता।

(१०) संघीय शासन व्यवस्था में एक सङ्घीय न्यायालय का होना अनिवार्य होता है जो सङ्घ तथा उसकी इकाइयों और इकाइयों के पारस्परिक झगड़ों को दूर करती है और संविधान की संदिग्ध धाराओं को स्पष्ट करती है। चूंकि १९३५ के विधान द्वारा भारत में संघ शासन के स्थापित करने की आयोजना की गई थी अतएव दिल्ली में एक संघीय न्यायालय के भी स्थापित करने की व्यवस्था की गई। इस न्यायालय में एक प्रधान न्यायाधीश तथा अधिक से अधिक ६ अन्य न्यायाधीश नियुक्त किये जा सकते थे। सङ्घीय धारा-सभा गवर्नर-जनरल के माध्यम द्वारा सम्राट् से प्रार्थना करके न्यायाधीशों की संख्या को बढ़वा सकती थी। दिल्ली में पहिली अक्तूबर १९३७ में सङ्घ न्यायालय की स्थापना कर दी गई थी। उस समय उसमें एक प्रधान न्यायाधीश तथा दो अन्य न्यायाधीश नियुक्त किये गये थे। न्यायाधीशों की नियुक्ति सम्राट् करता और न्यायाधीश लोग ६५ वर्ष की अवस्था तक अपने पद पर रह सकते थे। दुर्व्यवहार अथवा मानसिक दुर्बलता के कारण यह न्यायाधीश सम्राट् द्वारा पदच्युत भी किये जा सकते थे। रिक्त स्थानों पर अस्थायी न्यायाधीश गवर्नर-जनरल द्वारा नियुक्त किये जा सकते थे। वही व्यक्ति सङ्घीय न्यायालय का न्यायाधीश हो सकता था जो बृटिश भारत अथवा सङ्घ में सम्मिलित होने वाले किसी देशी राज्य के न्यायालय का कम से कम ५ वर्ष तक न्यायाधीश रह चुका हो अथवा इङ्गलैण्ड या उत्तरी आयरलैण्ड का बैरिस्टर हो और दस वर्ष तक वकालत की हो अथवा स्काटलैण्ड का ऐडवोकेट हो और दस वर्ष वकालत की हो अथवा बृटिश भारत या सङ्घ में सम्मिलित होने वाले किसी देशी राज्य के हाई कोर्ट का प्लीडर हो और दस वर्ष तक वकालत की हो।

संघ न्यायालय को तीन प्रकार के अधिकार प्राप्त थे अर्थात् प्रारम्भिक मुकदमे सुनने का अपीलें सुनने का तथा परामर्श देने का। उन विषयों में जिनमें संघ सरकार तथा उसकी इकाइयों में क़ानूनी अधिकार पर झगड़ा हो जाता संघीय न्यायालय को प्रारम्भिक अधिकार दिया गया था। संघीय न्यायालय को ऐसे मामलों में बृटिश भारत तथा संघ में सम्मिलित

देशी राज्यों के उच्च न्यायालयों के निर्णय की अपीलें भी सुनने का अधिकार था जिसमें कोई वैधानिक प्रश्न उठ खड़ा हो। संघीय न्यायालय को दीवानी अथवा फ़ौजदारी के मुकदमों की अपीलें सुनने का अधिकार नहीं था। किसी भी क़ानूनी मामले पर गवर्नर-जनरल को संघ न्यायालय से परामर्श लेने का अधिकार था। संघ न्यायालय के न्यायाधीश एक बेन्च के रूप में बैठते थे और बहुमत से निर्णय होता था। इस संघ न्यायालय को हम सर्वोच्च न्यायालय नहीं कह सकते क्योंकि भारत के उच्च न्यायालयों से अपीलें लन्दन की प्रिवी कौंसिल में जाया करती थीं।

(११) १९३५ के विधान में एक "फ़ेडरल रेलवे ऐथोरिटी" की भी व्यवस्था की गई थी। इस पर मन्त्रियों अथवा संघीय धारा-सभा का कोई नियंत्रण नहीं रक्खा गया था। इसके सङ्गठन, कार्यों तथा अधिकार का निर्धारण संविधान द्वारा कर दिया गया था।

(१२) इस विधान द्वारा आर्थिक दृढ़ता स्थापित रखने के लिये रिज़र्व बैङ्क की स्थापना की व्यवस्था की गई। फलतः केन्द्रीय धारा-सभा ने १९३४ में ही एक रिज़र्व बैङ्क ऐक्ट पास कर दिया था जिसने १९३५ से अपना कार्य करना आरम्भ कर दिया। यह हिस्सेदारों का बैङ्क है। इस बैङ्क की पूँजी पाँच करोड़ रुपये रक्खी गई थी जो सौ-सौ रुपयों के हिस्सों में बाँटी गई थी। इसके संचालन के लिये डाइरेक्टरों के केन्द्रीय बोर्ड की स्थापना की गई है। इसमें एक गवर्नर तथा दो डिप्टी गवर्नर होते हैं। इनकी नियुक्ति गवर्नर-जनरल अपनी कौंसिल की परामर्श से करता था। चार डाइरेक्टरों को मनोनीत करने का भी गवर्नर-जनरल को अधिकार था। आठ डाइरेक्टर हिस्सेदारों द्वारा निर्वाचित किये जाते थे और एक सरकारी पदाधिकारी भारत सरकार द्वारा मनोनीत किया जाता था। रिज़र्व बैङ्क के गवर्नर तथा डिप्टी गवर्नर को गवर्नर-जनरल अपने विवेक के निर्णय से अपदस्थ कर सकता था। इनके वेतन, भत्ता तथा नौकरी की शर्तें को वही निश्चित करता था। अपने व्यक्तिगत निर्णय से वह मनोनीत डाइरेक्टरों को भी हटा सकता था। रिज़र्व बैङ्क केन्द्रीय तथा राज्य की सरकारों के रुपये-पैसे के व्यवहार को चलाता है। नोट जारी करने का पूरा अधिकार इसी को है।

प्रान्तीय शासन में परिवर्तन—केन्द्रीय शासन व्यवस्था का परिचय प्राप्त कर लेने के उपरान्त प्रान्तीय शासन व्यवस्था का संक्षिप्त परिचय प्राप्त कर लेना आवश्यक है। १९३५ के विधान द्वारा प्रान्तों के शासन में निम्नाङ्कित परिवर्तन किये गये :—

(१) १९३५ के विधान द्वारा प्रान्तों को प्रान्तीय स्वतन्त्रता प्रदान कर दी गई। १९१९ के विधान के अनुसार प्रान्तों को जो अधिकार प्राप्त थे वे उन्हें केन्द्रीय सरकार से प्राप्त थे परन्तु १९३५ के विधान के अनुसार जो अधिकार प्रान्तों को मिले वह सम्राट् द्वारा प्राप्त हुये। इस प्रकार १९३५ के विधान द्वारा प्रान्तों को केन्द्रीय सरकार के नियंत्रण से मुक्त करने का प्रयत्न किया गया। अब प्रान्तीय सरकार प्रान्तीय विषयों में स्वतन्त्रता पूर्वक कार्य कर सकती थी। प्रान्तीय स्वतन्त्रता का दो अर्थ लगाया जाता है। एक अर्थ तो यह लगाया जाता है कि प्रान्तों को केन्द्रीय सरकार के नियंत्रण से मुक्त कर दिया गया और दूसरा अर्थ यह लगाया जाता है कि प्रान्तों में पूर्ण रूप से उत्तरदायी शासन की स्थापना कर दी गई। पहिले यह बतलाया जा चुका है कि इस विधान द्वारा संघीय, प्रान्तीय तथा समवर्ती तीन सूचियों में सम्पूर्ण विषय विभक्त कर दिये गये थे और प्रान्तीय विषयों पर प्रान्तीय सरकार का पूर्ण नियंत्रण स्थापित कर दिया गया था। इन विषयों पर प्रान्तीय धारा-सभा स्वच्छन्द क़ानून बना सकती थी, इन विषयों के शासन का पूर्ण उत्तरदायित्व प्रान्तीय कार्यकारिणी पर था और इन से प्राप्त आय पर प्रान्तीय सरकार का एकाधिकार था। इस प्रकार १९३५ के विधान द्वारा प्रान्तीय सरकार का कार्य-क्षेत्र स्पष्ट रूप से [illegible] स्वतन्त्रता पूर्वक उसे कार्य करने का अधिकार दे

दिया गया परन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं है कि केन्द्र का प्रान्त पर बिल्कुल नियंत्रण न रह गया। वास्तव में गवर्नरों को गवर्नर-जनरल के सभी आदेशों का पालन करना पड़ता था और जब प्रान्तीय गवर्नर अपने स्वेच्छाचारी अथवा व्यक्तिगत निर्णय से कार्य करते अथवा जब वे अपने विशेष उत्तरदायित्व को निभाने के लिये कार्य करते तब वे गवर्नर-जनरल के ही प्रति उत्तरदायी होते। अब हमें इस बात पर विचार करना है कि प्रान्तों में कहाँ तक उत्तरदायी शासन की स्थापना की गई थी। १९३५ के विधान ने प्रान्तों की द्वैध शासन व्यवस्था को समाप्त कर दिया। अब रक्षित तथा हस्तान्तरित विषयों के विभेद को समाप्त कर दिया गया और गवर्नर की कौंसिल को हटा कर प्रान्त के सभी विषय मन्त्रियों के अनुशासन में कर दिये गये और यह मन्त्री प्रान्तीय धारा-सभा के प्रति पूर्ण रूप से उत्तरदायी बना दिये गये। इस प्रकार ऊपर से ऐसा प्रतीत होता है कि प्रान्तों में पूर्ण रूप से उत्तरदायी शासन स्थापित कर दिया गया परन्तु वास्तव में ऐसा न था। प्रान्तीय कार्य-कारिणी गवर्नर तथा मन्त्रिपरिषद् को मिलकर बनती थी। यद्यपि मन्त्री लोग प्रान्तीय धारा-सभा के प्रति उत्तरदायी बना दिये गये थे परन्तु गवर्नर पर धारा-सभा का कोई नियन्त्रण न था। जब वह अपने स्वेच्छाचारी अथवा व्यक्तिगत निर्णय से कार्य करता था और जब उसकी विशेष ज़िम्मेदारियों का प्रश्न आता था तब वह प्रत्यक्ष रूप में गवर्नर-जनरल के प्रति और अप्रत्यक्ष रूप में भारत-सचिव तथा पार्लियामेंट के प्रति उत्तरदायी होता था। इस प्रकार प्रान्तों में बाहरी हस्तक्षेप भी था और गवर्नर की विशेष जिम्मेदारियों का क्षेत्र इतना व्यापक था कि वह उनकी आड़ में मन्त्रियों के सभी कार्यों में अड़ंगा लगा सकता था।

(२) प्रान्तीय कार्यकारिणी का प्रधान गवर्नर था जिसे सीधे सम्राट् से अधिकार प्राप्त थे न कि गवर्नर-जनरल से जैसा कि १९१९ के विधान में था। गवर्नर की नियुक्ति भारत-सचिव की सिफारिश पर सम्राट् द्वारा की जाती थी। गवर्नरों का वेतन निश्चित होता था और प्रान्तीय धारा-सभा उसे घटा बढ़ा नहीं सकती थी। गवर्नर की नियुक्ति प्रायः ५ वर्ष के लिये की जाती थी। नियुक्ति के समय गवर्नर को आदेश-पत्र दिया जाता था कि वह अपने स्वेच्छाचारी तथा व्यक्तिगत निर्णय से कार्य करते समय किन बातों का ध्यान रक्खे और मन्त्रियों के साथ उसका किस प्रकार का व्यवहार होगा। गवर्नर-जनरल की भाँति गवर्नर के भी कार्यों को तीन भागों में विभक्त किया गया था अर्थात् स्वेच्छाचारी निर्णय से किये जाने वाले कार्य, व्यक्तिगत निर्णय से किये जाने वाले कार्य तथा मन्त्रियों की परामर्श से किये जाने वाले कार्य। स्वेच्छाचारी निर्णय से किये जाने वाले कार्यों का क्षेत्र अत्यन्त व्यापक था। प्रो० के० टी० शाह ने ३२ ऐसे विषयों का उल्लेख किया है जिनमें गवर्नर अपने स्वेच्छाचारी निर्णय से कार्य कर सकता था। इन विषयों में वह अपने मन्त्रियों की परामर्श लेने के लिये बाध्य न था। कोई विषय उसके व्यक्तिगत अथवा स्वेच्छाचारी निर्णय के अन्दर आता था अथवा नहीं, मन्त्रिपरिषद् की बैठक में अध्यक्ष के आसन को ग्रहण करना, गवर्नमेंट के उलटने के प्रयास करने वालों का सामना करना, गवर्नर के ऐक्ट तथा अध्यादेश पास करना आदि गवर्नर के स्वेच्छाचारी निर्णय के अन्तर्गत आता था। जब गवर्नर अपने विशेष उत्तरदायित्व को पूरा करता था तब वह अपने व्यक्तिगत निर्णय से कार्य करता था अर्थात् वह मन्त्रियों की परामर्श तो लेता था परन्तु उसे मानने के लिये वह बाध्य न था। प्रान्त अथवा उसके किसी भाग पर आने वाली आपत्ति को रोकना, अल्प-संख्यकों के समुचित हितों की रक्षा करना, सरकारी कर्मचारियों तथा उनके हितों की रक्षा करना, भेद-भाव की नीति को रोकना, देशी राज्यों तथा उनके नरेशों की प्रतिष्ठा एवं अधिकारों की रक्षा करना, आंशिक बहिर्गत क्षेत्र की शान्ति तथा सुशासन की व्यवस्था करना, गवर्नर-जनरल की आज्ञाओं तथा आदेशों के अनुसार कार्य करना गवर्नर के विशेष उत्तरदायित्व थे। इन विशेष ज़िम्मेदारियों के

अतिरिक्त कुछ अन्य विषय भी थे जिनमें गवर्नर को अपने व्यक्तिगत निर्णय से कार्य करने का अधिकार था। जब गवर्नर अपने स्वेच्छाचारी अथवा व्यक्तिगत निर्णय से कार्य करता था तब वह गवर्नर-जनरल के प्रति उत्तरदायी होता था और इस सम्बन्ध में गवर्नर-जनरल द्वारा अपने स्वेच्छाचारी निर्णय से दिये गये सभी आदेशों का उसे पालन करना पड़ता था। गवर्नर के इन विशेषाधिकारों तथा जिम्मेदारियों का क्षेत्र इतना व्यापक था कि वह मन्त्रियों के किसी भी कार्य में हस्तक्षेप कर सकता था, इससे प्रान्त में उत्तरदायी शासन की स्थापना न हो सकी और गवर्नर वैधानिक शासक न बन सका। प्रान्तीय स्वतन्त्रता पर यह बहुत बड़ा प्रहार था। व्यवस्था तथा अर्थ सम्बन्धी गवर्नर के अधिकार भी अत्यन्त व्यापक थे। यदि गवर्नर के विचार में किसी भी समय प्रान्त का शासन विधान के अनुसार चलाना असम्भव हो जाता तो वह विधान को स्थगित कर सकता था और धारा-सभा तथा मन्त्रिपरिषद् को भङ्ग करके वह सारे कार्य को अपने हाथों में ले सकता था और उनके समुचित रीति से सम्पादन के लिये अपने परामर्शदाताओं को नियुक्त कर सकता था।

(३) गवर्नर को परामर्श देने तथा उसकी सहायता करने के लिये एक मन्त्रि-परिषद् की व्यवस्था की गई थी। विधान में मन्त्रियों की नियुक्ति-विधि तथा व्यवस्थापिका के साथ उनके सम्बन्ध के विषय में कुछ नहीं कहा गया था। विधान में केवल इतना ही बतलाया गया था कि मंत्रियों की नियुक्ति गवर्नर अपने स्वेच्छाचारी निर्णय से करेगा और वे तभी तक अपने पद पर रह सकेंगे जब तक गवर्नर का उनमें विश्वास होगा। मन्त्रियों को प्रान्तीय धारा-सभा का सदस्य होना चाहिये था, यद्यपि कोई ऐसा भी व्यक्ति मन्त्री के पद पर नियुक्त किया जा सकता था जो अपनी नियुक्ति के समय धारा-सभा का सदस्य न हो परन्तु ६ महीने के भीतर धारा-सभा का सदस्य बन जाना आवश्यक था अन्यथा उसे अपना पद त्याग देना पड़ता। गवर्नर को दिये गये आदेश-पत्र में यह बतलाया गया था कि गवर्नर ऐसे व्यक्ति की परामर्श से अपने मन्त्रियों को चुनेगा जो धारा-सभा में अपना बहुमत बना सके और जो सामूहिक रूप में धारा-सभा के विश्वासपात्र बन सकें। आदेश-पत्र में यह भी आदेश दिया गया था कि गवर्नर प्रमुख अल्प-संख्यकों के प्रतिनिधित्व की व्यवस्था करे। मन्त्रियों का वेतन धारा-सभा के ऐक्ट द्वारा निर्धारित किया जाता था परन्तु प्रतिवर्ष उस पर धारा-सभा का वोट नहीं लिया जाता था। यह संसदीय तथा उत्तरदायी शासन के विरुद्ध था। गवर्नर अपने स्वेच्छाचारी निर्णय से मन्त्रि-परिषद् की बैठक में सभापति का आसन ग्रहण कर सकता था। मन्त्रियों की संख्या निश्चित न थी। अतएव विभिन्न प्रान्तों में इनकी संख्या भिन्न थी, मन्त्रि-परिषद् विभागीय व्यवस्था के अनुसार कार्य कर रहा था और प्रत्येक मन्त्री अपने विभाग का अध्यक्ष होता था जिसके सुशासन के लिये वह पूर्ण रूप से उत्तरदायी होता था। यद्यपि अपने विभाग के साधारण तथा दैनिक कार्यों को प्रत्येक मन्त्री स्वेच्छा से चलाता था परन्तु महत्वपूर्ण विषयों तथा नूतन नीति को उसे पूरे मन्त्रिमण्डल के सामने रखना पड़ता था। मन्त्रियों की सहायता के लिये संसदीय सचिव भी होते थे।

(४) १९३५ के विधान द्वारा प्रान्तीय धारा-सभा के सङ्गठन, कार्य तथा अधिकार में परिवर्तन हुआ भी है। इस विधान द्वारा ६ प्रान्तों अर्थात् बम्बई, मद्रास, बङ्गाल, आसाम, बिहार तथा उत्तर-प्रदेश में दो भवनों की धारा-सभा के स्थापित करने की व्यवस्था की गई। प्रथम सदन का नाम लेजिस्लेटिव असेम्बली और द्वितीय सदन का नाम लेजिस्लेटिव कौंसिल रक्खा गया। शेष प्रान्तों में एक ही सदन की धारा-सभा की व्यवस्था की गई और उसका नाम लेजिस्लेटिव असेम्बली रक्खा गया। गवर्नर भी धारा-सभा का एक अभिन्न अङ्ग मान लिया गया था। इस प्रकार प्रान्तों में प्रथम बार द्वैध भवनात्मक व्यवस्था की गई।

असेम्बली के सभी सदस्य पृथक् साम्प्रदायिक निर्वाचन पद्धति द्वारा निर्वाचित किये जाते थे। इसकी अवधि ५ वर्ष की थी परन्तु गवर्नर इसके पूर्व भी इसे भङ्ग कर सकता था। गवर्नर इसकी अवधि को बढ़ा नहीं सकता था। कौंसिल के कुछ सदस्य गवर्नर द्वारा मनोनीत किये जाते थे और शेष निर्वाचित होते थे। यह एक स्थायी संस्था थी जिसके एक तिहाई सदस्य प्रति तीसरे वर्ष अलग हो जाते थे और इतने ही नये सदस्य निर्वाचित कर लिये जाते। इस प्रकार प्रत्येक सदस्य ६ वर्ष तक इसका सदस्य रह सकता था। कोई व्यक्ति एक ही साथ दोनों सदनों का सदस्य नहीं हो सकता था।

असेम्बली को अपने सदस्यों में से एक अध्यक्ष तथा एक उपाध्यक्ष निर्वाचित करने का अधिकार प्राप्त था। यह दोनों पदाधिकारी त्याग-पत्र देकर अपने पद से अलग हो सकते थे। सदस्य अविश्वास प्रस्ताव पास करके भी इन्हें पदच्युत कर सकते थे। कौंसिल को भी अपने अध्यक्ष तथा उपाध्यक्ष के निर्वाचित करने का अधिकार प्राप्त था।

प्रान्तीय धारा-सभा को व्यवस्था सम्बन्धी, शासन सम्बन्धी तथा राजस्व सम्बन्धी अधिकार प्राप्त थे। जो विषय प्रान्तीय सूची में रक्खे गये थे उन पर एक मात्र क़ानून बनाने का अधिकार प्रान्तीय धारा-सभा को था, केवल गम्भीर परिस्थिति में अथवा दो या अधिक प्रान्तों की सम्मति से ही संघीय धारा-सभा उन पर क़ानून बना सकती थी। समवर्ती सूची के अन्तर्गत आने वाले विषयों पर भी प्रान्तीय धारा-सभा को क़ानून बनाने का अधिकार प्राप्त था। प्रान्तीय धारा-सभा के व्यवस्था सम्बन्धी अधिकारों पर अनेक प्रतिबन्ध थे। कुछ ऐसे विषय थे जिन पर प्रान्तीय धारा-सभा को क़ानून बनाने का अधिकार ही न था और कुछ ऐसे विषय थे जिन पर गवर्नर की पूर्व स्वीकृति प्राप्त करना आवश्यक था। प्रान्तीय धारा-सभा द्वारा पारित कोई विधेयक तब तक क़ानून नहीं बन सकता था जब तक गवर्नर अपनी अन्तिम स्वीकृति न दे दे। गवर्नर किसी भी बिल को अस्वीकार कर सकता था अथवा गवर्नर-जनरल के विचार के लिये रख सकता था जो उस पर अपनी स्वीकृति दे सकता था अथवा सम्राट् के विचार के लिये रोक सकता था अथवा प्रान्तीय धारा-सभा के पुनर्विचार के लिये लौटा सकता था। प्रस्ताव, स्थगित प्रस्ताव तथा अविश्वास प्रस्ताव पास करके तथा प्रश्न एवं पूरक प्रश्न करके धारा-सभा शासन को प्रभावित करती थी और मन्त्रियों पर अपना नियन्त्रण रखती थी। प्रान्तीय धारा-सभा के राजस्व सम्बन्धी अधिकार भी सीमित थे। व्यय की बहुत सी ऐसी मदें थी जिन पर धारा-सभा को मत देने का अधिकार न था। जिन मदों पर धारा-सभा को व्यय के कम करने अथवा अस्वीकार करने का भी अधिकार था उनमें भी गवर्नर व्यय करने की स्वीकृति और कटौती की पूर्ति कर सकता था। राजस्व बिल पर मतदान का अधिकार केवल असेम्बली को था कौंसिल को नहीं। राजस्व बिल को छोड़कर शेष कोई भी बिल किसी भी भवन में आरम्भ किया जा सकता था परन्तु राजस्व बिल केवल असेम्बली में ही आरम्भ हो सकता था।

(५) गवर्नर को व्यवस्था सम्बन्धी अनेक अधिकार प्राप्त थे। वही प्रान्तीय धारा-सभा की बैठक कराता था और उसे विसर्जित करता था। उसकी अवधि के पूर्व भी वह उसे भङ्ग कर सकता था। उसे दोनों भवनों में भाषण देने का अधिकार था। दोनों भवनों में मत-भेद हो जाने पर वह उनकी सामूहिक बैठक करके मत-भेद को दूर कर सकता था। प्रान्तीय धारा-सभा द्वारा पारित विधेयकों पर उसकी अन्तिम स्वीकृति प्राप्त करना आवश्यक था। वह किसी भी बिल को अस्वीकार कर सकता था। कुछ विशेष परिस्थितियों में वह धारा-सभा की कार्यवाही सम्बन्धी नियम भी बना सकता था। प्रान्त की शान्ति तथा सुव्यवस्था के लिये वह धारा-सभा में किसी भी विधेयक पर वाद-विवाद बन्द करवा सकता था। वह गवर्नर के ऐक्ट तथा अध्यादेश को पारित कर सकता था।

संविधान में परिवर्तन—१९३५ का संविधान अपरिवर्तनशील था। संविधान में

परिवर्तन करने का अधिकार केवल बृटिश सरकार को प्राप्त था। भारतीय धारा-सभा इस अधिकार से वंचित थी। उसे बृटिश सरकार के पास केवल सिफ़ारिशें भेजने का अधिकार था।

विधान की आलोचना—१९३५ के विधान की तीव्र आलोचना की गई है और भारतीय लोकमत इसके सर्वथा विरुद्ध था। इस विधान में निम्न-लिखित प्रमुख दोष थे :—

(१) इसका सबसे बड़ा दोष यह था कि इसमें संरक्षण की इतनी अधिक व्यवस्था की गई थी कि वास्तविक प्रजातन्त्रात्मक व्यवस्था के लिये कोई स्थान न रह गया था। गवर्नर-जनरल तथा गवर्नरों को इतने विशेषाधिकार दे दिये गये थे और इतना विशेषोत्तरदायित्व उन पर डाल दिया गया था कि शासन का वास्तविक संचालन तथा नियन्त्रण उन्हीं के हाथ में चला गया था और मन्त्रियों की शक्ति जो प्रजा के वास्तविक प्रतिनिधि थे बहुत कम हो गई थी। इसी से पं० जवाहरलाल नेहरू ने लिखा है कि १९३५ का संविधान एक ऐसी मशीन थी जिसमें न कोई ब्रेक था और न कोई इञ्जिन। इसका वाह्य स्वरूप तो लोकतन्त्रात्मक था परन्तु वास्तव में था यह स्वेच्छाचारी एवं निरंकुश।

(२) भारतीयों को संविधान के परिवर्तित करने अथवा उसमें संशोधन करने का अधिकार नहीं दिया गया था। इसका एकाधिकार बृटिश सरकार को प्राप्त था। भारतीय सरकार को बृटिश सरकार के आदेशानुसार कार्य करना पड़ता था। भारतीय लोक मत इस वाह्य-नियन्त्रण के विरुद्ध था।

(३) यद्यपि प्रान्तों में द्वैध शासन-व्यवस्था का अनुभव कर लिया गया था और भारतीय लोकमत इसके विरुद्ध था परन्तु हठात् इसे फिर केन्द्र में प्रस्थापित करने की आयोजना की गई। इस व्यवस्था की असफलता अवश्यम्भावी थी।

(४) यद्यपि सभी बृटिश प्रान्त संघ में सम्मिलित होने के लिये वाध्य थे परन्तु सभी देशी राज्य ऐसा करने के लिये वाध्य न थे। यह एक बहुत बड़ा दोष था। इतना ही नहीं। यद्यपि सभी प्रान्त समान शर्तों पर संघ में सम्मिलित होने के लिये वाध्य थे परन्तु देशी राज्य विभिन्न शर्तों पर संघ में सम्मिलित हो सकते थे। इसका परिणाम यह होता कि देशी राज्यों के प्रतिनिधियों का नियंत्रण उन सभी विषयों पर हो जाता जो संघीय सूची के अन्तर्गत थे परन्तु बृटिश प्रान्तों के प्रतिनिधियों का नियंत्रण देशी राज्यों के केवल उतने ही विषयों पर होता जो संघ को हस्तान्तरित किये जाते। इसके अतिरिक्त इस विधान में देशी राज्यों की प्रजा के अधिकारों की पूर्ण रूप से उपेक्षा की गई थी क्योंकि राज्य-परिषद् तथा लोक सभा दोनों के लिये देशी राज्यों के प्रतिनिधि वहाँ के नरेशों द्वारा मनोनीत किये जाते। वहाँ की प्रजा को अपने निर्वाचित प्रतिनिधि भेजने का अधिकार न था। यह व्यवस्था अत्यन्त अप्रजातन्त्रात्मक थी।

(५) संघीय लोक-सभा का अप्रत्यक्ष निर्वाचन अनैतिहासिक तथा अलोकतन्त्रात्मक था। ऐसी व्यवस्था विश्व के अन्य किसी भी देश में नहीं पाई जाती। यह व्यवस्था अत्यन्त असामयिक थी।

(६) इस विधान द्वारा अखिल भारतीय नौकरियों पर भारत-सचिव का जो नियंत्रण रक्खा गया था उससे भी भारतीयों में बड़ा असन्तोष फैला।

(७) यद्यपि सेना पर सबसे अधिक धन व्यय करने की व्यवस्था की गई थी परन्तु उस पर भारतीयों का कोई नियंत्रण न था क्योंकि वह एक संरक्षित विषय था।

(८) पृथक् साम्प्रदायिक निर्वाचन पद्धति से भी भारतीयों को बड़ा असन्तोष था जिसके दुष्परिणाम भयानक सिद्ध हुये।

१९३५ के संविधान का क्रियात्मक स्वरूप—ऊपर १९३५ के संविधान की रूप-रेखा का संक्षिप्त वर्णन कर दिया गया है। उस पर एक विहंगम दृष्टि डालने पर यह परिलक्षित होता है कि इस विधान द्वारा प्रान्तों में पूर्ण उत्तरदायी शासन तथा केन्द्र में आंशिक उत्तरदायी शासन के स्थापित करने की आयोजना की गई थी परन्तु गवर्नर-जनरल तथा प्रान्तीय गवर्नरों को इतने व्यापक अधिकार प्रदान कर दिये गये थे कि वे न केवल धारा-सभाओं के बनाये हुये क़ानूनों को रद्द कर सकते थे वरन् स्वयम् भी क़ानून बना सकते थे और जनता द्वारा निर्वाचित मन्त्रियों की इच्छा के विरुद्ध भी स्वेच्छा से मनमानी कार्य कर सकते थे। बड़ी-बड़ी नौकरियों तथा पुलिस को संरक्षण प्रदान किया था। मन्त्रियों के नियंत्रण से वे उन्मुक्त कर दिये गये थे। इस दशा में भारतीयों का असन्तुष्ट होना स्वाभाविक ही था।

१९३७ का आम चुनाव—१९३५ के संविधान के क्रियात्मक स्वरूप की विवेचना करने के पूर्व ही यह बतला देना आवश्यक है कि अपेक्षित देशी राज्यों के संघ में सम्मिलित होने के लिये उद्यत न होने के कारण केन्द्रीय व्यवस्था कार्यान्वित न हो सकी। अतएव नये विधान के अनुसार सर्व-प्रथम प्रान्तों में ही कार्य आरम्भ हुआ। १९३७ के प्रारम्भ में ही प्रान्तीय धारा-सभाओं के सदस्यों का निर्वाचन आरम्भ हुआ। यद्यपि कांग्रेस ने १९३५ के विधान पर अपना असन्तोष प्रकट किया था परन्तु निर्वाचन का उसने बहिष्कार नहीं किया वरन् आम चुनाव में बड़े उत्साह के साथ भाग लिया। इस चुनाव में कांग्रेस को आशातीत सफलता प्राप्त हुई। उसको ६ प्रान्तों में अर्थात् उत्तर-प्रदेश, बिहार, उड़ीसा, मध्य प्रदेश, मद्रास तथा बम्बई में पूर्ण बहुमत प्राप्त हुआ। आसाम, बंगाल तथा उत्तरी-पश्चिमी सीमा प्रान्त में भी यद्यपि कांग्रेस का बहुमत था परन्तु उसका पूर्ण बहुमत न था। पंजाब तथा सिन्ध में कांग्रेस को विशेष सफलता न मिली। यहाँ पर एक बात विशेष रूप से ध्यान देने की यह है कि इस चुनाव में मुस्लिम लीग को किसी भी प्रान्त में श्लाघनीय सफलता न प्राप्त हुई। दूसरी बात ध्यान देने की यह है कि उदारदल वाले इस चुनाव में बुरी तरह परास्त हुये। तीसरी बात ध्यान देने की जो सबसे अधिक महत्व पूर्ण है यह है कि कांग्रेस विधान को सफल बनाने के लिये चुनाव नहीं लड़ी थी वरन् उसका उद्देश्य उसका विरोध करना था क्योंकि उसने विधान को अस्वीकार कर दिया था परन्तु मुस्लिम लीग तथा अन्य राजनैतिक दलों का दृष्टिकोण भिन्न था। वे संविधान के अनुसार कार्य करने के लिये उद्यत थे और प्राप्त अवसर से अधिक से अधिक लाभ उठाना चाहते थे।

पद-ग्रहण की समस्या—आम-चुनाव के उपरान्त पद-ग्रहण की समस्या उत्पन्न हो गई। कांग्रेस के नेताओं में इस प्रश्न पर मत-भेद हो गया। श्री राजगोपालाचारी, सरदार वल्लभ भाई पटेल तथा डा० राजेन्द्र प्रसाद पद ग्रहण के पक्ष में थे। इनकी धारणा यह थी कि पद-ग्रहण कर लेने से कांग्रेस की शक्ति बड़ी प्रबल हो जायगी और स्वतन्त्रता के संग्राम में बड़ा योग मिलेगा। इसके विपरीत पं० जवाहरलाल नेहरू तथा सुभाष चन्द्र बोस पद-ग्रहण के विरुद्ध थे क्योंकि उनकी धारणा थी कि पद-ग्रहण करने से कांग्रेस की क्रान्तिकारी उत्तेजना मन्द पड़ जायगी। अन्त में गाँधी जी की मध्यस्थता से समझौता हो गया और १३ मार्च १९३७ को अखिल भारतीय कांग्रेस समिति ने एक प्रस्ताव पास करके उन प्रान्तों में जहाँ कांग्रेस का पूर्ण बहुमत था इस शर्त पर पद ग्रहण करने की स्वीकृति दे दी कि गवर्नर इस बात की घोषणा करें कि वे अपने विशेषाधिकारों का प्रयोग न करेंगे और जिन विषयों में उन्हें अपने स्वेच्छाचारी एवं व्यक्तिगत निर्णय से कार्य करने का अधिकार है उनमें भी वे अपने मन्त्रियों की परामर्श से कार्य करेंगे। गवर्नर इस प्रकार का आश्वासन देने के लिये उद्यत न हुये। अतएव जिन प्रान्तों में कांग्रेस का पूर्ण बहुमत था उनमें मन्त्रि-परिषद् का

निर्माण खटाई में पड़ गया। शेष प्रान्तों में जहाँ कांग्रेस का पूर्ण बहुमत न था कोई ऐसी समस्या न उत्पन्न हुई क्योंकि वहां पर गवर्नरों के सामने कोई इस प्रकार की शर्त न रक्खी गई। फलतः उन प्रान्तों में मन्त्रि-परिषदें बन गई और पहिली अप्रैल १९३७ से कार्य करने लगीं। जिन प्रान्तों में कांग्रेस का पूर्ण बहुमत था उनमें भी अल्प-संख्यकों की सहायता से अन्तर्कालीन मन्त्रिपरिषदों का निर्माण किया गया परन्तु यह व्यवस्था केवल ६ महीने तक चल सकती थी क्योंकि ६ महीने के भीतर धारा-सभा की बैठक करना आवश्यक था और उस समय अविश्वास प्रस्ताव पास कर उन्हें अपदस्थ कर दिया जाता। अतएव अन्तर्कालीन सरकार बन जाने पर भी कांग्रेस तथा सरकार में समझौते की बात-चीत चलती रही। अन्ततोगत्वा २१ जून १९३७ को वाइसराय लार्ड लिनलिथगो ने अपनी महत्वपूर्ण घोषणा की जिसके द्वारा उन्होंने यह आश्वासन दिया कि साधारणतया गवर्नर सभी कार्यों को मन्त्रियों की परामर्श से किया करेंगे और मन्त्रियों के कार्यों में अनावश्यक हस्तक्षेप न करेंगे। वाइसराय ने यह भी आश्वासन दिया कि वे स्वयम् भी इस बात का यथाशक्ति प्रयत्न करेंगे कि प्रान्तों में संसदीय व्यवस्था के अनुसार शासन चलता है। वाइसराय के इस आश्वासन के फल-स्वरूप ६ प्रान्तों में कांग्रेसी मन्त्रि-मण्डल का निर्माण हो गया।

प्रान्तीय स्वतंत्रता का क्रियात्मक स्वरूप—कांग्रेस द्वारा पद-ग्रहण का निश्चय करते ही उन प्रान्तों में जहां कांग्रेस का पूर्ण बहुमत था अन्तर्कालीन सरकार का अन्त कर दिया गया और कांग्रेसी मन्त्रि-मण्डल का निर्माण हो गया। कुछ ही महीने बाद उत्तरी-पश्चिमी सीमा प्रान्त में भी कांग्रेसी मन्त्रिमण्डल का निर्माण हो गया। कांग्रेसी मन्त्री अक्तूबर १९३९ तक अपने पद पर आसीन रहे। इन २८ महीनों में कांग्रेसी मन्त्रियों ने ऐसे श्लाघनीय कार्य किये कि इङ्गलैण्ड में भी उनकी भूरि-भूरि प्रशंसा की गई। इस काल में मन्त्रियों तथा गवर्नरों में आशातीत सहयोग रहा और गवर्नरों ने अपने मन्त्रियों के कार्यों में कम से कम हस्तक्षेप करने का प्रयत्न किया। सरकारी पदाधिका-रियों ने भी मन्त्रियों के साथ पूर्ण सहयोग किया और उनकी आयोजनाओं को सफल बनाने का यथाशक्ति प्रयत्न किया। मन्त्रियों ने भी ऐसे प्रश्न नहीं उपस्थित किये जिससे संघर्ष उत्पन्न होता। मन्त्रियों तथा गवर्नरों में दो एक बार मत-भेद अवश्य हुआ परन्तु उसे शीघ्र ही दूर कर दिया गया। उदाहरण के लिये उत्तर-प्रदेश तथा बिहार में राजनैतिक बन्दियों की मुक्ति पर मन्त्रियों तथा गवर्नरों में मत-भेद हो गया और मन्त्रियों ने अपना त्याग-पत्र दे दिया परन्तु शीघ्र ही समझौता हो गया। राजनैतिक बन्दी कारागार से मुक्त कर दिये गये और मन्त्रियों ने अपना त्याग-पत्र वापस ले लिया। उड़ीसा में भी संघर्ष हो गया परन्तु समस्या सुलझा ली गई। क़ानून निर्माण के क्षेत्र में भी कोई विशेष संघर्ष नहीं हुआ और धारा-सभा द्वारा पारित अधिकांश विधेयकों पर गवर्नरों ने अपनी स्वीकृति दे दी। कांग्रेसी मन्त्रियों ने जिस योग्यता के साथ शासन किया उसकी अंग्रेजों ने भी मुक्त-कण्ठ से प्रशंसा की है।

कांग्रेसी मंत्रियों का त्याग-पत्र—१९३९ में यूरोप में द्वितीय महासमर का आरम्भ हो गया। बृटिश सरकार के लिये यह एक अत्यन्त भयानक स्थिति का काल था। भारतीय नेता इस आपत्ति काल में बृटिश सरकार को तङ्ग करना नहीं चाहते थे परन्तु उनकी यह जिज्ञासा अवश्य थी कि युद्ध किस लिये लड़ा जा रहा है। यदि यह युद्ध स्वतन्त्रता के लिये लड़ा जा रहा है तो भारतवर्ष को स्वतन्त्र कर देना चाहिये। तभी बृटिश सरकार को इस युद्ध में भारतीयों की सहायता मिल सकती है। सन्तोषजनक उत्तर न मिलने पर कांग्रेसी मन्त्रियों ने अक्तूबर १९३९ में अपना त्याग-पत्र दे दिया। इस प्रकार जिन प्रान्तों में कांग्रेस का मन्त्रिमण्डल था वहाँ पर वैधानिक सङ्कट उत्पन्न

हो गया। फलतः गवर्नरों ने इन प्रान्तों में परामर्शदाताओं को नियुक्त कर शासन चलाना आरम्भ किया।

१९४७ तक की घटनायें—कॉंग्रेसी मन्त्रियों के त्याग-पत्र के उपरान्त राष्ट्रीय आन्दोलन तथा विश्वव्यापी संग्राम दोनों ही समान रूप से गतिमान् थे। संघर्ष तथा संग्राम के काल में तथा उसके उपरान्त भी अनेक वैधानिक आयोजनाओं की कल्पना की गई जिनका संक्षिप्त परिचय प्राप्त कर लेना स्थान संगत होगा।

१९४० की बृटिश सरकार की घोषणा—उपरोक्त वैधानिक संकट तथा राष्ट्रीय आन्दोलन के कारण १९४० में बृटिश सरकार ने एक घोषणा की जिसमें यह बतलाया गया कि "बृटिश सरकार का ध्येय भारत में युद्ध के उपरान्त शीघ्रातिशीघ्र स्वतन्त्र औपनिवेशिक राज्य स्थापित करना है। भारत का संविधान भारतीयों द्वारा ही निर्मित किया जायगा परन्तु इस विधान का निर्माण करते समय भारत सरकार उन समस्याओं को ध्यान में रक्खेगी जो भारत तथा इङ्गलैण्ड के दीर्घकालीन सम्बन्ध के कारण उत्पन्न हो गई हैं।" इस घोषणा से भारतीयों का असन्तोष लेशमात्र कम न हुआ और जब वाइसराय ने अपनी कार्य-कारिणी के राष्ट्रीयकरण का प्रयास किया तब सभी राजनैतिक दलों ने उसमें भाग लेने से इन्कार कर दिया। यद्यपि वाइसराय ने कई भारतीयों को सम्मिलित कर अपनी कार्य-कारिणी के सदस्यों की संख्या बढ़ा ली थी परन्तु राष्ट्रीय आन्दोलन पर इसका बिलकुल प्रभाव न पड़ा।

क्रिप्स योजना—१९४१ में जापान भी धुरी राष्ट्रों की ओर से युद्ध में सम्मिलित हो गया। इससे बृटिश सरकार की चिन्ता बहुत बढ़ गई। जापान की सेनायें अत्यन्त द्रुतगति से अग्रसर हुई और अचिरात भारत की सीमा पर आ डटीं। ऐसी दशा में भारतीय जनता का सहयोग प्राप्त करना अनिवार्य हो गया। अतएव मार्च १९४२ में बृटिश सरकार ने सर स्टैफोर्ड क्रिप्स को कुछ योजनाओं के साथ भारत भेजा। इस योजना की रूप-रेखा निम्नाङ्कित थी :—

(१) युद्ध के समाप्त हो जाने पर भारतवासी अपना विधान स्वयम् अपनी निर्वाचित विधान-सभा द्वारा निर्मित करेंगे।

(२) इस विधान-सभा के लिये प्रान्तीय विधान सभाओं द्वारा सदस्य निर्वाचित होंगे जिनकी संख्या प्रान्तीय विधान सभा के कुल सदस्यों की संख्या की $\frac{1}{10}$ होगी।

(३) देशी राज्यों को भी इस विधान सभा में अपने प्रतिनिधि भेजने का अधिकार होगा जिनकी संख्या उनकी जन-संख्या के उतने ही अनुपात में होगी जितनी प्रान्तों के सदस्यों की होती है।

(४) इस विधान सभा को अपनी इच्छानुसार भारत के लिये विधान बनाने की स्वतन्त्रता होगी। उसमें केवल अल्प-संख्यकों के हितों की रक्षा तथा बृटिश सरकार के साथ एक प्रकार के समझौते का आयोजन होगा।

(५) यदि कुछ प्रान्त अथवा देशी राज्य विधान-सभा में भाग लेने के उपरान्त इस बात का अनुभव करें कि प्रस्तावित विधान उन्हें स्वीकार नहीं है तो उन्हें भारतीय यूनियन से अलग अपना स्वतन्त्र उपनिवेश बनाने का अधिकार होगा। इस प्रकार बृटिश सरकार ने अप्रत्यक्ष रूप में पाकिस्तान की योजना को स्वीकार कर लिया।

उपरोक्त सभी परिवर्तन युद्ध के उपरान्त ही हो सकते थे। युद्ध-काल में केवल इतना ही परिवर्तन हो सकता था कि वाइसराय अपनी कार्य-कारिणी के कार्यों में किसी प्रकार का हस्तक्षेप न करे। कॉंग्रेस को क्रिप्स योजना मान्य न हुई क्योंकि वह पूर्ण रूप से संसदीय कार्य-कारिणी चाहती थी। इसके अतिरिक्त कॉंग्रेस देश की रक्षा सम्बन्धी

समस्याओं पर भी नियंत्रण चाहती थी। यह दोनों बातें बृटिश सरकार को मान्य न थी। अतएव क्रिप्स योजना निष्फल हो गई।

वेवल योजना—क्रिप्स योजना भंग हो जाने पर फिर राष्ट्रीय आन्दोलन ने उग्र रूप धारण कर लिया। काँग्रेस का गमन तथा बृटिश सरकार का दमन-कुचक्र साथ-साथ चलने लगा। अगस्त १६४४ को लार्ड लिनलिथगो इङ्गलैण्ड वापस बुला लिये गये और उनके स्थान पर लार्ड वेवल भारत के वाइसराय बना दिये गये। लार्ड वेवल ने भारतीय स्थिति के सुधारने का कार्य तुरन्त आरम्भ कर दिया। उन्होंने २५ जून १६४४ को शिमला में भारतीय नेताओं का एक सम्मेलन किया जिनके समक्ष निम्नलिखित सुझाव रक्खे गये :—

(१) वाइसराय की कार्य-कारिणी का पुनर्संगठन होगा जिसमें वाइसराय तथा प्रधान सेनापति के अतिरिक्त अन्य सभी सदस्य भारतीय होंगे।

(२) केन्द्रीय कार्य-कारिणी समिति में सवर्ण हिन्दू तथा मुसलमान सदस्य बराबर संख्या में होंगे। इसके अतिरिक्त भारतीय ईसाई, सिक्ख तथा दलित जातियों के अलग प्रतिनिधि होंगे।

(३) यदि उपरोक्त योजना सफल हो गई तो प्रान्तों में भी फिर से मन्त्रिमण्डलों का निर्माण हो जायगा।

(४) यदि यह सम्मेलन सफल न हुआ तो वर्तमान कार्य-कारिणी तब तक कार्य करती रहेगी जब तक परस्पर समझौता न हो जायगा।

यद्यपि वेवल योजना में अनेक दोष थे जिन पर अन्यत्र विचार किया जा चुका है फिर भी भारतीय नेताओं ने समझौते का प्रयास आरम्भ किया। दुर्भाग्यवश काँग्रेस तथा लीग के मत-भेद के कारण समझौता न हो सका। लीग सभी मुस्लिम सदस्यों को नियुक्त करने का अपना एकाधिकार समझती थी। इसके विपरीत कांग्रेस एक राष्ट्रीय संस्था होने के कारण यह कहती थी कि उसे राष्ट्रीय मुसलमान के नियुक्त करने का अधिकार होना चाहिये। चूंकि काँग्रेस तथा लीग दोनों ही अपनी-अपनी बात पर डटे रहे अतएव वेवल वार्ता भङ्ग हो गई।

कैबिनेट मिशन की योजना—वेवल योजना भङ्ग हो जाने के उपरान्त ग्रेट बृटेन की राजनीति में बहुत बड़ा परिवर्तन आरम्भ हो गया। वहाँ आम-चुनाव के फल-स्वरूप अनुदार दल की पराजय तथा मज़दूर दल की विजय हो गई। इस राजनैतिक परिवर्तन का भारत की राजनीति पर भी प्रभाव पड़े बिना न रहा क्योंकि इङ्गलैण्ड के मज़दूर दल की सहानुभूति सदैव भारतीयों के साथ रही है। शासन भार ग्रहण करने के थोड़े ही दिन उपरान्त ६ दिसम्बर १६४५ को पार्लियामेण्ट के सदस्यों का एक शिष्ट-मण्डल भारत भेजा गया। इस शिष्ट-मण्डल ने लगभग डेढ़ महीने तक भारत के विभिन्न भागों में भ्रमण किया और भारतीय नेताओं से बात-चीत की। भारत की वास्तविक स्थिति का ज्ञान प्राप्त कर लेने के उपरांत यह शिष्ट-मण्डल इङ्गलैण्ड लौट गया और पार्लियामेण्ट के समक्ष अपनी रिपोर्ट उपस्थित की। इस रिपोर्ट के फल-स्वरूप इङ्गलैंड के प्रधान-मन्त्री मेजर एटली ने १६ फरवरी १६४६ को भारत में एक कैबिनेट मिशन के भेजने की घोषणा की। इस घोषणा के अनुसार बृटिश कैबिनेट के तीन सदस्य अर्थात् लार्ड पेथिक लारेन्स, सर स्टैफ़र्ड क्रिप्स तथा मि० अलेक्ज़ेन्डर ३ मार्च १६४६ को भारत आ गये। इन लोगों ने कांग्रेस तथा लीग में समझौता कराने का भगीरथ प्रयास किया। परन्तु समझौते का कोई मार्ग दृष्टिगोचर न हुआ क्योंकि मुस्लिम लीग पाकिस्तान बनाने के लिये दृढ़ थी और काँग्रेस अखण्ड भारत का प्रतिपादन कर रही थी। ऐसी स्थिति में कैबिनेट मिशन ने अपनी एक आयोजना उपस्थित की जो उनके विचार में सभी दलों को अधिकाधिक सन्तुष्ट कर सकती थी। इस

आयोजना को दो भागों में विभक्त किया गया था अर्थात् दीर्घकालीन आयोजना तथा अन्तर्कालीन आयोजना। दीर्घ-कालीन योजना की निम्नलिखित रूप-रेखा थी :—

(१) सम्पूर्ण भारत के लिये जिसमें देशी राज्य भी सम्मिलित होंगे एक संघ होगा। इस संघ के अनुशासन में केवल तीन विषय होंगे अर्थात् विदेशों के साथ सम्बन्ध, देश-रक्षा तथा यातायात के साधन।

(२) संघ की एक कार्य-कारिणी तथा एक व्यवस्थापिका होगी। इसमें देशी राज्यों के भी प्रतिनिधि होंगे। प्रत्येक महत्वपूर्ण साम्प्रदायिक प्रश्न का निर्णय दो प्रमुख जातियों के सदस्यों तथा उपस्थित सदस्यों के बहुमत से होगा।

(३) जो विषय केन्द्र को हस्तान्तरित नहीं किये गये हैं उन सबका प्रबन्ध प्रान्तीय सरकारें स्वयं करेंगी।

(४) इसी प्रकार जो विषय संघ सरकार को हस्तान्तरित न किये जायेंगे उन पर देशी राज्यों का अपना नियन्त्रण रहेगा।

(५) प्रान्तों को उप-संघ बनाने का अधिकार होगा। इन उप-संघों में कार्य-कारिणी तथा व्यवस्थापिकायें भी होंगी। प्रत्येक उप-संघ उन विषयों का निर्णय करेगा जो सामान्य होंगे।

(६) भारतीय राष्ट्र तथा प्रान्त-समूहों के विधानों में इस प्रकार की धारा रहनी चाहिये जिसके द्वारा कोई भी प्रान्त अपनी धारा-सभा के बहुमत से प्रथम दस वर्ष बाद और फिर प्रति दस वर्ष बाद विधान की शर्तों पर फिर से विचार करने का प्रस्ताव उपस्थित कर सके।

मिशन की उपरोक्त योजना का समीक्षात्मक अध्ययन करने पर इसमें अनेक गुण-दोष परिलक्षित होते हैं। इस योजना का सबसे बड़ा गुण यह था कि इसमें पाकिस्तान की माँग को स्वीकार नहीं किया गया था। इस योजना का दूसरा गुण यह था कि इसमें अल्प-संख्यक जातियों को अधिक प्रतिनिधित्व देने की माँग को स्वीकार नहीं किया गया और सभी जातियों को समानाधिकार प्रदान किया गया। इसका तीसरा गुण यह था कि इसमें प्रान्तों तथा देशी राज्यों को मिलाकर एक संघ बनाने का निश्चय किया गया। इस योजना का चौथा गुण यह था कि संविधान सभा में देशी राज्यों के प्रतिनिधियों का वहाँ के नरेशों द्वारा चुना जाना आवश्यक नहीं बतलाया गया। इस योजना में यह बतलाया गया था कि प्रान्तों तथा देशी राज्यों के प्रतिनिधियों की एक समिति इसका निश्चय करेगी। इस योजना का पाँचवाँ गुण यह था कि संविधान सभा में अंग्रेजों को किसी प्रकार का प्रतिनिधित्व प्रदान नहीं किया गया था।

मिशन की उपरोक्त योजना में कई दोष भी थे। इस योजना में सबसे बड़ा दोष यह था कि सिक्खों के साथ घोर अत्याचार किया गया था। उनके अधिकारों की रक्षा के लिये कोई व्यवस्था नहीं की गई थी। मिशन की योजना का दूसरा दोष यह था कि इसमें विभागों के बनाने की बात और फिर विभागों द्वारा उनके अन्तर्गत प्रान्तों के विधान का निश्चय किया गया था। प्रान्तों को अपने विधान स्वयम् बनाने की आज्ञा न देना प्रान्तीय स्वशासन के सिद्धान्त के विरुद्ध था। इस योजना का तीसरा दोष यह था कि इसमें केन्द्रीय सत्ता को अत्यन्त शक्तिहीन तथा निर्बल बना दिया गया था क्योंकि उसके नियंत्रण में केवल तीन ही विषय रक्खे गये थे और अन्य विषयों पर से उसका नियन्त्रण हटा लिया गया था। इस योजना का चौथा दोष यह था कि इसके अन्त में यह कहा गया था कि बृटिश सरकार केवल उस दशा में विधान सभा द्वारा प्रस्तावित विधान स्वीकार करेगी जब विधान सभा में सभी दल वाले भाग लें। इससे मुस्लिम लीग को बड़ा प्रोत्साहन मिला और वह अपनी पाकिस्तान की माँग पर दृढ़ रही।

मिशन की योजना का क्रियात्मक स्वरूप—मुस्लिम लीग ने मिशन की दीर्घ-

कालीन तथा अन्तर्कालीन दोनों योजनाओं को स्वीकार कर लिया परन्तु कांग्रेस ने केवल दीर्घकालीन योजना को स्वीकार किया। अन्तर्कालीन योजना को उसने अस्वीकार कर दिया क्योंकि कांग्रेस इस बात पर दृढ़ थी कि केन्द्रीय कार्य-कारिणी में एक राष्ट्रीय मुसलमान का होना अनिवार्य है जिसे मुस्लिम लीग मानने के लिये उद्यत न थी। मुस्लिम लीग को यह आशा थी कि चूंकि उसने दोनों योजनाओं को स्वीकार कर लिया है अतएव वाइसराय उसे केन्द्र में सरकार बनाने के लिये आमन्त्रित करेंगे परन्तु बहुमत दल की उपेक्षा करके ऐसा करने का साहस वाइसराय को न हुआ। इससे अप्रसन्न होकर मुस्लिम लीग ने दोनों ही आयोजनाओं को अस्वीकार कर दिया। इधर संविधान सभा का निर्वाचन भी हो गया जिससे यह स्पष्ट हो गया कि कांग्रेस ही भारत की सबसे बड़ी राजनैतिक संस्था है। फलतः अगस्त १९४६ में लार्ड वेवल ने पं० जवाहरलाल नेहरू को राष्ट्रीय मन्त्रिमण्डल का निर्माण करने के लिये आमन्त्रित किया। २ सितम्बर १९४६ को नेहरू मन्त्रिमण्डल का निर्माण हो गया। अक्तूबर १९४६ के अन्तिम सप्ताह में मुस्लिम लीग के भी सदस्य इस मन्त्रिमण्डल में सम्मिलित हो गये। इस प्रकार केन्द्र में संयुक्त मन्त्रिमण्डल का निर्माण हो गया। इस संयुक्त मंत्रिमण्डल का कार्य बड़ा ही असन्तोषजनक था। लीगी सदस्यों ने अड़ंगे की नीति का अनुसरण करना आरम्भ किया और पं० नेहरू तथा उनके साथियों के कार्य में पग-पग पर कठिनाइयाँ उत्पन्न करना आरम्भ किया।

माउण्टबेटन की भारत विभाजन योजना—लार्ड वेवल भारतीय समस्या के सुलझाने में सर्वथा असमर्थ रहे। अतएव वे इङ्गलैण्ड वापस बुला लिये गये और उनके स्थान पर लार्ड माउण्टबेटन वाइसराय बना कर भेजे गये। तत्कालीन भारतीय परिस्थिति पर विचार करने के उपरान्त लार्ड माउण्टबेटन इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि भारत का विभाजन अनिवार्य है। अतएव उन्होंने बङ्गाल तथा पंजाब के विभाजन की आयोजना बनाई। मुस्लिम लीग को यह योजना स्वीकार करनी पड़ी। इसके बाद देश को भारत सङ्घ तथा पाकिस्तान में विभाजित करने की योजना को भी कांग्रेस तथा मुस्लिम लीग ने स्वीकार कर ली। जनमत द्वारा यह निश्चित हुआ कि पश्चिमी पंजाब, उत्तरी-पश्चिमी सीमा प्रान्त, सिंध तथा पूर्वी बङ्गाल पाकिस्तान में रहेंगे और शेष प्रान्त भारत सङ्घ में रहेंगे।

१९४७ का भारतीय स्वतन्त्रता विधान—लार्ड माउन्टबेटन का भारत विभाजन की योजना को कार्यान्वित करने के लिये ४ जुलाई १९४७ को बृटिश पार्लियामेंट में एक बिल उपस्थित किया गया जिसे भारतीय स्वतन्त्रता बिल के नाम से पुकारा गया है। १५ जुलाई को यह बिल पास कर दिया गया और विधान बन गया। इस विधान द्वारा निम्न-लिखित आयोजनायें की गईं :—

(१) भारत को दो भागों में विभक्त करने की आयोजना की गई। एक का नाम भारत-संघ और दूसरे का पाकिस्तान रक्खा गया। इस आयोजना के कार्यान्वित करने की तिथि १५ अगस्त १९४७ रक्खी गई।

(२) दोनों उपनिवेशों की धारा-सभाओं की स्वतन्त्र रूप से कानून बनाने की प्रभुत्व शक्ति को स्वीकार कर लिया गया।

(३) १५ अगस्त १९४७ के उपरान्त उपनिवेशों, प्रान्तों अथवा उपनिवेशों के किसी भी भाग पर बृटिश सरकार का कोई नियन्त्रण न रह जायगा।

(४) दोनों उपनिवेशों के लिये जब तक नया संविधान न बन जाय तब तक प्रस्तुत विधान-सभा धारा-सभा का काय करेगी। नये संविधान के निर्माण के अतिरिक्त

विधान सभा को वह सब अधिकार प्राप्त होंगे जो पहिले केन्द्रीय धारा-सभाओं को प्राप्त थे।

(५) जब तक नया संविधान न बन जायगा तब तक दोनों उपनिवेशों तथा प्रान्तों में भारत के १९३५ के संविधान के अनुसार शासन चलेगा। दोनों उपनिवेशों को १९३५ के संविधान में संशोधन करने का भी अधिकार प्रदान कर दिया गया।

(६) ३१ मार्च १९४८ तक गवर्नर-जनरल को भारत के १९३५ के संविधान में संशोधन अथवा परिवर्तन करने अथवा उसी रूप में कार्यान्वित रखने का अधिकार था। इसके उपरान्त यह अधिकार विधान-सभा को हस्तान्तरित हो जायगा और तब वही उसमें परिवर्तन कर सकेगी।

(७) सम्राट् को किसी भी कानून को रद्द कर देने अथवा उसे अपनी स्वीकृति के लिये रोक रखने का अधिकार था परन्तु उसने अब अपने इन अधिकारों को त्याग दिया। यह अधिकार अब गवर्नर-जनरल को प्राप्त हो गया। अब वह उपनिवेश की धारा-सभा द्वारा बनाये हुये किसी भी साधारण नियम पर सम्राट् के नाम में अपनी स्वीकृति दे सकता था।

(८) इस विधान ने देशी राज्यों पर सम्राट् की प्रभुत्व-शक्ति को समाप्त कर दिया। देशी राजाओं ने बृटिश सम्राट् के साथ जो सन्धियाँ तथा समझौते किये थे वे सब १५ अगस्त १९४७ को समाप्त हो जायेंगे। इस विधान में यह भी बतलाया गया था कि भारत सरकार तथा देशी राज्यों का वर्तमान सम्बन्ध तब तक चलता रहेगा जब तक नये उपनिवेश तथा देशी राज्यों में कोई नया समझौता नहीं हो जाता।

(९) भारत के उत्तरी-पश्चिमी सीमा-प्रान्त के क़बीलों के साथ नये उपनिवेश को फिर से समझौता करना पड़ेगा।

(१०) इस विधान ने भारत-सचिव के पद को समाप्त कर दिया और उसका कार्य कामनवेल्थ के सचिव को सौंप दिया गया।

(११) सम्राट् को अब तक जो "भारत सम्राट्" की उपाधि प्राप्त थी उसे समाप्त कर दिया गया।

(१२) भारत पर बृटेन की राज-सत्ता समाप्त कर दी गई। दोनों ही उपनिवेशों को पूर्ण स्वतन्त्रता प्रदान कर दी गई और उन्हें अपनी इच्छानुसार अपना स्वतन्त्र संविधान बनाने का अधिकार दे दिया गया। दोनों उपनिवेशों को बृटिश कामनवेल्थ से अलग हो जाने की पूर्ण स्वतन्त्रता दे दी गई।

१९४७ के भारतीय स्वतन्त्रता विधान ने भारत तथा बृटेन के सम्बन्ध में बहुत बड़ा परिवर्तन कर दिया। इस विधान द्वारा भारत की दो सौ वर्षों की पराधीनता समाप्त कर दी गई और भारत में बृटिश शासन का अन्त हो गया। इस विधान द्वारा भारतीयों के स्वतन्त्र होने के अधिकार को स्वीकार कर लिया गया और उसे पूर्ण स्वतन्त्रता प्रदान कर दी गई। अब भारत तथा बृटेन का सम्बन्ध दो स्वतन्त्र राज्यों का सम्बन्ध हो गया। अन्तर्राष्ट्रीय जगत में अब भारत का सम्मान बढ़ गया और विश्व के बड़े-बड़े राज्य उसकी मैत्री की आकांक्षा करने लगे। परन्तु दुर्भाग्यवश यह स्वतन्त्रता हमें देश का विभाजन करके ही मिली। इस विभाजन के कारण हमारे देश की शक्ति पर बहुत बड़ा आघात लगा। इस विभाजन के परिणामों का निश्चय भविष्य ही करेगा।

अध्याय २६

हमारा नया संविधान

भूमिका — १९२९ में लाहौर के अधिवेशन में कांग्रेस ने पूर्ण स्वतन्त्रता अपना अन्तिम लक्ष्य निर्धारित किया था। इस प्रस्ताव के अन्तर्भूत दो तथ्य थे। प्रथम तथ्य तो यह था कि भारतीयों को अपने प्रतिनिधियों की विधान परिषद् द्वारा अपना संविधान निर्मित करने का अधिकार प्राप्त होना चाहिये और दूसरा तथ्य यह था कि भारत को बृटिश साम्राज्य के साथ अपना सम्बन्ध-विच्छेद करने के लिये स्वतन्त्र होना चाहिये। अपने अनवरत संघर्ष तथा त्याग द्वारा भारतीयों ने अपने इन दोनों उद्देश्यों को पूर्ण रूप से प्राप्त कर लिया। हमें अपने प्रतिनिधियों की विधान परिषद् द्वारा अपना स्वतन्त्र संविधान निर्मित करने और बृटेन के साथ अपना सम्बन्ध-विच्छेद करने का अधिकार प्राप्त हो गया। फलतः अपने प्रतिनिधियों का निर्वाचन कर हमने विधान परिषद् का निर्माण किया। हमारे नेताओं ने पूर्ण स्वतन्त्रता प्राप्त करने पर भी बृटेन के साथ सम्बन्ध बनाये रखने का निश्चय किया। अतएव स्वतन्त्र भारत कामनवेल्थ का सदस्य बन गया परन्तु इस सदस्यता का उसकी स्वतन्त्र-सत्ता पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा।

विधान परिषद् — भारत के लिये संविधान का निर्माण बृटिश पार्लियामेंट ही किया करती थी। भारतीयों को इससे बड़ा असन्तोष था। महात्मा गांधी ने १९२२ में ही इसका विरोध किया था और यह माँग उपस्थित की थी कि भारतीयों को अपने राजनैतिक भाग्य के स्वयम् निर्णय करने का अधिकार होना चाहिये। १९२४ में "स्वराज्य पार्टी' ने केन्द्रीय लोक-सभा में इस प्रकार की मांग उपस्थित की थी। १९३४ में "स्वराज्य पार्टी" ने अपने एक प्रस्ताव में स्पष्ट रूप से बतला दिया कि भारतीयों को "आत्म-निर्णय का अधिकार" प्राप्त होना चाहिये और इस सिद्धान्त को कार्यान्वित करने की सर्वोत्तम रीति यह है कि भारत के संविधान का निर्माण करने के लिये एक विधान परिषद् का निर्माण किया जाय जिसमें सभी वर्गों के प्रतिनिधि सम्मिलित हों। १९३७ में फैजपूर के अधिवेशन में कांग्रेस ने अपने एक प्रस्ताव द्वारा देश की वैधानिक समस्या पर विचार करने के लिये वयस्क मताधिकार के आधार पर निर्मित एक विधान परिषद् की माँग उपस्थित की। काँग्रेस की कार्यकारिणी समिति ने नवम्बर १९३९ में एक प्रस्ताव पारित करके विधान परिषद् की माँग के सम्बन्ध में अपनी स्थिति स्पष्ट कर दी। १९४० के रामगढ़ के अधिवेशन में भी इस मांग पर बड़ा बल दिया गया।

बहुत दिनों तक बृटिश सरकार ने भारतीयों की इस उचित मांग पर बिल्कुल ध्यान न दिया और वह बृटिश पार्लियामेंट के भारतीय संविधान के निर्माण के अधिकार का ही प्रतिपादन करती रही परन्तु द्वितीय महासमर ने बृटिश राजनीतिज्ञों के दृष्टिकोण को परिवर्तित कर दिया और १९४० में बृटेन की संयुक्त सरकार ने इस सिद्धान्त को स्वीकार कर लिया कि स्वतन्त्र भारत के लिये नया संविधान स्वयं निर्माण करने का भारतीयों को अधिकार है। १९४२ में जब जापानियों की सेनायें भारत के द्वार पर आ डटीं तब बृटिश सरकार ने भारत की राजनैतिक समस्या को सुलझाने के लिये सर स्टैफर्ड क्रिप्स को एक योजना के साथ भारत भेजा। इस योजना की एक धारा यह थी कि भारत का संविधान भारतीयों द्वारा निर्वाचित विधान परिषद् द्वारा निर्मित किया जायगा। कांग्रेस

तथा लीग के मत-भेद के कारण ,क्रिप्स योजना निष्फल सिद्ध हुई। १६ मई १९४६ को कैबिनेट मिशन ने अपनी योजना बना कर भारतीयों के समक्ष यह सुझाव उपस्थित किया कि एक विधान परिषद् के निर्माण के लिये प्रान्तीय धारा-सभाओं को निर्वाचन-क्षेत्र मान लिया गया और पृथक् साम्प्रदायिक निर्वाचन-पद्धति के आधार पर सदस्यों के निर्वाचित करने की आयोजना की गई। प्रत्येक प्रान्त को अपनी जन-संख्या के आधार पर दस लाख व्यक्तियों के पीछे एक प्रतिनिधि निर्वाचित करने का अधिकार दिया गया। प्रत्येक जाति को प्रत्येक प्रान्त मे अपनी जन-संख्या के आधार पर प्रतिनिधि चुनने का अधिकार दे दिया गया।

उपरोक्त सिद्धान्त के आधार पर विधान-परिषद् के सदस्यों की कुल संख्या ३८९ रक्खी गई। इनमें से २९६ प्रतिनिधि बृटिश प्रान्तों के (२९२ गवर्नरों के प्रान्तों के तथा ४ कमिश्नरों के प्रान्तों के) और अधिकाधिक ९३ प्रतिनिधि देशी राज्यों के रक्खे गये।

६ मई के वक्तव्य में विधान-परिषद् के कार्यों का भी निरुपण किया गया था। सर्व-प्रथम विधान-परिषद् अपने अध्यक्ष तथा अन्य पदाधिकारियों और एक परामर्शदात्री समिति का निर्वाचन करेगी जो नागरिको के अधिकारों तथा अन्य विषयों पर परामर्श देगी। बृटिश प्रान्तों को तीन वर्गों में विभक्त कर दिया गया था। (अ) वर्ग में मद्रास, बम्बई, उत्तर-प्रदेश, बिहार, मध्य प्रदेश तथा उड़ीसा रक्खे गये थे। (ब) वर्ग में पंजाब, उत्तरी-पश्चिमी-सीमा-प्रान्त तथा सिंध रक्खे गये थे और (स) वर्ग में बङ्गाल तथा आसाम रक्खे गये थे। इन वर्गों के प्रान्त अपनी वैधानिक समस्या पर स्वयम् विचार कर सकते थे और प्रत्येक वर्ग अपने लिये अलग विधान बना सकता था। इन प्रान्तों को अपने वर्ग से अलग हो जाने का भी अधिकार था।

९ दिसम्बर १९४६ को डा० सच्चिदानन्द सिनहा की अध्यक्षता में दिल्ली में विधान-परिषद् की बैठक हुई परन्तु मुस्लिम लीग ने इसका बहिष्कार किया और पाकिस्तान के लिये पृथक् विधान-परिषद की माँग उपस्थित की। केवल राष्ट्रीय मुसलमान इस विधान परिषद् मे सम्मिलित हुये। इस अधिवेशन में डा० राजेन्द्र प्रसाद को विधान-परिषद् का स्थायी अध्यक्ष चुना गया। ९ दिसम्बर १९४६ को जब विधान-परिषद् की प्रथम बैठक हुई तब वह पूर्ण प्रभुत्व सम्पन्न संस्था न थी क्योंकि इसका निर्माण कैबिनेट मिशन की आयोजना पर किया गया था और उस पर कुछ प्रतिबन्ध लगा दिये गये थे परन्तु १९४७ में "भारत स्वतन्त्रता विधान" के पास हो जाने पर स्थिति पूर्णरूप से परिवर्तित हो गई। इस विधान ने सभी प्रतिबन्धों को हटा दिया और वह पूर्ण प्रभुत्व सम्पन्न संस्था बन गई। सर्वप्रथम विधान-परिषद् ने अपने उद्देश्य को निर्धारित किया। इसके बाद विभिन्न प्रश्नों पर विचार करने के लिये समितियाँ बनाई गई। इन समितियों की रिपोर्ट पर विधान-परिषद् ने विचार किया और वाद-विवाद तथा आवश्यक संशोधनों के उपरान्त उनकी सिफारिशों को स्वीकार किया। विधान परिषद् के निर्णय पर "विधायिनी समिति ने" जिसका निर्माण २९ अगस्त १९४७ को किया गया संविधान की रूप-रेखा तैयार की। विधान-परिषद् ने इस पर विचार किया। तीन वर्षों के अथक परिश्रम के उपरान्त २६ नवम्बर १९४९ को हमारा नया संविधान स्वीकार कर लिया गया और २६ जनवरी १९५० को उसे कार्यान्वित किया गया। इस प्रकार प्रथम बार भारतीयों द्वारा भारत का संविधान निर्मित किया गया। अब इस संविधान की विशेषताओं पर प्रकाश डाल देना आवश्यक है।

नवीन संविधान की विशेषतायें — संविधान की रचना देश की परिस्थिति तथा वहाँ के निवासियों के राजनैतिक विचारों तथा आदर्शों के अनुसार की

जाती है। अतएव प्रत्येक संविधान की अपनी अलग-अलग विशेषतायें होती है। हमारे नये संविधान का आलोचनात्मक अध्ययन करने पर हमें इस में निम्न-लिखित विशेषतायें परिलक्षित होती हैं :—

(१) अन्य संविधानों पर आधारित संविधान—हमारे नये संविधान की प्रथम विशेषता यह है कि इसे मौलिक बनाने का प्रयत्न नहीं किया गया है वरन् इसे विभिन्न देशों के संविधानों पर आधारित किया गया है। फलतः हमारा संविधान ब्रिटेन, अमेरिका, कनाडा, आयरलैण्ड तथा आस्ट्रेलिया के संविधानों का विभिन्न रूपों में ऋणी है। अपनी संसदात्मक व्यवस्था के लिये यह ब्रिटेन के संविधान का ऋणी है। कनाडा के संविधान से प्रभावित होकर अवशिष्ट शक्तियाँ केन्द्रीय सरकार को प्रदान कर दी गई हैं। विस्तृत समवर्ती सूची तथा केन्द्रीय एवं राज्य के क़ानूनों के विरोध को समाप्त करने की व्यवस्था के लिये यह आस्ट्रेलिया के संविधान का ऋणी है। राज्य के नीति निर्देशक सिद्धान्तों तथा साहित्य, कला, समाज-सेवा के आधार पर द्वितीय भवन में कुछ सदस्यों को मनोनीत करने की व्यवस्था के लिये यह आयरलैण्ड के संविधान का ऋणी है। प्रस्तावना तथा सुप्रीम कोर्ट की व्यवस्था के लिये यह संयुक्त राष्ट्र अमेरिका का ऋणी है। हमारा संविधान न केवल विदेशी संविधानों से प्रभावित हुआ है वरन् यह भारत के १६३५ के संविधान पर भी बहुत बड़े अंश में आधारित है। संसदात्मक व्यवस्था, प्रबल केन्द्र की स्थापना, *सरकार के कार्यों का सङ्घीय, राज्य की तथा समवर्ती इन तीन सूचियों में विभाजन, केन्द्रीय* तथा राज्य की सरकारों का प्रशासकीय सम्बन्ध तथा उनकी पारस्परिक आर्थिक व्यवस्था, राष्ट्रपति के सङ्कटकालीन अधिकार, राज्यों में द्वितीय सदन की व्यवस्था नये संविधान की यह सभी बातें १६३५ के विधान से ली गई हैं। इस प्रकार हमारा नया संविधान पूर्व-कालीन व्यवस्था से आबद्ध है और इसमें निरन्तरता विद्यमान है। यद्यपि हमारे संविधानों को विश्व के अन्य संविधानों से प्रेरणा प्राप्त हुई है परन्तु इसे अन्य संविधानों से संग्रहीत तथ्यों का सङ्कलनमात्र नहीं कहा जा सकता। वास्तव में जिस किसी देश के संविधान में ग्राह्य मूल्यवान व्यवस्था प्राप्त हुई हैं उनको ग्रहण कर उन्हें नवीनता प्रदान करने का प्रयत्न किया गया है। जहाँ कहीं परिवतन की आवश्यकता समझी गई हैं वहाँ पर परिवर्तन भी कर दिया गया है। इसका सर्वोत्तम उदाहरण एकहरी नागरिकता की व्यवस्था तथा न्यायालय की एक-रूपता है।

(२) विस्तृत तथा व्यापक संविधान—हमारे नवीन संविधान की दूसरी विशेषता यह है कि यह विश्व में सबसे अधिक विशालकाय संविधान है। जेनिंग्स ने कहा है कि यह संसार का सर्वाधिक लम्बा तथा विस्तृत संविधान है। लघुता तथा सूक्ष्मता अच्छे संविधान का गुण माना जाता है। इस दृष्टिकोण से अवलोकन करने पर हमारा संविधान दोष-युक्त प्रतीत होता है। इसके बृहदाकार के कारण इसमें कुछ अपरिवर्तनशीलता उत्पन्न हो गई है। इससे परिवर्तित परिस्थितियों में इसमें परिवर्तन करने में कठिनाई हो सकती है और इसके विकास में बाधा उत्पन्न हो सकती है। इसके विस्तृत हो जाने का एक बहुत बड़ा कारण यह है कि इसमें परम्परागत व्यवहारों पर कुछ नहीं छोड़ा गया है वरन् संविधान में सभी बातों के सन्निहित कर देने का भगीरथ प्रयास किया गया है। यद्यपि यह सत्य है कि संविधान का लाघव उसका एक विशेष गुण है परन्तु भारत की विचित्र परिस्थितियों में अनेक ऐसी बातों का संविधान में समावेश करना आवश्यक समझा गया जो अन्य देशों के संविधान में नहीं रक्खी गई हैं। जिस देश में विभिन्न जातियाँ निवास करती है जिनमें भाषा, धर्म आदि का वैषम्य है उस देश के संविधान का विस्तृत तथा व्यापक हो जाना स्वाभाविक तथा अनिवार्य है। अतएव इसे संविधान

का दोष न समझना चाहिये वरन् देश की परिस्थितियों का ध्यान रख कर उसे अपने संविधान का गुण ही मानना चाहिये।

(३) प्रभुत्व सम्पन्न संविधान—हमारे नये संविधान की तीसरी विशेषता यह है कि यह पूर्ण प्रभुत्व सम्पन्न एवं स्वतन्त्र संविधान है। इसका यह तात्पर्य है कि भारत पूर्ण रूप से स्वतन्त्र है और उस पर किसी प्रकार का वाह्य अथवा आन्तरिक नियंत्रण नहीं है परन्तु यह कभी न भूलना चाहिये कि आज कल का युग अन्तर्राष्ट्रीयता तथा लोकतन्त्रात्मक व्यवस्था का युग है। अतएव कोई भी राज्य अन्य राज्यों के साथ अपना सम्बन्ध विच्छेद करके अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं कर सकता। संयुक्त-राष्ट्र-संघ की स्थापना हो जाने से विभिन्न राज्यों में अब पहिले से अधिक घनिष्ट सम्बन्ध स्थापित हो गया है। इसी प्रकार इस लोकतन्त्रात्मक युग में कोई भी राज्य लोकमत की उपेक्षा नहीं कर सकता। अतएव प्रभुत्व सम्पन्न राज्य का यह तात्पर्य है कि भारत अब पराधीन नहीं है। यह एक स्वतन्त्र राष्ट्र है जिसकी अपनी स्वतन्त्र नीति है। यद्यपि स्वतन्त्रता प्राप्त करने के उपरान्त भारत-संघ कामनवेल्थ अथवा राष्ट्र-मण्डल का सदस्य बन गया है परन्तु इससे भारत-संघ की प्रभुत्व शक्ति को किसी भी प्रकार की क्षति नहीं पहुँची है क्योंकि अब राष्ट्र-मण्डल स्वतन्त्र राज्यों का एक सघ घोषित कर दिया गया है। यद्यपि यह सत्य है कि बृटेन का सम्राट् इस राष्ट्र मण्डल का प्रधान मान लिया गया है परन्तु वह इन स्वतन्त्र राज्यों की एकता का प्रतीक मात्र है। भारत-संघ का राष्ट्रमण्डल के साथ वही सम्बन्ध है जो विश्व के राज्यों का संयुक्त राष्ट्र-सङ्घ के साथ है। अतएव राष्ट्रमण्डल की सदस्यता का भारतीय सङ्घ की प्रभुत्व सम्पन्नता पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता है।

(४) लोकतन्त्रात्मक संविधान—हमारे नये संविधान की प्रस्तावना में यह बतला दिया गया है कि हमारा राज्य लोकतन्त्रात्मक होगा। इस संविधान को लोकतन्त्रात्मक इसलिये कहा गया है कि जनता ने स्वयम् अपने प्रतिनिधियों द्वारा इस संविधान का निर्माण किया है और सरकार को जनता द्वारा सम्पूर्ण अधिकार प्राप्त हुये हैं। नये संविधान द्वारा हमारे देश में ऐसी शासन-व्यवस्था की स्थापना की गई है जिसमें जन-साधारण को अधिकार-पूर्ण स्थान प्राप्त करने का अवसर मिल सकता है क्योंकि इस संविधान द्वारा सभी वयस्क व्यक्तियों को मताधिकार दे दिया गया है और अब सम्पत्ति, शिक्षा अथवा अन्य किसी प्रकार की योग्यता की आवश्यकता नहीं है। जो सरकार का निर्माण करते हैं वे अब जनता के प्रति उत्तरदायी हैं। जाति, धर्म, रूप-रङ्ग के बिना भेद-भाव के सभी नागरिकों को राज्य में ऊँचे से ऊँचा पद प्राप्त करने का अधिकार दे दिया गया है। हमारे संविधान द्वारा न केवल राजनैतिक लोकतन्त्र वरन् आर्थिक तथा सामाजिक लोकतन्त्र भी स्थापित करने का प्रयत्न किया गया है क्योंकि राज्य के नीति निर्देशक सिद्धान्त सामाजिक तथा आर्थिक लोकतन्त्र की ओर इङ्गित करते हैं।

(५) गणतन्त्रात्मक संविधान—हमारे नये संविधान की प्रस्तावना में यह घोषित किया गया है कि हमारा राज्य गणतन्त्रात्मक होगा। इसका यह तात्पर्य है कि हमारे राज्य का प्रधान कोई वंशानुगत सम्राट् न होगा वरन् इसका अध्यक्ष एक निश्चित समय के लिये निर्वाचित राष्ट्रपति होगा। यहाँ पर गणतन्त्रात्मक तथा लोकतन्त्रात्मक व्यवस्था के अन्तर को समझ लेना आवश्यक है। जिस देश में लोकतन्त्रात्मक व्यवस्था होती है वहाँ यह आवश्यक नहीं है कि गणतन्त्रात्मक व्यवस्था भी हो। इङ्गलैण्ड में लोकतन्त्रात्मक व्यवस्था है परन्तु वहाँ पर गणतन्त्रात्मक व्यवस्था नहीं वरन् वहाँ नृपतन्त्रात्मक व्यवस्था है। इसी प्रकार जिस देश में गणतन्त्रात्मक व्यवस्था है वहाँ लोकतन्त्रात्मक व्यवस्था का होना अनिवार्य नहीं है। द्वितीय महासमर के पूर्व नाज़ी

शासन काल में जर्मनी में गणतन्त्रात्मक व्यवस्था थी परन्तु वहाँ लोकतन्त्रात्मक व्यवस्था न थी। इसी प्रकार रूस के सम्बन्ध में भी लोगों की यह धारणा है कि वहाँ पर गणतन्त्रात्मक व्यवस्था तो है परन्तु लोकतन्त्रात्मक व्यवस्था नहीं है। परन्तु हमारा राज्य फ्रांस, संयुक्त-राष्ट्र अमेरिका तथा स्विटज़रलैण्ड की भाँति लोकतन्त्रात्मक गणतन्त्र है। किसी देश में गणतन्त्रात्मक व्यवस्था है अथवा नहीं यह इस बात पर निर्भर है कि उस राज्य के अध्यक्ष की नियुक्ति किस प्रकार होती है। यदि उसके अध्यक्ष का पद आनुवंशिक है तो वह नृपतन्त्रात्मक व्यवस्था कही जाती है और यदि अध्यक्ष एक निश्चित काल के लिये जनता द्वारा निर्वाचित किया जाता है तो वह गणतन्त्रात्मक व्यवस्था कही जाती है।

(६) लौकिक संविधान—हमारे नये संविधान द्वारा हमारे देश में लौकिक अर्थात् धर्म अप्रभावित राज्य की स्थापना की गई है। हमारे संविधान की प्रस्तावना में ही यह बतला दिया गया है कि सभी नागरिकों को धर्म, विश्वास तथा पूजा की स्वतन्त्रता होगी। सभी नागरिकों को स्थान तथा अवसर की समानता दे दी गई है। हमारा संविधान बन्धुत्व के सिद्धान्त को स्वीकार करता है और व्यक्ति की महत्ता को मानता है। सभी नागरिकों को धार्मिक स्वतन्त्रता दे दी गई है और वे अपने धार्मिक विचारों का प्रचार स्वतन्त्रता पूर्वक कर सकते हैं। सरकारी नौकरियों के प्रदान करने में धर्म, जाति आदि के आधार पर किसी प्रकार का भेद-भाव न किया जायगा। लौकिक राज्य का यह तात्पर्य नहीं है कि राज्य धर्म-विरोधी अथवा अधार्मिक हो जायगा। इसका तात्पर्य केवल यह है कि राज्य का अपना कोई धर्म न होगा और न राज्य किसी धर्म-विशेष का प्रतिपादन करेगा। वास्तव में राज्य धर्म की रक्षा करेगा और धार्मिक भावना के सम्वर्द्धन का प्रयत्न करेगा। लौकिक राज्य का तात्पर्य यह है कि राज्य धार्मिक सहिष्णुता की नीति का अनुसरण करेगा और किसी भी धर्म से अपने को नियोजित न करेगा। धार्मिक मामलों में राज्य तटस्थ रहेगा। राज्य सभी धर्मों तथा राज्यों को समान दृष्टि से देखेगा। कोई भी नागरिक चाहे वह किसी भी धर्म अथवा सम्प्रदाय का अनुयायी हो सामाजिक तथा राजनैतिक अधिकारों से वञ्चित न किया जायगा। सभी को अपने धर्म के पालन तथा प्रचार करने का अधिकार होगा और राज्य किसी के धर्म में हस्तक्षेप न करेगा। परन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं है कि राज्य धार्मिक अत्याचारों को सहन करेगा। धार्मिक कुरीतियों तथा धर्म के नाम पर किये जाने वाले अत्याचारों के उन्मूलन का राज्य को पूर्णाधिकार होगा। लौकिक राज्य का तात्पर्य केवल इतना ही होता है कि राज्य राजनीति को धर्म से पृथक् रक्खेगा। परन्तु राज्य सभी धर्मों का पोषण तथा संरक्षण करेगा और धर्मानुकूल ही शासन करेगा। अधर्म का शासन अस्थायी तथा अत्याचारपूर्ण होता है।

(७) लोक-मंगलकारी संविधान—हमारा नया संविधान न्याय, स्वतन्त्रता, समानता तथा बन्धुत्व के उच्च सिद्धान्तों का प्रतिपादन करता है। इससे स्पष्ट है कि हमारा संविधान धर्म तथा नैतिकता के उच्च सिद्धान्तों पर आधारित है। हमारे संविधान द्वारा राज्य का लक्ष्य देश में राजनैतिक, सामाजिक तथा आर्थिक न्याय स्थापित करना है। न्याय पर आधारित राज्य निस्सन्देह लोक-मंगलकारी होता है। हमारे देश में जहाँ दलित जातियाँ निवास करती हैं, जहाँ अनेक प्रकार का शोषण होता है और जहाँ आर्थिक विपन्नता तथा सामाजिक वैषम्य है इस प्रकार की व्यवस्था करना नितान्त आवश्यक था।

(८) संघात्मक संविधान—हमारे नये संविधान द्वारा हमारे देश में संघात्मक सरकार की स्थापना की गई है। परन्तु यह ध्यान देने की बात है कि हमारे संविधान में

फेडरेशन शब्द का प्रयोग नहीं किया गया है। इसके स्थान पर यूनियन शब्द का प्रयोग किया गया है जो देश की एकता एवं अविच्छिन्नता का प्रतीक है। इसे यूनियन की संज्ञा इसलिये दी गई है कि यह राज्यों के समझौते से समुद्भूत नहीं है। किसी भी राज्य को यूनियन से अलग होने का अधिकार नहीं है। यह यूनियन इसलिये कहा गया है कि यह अविनाशी है।

यहाँ पर यह बतला देना आवश्यक है कि यद्यपि हमारे नये संविधान द्वारा हमारे देश में संघात्मक सरकार की स्थापना की गई है परन्तु इसे ऐसा स्वरूप प्रदान कर दिया गया है कि यह शुद्ध संघात्मक संविधान नहीं रह गया है और इसका रूप एकात्मक हो गया है। वास्तव में यह मध्यम मार्गी है। अतएव न इसे शुद्ध संघात्मक कहा जा सकता है और न शुद्ध एकात्मक। यद्यपि हमारी सरकार का स्वरूप संघात्मक है परन्तु संकट-काल में इसे एकात्मक बनाया जा सकता है। राष्ट्रपति सङ्कटकाल की घोषणा करके राज्य की सभी शक्तियों को अपने में केन्द्रीभूत कर सकता है। जब तक सङ्कटकाल की घोषणा समाप्त न कर दी जायगी तब तक राज्यों की स्वतन्त्रता स्थगित रहेगी। राष्ट्रपति सङ्कटकाल में राज्यों की कार्यकारिणी को आदेश देगा कि वे अपने कर्तव्यों का सम्पादन किस प्रकार करें। किसी भी संघात्मक संविधान में इस प्रकार की व्यवस्था नहीं की गई है।

भारत-संघ की दूसरी विशेषता जो इसे अन्य संघों से भिन्नता तथा एकात्मक स्वरूप प्रदान करती है इसकी ऐकिक नागरिकता है। सभी सङ्घ-राज्यों में दोहरी नागरिकता की व्यवस्था होती है। एक नागरिकता सङ्घ सरकार की होती है और दूसरी नागरिकता सङ्घ की उस इकाई की होती है जिसमें वह निवास करता है। परन्तु हमारे संविधान में दोहरी नागरिकता तथा राजभक्ति के लिये कोई स्थान नहीं है। हमारे संविधान में केवल एक ही नागरिकता की व्यवस्था है और वह है भारतीय नागरिकता। इसी प्रकार इसमें एक ही राजभक्ति है और वह है भारत यूनियन के प्रति।

हमारे संविधान के सङ्घात्मक स्वरूप में एकात्मकता के समावेश होने का तीसरा प्रमाण यह है कि हमारे देश की शासन व्यवस्था में एकरूपता है। हमारे देश में न्याय की व्यवस्था ऊपर से नीचे तक एक सी रक्खी गई है। क़ानून तथा दण्ड-विधान सभी राज्यों के लिये एक से हैं। लोकसेवाओं के लिये नियुक्तियों की व्यवस्था में भी भिन्न-भिन्न राज्यों में कोई अन्तर नहीं रक्खा गया है। इसके अतिरिक्त संविधान ने भारत को एक अखण्ड सङ्घ बना दिया है। न कोई राज्य अपना संविधान बना सकता है और न सङ्घ से अलग हो सकता है।

हमारे संविधान की चौथी विशेषता जो इसे एकात्मक संविधान का स्वरूप प्रदान करती है यह है कि यद्यपि सङ्घ सरकार की भांति इसमें भी यूनियन सरकार तथा राज्यों की सरकारों में शक्ति का विभाजन कर दिया गया है परन्तु जहाँ अन्य सङ्घीय संविधानों में यह व्यवस्था रहती है कि राष्ट्रीय सरकार उन विषयों पर जो राज्यों की सरकार को दिये गये हैं किसी प्रकार का क़ानून न बनायेगी हमारे संविधान में राष्ट्रीय सरकार को इस प्रकार का अधिकार दे दिया गया है। हमारे संविधान की २४६ वीं धारा द्वारा यह निर्धारित किया गया है कि यदि राज्य-परिषद् उपस्थित तथा वोट देने वाले सदस्यों के दो-तिहाई बहुमत से यह घोषणा करेगी कि राष्ट्रीय हित के लिये यह आवश्यक है कि संसद उस विषय पर क़ानून बनाये जो राज्य की सूची में आता है तो संसद को उस विषय पर सम्पूर्ण भारत अथवा उसके किसी भाग के लिये क़ानून बनाने का अधिकार होगा। यद्यपि राज्य-परिषद् का यह प्रस्ताव केवल एक वर्ष तक लागू रहेगा परन्तु यह व्यवस्था सङ्घात्मक सरकार के सिद्धान्तों के विरुद्ध है क्योंकि इससे राज्यों की स्वतंत्रता तथा कार्य-क्षेत्र पर कुठाराघात होता है।

हमारा संविधान एक अन्य बात में भी सङ्घात्मक संविधान के सिद्धान्त की उपेक्षा

करता है। संयुक्त राष्ट्र अमेरिका का संविधान केवल सङ्घीय अथवा राष्ट्रीय सरकार के विधान, सङ्गठन तथा अधिकारों एवं कार्यों का निरूपण करता है। सङ्घ की इकाइयों के संविधान के सम्बन्ध में वह कुछ नहीं कहता। इन इकाइयों को स्वयम् अपना विधान बनाने का अधिकार है। इसके विपरीत हमारा संविधान केन्द्र तथा राज्य दोनों के सङ्गठन तथा अधिकारों का निरूपण करता है। राज्यों को अपना संविधान बनाने का अधिकार नहीं दिया गया है। वे संविधान की किसी भी धारा में किसी प्रकार का परिवर्तन अथवा संशोधन नहीं कर सकते। सारांश यह है कि यूनियन सरकार तथा राज्यों की सरकार के लिये एक ही विधान है और दोनों ही उसी से सम्बद्ध हैं। यह व्यवस्था भी हमारे संविधान की एकात्मकता की ओर इंगित करती है।

हमारे सङ्घ की एक यह भी विशेषता है कि केन्द्र को अधिकाधिक प्रबल बनाने का प्रयत्न किया गया है। केन्द्रीय सरकार को इतनी अधिक शक्तियाँ तथा अधिकार हस्तान्तरित कर दिये गये हैं कि रूस के अतिरिक्त सम्भवतः विश्व के अन्य किसी भी राज्य में केन्द्र को इतना अधिक प्रबल नहीं बनाया गया है। यूनियन सूची में ९७ और समवर्ती सूची में ४७ विषय हैं। इन दोनों सूचियों के अन्तर्भूत विषयों पर केन्द्रीय सरकार को क़ानून बनाने का अधिकार है। राज्यों के राज्यपालों को नियुक्त करने का अधिकार राष्ट्रपति को ही प्राप्त है और उन्हें यह आदेश दिया गया है कि वे सम्पूर्ण भारत के हित का ध्यान रक्खें। हमारे देश के भूतकाल के इतिहास ने भी प्रबल केन्द्र की स्थापना में योग दिया है। प्रबल केन्द्रीय शक्ति के अभाव के कारण ही हमारा देश विदेशी आक्रमणकारियों के समक्ष धराशायी हुआ था। अतएव देश की सुरक्षा के लिये प्रबल केन्द्र की स्थापना करना नितान्त आवश्यक था। भारत की राजनैतिक समस्याओं, देश में विभिन्न जातियों की उपस्थिति, देश की आर्थिक आवश्यकताओं आदि ने प्रबल केन्द्र की आवश्यकता का समर्थन किया है। देश के विभाजन से भी जिसके फल-स्वरूप दो अलग-अलग विधान परिषदों की स्थापना हो गई प्रबल केन्द्र की स्थापना में योग मिला। हमारे नये संविधान के पूर्ववर्ती सविधानों में केन्द्र को सदैव अधिक से अधिक प्रबल बनाये रखने का प्रयत्न किया गया था। अतएव हमारे देश में प्रबल केन्द्र की एक परम्परा भी विद्यमान् थी। वास्तव में हमारे देश में इकाइयों को सम्बद्ध करके सङ्घ का निर्माण नहीं किया गया था वरन् एकात्मक तथा केन्द्रीभूत सरकार को विशृंङ्खल करके सङ्घ की स्थापना की गई थी। १९३५ के विधान द्वारा प्रान्तों को प्रान्तीय स्वतन्त्रता प्रदान करके सङ्घ की आयोजना की गई थी। भारत में प्रबल केन्द्र पहिले ही से विद्यमान् था। अतएव इकाइयों को सन्तुष्ट करने में कोई कठिनाई उपस्थित नहीं हो सकती थी।

हमारे देश के सङ्घ में अन्य देशों के सङ्घों से एक और भिन्नता है। सङ्घ शासन में दो भवनों की धारा-सभा का होना अनिवार्य होता है। प्रथम सदन में सङ्घ की इकाइयों को उनकी जनसंख्या तथा द्वितीय सदन में समानता के आधार पर प्रतिनिधित्व प्रदान किया जाता है। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि सङ्घ की इकाइयों को सङ्घीय धारा-सभा के द्वितीय सदन में समान संख्या में प्रतिनिधि भेजने का अधिकार होता है परन्तु हमारे नये संविधान में इस प्रकार की व्यवस्था नहीं की गई है।

हमारे सङ्घ में एक और विशेषता है जो बहुत कम सङ्घों में पाई जाती है। इसमें तीन सूचियों की अर्थात् यूनियन सूची, राज्य की सूची तथा समवर्ती सूची की व्यवस्था की गई है। अन्य सङ्घों में केवल एक अथवा अधिक से अधिक दो सूचियों की व्यवस्था की गई है। संयुक्त राष्ट्र अमेरिका में केवल एक ही सूची है। इसमें सङ्घ सरकार को हस्तान्तरित किये गये विषयों का उल्लेख किया गया है और शेष विषय बिना उल्लेख किये सङ्घ की इकाइयों के हाथ में छोड़ दिये गये हैं। जो कुछ सङ्घ को नहीं दिया गया है वह सब

राज्यों को प्राप्त है। कुछ सङ्घ-राज्यों में समवर्ती सूची की भी व्यवस्था कर दी गई है और उसके अन्तर्भूत विषयों पर केन्द्र तथा राज्यों दोनों को क़ानून बनाने का अधिकार दिया गया है। परन्तु हमारे सं विधान में तीन निश्चित सूचियाँ हैं जिनके विषयों का उल्लेख कर दिया गया है। अवशिष्ट शक्तियाँ केन्द्र को दे दी गई हैं।

उपरोक्त विवरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि हमारे सं विधान में सं घात्मक तथा एकात्मक दोनों प्रकार की सरकारों के सिद्धान्तों का समावेश है। कुछ विद्वान् इसे सं घात्मक नहीं मानते और इसे एकात्मक ही मानते हैं परन्तु यह धारणा भ्रम-मूलक है। सं घ-सरकार की भाँति हमारे नये सं विधान में केन्द्रीय तथा राज्य की सरकारों में शक्तियों का विभाजन कर दिया गया है और दोनों का कार्य-क्षेत्र निर्धारित कर दिया गया है। सं घ सरकार की भाँति इसमें भी लिखित सं विधान की प्रधानता है और सं विधान की रक्षा तथा व्याख्या करने के लिये सर्वोच्च न्यायालय की व्यवस्था की गई है। संघ सरकार की भाँति इसमें द्वैध कार्यकारिणी तथा द्वैध धारा सभाओं की व्यवस्था है। सं घ सरकार की भाँति इस सं विधान के परिवर्तन में भी विलष्टता है। इसमें सन्देह नहीं कि इसमें एकात्मक सरकार के भी कुछ गुण पाये जाते हैं परन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं है कि इसे सं घात्मक सरकार की सं ज्ञा ही न दें।

(९) संसदात्मक सरकार की स्थापना—हमारे नये सं विधान द्वारा केन्द्र तथा राज्यों दोनों में सं सदात्मक सरकार की स्थापना कर दी गई है। यद्यपि हमारा राज्य गणतन्त्रात्मक है और उसका अध्यक्ष राष्ट्रपति कहलाता है परन्तु हमारे राष्ट्रपति की वैधानिक दृष्टि कोण से वह स्थिति नहीं है जो सं युक्त राष्ट्र अमेरिका के राष्ट्रपति की है, वरन् उसकी स्थिति अधिकांश में इङ्गलैण्ड के सम्राट् की सी है। हमारे देश की कार्यकारिणी का सं गठन इङ्गलैण्ड की कार्यकारिणी की भाँति होता है। राष्ट्रपति की सहायता करने तथा उसे परामर्श देने के लिये एक मन्त्रिमण्डल होता है। इस मन्त्रिमण्डल के सदस्य संसद के सदस्य होते हैं और उसी के प्रति उत्तरदायी होते हैं। वे तभी तक अपने पद पर रह सकते हैं जब तक सं सद का उनमें विश्वास हो। ठीक यही व्यवस्था राज्यों की भी है। राज्यपालों तथा राजप्रमुखों की सहायता के लिये भी मन्त्रिमण्डलों की स्थापना की गई है जो राज्यों की धारा-सभाओं के प्रति उत्तरदायी बना दिये गये हैं और तभी तक अपने पदों पर रह सकते हैं जब तक धारा-सभा का उनमें विश्वास हो। राष्ट्रपति, राज्यपाल तथा राजप्रमुख सभी अपने मन्त्रियों की ही परामर्श से शासन करते हैं जो जनता के प्रतिनिधि होते हैं और अन्ततोगत्वा जनता ही के प्रति उत्तरदायी होते हैं।

(१०) संविधान की परिवर्तन प्रणाली की सरलता—सङ्घात्मक सं विधान प्रायः अपरिवर्तनशील और एकात्मक सं विधान परिवर्तनशील होता है। हमारा सं विधान सङ्घात्मक तथा एकात्मक का सम्मिश्रण है। अतएव हमारे सं विधान के परिवर्तन के लिये भी मध्यम मार्ग का अनुसरण किया गया है। न इङ्गलैण्ड की भाँति उसका परिवर्तन अत्यन्त सरल है और न सं युक्त राष्ट्र अमेरिका की भाँति अत्यन्त दुरूह। हमारे नये सं विधान के अनुसार सं शोधन का प्रस्ताव एक बिल के रूप में संसद के किसी भी भवन में उपस्थित किया जा सकता है। यदि उस बिल को प्रत्येक भवन अपने समस्त सदस्यों के बहुमत से तथा उपस्थित एवं वोट देने वाले सदस्यों के दो-तिहाई मत से स्वीकार कर लेता है और उस पर राष्ट्रपति की स्वीकृति प्राप्त हो जाती है तो उस बिल के अनुसार सं विधान में सं शोधन हो जायगा परन्तु सङ्घ तथा उसकी इकाइयों के बीच जो शक्ति-वितरण हुआ है उसमें तथा कुछ अन्य बातों में कोई भी सं शोधन उस समय तक राष्ट्रपति के सामने उसकी स्वीकृति के लिये उपस्थित न किया जा सकेगा जब तक उसे आधे राज्यों की धारा-सभायें स्वीकार न कर लें।

(११) जनता के मौलिक अधिकारों का समावेश—हमारे संविधान की एक यह भी विशेषता है कि इसमें जनता के मौलिक अधिकारों का समावेश है और उनकी रक्षा की पूर्ण व्यवस्था की गई है। संविधान में कुछ ऐसी भी परिस्थितियाँ बतलाई गई है जब इन अधिकारों में कमी की जा सकती है अथवा इन्हें स्थगित किया जा सकता है। कुछ आलोचकों का कहना है कि इन प्रतिबन्धों से मौलिक अधिकारों का महत्व समाप्त कर दिया गया है परन्तु वास्तव में इन प्रतिबन्धों द्वारा व्यक्तिगत स्वतन्त्रता तथा सामाजिक नियंत्रण में सन्तुलन स्थापित किया गया है। इस तथ्य का विस्मरण कदापि न करना चाहिये कि स्वतन्त्रता कभी अनियंत्रित नहीं होती। स्वतन्त्रता का मूल्यांकन हमें वैयक्तिक दृष्टिकोण से नहीं वरन् सामाजिक दृष्टिकोण से करना चाहिये। हमारे मौलिक अधिकारों पर प्रतिबन्ध तो है परन्तु यह प्रतिबन्ध यथोचित तथा तर्क-सङ्गत होंगे। इस व्यवस्था से न्यायालय को मौलिक अधिकारों की सुरक्षा का अधिक अवसर प्रदान किया गया है।

(१२) राज्य की नीति निर्देशक सिद्धान्तों का समावेश—हमारे नये संविधान में राज्य की नीति के मूल-भूत सिद्धान्तों का निरूपण कर दिया गया है। इन सिद्धान्तों द्वारा देश की सरकार को कुछ निश्चित सिद्धान्तों पर अपनी नीति के आधारित करने का आदेश दिया गया है। यह सिद्धान्त ऐसे हैं जिनका अनुसरण करके सरकार नागरिकों की सामाजिक, आर्थिक तथा सांस्कृतिक उन्नति में योग दे सकती है। इन सिद्धान्तों में न केवल नागरिकों के जीवन को सुखी तथा समुन्नत बनाने का आदेश दिया गया है वरन् भारत सरकार को अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति एवं सुरक्षा का प्रयत्न करने के लिये भी आदेश दिया गया है।

(१३) वयस्क मताधिकार की व्यवस्था—हमारे संविधान में वयस्क मताधिकार की व्यवस्था की गई है अर्थात् २१ वर्ष तथा इससे अधिक अवस्था वाले सभी नर-नारियों को मतदान का अधिकार दे दिया गया है। इस प्रकार हमारे संविधान ने राजनैतिक लोकतन्त्र का पोषण किया है। वयस्क मताधिकार की व्यवस्था करके हमारे नेताओं ने संयुक्त-राष्ट्र अमेरिका तथा ब्रिटेन से भी एक पग आगे रक्खा है। भारत जैसे विशाल तथा निरक्षर देश में वयस्क मताधिकार की व्यवस्था करना आपत्ति से रिक्त न था और इससे हमारे नेताओं का साहस तथा विश्वास परिलक्षित होता है। गत आम चुनाव में जो सफलता प्राप्त हुई है उससे इस व्यवस्था का भविष्य अत्यन्त उज्ज्वल प्रतीत होता है।

(१४) सामूहिक निर्वाचन प्रणाली की व्यवस्था—हमारे देश में पृथक् साम्प्रदायिक निर्वाचन पद्धति का प्रकोप था। इस विष का बीजारोपण ब्रिटिश सरकार ने १६०९ के विधान में किया था और १९१९ तथा १९३५ के विधानों में इसे अधिक व्यापक रूप में सन्निहित किया गया था। ब्रिटिश सरकार ने भारतीयों को विभक्त करके शासन करने की नीति के फल-स्वरूप इस व्यवस्था का सूत्रपात किया था। इस व्यवस्था का अन्तिम दुष्परिणाम यह हुआ कि हमारे देश का विभाजन हो गया। हमारे नये संविधान ने इस कुप्रथा का उन्मूलन कर सामूहिक निर्वाचन प्रणाली की व्यवस्था की। इस प्रकार हमारे देश में प्रजातन्त्रीय निर्वाचन प्रणाली का सूत्रपात किया गया है।

(१५) स्वतन्त्र निर्वाचन कमीशन की व्यवस्था—हमारे नये संविधान की ३२४ वीं धारा द्वारा स्वतन्त्र निर्वाचन कमीशन की स्थापना की आयोजना की गई है। यह कमीशन सभी प्रकार के चुनावों का निरीक्षण तथा सञ्चालन करेगा और उन पर नियंत्रण रक्खेगा। इस प्रकार हमारे नये संविधान ने स्वतन्त्र तथा निष्पक्ष निर्वाचन की व्यवस्था कर दी है।

(१६) स्वतन्त्र न्यायालय की व्यवस्था—हमारे नये संविधान द्वारा न्यायालय को कार्य-कारिणी से अलग कर दिया गया है और सर्वोच्च न्यायालय तथा उच्च न्यायालयों को कार्यकारिणी एवं सभी प्रकार के राजनैतिक प्रभावों से मुक्त कर दिया गया है जिससे वे नागरिकों के अधिकारों तथा उनकी स्वतन्त्रता की रक्षा कर सकें। कार्यकारिणी की स्वेच्छाचारिता तथा निरङ्कुशता से और नागरिकों के मौलिक अधिकारों की सुरक्षा के लिये सुप्रीम कोर्ट की स्थापना की गई है। इस न्यायालय का कर्तव्य न केवल विधान की विवेचना करना वरन् उसकी रक्षा भी करना है।

(१७) सामाजिक जनतन्त्र का पोषण—हमारे संविधान ने सामाजिक भेद-भाव का उन्मूलन करके सामाजिक जनतन्त्र का पोषण किया है। अस्पृश्यता हमारे समाज का सबसे बड़ा अभिशाप था। हमारे संविधान ने अस्पृश्यता का उन्मूलन कर और इसे अपराध घोषित कर हिन्दू समाज के एक युगीय कलङ्क का प्रक्षालन कर दिया है। ऊँच-नीच तथा छूत-छात का भेद-भाव मिटा कर हमारे संविधान ने दलित जातियों की उन्नति का मार्ग परिष्कृत कर दिया है। उनके उद्धार के लिये व्यवस्थापिकाओं तथा स्थानीय संस्थाओं में उनकी जन-संख्या के अनुपात के आधार पर स्थान सुरक्षित कर दिये गये हैं। यह संरक्षण केवल दस वर्ष के लिये किया गया है। इस अवधि के उपरान्त इस पर पुनः विचार किया जायगा। न केवल दलितों वरन् नारियों के भी अधिकारों की सुरक्षा की पूर्ण व्यवस्था हमारे नये संविधान में की गई है। उन्हें पुरुषों के समान ही सभी प्रकार के अधिकार दे दिये गये हैं।

(१८) ग्राम पंचायतों की स्थापना की व्यवस्था—हमारे नये संविधान में यह आदेश दिया गया है कि राज्य ग्राम पंचायतों के सङ्गठन की व्यवस्था करेगा और उन्हें ऐसी सत्ता एवं शक्ति प्रदान करेगा जिससे वे स्थानीय स्वशासन की इकाई की भांति कार्य कर सकें।

(१९) एक राष्ट्र-भाषा की व्यवस्था—हमारे नये संविधान में हिन्दी को देव-नागरी लिपि में भारत की राष्ट्र-भाषा घोषित कर दिया गया है परन्तु यूनियन सरकार के सभी कार्यालयों में १५ वर्ष तक अँग्रेजी भाषा के प्रयोग की आज्ञा दे दी गई है। इसके साथ-साथ यह भी व्यवस्था की गई है कि यदि राष्ट्रपति चाहे तो अँग्रेजी के साथ-साथ हिन्दी के भी प्रयोग की आज्ञा दे सकता है। यदि १५ वर्ष के उपरान्त ऐसा अनुभव किया जाय कि अँग्रेजी को पूर्ण रूप से हटा कर उसके स्थान पर हिन्दी का प्रयोग नहीं किया जा सकता तो संसद अँग्रेजी के प्रयोग की आज्ञा नियम बना कर दे सकती है। हमारे संविधान ने भारतीय भाषाओं को विभिन्न राज्यों में प्रादेशिक भाषा के रूप में प्रयोग करने के लिये स्वीकार कर लिया है।

(२०) विशेषाधिकारों की व्यवस्था—कुछ विशेष परिस्थितियों में राष्ट्रपति, राज्य-पालों तथा राजप्रमुखों को विशेषाधिकार दे दिये गये हैं। इन परिस्थितियों में उन्हें अपने स्वेच्छाचारी तथा व्यक्तिगत निर्णय से कार्य करने का अधिकार दे दिया गया है। उदा-हरण के लिये इन्हें अध्यादेश पारित करने का अधिकार दिया गया है। जब राज्य-पाल तथा राजप्रमुख अपने विवेक से कार्य करेंगे तब वे राष्ट्रपति तथा संसद के प्रति उत्तरदायी होंगे।

आलोचना—हमारे नये संविधान की कतिपय विद्वानों ने तीव्र आलोचना की है। इसकी पहिली आलोचना यह की जाती है कि यह विधान मौलिक नहीं है। इसके बहुत से अंश तो अक्षरशः १९३५ के विधान से लिये गये हैं। विश्व के अन्य संविधानों का भी हमारा संविधान ऋणी है। इसमें देशीपन नहीं है। न इसमें प्राचीन भारत

की सभा अथवा समिति का और न मध्यकालीन भारत की संस्थाओं का समावेश है। परन्तु इस आलोचना के विरुद्ध यह कहा जा सकता है कि मौलिकता संविधान का कोई गुण नहीं माना जाता। अन्य देशों के संविधान से अच्छी-अच्छी बातों के ग्रहण कर लेने में कोई हानि नहीं है। वास्तव में हमारे देश के नेताओं ने विश्व के अन्य संविधानों से अच्छी-अच्छी बातों को लेकर उन्हें अपने देश की परिस्थितियों के अनुकूल बना कर उन्हें अपने संविधान में सन्निहित कर दिया है। १९३५ के संविधान पर नये संविधान को आधारित कर विधान के निर्माताओं ने इसमें निरन्तरता उत्पन्न कर इसे विकसित तथा ऐतिहासिक संविधान का स्वरूप प्रदान कर दिया है। दूसरी बात याद रखने की यह है कि आधुनिक युग में भारत की प्राचीन तथा मध्यकालीन संस्थाओं का नये संविधान में समावेश करना काल तथा पात्र के विरुद्ध होता।

हमारे नये संविधान की आलोचना का दूसरा आधार यह है कि इसमें केन्द्र को अत्यधिक प्रबल बनाने का प्रयत्न किया गया है और इकाइयों की शक्ति को इतना कम कर दिया गया है कि वे केवल स्थानीय संस्थायें रह गई हैं। यद्यपि यह सत्य है कि केन्द्र को नये संविधान में अधिक से अधिक प्रबल बनाने का प्रयत्न किया गया है परन्तु देश की परिस्थितियों ने ऐसा करने के लिये बाध्य कर दिया है। विकेन्द्रीकरण की प्रवृत्तियों को रोकने, देश को सङ्गठित रखने तथा उसकी एकता को बनाये रखने और उसकी सुरक्षा के लिये केन्द्र को अधिक से अधिक प्रबल बनाना आवश्यक था।

हमारे संविधान की आलोचना का तीसरा आधार यह है कि मौलिक अधिकार जिनका समावेश हमारे संविधान में किया गया है भ्रमात्मक तथा अवास्तविक हैं। जो कुछ दिया गया है वह प्रतिबन्ध लगा कर फिर ले लिया गया है। फलतः जनता को इनसे कोई वास्तविक लाभ नहीं हो सकता परन्तु जैसा पहिले इङ्गित किया जा चुका है अधिकार अथवा स्वतन्त्रता पर प्रतिबन्ध का होना आवश्यक है। इसके अतिरिक्त जो प्रतिबन्ध लगाये गये हैं वे यथोचित तथा तर्कपूर्ण होने चाहिये। क्रियात्मक रूप में मौलिक अधिकारों से नागरिकों की स्वतन्त्रता की रक्षा हो रही है और न्यायालय बड़ी ही निष्पक्षता तथा न्याय के साथ इनका पालन करा रहे हैं।

हमारे संविधान की आलोचना का चौथा तर्क यह है कि राज्य के नीति निर्देशक सिद्धान्तों को निरर्थक ही संविधान में सन्निहित किया गया है। चूँकि न्यायालय द्वारा इनकी रक्षा की व्यवस्था नहीं की गई है अतएव इनका प्रभाव नगण्य है। कोई भी सरकार उनकी सर्वथा उपेक्षा कर सकती है। उनमें केवल नैतिक बल है, उन्हें क़ानूनी सम्बल नहीं प्राप्त है। राज्य उनका पालन करने के लिये बाध्य नहीं है। परन्तु यह आलोचक इस तथ्य को विस्मृत कर जाते हैं कि संविधान देश की एक पवित्र निधि है और इस लोकतन्त्रात्मक युग में कोई भी उत्तरदायी सरकार उनकी उपेक्षा अथवा अवहेलना नहीं कर सकती।

हमारे संविधान की पाँचवी आलोचना इस आधार पर की जाती है कि भारत के राष्ट्रपति तथा राज्यों के राज्यपालों एवं राजप्रमुखों को गम्भीर परिस्थिति में अध्यादेश पास करने का अधिकार है। आलोचकों का कहना है कि लोकतन्त्रात्मक संविधान में इस प्रकार की व्यवस्था अवांछनीय है। परतन्त्र भारत में ऐसी व्यवस्था अपेक्षित हो सकती थी परन्तु स्वतन्त्र भारत में इसका संविधान में समावेश करना सर्वथा अनुचित है। परन्तु गंभीर परिस्थिति के लिये ऐसी व्यवस्था करने में हानि नहीं है जितनी इसका दुरुपयोग करने में। आशा की जाती है कि स्वतन्त्र भारत में इनका प्रयोग उस प्रकार न किया जायगा जिस प्रकार वृटिश शासन में राष्ट्रीय आन्दोलन के दमन करने के लिये किया जाता था।

हमारे संविधान की आलोचना का छठाँ आधार यह है कि राष्ट्रपति को अत्यधिक सङ्कटकालीन अधिकार दे दिये गये हैं। यह अधिकार इतने व्यापक तथा वास्तविक हैं

कि राष्ट्रपति तानाशाह बन सकता है। यद्यपि इसमें सन्देह नहीं कि राष्ट्रपति के अधिकार अत्यन्त व्यापक हैं परन्तु इस तथ्य को कभी न भूलना चाहिये कि हमारे नये संविधान ने अध्यक्षात्मक सरकार की कल्पना नहीं की है वरन् इसने संसदात्मक सरकार की स्थापना की है। अतएव हमारे राष्ट्रपति की स्थिति संयुक्त राष्ट्र अमेरिका के राष्ट्रपति की भाँति नहीं है वरन् उसकी स्थिति इङ्गलैण्ड के सम्राट् की भाँति है। विश्व में कार्यकारिणी के किसी भी अध्यक्ष को इतने अधिकार नहीं प्राप्त हैं जितने इङ्गलैण्ड के सम्राट् को परन्तु वास्तव में वह नाम मात्र का शासक होता है। उसके सभी कार्य वास्तव में उसके मन्त्रियों के कार्य होते हैं। इसी प्रकार की हमारे राष्ट्रपति की भी स्थिति है। उसकी सहायता करने तथा उसे परामर्श देने के लिये एक मन्त्रिपरिषद् होती है जो संसद के प्रति उत्तरदायी होती है। ऐसी स्थिति में कोई भी बुद्धिमान् राष्ट्रपति अपने मन्त्रियों की उपेक्षा नहीं कर सकता। अतएव राष्ट्रपति के सङ्कटकालीन अधिकारों के दुरुपयोग की बहुत कम सम्भावना है।

मौलिक अधिकार—पहिले यह बतलाया जा चुका है कि हमारे नये संविधान की एक प्रमुख विशेषता यह है कि इसमें नागरिकों के मौलिक अधिकारों को सन्निहित कर दिया गया है। मौलिक अधिकार उन अधिकारों को कहते हैं जो मनुष्य के व्यक्तित्व के विकास के लिये नितान्त आवश्यक होते हैं। जब तक इन अधिकारों की प्राप्ति नहीं होती तब तक नागरिकों की स्वतन्त्रता की सुरक्षा नहीं होती और उन्हें अपनी उन्नति का पूर्ण अवसर नहीं मिलता। जिन देशों में मौलिक अधिकारों का विधान रहता है वहाँ की सरकार की शक्तियाँ सीमित हो जाती हैं क्योंकि यह अधिकार राज्य की कार्यकारिणी तथा व्यवस्थापिका की स्वेच्छाचारिता पर प्रतिबन्ध लगा देते हैं और इस प्रकार नागरिकों के व्यक्तित्व के विकास में योग देते हैं। अतएव मौलिक अधिकार उन महत्वपूर्ण अधिकारों को कहते हैं जिनका लोकतन्त्रात्मक राज्यों के संविधान में समावेश होता है। यह अधिकार अत्यन्त पवित्र माने जाते हैं और कोई भी व्यक्ति, संस्था अथवा सरकार इन अधिकारों का अनादर नहीं कर सकती। यदि व्यवस्थापिका कोई ऐसे क़ानून बनाती है अथवा कार्यकारिणी ऐसे नियमों का निर्माण करती है अथवा ऐसी आज्ञायें देती है जो मौलिक अधिकारों के विरुद्ध हैं तो वे अवैध समझी जायँगी और न्यायालय उन्हें कार्यान्वित करने से इन्कार कर देंगे। मौलिक अधिकारों को न्यायालय का संरक्षण प्रदान किया जाता है और उन पर किसी भी प्रकार का कुठाराघात होने पर आहत व्यक्ति न्यायालय की शरण में जा सकता है। यही कारण है कि मौलिक अधिकार नागरिकों तथा सरकार दोनों द्वारा आदृत होते हैं। यहाँ पर यह बतला देना आवश्यक है कि कोई भी अधिकार निर्पेक्ष नहीं होता। अतएव मौलिक अधिकार भी निर्पेक्ष नहीं होते वरन् उन्हें सापेक्ष होना पड़ता है। फलतः उनके उपयोग पर समुचित प्रतिबन्ध लगा दिया जाता है। यह प्रतिबंध सरकार द्वारा अपनी सुरक्षा, जनता की सुरक्षा, नैतिकता के विचार से तथा लोकहित में लगाये जाते हैं। व्यक्ति के हित से समाज का हित उच्चतर होता है। अतएव समाज के हित को सर्वोपरि रखना पड़ता है। व्यक्ति के हित को समाज के हित से अलग नहीं देखा जा सकता फलतः हमारे संविधान में भी मौलिक अधिकारों पर यथोचित प्रतिबन्ध लगा दिये गये हैं। हमारे नये संविधान में मौलिक अधिकारों का कितना बड़ा महत्व है यह तीन तथ्यों से स्पष्ट है। पहिला तथ्य तो यह है कि कोई भी व्यक्ति, अथवा यूनियन सरकार, या राज्य की सरकार अथवा नगरपालिका, जिलापरिषद् आदि स्थानीय संस्थायें इन अधिकारों का उल्लंघन अथवा इनमें हस्तक्षेप नहीं कर सकती। दूसरा तथ्य यह है कि इस विधान के पूर्व के जितने क़ानून अथवा नियम मौलिक अधिकारों के विरोधी थे वे सब अवैध घोषित करके समाप्त कर दिये गये।

तीसरा तथ्य यह है कि राज्य को यह आदेश दिया गया है कि वह ऐसे क़ानून न बनाये जो मौलिक अधिकारों के प्रभाव को कम कर दें। इन अधिकारों में संविधान में बतलाई विधि से ही संशोधन हो सकता है। हमारे नये संविधान में निम्न-लिखित मौलिक अधिकारों का उल्लेख किया गया है :—

(१) स्वतंत्रता का अधिकार—इसके अन्तर्गत (क) भाषण तथा विचार व्यक्त करने की स्वतन्त्रता, (ख) शान्तिपूर्वक तथा निरस्त्र एकत्रित होने की स्वतन्त्रता, (ग) संघ अथवा समुदाय बनाने की स्वतन्त्रता, (घ) भारत के एक भाग से दूसरे भाग में जाने की स्वतन्त्रता, (ङ) कहीं भी निवास करने की स्वतन्त्रता, (च) सम्पत्ति के प्राप्त करने तथा उसके क्रय-विक्रय की स्वतन्त्रता, (छ) किसी भी व्यवसाय के करने की स्वतन्त्रता आदि सम्मिलित हैं। परन्तु यह सब अधिकार असीमित न होंगे। सरकार सार्वजनिक शान्ति तथा सुरक्षा, नैतिकता तथा नागरिकों के सम्मान की रक्षा के लिये इन अधिकारों पर उचित नियन्त्रण लगा सकती है। कोई भी व्यक्ति बिना कारण बतलाये कारागार में नहीं डाला जा सकता और अभियोग लगाने पर २४ घण्टे के भीतर ही अभियुक्त को न्यायालय के समक्ष उपस्थित करना पड़ता है।

(२) समानता का अधिकार—इसका यह तात्पर्य है कि क़ानून की दृष्टि में सभी नागरिक समान हैं और सभी को समान रूप से क़ानून का संरक्षण प्राप्त होगा। जन्म, जाति धर्म, जन्म-स्थान अथवा लिंग-भेद के कारण किसी प्रकार का भेद-भाव नहीं किया जायगा। सरकारी नौकरियाँ सभी योग्य नागरिकों को समान रूप से प्राप्त होंगी परन्तु पिछड़ी हुई जातियों के लिये सरकार कुछ स्थान सुरक्षित रख सकेगी। अस्पृश्यता का निषेध कर दिया गया है और इस प्रकार सामाजिक स्वतन्त्रता स्थापित कर दी गई है।

(३) शोषण से रक्षा का अधिकार—हमारे नये संविधान ने शोषण से रक्षा की भी पूर्ण व्यवस्था कर रक्खी है। हमारे संविधान में मनुष्यों के क्रय-विक्रय का निषेध कर दिया गया है। बेगार लेना भी नियम-विरुद्ध घोषित कर दिया गया है। चौदह वर्ष से कम आयु वाले बालकों को कारखानों, खानों तथा अन्य खतरनाक स्थानों में कार्य करने से मना कर दिया गया है। परन्तु राज्य देश के हित में राष्ट्र की सेवा के लिये नागरिकों को विवश कर सकता है।

(४) धार्मिक स्वतंत्रता का अधिकार—प्रत्येक नागरिक को अपने धर्म के मानने तथा उसके प्रचार करने की पूर्ण स्वतन्त्रता है। सिक्खों को कृपाण रखने का अधिकार दिया गया है। उन संस्थाओं को धार्मिक शिक्षा की व्यवस्था करने से मना कर दिया गया है जिन्हें राज्य द्वारा पूर्ण सहायता प्राप्त है। वह संस्थायें भी जिन्हें आंशिक सहायता प्राप्त होती है, किसी विद्यार्थी को उसकी इच्छा के विरुद्ध और यदि वह अल्प-वयस्क है तो उसके संरक्षक की स्वीकृति के बिना धर्म-शिक्षा ग्रहण करने के लिये विवश नहीं कर सकती।

(५) संस्कृति तथा शिक्षा का अधिकार—इसका यह तात्पर्य है कि वह नागरिक जो भारतवर्ष के किसी भी भाग में निवास करते हैं और जिनकी कोई अपनी विशेष भाषा-लिपि तथा संस्कृति है वे उनकी रक्षा कर सकते हैं। कोई भी नागरिक धर्म, जाति, भाषा आदि के कारण उन शिक्षा संस्थाओं में प्रविष्ट होने से वंचित न किया जायगा जो सरकार द्वारा स्थापित की गई हैं अथवा जिन्हें सरकार द्वारा सहायता मिलती है। अल्प-संख्यकों को यह अधिकार दिया गया है कि वे अपनी इच्छानुसार अपनी शिक्षा की संस्थायें स्थापित करें और उनका प्रबन्ध करें।

(६) सम्पत्ति का अधिकार—इसका यह तात्पर्य है कि क़ानून के विरुद्ध किसी

की सम्पत्ति का अपहरण न किया जायगा और यदि नियमानुकूल किसी की सम्पत्ति ली जाती है तो उसे उसके बदले में राज्य की ओर से उचित धन दिया जायगा परन्तु कुछ विशेष परिस्थितियों में इस नियम का उल्लंघन भी हो सकता है। उदाहरण के लिये राज्य सार्वजनिक हित के लिये कर लगा सकता है।

(७) वैधानिक उपायों के प्राप्त करने का अधिकार—हमारे नये संविधान में यह व्यवस्था की गई है कि यदि किसी नागरिक के मौलिक अधिकारों को किसी प्रकार की क्षति पहुँचती है तो वह सर्वोच्च न्यायालय की शरण लेकर अपने अधिकारों की रक्षा कर सकता है। संसद को यह अधिकार दिया गया है कि वह सेना तथा पुलिस में काम करने वालों के मौलिक अधिकारों में परिवर्तन कर सके।

(८) सामान्य—राज्य कोई ऐसा क़ानून नहीं बनायेगा जो उपरोक्त अधिकारों को समाप्त करता हो अथवा उन्हें कम करता हो और यदि कोई ऐसा क़ानून बना तो वह अवैध समझा जायगा और कार्यान्वित नहीं किया जायगा।

आलोचना—मौलिक अधिकारों का बहुत बड़ा महत्व है। इन अधिकारों ने हमारे देश में राजनैतिक जनतन्त्र स्थापित कर दिया है। इन अधिकारों ने न केवल क़ानून की दृष्टि में सभी नागरिकों को समान बना दिया है वरन् धर्म जाति लिंग आदि आधार भूत विषमता को भी दूर कर दिया है। इस प्रकार मौलिक अधिकारों ने राजनैतिक जनतन्त्र के साथ-साथ सामाजिक जनतन्त्र की भी स्थापना कर दी है। मौलिक अधिकारों का इतना महत्व होने पर भी आलोचकों ने इनकी तीव्र आलोचना की है। इस आलोचना का आधार मौलिक अधिकारों पर लगाये गये प्रतिबन्ध है। बहुत से सदस्यों ने कुछ प्रतिबन्धों पर बड़ा आक्षेप किया था। यह विरोध नजरबन्दी (Detention) के सम्बन्ध में बड़ा भयानक था। जिसके द्वारा सरकार को यह अधिकार मिल गया है कि वह किसी भी व्यक्ति को बिना कारण बतलाये और उस पर बिना अभियोग लगाये तीन महीने तक और एक परामर्शदाता बोर्ड की परामर्श लेकर इससे अधिक अवधि के लिये भी नजरबन्द कर सकती है। इसकी आलोचना करते समय एक सदस्य ने इसे "अत्याचार का अधिकार पत्र" तथा "स्वतन्त्रता के निषेध का अधिकार पत्र" कह डाला है। परन्तु इस बात को कभी न भूलना चाहिये कि यदि संविधान में ऐसी व्यवस्था करना आवश्यक है कि कार्यकारिणी अपने अधिकारों का दुरुपयोग न कर सके और नागरिकों की स्वतन्त्रता की रक्षा हो सके तो संविधान में ऐसी भी व्यवस्था होनी चाहिये जिससे नागरिक अपनी स्वतन्त्रता का दुरुपयोग न कर सकें। इसके अतिरिक्त संविधान के स्वरूप का उतना बड़ा महत्व नहीं होता जितना उसके क्रियात्मक रूप का। जिन व्यक्तियों को जनता चुनेगी यदि वे योग्य तथा चरित्रवान् होंगे तो जनता की स्वतन्त्रता तथा उसके अधिकारों की रक्षा हो सकेगी। जागृत तथा सतर्क जनता अपनी स्वतन्त्रता की रक्षा स्वयं कर लेगी। दूसरी बात यह है कि जब राष्ट्रपति सङ्कटकाल की घोषणा कर देगा तब राज्य को यह अधिकार होगा की वह मौलिक अधिकारों के विरुद्ध भी नियम बना सकता है। सङ्कटकाल में राष्ट्रपति मौलिक अधिकारों को स्थगित कर सकता। ऐसी दशा में सर्वोच्च न्यायालय तथा अन्य न्यायालय इन्हें लागू न कर सकेंगे। सङ्कटकाल के समाप्त हो जाने पर फिर मौलिक अधिकार कार्यान्वित होने लगते हैं। इस व्यवस्था का आधार यह है कि राष्ट्र का हित व्यक्तियों के हित से ऊपर है। राज्य की सुरक्षा व्यक्तियों की स्वतन्त्रता की सुरक्षा से अधिक आवश्यक है। इस प्रकार की व्यवस्था प्रायः सभी प्रकार के संविधानों में पाई जाती है। मौलिक अधिकारों के आलोचकों का यह भी कहना है कि नये संविधान में जिन मौलिक अधिकारों का उल्लेख किया गया है वे पर्याप्त नहीं हैं। हमारे देश की अधिकांश जनता अशिक्षित

तथा निरक्षर है और हमारे देश में दरिद्रता तथा बेकारी का प्रकोप है। ऐसी दशा में मौलिक अधिकारों में कुछ और अधिकारों को सम्मिलित करना चाहिये था। यथा शिक्षा प्राप्त करने का अधिकार, कार्य मिलने का अधिकार आदि। परन्तु इन अधिकारों की व्यवस्था राज्य के नीति निर्देशक सिद्धान्तों में कर दी गई है जिनका कम महत्व नहीं है।

राज्य के नीति निर्देशक सिद्धान्त—हमारे नये संविधान में मौलिक अधि-कारों का उल्लेख करने के उपरान्त राज्य की नीति के मूल भूत सिद्धान्तों का निरूपण किया गया है। इन सिद्धान्तों द्वारा राज्य की विभिन्न सरकारों को जनता का जीवन सब प्रकार से सुखी बनाने के लिये प्रयत्न करने का आदेश दिया गया है। राज्य ऐसी सामा-जिक व्यवस्था की स्थापना करेगा जिससे सार्वजनिक कल्याण की वृद्धि हो और सामाजिक आर्थिक एवं राजनैतिक न्याय सबको प्राप्त हो। राज्य के नीति निर्देशक सिद्धान्तों का क्षेत्र अत्यन्त व्यापक है। अध्ययन की सुविधा के लिये हम इन्हें पाँच भागों में विभक्त कर सकते हैं अर्थात् आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, न्याय-सम्बन्धी तथा अन्तर्राष्ट्रीय।

(१) आर्थिक—नये संविधान द्वारा आर्थिक क्षेत्र में राज्य की नीति के सम्बन्ध में निम्न-लिखित आदेश दिये गये हैं :—

(क) राज्य ऐसा प्रयत्न करे कि देश के सभी नागरिकों को आजीविका के पर्याप्त साधन प्राप्त हो सके।

(ख) समाज के भौतिक साधनों का स्वामित्व तथा नियन्त्रण इस प्रकार बँटा हुआ हो जिससे जन-साधारण का हित पूरी तरह हो सके।

(ग) आर्थिक व्यवस्था का संचालन इस प्रकार का न हो कि धन तथा उत्पादकेन साधन कुछ लोगों के हाथ में इकट्ठा हो जायँ और जन-साधारण के हित की हानि हो वरन् इसका स्वामित्व तथा नियन्त्रण ऐसे ढङ्ग से किया जाय जिससे सर्व-साधारण के हितों की सर्वोत्तम सिद्धि हो।

(घ) पुरुषों तथा स्त्रियों को समान कार्य के लिये समान वेतन मिलना चाहिये और उसमें किसी प्रकार का भेद-भाव न होना चाहिये।

(ङ) आर्थिक व्यवस्था ऐसी हो कि श्रमजीवियों की शक्ति एवं स्वास्थ्य तथा बालकों की सुकुमार आयु का दुरुपयोग न हो और आर्थिक विवशता के कारण नागरिकों को ऐसे कार्यों अथवा व्यवसायों में न लगना पड़े जो उनकी आयु तथा बल के उपयुक्त न हों।

(च) राज्य विशेष रूप से गाँवों में व्यक्तिगत अथवा सहकारी आधार पर घरेलू व्यव-सायों की उन्नति का प्रयत्न करे।

(छ) राज्य कृषि, पशुपालन एवं पशुओं की रक्षा को आधुनिक वैज्ञानिक रीति से व्यवस्था करे और विशेषकर पशुओं की नस्ल की उन्नति करने तथा गायों, बछड़ों और अन्य दूध देने वाले एवं बोझा ढोने वाले पशुओं की हत्या के रोकने का प्रयत्न करे।

(२) सामाजिक—हमारे नये संविधान में सामाजिक क्षेत्र में राज्य को निम्न-लिखित नीति के अनुसरण करने का आदेश दिया गया है :—

(क) राज्य अपनी आर्थिक क्षमता की सीमाओं के भीतर ऐसा प्रबन्ध करे कि नागरिकों को काम करने का अधिकार, शिक्षा का अधिकार तथा बेकारी, वृद्धावस्था, रुग्णावस्था तथा अयोग्यावस्था या ऐसी अवस्था में जब कि काम करने पर भी उसे आर्थिक अभाव है, सरकारी सहायता प्राप्त हो सके।

(ख) राज्य ऐसी भी व्यवस्था करे कि नागरिकों को कार्य करने की न्यायोचित तथा मानवोचित परिस्थिति प्राप्त हो और स्त्रियों को प्रसूति के समय भी सहायता मिल सके।

(ग) राज्य का कर्तव्य है कि वह बालकों तथा युवकों के शोषण तथा नैतिक एवं भौतिक पतन से रक्षा करे।

(घ) राज्य उचित व्यवस्था द्वारा ऐसा प्रयत्न करे कि चाहे समस्त श्रमजीवी कृषक हों अथवा उद्योग-धन्धों में संलग्न हों निर्वाह योग्य वेतन मिल सके। कार्य की परिस्थितियाँ ऐसी हों कि वे समुचित रीति से जीवन व्यतीत कर सकें और अपने अवकाश के समय का तथा सामाजिक एवं सांस्कृतिक सुयोगों का उपभोग कर सकें।

(ङ) राज्य निर्बल लोगों, विशेषकर परिगणित जातियों तथा आदिवासियों के शिक्षा सम्बन्धी एवं आर्थिक हितों पर विशेष ध्यान दे और सामाजिक अन्याय तथा सब प्रकार के शोषण से उनकी रक्षा करे।

(च) राज्य जनता के भोजन, जीवन तथा स्वास्थ्य के स्तर को ऊँचा उठाना अपना प्रथम कर्तव्य समझे और विशेष रूप से शराब तथा अन्य मादक द्रव्यों के निषेध के लिये प्रयत्न करे जो स्वास्थ्य के लिये हानिकारक हैं।

(३) सांस्कृतिक—हमारे नये संविधान में सांस्कृतिक क्षेत्र में राज्य को निम्न-लिखित नीति के अनुसरण करने का आदेश दिया गया है :—

(क) राज्य ऐसी व्यवस्था करे कि १४ वर्ष की आयु तक के समस्त बालक-बालिकाओं को निःशुल्क तथा अनिवार्य शिक्षा प्राप्त हो।

(ख) राज्य का यह कर्तव्य है कि वह प्रत्येक स्मारक अथवा कलात्मक एवं ऐतिहासिक अभिरुचि की वस्तु या स्थान की रक्षा करे।

(४) न्याय सम्बन्धी—न्याय के क्षेत्र में राज्य को निम्न-लिखित नीति के अनुसरण करने का आदेश दिया गया है :—

(क) राज्य यह प्रयत्न करे कि देश में सर्वत्र समान सिविल कोड (Civil Procedure Code) हो।

(ख) वह न्याय विभाग को प्रबन्धक विभाग से अलग करने की व्यवस्था करे।

(ग) राज्य ग्राम-पञ्चायतों के संगठन के लिये प्रयत्न करे और उन्हें ऐसी सत्ता एवं अधिकार दे कि वे स्वतन्त्रतापूर्वक अपना कार्य कर सकें।

(५) अंतर्राष्ट्रीय—हमारे नये संविधान में राज्य को यह आदेश दिया गया है कि वह अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति एवं सुरक्षा की वृद्धि के लिये प्रयत्न करे। विभिन्न राष्ट्रों के बीच हमारा राज्य न्यायपूर्ण तथा सम्मानीय सम्बन्ध स्थापित करे। अन्तर्राष्ट्रीय क़ानून तथा संधि के कर्तव्यों के लिये आदर-भाव उत्पन्न करे और अन्तर्राष्ट्रीय झगड़ों को पञ्चनिर्णय द्वारा निपटारा करने का प्रोत्साहन दे।

मौलिक अधिकारों तथा राज्य के नीति निर्देशक सिद्धांतों में अन्तर—हमारे नये संविधान में नागरिकों के जीवन, सम्पत्ति तथा स्वतन्त्रता एवं अन्य प्रकार के हितों की रक्षा के लिये मौलिक अधिकारों तथा राज्य के नीति निर्देशक सिद्धान्तों की व्याख्या की गई है। यद्यपि इन दोनों का अन्तिम लक्ष्य नागरिकों के जीवन को सम्पन्न तथा सुखी बनाना है परन्तु आलोचनात्मक दृष्टि से इनका अध्ययन करने से इनमें निम्न-लिखित अन्तर परिलक्षित होता है :—

(१) मौलिक अधिकारों द्वारा देश में राजनैतिक स्वतन्त्रता के स्थापित करने का प्रयास किया गया है परन्तु राज्य की नीति-निर्देशक सिद्धान्तों द्वारा देश में प्रधानतः आर्थिक स्वतन्त्रता के स्थापित करने का प्रयत्न किया गया है।

(२) मौलिक अधिकारों को वैधानिक मान्यता दे दी गई है परन्तु राज्य की नीति निर्देशक सिद्धान्तों को वैधानिक मान्यता नहीं दी गई है अर्थात् मौलिक अधिकारों के

अनुसार कार्य करने के लिये राज्य बाध्य है परन्तु नीति निर्देशक सिद्धान्तों के अनुसार कार्य करने के लिये राज्य बाध्य नहीं है।

(३) नागरिक सर्वोच्च न्यायालय द्वारा अपने मौलिक अधिकारों की रक्षा करा सकते हैं परन्तु नीति-निर्देशक सिद्धान्तों के अनुसार कार्य न करने पर राज्य के विरुद्ध किसी न्यायालय में मुक़दमा नहीं चल सकता।

नीति-निर्देशक सिद्धान्तों का महत्व—यद्यपि संविधान में उल्लिखित नीति-निर्देशक सिद्धान्तों का अनुसरण करने के लिये राज्य बाध्य नहीं है और उनका अनुसरण करना अथवा न करना राज्य की इच्छा पर निर्भर है परन्तु यह सिद्धान्त राज्य के उच्चादर्शों तथा महान् लक्ष्यों के प्रतीक हैं। आजकल के वैज्ञानिक तथा प्रगतिशील युग में ऐसी आशा की जाती है कि राज्य निश्चय ही यथाशक्ति इन सिद्धान्तों के अनुसरण करने का प्रयास करेगा। आजकल का युग प्रजातन्त्रात्मक युग है और लोकमत का बहुत बड़ा महत्व है और कोई भी सरकार लोकमत की उपेक्षा करने का दुस्साहस नहीं कर सकती। अतएव वैधानिक प्रतिबन्ध न होने पर भी राज्यों को इन सिद्धान्तों का पालन करना पड़ेगा। यह सिद्धान्त समाजवाद के सिद्धान्तों पर बनाये गये हैं और राज्य में आर्थिक स्वतन्त्रता के स्थापित करने का प्रयास किया है। यद्यपि विदेशी शासन के उन्मूलन से हमें राजनैतिक स्वतन्त्रता प्राप्त हो गई थी परन्तु आर्थिक, सामाजिक तथा सांस्कृतिक बन्धनों से हम मुक्त न थे। राज्य की नीति-निर्देशक सिद्धान्तों का अनुसरण करके ही हमारा देश आर्थिक, सामाजिक तथा सांस्कृतिक स्वतन्त्रता पा सकता है अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग तथा सद्भावना उत्पन्न करने का आदेश देकर हमें ईश्वर के पितृत्व तथा मानव के भ्रातृत्व में विश्वास करने का आदेश दिया गया है।

यूनियन सरकार तथा राज्य की सरकारों में कार्य विभाजन—नये संविधान द्वारा हमारे देश में संघ सरकार की स्थापना की गई है। संघ सरकार की एक प्रमुख विशेषता यह होती है कि संघ सरकार तथा संघ की इकाइयों का कार्य क्षेत्र स्पष्ट रूप से निर्धारित कर दिया जाता है जिससे उनमें किसी प्रकार का संघर्ष न हो और देश का शासन शान्तिपूर्वक सुव्यवस्थित ढंग से चल सके। यह विभाजन क़ानून, शासन तथा अर्थ इन तीनों क्षेत्रों में कर दिया गया है। अब इन पर अलग-अलग विचार करना आवश्यक हैं।

क़ानून का क्षेत्र—क़ानून निर्माण के दृष्टिकोण से यूनियन सरकार तथा राज्य की सरकारों के बीच कार्य का विभाजन इस प्रकार किया गया है। शासन के समस्त विषय तीन सूचियों में विभक्त कर दिये गये हैं। पहिली सूची को यूनियन सूची कहते हैं। इस सूची में उन विषयों का उल्लेख है जिन पर संसद को क़ानून बनाने का एकाधिकार प्राप्त है। इस सूची के अन्तर्गत कुल ९७ विषय हैं जिसमें देश की रक्षा, विदेशी सम्बन्ध युद्ध तथा सन्धि, अणुशक्ति, देश की रक्षा से सम्बन्ध रखने वाले उद्योग, रेल, वायुयान, समुद्री जहाज, डाक, तार, टेलीफ़ोन, बेतार, ब्राडकास्टिंग, विदेशी व्यापार, मुद्रा, विदेशी मुद्रा, रिज़र्वबैंक, बीमा, जनगणना, आय-कर आदि प्रमुख है।

द्वितीय सूची राज्य की सूची कहलाती है। इनमें संघ के स्वायत्तशासी राज्यों के विषय हैं जिन पर राज्यों के विधान मण्डल को क़ानून बनाने का अधिकार है। इस सूची में कुल ६६ विषय हैं जिनमें सार्वजनिक सुरक्षा, पुलिस, न्याय, जेल, स्थानीय शासन, सार्वजनिक स्वास्थ्य, शिक्षा, कृषि, सिंचाई, जङ्गल, यूनियन सूची से बचे हुये उद्योग, सार्वजनिक आमोद प्रमोद कृषि-आय पर कर आदि प्रमुख है। राज्य की सूची में आने वाले विषयों पर राज्य के विधान मण्डल को क़ानून बनाने का अधिकार है। परन्तु राज्य की सरकार

द्वारा अथवा दो या दो से अधिक राज्यों द्वारा प्रार्थना किये जाने पर अथवा राष्ट्रपति द्वारा संकटकाल की घोषणा कर देने पर अथवा राज्य परिषद द्वारा राष्ट्रीय आवश्यकता का निर्णय कर देने पर संसद् को राज्य की सूची में भी आने वाले विषयों पर क़ानून बनाने का अधिकार होगा।

तीसरी सूची समवर्ती सूची कहलाती है। इसके अन्तर्गत जो विषय आते हैं उन पर संसद् तथा राज्यों के विधान मण्डल दोनों को क़ानून बनाने का अधिकार प्राप्त है परन्तु संसद् तथा विधान-मण्डल द्वारा बनाये गये क़ानूनों में विरोध हो जाने पर संसद् के क़ानून की प्रधानता मानी जायगी। इस सूची के अन्तर्गत कुल ४७ विषय हैं जिनमें दण्ड-विधि (फ़ौजदारी क़ानून), दण्ड प्रक्रिया (फ़ौजदारी जाब्ता), व्यवहार प्रक्रिया (जाब्ता दीवानी), नज़रबन्दी, विवाह तथा विवाह-विच्छेद, मज़दूर-संघ, आर्थिक तथा सामाजिक योजना, औषधि तथा विष, मजदूरों का कल्याण, कारखाने, बिजली, मूल्य-नियंत्रण, समाचार-पत्र आदि प्रमुख हैं।

शासन का क्षेत्र—शासन के दृष्टिकोण से भी यूनियन सरकार तथा राज्यों की सरकार में कार्य तथा अधिकार-क्षेत्र स्पष्ट रूप से निर्धारित कर दिया गया है। संविधान द्वारा यह बतला दिया गया है कि उन विषयों पर जो संघीय सूची में रक्खे गये हैं यूनियन सरकार को शासन करने का एकाधिकार प्राप्त है। इसी प्रकार उन विषयों पर जो राज्य की सूची में रक्खे गये हैं राज्य की सरकार को शासन करने का एकाधिकार प्राप्त है। परन्तु राज्य की सरकार यूनियन सरकार के नियन्त्रण से पूर्ण रूप से मुक्त नहीं की गई है। विधान द्वारा राज्यों को यह आदेश दिया गया है कि राज्यों की कार्यकारिणी अपने अधिकारों का इस प्रकार प्रयोग करे कि यदि संसद् ऐसे क़ानून बनाये जो राज्यों में लागू हों तो उनका समुचित रीति से पालन हो सके और संघीय कार्यकारिणी को कोई आपत्ति न पैदा हो। संघ सरकार को यह अधिकार है कि राज्यों में गमनागमन के साधनों अर्थात् रेल आदि के निर्माण तथा उनकी रक्षा के लिये आदेश दे सके। इसमें जो धन व्यय होगा उसे संघ सरकार देगी। राष्ट्रपति राज्य की परामर्श से राज्य के कर्मचारियों को संघीय सरकार के कार्यों के करने का आदेश दे सकता है। सङ्कटकाल में राष्ट्रपति को यह अधिकार दिया गया है कि वह राज्यों का पूरा शासन अपने हाथों में ले ले।

अर्थ के क्षेत्र में—विधान ने संघ तथा राज्यों के बीच आर्थिक बटवारा भी किया है और प्रत्येक सरकार के लिये आय के साधन निर्धारित कर दिये हैं। आय के जितने साधन हैं वे सब संघ तथा राज्यों के बीच विभक्त कर दिये गये हैं। राज्यों को जो साधन दिये गये हैं उनकी आय उन्हीं के पास रहेगी, परन्तु संघ को जितने साधन दिये गये हैं उनमें से कुछ की कुल आय अथवा उसका कुछ निश्चित भाग राज्यों को दिया जायगा अथवा दिया जा सकेगा। कृषि से होने वाली आय को छोड़कर अन्य आय पर कर, देश में उत्पन्न होने वाली तम्बाकू तथा अन्य वस्तुओं की चुङ्गी, आयात-निर्यात कर, रेल का भाड़ा तथा रेल या समुद्र या वायु से ले जाने वाली वस्तुओं या यात्रियों पर सीमा कर, आदि संघ सरकार की आय के प्रधान साधन हैं। राज्यों आय के प्रधान साधन हैं मालगुजारी, कृषि की आय पर कर, खनिज अधिकार पर कर, अफ़ीम भांग आदि मादक द्रव्यों पर कर आदि। औषधीय तथा प्रसाधनीय सामग्री पर कर, मादक द्रव्यों पर कर, बैङ्कों, बीमा पत्रों आदि पर कर यूनियन सरकार द्वारा लगाये जायेंगे परन्तु राज्य की सरकार उन्हें वसूल तथा उनका उपभोग करेगी। कृषि सम्पत्ति को छोड़कर अन्य सम्पत्ति पर उत्तराधिकार कर, रेल, समुद्र तथा वायु मार्ग से ले जाये जाने वाले यात्रियों तथा वस्तुओं पर कर आदि संघ द्वारा लगाये तथा वसूल किये जायेंगे परन्तु संसद् उन्हें

नियमानुसार राज्यों में बाँट देगी। कृषि-आय को छोड़कर अन्य आय पर कर संघ सरकार लगायेगी और वसूल करेगी पर उसकी आय का कुछ भाग राष्ट्रपति के आदेशानुसार राज्यों में बाँट दिया जायगा। जूट पर लगाये जाने वाले कर का एक भाग उन राज्यों को दिया जायगा जहाँ से वह भेजा जाता है।

अतिरिक्त शक्ति—यद्यपि नये संविधान में बड़ी सावधानी के साथ यूनियन सरकार तथा राज्यों की सरकार के बीच अधिकारों तथा कार्यों का विभाजन किया गया है परन्तु कुछ विषयों के छूट जाने की सम्भावना है। इसके अतिरिक्त नई परिस्थितियों में नई बातें उत्पन्न हो सकती हैं। अतएव अवशिष्ट शक्तियों के लिये भी व्यवस्था की गई है। यह सभी विषय यूनियन सरकार के नियन्त्रण में रक्खे गये हैं।

विभाजन का आधार—उपरोक्त सूचियों के अध्ययन से विभाजन का आधार स्पष्ट हो जाता है। वह विषय जिनमें सम्पूर्ण देश के लिये एकसी नीति वांछनीय है यूनियन सरकार को दे दिये गये हैं। उदाहरण के लिये देश-रक्षा, विदेशी सम्बन्ध, मुद्रा आदि के लिये सम्पूर्ण देश में एकसी नीति वांछनीय है। अतएव यह सब यूनियन सरकार को दे दिये गये हैं। जिन विषयों का महत्व केवल प्रादेशिक है वे राज्य की सूची में रक्खे गये हैं। इन विषयों पर भिन्न-भिन्न राज्यों में अपनी परिस्थिति के अनुसार भिन्न-भिन्न प्रकार की नीति का अनुसरण किया जा सकता है। इसी से शिक्षा, स्वास्थ्य, सफ़ाई आदि राज्यों की सूची में रक्खे गये हैं। जो विषय हैं तो प्रादेशिक महत्व के परन्तु जिनके सम्बन्ध में कभी-कभी यह आवश्यक तथा उचित समझा जाता है कि विभिन्न राज्यों में उनकी व्यवस्था सार्वजनिक हित की दृष्टि से एक सी हो वे समवर्ती सूची में रक्खे गये हैं। शक्ति वितरण के सम्बन्ध में यदि संघ सरकार तथा राज्यों की सरकार में कोई विवाद हो जाय तो उसका निर्णय सर्वोच्च न्यायालय करेगा और दोनों सरकारों को अपनी-अपनी सीमा के अन्दर रक्खेगा।

विशेष—उपरोक्त विभाजन-व्यवस्था केवल स्वायत्त शक्ति राज्यों के सम्बन्ध में की गई है। जो राज्य अथवा प्रदेश प्रथम अनुसूची के तृतीय तथा चतुर्थ भाग में दिये गये हैं वे संघीय सरकार के अनुशासन में हैं और उनके लिये संसद सभी विषयों पर क़ानून बना सकती है चाहे वे किसी भी सूची में हों।

राष्ट्रपति —हमारे नये संविधान द्वारा हमारे देश में गण-राज्य की स्थापना की गई है। गण-राज्य का प्रधान राष्ट्रपति होता है। अतएव नये संविधान द्वारा एक राष्ट्रपति के नियुक्त करने की व्यवस्था की गई है। वही राष्ट्र का प्रधान होता है और उसी के नाम में सम्पूर्ण देश का शासन किया जाता है। इसकी योग्यता, कार्य-काल, नियुक्ति विधि तथा अधिकारों एवं कर्तव्यों पर नीचे विचार किया जायगा।

पद के लिये योग्यता—राष्ट्रपति के पद के लिये निम्नलिखित योग्यताओं का होना आवश्यक है :—

(१) वह भारत का नागरिक हो, (२) उसकी अवस्था ३५ वर्ष से कम की न हो, (३) संसद के प्रथम भवन अर्थात् लोक-सभा के सदस्य बनने की उसमें योग्यता हो, (४) वह वेतनभोगी न हो परन्तु यह प्रतिबन्ध राष्ट्रपति, उप-राष्ट्रपति, राज्यपाल अथवा राज-प्रमुख, यूनियन तथा राज्य के मन्त्रियों के सम्बन्ध में लागू न होगा, (५) राष्ट्रपति संसद अथवा विधान-मण्डल का सदस्य नहीं हो सकता और यदि अपनी नियुक्ति के समय वह इनका सदस्य है तो उसे इनकी सदस्यता त्याग देनी पड़ेगी।

कार्य काल—राष्ट्रपति का निर्वाचन ५ वर्ष के लिये होता है परन्तु इसके पूर्व भी वह अपना पद त्याग सकता है अथवा विधान के उल्लंघन करने पर वह वैधानिक रीति से

पद से हटाया भी जा सकता है। लोक-सभा उस पर राज्य-परिषद् के समक्ष संविधान भंग करने के लिये अभियोग चला सकती है और यदि राज्य-परिषद् के दो तिहाई सदस्य उसे दोषी स्वीकार कर लेंगे तब वह अपने पद से हटा दिया जायगा। राष्ट्रपति के कार्य-काल की समाप्ति के पहिले ही नये राष्ट्रपति का निर्वाचन हो जायगा। यदि राष्ट्रपति का पद मृत्यु, पद-त्याग अथवा पद-च्युत हो जाने के कारण रिक्त हो जाता है तो यथा-सम्भव शीघ्र ही और प्रत्येक दशा में ६ महीने के भीतर ही नये राष्ट्रपति का निर्वाचन हो जाना चाहिये जो पद-ग्रहण करने के समय से पूरे पांच वर्ष तक अपने पद पर रह सकता है। जब तक नये राष्ट्रपति का चुनाव नहीं हो जाता तब तक उपराष्ट्रपति उसके कार्यों को करेगा।

नियुक्ति विधि—राष्ट्रपति की नियुक्ति निर्वाचन द्वारा होती है। इसके निर्वाचन में निम्न-लिखित संस्थाओं के सदस्य भाग लेते हैं :—

(१) संसद् के दोनों सदनों अर्थात् लोक सभा तथा राज्य परिषद् के सदस्य तथा (२) राज्यों के विधान-मण्डल का केवल प्रथम भवन अर्थात् विधान सभा के सदस्य जो प्रजा द्वारा निर्वाचित होंगे। इन संस्थाओं के सदस्यों का एक निर्वाचक मण्डल (Electoral College) बनाया जायगा। यही निर्वाचक मण्डल राष्ट्रपति को चुनेगा। चूंकि धारा-सभाओं के चुने हुये सदस्य राष्ट्रपति को चुनेंगे अतएव राष्ट्रपति का चुनाव अप्रत्यक्ष रीति से होगा। राष्ट्रपति के चुनाव के सम्बन्ध में निम्न-लिखित तीन बातों का याद रखना आवश्यक है :—

(१) यह चुनाव आनुपातिक प्रतिनिधित्व प्रणाली के आधार पर होगा।

(२) यह एक परिवर्तनीय मत (Single Transferable Vote) द्वारा होगा।

(३) यह गुप्त रीति (Secret Ballot) द्वारा होगा।

राष्ट्रपति के अधिकार—राष्ट्रपति यूनियन सरकार का प्रधान होता है। वही यूनियन की कार्यपालिका का प्रधान होता है और उसी के नाम में सम्पूर्ण देश का शासन होता है। वह विधान के अनुसार अपने अधिकारों का प्रयोग करता है। उसकी सत्ता उन सभी विषयों पर व्याप्त होती है जिन पर यूनियन सरकार को कानून बनाने का अधि-कार होता है। राष्ट्रपति अपने अधिकारों का प्रयोग अपनी मन्त्रि-परिषद् की सहायता से करता है। राष्ट्रपति के अधिकारों को हम ६ भागों में विभक्त कर सकते हैं :—

(१) क़ानून सम्बन्धी, (२) शासन सम्बन्धी, (३) राजस्व-सम्बन्धी, (४) न्याय सम्बन्धी, (५) संकटकालीन तथा (६) अन्य अधिकार।

(१) कानून सम्बन्धी (Legislative)—चूँकि हमारे नये संविधान द्वारा संसदा-त्मक (Parliamentary) सरकार की स्थापना की गई है अतएव राष्ट्रपति संसद् का एक अभिन्न अङ्ग बन गया है और क़ानून-निर्माण में उसका बहुत बड़ा हाथ रहता है। राष्ट्रपति को निम्नलिखित क़ानून-सम्बन्धी अधिकार प्राप्त हैं :—

(१) राष्ट्रपति ही संसद को बुलाता है, स्थगित करता है तथा भङ्ग करता है।

(२) राज्य-परिषद् के १२ सदस्यों को वह मनोनीत करता है।

(३) कोई भी आर्थिक बिल बिना राष्ट्रपति की स्वीकृति प्राप्त किये हुये संसद में उप-स्थित नहीं किया जा सकता।

(४) संसद् द्वारा पास किया कोई प्रस्ताव तब तक क़ानून नहीं बनता जब तक राष्ट्र-पति अपनी अन्तिम स्वीकृति नहीं दे देता।

(५) राजस्व बिल को छोड़कर अन्य बिलों पर राष्ट्रपति अपनी स्वीकृति देने से इन्कार कर सकता है। परन्तु यदि संसद् प्रस्ताव को दूसरी बार पास कर दे तब राष्ट्रपति अपनी स्वीकृति देने पर बाध्य हो जाता है।

(६) यदि राज्यपालिका ने किसी बिल को राष्ट्रपति की स्वीकृति के लिये रोक लिया है तो राष्ट्रपति उस पर अपनी स्वीकृति देने से इन्कार कर सकता है।

(७) राष्ट्रपति संसद के दोनों भवनों में भाषण दे सकता है और सरकारी नीति का उल्लेख कर सकता है। वह संसद में सन्देश भी भेज सकता है। संसद इन पर विचार करने के लिये बाध्य होती है।

(८) राष्ट्रपति को विशेष परिस्थितियों में अध्यादेश (Ordinance) भी पास करने का अधिकार है। जिन दिनों संसद की बैठक न हो रही हो उन दिनों गम्भीर स्थिति उत्पन्न हो जाने पर राष्ट्रपति आडनेन्स पास कर सकता है। वह सब अध्यादेश संसद की बैठक होने पर उसके सामने उपस्थित किये जाते हैं। यदि संसद इन्हें अस्वीकृत कर देती है तो वे रद्द हो जाते हैं अन्यथा संसद के अधिवेशन से ६ सप्ताह तक वे लागू रहते हैं। राष्ट्रपति को केवल उन्हीं विषयों पर अध्यादेश पास करने का अधिकार है जिन पर संसद-क़ानून बना सकती है। इन अध्यादेशों को राष्ट्रपति जब चाहे तब वापिस भी ले सकता है।

(९) संकट कालीन घोषणा द्वारा राष्ट्रपति राज्य की धारा-सभाओं के अधिकार अपने हाथ में लेकर संसद को सौंप सकता है।

(१०) किसी राज्य के भीतर अथवा अन्य राज्यों के साथ व्यापार आदि पर प्रतिबन्ध लगाये जाने वाले बिलों को राज्य के विधान मण्डल में तब तक प्रस्तुत नहीं किया जा सकता जब तक राष्ट्रपति की पूर्व स्वीकृति प्राप्त न हो जाय।

(११) जिन बिलों का सम्बन्ध उन विषयों से होता है जो समवर्ती सूची (Concurrent List) में रखे गये हैं और जिनका विरोध संसद द्वारा पास किये हुये नियमों से होता है, वे तब तक क़ानून नहीं बनेंगे जब तक राष्ट्रपति की अन्तिम स्वीकृति नहीं प्राप्त हो जायगी।

(१२) राष्ट्रपति को अधिकार दिया गया है कि कबायली क्षेत्र (tribal areas) के लिये वह उपनियम बनाये।

(१३) यदि राज्य-परिषद् के सभापति तथा उप-सभापति का स्थान एक साथ रिक्त हो जाय तो राष्ट्रपति उस भवन के किसी भी व्यक्ति को उस स्थान की पूर्ति के लिये नियुक्त कर सकता है।

(१४) यदि राष्ट्रपति इस बात का अनुभव करे कि एंग्लो इण्डियनों को लोक-सभा में निर्वाचन द्वारा पर्याप्त प्रतिनिधित्व प्राप्त नहीं हुआ है तो वह उस सभा के लिये अधिक से अधिक दो एंग्लो-इण्डियन को मनोनीत कर सकता है।

(१५) यदि लोक-सभा के अध्यक्ष तथा उपाध्यक्ष का स्थान एक साथ रिक्त हो जाय तो राष्ट्रपति उसी भवन के किसी व्यक्ति को उस स्थान की पूर्ति के लिये मनोनीत कर सकता है।

(१६) संसद के दोनों भवनों के प्रत्येक सदस्य को राष्ट्रपति और उसके द्वारा नियुक्त किये हुए किसी व्यक्ति के सामने शपथ लेनी पड़ती है।

(१७) संसद की सदस्यता के लिये संविधान द्वारा कुछ अयोग्यताएँ बतलाई गई हैं। किसी व्यक्ति में यह अयोग्यताएँ हैं या नहीं, इस बात का निर्णय राष्ट्रपति ही करता है। राष्ट्रपति का निर्णय अन्तिम निर्णय समझा जाता है परन्तु राष्ट्रपति निर्वाचन कमीशन से परामर्श लेकर ही अपना निर्णय देता है।

(१८) कुछ परिस्थितियों में राष्ट्रपति संसद के दोनों भवनों की संयुक्त बैठक कर सकता है।

(२) शासन सम्बन्धी (Executive)—राष्ट्रपति केन्द्रीय राज्य-पालिका का प्रधान होता है और कार्यपालिका की सम्पूर्ण सत्ता उसी के हाथ में रहती है। वह शासन के सम्पूर्ण भार को स्वयं अथवा अपने अधीनस्थ पदाधिकारियों की सहायता से उठाता

है। उसका नियन्त्रण उन सब ही विषयों पर रहता है जिन पर संसद को क़ानून बनाने का अधिकार होता है। सम्पूर्ण देश के सुशासन तथा सुव्यवस्था के लिये वह उत्तरदायी होता है और यूनियन सरकार का सब काम उसी के नाम से होता है। राष्ट्रपति के शासन सम्बन्धी निम्नलिखित अधिकार हैं :—

(१) देश की रक्षा का भार उसी के ऊपर रहता है।

(२) सेना पर उसका पूरा अधिकार रहता है।

(३) वह युद्ध की घोषणा तथा संधि कर सकता है।

(४) प्रधान-मन्त्री की नियुक्ति राष्ट्रपति ही करता है। अन्य मन्त्रियों की भी नियुक्ति वह प्रधान-मन्त्री के ही परामर्श से करता है।

(५) मन्त्रियों में कार्य-विभाजन वही करता है और भिन्न-भिन्न विभागों के लिये नियम बनाता है।

(६) मन्त्री तभी तक अपने पद पर रह सकते हैं जब तक राष्ट्रपति का उनमें विश्वास रहता है। वह अपनी इच्छानुसार मन्त्रियों को पदच्युत कर सकता है।

(७) विदेशों के लिये राजदूतों की नियुक्ति वही करता है और विदेशों से आये हुये राजदूत उसी को प्रमाण-पत्र उपस्थित करते हैं।

(८) राज्यों के राज्यपालों की नियुक्ति वही करता है इस प्रकार वह राज्य के शासन को प्रभावित कर सकता है। इस प्रकार राज्य की सरकार यूनियन सरकार के नियन्त्रण में आ जाती है।

(९) सर्वोच्च न्यायालय (Supreme Court) के न्यायाधीशों, उच्च न्यायालय (High Court) के जजों, महाधिवक्ता (Attorney General), महालेखा परीक्षक (Auditor General), पब्लिक सर्विस कमीशन के सदस्य तथा निर्वाचन कमिश्नर, आदि की नियुक्ति राष्ट्रपति ही करता है।

(३) राजस्व-सम्बन्धी अधिकार—कार्यपालिका का प्रधान होने के कारण अर्थ-सम्बन्धी विषयों से राष्ट्रपति का बड़ा घनिष्ट सम्बन्ध होता है। सरकार आय-व्यय के द्वारा ही अपने कार्यों को कर सकती है। राष्ट्रपति को नवीन संविधान द्वारा निम्नलिखित आर्थिक अधिकार दिये गये हैं :

(१) राष्ट्रपति प्रति वर्ष संसद के समक्ष अनुमानित आय-व्यय का ब्यौरा उपस्थित करता है और उसी की सिफारिश पर संसद से किसी मद पर धन माँगा जा सकता है।

(२) राष्ट्रपति को आय-कर से प्राप्त धन को यूनियन सरकार तथा राज्यों की सरकारों के बीच वितरण करने का अधिकार प्राप्त है।

(३) इसी प्रकार जूट के निर्यात-कर से जो धन प्राप्त होगा इसका कुछ भाग राष्ट्रपति की आज्ञा से आसाम, बिहार, उड़ीसा तथा पश्चिमी बङ्गाल को सहायता-दान के रूप में दिया जा सकता है।

(४) यूनियन सरकार तथा राज्यों की सरकार के बीच अर्थ-वितरण के लिये राष्ट्रपति को प्रति पाँचवें वर्ष एक अर्थ कमीशन नियुक्त करने का अधिकार है।

(५) कोई भी राजस्व-बिल बिना राष्ट्रपति की पूर्व स्वीकृति प्राप्त किये संसद में उपस्थित नहीं किया जा सकता। इसका तात्पर्य यह है कि कर लगाने का प्रस्ताव राष्ट्रपति से ही आरम्भ होता है।

(६) कोई बिल जिसका सम्बन्ध संचित-निधि (Consolidated Fund) से होता है, बिना राष्ट्रपति की सिफारिश के नहीं पास किया जा सकता।

(७) बिना राष्ट्रपति की सिफारिश के संसद में मंजूरी के लिये धन की माँग नहीं उपस्थित की जा सकती।

(८) राष्ट्रपति को आकस्मिक-निधि (Contingency Fund) की व्यवस्था करने का अधिकार है जिससे वह इस निधि से आकस्मिक व्यय के लिये धन दे सके।

(९) जब तक पार्लियामेण्ट नियम नहीं बना देती तब तक राष्ट्रपति ही आकस्मिक-निधि तथा संचित-निधि की सुरक्षा तथा उनमें धन के जमा तथा उनसे व्यय करने के सम्बन्ध में नियम बनाता है।

(१०) राज्य की धारा-सभा द्वारा पास किया हुआ ऐसा बिल जिसके द्वारा जल अथवा विद्युत-शक्ति पर कर लगाया जाय तब तक क़ानून नहीं बनेगा जब तक राष्ट्रपति की स्वीकृति नहीं मिल जायगी।

(११) राज्य के विधान-मण्डलों द्वारा पास किये हुये निम्नलिखित बिल तब तक क़ानून नहीं बनेंगे जब तक राष्ट्रपति की अन्तिम स्वीकृति नहीं प्राप्त हो जायगी :—

(क) जिन बिलों का सम्बन्ध राज्य द्वारा प्राप्त की हुई सम्पत्ति से होता है।

(ख) जिन बिलों का सम्बन्ध उन वस्तुओं के क्रय-विक्रय पर लगाये जाने वाले करों से होता हैं जो नागरिकों के जीवन के लिये आवश्यक समझी गई हैं।

(४) न्याय-सम्बन्धी (Judicial)—राष्ट्रपति को निम्नलिखित न्याय-सम्बन्धी अधिकार प्राप्त हैं :—

(१) राष्ट्रपति सुप्रीम कोर्ट के न्यायाधीशों की नियुक्ति करता है। परन्तु ऐसा करते समय उसे अन्य न्यायाधीशों का परामर्श लेना पड़ता है।

(२) सुप्रीम कोर्ट के न्यायाधीश राष्ट्रपति को ही अपना त्याग-पत्र देते हैं।

(३) राष्ट्रपति संसद के दोनों भवनों द्वारा प्रार्थना करने पर सुप्रीम कोर्ट के न्यायाधीशों को पदच्युत भी कर सकता है।

(४) यदि सर्वोच्च न्यायालय के प्रधान न्यायाधीश का स्थान रिक्त हो जाय तो राष्ट्रपति उसी न्यायालय के किसी न्यायाधीश को अन्तर्काल के लिये प्रधान न्यायाधीश बना सकता है।

(५) राष्ट्रपति के परामर्श से ही सुप्रीम कोर्ट का प्रधान न्यायाधीश अल्प-काल के लिये हाईकोर्ट के जजों की नियुक्ति सुप्रीम कोर्ट में कर सकता है।

(६) राष्ट्रपति की ही अनुमति से प्रधान न्यायाधीश रिटायर्ड जजों को सुप्रीम कोर्ट की बैठक में बुला सकता है।

(७) राष्ट्रपति की ही स्वीकृति से प्रधान न्यायाधीश सुप्रीम कोर्ट की बैठक दिल्ली के बाहर कर सकता है।

(८) सुप्रीम कोर्ट के अफसरों तथा नौकरों के वेतन, भत्ता, अवकाश तथा पेन्शन सम्बन्धी प्रधान न्यायाधीश द्वारा बनाये हुए नियमों पर राष्ट्रपति की स्वीकृति प्राप्त करना आवश्यक है।

(९) सुप्रीम कोर्ट राष्ट्रपति की ही स्वीकृति से कोर्ट की कार्यवाही सम्बन्धी नियम बना सकता है।

(१०) लोक-हित के किसी भी कार्य पर राष्ट्रपति सुप्रीम कोर्ट की परामर्श ले सकता है।

(११) यदि राज्यों के साथ किये गये किसी समझौते अथवा संधि के सम्बन्ध में झगड़ा पैदा हो जाता है तो राष्ट्रपति सुप्रीम कोर्ट के पास राय देने के लिये भेज सकता है।

(१२) राष्ट्रपति ही इस बात का निर्णय करता है कि प्रधान जज के अतिरिक्त प्रत्येक हाई-कोर्ट में अन्य जजों की संख्या कितनी होगी।

(१३) हाई कोर्ट के जजों की भी नियुक्ति राष्ट्रपति ही करता है।

(१४) हाई कोर्ट के जज अपना त्याग-पत्र राष्ट्रपति के ही पास भेजते हैं।

(१५) संसद् के दोनों भवनों के प्रार्थना करने पर राष्ट्रपति किसी भी हाई कोर्ट के न्यायाधीश को पदच्युत कर सकता है।

(१६) यदि अकस्मात हाई कोर्ट के प्रधान जज का स्थान रिक्त हो जाता है तो राष्ट्रपति उसी न्यायालय के किसी भी जज को अल्पकाल के लिये प्रधान जज बना सकता है।

(१७) राष्ट्रपति ही की अनुमति से हाई कोर्ट का प्रधान जज किसी रिटायर्ड जज को हाई कोर्ट की बैठक में बुला सकता है।

(१८) राष्ट्रपति को सुप्रीम कोर्ट के प्रधान न्यायाधीश के परामर्श से हाई कोर्ट के किसी भी जज को दूसरे हाई कोर्ट में तबादला करने का अधिकार है।

(१९) राष्ट्रपति को अपराधियों को क्षमा-दान का अधिकार है। फाँसी की सजा पाये हुए अपराधी को वह क्षमा कर सकता है या उसकी सजा बदल कर कोई दूसरी सजा दे सकता है।

(२०) फौजी न्यायालय द्वारा दी हुई सजा को स्थगित करने, कम करने अथवा बदल देने का उसे अधिकार है।

(२१) राष्ट्रपति को यह विशेष अधिकार है कि वह अपने राजकीय कार्यों के लिये किसी भी न्यायालय के सामने उत्तरदायी न होगा। परन्तु विधान भङ्ग करने के अपराध की जाँच-पड़ताल के लिये जो न्यायालय या पंच संसद नियुक्त करेगी उसके सामने उसके आचरण की आलोचना की जा सकती है।

(२२) राष्ट्रपति के कार्य-काल में दण्ड-विधान के अन्तर्गत कोई कार्यवाही उसके विरुद्ध किसी भी न्यायालय में नहीं की जा सकेगी और न उसकी गिरफ्तारी के लिये कोई वारण्ट निकाला जायगा।

(२३) यदि राष्ट्रपति के विरुद्ध कोई दीवानी कार्यवाही करनी है तो दो महीने पहले उसे लिखित सूचना देना आवश्यक है।

(५) संकट कालीन अधिकार—साधारण परिस्थितियों में राष्ट्रपति जिस प्रकार कार्य करता है उनका उल्लेख ऊपर किया गया है। असाधारण स्थिति में राष्ट्रपति को नये संविधान द्वारा और अधिक अधिकार दिये गये हैं। यह स्थितियाँ संकट कालीन हैं। हमारे नये संविधान में तीन प्रकार की संकट-कालीन स्थितियों का उल्लेख किया गया है, जो निम्नलिखित हैं :—

(१) युद्ध अथवा युद्ध की सम्भावना या आन्तरिक उपद्रव, (२) राज्यों में वैधानिक शासन की असफलता तथा (३) आर्थिक संकट।

(१) युद्ध अथवा आन्तरिक उपद्रव के समय—यदि राष्ट्रपति को यह विश्वास हो जाय कि देश अथवा देश के किसी भाग की सुरक्षा को युद्ध, आक्रमण अथवा आन्तरिक उपद्रव अथवा इनकी सम्भावना से खतरा है तो वह संकट काल की घोषणा करके सम्पूर्ण देश का शासन अपने हाथ में ले सकता है। इस घोषणा का बड़ा व्यापक प्रभाव पड़ेगा। जब तक यह घोषणा लागू रहेगी तब तक (१) संघीय संसद् को राज्यों की सूची में दिये हुये विषयों पर सम्पूर्ण देश अथवा उसके किसी भाग के लिये क़ानून बनाने का अधिकार होगा, (२) संघीय सरकार भी राज्य को यह आदेश दे सकेगी कि वह अपनी शासन-शक्ति का किस प्रकार प्रयोग करे तथा (३) जनता के निम्नलिखित मौलिक अधिकार स्थगित रहेंगे :—

(क) भाषण तथा विचार प्रकट करने की स्वतन्त्रता, (ख) शांति पूर्वक किसी एक स्थान पर एकत्रित होने की स्वतन्त्रता, (ग) संघ बनाने की स्वतन्त्रता, (घ) भारतकी भूमि में किसी स्थान में रहने अथवा बसने की स्वतन्त्रता, (ङ) सम्पत्ति प्राप्त करने, रखने तथा बेचने की स्वतन्त्रता तथा (च) किसी भी व्यवसाय, पेशा तथा व्यापार करने की स्वतन्त्रता।

(४) इन अधिकारों के उल्लंघन के लिये सर्वोच्च न्यायालय (Supreme Court) में सुनवाई नहीं होगी।

इस प्रकार राष्ट्रपति संकट-कालीन घोषणा द्वारा संघीय शासन विधान को एकात्मक शासन-विधान में परिवर्तित कर देगा क्योंकि समस्त राज्यों का शासन उसके हाथ में आ जायगा। परन्तु इस घोषणा द्वारा वह केवल राज्यों के शासन तथा धारा-सभाओं के कार्यों को ही अपने हाथ में ले सकेगा। राज्यों के हाईकोर्टों की सत्ता को वह नहीं छीन सकता।

इस घोषणा को राष्ट्रपति कभी भी किसी दूसरी घोषणा द्वारा रद्द कर सकता है। यह घोषणा संसद के दोनों भवनों के सामने रक्खी जायगी और दो महीने तक लागू रहेगी। परन्तु यदि इसी बीच में संसद ने उसे स्वीकार कर लिया तो वह दो महीने के बाद भी लागू रहेगी। यदि ऐसी घोषणा ऐसे समय पर की गई जब कि लोक-सभा भङ्ग कर दी गई हो अथवा वह दो मास के भीतर ही भङ्ग हो जाय और भंग होने के पहिले उस पर लोक सभा की स्वीकृति प्राप्त न हो सके और केवल राज्य-परिषद् की स्वीकृति प्राप्त हो तो घोषणा नई लोक-सभा के प्रथम अधिवेशन के दिन से ३० दिन तक लागू रहेगी और उसके बाद रद्द हो जायगी। परन्तु, यदि इस तीस दिन की अवधि के भीतर ही लोक-सभा उसे स्वीकार कर ले तो वह उसके बाद भी लागू रहेगी।

(२) राज्यों में वैधानिक शासन की असफलता के समय—यदि राष्ट्रपति को किसी राज्य के राज्यपाल अथवा राजप्रमुख की सूचना मिले कि राज्य में विधान के अनुसार शासन का चलना असम्भव हो गया है अथवा अन्य किसी प्रकार से उसे यह विश्वास हो जाय कि ऐसी स्थिति पैदा हो गई है तो वह सङ्कट काल की घोषणा द्वारा, (१) उस राज्य की धारा-सभा तथा हाई कोर्टों के अधिकारों को छोड़ कर समस्त कार्य अपने हाथ में ले सकता है, (२) वह आदेश दे सकता है कि उस राज्य की धारा-सभा का कार्य यूनियन संसद द्वारा अथवा उसके आदेश से किया जायगा।

इस घोषणा के लागू होने की अवधि तथा रद्द होने की विधि वैसी ही है जैसी उपर्युक्त युद्ध-कालीन घोषणा की। इसमें केवल इतनी ही विशेषता है कि संसद् द्वारा स्वीकृत किये जाने के बाद यह घोषणा ६ महीने तक लागू रहेगी और यदि संसद बाद में भी इसे स्वीकार कर ले तो यह घोषणा अधिक से अधिक तीन वर्ष तक लागू रह सकेगी।

(३) आर्थिक संकट के समय—यदि राष्ट्रपति को यह विश्वास हो जाय कि ऐसी स्थिति उत्पन्न हो गई है कि जिसमें भारत की आर्थिक स्थिरता तथा साख को खतरा है तो वह आर्थिक सङ्कट की घोषणा कर सकता है जो उसी प्रकार लागू और रद्द होगी जिस प्रकार अन्य प्रकार की सङ्कट-कालीन घोषणायें। जब तक यह घोषणा लागू रहेगी तब तक राष्ट्रपति तथा संघीय सरकार किसी भी राज्य को आर्थिक विषयों में उचित आदेश दे सकेगी। वह सरकारी नौकरों के वेतन कम करने तथा धारा-सभाओं द्वारा पास किये हुये आर्थिक बिलों को राष्ट्रपति की स्वीकृति के लिये रोकने का आदेश दे सकेगी। राष्ट्रपति ऐसी स्थिति में संघीय कर्मचारियों, यहाँ तक कि सुप्रीम कोर्ट तथा हाईकोर्ट के न्यायाधीशों के वेतन में भी कमी का आदेश दे सकता है।

संकट कालीन अधिकारों की आलोचना—राष्ट्रपति के सङ्कट कालीन अधिकारों की बहुत से विद्वानों ने तीव्र आलोचना की है। इन विद्वानों का कहना है कि राष्ट्रपति के सङ्कट-कालीन अधिकार इतने व्यापक हैं कि उसके तानाशाह (Dictator) बन जाने की सम्भावना है। इन विद्वानों का यह भी तर्क है कि शासन-विधान में कहीं यह नहीं बतलाया गया है कि राष्ट्रपति अपने इन अधिकारों का प्रयोग अपनी मन्त्रि-परिषद् के परामर्श से करेगा। जब विधान में ऐसा आदेश नहीं है तब राष्ट्रपति मनमानी कार्य कर

सकता है। ऐसी दशा में वह बिल्कुल अधिनायक अथवा तानाशाह की भाँति कार्य कर सकता है। इस प्रकार राज्य के सम्पूर्ण अधिकारों को एक ही व्यक्ति के हाथ में दे देना प्रजातन्त्र सरकार के सिद्धान्तों के बिल्कुल विरुद्ध तथा नागरिकों के स्वत्वों पर कुठाराघात करना है। एक बात और है. राष्ट्रपति केवल आशंका पर ही सङ्कट-कालीन घोषणा कर सकता है। केवल आशंका पर ही समस्त विधान को समाप्त कर देना और नागरिकों को मौलिक अधिकारों से वंचित कर देना वास्तव में देश के अन्दर तानाशाही स्थापित करना है।

परन्तु उपरोक्त धारणा की तीव्र आलोचना की गई है। इन विद्वानों का कहना है कि राष्ट्रपति एक निर्वाचित व्यक्ति होता है। उसे संसद तथा राज्यों की विधान सभायें चुनती हैं और यह आशा की जाती है कि वह सभायें ऐसे ही व्यक्ति को चुनेंगी जो अपने को जनता के प्रति उत्तरदायी समझे और वैधानिक तथा उत्तरदायी शासन में विश्वास रखता हो। ऐसी परिस्थिति में राष्ट्रपति के स्वेच्छाचारी तथा निरङ्कुश तानाशाह बनने की संभावना नहीं है क्योंकि कोई भी राष्ट्रपति अकारण लोकनिंदा का पात्र बनना नहीं चाहेगा। यदि वह ऐसा करता भी है तो आगामी निर्वाचन में वह पुनः इस श्लाघनीय पद के प्राप्त करने की आशा नहीं कर सकता। अतएव राष्ट्रपति का निर्वाचन उसे तानाशाह बनने से सदैव रोकेगा। इसके अतिरिक्त हमारे नये संविधान द्वारा हमारे देश में संसदात्मक (Parliamentary) सरकार की स्थापना की गई है। इस प्रकार की सरकार की सबसे बड़ी विशेषता यह होती है कि कार्यकारिणी का प्रधान सभी कार्य अपनी मन्त्रि-परिषद् की सहायता से करता है। चूँकि यह मन्त्री संसद के प्रति उत्तरदायी होते हैं अतएव यह सम्भव नहीं है कि राष्ट्रपति इन मन्त्रियों के विरुद्ध कार्य करके देश में अशान्ति तथा असन्तोष उत्पन्न करेगा। आज-कल लोकमत का विरोध राज्य का कोई भी प्रधान नहीं कर सकता। यद्यपि यह सत्य है कि संविधान द्वारा राष्ट्रपति अपने मन्त्रियों के परामर्श से कार्य करने के लिये बाध्य नहीं है परन्तु क्रियात्मक रूप में राष्ट्रपति इङ्गलैण्ड तथा पार्लियामेण्टरी सरकारों की भांति मन्त्रियों से परामर्श लेने तथा उस परामर्श के अनुकूल कार्य करने की परम्परा (convention) स्थापित करेगा। इन विद्वानों का यह भी कहना है कि यह सत्य है कि सङ्कट काल में नागरिक अपने मौलिक अधिकारों से वंचित हो जायँगे परन्तु यह कभी न भूलना चाहिए कि यदि सम्पूर्ण नागरिकों का जीवन, उनकी सम्पत्ति तथा उनके सभी स्वत्व खतरे में पड़ जायँ तो कुछ सम य के लिये उन्हें मौलिक अधिकारों से वंचित कर देना ही देश तथा जाति के लिए कल्याण कर होगा। परंतु इन विद्वानों को भी यह बात माननी पड़ेगी कि नागरिकों को मौलिक अधिकारों से वंचित करने का अधिकार राष्ट्रपति को न देकर संसद् को देना चाहिये था जैसा कि इङ्गलैण्ड तथा अमेरिका में किया गया है।

(६) अन्य अधिकार—राष्ट्रपति को कुछ अन्य अधिकार भी प्राप्त हैं। राष्ट्रपति राज्य के शासन प्रबन्ध में भी हस्तक्षेप कर सकता है। संघ का यह कर्तव्य स्थिर किया गया है कि वह प्रत्येक राज्य की बाहरी आक्रमण तथा आन्तरिक उपद्रव से रक्षा करे और ऐसी व्यवस्था करे कि प्रत्येक राज्य का शासन-प्रबन्ध विधान के अनुसार हो। केवल वही व्यक्ति राजप्रमुख माना जायगा जिसे राष्ट्रपति स्वीकार करेगा। इन राजप्रमुखों का उत्तराधिकारी भी वही व्यक्ति समझा जायगा जिसे राष्ट्रपति स्वीकार करेगा। वह राज्य जो (ख) भाग में रक्खे गये हैं उनका शासन राष्ट्रपति के नियन्त्रण में होता है। इनका प्रबन्ध या तो राष्ट्रपति चीफ कमिश्नर या लेफ्टिनेन्ट गवर्नर द्वारा करता है जिनकी नियुक्ति वह स्वयं करता है। राष्ट्रपति इन राज्यों का प्रबन्ध किसी पड़ोस के राज्य द्वारा भी करवा सकता है। इसी प्रकार अन्डमान तथा नीकोबार का भी प्रबन्ध राष्ट्रपति चीफ कमिश्नर

द्वारा करेगा। राष्ट्रपति को यह भी अधिकार दिया गया है कि वह पिछड़ी हुई जातियों के अधिकारों तथा उनकी दशा को सुधारने के लिए कमीशन नियुक्त करेगा और जिस क्षेत्र में पिछड़ी हुई जातियाँ निवास करती हैं उनके सुशासन की सुव्यवस्था करेगा।

उप-राष्ट्रपति—हमारे नये संविधान में एक उप-राष्ट्रपति के नियुक्त करने की आयोजना की गई है जिसके सम्बन्ध में निम्नलिखित बातें हैं :—

नियुक्ति—उप-राष्ट्रपति को संसद के दोनों भवनों के सदस्य निर्वाचित करेंगे। राज्य-परिषद् तथा लोक-सभा की संयुक्त बैठक में उप-राष्ट्रपति का चुनाव होता है। चुनाव के समय आनुपातिक प्रतिनिधित्व की प्रणाली के आधार पर एक परिवर्तनीय वोट की पद्धति से गुप्त मतदान का अनुसरण किया जाता है। उप-राष्ट्रपति के पद के लिए वही व्यक्ति निर्वाचित किया जा सकता है जो भारत का नागरिक हो और जिसमें राज्य-परिषद् के सदस्य बनने की योग्यता हो। इस पद के सम्बन्ध में वही अयोग्यतायें लागू होती हैं जो राष्ट्रपति के सम्बन्ध में होती हैं।

कार्य-काल—उप-राष्ट्रपति का निर्वाचन पाँच वर्ष के लिये किया जाता है। इस अवधि के भीतर भी उप-राष्ट्रपति अपनी इच्छा से अपना त्याग-पत्र राष्ट्रपति के पास भेज सकता है। राज्य-परिषद् अपने बहुमत द्वारा तथा दूसरे भवन की स्वीकृति प्राप्त करके उसे पद से हटा भी सकती है। अतएव अभियोग लगाकर उप-राष्ट्रपति को पदच्युत करने की आवश्यकता नहीं है। त्याग-पत्र दे देने पर भी अपने उत्तराधिकारी की नियुक्ति तक वह अपने पद पर रहता है।

अधिकार तथा कर्त्तव्य—उप-राष्ट्रपति के निम्नलिखित अधिकार तथा कर्त्तव्य निर्धारित किये गये हैं—

(१) वह राज्य-परिषद् का सभापति होता है। (२) यदि राष्ट्रपति अनुपस्थित, रुग्णावस्था अथवा अन्य किसी कारण से अपने कर्त्तव्यों को नहीं कर सकता तो उप-राष्ट्रपति उसके आसन को ग्रहण करेगा और उसके कार्यों को करेगा। (३) यदि त्याग-पत्र, मृत्यु अथवा पदच्युत हो जाने के कारण राष्ट्रपति का स्थान रिक्त हो जाता है तो जब तक उस स्थान की पूर्ति नहीं हो जाती तब तक उप-राष्ट्रपति ही उस स्थान को ग्रहण करता है। इस रिक्त स्थान की पूर्ति ६ महीने के भीतर ही हो जानी चाहिये।

प्रधान मन्त्री—संसदात्मक व्यवस्था में प्रधान मन्त्री का अत्यन्त ऊँचा स्थान होता है। चूँकि हमारे नये संविधान द्वारा संसदीय शासन स्थापित कर दिया गया है अतएव प्रधान मन्त्री के विषय में विधिवत् ज्ञान प्राप्त करा देना आवश्यक है।

नियुक्ति—हमारे नये संविधान में प्रधान मन्त्री के नियुक्त करने की आयोजना की गई है। इस प्रकार हमारे देश में प्रधान मन्त्री की नियुक्ति के लिये वैधानिक प्रतिबन्ध है। इसकी नियुक्ति राष्ट्रपति करेगा। यद्यपि संविधान में यह स्पष्ट रूप से नहीं बतलाया गया है कि राष्ट्रपति संसद के किस भवन से प्रधान मन्त्री को चुनेगा परन्तु चूँकि मन्त्रियों में सामूहिक उत्तरदायित्व (collective responsibility) होगी अतएव राष्ट्रपति लोक-सभा के बहुमत दल के नेता को ही आमन्त्रित करके प्रधान मन्त्री के पद पर नियुक्त करेगा।

कर्त्तव्य तथा अधिकार—प्रधान मन्त्री जनता का प्रतिनिधि होता है। अतएव उसका उत्तरदायित्व भी बहुत बड़ा होता है। वास्तव में राष्ट्रपति साधारण परिस्थितियों में केवल नाम मात्र का प्रधान होता है। देश के शासन की वास्तविक बागडोर प्रधान मन्त्री के ही हाथों में होती है और देश का भाग्य प्रधान मन्त्री की ही योग्यता अथवा

अयोग्यता पर निर्भर रहता है। प्रधान मन्त्री के निम्नलिखित अधिकार तथा कर्त्तव्य होते हैं :—

(१) यद्यपि मन्त्रि-परिषद् के सदस्यों की नियुक्ति राष्ट्रपति ही करता है परन्तु मन्त्री के पद पर वही व्यक्ति नियुक्त किये जाते हैं जिनका नाम प्रधान मन्त्री राष्ट्रपति के पास भेजता है।

(२) इसी प्रकार राष्ट्रपति प्रधान मन्त्री के ही परामर्श से मन्त्रियों में कार्य बाँटता है।

(३) प्रधान मन्त्री का यह कर्त्तव्य होता है कि यूनियन के शासन तथा क़ानून सम्बन्धी प्रस्तावों के सम्बन्ध में मन्त्रि-परिषद् का जो कुछ निर्णय हो उससे राष्ट्रपति को सूचित करे।

(४) शासन तथा क़ानून निर्माण के सम्बन्ध में राष्ट्रपति जो कुछ भी सूचना प्राप्त करना चाहेगा उसे प्रधान मन्त्री को देना होगा।

(५) यदि किसी एक मन्त्री ने कोई निर्णय कर लिया है परन्तु पूरे मन्त्रि-परिषद ने उस पर विचार नहीं किया है तो राष्ट्रपति प्रधान मन्त्री को यह आदेश दे सकता है कि वह विषय पूरे मन्त्रि-परिषद् के सामने विचार करने के लिये रक्खा जाय।

(६) प्रधान मन्त्री ही राष्ट्रपति तथा अन्य मन्त्रियों के बीच सम्बन्ध स्थापित करता है क्योंकि वही पूरे शासन का विवरण राष्ट्रपति को दे सकता है।

(७) प्रधान मन्त्री ही मन्त्रि-परिषद् तथा राष्ट्रपति के सम्बन्ध में मन्त्रि-परिषद् का प्रतिनिधित्व करता है क्योंकि मन्त्रि-परिषद् के सदस्यों में सामूहिक उत्तरदायित्व होता है।

(८) यद्यपि साधारणतः प्रधान मन्त्री तथा अन्य मन्त्री समान कोटि के होते हैं और उसका स्थान केवल प्रथम होता है, परन्तु वास्तव में वह उनका नेता होता है।

(९) अन्य मन्त्रियों की नियुक्ति उसी के परामर्श से होती है और अन्य मन्त्रियों को वह बदल भी सकता है। यदि किसी मन्त्री का प्रधान मन्त्री से विरोध हो जाता है तो या तो वह प्रधान मन्त्री की बात को मान लेता है या त्याग-पत्र दे देता है। यदि कोई मन्त्री त्याग-पत्र देने से इन्कार कर देता है तो भी प्रधान मन्त्री अपना त्याग-पत्र देकर उसे मन्त्रि-पद से हटा सकता है, क्योंकि प्रधान मन्त्री का त्याग-पत्र सम्पूर्ण मन्त्रि-मण्डल का त्याग-पत्र समझा जाता है। इसके बाद फिर प्रधान मन्त्री अपनी इच्छानुसार मन्त्रि-मण्डल का निर्माण कर सकता है।

(१०) प्रधान मन्त्री ही मन्त्रि-परिषद् के अधिवेशनों का सभापति होता है।

(११) अपने मन्त्रियों को वह एक सूत्र में बाँध कर रखता है और उनमें सामूहिक उत्तरदायित्व की भावना उत्पन्न करता है।

(१२) वह केवल कार्यपालिका का ही प्रमुख नहीं वरन् व्यवस्थापिका का भी नेता होता है।

(१३) प्रधान मन्त्री तथा अन्य मन्त्री सामूहिक एवं व्यक्तिगत रूप से लोक-सभा के प्रति उत्तरदायी होते हैं और तभी तक अपने पद पर रह सकते हैं जब तक उसका उनमें विश्वास हो।

(१४) वह समस्त सरकारी विभागों का सामान्य निरीक्षण करता है। सामान्य नीति तथा सरकारी कर्मचारियों की कार्य-क्षमता सम्बन्धी कोई निर्णय उसकी अनुमति के बिना नहीं किया जाता।

(१५) वैदेशिक नीति के सम्बन्ध में भी कोई निर्णय उसके परामर्श के बिना नहीं होता।

(१६) विविध विभागों में विवाद हो जाने पर वह मध्यस्थता करता है।

(१७) राष्ट्रपति अपने सभी अधिकारों का प्रयोग प्रधान मन्त्री के ही परामर्श से

करता है। चूंकि सङ्कट काल में राष्ट्रपति के अधिकार बड़े व्यापक हो जाते हैं, और इनका प्रयोग वह प्रधान मन्त्री के परामर्श से करता है, अतएव ऐसी स्थिति में प्रधान मन्त्री के भी अधिकार तथा कर्तव्य अत्यन्त व्यापक हो जाते हैं।

यूनियन कार्य-पालिका अथवा संघीय कार्यकारिणी का सङ्गठन—यूनियन कार्यपालिका का निर्माण राष्ट्रपति, उप-राष्ट्रपति तथा मन्त्रि-परिषद को मिलाकर होता है। राष्ट्रपति तथा उप-राष्ट्रपति की नियुक्ति तथा उनके अधिकारों एवं कर्त्तव्यों का विस्तृत वर्णन ऊपर किया जा चुका है। अतएव यहाँ पर केवल मन्त्रि-परिषद के संगठन, अधिकारों तथा कार्यों का वर्णन किया जायगा।

मंत्रि-परिषद् का संगठन—राष्ट्रपति की सहायता करने तथा उसे परामर्श देने के लिये एक मन्त्रि-परिषद् की व्यवस्था की गई है। इस मन्त्रि-परिषद् का प्रधान एक प्रधान मन्त्री होता है। साधारण चुनाव के बाद लोक-सभा का प्रत्येक राजनैतिक दल अपने प्रधान को चुन लेता है। इस सभा में जिस दल का बहुमत होता है उसके प्रधान को राष्ट्रपति आमन्त्रित करता है और उसे प्रधान मन्त्री के पद पर नियुक्त कर देता है तथा उसे आदेश देता है कि वह अपने सहकारियों को चुन ले। यदि प्रधान मन्त्री का दल अत्याधिक बहुमत (absolute majority) में होता है तब तो वह अपने सभी सहकारियों को अपने दल से चुनता है अन्यथा किसी अन्य दल से भी जिसमें उसके दल का कम विरोध होता है, कुछ साथियों को चुन लेता है। ऐसी दशा में संयुक्त मन्त्रि-मण्डल की स्थापना होती है। जब प्रधान मन्त्री अपने साथियों को चुन लेता है तब वह उनका नाम राष्ट्रपति के पास भेज देता है और वह उन्हें मन्त्री के पद पर नियुक्त कर देता है। मन्त्रियों के लिये यह आवश्यक है कि वे संसद के सदस्य हों। यदि कोई ऐसा व्यक्ति मन्त्री के पद पर नियुक्त कर दिया जाता है जो संसद का सदस्य नहीं है तो उसे ६ महीने के भीतर संसद का सदस्य बन जाना चाहिये अन्यथा उसे अपना पद त्याग देना पड़ता है। प्रधान मन्त्री तथा अन्य मन्त्रियों की नियुक्ति के उपरान्त शासन का कार्य इनमें बाँट दिया जाता है। यह कार्य-विभाजन राष्ट्रपति अपने प्रधान मन्त्री के परामर्श से करता है। इन दिनों इस प्रकार के १९ विभाग बना दिये गये हैं और प्रत्येक विभाग का प्रबन्ध एक मन्त्री को सौंप दिया गया है। वह अपने विभाग का प्रधान होता है और उसके उचित संचालन के लिये पूर्ण रूप से उत्तरदायी होता है। यह विभाग निम्न-लिखित हैं :—

(१) विदेशी मामले (Foreign Affairs), (२) शिक्षा, वैज्ञानिक अनुसन्धान तथा प्राकृतिक साधन (Education and Natural Resrces and Scientific Research), (३) रक्षा (Defence), (४) स्वास्थ्य (Health), (५) गृह-विभाग तथा राज्य (Home Affairs and States), (६) भोजन तथा कृषि (Food and Agriculture), (७) अर्थ-विभाग (Finance), (८) आवागमन (Communication), (९) आयोजना तथा नदियों की घाटियों की योजनायें (Planning and River Valley Scheme), (१०) वाणिज्य तथा व्यापार (Commerce and Industry), (११) क़ानून तथा अल्प-संख्यकों की समस्यायें (Law and Minority Affairs) (१२) रेल तथा ट्रान्सपोर्ट (Railway and Transport) (१३) कार्य, घर तथा पूर्ति-विभाग (Works, Housing and Supply), (१४) उत्पादन विभाग (Production), (१५) पुनर्वास (Rehabilitation), (१६) पार्लियामेंटरी कार्य (Parliamentary Affairs) (१७) राज्य-सम्बन्धी अर्थ विभाग (Minister of State for Finance), (१८) मजदूर-विभाग (Labour), (१९) सूचना तथा ब्रॉडकास्टिंग (Information and Broadcasting)।

मन्त्रियों का उत्तरदायित्व—संसदात्मक सरकार को उत्तरदायी सरकार भी कहते हैं क्योंकि मन्त्रि-परिषद् लोक-सभा के प्रति उत्तरदायी होती है। मन्त्रियों में व्यक्तिगत (Individual) तथा सामूहिक (Joint) दोनों तरह की जिम्मेवारी होती है। व्यक्तिगत उत्तरदायित्व का यह तात्पर्य होता है कि प्रत्येक मन्त्री के कार्यों के लिये पूरी मन्त्रि-परिषद् उत्तरदायी होती है। इसका परिणाम यह होता है कि यद्यपि प्रत्येक मन्त्री अपने विभाग के दैनिक कार्यों को अपनी इच्छानुसार चलाता है परन्तु यदि वह कोई नई महत्वपूर्ण नीति चलाना चाहता है तो उसे उस नीति को पूरी मन्त्रि-परिषद् के सामने रखना पड़ता है। मन्त्रि-परिषद् लोक-सभा के प्रति उत्तरदायी होती है। इसका तात्पर्य यह है कि मन्त्री तभी तक अपने पद पर रह सकते हैं जब तक लोक-सभा का उनमें विश्वास होता है। जब लोक-सभा अविश्वास का प्रस्ताव मन्त्रियों के विरुद्ध पास कर देती है तब मन्त्रियों को त्याग-पत्र दे देना पड़ता है। यह अविश्वास प्रस्ताव किसी एक मन्त्री अथवा पूरे मन्त्रि-मण्डल के विरुद्ध पास किया जा सकता है किसी एक मन्त्री के विरुद्ध भी अविश्वास प्रस्ताव पास हो जाने पर पूरे मन्त्रि-परिषद् को त्याग-पत्र दे देना पड़ता है क्योंकि मन्त्रियों में सामूहिक उत्तरदायित्व होता है परन्तु यदि मन्त्रि-परिषद् को यह विश्वास होता है कि लोक-सभा का विश्वास खो देने पर भी जनता का उसमें विश्वास है तो वह त्याग-पत्र देने से इन्कार कर सकती है और राष्ट्रपति से प्रार्थना कर सकती है कि वह लोक-सभा को भंग करके आम चुनाव की घोषणा कर दे। यदि इस चुनाव में फिर उन्हीं लोगों का बहुमत रहा जिन्होंने अविश्वास का प्रस्ताव पास किया था तो मन्त्रि-मण्डल को तुरन्त त्याग-पत्र दे देना पड़ता है। ऐसी दशा में नये मन्त्रि-मण्डल का निर्माण होता है। मन्त्रि-परिषद् न केवल लोक-सभा के प्रति वरन् राष्ट्रपति के भी प्रति उत्तरदायी होती है। राष्ट्रपति अपनी इच्छानुसार मन्त्रियों को पदच्युत कर सकता है परन्तु संसदात्मक सरकार में ऐसी आशा नहीं की जाती कि राष्ट्रपति तब तक मन्त्रियों को पदच्युत करने का दुस्साहस करेगा जब तक लोक-सभा का उनमें विश्वास होगा। सभी मन्त्रियों को प्रधान मन्त्री के नेतृत्व में काय करना पड़ता है। यदि किसी मन्त्री का प्रधान मन्त्री से विरोध हो जाता है तो या तो वह प्रधान मन्त्री की बात को मान लेता है या त्याग-पत्र दे देता है। यदि वह त्याग-पत्र देने से इन्कार करता है तो प्रधान मन्त्री अपना त्याग-पत्र दे देता है। प्रधान मन्त्री का त्याग-पत्र पूरे मन्त्रि-मण्डल का त्याग-पत्र समझा जाता है। इस प्रकार प्रधान मन्त्री को फिर से अपना नया मन्त्रि-मण्डल बनाने की सुविधा प्राप्त हो जाती है।

मंत्रि-परिषद् के अधिकार तथा कार्य—संसदात्मक सरकार (Parliamentary Government) में वास्तविक राज-सत्ता मन्त्रि-परिषद् के ही हाथ में होती है। कार्य-कारिणी का प्रधान केवल नाम-मात्र का शासक होता है। उसे सारे कार्य मन्त्रि-परिषद् के ही परामर्श से करना पड़ता है। वास्तव में कार्यकारिणी के प्रधान के कार्य मन्त्रि-परिषद् के ही कार्य होते हैं। फलतः देश के सुशासन तथा सुव्यवस्था का सारा कार्य मन्त्रि-परिषद् के ही ऊपर होता है। राज्य की नीति को निर्धारित करना तथा उस नीति को कार्यान्वित करना मन्त्रि-मण्डल का ही कार्य होता है। मन्त्रि-परिषद् ही अपने दल की सहायता से जिसका संसद में बहुमत होता है, आवश्यक नियमों को पास कराती है और जब यह नियम पास हो जाते हैं तब उन्हें कार्यान्वित कराना भी मन्त्रि-मण्डल का ही कार्य होता है। संसद में शासन सम्बन्धी जितने प्रश्न किये जाते हैं उन सबका मन्त्रियों को उत्तर देना पड़ता है। राजस्व बिल को पास करा कर वसूल करना तथा उसे समुचित रीति से व्यय करना मन्त्रि-मण्डल का ही कार्य होता है। शासन के जो भिन्न-भिन्न विभाग हैं वे भिन्न-भिन्न मन्त्रियों को सौंपे जाते

हैं। इन विभागों के कार्यों को सुचारु रीति से चलाना मन्त्रियों का ही कार्य होता है। सारांश यह है कि राज्य के शासन की वास्तविक बागडोर मन्त्रि-परिषद् के ही हाथ में होती है।

मंत्रि-परिषद् का राष्ट्रपति के साथ सम्बंध—राष्ट्रपति तथा उसके मन्त्रि-परिषद् में बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध होता है। राष्ट्रपति ही प्रधान मन्त्री की और प्रधान मन्त्री के परामर्श से अन्य मन्त्रियों की नियुक्ति तथा मन्त्रियों में कार्य-विभाजन करता है। मन्त्रि-परिषद् का प्रधान कार्य राष्ट्रपति की सहायता करना तथा परामर्श देना होता है। वह मन्त्रियों को अपनी इच्छानुसार पदच्युत कर सकता है परन्तु क्रियात्मक रूप में कोई राष्ट्रपति ऐसे मन्त्रि-परिषद् को हटाने का दुस्साहस न करेगा जिसमें लोक-सभा का विश्वास होगा। राष्ट्रपति नाम-मात्र का प्रधान होता है और वास्तविक शासन सूत्र मन्त्रियों के ही हाथ में होता है। वास्तव में राष्ट्रपति अपनी मन्त्रि-परिषद् की इच्छा के विरुद्ध कोई कार्य नहीं करता। प्रधान-मन्त्री शासन के सम्बन्ध में मन्त्रि-परिषद् के जितने निर्णय होते हैं उन सबकी सूचना राष्ट्रपति को देता है। यदि किसी मन्त्री ने कोई निर्णय कर लिया है परन्तु पूरे मन्त्रि-परिषद् ने उस पर विचार नहीं किया है तो राष्ट्रपति प्रधान मन्त्री को यह आज्ञा दे सकता है कि वह उस मामले को पूरे मन्त्रि-मण्डल के सामने विचार करने के लिये रक्खे।

मंत्रि-परिषद् का संसद् के साथ सम्बंध—संसदात्मक अथवा उत्तरदायित्व सरकार की एक बहुत बड़ी विशेषता यह होती है कि संसद् तथा मन्त्रि-परिषद् में बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध होता है। मन्त्रि-परिषद् के सभी मन्त्रियों के लिये यह आवश्यक है कि वे संसद् के सदस्य हों। यदि कोई मन्त्री नियुक्ति के समय संसद् का सदस्य नहीं है तो ६ महीने के अन्दर उसे संसद् का सदस्य बन जाना पड़ता है। मन्त्रि-परिषद् का उत्तरदायित्व संसद् के प्रति होता है और संसद् के सदस्य बहुमत द्वारा अविश्वास प्रस्ताव पास करके मन्त्रियों को पदच्युत कर सकते हैं। इसी प्रकार संसद् के सदस्य स्थगित प्रस्ताव द्वारा मन्त्रियों के कार्यों की तीव्र आलोचना कर सकते हैं। संसद् के सदस्यों को मन्त्रियों से प्रश्न करने का भी अधिकार होता है। इन प्रश्नों का उत्तर उस मन्त्री को देना पड़ता है जिसके विभाग से उस प्रश्न का सम्बन्ध होता है। अर्थ-मन्त्री संसद् द्वारा ही राजस्व-बिल को पास कराता है। यदि संसद् इस बिल को स्वीकार न करे तो देश का शासन मन्त्रि-मण्डल कदापि नहीं चला सकता। मन्त्रि-मण्डल अन्य आवश्यक बिलों को भी अपने दल की सहायता से संसद् द्वारा पास कराता है। इस प्रकार मन्त्रि-परिषद् तथा संसद् में बड़ा घनिष्ट सम्बन्ध है।

संसद्— हमारे नये संविधान द्वारा केन्द्र में दो सदनों की धारा-सभा की स्थापना की गई है। इस केन्द्रीय धारा-सभा को संसद् अथवा पार्लियामेंट के नाम से पुकारा गया है। इसके उच्चतर मण्डल अथवा दूसरे भवन को राज्य-परिषद् (Council of States) तथा निम्नतर मण्डल अथवा पहिले भवन को लोक सभा (Legislative Assembly) कहते हैं। अब इन दोनों के सङ्गठन पर अलग-अलग विचार करना आवश्यक है।

राज्य-परिषद् (Council of States) का संगठन—यह संसद् का द्वितीय भवन है। इसमें संघ की इकाइयों के प्रतिनिधि होते हैं। प्रत्येक राज्य को निश्चित संख्या में प्रतिनिधि भेजने का अधिकार होता है। अतएव यह भवन सरकार के संघात्मक स्वरूप का प्रतीक है। यह ध्यान देने की बात है कि संघ की सभी इकाइयों को समान संख्या में सदस्य भेजने का अधिकार नहीं है। इस भवन का सङ्गठन निम्नलिखित ढङ्ग से होगा :—

इसके सदस्यों की संख्या अधिक से अधिक २५० होगी परन्तु इसका यह तात्पर्य

नहीं है कि किसी निश्चित समय में इसके सदस्यों की संख्या इतनी ही होगी। वास्तव में इस समय इसके सदस्यों की संख्या इस प्रकार निर्धारित की गई है। (अ) वर्ग के राज्यों से १४५ सदस्य, (ब) वर्ग के राज्यों के ५२ सदस्य तथा (स) वर्ग के राज्यों से ७ सदस्य होंगे। इनके अतिरिक्त १२ सदस्य राष्ट्रपति द्वारा मनोनीत किये जायेंगे। यह सब सदस्य निम्नलिखित रीति से निर्वाचित तथा मनोनीत होंगे :—

(१) निर्वाचित सदस्यों का निर्वाचन अप्रत्यक्ष रीति से होगा और वे संघ के विभिन्न राज्यों का प्रतिनिधित्व करेंगे। समस्त राज्यों के प्रतिनिधियों का चुनाव उन राज्यों की धारा-सभायें आनुपातिक निर्वाचन की पद्धति के अनुसार एक परिवर्तनीय वोट द्वारा निम्नलिखित ढङ्ग से करेंगी :—

(क) जहाँ राज्य के विधान मण्डल में दो भवन हैं वहाँ निम्न-भवन (lower house) के निर्वाचित सदस्य प्रतिनिधियों का निर्वाचन करेंगे।

(ख) जहाँ राज्य के विधान मण्डल में एक ही भवन है वहाँ उसी के निर्वाचित सदस्य चुनाव करेंगे।

(ग) जहाँ राज्य में कोई धारा-सभा नहीं है वहाँ प्रतिनिधि ऐसी रीति से निर्वाचित किये जायेंगे जैसी कि संघीय संसद् क़ानून द्वारा निश्चय करेगी।

(२) मनोनीत सदस्यों को राष्ट्रपति इस प्रकार नियुक्त करेगा। यह लोग ऐसे व्यक्ति होंगे जिन्हें साहित्य, कला, विज्ञान तथा सामाजिक विज्ञान का विशेष ज्ञान हो।

(३) विधान में ऐसी भी व्यवस्था की गई है कि किसी क़ानून के मसविदे पर विशेषज्ञों के परामर्श के लिये राष्ट्रपति को ऐसे तीन सदस्य राज्य-परिषद् अथवा लोक-सभा में मनोनीत करने का अधिकार होगा। जब तक बिल क़ानून न बन जाय वे सदस्य रहेंगे। वे सभा में भाषण दे सकेंगे, वोट नहीं दे सकते।

राज्य-परिषद् एक स्थाई संस्था है। परन्तु इसके एक-तिहाई सदस्य हर दूसरे वर्ष अलग हो जाते हैं और इतने ही नये सदस्य चुन लिये जाते हैं। इस प्रकार प्रत्येक सदस्य ६ वर्ष तक इसका सदस्य रह सकता है। उप-राष्ट्रपति इसका सभापति होता है। इसके अतिरिक्त राज्य-परिषद् अपने सदस्यों में से किसी एक को उप-सभापति चुन लेती है।

लोक-सभा (Legislative Assembly) का संगठन—लोक-सभा संसद का पहला भवन होता है। इसमें अधिक से अधिक ५०० सदस्य होते हैं। इनका चुनाव जनता प्रत्यक्ष रीति से करती है। सारा देश प्रादेशिक निर्वाचन क्षेत्रों (Territorial Constituencies) में विभक्त कर दिया जाता है और निर्वाचन पूर्ण वयस्क मताधिकार (Adult Franchise) के आधार पर होता है अर्थात् २१ अथवा इससे अधिक अवस्था के सभी स्त्रियों तथा पुरुषों को मत देने का अधिकार है। कम से कम ७,५०,००० नागरिकों के लिये एक प्रतिनिधि होगा। परन्तु ५०,००० व्यक्तियों के लिये एक से अधिक प्रतिनिधि न होगा। पृथक् साम्प्रदायिक निर्वाचन प्रणाली हटा दी गई है और संयुक्त निर्वाचन प्रणाली की व्यवस्था की गई है। परिगणित जातियों के लिये स्थान-संरक्षण की व्यवस्था कर दी गई है। परन्तु यह व्यवस्था केवल १० वर्ष के लिये की गई है। ऐंग्लो-इण्डियन समाज के लिये भी स्थान-संरक्षण की व्यवस्था की गई है। यदि राष्ट्रपति इस बात का अनुभव करता है कि लोक-सभा में ऐंग्लो-इण्डियनों का पर्याप्त प्रतिनिधित्व नहीं है तो वह दो ऐंग्लो-इण्डियनों को अधिक से अधिक दो वर्ष के लिये मनोनीत कर सकता है। लोक-सभा का निर्वाचन ५ वर्ष के लिये होता है। परन्तु सङ्कट काल में इसकी अवधि अधिक से अधिक एक वर्ष के लिये बढ़ाई जा सकती है। जब सङ्कट कालीन उद्घोषणा का काल

समाप्त हो जायगा तब उसके ६ महीने बाद तक इसका विस्तार किया जा सकेगा। लोक-सभा को अपना अध्यक्ष (Speaker) तथा उपाध्यक्ष (Deputy Speaker) चुनने का अधिकार है। यह दोनों अपने स्थानों पर तब तक बने रहते हैं जब तक वे लोक-सभा के सदस्य रहते हैं। वह लोग त्याग-पत्र अथवा अविश्वास प्रस्ताव द्वारा भी पद से हट जाते हैं।

संसद (Parliament के अधिकार तथा कर्तव्य—संसद हमारे देश का केन्द्रीय धारा-सभा है। इसमें पूर्ण प्रभुत्व सत्ता पाई जाती है इसके कार्यों को हम निम्न-लिखित ५ भागों में विभक्त कर सकते हैं :—

(१) क़ानून-सम्बन्धी, (२) शासन-सम्बन्धी, (३) राजस्व-सम्बन्धी, (४) न्याय-सम्बन्धी, (५) विधान सम्बन्धी।

(१) कानून सम्बंधी—संसद नये क़ानूनों के बनाने, पुराने क़ानूनों में संशोधन करने तथा उनके हटाने का अधिकार प्राप्त है। उन विषयों पर जो संघ सूची (union list) में रक्खे गये हैं, संसद को क़ानून बनाने का एकाधिकार प्राप्त है संसद उन विषयों पर भी क़ानून बना सकती है जो समवर्ती सूची (concurrent list में रक्खे गये हैं। इन विषयों पर यद्यपि राज्यों के विधान-मण्डलों को भी क़ानून बनाने का अधिकार प्राप्त है परन्तु संसद के क़ानूनों की प्रधानता मानी जायगी इसका यह तात्पर्य है कि इन विषयों पर विधान-मण्डल द्वारा बनाये गये नियम तभी तक लागू होंगे जब तक संसद कोई नियम नहीं बनाती। यदि संसद तथा विधान-मण्डलों के नियमों में किसी भी प्रकार का विरोध होगा तो संसद के नियम लागू होंगे और विधान-मण्डल के नियम रद्द हो जायेंगे। उन अवशिष्ट विषयों पर जो तीन सूचियों में नहीं आये हैं संसद को ही क़ानून बनाने का अधिकार है जिन राज्यों को स्वायत्व शासन नहीं प्राप्त है और जिनका शासन-प्रबन्ध संघीय सरकार के हाथ में है उनके सम्बन्ध में संसद तीनों सूचियों के सभी विषयों पर क़ानून बना सकती है। राज्य की सरकार के प्रार्थना करने पर संसद उन विषयों पर भी क़ानून बना सकेगी जो राज्यों की सूची में आते हैं सङ्कटकालीन घोषणा की अवधि में संसद को राज्य की सूची के किसी भी विषय पर क़ानून बनाने का अधिकार होगा। यदि दो या अधिक राज्य चाहें कि संसद राज्य की सूची के विषयों पर क़ानून बनाये तो वह ऐसा कर सकेगी और उन राज्यों में वे क़ानून लागू होंगे। दोनों भवनों को समान रूप से क़ानून बनाने का अधिकार प्राप्त है। राजस्व बिल को छोड़ कर जो लोक-सभा में ही उपस्थित किया जा सकता है, अन्य कोई भी बिल किसी भी भवन में पेश किया जा सकता है। कोई भी बिल तब क़ानून नहीं बनेगा जब दोनों भवनों द्वारा पास न कर दिया जाय। संसद द्वारा पास किये गये सभी बिलों पर राष्ट्रपति की स्वीकृति की आवश्यकता होती है।

(२) शासन-सम्बंधी—संसद को देश के शासन पर भी कड़ी निगाह रखनी पड़ती है। इसके लिये वह यूनियन कार्यकारिणी पर नियन्त्रण रखती है। संसद चार प्रकार से शासन पर अपना प्रभाव डालती है। (क) प्रस्ताव पास करके, (ख) स्थगित प्रस्ताव पास करके, (ग) अविश्वास का प्रस्ताव करके तथा (घ) प्रश्न तथा पूरक प्रश्न द्वारा।

(क) प्रस्ताव (Resolution)—कभी-कभी संसद कार्यकारिणी को चेतावनी देने के लिये प्रस्ताव पास करती है। यद्यपि यह प्रस्ताव क़ानून नहीं होते और न कार्यकारिणी इनके अनुसार कार्य करने के लिये बाध्य होती है परन्तु चूँकि नये संविधान ने पूर्ण-रूप से उत्तरदायी सरकार की स्थापना कर दी है अतएव संघीय कार्य-पालिका संसद के इन प्रस्तावों की उपेक्षा नहीं कर सकती।

(ख) स्थगित प्रस्ताव (Adjournment Motion) संसद् को स्थगित प्रस्ताव भी पास करने का अधिकार है। यह प्रस्ताव अत्यन्त आवश्यक बात पर तुरन्त विचार करने के लिये तब किया जाता है जब संसद् का अधिवेशन हो रहा है। वह तत्कालिक तथा सार्वजनिक महत्व की घटना पर ही पास किया जाता है। ऐसी दशा में संसद के सदस्य उन कर्मचारियों की आलोचना भी करते हैं जो उस घटना के लिये उत्तरदायी होते हैं। जब स्थगित प्रस्ताव पास हो जाता है तब जो कार्य उस दिन के लिये पहिले से निश्चित किया रहता है वह स्थगित कर दिया जाता है और उस आवश्यक विषय पर तुरन्त विचार आरम्भ हो जाता है।

(ग) अविश्वास प्रस्ताव (No Confidence Motion)—संसद को मन्त्रियों के विरुद्ध अविश्वास प्रस्ताव भी पास करने का अधिकार है। यह अविश्वास किसी एक मन्त्री अथवा पूरे मन्त्रि-मण्डल के विरुद्ध पास हो सकता है। अविश्वास प्रस्ताव पास हो जाने पर मन्त्रियों को अपना पद त्याग देना पड़ता है। अतएव इससे मन्त्री बड़े भयभीत रहते हैं और अपने कार्यों को बड़ी सतर्कता तथा सावधानी के साथ करते हैं।

(घ) प्रश्न तथा पूरक प्रश्न (Interpellations or questions and supplementary questions)—सरकार पर अङ्कुश रखने का संसद् के पास एक साधन और है। इसके सदस्यों को मन्त्रियों से प्रश्न तथा सहायक प्रश्न पूछने का अधिकार होता है। यह प्रश्न उसी मन्त्री से पूछे जाते हैं जिसके विभाग से वह प्रश्न सम्बन्धित होता है। मन्त्रियों को इन प्रश्नों का सन्तोषजनक उत्तर देना पड़ता है। इससे सरकार सदैव सतर्क तथा सावधान रहती है और कोई ऐसा कार्य नहीं करती अथवा होने देती जिसका उचित कारण वह न बता सके और जिससे उसकी निन्दा हो।

(३) राजस्व सम्बंधी—भारत की सम्पूर्ण आय-व्यय पर संसद् का अधिकार है। लोक-सभा इस बात का निर्णय करती है कि किन-किन साधनों से संसद् को धन प्राप्त होगा और किस प्रकार उसे व्यय किया जायगा। सरकार की आय तथा व्यय पर संसद् का पूरा नियन्त्रण रहता है। संसद् नये करों के लगाने, पुराने करों को कम करने अथवा हटाने की स्वीकृति संघीय कार्यकारिणी को देती है राजस्व बिल लोक-सभा में ही उपस्थित किये जाते हैं परन्तु उन्हें दोनों भवनों द्वारा पास होना पड़ेगा। लोक-सभा में बिल पास हो जाने के बाद राज्य-परिषद् में भेज दिया जाता है। इसके बाद राज्य-परिषद् अपनी सिफारिशों के साथ बिल को लोक-सभा में १४ दिन के अन्दर लौटा देती है परन्तु लोक-सभा इन सिफारिशों को मानने के लिये बाध्य नहीं है। यदि लोक-सभा इन सिफारिशों को अस्वीकार कर देती है तो बिल उसी रूप में पास समझा जाता है जिस रूप में पहिले लोक-सभा ने पास किया था। राष्ट्रपति को यह आदेश दिया गया है कि वह प्रतिवर्ष संघ की आय तथा व्यय का ब्यौरा संसद् के सदस्यों के सामने उपस्थित करे। राष्ट्रपति इस ब्यौरे में उस व्यय को अलग दिखाता है जिस पर संसद के सदस्यों को राय देने का अधिकार नहीं है। शेष खर्चे अलग दिखाये जायेंगे। बजट पर राय देने का अधिकार केवल लोक-सभा को होता है, राज्य-परिषद् को नहीं। लोक-सभा को अधिकार है कि वह खर्चे की किसी भी रक़म में कमी कर दे अथवा उसे बिलकुल अस्वीकार कर दे। परन्तु किसी मद पर खर्च को बढ़ाने अथवा किसी नये खर्चे के सुझाव रखने का अधिकार लोक-सभा को नहीं है। खर्चे का सुझाव राष्ट्रपति की सम्मति से केवल मन्त्रियों द्वारा ही किया जा सकता है।

(४) न्याय सम्बंधी—संसद को न्याय-सम्बन्धी अधिकार भी प्राप्त है। संसद् राष्ट्रपति के ऊपर संविधान के उल्लंघन करने पर अभियोग लगा सकती है। संसद् का

एक भवन अभियोग लगाता है और दूसरा अन्वेषण करता है। यह अभियोग प्रस्ताव द्वारा उपस्थित किया जाता है। इसके लिए १४ दिन की नोटिस देनी पड़ती है और इस नोटिस पर कम से कम एक-चौथाई सदस्यों के हस्ताक्षर होने चाहिये। भवन के कुल सदस्यों के दो-तिहाई सदस्यों के बहुमत से प्रस्ताव पास होना चाहिये। अभियोग तभी सिद्ध माना जायगा जब उसका अनुमोदन उस भवन के दो-तिहाई सदस्यों द्वारा किया जायगा जो अभियोग का अन्वेषण कर रहा है। यद्यपि पार्लियामेण्ट न्याय के मामलों में साधारणतया हस्तक्षेप नहीं करती है परन्तु पार्लियामेण्ट का यह कर्तव्य है कि वह देखे कि न्याय पर कुठाराघात तो नहीं हो रहा है और सच्चा न्याय सबको प्राप्त हो रहा है। यदि किसी न्यायाधीश के दुराचरण अथवा अयोग्यता के कारण न्याय पर कुठाराघात होता है तो पार्लियामेण्ट उस न्यायाधीश को पदच्युत करने के लिये राष्ट्रपति से प्रार्थना कर सकती है। इस प्रार्थना का अनुमोदन प्रत्येक भवन के सदस्यों के बहुमत से और कुल उपस्थित तथा वोट देने वाले सदस्यों के दो-तिहाई सदस्यों द्वारा होना चाहिये।

(५) विधान सम्बंधी—संसद् को एक बड़ा महत्वपूर्ण अधिकार और प्राप्त है। वह शासन-विधान में परिवर्तन या संशोधन कर सकती है। संविधान में परिवर्तन करने का अधिकार संसद् को ही दिया गया है, विभिन्न राज्यों के विधान मण्डलों को नहीं। संशोधन का प्रस्ताव एक बिल के रूप में संसद् के किसी भी भवन में पेश किया जा सकता है। यदि उस बिल को प्रत्येक भवन अपने समस्त सदस्यों के बहुमत से और उपस्थित तथा वोट देने वाले सदस्यों के दो-तिहाई मत से स्वीकार कर लेता है और उस पर राष्ट्रपति की स्वीकृति प्राप्त हो जाती है तो उस बिल के अनुसार विधान में संशोधन हो जाता है।

संसद् के अधिकारों पर प्रतिबन्ध—यूनियन संसद् पूर्ण प्रभुत्व सम्पन्न है। इस पर कोई बाहरी नियंत्रण नहीं है परन्तु आन्तरिक नियंत्रण अवश्य है। इसका प्रभुत्व राज्यों के अधिकारों द्वारा सीमित है। विधान ने राज्यों को कुछ अधिकार दे रक्खे हैं जिनमें संसद् को हस्तक्षेप करने का अधिकार नहीं है। इसके प्रभुत्व पर एक और नियन्त्रण है। यदि यह कोई ऐसा क़ानून बनाती है जिसे सुप्रीम कोर्ट अवैधानिक समझता है तो वह उसे अवैधानिक घोषित कर देता है और वह प्रयुक्त नहीं होता। यह संसद् के ऊपर एक बहुत बड़ा नियन्त्रण है परन्तु नागरिकों की स्वतन्त्रता की रक्षा के लिये यह नियन्त्रण अत्यावश्यक है। अब यह स्पष्ट हो गया कि संसद् के ऊपर केवल उपरोक्त दो ही आन्तरिक नियन्त्रण हैं परन्तु यह दोनों ही नियन्त्रण नितान्त आवश्यक हैं। पहला नियन्त्रण हमारी सरकार का संघात्मक स्वरूप होने के कारण और दूसरा नियन्त्रण नागरिकों की स्वतन्त्रता के लिये। इसमें कोई बुराई नहीं है। यह रुकावट तभी लगती है जब कि संसद् संविधान के बाहर जाने का प्रयास करती है। यह रुकावट जनता के हित में है और इसे लगाने वाला देश का सर्वोच्च न्यायालय है जो सर्वथा निष्पक्ष है और भारतीय विधान का संरक्षक है।

लोक-सभा तथा राज्य-परिषद् के अधिकारों की तुलना—संसद् के इन दोनों भवनों के अधिकारों की तुलना करने के पूर्व इनके सङ्गठन की तुलनात्मक विवेचना कर लेना आवश्यक है। लोक-सभा संसद् का पहिला अथवा निम्न भवन और राज्य-परिषद् इसका दूसरा अथवा उच्चतर भवन है। लोक-सभा जनता का प्रतिनिधित्व करती है। परन्तु राज्य परिषद् सङ्घ की इकाइयों का प्रतिनिधित्व करती है। लोक-सभा का चुनाव केवल ५ वर्ष के लिये होता है परन्तु राज्य परिषद् एक स्थायी संस्था है। इसके एक तिहाई सदस्य प्रति दूसरे वर्ष अलग हो जाते हैं। इस प्रकार प्रत्येक

सदस्य ६ वर्ष तक इसका सदस्य रहता है। लोक-सभा का निर्वाचन प्रत्यक्ष रीति से होता है परन्तु राज्य-परिषद् का निर्माण अप्रत्यक्ष निर्वाचन द्वारा होता है। लोक-सभा के सभी सदस्य पूर्ण-वयस्क मताधिकार द्वारा निर्वाचित होते हैं परन्तु राज्य-परिषद् के १२ सदस्यों को जो साहित्य, कला आदि के प्रतिनिधि होते हैं, राष्ट्रपति मनोनीत करता है। लोक-सभा का अध्यक्ष (Speaker) लोक-सभा के सदस्यों द्वारा चुना जाता है परन्तु राज्य-परिषद् का अध्यक्ष उप-राष्ट्रपति होता है। प्रधान मन्त्री तथा अन्य मन्त्री लोक-सभा से ही चुने जाते हैं राज्य-परिषद् से नहीं क्योंकि मन्त्रियों में सामूहिक उत्तरदायित्व होता है और यह उत्तरदायित्व लोक-सभा के ही प्रति होता है। मन्त्रि-परिषद् लोक-सभा द्वारा ही अविश्वास प्रस्ताव पास करके हटाई जा सकती है, राज्य-परिषद् उसे नहीं हटा सकती। इन दोनों ही भवनों को राष्ट्रपति पर अभियोग लगाने का अधिकार है। एक भवन अभियोग लगाता है और दूसरा उसका अन्वेषण करता है। प्रत्येक प्रस्ताव के लिए दोनों भवनों की स्वीकृति प्राप्त होना आवश्यक है। यदि कोई प्रस्ताव एक भवन द्वारा पास कर दिया गया है तो उस पर दूसरे भवन की भी अनुमति प्राप्त कर लेना आवश्यक है। कोई प्रस्ताव किसी भी भवन में प्रथम बार उपस्थित किया जा सकता है और उस भवन द्वारा पास कर दिये जाने पर दूसरे भवन में भेज दिया जाता है। यदि बिल में किसी प्रकार का सुधार हुआ है तो उस सुधार का अनुमोदन दोनों भवनों द्वारा होना चाहिये। यदि कोई साधारण बिल एक भवन द्वारा पास कर दिया गया है परन्तु दूसरे भवन ने उसे अस्वीकार कर दिया है अथवा उसमें इस प्रकार का सुधार कर दिया है जो दूसरे भवन के लिये मान्य नहीं है तब राष्ट्रपति दोनों भवनों की संयुक्त बैठक कर सकता है। एक अन्य स्थिति में भी राष्ट्रपति दोनों भवनों की संयुक्त बैठक कर सकता है। वह स्थिति यह है कि यदि एक भवन ने किसी बिल को पास कर दिया है परन्तु दूसरे भवन ने उसे प्राप्त करने के ६ महीने के भीतर वापिस नहीं कर दिया है तो राष्ट्रपति दोनों भवनों की संयुक्त बैठक कर सकता है। इस संयुक्त बैठक में दोनों भवनों के सभी सदस्यों के एक साथ वोट लिये जायेंगे और जो कुछ दोनों भवनों के सदस्यों के बहुमत से पास हो जायगा वह दोनों के लिये मान्य होगा। चूँकि इस बैठक में लोक-सभा के सदस्यों की संख्या राज्य-परिषद् के सदस्यों से अधिक होती है अतएव लोक-सभा की ही इच्छानुसार बिल स्वीकृत अथवा अस्वीकृत हो जाता है। अब हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि राज्य-परिषद् किसी भी बिल के पास होने में केवल ६ महीने का विलम्ब कर सकती है, वह उसे पास होने से रोक नहीं सकती। आर्थिक मामलों में तो राज्य-परिषद् के अधिकार और भी कम हैं। राजस्व बिल प्रथम बार केवल लोक-सभा में उपस्थित किया जाता है राज्य-परिषद् में नहीं। राज्य के व्यय के ऊपर भी राज्य-परिषद् का कोई अंकुश नहीं रहता। आर्थिक बिल के पास होने में भी राज्य-परिषद् विलम्ब करा सकती है परन्तु केवल १४ दिन के लिये। जब राजस्व बिल लोक-सभा द्वारा पास कर दिया जाता है तब वह सिफारिश के लिये राज्य-परिषद् में भेज दिया जाता है। यदि १४ दिन के अन्दर यह बिल सिफारिश के साथ लोक-सभा में वापस नहीं भेज दिया जाता तो वह उसी रूप में पास मान लिया जाता है जिस रूप में लोक-सभा ने पास करके राज्य-परिषद् की सिफारिश के लिये भेजा था। यदि राज्य-परिषद् अपनी सिफारिश के साथ १४ दिन के अन्दर राजस्व बिल को लौटा देती है तो भी लोक-सभा उन सिफारिशों को मानने के लिये बाध्य नहीं है और लोक-सभा की इच्छानुसार पारित बिल पर राष्ट्रपति की स्वीकृति मिल जाने पर वह क़ानून बन जाता है। संविधान की २४९ वीं धारा द्वारा राज्य-परिषद् को यह अधिकार दिया गया है कि यदि उपस्थित तथा वोट देने वाले इसके सदस्य दो तिहाई बहुमत से घोषित कर दें कि राष्ट्रीय हित के लिये यह आवश्यक है कि संसद् राज्यों की सूची के अन्तर्गत

विषयों पर क़ानून बनाये तो उस विषय से सम्बन्ध रखने वाले भारत के किसी भी भाग के लिये संसद क़ानून बना सकेगी।

संघीय न्यायालय—संघ शासन-व्यवस्था में सर्वोच्च न्यायालय का होना नितान्त आवश्यक है क्योंकि संघ-सरकार तथा उसकी इकाइयों में अथवा इकाइयों में परस्पर झगड़ा उत्पन्न हो जाने पर इन झगड़ों का निर्णय सर्वोच्च न्यायालय में ही होता है। यही न्यायालय संविधान की धाराओं की व्याख्या कर सकता है। चूँकि हमारे नये संविधान द्वारा हमारे देश में संघ सरकार की स्थापना की गई है अतएव एक सर्वोच्च न्यायालय अथवा सुप्रीम कोर्ट की भी स्थापना दिल्ली में की गई है।

सङ्गठन—सर्वोच्च न्यायालय में एक प्रधान न्यायाधीश होता है। अन्य न्यायाधीशों की संख्या ७ से अधिक नहीं हो सकती परन्तु संसद नियम बना कर न्यायाधीशों की संख्या बढ़ा सकती है। इन न्यायाधीशों की नियुक्ति राष्ट्रपति करता है। राष्ट्रपति इन्हें नियुक्त करते समय सर्वोच्च न्यायालय तथा उच्च न्यायालयों के न्यायाधीशों से परामर्श लेता है। प्रधान न्यायाधीश को छोड़ कर जब राष्ट्रपति अन्य न्यायाधीशों की नियुक्ति करता है तब वह प्रधान न्यायाधीश से परामर्श अवश्य लेता है।

सर्वोच्च न्यायालय का न्यायाधीश वही व्यक्ति नियुक्त किया जा सकता है जिसमें निम्न-लिखित योग्यतायें हों :—

(१) वह भारत का नागरिक हो, (२) कम से कम ५ वर्ष तक वह उच्च न्यायालय का न्यायाधीश रह चुका हो या (३) जिसने कम से कम १० वर्ष तक निरन्तर उच्च न्यायालय में वकालत की हो या (४) जो राष्ट्रपति की दृष्टि में ख्याति प्राप्त क़ानून विशारद हो।

सब न्यायाधीश ६५ वर्ष तक अपने पद पर रह सकते हैं। इस अवधि के पूर्व राष्ट्रपति सर्वोच्च न्यायालय के किसी न्यायाधीश को तभी पदच्युत कर सकता है जब कि संसद के दोनों भवन अलग-अलग अपने कुल सदस्यों के बहुमत तथा अधिवेशन में उपस्थित एवं वोट देने वाले सदस्यों के दो तिहाई मत से प्रमाणित अयोग्यता अथवा दुराचरण के लिये उसे पदच्युत करने की राष्ट्रपति से प्रार्थना करें। सर्वोच्च न्यायालय का कोई भी न्यायाधीश पेंशन पा जाने पर फिर भारत के किसी भी न्यायालय में वकालत नहीं कर सकता। न्यायाधीशों का निष्पक्ष तथा ईमानदार होना नितान्त आवश्यक है। इसके लिये संविधान द्वारा दो व्यवस्थायें की गई हैं। प्रथम तो यह कि उनका वेतन बहुत ऊँचा रक्खा गया है और दूसरा यह है कि एक बार नियुक्त हो जाने पर उनके वेतन, अधिकार आदि में कमी नहीं की जा सकती। प्रधान न्यायाधीश को ५०००) तथा अन्य न्यायाधीशों को ४०००) मासिक वेतन मिलता है।

अधिकार-क्षेत्र—सर्वोच्च न्यायालय के दो प्रकार के अधिकार क्षेत्र हैं। (१) प्रारम्भिक अधिकार क्षेत्र (Original Jurisdiction) तथा (२) अपील सुनने का अधिकार।

ऐसे विवादों के विषय में जो (१) भारत सरकार तथा एक अथवा अधिक राज्यों के बीच में उठें अथवा (२) दो अथवा अधिक राज्यों के बीच उठें तो सर्वोच्च न्यायालय का उस सीमा तक प्रारम्भिक अधिकार-क्षेत्र रहता है जहाँ तक झगड़े का सम्बन्ध वैधानिक अधिकारों से है। ऐसे झगड़ों के मुक़दमे सीधे सर्वोच्च न्यायालय में जाते हैं।

सर्वोच्च न्यायालय को तीन प्रकार की अपीलों के सुनने का अधिकार प्राप्त है अर्थात् वैधानिक, दीवानी तथा फौजदारी।

वैधानिक—किसी वैधानिक झगड़े में उच्च न्यायालयों से अपील तभी हो सकेगी जब कि उच्च न्यायालय इस बात का प्रमाण-पत्र दे दे कि उस झगड़े में कोई वैधानिक

समस्या उत्पन्न हो गई है। यदि उच्च न्यायालय ऐसा प्रमाण-पत्र न दे तो सर्वोच्च न्यायालय स्वयं इस प्रकार का प्रमाण-पत्र दे सकता है।

दीवानी के मुक़दमे—उच्च न्यायालय से दीवानी के मुक़दमे की अपीलें सर्वोच्च न्यायालय में तभी हो सकती हैं जब उच्च न्यायालय यह प्रमाणित कर दे कि वह मुक़दमा २०,०००) से कम मूल्य का नहीं है अथवा वह मुक़दमा सर्वोच्च न्यायालय में अपील करने योग्य है।

फौजदारी के मुक़दमे—फौजदारी के केवल ऐसे ही मुक़दमों की अपीलें सर्वोच्च न्यायालय में होती हैं जिनमें कोई कानूनी समस्या आ गई है अथवा हाई कोर्ट ने किसी अपराधी की सज़ा को मृत्यु-दण्ड में परिवर्तित कर दिया है अथवा किसी मुकदमे को अपने अधीनस्थ न्यायालय से मंगा कर मृत्यु-दण्ड दिया है अथवा उच्च न्यायालय यह प्रमाण-पत्र दे दे कि मामला सर्वोच्च न्यायालय के सामने अपील करने के लायक है। सर्वोच्च न्यायालय स्वयं भी फौजी न्यायालयों के अतिरिक्त अन्य किसी भी न्यायालय के निर्णय के विरुद्ध अपील करने की आज्ञा दे सकता है।

परामर्श देने का अधिकार—उपरोक्त कार्यों के अतिरिक्त सर्वोच्च न्यायालय का कार्य राष्ट्रपति को कानून के महत्वपूर्ण प्रश्नों पर परामर्श देने का भी है। परन्तु यह परामर्श तभी दिया जा सकता है जब राष्ट्रपति इसे लेना चाहे।

अन्य कार्य—सर्वोच्च न्यायालय को अपनी कार्यवाही का सञ्चालन करने के लिये स्वयं नियम बनाने का अधिकार है। परन्तु उन नियमों के लिये राष्ट्रपति की स्वीकृति आवश्यक है कि यह न्यायालय न्यायाधीशों के बहुमत से निर्णय देगा और और निर्णय खुले अधिवेशन में दिया जायगा। यदि कोई न्यायाधीश बहुमत के निर्णय से सहमत नहीं है तो उसे अपना अलग निर्णय देने का अधिकार है।

यूनियन सरकार की प्रमुख विशेषतायें—हमारे नये संविधान द्वारा केन्द्र में सङ्घ सरकार की स्थापना की गई है। इसे संघ सरकार के स्थान पर यूनियन सरकार के नाम से पुकारा गया है। जिन्हें पहले ब्रिटिश प्रान्त तथा देशी राज्य के नाम से पुकारा जाता था वही इस संघ की इकाइयाँ हैं। अब इन इकाइयों को राज्य के नाम से पुकारा जाता है और इनकी शासन-व्यवस्था में भी कोई अन्तर नहीं रक्खा गया है। यूनियन सरकार का प्रधान एक निर्वाचित राष्ट्रपति होता है जो वैधानिक शासक होते हुये भी सङ्कट काल में एक तानाशाह की भांति कार्य कर सकता है। राष्ट्रपति के अतिरिक्त एक उप-राष्ट्रपति के भी नियुक्त करने की व्यवस्था की गई है। राष्ट्रपति की सहायता के लिये एक मंत्रि-परिषद् की नियुक्ति की व्यवस्था की गई है। यह मन्त्री यूनियन पार्लियामेण्ट के प्रति उत्तरदायी बना दिये गये हैं। इस प्रकार केंद्र में पार्लियामेंट्री अथवा संसदात्मक सरकार की स्थापना की गई है। यूनियन पार्लियामेंट दो भवनों की बनाई गई है। पहले भवन का नाम लोक-सभा और दूसरे का राज्य-परिषद् रक्खा गया है। पहले भवन की अवधि ५ वर्ष रक्खी गई है और दूसरा भवन स्थायी बना दिया गया है जिसके एक-तिहाई सदस्य हर दूसरे वर्ष अलग हो जाया करेंगे। पहिले भवन का चुनाव प्रत्यक्ष रीति से होगा परन्तु दूसरे भवन का अप्रत्यक्ष रीति से होगा। दोनों ही भवनों को अपने अध्यक्ष तथा उपाध्यक्ष चुनने का अधिकार दे दिया गया है। आर्थिक मामलों में प्रथम भवन की प्रधानता स्वीकार कर ली गई है। सम्पूर्ण यूनियन के लिये एक सुप्रीम कोर्ट की दिल्ली में स्थापना की गई है। यूनियन सरकार के लिये कर्मचारी नियुक्त करने के लिये एक यूनियन लोक-सेवा आयोग (Union Public Service Commission) की स्थापना की गई है। क़ानूनी तथा आर्थिक मामलों में राष्ट्रपति को सहायता देने के लिये क्रमशः आटरनी जनरल तथा ऑडीटर जनरल के नियुक्त किये जाने की व्यवस्था की गई है। अन्य संघ

सरकारों की भाँति हमारे नये संविधान ने भी तीन सूचियाँ बनाई हैं और यूनियन सूची तथा समवर्ती सूची में यूनियन सरकार को क़ानून बनाने का अधिकार दे दिया गया है। अवशिष्ट शक्तियाँ (Residuary Powers) यूनियन सरकार को दे दी गई हैं। केन्द्रीय सरकार को अधिक से अधिक प्रबल बनाने का प्रयत्न किया गया है।

राज्य की सरकार की विशेषतायें—यूनियन सरकार की समस्त इकाइयों को राज्य के नाम से पुकारा जाता है। यह राज्य चार भागों में बाँटे गये हैं। पहले भाग में ब्रिटिश प्रान्त तथा उनमें मिलाये गये देशी राज्य आते हैं। दूसरे भाग में बड़े-बड़े देशी राज्य तथा देशी राज्यों के संघ आते हैं। तीसरे भाग में केन्द्रीय सरकार द्वारा शासित प्रदेश आते हैं। चौथे भाग में अन्डमन तथा नीकोबार द्वीप आते हैं। पहले तथा दूसरे वर्ग में आने वाले राज्यों की शासन-व्यवस्था एक-सी ही है। इसमें अन्तर केवल इतना ही है कि पहले वर्ग में आने वाले राज्यों की कार्यकारिणी का प्रधान राज्यपाल कहलाता है और दूसरे वर्ग में आने वाले राज्यों की कार्यकारिणी का प्रधान राजप्रमुख कहलाता है। राज्यपाल तथा राजप्रमुख के अधिकार तथा कर्तव्य एक से हैं। अन्तर केवल इतना ही है कि राज्यपाल की नियुक्ति केवल ५ वर्ष के लिये की जाती है परन्तु राजप्रमुख का पद वंशानुगत होता है। राज्यपाल तथा राजप्रमुख की सहायता के लिये मन्त्रि-परिषद् के नियुक्त करने की व्यवस्था की गई है। यह मन्त्री राज्य के विधान-मण्डल के प्रति उत्तरदायी होंगे। इस प्रकार यूनियन सरकार की भाँति राज्यों में पार्लियामेण्टरी सरकार की व्यवस्था की गई। पहले तथा दूसरे वर्ग के राज्यों में विधान-मण्डलों के स्थापित करने की व्यवस्था की गई है। कुछ राज्यों में यह विधान मण्डल दो भवनों के होंगे और कुछ में एक ही भवन होगा है। जिन राज्यों में विधान-मण्डल दो भवनों का होगा उनमें प्रथम भवन विधान सभा और दूसरा भवन विधान परिषद् के नाम से पुकारा जाता है। विधान सभा की अवधि ५ वर्ष रखी गई है परन्तु विधान-परिषद् एक स्थायी संस्था है जिसके एक-तिहाई सदस्य हर दूसरे वर्ष अलग हो जायेंगे और उतने ही नये सदस्य चुन लिये जायेंगे। तीसरे वर्ग में आने वाले राज्यों के शासन प्रबन्ध की व्यवस्था करना राष्ट्रपति का कर्तव्य है। वह इन राज्यों के शासन के लिये चीफ़-कमिश्नरों अथवा लेफ्टीनेण्ट गवर्नरों की नियुक्ति करता है। इन राज्यों में क़ानून बनाने के लिये यूनियन पार्लियामेण्ट अर्थात् संसद कोई संस्था बना सकती है। पार्लियामेंट इन राज्यों के लिये हाई कोर्ट भी बना सकती है। चौथे वर्ग में आने वाले राज्य अर्थात् अन्डमन तथा नीकोबार का भी शासन चीफ़-कमिश्नर अथवा लेफ्टीनेण्ट गवर्नर की नियुक्ति करके राष्ट्रपति ही करता है। यूनियन की भाँति राज्यों में भी लोक-सेवा-आयोग (Public Service Commission) की व्यवस्था की गई है।

राज्यपाल—अ वर्ग के राज्यों का प्रधान राज्यपाल कहलाता है। उसके सम्बन्ध में हमारे नये संविधान में निम्न-लिखित व्यवस्था की गई है:—

राज्यपाल पद के लिये योग्यता—राज्यपाल के पद के प्राप्त करने के लिये निम्न-लिखित योग्यताओं का होना आवश्यक है :—

(१) वह भारतीय यूनियन का नागरिक हो।

(२) उसकी अवस्था ३५ वर्ष से कम न हो।

(३) वह संसद अथवा राज्य के विधान-मण्डल के किसी भी भवन का सदस्य न हो।

(४) अपने कार्य-काल में वह अन्य किसी ऐसे पद पर नहीं रह सकता जिससे उसे किसी प्रकार का आर्थिक लाभ हो।

राज्यपाल की अवधि—साधारणतया राज्यपाल की नियुक्ति ५ वर्ष के लिये होती

है। परन्तु राष्ट्रपति की सर्वोचित बल अपनी अवधि के पहले भी यह अपना पद त्याग सकता है। अवधि समाप्त हो जाने पर भी वह उस समय तक कार्य करता रहता है जब तक उसके स्थान पर किसी अन्य व्यक्ति की नियुक्ति नहीं हो जाती।

राज्यपाल की नियुक्ति विधि—राज्यपाल की नियुक्ति राष्ट्रपति द्वारा होती है और वह तभी तक अपने पद पर रह सकता है जब तक राष्ट्रपति को कोई आपत्ति नहीं होती।

राज्यपाल के अधिकार—राज्यपाल तथा राजप्रमुख राज्य की कार्यकारिणी के प्रधान होते हैं। यह पूरे राज्य के सुशासन तथा सुव्यवस्था के लिये उत्तरदायी होते हैं। इनके अधिकारों तथा कार्यों में कोई अन्तर नहीं है। राज्यपाल तथा राजप्रमुख के कार्यों को हम चार भागों में में विभक्त कर सकते हैं अर्थात् (१) व्यवस्था सम्बन्धी, (२) कार्यपालिका सम्बन्धी, (३) राजस्व सम्बन्धी तथा (४) न्याय सम्बन्धी।

(१) व्यवस्था सम्बंधी अथवा कानून सम्बंधी—राज्यपाल राज्य की व्यवस्थापिका सभा का एक अभिन्न अंग मान लिया गया है क्योंकि राज्य की धारा-सभा विधान-मण्डल के दोनों भवनों तथा राज्यपाल को मिलाकर बनती है। राज्यपाल के निम्नलिखित व्यवस्था अथवा क़ानून निर्माण सम्बन्धी अधिकार हैं :—

(१) वह विधान मण्डल को आमन्त्रित करता है, स्थगित करता है तथा भङ्ग करता है।

(२) वह विधान मण्डल में भाषण दे सकता है और उसे सन्देश भेज सकता है।

(३) विधान मण्डल द्वारा पास किया हुआ कोई भी बिल तब तक क़ानून नहीं बनता जब तक राज्यपाल की अन्तिम स्वीकृति प्राप्त नहीं हो जाती।

(४) राज्यपाल सभी बिलों पर अपनी स्वीकृति देने के लिये बाध्य नहीं है। वह किसी बिल को स्वीकार कर सकता है, किसी को अस्वीकार कर सकता है और किसी को राष्ट्रपति के विचार के लिये रोक सकता है।

(५) राजस्व बिल को छोड़कर और किसी भी बिल को राज्यपाल विधान-मण्डल को पुनः विचार के लिये लौटा सकता है। यदि विधान मण्डल कुछ संशोधनों के साथ अथवा बिना संशोधन के बिल को फिर से पास कर दे तो राज्यपाल उस पर अपनी स्वीकृति देने के लिए बाध्य हो जाता है।

(६) यदि विधान-मण्डल कोई ऐसा बिल पास करता है जो उच्च-न्यायालय (High Court) के अधिकारों पर आघात करता है तो राज्यपाल उस बिल को राष्ट्रपति के विचार के लिए रोकने के लिए बाध्य है। राष्ट्रपति उस पर अपनी स्वीकृति दे सकता है अथवा उसे रद्द कर सकता है अथवा अपनी सिफारिशों के साथ उसे पुनः विचार के लिए विधान-मण्डल को लौटा सकता है। विधान-मण्डल ६ महीने के अन्दर उस पर फिर विचार करता है और यदि संशोधन अथवा बिना संशोधन के उसे फिर पास कर देता है तब वह फिर राष्ट्रपति के विचारार्थ भेजा जाता है। यदि राष्ट्रपति की सिफारिश के अनुसार विधान-मण्डल उसमें संशोधन कर देता है तो राष्ट्रपति उसे स्वीकार कर लेता है अन्यथा उसके अस्वीकृत हो जाने की सम्भावना रहती है।

(७) राज्यपाल को यह भी अधिकार है कि किसी विशेष अवस्था में जब विधान-मण्डल का अधिवेशन नहीं हो रहा है तो वह अल्पकालीन नियम अर्थात् ऑर्डिनेन्स पास कर सके परन्तु विधान मण्डल का आरम्भ होते ही यह उसके विचार के लिये भेज दिये जाने चाहिये और ६ सप्ताह के बाद वे फिर लागू न होंगे। परन्तु यदि विधान मण्डल ६ सप्ताह के पहले ही उन्हें अस्वीकार कर दे तो वे पहले ही रद्द हो जायेंगे।

(८) उन राज्यों में जहाँ विधान-मंडल दो भवनों का है, विधान परिषद् के कुछ सदस्यों को राज्यपाल मनोनीत कर सकता है।

(६) यदि राज्यपाल इस बात का अनुभव करता है कि विधान सभा में एंग्लो-इंडियन्स का उचित प्रतिनिधित्व नहीं हुआ है तो वह कुछ एंग्लो-इन्डियन्स को विधान-सभा में मनोनीत कर सकता है।

(१०) राज्यपाल विधान सभा अथवा विधान परिषद् में अथवा दोनों की संयुक्त बैठक में भाषण दे सकता है। यह भाषण प्रत्येक अधिवेशन के आरम्भ में दिया जायगा। इस प्रकार वह विधान-मण्डल को प्रभावित कर सकता है।

(२) कार्य-पालिका अथवा शासन सम्बंधी—राज्य की कार्यकारिणी की कार्यपालिका शक्ति उन सभी विषयों पर व्याप्त है जिन पर राज्य के विधान-मण्डल को क़ानून बनाने का अधिकार है। राज्यपाल राज्य की कार्यकारिणी का प्रधान होता है और राज्य का सारा शासन उसी के नाम में किया जाता है। राज्यपाल को शासन सम्बन्धी निम्नलिखित कार्य करने पड़ते हैं :—

(१) राज्यपाल अपने राज्य के सुशासन तथा सुव्यवस्था के लिये पूर्ण रूप से उत्तरदायी होता है।

(२) वह राज्य के प्रधान मन्त्री तथा उसकी परामर्श से अन्य मन्त्रियों की नियुक्ति करता है।

(३) वह अपने मन्त्रियों को पदच्युत करने का अधिकार रखता है। यह अधिकार उसे संविधान द्वारा दिया गया है।

(४) राज्यपाल प्रधान-मन्त्री की परामर्श से अपने मन्त्रियों में काय बाँटता है।

(५) मन्त्रियों का यह कर्तव्य होता है कि वे राज्य के सभी कार्यों की सूचना राज्यपाल को देते रहें। वास्तव में प्रधान मन्त्री का यह कर्तव्य होता है कि वह राज्य के सभी कार्यों की सूचना राज्यपाल को देता रहे। ऐसा करने से राज्यपाल को कार्य के ब्यौरे में हस्तक्षेप करने का अवसर मिल जाता है।

(६) यदि कोई मन्त्री पूरे मन्त्रि मण्डल की परामर्श के बिना कोई कार्य अपनी इच्छा से करता है तो राज्यपाल को यह अधिकार है कि वह उस कार्य को सम्पूर्ण मन्त्रि-मण्डल के सामने रक्खे।

(७) राज्य के बहुमत से कर्मचारियों की नियुक्ति राज्यपाल ही करता है तथा लोक सेवा आयोग (Public Service Commission) के चेयरमैन तथा सदस्य ऐडवोकेट जनरल आदि भी। राज्य की सिविल सर्विस के सदस्य तभी तक अपने पद पर रह सकते हैं जब तक उनकी इच्छा हो। परन्तु सारी नियुक्तियाँ राज्यपाल अपनी मन्त्रि-परिषद की परामर्श से ही करता है।

(८) कुछ पिछले प्रदेशों के शासन की रिपोर्ट राज्यपाल को प्रतिवर्ष राष्ट्रपति के पास भेजनी पड़ती है और उनके सुशासन की व्यवस्था करनी पड़ती है।

इसमें सन्देह नहीं कि राज्यपाल नाम मात्र का प्रधान होता है क्योंकि राज्य का वास्तविक शासन-सूत्र मन्त्रियों के हाथ में होता है परन्तु उसके व्यक्तित्व, उसकी योग्यता तथा उसके अनुभव का प्रभाव शासन पर पड़े बिना नहीं रह सकता।

(३) राजस्व-सम्बन्धी—राज्यपाल राजस्व-सम्बन्धी विषयों में एक निश्चित स्थान रखता है। प्रतिवर्ष वह विधान-मण्डल के सामने उस वर्ष के अनुमानित आय-व्यय का ब्यौरा उपस्थित करता है और विधान-मण्डल से किसी भी मद के लिये धन राजस्व की सिफारिश पर ही माँगा जा सकता है। जहाँ तक व्यय का सम्बन्ध है व्यय की कुछ ऐसी मदें हैं जिन पर राज्य के विधान-मंडल की स्वीकृति नहीं ली जाती। अन्य मदों

पर उसकी स्वीकृति ली जाती है। इस धन की माँग विधान-मण्डल में सरकार द्वारा की जाती है और विधान-मण्डल उसे मंजूर कर देता है। परन्तु धन की यह माँग बिना राज्यपाल की सिफारिश के विधान-मण्डल में उपस्थित नहीं की जा सकती। यदि राज्य की आय-व्यय का चिट्ठा विधान-मण्डल के सामने उपस्थित किया जा चुका है और बाद में और धन की आवश्यकता पड़ी तो इस अनुमानित धन के अतिरिक्त चिट्ठे को राज्यपाल ही राज्य की धारा सभा के सामने रखता है। परन्तु राजस्व के मामले में राज्यपाल विधान-मंडल की इच्छा के विरुद्ध कार्य नहीं कर सकता और विधान-मंडल का निर्णय अन्तिम निर्णय होता है। विधान-मंडल द्वारा पास किये हुये बिल पर राज्यपाल प्रथम बार ही अपना स्वीकृति देने के लिये बाध्य है।

(४) न्याय-सम्बन्धी—राज्यपाल को न्याय-सम्बन्धी भी अधिकार प्राप्त हैं। उसके न्याय सम्बन्धी अधिकार निम्न-लिखित हैं:—

(१) राष्ट्रपति जब हाई कोर्ट के जजों की नियुक्ति करने लगता है तब वह अन्य व्यक्तियों के साथ राज्यपाल की भी परामर्श लेता है।

(२) प्रत्येक जज को राज्यपाल के ही सामने शपथ लेनी पड़ती है।

(३) राज्यपाल यह नियम बना सकता है कि हाई कोर्ट का प्रधान जज हाई कोर्ट के कर्मचारियों की नियुक्ति लोक-सेवा-आयोग (Public Service Commission) की परामर्श से करेगा।

(४) जहाँ तक अधीनस्थ अदालतों का सम्बन्ध है जिलाधीश की नियुक्ति, उन्नति आदि राज्यपाल ही हाई कोर्ट के परामर्श से करता है।

(५) न्याय-विभाग के अन्य कर्मचारियों की नियुक्ति भी राज्यपाल ही लोक सेवा आयोग तथा हाई कोर्ट के परामर्श से करता है।

(६) किसी भी वर्ग के मैजिस्ट्रेटों की नियुक्त, तरक्की आदि का काम राज्यपाल अपने हाथों में ले सकता है।

(७) राज्यपाल अपराधियों को क्षमा कर सकता है। उसे सज़ा कम कर देने अथवा बदल देने का भी अधिकार है परन्तु राज्यपाल इस अधिकार का प्रयोग तभी कर सकता है जब अपराधी ने किसी ऐसे क़ानून को भङ्ग किया हो जिसके बनाने का अधिकार विधान-मण्डल को प्राप्त है मृत्यु दण्ड को स्थगित करने अथवा ऐसे अपराधी को क्षमा करने का अधिकार जिसने संघ के नियमों को भङ्ग किया हो राष्ट्रपति को है, राज्यपाल को नहीं।

राज्य का मन्त्रि-मण्डल—राज्य की कार्यकारिणी राज्यपाल अथवा राजप्रमुख तथा मन्त्रि-परिषद् को मिला कर मिला कर बनती है। राज्यपाल की नियुक्ति तथा उसके अधिकारों एवं कर्त्तव्यों का वर्णन ऊपर किया जा चुका है। अतएव अब मन्त्रि परिषद् के निर्माण तथा उसके अधि- एवं कर्त्तव्यों का वर्णन किया जायगा।

राज्य के मन्त्रि-मंडल की नियुक्ति-विधि तथा सङ्गठन—राज्यपाल की सहायता करने तथा उसे परामर्श देने के लिये नये संविधान में एक मन्त्रि-परिषद् की व्यवस्था की गई है। राज्यपाल केवल नाम-मात्र का शासक होता है। वास्तविक सत्ता तो इसी मन्त्रि-परिषद् के हाथ में होती है। राज्य के सुशासन तथा सुव्यवस्था की पूरी जिम्मेदारी इसी मन्त्रि-परिषद् के ऊपर होती है। मन्त्रि-परिषद् का संगठन इस प्रकार होता है। आम चुनाव के बाद प्रत्येक राजनैतिक दल अपना नेता चुन लेता है। राज्यपाल उस दल के नेता को जिसका विधान सभा में बहुमत होता है, आमन्त्रित करता है और उसे प्रधान मन्त्री के पद पर नियुक्त कर देता है और उसे आदेश देता है कि वह अपने साथियों को चुन ले। यदि प्रधान मन्त्री का दल विधान सभा में इतना बड़ा होता है कि यदि अन्य दल आपस में मिल भी जायँ तब भी उसके दल के बराबर नहीं हो सकते तब तो वह

अपने सभी साथियों को अपने ही दल से चुनता है क्योंकि मन्त्रियों में परस्पर बड़ा सहयोग होना चाहिये। यह तभी सम्भव होता है जब वे एक ही दल के हों क्योंकि उनके मौलिक सिद्धान्त एक से होते हैं। यदि प्रधान मन्त्री का दल अत्यधिक बहुमत में नहीं होता तब वह अपने कुछ साथियों को उस दल से चुन लेता है जिससे उसके दल का कम से कम विरोध होता है। ऐसी दशा में संयुक्त मन्त्रि-मण्डल की स्थापना होती है। जब प्रधान मन्त्री अपने साथियों को चुन लेता है तब वह उनके नाम राज्यपाल के सामने उपस्थित करता है जो उन्हें मन्त्री के पद पर नियुक्त कर देता है। इसके बाद प्रधान मन्त्री के परामर्श से राज्यपाल इन मन्त्रियों में राज्य का कार्य बाँट देता है। इस प्रकार प्रत्येक मन्त्री एक अथवा एक से अधिक विभाग का प्रधान हो जाता है और वह अपने विभाग के लिये पूर्ण रूप से उत्तरदायी होता है। प्रत्येक मन्त्री की सहायता के लिये एक पार्लिमेंटरी सेक्रेटरी भी होता है। नये चुनाव के बाद उत्तर प्रदेश में १२ मन्त्रियों का मन्त्रि मण्डल बनाया गया है।

मंत्रियों का राज्यपाल के साथ सम्बंध—मन्त्रियों तथा प्रधान मन्त्री की नियुक्ति राज्यपाल ही करता है। मन्त्री तभी तक अपने पद पर रह सकते हैं जब तक राज्यपाल का उनमें विश्वास रहता है। राज्यपाल अपनी इच्छानुसार मन्त्रियों को पदच्युत कर कर सकता है। मन्त्रियों में राज्यपाल ही प्रधान मन्त्री की सहायता से कार्य बाँटता है। मन्त्रियों का कर्त्तव्य होता है कि वे प्रत्येक कार्य में राज्यपाल को परामर्श दें तथा सहायता पहुँचायें। मन्त्रियों का यह भी कर्त्तव्य होता है कि वे राज्य के सभी कार्यों की सूचना राज्यपाल को दें। वास्तव में यह प्रधान मन्त्री का परम धर्म होता है कि वह राज्य के सभी कार्यों की सूचना राज्यपाल को देता रहे। शासन तथा क़ानून निर्माण के सम्बन्ध में मन्त्रि मण्डल के जितने निर्णय होते हैं उन सब की सूचना प्रधान मन्त्री राज्यपाल के पास भेजता है। यदि राज्यपाल शासन तथा क़ानून निर्माण के सम्बन्ध में किसी प्रकार की सूचना प्रधान मन्त्री से प्राप्त करना चाहेगा तो वह सूचना प्रधान मन्त्री को देनी पड़ेगी। यदि कोई मन्त्री बिना पूरे मन्त्रि-मण्डल का परामर्श लिये कोई निर्णय करता है तो राज्यपाल प्रधान मन्त्री को यह आदेश देता है कि वह उस निर्णय को पूरे मन्त्रि-मण्डल के सामने रक्खे। राज्यपाल जितने कर्मचारियों की नियुक्ति करता है वह सब अपने मन्त्रि-मण्डल के ही परामर्श से करता है। यद्यपि राज्यपाल का स्थान राज्य में सर्वोत्तम है परन्तु वह केवल नाम मात्र का प्रधान होता है। राज्य का वास्तविक शासन सूत्र मन्त्रि-मण्डल के ही हाथ में रहता है। कोई भी राज्यपाल अपने मन्त्रियों के परामर्श की उपेक्षा नहीं कर सकता और न उनके कार्यों में अनावश्यक हस्तक्षेप करने का दुस्साहस कर सकता है। यद्यपि राज्यपाल को मन्त्रियों को पदच्युत करने का अधिकार दिया गया है परन्तु कोई भी दूरदर्शी राज्यपाल तब तक अपने मन्त्रियों को पदच्युत करने का साहस नहीं करेगा जब तक विधान-मण्डल का उसमें विश्वास होगा।

मंत्रियों का विधान-मंडल के साथ सम्बंध—मन्त्रियों के लिये यह आवश्यक है कि वे विधान-मण्डल के सदस्य हों परन्तु कोई ऐसा भी व्यक्ति मन्त्री के पद पर नियुक्त किया जा सकता है जो विधान-मण्डल का सदस्य न हो परन्तु ६ महीने के भीतर उसे विधान-मण्डल का सदस्य बन जाना पड़ता है अन्यथा उसे अपना पद त्याग देना पड़ता है। मन्त्रियों की अवधि निश्चित नहीं होती। वे तभी तक अपने पद पर रह सकते हैं जब तक विधान-मण्डल का उनमें विश्वास रहता है। विधान-मण्डल द्वारा अविश्वास का प्रस्ताव पास कर दिये जाने पर उन्हें अपना पद त्याग देना पड़ता है। परन्तु यदि अविश्वास का प्रस्ताव न पास हुआ, और मन्त्रियों ने किसी अन्य कारणवश त्याग-पत्र न दिया तो अधिक से अधिक ५ वर्ष तक मन्त्री अपने पद पर रह सकते हैं जो विधान-सभा की अवधि है। कभी-कभी यह भी सम्भव हो सकता है कि विधान-मण्डल के अविश्वास का प्रस्ताव पास कर देने पर भी मन्त्रि-परिषद् त्याग-पत्र न दे और मंत्रि-परिषद् राज्यपाल से

यह अनुरोध करे कि यद्यपि विधान-मण्डल का विश्वास उन में नहीं है परन्तु जनता का उनमें विश्वास है। ऐसी दशा में विधान-मण्डल भङ्ग कर दिया जा सकता है और आम चुनाव की घोषणा कर दी जा सकती है। यदि इस नये विधान-मंडल में मन्त्रियों के समर्थकों का बहुमत होगा तब तो मन्त्रि-मण्डल त्याग-पत्र नहीं देगा अन्यथा उसे तुरन्त त्याग-पत्र दे-देना होगा। जिस समय विधान-मण्डल की बैठक होती है उस समय मन्त्री उसमें उपस्थित रहते हैं और विधान-मंडल के सदस्य जितने प्रश्न उनसे करते हैं उनका उन्हें उत्तर देना पड़ता है। प्रायः वही मन्त्री उस प्रश्न का उत्तर देता है जिसके विभाग से उस प्रश्न का सम्बन्ध होता है। आवश्यकता पड़ने पर प्रत्येक मन्त्री विधान मण्डल के सदस्यों को अपने विभाग के कार्यों को समझाता है। अपने विभाग से सम्बन्ध रखने वाले बिलों को प्रत्येक मन्त्री विधान-मण्डल के सामने उपस्थित करता है। जिस समय विधान मण्डल के सामने बजट रक्खा जाता है उस समय बजट से सम्बन्ध रखने वाले प्रश्नों का उत्तर मन्त्रियों को देना पड़ता है। यदि किसी मन्त्री के विभाग की आलोचना की जाती है तो उसे उस आलोचना के निर्मूल सिद्ध करने के लिये प्रयास करना पड़ता है। मन्त्री अपने दल की सहायता से विधान-मण्डल में बिलों को पास कराते हैं। इस प्रकार मन्त्री-मण्डल तथा विधान-मण्डल में बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध है।

मंत्रि-मंडल के कार्य तथा उसका उत्तरदायित्व—मन्त्रि-परिषद् का राज्य में बड़ा महत्त्वपूर्ण स्थान है। वास्तव में राज्य के शासन की बागडोर मन्त्रियों ही के हाथ में रहती है। प्रत्येक मन्त्री अपने कार्य के लिये पूर्ण-रूप से जिम्मेदार होता है। उसके आधीन जितने पदाधिकारी काम करते हैं उन सब के कार्यों का निरीक्षण करना उसका काम होता है। मन्त्री अपने विभाग के सभी पदाधिकारियों के काम के लिये उत्तरदायी होते हैं। प्रत्येक मन्त्री अपने विभाग की नीति को निर्धारित करता है और जनता के हित के लिये नई नई आयोजनाएं बनाता है। यद्यपि प्रत्येक मन्त्री अपने विभाग के दैनिक कार्यों को अपने ही निर्णय से करता है, परन्तु जब किसी नई महत्त्वपूर्ण नीति की आयोजना करनी होती है तो वह सम्पूर्ण मन्त्रि-परिषद् के सामने रक्खी जाती है। इसका कारण यह है कि मन्त्रियों में व्यक्तिगत तथा सामूहिक दोनों प्रकार की जिम्मेदारी होती है। इसका तात्पर्य यह है कि प्रत्येक मन्त्री अपने कार्यों के लिये स्वयं जिम्मेदार होता है परन्तु प्रत्येक मन्त्री के लिये पूर्ण मन्त्रि-मंडल भी जिम्मेदार होता है। यदि एक मन्त्री के विरुद्ध अविश्वास का प्रस्ताव हो जाय तो वह पूरे मन्त्रि-मण्डल के विरुद्ध समझा जाता है और पूरी मन्त्रि-मण्डल को त्याग-पत्र देना पड़ता है। ऐसी दशा में यह आवश्यक हो जाता है कि मन्त्री बड़े सहयोग तथा परामर्श के साथ काम करें। मन्त्री विधान मण्डल तथा प्रधान मन्त्री दोनों के प्रति उत्तरदायी होते हैं। जब विधान-मण्डल अविश्वास का प्रस्ताव पास कर देता है तब मन्त्रियों को त्याग-पत्र देना पड़ता है। यदि किसी मन्त्री तथा प्रधान मन्त्री में मतभेद उत्पन्न हो जाता है तब या तो वह प्रधान मन्त्री की बात मान लेता है या त्याग-पत्र दे देना पड़ता है। यदि वह मन्त्री त्याग-पत्र देने से इन्कार कर दे तो प्रधान-मन्त्री स्वयं अपना त्याग पत्र दे देता है। प्रधान मन्त्री का त्याग-पत्र पूरे मन्त्रि मण्डल का त्याग-पत्र समझा जाता है। इस प्रकार समस्या दूर हो जाती है और उसी प्रधान मन्त्री की अध्यक्षता में मन्त्रि-परिषद् का पुनः निर्माण हो जाता है।

विधान-मंडल—हमारे नये संविधान में प्रत्येक राज्य के लिये एक विधान-मण्डल की आयोजना की गई है। कुछ राज्यों में यह विधान-मण्डल दो भवनों का होगा और कुछ राज्यों में केवल एक भवन का। पूर्वी पंजाब, उत्तर प्रदेश, बिहार, पश्चिमी बङ्गाल, मद्रास तथा बम्बई में दो भवनों के विधान मण्डलों की व्यवस्था की गई है। शेष राज्यों में केवल

एक भवन का विधान मण्डल है। जिन राज्य में दो भवनों का विधान मण्डल होता है उनमें उच्च- तर मण्डल अर्थात द्वितीय भवन को विधान-परिषद् और निम्नतर मण्डल अर्थात प्रथम को विधान सभा कहते हैं। राज्यपाल तथा राजप्रमुख विधान-मण्डल के प्रमुख अङ्ग मान लिये गये हैं।

विधान-सभा का सङ्गठनः—विधान-सभा के सदस्यों को चुनने का अधिकार उन सभी स्त्री पुरुषों को दे दिया गया है जिनकी अवस्था २१ वर्ष अथवा इससे अधिक की है तथा जो भारत के नागरिक हैं, और जो संविधान द्वारा अयोग्य नहीं ठहरा दिये गये भिन्न-भिन्न राज्यों की जनसंख्या भिन्न-भिन्न है। अतएव यह नियम बना दिया गया है कि ७५०,००० व्यक्तियों के लिये एक प्रतिनिधि चुना जायगा। परन्तु किसी भी अवस्था में विधान-सभा के सदस्यों की संख्या न तो ५०० से अधिक हो सकती है और न ६० से कम। विधान सभाओं में कुछ स्थान अल्प-संख्कों के लिये सुरक्षित रखे गये हैं। इन सभाओं का सदस्य वही व्यक्ति हो सकता है जो भारत का नागरिक हो और जिस की अवस्था २५ वर्ष से कम न हो। कोई भी व्यक्ति विधान-मण्डल के दोनों भवनों का सदस्य एक साथ नहीं हो सकता। प्रत्येक सभा अपने सदस्यों में से किसी दो को अध्यक्ष तथा उपाध्यक्ष चुन लेती है। विधान-सभा का चुनाव साधारणतया ५ वर्ष के लिये होता है। परन्तु सङ्कट-काल में संसद् एक बार एक वर्ष के लिये इसकी अवधि को बढ़ा सकती है। सङ्कट-कालीन घोषणा समाप्त हो जाने पर यह अवधि ६ महीने से अधिक नहीं हो सकती। उत्तर प्रदेश की विधान सभा की कुल संख्या ४३० निश्चित की गई है।

विधान-परिषद् का सङ्गठनः—विधान परिषद् विधान मण्डल का दूसरा भवन है। इसके सदस्यों की संख्या विधान सभा के सदस्यों की संख्या की चौथाई से अधिक न होगी और प्रत्येक दशा में ४० से कम न होगी। इन सदस्यों में से एक तिहाई सदस्य स्था- नीय संस्थाओं अर्थात् म्युनिसिपिल बोर्ड तथा डिस्ट्रिक्ट बोर्ड के सदस्यों द्वारा चुने जायेंगे, एक तिहाई का निर्वाचन विधान सभा के सदस्य, $\frac{1}{12}$ भाग विश्वविद्यालयों के स्नातक (ग्रेजुएट) जिन्होंने तीन वर्ष पहले पास किया है, $\frac{1}{12}$ भाग को माध्यमिक शिक्षा संस्थाओं के अध्यापक जो कम से कम ३ वर्ष से पढ़ा रहे हैं, करेंगे और शेष सदस्य राज्यपाल द्वारा मनोनीत किये जायेंगे। राज्यपाल द्वारा मनोनीति किये गये सदस्य वह होंगे जो साहित्य-कला, विज्ञान, समाज-सेवा में उच्च स्थान रखते हैं। भिन्न- भिन्न राज्यों के विधान-परिषदों के सदस्यों की संख्या ८६ निश्चित की गई है। विधान- परिषद् एक स्थायी संस्था होगी परन्तु इसके एक तिहाई सदस्य हर दूसरे साल अपना स्थान रिक्त कर देंगे और इतने ही नये सदस्य चुन लिये जायेंगे। इस प्रकार प्रत्येक सदस्य ६ वर्ष तक इसका सदस्य रह सकेगा।

विधान-मंडल के अधिकार—विधान-मण्डल के दोनों भवनों को सामान रूप से अधिकार प्राप्त हैं। कोई बिल तब तक क़ानून नहीं माना जा सकता जब तक वह विधान-मण्डल के दोनों भवनों द्वारा पास न हो जाय और राज्यपाल अथवा राजप्रमुख की अन्तिम स्वीकृति न मिल जाय। परन्तु आर्थिक बिल की उत्पत्ति केवल विधान-सभा में ही होगी, विधान-परिषद् में नहीं। विधान-मण्डल के अधिकारों को हम तीन भागों में विभक्त कर सकते हैं अर्थात् (१) क़ानून-सम्बन्धी, (२) शासन-सम्बन्धी, (३) राजस्व सम्बन्धी।

(१) क़ानून-सम्बंधी—विधान-मण्डल को नये क़ानूनों के बनाने और पुराने क़ानूनों के संशोधन करने का अधिकार प्राप्त है। राज्यों की सूची में जितने विषय रक्खे गये हैं उन सब पर क़ानून बनाने का एकाधिकार विधान-मण्डल को है। विधान-मण्डल उन विषयों पर भी क़ानून बना सकता है जो सम्मिलित सूची में रखे गये हैं, परन्तु यदि

इन विषयों पर संसद् भी क़ानून बना देगी तब संसद का ही क़ानून मान्य होगा और विधान-मण्डल का बनाया हुआ क़ानून रद्द हो जायगा।

(२) शासन-सम्बंधी—विधान मंडल के शासन-सम्बन्धी कार्यों को हम चार भागों में विभक्त कर सकते हैं अर्थात् (१) प्रस्ताव पास करना, (२) स्थगित प्रस्ताव पास करना, (३) अविश्वास का प्रस्ताव पास करना, (४) शासन के सम्बन्ध में मन्त्रियों से प्रश्न करना। विधान मंडल को यह अधिकार है कि जब उसकी बैठक हो तब वह प्रस्ताव पास करके राज्य की कार्यकारिणी को सुझाव दे। यद्यपि यह क़ानून का बल नहीं रखते और कार्यकारिणी इन प्रस्तावों के अनुकूल कार्य करने लिये बाध्य नहीं है, परन्तु चूँकि नये संविधान में राज्यों में पूर्ण रूप से उत्तरदायी सरकार की स्थापना कर दी गई है अतएव राज्यों की कार्यकारिणी इन प्रस्तावों की पूर्ण रूप से उपेक्षा करने का साहस न करेगी। स्थगित प्रस्ताव का यह तात्पर्य है कि जिस समय विधान-मंडल की बैठक हो रही है उस समय यदि राज्य में कोई गम्भीर परिस्थिति उत्पन्न हो गई है, अथवा कोई महत्वपूर्ण घटना घट गई है, तो विधान-मंडल का कोई भी सदस्य यह प्रस्ताव रख सकता है कि विधान-मंडल का उस दिन का कार्य स्थगित कर दिया जाय और उस गम्भीर परिस्थिति अथवा महत्वपूर्ण घटना पर विचार किया जाय। स्थगित प्रस्ताव के स्वीकार हो जाने पर विधान-मंडल का उस दिन का काम स्थगित कर दिया जाता है और उस गम्भीर परिस्थिति अथवा महत्वपूर्ण घटना पर वाद-विवाद होता है। इस समय विधान-मंडल के सदस्य उन लोगों की तीव्र आलोचना कर सकते हैं जो उस परिस्थिति अथवा घटना के लिये जिम्मेदार होते हैं। अविश्वास के प्रस्ताव का यह तात्पर्य है कि विधान-मंडल के सदस्यों को यह अधिकार है कि वे राज्य की मन्त्रि-परिषद् के विरुद्ध अविश्वास का प्रस्ताव पास करके उन्हें पद से हटा दें। राज्य के मन्त्री तभी तक अपने पद रह सकते हैं जब तक विधान-मंडल के सदस्यों का उन पर विश्वास रहता है। जिस समय विधान-मंडल के सदस्य बहुमत से अविश्वास का प्रस्ताव पास कर देते हैं, उसी समय मंत्रियों को त्याग-पत्र दे देना पड़ता है। इस प्रकार विधान-मंडम का राज्य की कार्यकारिणी पर पूरा नियन्त्रण रहता है। विधान-मंडल के सदस्यों को मन्त्रियों से प्रश्न पूछने का अधिकार है। जिस समय विधान-मंडल की बैठक होती है उस समय मन्त्री लोग भी उपस्थित रहते हैं। इस समय विधान-मंडल के सदस्यों को यह अधिकार रहता है कि वे मन्त्रियों से भिन्न-भिन्न विभागों के शासन के विषय में प्रश्न कर सकें। जिस मन्त्री के विभाग के विषय में प्रश्न किया जाता है उसे उत्तर देना पड़ता है। परन्तु इन प्रश्नों की सूचना पहले से देनी पड़ती है जिससे मन्त्री अपने उत्तर तैयार कर रखें।

(३) राजस्व-सम्बंधी—राज्य की आय-व्यय पर विधान-मंडल का पूरा नियन्त्रण रहता है। विधान-मंडल नये करों को लगा सकता है और पुराने करों को कम कर सकता है। बिना विधान-मंडल की स्वीकृति के राज्य की कार्यकारिणी धन व्यय नहीं कर सकती। प्रति वर्ष विधान-मंडल के सामने कार्यकारिणी राजस्व बिल को उपस्थित करती है। जब विधान-मंडल उसे पास कर देता है तभी कार्यकारिणी धन को व्यय कर सकती है। राजस्व बिल केवल विधान-सभा में ही पेश किये जा सकते हैं, विधान परिषद् में नहीं। विधान-परिषद् के स्वीकार न करने पर भी ये पास समझे जायेंगे और राज्यपाल अथवा राजप्रमुख के पास उसकी स्वीकृति के लिये भेज दिये जायेंगे।

विधान-मंडल के अधिकारों की सीमायें—विधान-मंडल के अधिकारों पर थोड़े से प्रतिबन्ध भी लगाये गये हैं। कुछ बिलों को विधान मंडल में प्रस्तुत करने के पहले राष्ट्पति की स्वीकृति लेनी पड़ेगी। कुछ बिल ऐसे होंगे जो विधान-मंडल द्वारा पास

हो जाने पर राष्ट्रपति की स्वीकृति के लिये रोक लिये जायेंगे और उसकी स्वीकृति मिलने पर ही क़ानून बनेंगे। विधान-मण्डल में सुप्रीम कोर्ट तथा हाई कोर्ट के न्यायाधीशों के किसी भी काम के बारे में जो उन्होंने अपने कर्तव्य-पालन में किया हो, वाद-विवाद नहीं हो सकता। कुछ विशेष परिस्थितियों में विधान-मण्डल का कार्य राष्ट्रपति तथा संसद् के हाथ में चला जाता है।

मत-भेद दूर करने की विधि—यदि किसी बिल पर दोनों भवनों में मत-भेद हो जाता है अर्थात् एक भवन द्वारा पास किया हुआ बिल दूसरे भवन द्वारा पास नहीं किया जाता अथवा ऐसे सुधारों के साथ पास किया जाता है जो पहले भवन को मान्य नहीं हैं तब इस मत-भेद को दूर करना आवश्यक हो जाता है। राज्यों में दोनों सदनों के संयुक्त अधिवेशन की व्यवस्था नहीं रक्खी गई है। यदि विधान सभा द्वारा स्वीकृत बिल को विधान परिषद् उसी दशा में अथवा बिना ऐसे संशोधनों के जो विधान-सभा को स्वीकृत न हों, स्वीकार न करे और उसे तीन महीने के अन्दर न लौटाये तो विधान सभा उस बिल को दूसरी बार स्वीकार करके राज्य परिषद् के पास भेजेगी और यदि उसने इस बार भी एक महीने के अन्दर उसे स्वीकार नहीं किया तो वह बिल दोनों सदनों द्वारा स्वीकृत समझा जायगा।

अध्याय २७

राष्ट्रीयता का विकास

भूमिका—हमारे देश के वैधानिक विकास तथा राष्ट्रीय आन्दोलन में अविच्छिन्न सम्बन्ध रहा है। वास्तव में वैधानिक विकास हमारे राष्ट्रीय आन्दोलन का ही परिणाम था। जिस गति से हमारे राष्ट्रीय आन्दोलन की प्रगति हुई है उसी गति से हमारे देश में वैधानिक विकास भी हुआ है। वास्तव में हमारे देश में वैधानिक विकास का सूत्रपात १८५७ की राष्ट्रीय क्रान्ति से हुआ है। इस क्रान्ति ने विदेशी शासकों को अपना दृष्टिकोण तथा अपनी नीति को परिवर्तित करने के लिये बाध्य कर दिया। यद्यपि १८५७ की क्रान्ति को विदेशी शासकों ने बलपूर्वक दमन कर दिया परन्तु राष्ट्रीय भावना का दमन करने में वे अशक्त रहे। हाँ इतना अवश्य हुआ कि यह भावना कुछ काल के लिये राजनैतिक क्षेत्र से स्थानान्तरित होकर धार्मिक तथा सामाजिक क्षेत्र में क्रियाशील बनी रही और राजाराममोहन राय तथा अन्य सुधारकों के नेतृत्व में विकसित होती रही। अनुकूल परिस्थितियों में द्रुतगति से इसका विकास होने लगा जिसके फल-स्वरूप इंडियन नेशनल कांग्रेस का जन्म हुआ। कांग्रेस को हम राष्ट्रीय आन्दोलन की आत्मा कह सकते हैं और इसी संस्था ने फिर आन्दोलन को राजनैतिक स्वरूप प्रदान किया। इसका यह तात्पर्य नहीं है कि अन्य राजनैतिक दलों का हमारे राष्ट्रीय आन्दोलन पर कोई प्रभाव पड़ा ही नहीं क्योंकि साम्प्रदायिकता का हमारे राष्ट्रीय आन्दोलन पर बहुत बड़ा प्रभाव पड़ा है और क्रान्तिकारी दल ने भी इसे अत्यधिक प्रभावित किया है और दोनों ही हमारे राष्ट्रीय आन्दोलन के अभिन्न अंग रहे हैं परन्तु इतना तो स्वीकार करना ही पड़ेगा कि राष्ट्रीयता के विकास में जो योगदान कॉंग्रेस से प्राप्त हुआ है वह अन्य किसी संस्था से नहीं और देशवासियों में एकता के भाव जाग्रत करने, विदेशी शासन को उन्मूलित कर स्वाराज्य के स्थापित करने का प्रोत्साहन देने तथा स्वाभिमान के भाव उत्पन्न करने का श्रेय कॉंग्रेस को ही है। अतएव राष्ट्रीय आन्दोलन का इतिहास वास्तव में कॉंग्रेस का ही इतिहास है।

राष्ट्रीय आन्दोलन के कारण—संसार में जहाँ कहीं राष्ट्रीय आन्दोलन आरम्भ हुआ है वहाँ वह विभिन्न कारणों के फल-स्वरूप आरम्भ हुआ है। किसी-किसी देश में राष्ट्रीयता का विकास अत्यन्त द्रुतगति से हुआ और कुछ देशों में मन्दगति से। हमारा देश शताब्दियों से परतन्त्रता के पाश में सम्बद्ध था और इसमें विभिन्न जातियाँ अत्यन्त प्राचीन काल से निवास करती चली आ रही हैं जिनकी भाषा, धर्म तथा संस्कृति में बड़ा वैषम्य रहा है। इन परिस्थितियों में हमारे देश में राष्ट्रीयता का विकास अत्यन्त मन्थर गति से हुआ है। इसके विकास में निम्न-लिखित तत्वों से योग प्राप्त हुआ है:—

(१) धार्मिक जागृति—१८५७ में अपनी स्वतन्त्रता के प्राप्त करने का हमने सशस्त्र प्रयास किया था परन्तु दुर्भाग्यवश सङ्गठन तथा लक्ष्य की एकता के अभाव के कारण हमारा प्रयास निष्फल सिद्ध हुआ। इस असफलता ने हमारी प्रबल प्रवृत्तियों को राजनैतिक क्षेत्र से स्थानान्तरित कर धार्मिक तथा सामाजिक क्षेत्रों में नियोजित कर दिया।

आधुनिक काल में हमारे देश में कई देश व्यापी धार्मिक आन्दोलन आरम्भ हुये जिनका हमारे राष्ट्रीय जीवन पर बहुत बड़ा प्रभाव पड़ा। इन आन्दोलनों ने बतलाया कि भारतीय संस्कृति तथा भारतीय इतिहास बड़ा गौरवपूर्ण है। इन आन्दोलनों से आत्माभिमान तथा आत्म-सम्मान की भावना हमारे हृदय में जागृत हुई जिसने राष्ट्रीय आन्दोलन में बड़ा योग दिया।

सामाजिक तथा धार्मिक सुधार के प्रवर्तक राजाराम मोहन राय थे। १८२८ में ब्रह्म-समाज की स्थापना कर उन्होंने हमारे सामाजिक तथा धार्मिक जीवन में महान् क्रान्ति उत्पन्न कर दी थी। उन्होंने अपने देशवासियों को नया दृष्टिकोण प्रदान किया और उन्हें अन्धकार से प्रकाश में लाने का प्रयत्न किया। उन्होंने ऐसी ज्योति जलाई जो कालान्तर में प्रदीप्तमान् होती गई। अतएव हमारे देश में राजाराम मोहन राय को ही राष्ट्रीयता का जन्मदाता मानना चाहिये।

जो कार्य राजाराम मोहन राय ने तथा ब्रह्मसमाज ने बंगाल में किया था उसी कार्य को स्वामी दयानन्द सरस्वती तथा आर्य-समाज ने उत्तरी भारत में किया। सर्व प्रथम स्वामी दयानन्द ने इस बात की घोषणा की कि भारत भारतीयों के लिये है। उन्होंने स्वतन्त्रता तथा देश प्रेम के भाव अपने देशवासियों में जागृत करने का भगीरथ प्रयास किया। आर्य समाज ने न केवल हमारी सामाजिक तथा धार्मिक कुरीतियों को दूर करने का प्रयत्न किया वरन् हममें राष्ट्रीयता के भाव भी भरना आरम्भ किया। इसने हिन्दू जाति में नवजीवन का संचार किया और उसे नया दृष्टिकोण प्रदान किया।

जिस कार्य का सम्पादन ब्रह्मसमाज ने बंगाल में और आर्य समाज ने उत्तरी भारत में किया था उसी कार्य को थियोसोफिकल सोसाइटी ने दक्षिण भारत में किया। श्रीमती बेसन्ट ने इस बात के सिद्ध करने का प्रयत्न किया कि हिन्दू धर्म, सभ्यता तथा संस्कृति पाश्चात्य धर्म तथा सभ्यता से कहीं अधिक उन्नतर है। भारतीयों में स्वाभिमान तथा आत्म-सम्मान के भाव जागृत करने में एनीबेसन्ट से बड़ा योग मिला।

श्री रामकृष्ण परमहंस तथा उनके विश्व-विख्यात शिष्य स्वामी विवेकानन्द ने जो भारत के देश भक्त सन्त माने जाते हैं अपने देशवासियों के मस्तक को उन्नत किया और उनमें राष्ट्रीयता तथा देश-प्रेम के भाव जागृत किये। स्वामी विवेकानन्द ने विश्व का भ्रमण किया था और वे अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति के व्यक्ति थे। उन्होंने अपने देशवासियों को सम्पूर्ण विश्व की आध्यात्मिक विजय के लिये प्रोत्साहित किया।

उपरोक्त विवरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि हमारे राष्ट्रीय आन्दोलन के मूल में धार्मिक तथा सामाजिक क्रान्ति सन्निहित है। इसके पूर्व भी धर्म का हमारे राष्ट्रीय जीवन में बहुत बड़ा महत्व था। समरथ गुरु रामदास ने महाराष्ट्र में राष्ट्रीय क्रान्ति का सूत्रपात किया था और शिवा जी को उस क्रान्ति का नेता बनाया था। गुरु गोविन्द सिंह ने पंजाब में इसी प्रकार की क्रान्ति को जन्म दिया था। इन्हीं महात्माओं का अनुगमन महात्मा गांधी ने भी किया और हमारे राष्ट्रीय आन्दोलन को सत्य तथा अहिंसा की शिला पर आधारित किया। गाँधी जी ने सम्पूर्ण राष्ट्रीय आन्दोलन में धर्म का अवलम्बन लिया था।

(२) पाश्चात्य शिक्षा—हमारे राष्ट्रीय जीवन पर पाश्चात्य शिक्षा का भी बहुत बड़ा प्रभाव पड़ा है और राष्ट्रीय भावना के विकास में बड़ा योग मिला है। अँग्रेज़ी शिक्षा के अध्ययन से भारतवासी पाश्चात्य देशों के विचारकों तथा लेखकों के ग्रन्थों के सम्पर्क में आ गये। यह ग्रन्थ राष्ट्रीयता तथा प्रजातन्त्रवाद के भावों से गर्भित थे। अतएव इनके अध्ययन से भारतीयों में भी राष्ट्रीयता तथा स्वतन्त्रता के भाव जागृत हो गये और स्वायत्त शासन के लिये वे आतुर हो उठे। अब भारतवासी सोचने लगे कि सभी राष्ट्रों को स्वतन्त्र होना चाहिये और स्वतन्त्रता का अर्थ है स्व-शासन।

राष्ट्रीयता, प्रजातन्त्रवाद, स्वायत्त शासन आदि विचारों के प्रचार के फल-स्वरूप हमारे देश में एक शिक्षित मध्यम श्रेणी के लोगों का विकास हुआ। इस वर्ग की अभिरुचि राजनीति में उत्पन्न हो गई और देश में प्रतिनिधित्व सरकार के स्थापित करने का प्रयास इसने आरम्भ कर दिया। इसी वर्ग ने कांग्रेस का नेतृत्व ग्रहण किया और देशव्यापी राष्ट्रीय आन्दोलन आरम्भ किया। ज्यों-ज्यों अंग्रेजी शिक्षा का प्रचार बढ़ता गया त्यों-त्यों इस शिक्षित मध्यम श्रेणी के लोगों की संख्या में भी वृद्धि होती गई और राष्ट्रीय आन्दोलन को बल प्राप्त होता गया। इस शिक्षित वर्ग ने इस बात का अनुभव किया कि भारत एक राष्ट्र है और उसे स्वतन्त्रता प्राप्त करने का अधिकार है और इसकी प्राप्ति देश में संसदीय सरकार की स्थापना करके की जा सकती है।

पाश्चात्य शिक्षा ने हमारे देशवासियों में न केवल स्वतन्त्रता, लोकतन्त्र तथा स्वायत्त शासन के भाव जागृत किया वरन् इसने शिक्षित वर्ग में असन्तोष भी उत्पन्न कर दिया। ज्यों-ज्यों शिक्षित व्यक्तियों की संख्या में वृद्धि होती गई। त्यों-त्यों सरकार के लिये उन्हें सरकारी नौकरियाँ देना कठिन हो गया। इससे शिक्षित वर्ग में असन्तोष उत्पन्न हो गया और राष्ट्रीय आन्दोलन को शक्ति प्राप्त करने में इन लोगों से बड़ा योग मिला।

अंग्रेजी शिक्षा ने एक दूसरे रूप में भी हमारे राष्ट्रीय आन्दोलन में बड़ा योग दिया। यह एक ऐसी भाषा थी जिसके माध्यम से भारत के विभिन्न भागों में निवास करने वाले भारतवासी विचारों का आदान-प्रदान कर सकते थे। इससे देशवासियों में एकता के भाव जागृत होने लगे जो राष्ट्रीयता की भावना के विकासित करने में अत्यन्त सहायक सिद्ध होती है।

जो भारतीय बृटेन में शिक्षा प्राप्त करने जाते थे वहाँ पर उनके साथ सामाजिक समानता का सद्व्यवहार होता था। अतएव उनके मन में समानता तथा स्वतन्त्रता के भाव भर जाते थे परन्तु जब वे भारत लौट आते थे तब अंग्रेज़ों का व्यवहार उनके साथ समानता का नहीं होता था। इससे इन भारतीयों को बड़ा क्षोभ तथा क्रोध आता था और उनके इस असन्तोष का प्रभाव हमारे राष्ट्रीय जीवन पर पड़े बिना न रहा।

(३) बृटिश साम्राज्य—भारत में बृटिश साम्राज्यवाद से भी राष्ट्रीयता के विकास में बड़ा योग मिला। सम्पूर्ण देश में अंग्रेज़ों का एकछत्र साम्राज्य स्थापित हो गया जिससे सम्पूर्ण देश में एक प्रकार की शासन व्यवस्था स्थापित हो गई और सम्पूर्ण देश के लिये एक ही प्रकार की नीति का प्रयोग होने लगा। अखिल भारतीय नौकरियों की भी व्यवस्था बृटिश शासन में की गई। सम्पूर्ण भारत में एक ही प्रकार के क़ानूनों का प्रयोग होने लगे। इस राजनैतिक एकता ने भारतीयों में एकता के भाव जागृत करना आरम्भ कर दिया और वे अपने देश को एक राष्ट्र समझने लगे।

(४) यातायात के साधनों में वृद्धि—देश में यातायात के साधनों में वृद्धि हो जाने से भी राष्ट्रीयता के विकास में बड़ा योग मिला। रेल, पोस्ट तथा तार के प्रबन्ध के फल-स्वरूप देश के एक भाग से दूसरे भाग में जाना तथा सूचना भेजना अत्यन्त सरल हो गया। इससे देश के नेताओं का राष्ट्रीय आन्दोलन के प्रचार का कार्य अत्यन्त सुगम हो गया। अब वे देश के विभिन्न भागों में अपनी पुकार को पहुँचा सकते थे। देश के विभिन्न भागों के नेता अब समय-समय पर एक दूसरे से मिल सकते थे और देश के विभिन्न भागों की जनता के साथ अपना सीधा सम्पर्क स्थापित कर सकते थे। इस प्रकार यातायात के साधनों में वृद्धि हो जाने से राष्ट्रीय आन्दोलन के प्रचार करने में बड़ा योग मिला।

(५) देश का आर्थिक शोषण—विदेशी शासक देश का आर्थिक शोषण कर रहे थे। भारतवासियों का व्यापार तथा उनके उद्योग-धन्धे विदेशियों की प्रतियोगिता के

कारण नष्ट हो रहे थे। देश का धन विदेशों में चला जाता था और सेना तथा बड़े-बड़े पदाधिकारियों के वेतन में इतना धन व्यय हो जाता था कि सार्वजनिक हित के कार्यों के लिये बहुत कम बचता था। इससे साधारण जनता की दशा बड़ी शोचनीय हो गई थी और असन्तोष उत्तरोत्तर बढ़ता ही जा रहा था। चूँकि विदेशी शासक अपने देश के आर्थिक हित का अधिक ध्यान देते थे इससे भारतवासियों के उद्योग-धन्धे चौपट होते जा रहे थे।

(६) उच्च सरकारी पदों से भारतीयों का प्रवंचन—यद्यपि १८३३ के चार्टर ऐक्ट द्वारा भारतीयों को यह विश्वास दिलाया गया था कि कोई भी व्यक्ति अपने धर्म, जाति जन्म स्थान अथवा रूप-रंग के कारण किसी भी सरकारी पद से वंचित नहीं किया जायगा और महारानी विक्टोरिया के १८५८ के घोषणा-पत्र द्वारा इस नीति का अनुमोदन किया गया था परन्तु क्रियात्मक रूप में इसका पालन न किया गया। अनेक प्रतिभावान् भारतीय नव-युवक इन उच्च पदों तक पहुँचने का निष्फल प्रयास कर रहे थे। इससे इन नवयुवकों में बड़ा असन्तोष फैला और राष्ट्रीयता के विकास में इनसे बड़ा योग मिला।

(७) समाचार-पत्र तथा साहित्य—छापे की कलों के आविष्कार के फल-स्वरूप देश में समाचार-पत्रों तथा साहित्य की बड़ी द्रुतगति से वृद्धि हुई। अंग्रेज़ी तथा देशीय भाषाओं में अनेक समाचार-पत्र निकाले गये जिनमें राष्ट्रीय विचारों को व्यक्त करके उनका प्रचार किया जाने लगा। १८७७ में केवल बम्बई प्रेसीडेन्सी में लगभग ६२ समाचार-पत्र, इतने ही उत्तरी भारत में और लगभग २८ पत्र बंगाल में देशीय भाषाओं में निकलते थे। राष्ट्रीय साहित्य द्वारा दास-भाव का दमन किया गया और स्वतन्त्रता तथा देश-प्रेम के भावों का पोषण एवं प्रचार किया गया।

(८) जातीय द्वेष तथा वैमनस्य—अप्रत्यक्ष रूप में जातीय द्वेष तथा वैमनस्य से भी राष्ट्रीय आन्दोलन को बड़ा बल प्राप्त हुआ। भारतीयों को अंग्रेज़ों से घोर घृणा उत्पन्न हो गई थी। यह घृणा १८५७ की क्रान्ति से ही चली आ रही थी। चूँकि क्रान्ति के उपरान्त अंग्रेज़ों का व्यवहार भारतीयों के साथ बहुत बुरा हो गया अतएव भारतीयों की घृणा में भी उत्तरोत्तर वृद्धि होती गई। जिन भारतीयों का समाज में अत्यन्त ऊँचा स्थान होता था उन्हें भी अंग्रेज़ अपने क्लबों में प्रवेश नहीं करने देते थे। साहब लोग भारतीयों के साथ बड़ी उद्दंडता का व्यवहार करते थे। वे प्रायः भारतीयों पर आक्रमण कर दिया करते थे और या तो दंड से बच जाते थे या बहुत कम दण्ड पाते थे। ऐसी स्थिति में पारस्परिक घृणा तथा द्वेष में वृद्धि होती गई और राष्ट्रीयता की भावना बलवती होती गई।

(९) विदेशी घटनाओं का प्रभाव—इन्हीं दिनों विदेशों में कुछ ऐसी घटनायें घटीं जिनका नव-युवक भारतीयों पर बहुत बड़ा प्रभाव पड़ा। १८६१ से १८८४ तक की अवधि में जर्मनी, इटली, रूमानिया, सर्विया तथा मान्टेनेग्रो ने राजनैतिक एकता प्राप्त कर ली थी। इसी काल में इङ्गलैंड में प्रथम तथा द्वितीय सुधार बिल पास हुये जिससे ब्रिटिश संविधान और अधिक लोकतन्त्रात्मक हो गया। इसी समय फ्रांस में तृतीय रिपब्लिक की स्थापना हुई। इन्हीं दिनों इटली तथा स्पेन में वैधानिक स्वतन्त्र की स्थापना की गई थी। संयुक्त राष्ट्र अमेरिका में गृह-युद्ध के फल-स्वरूप दास प्रथा का अन्त किया गया था। एलेक्जन्डर द्वितीय के शासन काल में रूस में भी उदार शासन की स्थापना हो गई थी। इन घटनाओं का शिक्षित भारतीयों पर बहुत बड़ा प्रभाव पड़ा और उन्हें यह विश्वास हो गया कि यदि वे प्रयत्न करें तो वे भी उन उद्देश्यों की प्राप्ति कर सकते हैं जिन्हें पश्चिम के देशों ने प्राप्त किया है। इन्हीं दिनों अबीसीनिया ने इटली

को और जापान ने रूस को परास्त किया। इससे यह धारणा निर्मूल सिद्ध हो गई कि पाश्चात्य जातियाँ अजेय हैं। मिश्र तथा टर्की में भी इन दिनों स्वतन्त्रता का आन्दोलन चल रहा था। इससे भी भारतीय प्रभावित थे।

(१०) सरकार के असन्तोषजनक कार्य---इस काल में सरकार ने अनेक अवसरों पर ऐसे असन्तोषजनक कार्य किये जिससे भारतीयों में बड़ा असन्तोष फैला और राष्ट्रीय आन्दोलन को प्रबल बनाने में बड़ा योग मिला। १८६६ में सुरेन्द्रनाथ बनर्जी ने इङ्गलैण्ड में एक वर्ष के अथक परिश्रम के उपरान्त आई० सी० एस० की परीक्षा पास कर ली परन्तु किसी विशेष विधि के आधार पर उन्हें अयोग्य घोषित कर दिया गया। उन्होंने क्वीन्स बेन्च डिवीजन के समक्ष अपनी प्रार्थना उपस्थित की। न्यायालय ने उनके पक्ष में निर्णय दिया और उनको नौकरी मिल गई परन्तु दो वर्ष उपरान्त उन पर दोष लगा कर उन्हें नौकरी से अलग कर दिया गया। इसके बाद अरविन्दो घोष भी आई० सी० एस० के लिये अयोग्य घोषित कर दिये गये। इससे देश में बड़ा असन्तोष फैला और भारतीयों ने अपने स्वत्वों की रक्षा का उपाय सोचना आरम्भ किया। सुरेन्द्रनाथ बनर्जी बैरिस्ट्री पास करने के लिये दूसरी बार इङ्गलैण्ड गये। जब वे वहाँ से लौट कर आये तब उन्होंने इण्डियन एसोसियेशन की स्थापना की। यह एक राजनैतिक संस्था थी जो शिक्षित मध्य श्रेणी के भारतीयों का प्रतिनिधित्व करती थी। इसने भारतीयों में जागृति उत्पन्न करने का श्लाघनीय प्रयास किया। इसी समय भारतीय सचिव ने यह निर्णय किया कि आई० सी० एस० की परीक्षा में बैठने के लिये अवस्था की उच्चतम सीमा २१ वर्ष से १९ वर्ष कर दी जाय। इस व्यवस्था से भारतीयों का इस परीक्षा में बैठना असम्भव हो जाता। फलतः भारतीयों में बड़ा असन्तोष फैला और उनकी राष्ट्रीय भावना उद्वेलित हो उठी और इण्डियन एसोसियेशन ने इसके विरुद्ध अखिल भारतीय आन्दोलन आरम्भ किया।

लार्ड लिटन के शासन काल में कुछ ऐसी घटनायें घटीं जिसने हमारे देशवासियों में बड़ा असन्तोष फैला और हमारे राष्ट्रीय आन्दोलन पर इसका बहुत बड़ा प्रभाव पड़ा। १८७७ में जब दक्षिण भारत में भीषण अकाल का प्रकोप था लार्ड लिटन ने दिल्ली में महारानी विक्टोरिया को भारत की सम्राज्ञी घोषित करने के लिये एक शानदार दरबार किया। इससे भारतीयों की क्रोधाग्नि भड़क उठी और कलकत्ते के एक पत्रकार ने अपनी क्रोधाग्नि को इस प्रकार व्यक्त किया, "नीरो सारङ्गी बजा रहा है जब कि रोम जल रहा है।" सरकार की दुर्नीति का विरोध करने के लिये भारतीयों ने संगठन करना आरम्भ कर दिया। १८७८ में वर्नाक्युलर प्रेस ऐक्ट तथा इण्डियन आर्म्स ऐक्ट पास करके लार्ड लिटन ने भारतीयों की क्रोधाग्नि को और अधिक प्रज्वलित कर दिया। लिटन ने दो एक अन्य अवांछनीय कार्य किये जिससे भारतीयों में बड़ा असन्तोष फैला। वैज्ञानिक सीमा की खोज में उसने काबुल पर आक्रमण कर दिया जिसके फल-स्वरूप द्वितीय अफ़ग़ान युद्ध का सूत्रपात हुआ। उसने लङ्काशायर के व्यापारियों को प्रसन्न करने के लिये रूई पर से आयात चुङ्गी हटा दिया। लार्ड लिटन के शासन काल की इन घटनाओं ने भारतीय क्रान्ति के लिये उपक्रम उपस्थित कर दिया।

लार्ड रिपन के शासन काल में इलबर्ट बिल ने भारतीयों की आँखें खोल दीं। १८८३ में भारत सरकार के कानूनी सदस्य मि० इलबर्ट ने वाइसराय की कौंसिल में एक बिल रक्खा जिसके द्वारा न्याय के क्षेत्र में जाति, धर्म, रङ्ग आदि का भेद-भाव मिटाने का प्रयास किया गया। इस बिल में यह व्यवस्था की गई थी कि भारतीय न्यायाधीश यूरोपियनों के विरुद्ध भी मुकदमों को देख सकें और उनका निर्णय कर सकें। यूरोपियनों ने इस बिल का जो सर्वथा न्याय-संगत तथा तर्क संगत था घोर विरोध किया। लार्ड रिपन की सरकार इस विरोध का सामना न कर सकी और विवश होकर उसे बिल वापस ले लेना पड़ा। भारतीयों ने यूरोपियनों के इस विरोध से शिक्षा ग्रहण की और उन्होंने

सरकार का विरोध करने के लिये अपनी एक राष्ट्रीय संस्था के संगठित करने का दृढ़-संकल्प कर लिया।

कांग्रेस का जन्म—विभिन्न प्रकार के धार्मिक तथा सामाजिक आन्दोलनों, पाश्चात्य शिक्षा तथा सरकार के असन्तोष कार्यों के फल-स्वरूप भारतीयों में अद्भुत जागृत उत्पन्न हो गई और वे अपने को संगठित करने लगे। सुरेन्द्रनाथ बनर्जी ने सम्पूर्ण देश का भ्रमण किया और भिन्न भिन्न प्रान्तों के नेताओं से मिल कर उनसे विचार विनिमय किया। उन्होंने भारत की सम्पूर्ण जनता को एक झण्डे के नीचे एकत्रित करने की आवश्यकता का अनुभव किया और अपने इस मत का देश के कोने-कोने में प्रचार करना आरम्भ किया। उनके प्रचार के फल-स्वरूप भारत के विभिन्न प्रान्तों में अनेक संस्थायें स्थापित की गई जिन्होंने भारतीय जनता में जागृति उत्पन्न करना तथा संगठित करना आरम्भ किया। इसी समय श्री अलेन ओक्टेवियन ह्यूम ने जो इण्डियन सिविल सर्विस के रिटायर्ड सदस्य थे सुरेन्द्रनाथ बनर्जी के कार्य में योग देना आरम्भ किया। ह्यूम महोदय कॉंग्रेस के जन्मदाता माने जाते हैं। उन्होंने कलकत्ता विश्व-विद्यालय के स्नातकों को एक खुला पत्र भेजा जिसमें उन्होंने अनुरोध किया कि भारतीय जनता की मानसिक, नैतिक, सामाजिक तथा राजनैतिक समुत्थान के लिये एक संस्था का सङ्गठन करें। इस प्रकार ह्यूम महोदय से भारतीयों को बड़ी प्रेरणा मिली और १८८४ के अन्तिम भाग में इण्डियन नेशनल यूनियन का सङ्गठन किया गया। इस यूनियन ने मार्च १८८५ में यह निश्चय किया कि क्रिसमस के सप्ताह में भारत के विभिन्न भागों के प्रतिनिधियों का एक सम्मेलन पूना में किया जाय। इस सम्मेलन के दो प्रधान लक्ष्य थे। पहिला लक्ष्य तो देश के विभिन्न भागों के नेताओं का एक दूसरे से परिचय कराना था और दूसरा ध्येय आगामी वर्ष के लिये कार्य-क्रम तैयार करना था। सम्मेलन का सारा प्रबन्ध ह्यूम महोदय को सौंपा गया जो इस कार्य के लिये सबसे अधिक उपयुक्त थे। वे इङ्गलैण्ड गये और वहाँ के बड़े-बड़े व्यक्तियों की सहानुभूति प्राप्त करने में सफल हुये। भारत में सरकारी पदाधिकारियों की सहानुभूति तथा सहायता प्राप्त करने में उन्हें सफलता प्राप्त हुई। सम्मेलन के थोड़े ही दिन पूर्व पूना में हैज़ा का प्रकोप हो जाने के कारण बम्बई में सम्मेलन करने की व्यवस्था की गई। २७ दिसम्बर १८८५ को प्रातः काल के समय भारतीय नेता बम्बई पहुँच गये और दूसरे दिन सम्मेलन आरम्भ हो गया। इस सम्मेलन को इण्डियन नेशनल कॉंग्रेस के नाम से पुकारा गया। इस प्रकार सत्य तथा न्याय की भावना से प्रेरित होकर भारतीय तथा बृटिश प्रजातन्त्रवादियों ने उस राष्ट्रीय संस्था की स्थापना की जिसने आधी शताब्दी के अनवरत संघर्ष तथा त्याग के उपरान्त अपने देश को पराधीनता के पाश से उन्मुक्त किया जिसने प्रत्येक भारतीय के हृदय में स्थान बना लिया है और जिसको प्रत्येक भारतीय अब भी आदर तथा श्रद्धा की दृष्टि से देखता है।

पाठकों के मन में यह शंका उत्पन्न हो सकती है कि ह्यूम महोदय ने जो एक रिटायर्ड अँग्रेज़ अफसर थे इस प्रकार की राष्ट्रीय संस्था के निर्माण का आयोजन क्यों किया। कहा जाता है कि श्री उमेश चन्द्र बनर्जी ने १८८५ के कॉंग्रेस के बम्बई के अधिवेशन में यह कहा था कि ह्यूम महोदय का ध्येय यह था कि प्रति वर्ष भारतीय नेता एकत्रित हुआ करें और केवल सामजिक समस्याओं पर विचार किया करें। दूसरे शब्दों में यों कहा जा सकता है कि कॉंग्रेस की स्थापना सामाजिक सुधार के ध्येय से की गई थी। परन्तु कांग्रेस सामाजिक संस्था न रह सकी और आरम्भ से ही इसने राजनैतिक स्वरूप धारण कर लिया। यह परिवर्तन कैसे हुआ? कुछ विद्वानों की तो यह धारणा है कि भारत में बृटिश साम्राज्य को उन्मूलित होने से बचाने के लिये ह्यूम महोदय ने स्वयम् इसे एक

राजनैतिक संस्था में परिवर्तित कर दिया। वे भारतीय राजनैतिक आन्दोलन को वैधानिक स्रोत में प्रवाहित करना चाहते थे। लाला लाजपतराय की यही धारणा थी और उन्होंने "यङ्ग इंडिया" में लिखा था कि "कांग्रेस को भारत की राजनैतिक स्वतन्त्रता प्राप्त करने की अपेक्षा बृटिश साम्राज्य को आपत्ति से बचाने के लिये आरम्भ किया गया था।" लाला लाजपतराय की इस धारणा में सत्य का कुछ अंश अवश्य है परन्तु इस तथ्य को कभी विस्मृत न करना चाहिये कि उन दिनों भारत में बृटिश साम्राज्य की स्थिति सङ्कटापन्न न थी और उसके सहसा समाप्त हो जाने की कोई सम्भावना न थी। यह तो सत्य ही है कि उस समय राष्ट्रीय स्वतन्त्रता प्राप्त करना कांग्रेस का लक्ष्य न था और न बृटिश साम्राज्य से सम्बन्ध-विच्छेद करने की कल्पना की गई थी। वास्तव में वैधानिक सुधार ही के कार्य तक कांग्रेस ने अपने को सीमित रक्खा था, बृटिश राजनीतिज्ञों ने इस बात का अनुभव किया था कि भारत में एक ऐसी संस्था की आवश्यकता है जो सरकार की त्रुटियों की ओर संकेत किया करे। इस प्रकार सरकार सतर्क रहेगी और अपनी त्रुटियों को दूर करती रहेगी। इस प्रकार भारत में बृटिश शासन की नींव सुदृढ़ हो जायगी। इसी से कांग्रेस को आरम्भ में सरकारी पदाधिकारियों की भी सहानुभूति प्राप्त थी। डा० नन्दलाल चटर्जी की यह धारणा है कि कांग्रेस की स्थापना उस समय हुई थी जब रूस भारत पर आक्रमण करने की आयोजनायें बना रहा था। अतएव सम्भव है ह्यूम महोदय ने इस विचार से कांग्रेस के सङ्गठन में योग दिया हो जिससे रूस वाले इस देश में अपना षड्यन्त्र तथा कुचक्र न चला सकें। जब तक रूस की ओर से आपत्ति की आशंका थी तब तक सरकार की सहानुभूति कांग्रेस के साथ बनी रही परन्तु जब दो-तीन वर्ष उपरान्त रूस की ओर से किसी प्रकार की आशंका न रही तब सरकार की सहानुभूति भी कांग्रेस के साथ समाप्त हो गई और दोनों में जीवन-मरण का संघर्ष आरम्भ हो गया। ह्यूम महोदय का जो कुछ भी लक्ष्य रहा है इसमें सन्देह नहीं कि इंडियन नेशनल कांग्रेस उनकी अत्यन्त ऋणी है और उन्हीं के उद्योग, साहस, संलग्नता तथा संगठन शक्ति के कारण कांग्रेस को अपने शैशवकाल में इतनी सफलता मिली और अपने जीवन के अन्त तक उन्होंने इसकी सेवा की और उसे प्रोत्साहन प्रदान किया। कालान्तर में यह भारत की प्रमुख राष्ट्रीय संस्था बन गई जिसके उद्देश्यों तथा कार्य-क्रम में उत्तरोत्तर परिवर्तन होता गया। इसी का विवरण नीचे दिया जायगा।

कांग्रेस का स्वभाव तथा लक्ष्य—कांग्रेस हमारे देश की एक राष्ट्रीय संस्था है जो सभी जातियों, वर्गों, सम्प्रदायों तथा हितों का प्रतिनिधित्व करती है। इसके जन्म काल से ही देश के विभिन्न प्रान्तों तथा जातियों के देश-भक्तों ने इसके विकास तथा सम्वर्द्धन में योग प्रदान किया है। हिन्दू, मुसलमान, पारसी सिक्ख, ईसाई, यूरोपियन ऐंग्लो-इंडियन सभी की इसके प्रति सहानुभूति रही है और सभी की सेवाओं से यह संस्था लाभान्वित हो सकी है। इसकी सदस्यता बिना जाति, धर्म, रङ्ग आदि के विभेद के सबके लिये अनावृत है। इसके जन्मदाता अंग्रेज थे क्योंकि ह्यूम महोदय ही इसके प्रवर्तक माने जाते हैं। इसका पालन-पोषण सर फ़ीरोज़शाह मेहता तथा दादा भाई नौरोजी ने किया था जो पारसी महानुभाव थे। आरम्भ से ही बदरुद्दीन तय्यबजी जैसे महानुभाव मुसलमानों की शुभकामनायें प्राप्त थीं। सभी वर्ग के हिन्दुओं का पूर्ण सहयोग इसे सदैव प्राप्त रहा है। इसके पथ-प्रदर्शकों का सदैव राष्ट्रीय दृष्टिकोण रहा है और प्रत्येक समस्या पर उन्होंने राष्ट्रीय दृष्टिकोण से विचार किया है। फलतः कांग्रेस का दृष्टिकोण सदैव अत्यन्त व्यापक रहा है। इसने देश के हित को सदैव सर्वोपरि रक्खा है और कभी संकीर्णता के पाश में इसने अपने को आबद्ध नहीं होने दिया। प्रान्तीयता, साम्प्रदायिकता तथा वर्गीयता के संकीर्ण विचारों से इसने अपने को सदैव उन्मुक्त रक्खा है।

इसके अधिवेशन देश के विभिन्न भागों में होते रहे हैं और देश के विभिन्न भागों से प्रतिनिधि इसके अधिवेशनों में उपस्थित होते रहे हैं। यद्यपि यह मध्यम श्रेणी के लोगों की संस्था के रूप में आरम्भ हुई थी परन्तु कालान्तर में इसने कृषकों तथा श्रमजीवियों को भी अपनी ओर आकृष्ट किया और वही इसकी आधार-शिला बन गये। सारांश यह है कि कांग्रेस हमारे देश की एक राष्ट्रीय संस्था है जो सभी हितों तथा वर्गों का प्रतिनिधित्व करती है।

कांग्रेस का उद्देश्य समय की गति के साथ साथ परिवर्तित होता रहा है। आरम्भ में इस संस्था का कोई निश्चित लक्ष्य न था। इसकी स्थापना सामाजिक दोषों को दूर करने तथा सरकार की त्रुटियों पर प्रकाश डालने के लिये की गई थी। भारतीय नेताओं ने राष्ट्रीय एकता तथा राजनैतिक जागृति के लक्ष्य से इसकी स्थापना की थी परन्तु अंग्रेजों ने अंग्रेजी शासन को सुदृढ़ तथा सुव्यवस्थित बनाने के लिये इसमें योग दिया था। अंग्रेज राजनीतिज्ञों ने इस बात का अनुभव किया था कि भारत में एक ऐसी संस्था की आवश्यकता है जो सरकार की आलोचना करे और उसकी भूलों पर प्रकाश डाले। यही कारण था कि आरम्भ में बड़े-बड़े अंग्रेज पदाधिकारियों की सहानुभूति इसके साथ थी और तत्कालीन वाइसराय लार्ड डफरिन ने भी इन लोगों को योग देने के लिये प्रोत्साहित किया था। परन्तु धीरे-धीरे कांग्रेस के लक्ष्य तथा उसके कार्यक्रम में परिवर्तन होने लगा और वह सरकार विरोधी संस्था समझी जाने लगी।

आरम्भ में काँग्रेस का लक्ष्य राष्ट्रीय महत्व के प्रश्नों पर लोकमत को संगठित और वैधानिक रीति से देशवासियों की शिकायतों को दूर करना था। सर्व-प्रथम काँग्रेस ने सेवा की माँग आरम्भ की। उसने व्यवस्थापिकाओं तथा परिषदों में अपने प्रतिनिधियों की माँग उपस्थित की। कौंसिलों का सुधार इस समय कांग्रेस का मुख्य लक्ष्य कहा जा सकता है। इस माँग की याचना कांग्रेस ने अत्यन्त विनम्र शब्दों में सरकार से की। १८९२ में एक प्रतिनिधि मण्डल काँग्रेस की माँग को लेकर इङ्गलैण्ड गया। काँग्रेस की माँग केवल इतनी ही थी कि लेजिस्लेटिव कौंसिलों का लोकतन्त्रात्मक आधार पर विस्तरण तथा पुनसंगठन किया जाय। वह चाहती थी कि कौंसिलों में ५० प्रतिशत निर्वाचित सदस्य कर दिये जायँ और प्रजा के प्रतिनिधियों के अधिकारों में वृद्धि कर दी जाय। काँग्रेस ने सरकार से प्रार्थना करके अपनी माँग की पूर्ति करना चाहा क्योंकि अभी उसका शैशव काल था और उसमें इतनी शक्ति न थी कि वह सरकार के साथ संघर्ष कर सके। सरकार ने भी अनुभव किया कि सुधार की आवश्यकता है। अतएव १८९२ का विधान निर्मित किया गया परन्तु इस से भारतीयों को सन्तोष न हुआ। धीरे-धीरे काँग्रेस प्रौढ़ावस्था को प्राप्त करने लगी और उसमें शक्ति आने लगी। अब उसमें स्वायत्त शासन के भाव प्रबल होने लगे। अब उसमें आत्म-विश्वास तथा आत्म-बल उत्पन्न होने लगे अतएव याचना करने के स्थान पर अब अपने अधिकार के रूप में इसने अपनी माँग उपस्थित करनी आरम्भ की। अब "स्वराज" अथवा स्वायत्त शासन कांग्रेस ने अपना लक्ष्य निर्धारित किया। १९०६ के काँग्रेस के अधिवेशन में अध्यक्ष के पद से दादा-भाई नौरोजी ने यह घोषणा की कि स्वायत्त शासन अथवा "स्वराज" काँग्रेस का लक्ष्य है। यद्यपि "स्वराज" कांग्रेस का लक्ष्य निर्धारित कर दिया गया परन्तु उसके कार्य-क्रम में अभी कोई परिवर्तन न हुआ। अंग्रेजों की न्याय-प्रियता तथा सद्भावना में अब उसका विश्वास था और सोचती थी कि यदि अंग्रेज यह समझ जायेंगे कि भारतीयों की माँगे उचित हैं तो वे वास्तविक प्रतिनिधि-संस्थाओं की स्थापना कर देंगे और जनता को देश के हित में शासन करने का अवसर प्रदान करेंगे। सूरत के अधिवेशन का जो १९०७ में हुआ था काँग्रेस के इतिहास में बड़ा महत्व है। इस अधिवेशन में दो दल हो गये अर्थात् उग्र दल तथा नम्र। उग्र दल वाले शान्ति की नीति के विरुद्ध थे। वे अपने लक्ष्य की प्राप्ति के

विरुद्ध थे। वे अपने लक्ष्य की प्राप्ति के लिये क्रान्ति भी करने के लिये उद्यत हो गये और हिंसात्मक कार्यों के करने में भी उन्हें सङ्कोच नहीं होता था। इन लोगों का सान्त्वना की नीति में विश्वास न था और यह लोग द्रुतगति से आगे बढ़ना चाहते थे। इसके विपरीत उदार दल वाले शान्ति तथा सहयोग की नीति में विश्वास करते थे। यह लोग सरकार के कार्यों की आलोचना कर तथा उसकी गलतियों पर प्रकाश डाल करके सुधार के लिये आग्रह करने की नीति में विश्वास करते थे। यह लोग हिंसात्मक कार्यों के विरुद्ध थे और धीरे-धीरे आगे बढ़ना चाहते थे। प्रथम विश्व युद्ध के आरम्भ होने के बाद जब श्रीमती एनी बेसेन्ट ने काँग्रेस के रंग-मंच पर प्रवेश किया तब उन्होंने "होम रूल" की माँग आरम्भ की और मद्रास तथा बम्बई में होम रूल की लीग स्थापित की गई। १९२० में जब गाँधी जी ने काँग्रेस का नेतृत्व ग्रहण किया तब काँग्रेस के कार्य-क्रम में बहुत बड़ा परिवर्तन हो गया। गाँधी जी ने स्वराज्य की माँग आरम्भ की और अहिंसा, असयोग, सत्याग्रह, स्वदेशी आन्दोलन आदि इसके प्राप्त करने का साधन बनाया। इस प्रकार न्याय तथा शान्ति की नीति से स्वराज्य प्राप्त करने का दृढ़-सङ्कल्प किया गया। गाँधी जी के नेतृत्व में सविनय अवज्ञा आन्दोलन बड़े जोरों के साथ चला परन्तु थोड़े दिन बाद पं० मोतीलाल नेहरू तथा देशबन्धु चितरञ्जन दास के नेतृत्व में एक नया दल उत्पन्न हो गया जो गाँधी जी की असहयोग की नीति से सहमत न था। इस दल ने धारा सभाओं में प्रवेश करके अड़ङ्गे की नीति के अनुसरण करने का निश्चय किया। इस प्रकार १९२४ में "स्वराज्य पार्टी" का जन्म हुआ जिसने धारा-सभाओं में प्रवेश कर बड़ी चहल-पहल पैदा कर दी। अभी तक कांग्रेस औपनिवेशिक स्वराज्य से ही सन्तुष्ट हो जाने के लिये उद्यत थी परन्तु दिसम्बर १९२९ में लाहौर के अधिवेशन में पं० जवाहर लाल नेहरू के सभापतित्व में कांग्रेस ने पूर्ण स्वतन्त्रता अपना अन्तिम ध्येय निर्धारित किया। इस लक्ष्य की पूर्ति के लिये गांधी जी द्वारा बतलाये हुये सत्य तथा अहिंसा के अनुसरण करने का सङ्कल्प किया गया। परिस्थितियों के अनुसार सहयोग तथा असहयोग दोनों की नीति का अनुसरण किया गया। स्वतन्त्रता की प्राप्ति तक कांग्रेस का यही ध्येय रहा और गांधी जी द्वारा निर्धारित कार्य-क्रम का सदैव अनुसरण किया गया। अन्त में १९४७ में कांग्रेस ने अपने लक्ष्य की पूर्ति कर ली और देश को राजनैतिक स्वतन्त्रता के प्राप्त करने में वह पूर्ण रूप से सफल हुई। परन्तु कांग्रेस का लक्ष्य केवल राजनैतिक स्वतन्त्रता ही प्राप्त न करना था वरन् आर्थिक तथा सांस्कृतिक स्वतन्त्रता प्राप्त करना और सामाजिक तथा धार्मिक कुरीतियों का उन्मूलन भी करना उसका लक्ष्य था। अब राजनैतिक स्वतन्त्रता के प्राप्त करने के उपरान्त हमारी राष्ट्रीय सरकार आर्थिक तथा सांस्कृतिक स्वतन्त्रता के प्राप्त करने में संलग्न है और पर्याप्त सफलता भी प्राप्त कर ली है। आशा की जाती है शीघ्र भविष्य में हमारा देश स्वावलम्बी हो जायगा और हमारी सामाजिक तथा धार्मिक कुरीतियों का उन्मूलन हो जायगा।

कांग्रेस का इतिहास— ऊपर कांग्रेस के लक्ष्य तथा कार्य-क्रम पर संक्षिप्त प्रकाश डाल दिया गया है। इस विवरण से स्पष्ट है कि कांग्रेस का लक्ष्य तथा कार्य-क्रम में क्रमागत परिवर्तन होता गया है। कांग्रेस के लक्ष्य तथा कार्य-क्रम के दृष्टिकोण से इसके इतिहास को चार कालों में विभक्त किया जा सकता है। प्रथम काल १८८५ से १९०५ तक, द्वितीय काल १९०६ से १९१९ तक, तृतीय काल १९२० से १९२९ तक तथा चतुर्थ काल १९३० से १९४७ तक चलता है जब कांग्रेस अपने लक्ष्य की प्राप्ति कर लेती है। इन चारों कालों की अपनी अलग-अलग विशेषतायें हैं। प्रथम काल को सुधारों का काल कहा जाता है क्योंकि इस काल में कांग्रेस का लक्ष्य देश में सुधार करना था। इस काल में कांग्रेस की तीन मांगें थीं। पहिली मांग यह थी कि लेजिस्लेटिव कौंसिलों के सदस्यों की

संख्या बढ़ा दी जाय। दूसरी मांग यह थी कि इन कौंसिलों में जनता के प्रतिनिधियों की संख्या बढ़ा दी जाय। तीसरी मांग यह थी कि कार्यकारिणी को न्यायालय से अलग कर दिया जाय। दूसरे काल को स्वराज के काल के नाम से पुकारा गया है। इस काल में कांग्रेस ने बृटिश साम्राज्य के अन्दर रह कर स्वायत्त शासन की मांग उपस्थित की। अपने इस लक्ष्य की पूर्ति के लिये कांग्रेस ने वैधानिक आन्दोलन का आश्रय लिया। तीसरे काल में भी स्वराज ही कांग्रेस का लक्ष्य बना रहा परन्तु अब कांग्रेस आवश्यकता पड़ने पर बृटिश साम्राज्य से सम्बन्ध-विच्छेद करने के लिये उद्यत थी। इस प्रकार साम्राज्य के अन्तर्गत अथवा उस से अलग होकर स्वराज प्राप्त करना इस काल में कांग्रेस का लक्ष्य बन गया। इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिये अहिंसा तथा असहयोग को कांग्रेस ने अपना साधन बनाया। इस प्रकार जहाँ दूसरे काल में कांग्रेस बृटिश साम्राज्य से अपना सम्बन्ध-विच्छेद करने के लिये उद्यत न थी। तीसरे काल में वह आवश्यकता पड़ने पर बृटिश साम्राज्य से अलग होने के लिये उद्यत हो गई। चौथे काल को पूर्ण स्वतन्त्रता का काल कहते हैं क्योंकि इस काल में पूर्ण स्वतन्त्रता प्राप्त करना कांग्रेस ने अपना लक्ष्य बनाया। इस काल को गाँधी-काल भी कहते हैं क्योंकि इस काल में कांग्रेस की नीति तथा कार्य-क्रम के निर्धारित करने में गांधी जी का सबसे बड़ा हाथ रहा है। इस काल में भी कांग्रेस का कार्य-क्रम वही रहा जो तीसरे काल में था अर्थात् अहिंसा तथा असहयोग द्वारा पूर्ण स्वराज्य प्राप्त करना परन्तु परिस्थितियों के अनुसार सहयोग तथा असहयोग दोनों प्रकार की नीति का इस काल में अनुसरण किया गया। यद्यपि कांग्रेस का प्रधान लक्ष्य राजनैतिक स्वतन्त्रता प्राप्त करना था और निरन्तर उसने इसकी प्राप्ति का प्रयास किया परन्तु देश की आर्थिक तथा सामाजिक समस्याओं की भी उपेक्षा न की। सर्व-प्रथम दादाभाई नौरोजी ने इस तथ्य की ओर संकेत किया था कि भारत की आर्थिक विपन्नता का कारण बृटिश सरकार की आर्थिक नीति है। यद्यपि देश की आर्थिक तथा सामाजिक समस्यायें हमारे देश के नेताओं की दृष्टि में सदैव महत्व पूर्ण स्थान रखती थीं परन्तु सर्व-प्रथम गांधी ने इनकी ओर विशेष रूप से ध्यान दिया और देश की सामाजिक तथा आर्थिक उन्नति करने का कांग्रेस के कार्य-क्रम का एक अंग बन गया। स्वदेशी आन्दोलन तथा खद्दर का प्रचार देश की आर्थिक दशा के सुधारने के दृष्टिकोण से किया गया और अछूतोद्धार देश की सामाजिक दशा के सुधारने के लिये किया गया था। चूँकि राष्ट्र की सम्पूर्ण शक्ति स्वतन्त्रता की प्राप्ति के प्रयास में नियोजित कर दी गई थी अतएव सामाजिक तथा आर्थिक उन्नति की ओर उतना ध्यान न दिया जा सका जितना कांग्रेस चाहती थी इसके अतिरिक्त राजनैतिक स्वतन्त्रता के प्राप्त करने के उपरान्त ही आर्थिक तथा सामाजिक सुधार सम्भव था। अतएव स्वतन्त्रता प्राप्त कर लेने के उपरान्त देश को आर्थिक तथा सांस्कृतिक परतन्त्रता से मुक्त करना तथा सामाजिक कुरीतियों का निवारण और साम्प्रदायिकता का विनाश कर सभी जातियों, सम्प्रदायों तथा वर्गों में सद्भावना उत्पन्न करना कांग्रेस का लक्ष्य बन गया है। भाग्यवश हमारे देश में कांग्रेसी सरकार की स्थापना हो गई है। अतएव अपनी नीति को सफल बनाने के लिये राज्य के प्रचुर साधन उसे उपलब्ध हैं। देश की आर्थिक दशा को सुधारने के लिये पंचवर्षीय तथा अन्य योजनायें बनाई गई है। आशा की जाती है कि निकट भविष्य में हमारा देश आर्थिक दृष्टिकोण से स्वावलम्बी हो जायगा। साम्प्रदायिकता को समाप्त करने के लिये हमारे देश में लौकिक राज्य की स्थापना की गई है। अछूतों तथा स्त्रियों की दशा के सुधारने के लिये सरकार द्वारा अनेक आयोजनायें की जा रही हैं। गांधी जी की शान्ति तथा अहिंसा की नीति का अनुसरण हमारी सरकार कर रही है और विश्व में शान्ति स्थापित करने का भगीरथ प्रयास कर रही है।

प्रथम काल (१८८५-१९०५)—सर्व-प्रथम इस काल की प्रमुख विशेष-

नाओं का सिंहावलोकन कर लेना आवश्यक है। इस काल की सर्व प्रथम विशेषता यह है कि उस काल के जितने अग्रगण्य भारतीय नेता थे वे सब इसके सदस्य थे। केवल सर सय्यद अहमद खाँ ही एक एसे भारतीय नेता थे जिन्होंने राष्ट्रीय आन्दोलन से अपने को सम्बन्धित नहीं किया। सभी जातियों तथा वर्गों के व्यक्ति इसके सदस्य तथा पदाधिकारी रहे हैं सारांश यह है कि काँग्रेस एक वास्तविक "राष्ट्रीय संस्था" थी। यहाँ पर दो बातें विशेष रूप से ध्यान देने की हैं। पहिली बात यह है कि काँग्रेस ने बृटिश भारत की समस्याओं को सुलझाने का प्रयत्न किया और देशी राज्यों की ओर उसने ध्यान नहीं दिया है। दूसरी बात यह है कि चूंकि देश की बहु-संख्यक जनता हिन्दू है अतएव काँग्रेस में हिन्दुओं की प्रधानता रही है।

इस काल की काँग्रेस की दूसरी विशेषता यह है कि इन दिनों यह "मध्यम श्रेणी" के लोगों की संस्था थी। इसके वार्षिक अधिवेशनों में प्रायः नगरों से ही प्रतिनिधि आया करते थे। जन-साधारण का इससे कोई विशेष सम्बन्ध न था। लोकमान्य तिलक, लाला लाजपत राय तथा अन्य थोड़े से कांग्रेसी नेताओं को छोड़ कर किसी का भी जन-साधारण के साथ विशेष सम्पर्क न था। इसका परिणाम यह हुआ कि इन दिनों कांग्रेस "शिक्षित मध्यम श्रेणी" के लोगों की मांगों को ध्वनित करती थी। जब तक महात्मा गांधी हमारे देश के रङ्ग-मंच पर न आ गये तब तक कांग्रेस जन-साधारण की संस्था न बन सकी। गांधी जी के असहयोग आन्दोलन के फल-स्वरूप ही कांग्रेस जन-साधारण की संस्था बन सकी।

इस काल की कांग्रेस की तीसरी विशेषता यह है कि कांग्रेस ने अपने को "वैधानिक आन्दोलन" तक ही सीमित रक्खा। यह बृटिश सरकार के समक्ष अपनी मांगों को अत्यन्त विनम्र शब्दों में उपस्थित करती रही। अपने वार्षिक अधिवेशनों में कांग्रेस बृटिश सरकार के प्रति अपनी राज-भक्ति प्रकट करती रही और वैधानिक कार्यवाही पर बल देती रही। इसके प्रस्तावों में बड़ी शालीनता तथा गम्भीरता रहती थी और उनमें लेजिस्लेटिव कौंसिलों के विस्तृत करने तथा उनमें जनता के निर्वाचित प्रतिनिधियों के भेजने, न्यायालय को कार्य-कारिणी से अलग करने, सिविल सर्विस में भारतीयों के नियुक्त करने, एक ही साथ इङ्गलैण्ड में सिविल सर्विस की प्रतियोगिता की परीक्षायें लेने की मांगे करती रही। वैधानिक रीति का परित्याग गांधी जी के राजनैतिक मञ्च पर आने पर किया गया जब उनके नेतृत्व में अहिंसात्मक असहयोग आन्दोलन आरम्भ किया गया।

चौथी बात ध्यान देने की यह है कि यद्यपि उन्नीसवीं शताब्दी की नवीं दशाब्दी में लोकमान्य तिलक ने प्रथम बार "स्वराज" शब्द का प्रयोग किया परन्तु यह लोकप्रिय न हो सका। तिलक ने कहा था, "स्वराज मेरा जन्म-सिद्ध अधिकार है और मैं इसे प्राप्त करूँगा। "स्वराज" शब्द का प्रयोग कांग्रेस के अध्यक्ष दादा भाई नौरोजी ने १९०६ में अपने अध्यक्ष के पद से प्रयोग किया था और तभी से "स्वराज" कांग्रेस का लक्ष्य बन गया। परन्तु इस भावना का पूर्ण विकास गांधी जी के ही काल में हुआ।

इस काल की कांग्रेस की पांचवीं विशेषता यह है कि इसके शैशव काल में इसे भारत सरकार की सहानुभूति तथा उसका सहयोग प्राप्त रहा। इसके बम्बई के प्रथम अधिवेशन में पर्याप्त संख्या में सरकारी पदाधिकारी विद्यमान् थे। बाद के भी कई अधिवेशनों में यह लोग अतिथि के रूप में उपस्थित रहते थे। गवर्नर-जनरल तथा गवर्नर काँग्रेसी नेताओं को दावतें दिया करते थे। कांग्रेसी नेता भी बृटिश शासन की प्रशंसा किया करते थे और अंग्रेजों की न्याय-प्रियता में उनका पूर्ण विश्वास था और सद्भावना उत्पन्न करके वे भारत तथा इङ्गलैण्ड के सम्बन्ध को सुदृढ़

बनाना चाहते थे। कांग्रेसी नेताओं का यह विश्वास था कि यदि वे अंग्रेजों के समक्ष अपनी उचित मांगे रक्खेंगे तो अंग्रेज उनके साथ न्याय करेंगे और उनकी मांगों को स्वीकार कर लेंगे। कांग्रेस की इस नीति को इसके आलोचकों ने "राजनैतिक दरिद्रता" की संज्ञा दी है। यद्यपि आरम्भ में कांग्रेस को भारत सरकार की सहानुभूति प्राप्त थी परन्तु कांग्रेस की गति-विधि का अवलोकन कर सरकार शङ्कित हो गई और उसके व्यवहार में परिवर्तन आरम्भ हो गया। पहिले तो उसने उदासीनता तथा तटस्थता प्रकट की परन्तु कालान्तर में उसका कांग्रेस के साथ संघर्ष आरम्भ हो गया और कांग्रेस के दमन के लिये सरकार कुठार-हस्त हो गई।

उग्र दल का जन्म—ऊपर यह बतलाया जा चुका है कि कांग्रेस अपने जीवन के प्रथम काल में वैधानिक साधनों तथा शान्ति की नीति में विश्वास करती थी और इसीसे वह बृटिश सरकार से सुधार कराना तथा भारतीयों की शिकायतों को दूर कराना चाहती थी। हमारे यह प्रारम्भिक नेता पाश्चात्य शिक्षा की उत्पत्ति थे और उदार विचारों से ओत-प्रोत थे। अंग्रेजों की न्याय-प्रियता में उनका दृढ़ विश्वास था और उन पर नैतिक प्रभाव डाल कर वे अपनी उचित मांगों की पूर्ति का प्रयास कर रहे थे। वे अपनी मांगों के समर्थन में आकाट्य तर्क उपस्थित करके सरकार को सुधार करने के लिये बाध्य कर देना चाहते थे। अतएव इन नेताओं ने वैधानिक रीति का अवलम्ब लिया। उन्हें अपनी अन्तिम सफलता में पूर्ण विश्वास था, केवल धैर्य तथा विश्वास की आवश्यकता थी। परन्तु देश के भीतर तथा विदेशों में कुछ ऐसी घटनायें घटीं जिनके फल-स्वरूप नव-युवकों के एक नये दल का जन्म हुआ जो कांग्रेस के वैधानिक आन्दोलन, शान्ति की नीति, अनुनय-विनय तथा नैतिक दबाव में विश्वास नहीं रखता था। उसका दृष्टिकोण बिल्कुल भिन्न प्रकार का था। इस दल का जन्म बीसवीं शताब्दी के आरम्भ में हुआ। बाल गंगाधर तिलक, लाजपतराय तथा बिपिन चन्द्र पाल इस दल के प्रमुख नेता थे। यह दल उग्र-दल के नाम से प्रसिद्ध हुआ और कालान्तर में कांग्रेस के विचारों तथा कार्य-क्रम को इसने अत्यन्त प्रभावित किया। इस दल की उत्पति के निम्न लिखित कारण थे :—

(१) उग्र-दल की उत्पत्ति का प्रथम कारण यह था कि १८९२ के सुधारों से भारतीयों को बिल्कुल सन्तोष न हुआ। यद्यपि १८९२ के उपरान्त कांग्रेस अपनी विभिन्न प्रकार की उचित मांगों को सरकार के समक्ष उपस्थित करती रही और सरकार का ध्यान उनकी ओर आकृष्ट करती रही परन्तु सरकार ने उनकी मांगों पर विशेष ध्यान न दिया। कौंसिलों में भी जनता के प्रतिनिधियों की कुछ न चलती थी और सरकार स्वेच्छा से सब कार्य किया करती थी। सरकार ने दमन-कुचक्र भी चलाना आरम्भ किया। इससे नव-युवकों का धैर्य-भङ्ग हो गया और वे वैधानिक साधनों की उपयोगिता पर अविश्वास करने लगे और "राजनैतिक भिक्षा" की नीति की घोर निन्दा करने लगे। उनका कहना था कि इस मन्द गति से चल कर शताब्दियों में भी उचित मांगों की पूर्ति न हो सकेगी। अतएव इन लोगों ने द्रुतगति से आगे बढ़ने का निश्चय किया। इस प्रकार कांग्रेस में क्रान्तिकारी प्रवृत्तियाँ कार्य करने लगीं।

(२) उग्र वादी दल की उत्पत्ति का दूसरा कारण १८९६-९७ का दुर्भिक्ष तथा महामारी का रोग था। इन दो भयानक दैवी आपत्तियों से जनता की रक्षा करने में बृटिश सरकार बिल्कुल असमर्थ सिद्ध हुई। इससे जनता में बड़ा असन्तोष फैला। सरकार की इस असफलता का कारण यह था कि सम्पूर्ण कार्य सरकारी कर्मचारियों को सौंप दिया गया था और जनता को विश्वास में नहीं लिया गया। लाखों व्यक्तियों का भूख तथा रोग से संहार हो गया और जनता किंकर्तव्यविमूढ़ तथा असहाय खड़ी रही। इस दुर्घटना से

भारतीयों को यह विश्वास हो गया कि आपत्तिकाल में सरकार उनकी सहायता नहीं कर सकती और अब उसे स्वावलम्बी बन जाना चाहिये।

(३) सरकार की असमर्थता की तीव्र आलोचना आरम्भ हुई। "केशरी" नामक पत्र में जिसके सम्पादक लोकमान्य तिलक थे सरकार पर भयानक आक्रमण किये गये। सरकार की दुर्नीति से जनता में इतना असन्तोष फैला कि पूना के प्लेग कमिश्नर मि० रैण्ड की हत्या कर दी गई। इसके बाद सरकार ने महाराष्ट्र में अपना दमन-कुचक्र चलाना आरम्भ किया। लोकमान्य तिलक पर जनता को उत्तेजित करने का अपराध लगा कर १८ महीने का कारावास का दण्ड दिया गया। और प्रिवी कौंसिल में अपील करने की आज्ञा उन्हें न प्राप्त हो सकी। इस अत्याचार पूर्ण दण्ड से सम्पूर्ण देश में असन्तोष की अग्नि प्रज्वलित हो उठी।

(४) उग्र-दल की उत्पत्ति का चौथा कारण लार्ड कर्जन की स्वेच्छाचारिता तथा निरंकुशता की नीति थी। उसने सात वर्ष तक भारतीयों की भावनाओं का बिलकुल ध्यान न रख कर शासन किया। उसकी सीमा नीति तथा लासा में बृटिशएजेंट भेजने की आयोजना की तीव्र आलोचना की गई। १९०४ के आफिशल सेक्रेट्स ऐक्ट, कलकत्ता कारपोरेशन ऐक्ट तथा इंडियन यूनिवर्सिटीज ऐक्ट जिनके द्वारा लार्ड कर्जन ने इन संस्थाओं में सरकारी पदाधिकारियों के भरने का प्रयत्न किया अत्यन्त अलोकप्रिय सिद्ध हुये और जनता में बड़ा असन्तोष फैला। १९०२ में दिल्ली दरबार भी १८९९-१९०१ के अकाल के उपरान्त ही किया गया। जब जनता क्षुधा से पीड़ित थी तब इस प्रकार का समारोह करना सर्वथा अवांछनीय था। कर्जन ने अपने इस विश्वास को स्पष्ट रूप से व्यक्त कर दिया कि वह भारतीयों को उच्च सरकारी नौकरियों के सर्वथा अयोग्य समझता था। वह शिक्षित भारतीयों को भी झूठा तथा बेईमान समझता था। कर्जन के इस प्रकार के वक्तव्यों पर भारतीयों ने आपत्ति की और उसकी नीति की पत्रों तथा जनता में तीव्र आलोचना होने लगी।

(५) उग्र दल की उत्पत्ति का पाँचवा कारण बंग-भङ्ग की आयोजना थी। यद्यपि भारतीयों ने इस आयोजना का घोर विरोध किया परन्तु लार्ड कर्जन ने इस विरोध की बिलकुल चिंता न करके आयोजना को कार्यान्वित कर दिया। यह घटना संयोगवश उस समय घटी जब १९०४ में जापान ने रूस को बुरी तरह परास्त किया था। इस घटना ने पूर्व के लोगों में आत्म गौरव तथा आत्म-विश्वास की भावना जागृत कर दी थी। बंग-भङ्ग से सम्पूर्ण देश में असन्तोष की अग्नि प्रज्वलित हो उठी और इसके विरोध के लिये भारतीय जनता तन, मन, धन से सन्नद्ध हो गई। सरकार का दमन-कुचक्र जनता को भयभीत न कर सका और वह इस अपमान तथा अत्याचार को समाप्त करने के लिये अग्रसर हो गई। अब भारतीयों को यह विश्वास हो गया कि केवल प्रस्ताव पास करने तथा सभा करके विरोध व्यक्त करने से काम न चलेगा। फलतः बृटिश माल के बहिष्कार का आन्दोलन आरम्भ किया गया और इस आन्दोलन में आशातीत सफलता प्राप्त हुई। सरकार ने इस आन्दोलन को समाप्त करने के लिये दमन नीति का अवलम्ब लिया परन्तु यह नीति निष्फल सिद्ध हुई और देश में एक नये दल का सूत्रपात हो गया जो क्रान्तिकारी दल के नाम से विख्यात है। इस दल ने सरकार की बन्दूकों का उत्तर बम के गोले से देना आरम्भ किया।

(६) १९०४ में कांग्रेस के अधिवेशन में कलकत्ता कारपोरेशन ऐक्ट तथा इण्डियन यूनिवर्सिटीज़ ऐक्ट के विरुद्ध प्रस्ताव पास किये गये। कांग्रेस ने उस अधिवेशन के प्रेसीडेन्ट सर हेनरी काटन की अध्यक्षता में एक प्रतिनिधि-मंडल वाइसराय के पास भेजने का निश्चय किया परन्तु लार्ड कर्जन ने उस प्रतिनिधि मंडल से मिलने से इन्कार कर दिया, इससे कांग्रेस ने अत्यन्त अपमानित अनुभव किया और गोपाल कृष्ण गोखले तथा लाला लाजपतराय को इङ्गलैंड भेजा। वहाँ से लौटने के उपरान्त इन नेताओं ने अपने

देशवासियों को बतलाया कि बृटिश लोकतन्त्र अपने कार्यों में इतना व्यस्त था कि भारतीयों की ओर ध्यान देने का उसे अवकाश न था, बृटिश प्रेस भी भारतीयों की मांगों का समर्थन करने के लिये उद्यत न था, इङ्गलैंड में कोई भारतीयों की बात सुनने वाला न था और एंग्लो इण्डियनों का प्रभाव इतना प्रबल था कि उसका सामना करना भारतीयों के लिये अत्यन्त कठिन था। अतएव अब भारतीय नेता अपने पैरों पर खड़े होने के लिये उद्यत हो गये और अपने अध्यवसाय तथा उद्योग से राजनैतिक सुधार कराने का निश्चय कर लिया।

(७) इन दिनों विदेशों में भी कुछ ऐसी घटनायें घटीं जिनका हमारे देश के नवयुवकों के मस्तिष्क तथा दृष्टिकोण पर बहुत बड़ा प्रभाव पड़ा और उग्र दल के विकास में बड़ी सहायता मिली। बृटिश उपनिवेशों और विशेषकर दक्षिण अफ्रीका में प्रवासी भारतीयों के साथ जो दुर्व्यवहार हो रहा था उससे भारतीयों की क्रोधाग्नि प्रज्वलित हो उठी। १८९५ में अबीसीनिया ने इटली को बुरी तरह परास्त किया। इससे भारतीयों को बड़ी प्रसन्नता हुई और उन्हें बड़ा प्रोत्साहन मिला। मिश्र, फ़ारस तथा अन्य देशों में इन दिनों जो राष्ट्रीय आन्दोलन चल रहे थे उनसे भी भारतीयों को बड़ा प्रोत्साहन मिला। परन्तु उग्रवादियों को सबसे अधिक प्रेरणा तथा प्रोत्साहन १९०४ में रूस के विरुद्ध जापान की विजय से मिला।

उग्रदल की नीति—उग्रदल की उत्पत्ति के कारणों का उल्लेख ऊपर कर दिया गया है। इस दल ने कांग्रेस की धमनियों में नूतन रक्त प्रवाहित कर दिया। कांग्रेस के भीतर ही इस दल का संगठन बाल गंगाधर तिलक, लाजपतराय तथा विपिन चन्द्र पाल के नेतृत्व में किया गया। उग्र तथा नम्र दल वालों में प्राकृतिक अन्तर था। यद्यपि दादा भाई नौरोजी द्वारा निर्धारित "स्वराज" ही इन दोनों दलों का लक्ष्य था परन्तु इस लक्ष्य की पूर्ति के साधनों में दोनों दलों में मत-भेद था। नम्रदल वालों का अंग्रेज़ों की नेकनीयती तथा न्याय-प्रियता में विश्वास था। अतएव वे वैधानिक आन्दोलन द्वारा अपने ध्येय की प्राप्ति का प्रयत्न कर रहे थे। वह धैर्य का उपदेश दे रहे थे और क्रमागत सुधारों में उनका विश्वास था। यह लोग भारत को बृटिश शासन से जो लाभ हुआ था उससे जागरूक थे और बृटेन के साथ भारत का सम्बन्ध बनाये रखना चाहते थे। इसके विपरीत उग्र दल वालों का अंग्रेज़ों की न्यायप्रियता तथा नेकनीयती पर बिल्कुल विश्वास न रह गया। इन लोगों की धारणा थी कि उदारता के लिये राजनीति में कोई स्थान नहीं होता। अतएव प्रार्थना तथा अनुनय-विनय की नीति का इन लोगों ने तिरस्कार किया। अंग्रेज़ों की कृपा पर निर्भर रहने के स्थान पर इस दल वालों ने स्वालम्बन तथा आत्मबल पर निर्भर रहने का आदेश देना आरम्भ किया। इन लोगों ने बृटिश माल के बहिष्कार, स्वदेशी के प्रोत्साहन तथा राष्ट्रीय संस्थाओं की स्थापना पर बल दिया और सरकार का विरोध करने के लिये जनता को प्रोत्साहित किया। इस प्रकार उग्र तथा नम्र दलों की नीति में ध्रुवीय अन्तर था। कांग्रेस के सूरत के अधिवेशन में मत-भेद इतना बढ़ गया कि दोनों दलों का एक साथ कार्य करना असम्भव हो गया और दोनों ने अलग-अलग मार्ग ग्रहण करने का निश्चय कर लिया। कांग्रेस के नये विधान के फल-स्वरूप १९०८ में उग्र दल वाले कांग्रेस से अलग हो गये और १९१६ तक कांग्रेस का पूर्ण संचालन नम्र दल वालों ही के हाथ में था। भारत सरकार ने भी उग्र दल वालों का दमन आरम्भ कर दिया।

क्रान्तिकारी आन्दोलन—जिन कारणों से हमारे देश में उग्र दल की उत्पत्ति हुई थी उन्हीं कारणों से क्रान्तिकारी दल की भी उत्पत्ति हुई थी। इन लोगों की भी विचार-धारा तथा दृष्टिकोण उग्र दल वालों की ही भांति था वरन् यह उनसे भी आगे थे और

अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिये हिंसात्मक कार्य करने के लिये उद्यत थे। इन लोगों ने सरकार की बन्दूकों का उत्तर बम्ब के गोलों से देने का निश्चय किया। क्रान्तिकारियों का आन्दोलन १९०५ में आरम्भ हुआ और १९१७ तक इसका प्राबल्य रहा। इन लोगों ने क्रान्तिकारी समितियों की स्थापना करना आरम्भ किया। १९०७ में इन लोगों ने उस ट्रेन को बम विस्फोट से उड़ा देने का प्रयत्न किया जिसमें बंगाल का लेफ्टीनेंट गवर्नर जा रहा था। इसके थोड़े ही दिन बाद दिसम्बर के महीने में ढाका के जिला मैजिस्ट्रेट की पीठ पर गोली मारी गई परन्तु संयोगवश चोट घातक न सिद्ध हुई। १९०८ में कलकत्ता के प्रेसीडेन्सी मैजिस्ट्रेट की जान लेने का प्रयत्न किया गया परन्तु वह बच गया और भूल से दो निर्दोष स्त्रियों की जान गई। क्रान्तिकारियों का पता लगाने में पुलिस क्रियाशील हो गई और अनेक षड्यन्त्रों का अन्वेषण करने में सफल हुई। बहुत से क्रान्तिकारियों को प्राण-दंड दिया गया और अनेक को दीर्घ काल के लिये कारावास का दंड दिया गया। महाराष्ट्र में भी क्रान्तिकारियों का प्राबल्य था। इङ्गलैंड में भी यह लोग क्रियाशील थे। १९१३ से १९१६ तक क्रान्तिकारी बंगाल तथा पंजाब में अत्यन्त क्रियाशील थे। यह लोग डकैती तथा हत्या भी करने लगे क्योंकि आन्दोलन को चलाने के लिये उन्हें धन की आवश्यकता पड़ती थी। पंजाब के क्रान्तिकारियों ने वाइसराय लार्ड हार्डिञ्ज की भी हत्या करने का प्रयास किया। दिल्ली के षड्यन्त्र में अमीर चन्द अवध बिहारी, बाल मुकुन्द तथा बसन्तकुमार विस्वास को प्राण-दंड दिया गया। पंजाब में हरदयाल के नेतृत्व में एक गदर पार्टी का संगठन ही कर दिया गया था। क्रान्तिकारी आन्दोलन को बहुत कम सफलता प्राप्त हुई। इसकी असफलता के कई कारण थे। पहिला कारण यह था कि इसे केवल थोड़े से नव-युवकों की सहानुभूति प्राप्त थी। दूसरा कारण यह था कि इसका कोई केन्द्रीय संगठन न था जो इसे सुचारू रीति से संचालित करता। तीसरा कारण यह था कि देश के बड़े-बड़े नेता इसके विरुद्ध थे। जब महात्मा गाँधी सत्य तथा अहिंसा के सिद्धान्त के साथ कांग्रेस के रंग-मंच पर आये तब क्रान्तिकारी आंदोलन बिल्कुल समाप्त हो गया।

मुस्लिम साम्प्रदायिकता—यद्यपि कांग्रेस का जन्मदाता एक अंग्रेज़ था और प्रारम्भ में सरकार की पूरी सहानुभूति इसे प्राप्त थी परन्तु दो ही तीन वर्ष उपरान्त दोनों में विरोध उत्पन्न हो गया। कालान्तर में अंग्रेज़ों ने इस बात का अनुभव किया कि कांग्रेस की प्रगति को रोकने के लिये इसके विरुद्ध किसी संस्था के खड़ी करने की आवश्यकता है। उनकी दृष्टि मुसलमानों पर पड़ी और उनको कांग्रेस के विरुद्ध प्रोत्साहित करने का संकल्प किया। इन दिनों सर सय्यद अहमद ख़ाँ का मुसलमानों में बड़ा आदर सम्मान था। वे बृटिश सरकार तथा पाश्चात्य शिक्षा के बड़े प्रशंसक थे। अंग्रेजों ने उन्हीं को अपना साधन बनाया। सर सय्यद अहमद खाँ ने अपनी जातिवालों को समझाया कि हिन्दुओं से गठबन्धन करने की अपेक्षा अंग्रेजों के साथ गठबन्धन करने में मुसलमानों का अधिक कल्याण है। फलतः मुसलमानों तथा बृटिश सरकार में सहयोग स्थापित करने के लिये एंग्लो मुस्लिम डिफेन्स एसोसियेशन की स्थापना की गई। इसके साथ-साथ मुस्लिम एजुकेशन कान्फ्रेन्स की भी स्थापना की गई जिसका वार्षिक अधिवेशन कांग्रेस की भाँति ही होने लगा। मार्ले मिण्टो सुधार में मुसलमानों को पृथक् निर्वाचन का भी अधिकार दे दिया गया। इस प्रकार साम्प्रदायिकता के विष का वपन हमारे देश में कर दिया गया जिसका अन्तिम परिणाम यह हुआ कि हमारा देश दो भागों में विभक्त हो गया।

द्वितीय काल (१९०६-१९१९) — यह काल कांग्रेस के इतिहास में बहुत बड़ा महत्व रखता है। इसकी पहिली विशेषता यह है कि इस काल में उग्र तथा नम्र दल वालों में भीषण संघर्ष हो गया और दोनों ने एक दूसरे से अलग होकर कार्य करना

आरम्भ किया। उग्र दलवाले कांग्रेस से अलग हो गये और सरकार ने अपनी पूरी शक्ति के साथ उनका दमन आरम्भ किया। इस प्रकार कांग्रेस का संचालन केवल नरम दल वालों के हाथ में रह गया और वैधानिक रीति से वे कार्य करते रहे।

इस काल की दूसरी विशेषता यह है कि इस काल में होमरूल आन्दोलन अत्यन्त तीव्र-गति से चलाया गया। यद्यपि दस वर्षों तक कांग्रेस का संचालन नम्र दल वालों के हाथ में था परन्तु १९१६ में फिर उग्र दल वालों का प्रवेश कांग्रेस में हो गया और श्रीमती ऐनी बेसेन्ट भी भारत के राजनैतिक मंच पर आ गईं। तिलक तथा बेसेन्ट ने मिलकर होम रूल आन्दोलन को बड़े जोरों के साथ चलाया।

इस काल की तीसरी विशेषता यह है कि बृटिश सरकार ने सुधार तथा दमन दोनों ही को भारत की राजनैतिक समस्या के सुलझाने के लिये अपना साधन बनाया। इस काल में १९०९ तथा १९१९ के दो विधान पास किये गये जिनके द्वारा भारतीयों को संतुष्ट करने का प्रयत्न किया गया। इन सुधारों के साथ-साथ दमन कुचक्र भी अत्यन्त तीव्र गति से चलता रहा।

इस काल की चौथी विशेषता यह है कि इसमें हिन्दू-मुस्लिम एकता का भागीरथ प्रयास किया गया। दोनों दलों के नेताओं ने एक दूसरे के दृष्टिकोण को समझने और निकट आने का प्रयत्न किया परन्तु उन्हें विशेष सफलता न प्राप्त हुई।

इस काल की पाँचवीं विशेषता यह है कि इसमें प्रथम महासमर का विस्फोट हुआ जिसका भारतीय राजनीति पर बहुत बड़ा प्रभाव पड़ा। इस युद्ध में भारतीयों ने अपनी राज-भक्ति का पूर्ण परिचय दिया और बृटिश सरकार के साथ पूर्ण सहयोग किया। इस सहयोग के फल-स्वरूप १९१९ का संविधान निर्मित हुआ परन्तु इस ने भारतीयों को सन्तोष न हुआ। अब इस काल की प्रमुख घटनाओं का सिंहावलोकन कर लेना आवश्यक है।

कांग्रेस में फूट—उग्र तथा नम्र दल वालों के मत-भेद का विश्लेषण ऊपर कर दिया जा चुका है। इन दोनों दलों की विचार-धारा में मौलिक अन्तर था। अतएव इनका एक ही पोत में यात्रा करना असम्भव था। १९०६ के कांग्रेस के कलकत्ता अधिवेशन में ही इन दोनों दलों में संघर्ष हो गया होता और दोनों दल एक दूसरे से अलग हो गये होते परन्तु वयोवृद्ध दादा भाई नौरोजी के अध्यक्ष पद पर होने के कारण यह दुर्घटना न घट सकी। परन्तु इसे अधिक दिन तक रोका न जा सका। दूसरे ही वर्ष १९०७ में सूरत के अधिवेशन में कांग्रेस में फूट उत्पन्न हो गई। उग्र-दल तथा नम्र-दल अब एक साथ चलने के लिये उद्यत न थे। उग्र-दल के नेता बाल गंगाधर तिलक तथा नम्र-दल के नेता गोपाल कृष्ण गोखले थे। इन दिनों कांग्रेस में नम्र-दल का बहुमत था। अतएव इन लोगों ने अपनी अलग बैठक की और कांग्रेस का विधान बनाने के लिये एक समिति बना दी। कुछ ही महीने बाद इस समिति की बैठक प्रयाग में हुई। इस विधान द्वारा यह निर्धारित किया गया कि कांग्रेस का लक्ष्य उसी प्रकार का शासन स्थापित करना है जिस प्रकार का स्वायत्त शासन बृटिश साम्राज्य को प्राप्त है अर्थात् औपनिवेशिक स्वराज्य प्राप्त करना कांग्रेस का लक्ष्य निर्धारित किया गया। कांग्रेस के इस विधान में यह भी निश्चित किया गया कि इस लक्ष्य की पूर्ति वैधानिक उपायों द्वारा प्रस्तुत शासन प्रणाली में सुधार करके की जायगी। कांग्रेस के विधान में इस प्रकार का परिवर्तन करके उग्र दल वालों के लिये कांग्रेस का द्वार बन्द कर दिया गया क्योंकि न तो वैधानिक साधनों में उनका विश्वास रह गया था और न वे बृटिश साम्राज्य के साथ सम्बन्ध ही बनाये रखना चाहते थे। नम्र दल वालों को सरकार से भी उग्र दलवालों को अलग करने में योग मिला। सरकार ने अपना दमन-कुचक्र चलाना आरम्भ किया और उग्रवादियों को कारागार में

में डालना आरम्भ किया। तिलक को ६ वर्ष का कारागार का दण्ड देकर माण्डले भेज दिया गया।

सरकार की दमन नीति—जैसा पहिले बतलाया जा चुका है राष्ट्रीय आन्दोलन की प्रगति को रोकने के लिये सरकार ने सुधार तथा दमन इस द्वैध नीति का अनुसरण करना आरम्भ किया। उग्रवादियों तथा क्रान्तिकारियों के प्राबल्य से सरकार आतङ्कित हो उठी। अतएव उसने नम्र-दल वालों, मुसलमानों तथा ज़मींदारों को अपने पक्ष में करने का प्रयत्न किया। इन्हें सन्तुष्ट करने के लिये सुधार आयोजना को आरम्भ किया गया। अप्रैल १९०७ में लार्ड मिण्टो ने जो उन दिनों भारत के वाइसराय थे यह घोषणा की कि उसने एक सुधार योजना भारत-सचिव के पास भेज दी है। सुधारवादियों को इस प्रकार का आश्वासन देकर सरकार ने उग्रवादियों तथा क्रान्तिकारियों का दमन करना आरम्भ किया। मई १९०७ में लाला लाजपतराय तथा सरदार अजीतसिंह पर बिना अभियोग लगाये माण्डले के कारागार में बन्द कर दिया गया। लाला लाजपत राय बड़े ही योग्य सुधारक तथा कर्मठ नेता थे और क्रान्तिकारी अथवा हिंसात्मक कार्य में उनकी प्रवृति न थी। अतएव उनको निर्वासित कर देने से भारतीय जनता में बड़ा क्षोभ तथा असन्तोष फैला। बंगाल में सरकार का दमन कुचक्र सबसे अधिक भयानक था। समाचार पत्रों का सरकार ने गला घोंटना आरम्भ किया। अनेक सम्पादक तथा मुद्रक कारागार में डाल दिये गये। बहुत से क्रान्तिकारियों को बन्दी बना कर उन्हें प्राण-दण्ड दे दिया गया। सरकार की इस दमन नीति से क्रान्तिकारी और अधिक क्रियाशील हो गये। जितने ही वेग से सरकार का दमन-कुचक्र चल रहा था उतने ही वेग से क्रान्तिकारियों का प्रकोप भी बढ़ रहा था और महाराष्ट्र, पञ्जाब तथा मद्रास प्रेसीडेन्सी में भी यह अत्यन्त क्रियाशील हो गये और अपराधों की संख्या में द्रुतगति से वृद्धि होने लगी। १९०६ से १९१० तक क्रान्तिकारियों का अपराध तथा सरकार का दमन कुचक्र निरन्तर चलता रहा। १९०७ में भारत सरकार ने सेडिशस मीटिंग्स ऐक्ट पास किया जिसके द्वारा स्थानीय पदाधिकारियों को यह अधिकार दे दिया गया कि वे किसी भी व्यक्ति को किसी भी मीटिंग में भाषण देने का निषेध कर सकते हैं और वे इस प्रकार की मीटिंग भी करने का निषेध कर सकते हैं। इसी प्रकार १९०८ में समाचार पत्र ऐक्ट पास किया गया। इस ऐक्ट द्वारा ज़िला मजिस्ट्रेट को यह अधिकार दे दिया गया कि यदि उसके विचार में किसी समाचार पत्र में ऐसी बात छपती है जिससे जनता को हिंसात्मक कार्य करने का प्रोत्साहन मिलता है तो वह उस समाचार-पत्र को जब्त कर सकता है। सरकार की दमन-नीति का यहीं अन्त न हुआ। दिसम्बर १९०८ में क्रिमिनल ला अमेंडमेंट ऐक्ट पास किया गया। इस ऐक्ट द्वारा क्रान्तिकारी अपराधियों को विशेष प्रकार से दण्ड देने की व्यवस्था की गई और सरकार को किसी भी संस्था को ग़ैर क़ानूनी घोषित करने का अधिकार दिया गया। बङ्गाल में इस ऐक्ट के अनुसार कई संस्थाओं को ग़ैर क़ानूनी घोषित करके समाप्त कर दिया गया। बिना अभियोग चलाये ही अनेक व्यक्तियों को देश से निकाल दिया गया। नम्र-दल वाले यह सब सरकारी अत्याचार स्तब्ध होकर देखते रहे। इस प्रकार सरकार ने भारतीयों के राजनैतिक जीवन को समाप्त करने का अथक प्रयास किया।

मार्ले मिन्टो सुधार—जैसा पहिले बतलाया जा चुका है सरकार ने दमन कुचक्र के साथ-साथ सुधार का भी कार्य जारी रक्खा। अतएव १९०९ में भारत के लिये एक नया विधान बनाया गया जो मार्ले-मिन्टो सुधार के नाम से प्रसिद्ध है। इस ऐक्ट का विस्तृत वर्णन पहिले किया जा चुका है। इस विधान को नम्र-दल वालों को सन्तुष्ट करने तथा उनका सहयोग प्राप्त करने के लिये निर्मित किया गया था। इस विधान द्वारा लेजिस्ले-

टिव कौंसिलों के सदस्यों की संख्या तथा उनके अधिकारों में वृद्धि कर दी गई। निर्वाचन सिद्धान्त को भी स्वीकार कर लिया गया। परन्तु सभी जगह निर्वाचित सदस्य अल्प संख्या में रक्खे गये थे और सरकारी तथा मनोनीत गैर-सरकारी सदस्यों का बहुमत रक्खा गया जिससे सरकार के मार्ग में कोई कठिनाई न उत्पन्न हो। इस विधान में उत्तरदायी सरकार की कोई व्यवस्था न की गई। साथ ही पृथक् निर्वाचन पद्धति का समावेश करके साम्प्रदायिक घृणा का विष भारतीय राजनीति में डाल दिया गया जिससे हमारा सम्पूर्ण राजनैतिक जीवन विषाक्त हो गया।

होम रूल आन्दोलन—१९०८ से १९१५ तक भारत की राजनीति में बड़ी शिथिलता बनी रही। नम्र-दल वाले पूर्ववत् प्रस्ताव पास करते रहे और सुधारों की ओर सरकार का ध्यान आकृष्ट करते रहे। १९११ में बंग-भंग योजना रद्द कर दी गई। दिसम्बर १९१२ में लार्ड हार्डिञ्ज पर नई दिल्ली में बम फेंका गया परन्तु सौभाग्य से उनकी जान बच गई। १९१४ में जब श्रीमती एनी बेसेन्ट ने भारत के राजनैतिक मंच पर प्रवेश किया तब राष्ट्रीय आन्दोलन में नव जीवन तथा नई स्फूर्ति उत्पन्न हो गई। उन्होंने अपना होम रूल आन्दोलन आरम्भ किया और बम्बई तथा मद्रास में होम रूल लीग की स्थापना हो गई। फरवरी १९१५ में गोपाल कृष्ण गोखले का परलोकवास हो गया और इसके कुछ ही महीने उपरान्त फ़ीरोजशाह मेहता का भी देहावसान हो गया। ६ वर्ष के कारावास के उपरान्त लोकमान्य तिलक भी मांडले जेल से वापस आ गये थे। इस समय परिस्थितियाँ उनके अत्यन्त अनुकूल थीं। श्रीमती बेसेन्ट का पूर्ण सहयोग उन्हें प्राप्त हो गया। बेसेन्ट के उद्योग से कांग्रेस के विधान में इस प्रकार का परिवर्तन कर दिया गया कि उग्र-दल वालों का प्रवेश उसमें सम्भव हो सका। फलतः १९१६ के लखनऊ के कांग्रेस के अधिवेशन में उग्र-दल वालों का कॉंग्रेस में प्रवेश हो गया और अब कॉंग्रेस को लोकमान्य तिलक का नेतृत्व प्राप्त हो गया। इस प्रकार सूरत के अधिवेशन में जो फूट उत्पन्न हो गई थी उसका प्रायश्चित लखनऊ के अधिवेशन में किया गया और उग्र तथा नम्र-दल वालों ने फिर कंधे से कंधा मिलाकर कार्य करना आरम्भ किया। अब भारतीय राजनीति के मंच पर दो प्रमुख व्यक्ति थे एक थे तिलक और दूसरी थीं बेसेन्ट। इन दोनों ने मिल कर होम रूल आन्दोलन को बड़े जोरों से संचालित किया। श्रीमती बेसेन्ट को मद्रास सरकार ने जेल भेज दिया। इससे देश में बड़ी हलचल मच गई। थोड़े दिन बाद वे कारागार से मुक्त कर दी गई। इस प्रकार लोकमान्य तिलक तथा श्रीमती बेसेन्ट ने भारतीयों में नवजीवन तथा नवोत्साह का संचार कर दिया।

हिन्दू-मुस्लिम एकता का प्रयत्न—जैसा पहिले संकेत किया जा चुका है इस काल में हिन्दू-मुस्लिम एकता का भी प्रयत्न किया गया। यह प्रयत्न १९१० में ही आरम्भ किया गया। इस वर्ष हिन्दू तथा मुसलमान नेताओं का एक सम्मेलन किया गया। इस सम्मेलन में वेडरबर्न बनर्जी, मालवीय, हसन इमाम, जिन्ना तथा रहमतुल्ला सम्मिलिति हुये थे। सर विलियम वेडरबर्न इङ्गलैण्ड से कष्ट करके १९१० के प्रयाग के अधिवेशन में अध्यक्ष का आसन ग्रहण करने के लिये आये थे। उन्होंने कांग्रेस की फूट को दूर करने का यथाशक्ति प्रयत्न किया। कांग्रेस तथा लीग को भी एक दूसरे के निकट लाने का उन्होंने प्रयास किया। हिन्दू-मुस्लिम एकता का वह प्रयास चलता रहा और श्री मुहम्मद अली जिन्ना ने जो कांग्रेस के सदस्य थे और अभी तक लीगी नहीं बने थे कांग्रेस-लीग समझौते का अथक प्रयास किया। उनके उद्योग से १९१६ में कांग्रेस तथा लीग का अधिवेशन लखनऊ में साथ ही साथ हुआ। दोनों ने मिलकर सुधार की एक योजना बनाई जो कांग्रेस लीग योजना के नाम से प्रसिद्ध है। दोनों पक्षों ने आदान-प्रदान के सिद्धान्त पर समझौता किया लीग ने कांग्रेस की स्वराज की मांग का अनुमोदन

किया और कांग्रेस ने लीग की पृथक् साम्प्रदायिक निर्वाचन की मांग स्वीकार कर लिया। जिसके फलस्वरूप अन्ततोगत्वा हमारे देश का विभाजन हो गया। कांग्रेस-लीग योजना को बृटिश सरकार ने स्वीकार नहीं किया।

प्रथम महासमर—१९१४ में प्रथम महासमर आरम्भ हो गया। इस सङ्कटापन्न स्थिति में भारतीयों ने अंग्रेजों का पूरा साथ दिया। कोई भी ऐसा राजनैतिक दल न था जिसने इस युद्ध की विजय में सहयोग न किया हो। इसका सबसे बड़ा कारण यह था कि तत्कालीन वाइसराय लार्ड हार्डिञ्ज की उदार नीति का प्रभाव भारतीयों पर पड़ा था। इसके अतिरिक्त बड़े-बड़े अंग्रेज राजनीतिज्ञों ने यह वक्तव्य दिया था कि यह युद्ध प्रजातन्त्र की रक्षा के लिये लड़ा जा रहा है और सभी छोटे बड़े राष्ट्रों को आत्म निर्णय का अधिकार है। इन सब वक्तव्यों से भारतीयों के मन में बड़ी-बड़ी आशायें उत्पन्न हो गई थीं। उन्हें इस का विश्वास हो गया था कि यदि वे युद्ध में अंग्रेजों की सहायता करेंगे तो युद्ध में विजय प्राप्त करने के उपरान्त उन्हें निश्चय ही स्वायत्त शासन प्राप्त हो जायगा। अतएव भारतीयों ने तन, मन, धन से इस युद्ध में सहायता की परन्तु उनकी आशा एक दुराशा मात्र सिद्ध हुई।

असन्तोष की ज्वाला—११ नवम्बर १९१८ को यूरोपीय महायुद्ध का अन्त हो गया। भारतीयों ने इस युद्ध में बृटिश सरकार की तन, मन और धन से सहायता की थी और उन्हें यह आशा थी कि युद्ध के उपरान्त उन्हें स्वशासन का अधिकार प्राप्त हो जायगा। परन्तु १९१९ के विधान ने उनकी आशाओं पर पानी फेर दिया। उग्र-दल वालों को सबसे अधिक असन्तोष हुआ। प्रान्तों में द्वैध-शासन प्रणाली मनोनीत सदस्यों की उपस्थिति, सर्टीफिकेशन विधेयकों के रद्द करने का अधिकार तथा अध्यादेश जारी करने का अधिकार आदि १९१९ के विधान में ऐसी धारायें थीं जो राष्ट्रीय आन्दोलन की प्रगति में बाधायें उत्पन्न कर सकती थीं और जो आत्म-निर्णय के सिद्धान्त के विरुद्ध थीं। अतएव सम्पूर्ण देश में असन्तोष की अग्नि प्रज्वलित हो उठी।

इस समय असन्तोष का दूसरा कारण रौलैट बिल था। रौलैट बिल का उद्देश्य भारत रक्षा क़ानून को स्थायी बनाना था। ६ फरवरी १९१९ को इस उद्देश्य के दो बिल धारा-सभा में पेश किये गये। इससे सम्पूर्ण भारत में असन्तोष फैल गया। यहाँ तक कि उदार दल वालों ने भी इसका विरोध किया। अब महात्मा गांधी कांग्रेस के मंच पर आ चुके थे। २४ फरवरी को उन्होंने यह घोषणा की कि यदि यह बिल पास कर दिये गये तो वे सत्याग्रह आन्दोलन आरम्भ कर देंगे। उन्होंने सारे भारतवर्ष का भ्रमण किया और इनके प्रयत्न से ६ अप्रैल को सारे देश में विरोध दिवस मनाया गया।

असन्तोष का तीसरा कारण पंजाब की दुर्घटनायें थी १९१९ का कांग्रेस का वार्षिक अधिवेशन अमृतसर में होना निश्चित हुआ परन्तु पंजाब के लेफ्टीनेन्ट गवर्नर माइकेल ओडयर पंजाब में कांग्रेस का प्रबल्य नहीं होने देना चाहते थे। अतएव १० अप्रैल को अमृतसर के जिला मैजिस्ट्रेट ने कांग्रेस कार्यकर्ता डा० किचलू तथा डा० सत्यपाल को अज्ञात स्थान में भेज दिया। इस से जनता में बड़ी उत्तेजना फैली। जनता ने सरकारी इमारतों में आग लगा दी। तार काटे गये और स्टेशन लूटे तथा जलाये गये। कई अफसरों की हत्या भी कर दी गई। उसी दिन गांधी जी दिल्ली जाते समय रास्ते में रोक दिये गये और बम्बई भेज दिये गये। अमृतसर फौज के अधिकार में दे दिया गया। इससे जनता में बड़ा असन्तोष फैला। २१ अप्रैल को अमृतसर में एक सार्वजनिक सभा करने की घोषणा की गई और जलियानवाला बाग में यह सभा की गई। इस सभा में लगभग २० हजार व्यक्ति उपस्थित थे। इसमें जनरल डायर ने १०० सिपाहियों तथा ५० अंग्रेज सिपाहियों के साथ प्रवेश किया। इसने तितर-बितर होने की आज्ञा देने के तीन

मिनट उपरान्त गोली चलाने की आज्ञा दे दी। इन रक्त-पिपासु राक्षसों ने तब तक गोली चलाई जब तक सब कारतूस समाप्त न हो गये। कुल मिलाकर १६०० फायर किये गये जिससे ४०० देश भक्तों के प्राण गये और घायलों की संख्या एक-दो हजार के बीच में थी। इसके अतिरिक्त पंजाब में और भी बहुत से अत्याचार किये गये जिससे असन्तोष की आग बढ़ती ही गई।

असन्तोष का चौथा कारण खिलाफत आन्दोलन था। इस आन्दोलन का विस्तृत वर्णन अन्यत्र किया जा चुका है। भारतीय मुसलमानों ने जोरों के साथ इस आन्दोलन को आरम्भ किया। डाक्टर अन्सारी की अध्यक्षता में एक प्रतिनिधि मण्डल वाइसराय से मिला और टर्की साम्राज्य तथा खलीफ़ा के पद के बनाये रखने का आग्रह किया। महात्मा गांधी ने खिलाफ़त के प्रश्न को अपनाया और जोरों का आन्दोलन आरम्भ किया। इस प्रकार की हिन्दू-मुस्लिम एकता इसके पूर्व कभी परिलक्षित नहीं हुई थी परन्तु दुर्भाग्यवश यह एकता क्षणिक सिद्ध हुई और खिलाफ़त का प्रश्न समाप्त हो जाने पर फिर हिन्दुओं तथा मुसलमानों के सम्बन्ध बिगड़ने लगे और क्रमशः संघर्ष उग्र रूप धारण करता गया।

असन्तोष का पाँचवाँ कारण सरकारी सहानुभूति का अभाव था। सरकार भारतीय समस्याओं के सुलझाने में सर्वथा असमर्थ रही। इससे असन्तोष बढ़ता ही गया और महात्मा जी के नेतृत्व में असहयोग आन्दोलन आरम्भ कर दिया गया। इसके आगे महात्मा जी के ही नेतृत्व में कांग्रेस ने स्वतन्त्रता का आन्दोलन जारी रक्खा और स्वतन्त्रता की प्राप्ति तक उन्हीं के बतलाये हुये मार्ग का अनुसरण किया गया।

तृतीय काल (१९२०-२९)—कांग्रेस के इतिहास का तीसरा काल भी अपनी प्रमुख विशेषतायें रखता है। इस काल की प्रथम विशेषता यह है कि महात्मा गाँधी जो अफ्रीका में राजनैतिक आन्दोलन का पर्याप्त अनुभव प्राप्त कर चुके थे भारत के राजनैतिक मञ्च पर आ गये और सम्पूर्ण काल में प्रमुख अभिनेता बने रहे। उनका प्रभाव अचिरात् इतना प्रबल हो गया कि वे भारत के अग्र-गण्य नेता बन गये।

इस काल की दूसरी विशेषता यह है कि यद्यपि स्वराज पूर्ववत् कांग्रेस का लक्ष्य बना रहा परन्तु अब ब्रिटिश साम्राज्य के भीतर अथवा उसके बाहर भी रह कर इसकी प्राप्ति करना कांग्रेस का लक्ष्य निर्धारित किया गया। इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिये सत्य, अहिंसा तथा असहयोग को कांग्रेस ने गाँधी जी के नेतृत्व में अपना साधन बनाया।

इस काल की तीसरी विशेषता यह है कि इस काल में स्वराज पार्टी का जन्म हुआ जिसने गांधी जी की असहयोग की नीति का विरोध किया और कौंसिलों में प्रवेश करने का निश्चय किया। यह लोग कौंसिलों में जाकर अड़ंगे की नीति का अनुसरण करना चाहते थे।

इस काल की चौथी विशेषता हिन्दू-मुस्लिम दङ्गों का प्रकोप है खिलाफत आन्दोलन के समाप्त हो जाने पर हिन्दुओं तथा मुसलमानों के सम्बन्ध बहुत खराब हो गये और देश के विभिन्न भागों में साम्प्रदायिक दङ्गों की अग्नि प्रज्वलित हो उठी।

इस काल की पाँचवी विशेषता यह है कि वैधानिक समस्या पर विचार करने के लिये प्रयास आरम्भ किया गया। साइमन कमीशन इसी काल में भारत आया और उसने विधान सम्बन्धी अपनी रिपोर्ट प्रकाशित की। नेहरू रिपोर्ट का भी प्रकाशन इसी काल में हुआ था। इरविन की घोषणा इसी काल में हुई और भारत की राजनैतिक समस्या के सुलझाने का प्रयत्न किया गया। अब इन घटनाओं का अलग अलग विस्तृत वर्णन कर लेना आवश्यक है।

गाँधी जी का भारतीय राजनीति में प्रवेश—माण्टफोर्ड सुधारों पर मत-भेद हो जाने के कारण नम्र दल वाले कांग्रेस से अलग हो गये और उनका अपना अलग "लिबरल फेडरेशन" बन गया। इस स्थिति में कांग्रेस का नेतृत्व गांधी जी ने ग्रहण किया। गाँधी जी नये सेनानी न थे। दक्षिण अफ्रीका में वे अपने सत्याग्रह के अस्त्र का प्रयोग कर चुके थे और अब उसी अस्त्र को भारतीय राजनीति में भी प्रयोग करने का उन्होंने निश्चय कर लिया। उन्होंने अहमदाबाद के निकट साबरमती नामक नदी के तट पर अपना सत्याग्रह आश्रम स्थापित किया। इस आश्रम के स्थापित करने का ध्येय अपने देशवासियों को सत्याग्रह के इस अस्त्र से परिचित कराना था जिसका प्रयोग वे दक्षिण अफ्रीका में कर चुके थे और यह निश्चय करना था कि किस सीमा तक इसका प्रयोग भारत की राजनीति में किया जा सकता था। इस प्रकार भारतीय राजनीति में सत्याग्रह का प्रयोग करने के लिये गांधी जी उद्यत हो गये। उन्हें इसके प्रयोग करने का अवसर भी प्राप्त हो गया। सर्व-प्रथम उन्होंने इसका प्रयोग बिहार के चम्पारन जिले में किया जहाँ पर नील के यूरोपीय उत्पादक किसानों के साथ बड़ा अत्याचार कर रहे थे। गांधी जी वहां पर गये परन्तु उन्हें रोकने का प्रयत्न किया गया। गांधी जी अन्त में सफल हुये और बिहार प्रान्त की व्यवस्थापिका ने ऐसे क़ानून बना दिये जिस से किसानों की शिकायतें दूर हो गईं। परन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं है कि गांधी जी सरकार का विरोध तथा उसके साथ संघर्ष करने के लिये उद्यत हो रहे थे। इसका केवल इतना ही तात्पर्य है कि वे किसी भी अत्याचार का सत्याग्रह द्वारा सामना करने के लिये उद्यत थे। वास्तव में वे अब भी सरकार के साथ सहयोग करने के लिये उद्यत थे और चाहते थे कि माण्टफोर्ड सुधारों को सफल बनाने का प्रयत्न किया जाय परन्तु भारत के राजनैतिक मञ्च पर घटनायें इतनी द्रुतगति से घट रही थीं कि गांधी जी के विचारों में महान् परिवर्तन हो गया और सहयोगी से वे सहसा असहयोगी बन गये। रौलेट बिल, पञ्जाब की और विशेष कर जलियानवाला बाग की दुर्घटनाओं तथा खिलाफ़त आन्दोलन से गांधी जी अत्यन्त प्रभावित हुये और उन्होंने नये मार्ग के ग्रहण करने का दृढ़-संकल्प कर लिया।

असहयोग आन्दोलन—२० सितम्बर १९२० को कांग्रेस के कलकत्ता अधिवेशन में गांधी जी ने असहयोग का प्रस्ताव रक्खा और बड़े बहुमत से यह प्रस्ताव पास कर दिया गया। इस असहयोग का कार्य-क्रम निम्नलिखित था:-

(१) सरकारी उपाधियों तथा अवैतनिक पदों को त्याग दिया जाय और जिला-मण्डलों, नगरपालिका तथा अन्य संस्थाओं में जो लोग मनोनीत हुये हैं वे त्याग-पत्र दे दें।

(२) सरकारी दरबारों, स्वागत के समारोहों तथा सरकारी अफ़सरों द्वारा किये गये अथवा उनके सम्मान में किये जाने वाले सरकारी उत्सवों में भाग लेने से इन्कार किया जाय।

(३) सरकारी तथा सरकार से सहायता पाने वाले स्कूलों तथा कालेजों का बहिष्कार किया जाय और उनके स्थान पर राष्ट्रीय स्कूलों तथा कालेजों की स्थापना की जाय।

(४) धीरे-धीरे वकीलों तथा मुवक्किलों द्वारा सरकारी न्यायालयों का बहिष्कार किया जाय और पारस्परिक झगड़ों के निर्णय के लिये पञ्चायती अदालतें स्थापित की जाय।

(५) मेसोपोटामिया के लिये जो सैनिक, क्लर्क तथा मजदूर भर्ती किये जा रहे हैं उसमें कोई भर्ती होने के लिये उद्यत न हो।

(६) नई कौंसिल के चुनाव के लिये खड़े हुये उम्मेदवार अपने नाम उम्मेदवारी से वापिस ले लें और यदि कांग्रेस की सलाह के विरुद्ध कोई उम्मेदवार चुनाव के लिये खड़ा हो तो मतदाता उसे वोट देने से इन्कार कर दें।

(७) विदेशी माल का बहिष्कार किया जाय और प्रत्येक घर में हाथ की बुनाई तथा कताई फिर से आरम्भ की जाय और स्वदेशी वस्तुओं का प्रयोग किया जाय।

दिसम्बर १९२० में नागपुर में कांग्रेस का अधिवेशन हुआ। इस अधिवेशन में स्वराज बृटिश साम्राज्य के भीतर अथवा उसके बाहर रह कर प्राप्त करना कांग्रेस का लक्ष्य निर्धारित किया गया। इस लक्ष्य की पूर्ति के लिये न केवल वैधानिक वरन् अन्य प्रकार के भी उचित साधनों का शान्तिपूर्वक प्रयोग करने का निश्चय किया गया।

कलकत्ता के अधिवेशन में असहयोग का प्रस्ताव पास कर देने के उपरान्त महात्मा जी ने उसे कार्यान्वित करना आरम्भ किया। उन्होंने जनता में उत्साह उत्पन्न करने के लिये सम्पूर्ण देश का भ्रमण किया और जनता को अपनी असहयोग की योजना से अवगत कराना आरम्भ किया। सरकार द्वारा उन्हें मेडल मिले थे उन्हें लौटाकर उन्होंने असहयोग के मार्ग में प्रथम पग स्वयं बढ़ाया। उन्होंने वकीलों से अनुरोध किया कि वे न्यायालयों में जाना बन्द कर दें और जनता से याचना की कि वह सरकारी न्यायालयों की शरण में न जायँ। विद्यार्थियों को उन्होंने आदेश दिया कि वे राष्ट्रीय आन्दोलन में भाग लें अथवा राष्ट्रीय संस्थाओं में जो खुल रही थीं जाकर शिक्षा प्राप्त करें। इस आन्दोलन में आशातीत सफलता प्राप्त हुई। सैकड़ों व्यक्तियों ने अपनी उपाधियाँ त्याग दीं। देशबन्धु चित्तरञ्जनदास, पं० मोतीलाल नेहरू तथा उनके सुपुत्र पं० जवाहरलाल नेहरू, लाला लाजपतराय, सरदार वल्लभ भाई पटेल, डा० मुञ्जे, बाबू राजेन्द्र प्रसाद, श्री राजगोपालाचारी, प्रकाशम आदि ने अपनी वकालत छोड़ दी और राष्ट्रीय आन्दोलन में कूद पड़े। मौलाना मुहम्मद अली तथा शौकत अली, डा०.अन्सारी तथा मौलाना अबुलकलाम आजाद जैसे बड़े-बड़े मुसलमान नेता भी इस आन्दोलन में कूद पड़े। मि० मुहम्मद अली जिन्ना, श्रीमती बेसेन्ट तथा श्री बिपिन चन्द्र पाल कांग्रेस से अलग हो गये क्योंकि यह लोग गाँधी जी की नीति तथा उनके कार्य-क्रम से सहमत न थे। व्यवस्थापिकाओं के चुनाव का सफलता पूर्वक बहिष्कार किया गया। कोई कांग्रेसी चुनाव के लिये उम्मीदवार न खड़ा हुआ। जिन लोगों ने मत दिया उनकी भी संख्या नगण्य थी। सहस्रों विद्यार्थियों ने स्कूलों तथा कालेजों को छोड़ दिया जिनकी सुविधा के लिये अनेक शिक्षण संस्थायें खोली गईं। स्वदेशी आन्दोलन बड़े जोरों के साथ चला और कताई-बुनाई का कार्य बड़े उत्साह के साथ आरम्भ किया गया। खद्दर हमारा राष्ट्रीय वस्त्र बन गया और अत्यन्त आदर की दृष्टि से देखा जाने लगा। जुलाई के महीने में गाँधी जी ने विदेशी वस्त्रों के बहिष्कार का आन्दोलन आरम्भ किया। यह आन्दोलन इतना सफल रहा कि प्रत्येक नगर में विदेशी वस्त्रों की होली मनाई गई। नवम्बर १९२१ में वेल्स के राजकुमार भारत पधारे। कांग्रेस ने उनके आगमन का बहिष्कार किया। बम्बई नगर में उनके प्रवेश करते ही वहाँ पर भयानक दंगा हो गया। देश के जिस किसी भाग में वे गये वहीं पर हड़ताल से उनका स्वागत किया गया। गाँधी जी को छोड़कर शेष सभी बड़े-बड़े नेता बन्दी बना कर कारागार में डाल दिये गये।

असहयोग आन्दोलन का स्थगन—गाँधी जी गुजरात के बारदोली तालुके में 'कर मत दो' आन्दोलन चलाने की तैयारियाँ कर ही रहे थे कि उन्हें चौरी चौरा की दुर्घटना की सूचना मिली। ४ फरवरी को जनता की एक भीड़ ने जिसमें अनेक कांग्रेसी आदमी थे गोरखपुर ज़िले में चौरीचौरा नामक स्थान पर पुलिस चौकी में आग लगा दी और अनेक पुलिस वालों की हत्या कर दी। इसी समय मलाबार में मोपलों ने हिन्दुओं के साथ बड़ा अत्याचार किया और वेल्स के राजकुमार के आगमन पर बम्बई में दंगे हुये। इन हिंसात्मक दुर्घटनाओं से गाँधी जी को बड़ी पीड़ा हुई। वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि अभी देश अहिंसात्मक आन्दोलन को करने के लिये उद्यत नहीं है और असहयोग आन्दोलन को अहिंसात्मक रखना अत्यन्त दुष्कर कार्य है। फलतः उन्होंने कांग्रेस की कार्यकारिणी

समिति की बैठक बुलाई और असहयोग आन्दोलन को स्थगित कर देने का निश्चय कर लिया अनेक देश भक्तों को गांधी जी के इस निर्णय से बड़ा क्षोभ तथा बड़ी निराशा हुई। अब गांधी जी ने रचनात्मक कार्य करने का निश्चय कर लिया। जिसके अन्तर्गत हाथ की कताई तथा बुनाई, अस्पृश्यता का निवारण, साम्प्रदायिक एकता की स्थापना तथा मद्य-पान निरोध आदि आता था। इस प्रकार असहयोग आन्दोलन ठण्ढा पड़ गया। सरकार ने इस सुअवसर से लाभ उठाया। गांधी जी बन्दी बना लिये गये और मार्च १९२२ में उन्हें ६ वर्ष के लिये कारागार का दण्ड दे दिया गया।

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि प्रथम असहयोग आन्दोलन सफल न हो सका। यद्यपि गांधी जी ने अपने देशवासियों को एक वर्ष के भीतर ही स्वराज दिलाने का आश्वासन दिलाया था परन्तु स्वराज को कौन कहे चारों ओर निराशा का अन्धकार छाया हुआ था और असहयोग आन्दोलन के संचालक स्वयम् गांधी जी कारागार का जीवन व्यतीत कर रहे थे। परन्तु गवेषणात्मक दृष्टि से देखने पर आन्दोलन बिलकुल निष्फल नहीं प्रतीत होता। इस आन्दोलन ने देश वासियों के अपूर्व साहस तथा उत्साह का परिचय दिया। इसने कांग्रेस को जन-साधारण का आन्दोलन बना दिया और स्वराज का संदेश सर्व-साधारण को सुना दिया। वास्तव में इस आन्दोलन ने भारत में बृटिश साम्राज्य की जड़ को हिला दिया। जब तक यह आन्दोलन चलता रहा तब तक माण्टफ़ोर्ड सुधार भी उदारता पूर्वक कार्यान्वित होते रहे परन्तु आन्दोलन के समाप्त होते ही उनकी गतिविधि में परिवर्तन हो गया।

स्वराज पार्टी का जन्म—चूँकि सत्याग्रह आन्दोलन के स्थगित कर देने से अनेक नेताओं को बड़ी निराशा हुई अतएव इसके प्रतिक्रिया स्वरूप पं० मोतीलाल नेहरू तथा देशबन्धु चितरञ्जनदास की अध्यक्षता में कांग्रेस में एक नये दल का जन्म हुआ जो "स्वराज पार्टी" के नाम से प्रसिद्ध है। इस पार्टी ने कौंसिलों में जाकर अड़ंगे की नीति के अनुसरण करने का निश्चय किया। इस प्रकार सरकार के विरुद्ध भीतर से मुर्चा बनाने की आयोजना बनाई गई। कारागार ही में देशबन्धु दास ने अपनी योजना बनाई थी और वहीं पर प० मोतीलाल जी की परामर्श ली थी। कारागार से निकलते ही वे अपने मत का प्रचार करने लगे। १९२२ के गया के अधिवेशन में कौंसिलों में प्रवेश करने का प्रस्ताव रक्खा गया यद्यपि देशबन्धु दास ने स्वयं सभापति का आसन ग्रहण किया था परन्तु उनका प्रस्ताव पास न हो सका। इस पर पं० मोतीलाल नेहरू ने एक अलग पार्टी बनाने की घोषणा की जिसे "स्वराज पार्टी" की संज्ञा दी गई। नेहरू तथा दास के अथक प्रयास के फल-स्वरूप मार्च १९२३ में "स्वराज पार्टी" का प्रथम सम्मेलन प्रयाग में हुआ। इस सम्मेलन में इस पार्टी का विधान तथा कार्यक्रम बना लिया गया। सितम्बर १९२३ में दिल्ली में कांग्रेस का अधिवेशन हुआ। इस अधिवेशन में सौभाग्यवश कांग्रेस के दोनों दलों में समझौता हो गया और चुनाव लड़ कर कौंसिलों में प्रवेश कर निरन्तर सरकार का भीतर से विरोध करने का निश्चय किया गया। "स्वराज पार्टी" की यह बहुत बड़ी विजय थी। १९२४ में कौंसिलों का चुनाव हुआ। नेहरू तथा दास के योग्य नेतृत्व में "स्वराज पार्टी" को चुनाव में श्लाघनीय सफलता प्राप्त हुई। मध्य प्रान्त तथा बङ्गाल में उन्हें पूर्ण बहुमत प्राप्त हुआ। अन्य प्रान्तों में भी उनका बहुमत रहा परन्तु पूर्ण बहुमत न पा सके। बङ्गाल तथा मध्य-प्रान्त में मन्त्रि मण्डल का निर्माण इन लोगों ने असम्भव बना दिया परन्तु अन्य प्रान्तों में उन्हें विशेष सफलता न प्राप्त हो सकी। केन्द्रीय लेजिस्लेटिव एसम्बली में उन्हें ४ स्थान प्राप्त हो सके और स्वतन्त्र सदस्यों की सहायता से वे सदा-कदा सरकार को परास्त भी कर सकते थे। परन्तु गवर्नर-जनरल अपने विशेषधिकारों का प्रयोग कर सब कठिनाइयों का निवारण कर लेता था। कई बार बजट को अस्वीकार करने में वे सफल हुये परन्तु गवर्नर-जनरल ने अपने सर्टिफिकेशन के अधिकार का प्रयोग कर उसे

पास किया। इस प्रकार "स्वराज पार्टी" अड़ंगे पैदा करती रही। ८ फ़रवरी १९२४ को इस पार्टी ने स्वतन्त्र सदस्यों की सहायता से इस आशय का एक प्रस्ताव पास किया कि १९१९ के विधान में आवश्यक सुधार किया जाय। र जस्व बिल को भी उपस्थित करने की आज्ञा न मिल सकी फलतः गवर्नर-जनरल को उसे अपने विशेषाधिकार द्वारा स्वीकार करना पड़ा। असेम्बली का अधिवेशन समाप्त हो जाने पर एक "सुधार अन्वेषण समिति" की नियुक्ति की गई परन्तु "स्वराज पार्टी" ने इसका भी विरोध किया। इस प्रकार "स्वराज पार्टी" निरन्तर अदम्य उत्साह से सरकार का विरोध करती रही।

स्वराज पार्टी की नीति की सार्थकता पर विद्वानों में बड़ा मत-भेद रहा है। अनेक विद्वानों ने इस पार्टी की अड़ँगे की नीति को निरर्थक तथा निष्फल बतलाया है। न केन्द्र में इससे कुछ लाभ हुआ और न रक्षित विषयों में प्रान्तों में ही कुछ लाभ हुआ। यद्यपि यह सत्य है कि दो प्रान्तों में द्वैध शासन का चलना इस दल ने असम्भव बना दिया परन्तु इससे स्वराज के लक्ष्य की पूर्ति में कोई योग न मिला। यह सब आलोचनायें उस समय निरर्थक प्रतीत होती हैं जब हम स्वराज पार्टी के लक्ष्य पर विचार कर लेते हैं। इस पार्टी वाले कोई बड़ी आशा लेकर कौंसिलों में नहीं गये थे और न वे यह समझते थे कि कौंसिल-प्रवेश से वे स्वराज प्राप्त कर लेंगे। कौंसिलों में प्रवेश करने का उनका एक मात्र लक्ष्य सरकार का विरोध करना था क्योंकि यदि सरकार का विरोध न किया जाता तो वह जनता की माँगों को स्वीकार करने के लिये कदापि उद्यत न होती। स्वराज पार्टी की सफलता का अङ्कन हमें इस दृष्टिकोण से करना चाहिये कि जिस समय असहयोग आन्दोलन के स्थगित कर देने से जनता निराश तथा हतोत्साह हो रही थी उस समय कौंसिलों में चहल-पहल उत्पन्न करके इस दल ने जनता के उत्साह को बढ़ाया और उसे क्रियाशील बनाये रक्खा। जिस समय कॉंग्रेस रचनात्मक कार्य में संलग्न रही उस समय स्वराज पार्टी ने राजनैतिक कार्य को सँभालने का श्लाघनीय कार्य किया और इस प्रकार उसने राष्ट्र की बड़ी सेवा की।

गाँधी जी की रिहाई—यह ऊपर बतलाया जा चुका है कि गाँधी जी को ६ वर्ष के लिये कारागार का दण्ड दिया जा चुका था। वे पूना जेल में रक्खे गये थे। रोग-ग्रस्त हो जाने के कारण ५ फ़रवरी १९२४ को वे जेल से मुक्त कर दिये गये। पं० मोतीलाल नेहरू जून में उनसे मिले और स्वराज पार्टी की नीति का समर्थन करना चाहा परन्तु अपने प्रयत्न में वे असफल रहे। परन्तु यह समझौता हो गया कि गाँधी जी स्वयम् खद्दर के प्रचार तथा साम्प्रदायिक एकता का कार्य करेंगे और स्वराज दल वाले राजनैतिक कार्यों को सँभालेंगे। इस प्रकार कॉंग्रेस के दोनों दलों ने अपना-अपना मार्ग निर्धारित कर लिया और उनका अनुसरण करने लगे।

साम्प्रदायिक दंगे—१९२२ से १९२७ तक का काल घोर अशान्ति का काल था और इसमें साम्प्रदायिक दंगों का प्राबल्य रहा। अनेक नगरों में हिन्दू-मुस्लिम दंगे हुये और सम्पूर्ण सामाजिक जीवन विषाक्त हो गया। मुसलमानों ने तबलिग तथा तन्जीम का और हिन्दुओं ने शुद्धि तथा संगठन का आन्दोलन आरम्भ किया। इस दूषित वातावरण से गाँधी जी को बड़ी व्यग्रता हुई और उन्होंने मेल सम्मेलन करने की योजना की। इस सम्मेलन की बैठक दिल्ली में सितम्बर १९२४ में हुई। इसमें बड़े-बड़े हिन्दू तथा मुसलमान नेताओं ने भाग लिया। इसी समय दोनों सम्प्रदाय वालों ने जो दुष्कर्म किये थे उनके प्रायश्चित्त के लिये गाँधी जी ने तीन सप्ताह का अनशन किया। परन्तु गाँधी जी के इन प्रयत्नों का कुछ विशेष प्रभाव न पड़ा और स्थिति ज्यों की त्यों बनी रही। चूँकि मुस्तफा कमाल पाशा ने टर्की के खिलाफ़त के प्रश्न को समाप्त कर दिया था अतएव भारत में भी खिलाफ़त आन्दोलन समाप्त हो गया। इस प्रकार जो कड़ी हिन्दुओं तथा मुसलमानों

को कुछ दिनों से मिलायें थी वह भी टूट गई। इसका परिणाम यह हुआ कि जो मुसलमान काँग्रेस के निकट आ गये थे वे फिर उससे दूर हट गये और मुस्लिम लीग का जोर जो खिलाफत आन्दोलन के समय मन्द पड़ गया था फिर बढ़ने लगा। इससे साम्प्रदायिकता का प्रकोप बढ़ता ही गया।

वैधानिक योजनायें—८ नवम्बर १९२७ को १९१९ के विधान के क्रियात्मक रूप पर विचार करने के लिये बृटिश सरकार ने साइमन कमीशन नियुक्त किया जिसे श्वेत कमीशन भी कहते हैं क्योंकि इसमें एक भी भारतीय न रक्खा गया था। इससे सम्पूर्ण देश में असन्तोष फैल गया और भारत के सभी राजनैतिक दलों ने एक स्वर से इसका विरोध किया। इस विरोध के होते हुये भी कमीशन अपने कार्य में संलग्न रहा और उसे सम्पादित करके मई १९३० में अपनी रिपोर्ट प्रकाशित किया। इस रिपोर्ट का विवेचन क्षेत्र अत्यन्त व्यापक था। इसने भारत की रक्षा, साम्प्रदायिक समस्या और भारत की भावी वैधानिक व्यवस्था में देशी राज्यों के स्थान आदि की पूर्ण विवेचना की परन्तु दुर्भाग्यवश अहिंसात्मक असहयोग आन्दोलन से स्थिति में जो परिवर्तन हो गया था उस पर इसने बिल्कुल ध्यान न दिया। साइमन कमीशन ने केन्द्र में संघ सरकार के स्थापित करने की सिफ़ारिश की। संघीय धारा सभा के प्रथम भवन का अप्रत्यक्ष निर्वाचन हो, केन्द्र का प्रान्त पर पूरा पूरा नियंत्रण बना रहे तथा प्रान्तों को प्रान्तीय स्वतन्त्रता दे दी जाय परन्तु गवर्नरों को विशेषाधिकार दिये जायें यह सब कमीशन की अन्य सिफ़ारिशें थीं।

इस समय तत्कालीन भारत-सचिव लार्ड बर्केनहेड ने भारतीयों को सर्व-सम्मति से एक विधान योजना बनाने की चुनौती दी। हमारे देश के नेताओं ने भारत-सचिव की इस चुनौती को स्वीकार कर लिया और १९२८ में बम्बई में भारत के भावी विधान पर विचार करने के लिये एक सर्व-दल सम्मेलन किया गया। विधान की योजना बनाने के लिये पं० मोतीलाल नेहरू की अध्यक्षता में एक कमेटी बना दी गई। इस कमेटी ने लखनऊ के अधिवेशन में अपनी रिपोर्ट उपस्थित की जिसमें औपनिवेशिक स्वराज भारत का लक्ष्य बतलाया गया। इस रिपोर्ट में भारत में संघ-योजना बनाने की ओर भी संकेत था। बृटिश भारत में पूर्ण रूप से उत्तरदायी सरकार के स्थापित करने की सिफ़ारिश इस रिपोर्ट में की गई। गवर्नर-जनरल एक वैधानिक अध्यक्ष तथा बृटिश सम्राट् के प्रतिनिधि के रूप में कार्य करता तथा अल्पसंख्यकों के लिये स्थान सुरक्षित रख कर सामूहिक निर्वाचन पद्धति की सिफ़ारिश की गई। दुर्भाग्यवश यह रिपोर्ट सफलीभूत न हो सकी।

इन्हीं दिनों मई १९२९ में इङ्गलैण्ड में आम-चुनाव हुआ जिसके फल-स्वरूप मजदूर-दल की विजय हुई। इस दल की भारतीयों के साथ सदैव सहानुभूति रही है। पद-ग्रहण करते ही इस दल ने भारत के वाइसराय लार्ड इरविन को भारत की वैधानिक समस्या पर विचार करने के लिये लन्दन बुलाया। लार्ड इरविन जून से अक्टूबर तक इङ्गलैण्ड में रहे। यहाँ लौटने पर उन्होंने एक घोषणा की जिसमें उन्होंने बतलाया कि बृटिश सरकार का ध्येय जैसा कि १९१७ की घोषणा में बतलाया गया था भारत में औपनिवेशिक स्वराज्य स्थापित करना है। वाइसराय ने अपनी घोषणा में यह भी बतलाया कि साइमन कमीशन की रिपोर्ट के प्रकाशित हो जाने के उपरान्त उस रिपोर्ट पर तथा अन्य समस्याओं पर विचार करने के लिये लन्दन में भारत के नेताओं तथा बृटिश सरकार के प्रतिनिधियों का एक गोलमेज सम्मेलन होगा। वाइसराय की इस घोषणा के २४ घंटे के भीतर ही भारत के बड़े-बड़े नेता दिल्ली में एकत्रित हो गये। भारतीय नेताओं ने इस आयोजना में बृटिश सरकार के साथ पूर्ण सहयोग करने का आश्वासन दिया।

चतुर्थ-काल (१९३०-४७)—जैसा पहिले बतलाया जा चुका है कांग्रेस के इतिहास का प्रत्येक काल अपनी अलग अलग विशेषतायें रखता है। इस चतुर्थ-काल की

भी अपनी अलग विशेषतायें हैं। इस काल में प्रथम बार कांग्रेस ने "पूर्ण स्वतन्त्रता" अपना लक्ष्य निर्धारित किया। इसकी विस्तृत विवेचना नीचे की जायगी।

इस पूर्ण स्वतन्त्रता की प्राप्ति के लिये अहिंसात्मक सविनय अवज्ञा आन्दोलन, सत्याग्रह आदि साधन बनाया गया। इस काल में आवश्यकता तथा परिस्थिति के अनुसार सहयोग तथा असहयोग दोनों प्रकार की नीति का अनुसरण किया गया।

भारत की वैधानिक समस्या के सुलझाने का भी इस काल में भगीरथ प्रयास किया गया। इसी काल में लन्दन में तीन बार गोल-मेज की सभायें की गईं जिनके उपरान्त १६३५ का संविधान पास किया गया। इस विधान को वृटिश सरकार तथा भारत के विभिन्न दलों ने सहयोग करके सफल बनाने का प्रयत्न किया। द्वितीय महासमर के आरम्भ हो जाने के कारण फिर कांग्रेस तथा सरकार में भीषण संघर्ष आरम्भ हो गया। इस संघर्ष ने अनेक रूप धारण किया। अन्त में फिर समझौते का प्रयत्न आरम्भ किया गया। वृटिश सरकार ने भारतीयों की राजनैतिक एवं वैधानिक समस्या के सुलझाने का अथक प्रयास किया। कांग्रेस तथा लीग में निरन्तर मत-भेद बना रहा। अन्त में पूर्ण स्वतन्त्रता तो देश को प्राप्त हुई परन्तु देश खंडित हो गया।

पूर्ण स्वतन्त्रता—१६१६ के आगे के काल को पूर्ण स्वाधीनता का काल कहते हैं। सरकार ने सर्व दल सम्मेलन कमेटी की योजना को स्वीकार नहीं किया। अतएव १६२६ के लाहौर के अधिवेशन में पं० जवाहरलाल नेहरू के सभापतित्व में पहिले प्रस्ताव को रद्द करके जिसके द्वारा औपनिवेशिक स्वराज काँग्रेस का लक्ष्य निर्धारित किया गया था पूर्ण स्वतन्त्रता काँग्रेस का लक्ष्य निश्चित किया गया। तब से अन्त तक पूर्ण स्वतन्त्रता ही काँग्रेस का लक्ष्य बना रहा और उसी की पूर्ति का सतत प्रयास किया गया।

सविनय अवज्ञा आन्दोलन—पूर्ण स्वतन्त्रता प्राप्त करने के लिये सविनय अवज्ञा आन्दोलन को साधन बनाने का निश्चय किया गया। इस प्रकार दूसरी बार राष्ट्रीय आन्दोलन को अदम्य उत्साह तथा साहस के साथ आरम्भ करने का निश्चय किया गया। इस आन्दोलन को पूर्ण-रूप से अहिंसात्मक बनाने तथा गांधी जी के नेतृत्व में चलाने का निश्चय किया गया। गाँधी जी ने इस बात को भी स्पष्ट कर दिया कि अब की बार तब तक सत्याग्रह आन्दोलन बन्द न होगा जब तक एक भी सत्याग्रही जीवित रहेगा। लाहौर अधिवेशन में यह भी निश्चय किया गया कि जो लोग कौंसिलों में गये हैं वे अपने स्थान से त्याग-पत्र दे दें क्योंकि केवल एक ही मोर्चे पर लड़ना अधिक उपयुक्त समझा गया। ३१ दिसम्बर को अर्द्ध-रात्रि में रावी नदी के तट पर पं० जवाहर लाल नेहरू ने स्वतन्त्रता का झंडा फहराया। २६ जनवरी १६३० को स्वतंत्रता दिवस मनाया गया और सभी नगरों तथा गावों में सभायें करके स्वतन्त्र होने की प्रतिज्ञा की गई। तब से हम निरन्तर २६ जनवरी को स्वतन्त्रता दिवस मनाते चले आये हैं और यह हमारे देश के इतिहास में उतना ही चिरस्मरणीय रहेगा जितना १५ अगस्त। लाहौर अधिवेशन के निर्णय के अनुसार कौंसिल के सदस्यों ने अपना त्याग-पत्र दे दिया। अब गान्धी जी ने नमक-नियम के भङ्ग करने का निश्चय किया। १२ मार्च १६३० को साबरमती आश्रम के ७६ सत्याग्रहियों के साथ गांधी जी की डंडी यात्रा आरम्भ हुई। डंडी तक पैदल यात्रा करके ६ अप्रैल को गाधी ने समुद्र तट पर नमक बना कर नमक नियम को भङ्ग किया। अन्य स्थानों में भी नमक-नियम को भङ्ग किया गया। जहाँ पर नमक नियम के भङ्ग करने का अवसर न मिला वहाँ पर अन्य नियमों को भंग किया गया। कलकत्ते में सेडिशस ला को तथा मध्य-प्रान्त में जङ्गल के नियम को भंग किया गया। विदेशी

वस्त्रों तथा ब्रिटिश माल का बहिष्कार किया गया। मद्य की दुकानों पर पिकेटिंग की गई। गाँधी जी ने स्त्रियों को भी आन्दोलन में भाग लेने की आज्ञा दे दी और कपड़ों तथा मादक द्रव्यों की दूकानों पर पिकेटिंग करने की उन्हें परामर्श दी गई। कुलीन तथा प्रतिष्ठित घरों की स्त्रियों ने भी इसमें भाग लिया और अत्यन्त श्लाघनीय कार्य किया।

पहिले तो सरकार ने सविनय अवज्ञा आन्दोलन के महत्व को नहीं समझा और उसकी ओर विशेष ध्यान नहीं दिया परंतु जब आन्दोलन की अग्नि देश के कोने-कोने में प्रज्वलित हो उठी तब सरकार ने स्थिति की गम्भीरता का अनुभव किया और आन्दोलन के दमन के लिये कुठार-हस्त हो गई। स्थिति का सामना करने के लिये लगभग आधे दर्जन अध्यादेश वाइसराय लार्ड इरविन ने पास किये। सभी स्थानों में नेताओं तथा कार्यकर्त्ताओं को कारागार में बन्द करना आरम्भ किया। कांग्रेस गैर-क़ानूनी संस्था घोषित कर दी गई। सत्याग्रहियों को भारी जुर्माने तथा लम्बी सजायें दी जाने लगीं। अनुमानतः लगभग साठ सहस्र नर-नारी कारागारों में बन्द कर दिये गये। पुलिस ने लाठी का प्रहार तथा गोलियाँ चलाना आरम्भ किया जिसके फलस्वरूप सैकड़ों व्यक्तियों के प्राण गये। परन्तु सरकार का यह नृशंस दमन कुचक्र भारतीयों के उत्साह को दमन न कर सका। सरकार ने जितना ही अधिक आन्दोलन के दमन का प्रयास किया उतना ही अधिक वह गतिमान् होता गया। ज्यों ही किसी नेता को बन्दी बनाया जाता था त्यों ही उसका कोई न कोई उत्तराधिकारी उसके स्थान को ग्रहण कर लेता था और आन्दोलन का संचालन करता था। जब समाचारपत्रों पर प्रतिबन्ध लगा दिया गया तब हाथों हाथ पर्चे बाट कर सूचनायें दी जाने लगीं। प्रभात फेरियों तथा वानर सेनाओं की व्यवस्था की गई। स्त्रियों ने इस आन्दोलन में जो योग दिया वह सर्वथा श्लाघनीय तथा स्तुत्य है।

प्रथम गोलमेज सभा—इधर सरकार का दमन कुचक्र अत्यन्त द्रुतगति से चल रहा था और उधर लन्दन में प्रथम गोल मेज सभा का आयोजन भी किया जा रहा था। १२ नवम्बर १९३० को लन्दन में इसकी बैठक आरम्भ हो गई। कांग्रेस ने इस सम्मेलन में भाग नहीं लिया और सत्याग्रह आन्दोलन जोरों के साथ चलता रहा। इस सभा में यह स्वीकार कर लिया गया कि भारत के लिये संघीय व्यवस्था अत्यन्त हितकर सिद्ध होगी। प्रान्तों में पूर्ण उत्तरदायी सरकार और प्रान्तों में द्वैध शासन व्यवस्था के स्थापित करने का निश्चय किया गया परन्तु परिवर्तन काल में संरक्षण की भी पूर्ण व्यवस्था रखने का आयोजन किया गया। १९ जनवरी १९३१ को प्रथम गोलमेज सभा की बैठक समाप्त हो गई।

गाँधी-इरविन समझौता—कांग्रेस हमारे देश की सदैव सबसे बड़ी राजनैतिक संस्था रही है। अतएव उसकी उपेक्षा करना सम्भव न था। ब्रिटिश राजनीतिज्ञों ने भी इस तथ्य का अनुभव किया। फलतः लार्ड इरविन ने कांग्रेस के साथ समझौता करने का प्रयास आरम्भ किया। उन्होंने कांग्रेस कार्यकारिणी पर लगाये गये प्रतिबन्ध को हटा दिया और उसके सदस्यों को बन्दीगृह से मुक्त कर देने की आज्ञा दे दी। फलतः २६ जनवरी को सभी कांग्रेसी नेता कारागार से मुक्त कर दिये गये। सर तेजबहादुर सप्रू, डा० जयकर तथा माननीय श्री निवास शास्त्री ने महात्मा गाँधी को इङ्गलैण्ड की मजदूर सरकार की सद्भावना का विश्वास दिलाने का श्लाघनीय प्रयास किया। फलतः महात्मा गान्धी तथा लार्ड इरविन में समझौते की बात-चीत आरम्भ हो गई। यह वार्ता बहुत दिनों तक चलती रही। अन्त में ५ मार्च १९३१ को समझौता हो गया। इस समझौते के अनुसार गान्धी जी सत्याग्रह आन्दोलन के स्थगित कर देने तथा द्वितीय गोलमेज सभा में भाग

के लिये उद्यत हो गये। लार्ड इर्विन सत्याग्रह के समय बन्दी बनाये गये सभी राजनैतिक बन्दियों को बन्दीगृह से मुक्त करने, जो अपहृत सम्पत्ति नीलाम नहीं हो चुकी थी उसके लौटा देने, सभी अध्यादेशों को वापस ले लेने, समुद्र-तट वासियों को बिना चुङ्गी दिये नमक बनाने तथा मादक द्रव्यों और विदेशी वस्त्रों की दूकानों पर शान्तिपूर्वक पिकेटिङ्ग करने की आज्ञा दे दी। इस समझौते से कुछ लोगों को बड़ी निराशा हुई परन्तु अधिकांश लोगों को इससे प्रसन्नता ही हुई। महात्मा गांधी के अथक प्रयास करने पर भी सरदार भगत सिंह को फांसी पर लटकने तथा उनके साथियों को आजीवन कारागार के दण्ड से बचा न सके। परन्तु अनियमित काल तक सत्याग्रह आन्दोलन का चलाना भी सम्भव न था। इसके अतिरिक्त इस समझौते से कांग्रेस को अपने किसी सिद्धान्त की भी हत्या नहीं करनी पड़ी। अतएव समझौते को कांग्रेस की विजय ही समझना चाहिये। सत्याग्रह के काल में जो त्याग किया गया और जिन कष्टों तथा कठिनाइयों का अदम्य उत्साह से से सामना किया गया उससे कांग्रेस की प्रतिष्ठा में बड़ी वृद्धि हो गई।

द्वितीय गोलमेज सभा—गान्धी इर्विन समझौते के अनुसार गान्धी जी कांग्रेस के एक मात्र प्रतिनिधि के रूप में द्वितीय गोलमेज़ सभा में भाग लेने के लिये २९ अगस्त १९३१ को इंगलैण्ड के लिये प्रस्थान कर दिया। गोलमेज की बैठक ७ सितम्बर को आरम्भ हुई। गांधी जी पांच दिन बाद १२ सितम्बर को लंदन पहुँचे। गान्धी जी ने गोल-मेज सभा में भाग तो लिया परन्तु परिस्थिति अनुकूल न थी। इङ्गलैण्ड में राष्ट्रीय आर्थिक सङ्कट के कारण सरकार में परिवर्तन हो गया था। यद्यपि मज़दूर दल के नेता रामजेमैकडोनल्ड प्रधान-मंत्री के पद पर आसीन थे परन्तु मंत्रिमण्डल में अनुदार दल वालों का पूर्ण प्राबल्य था। अतएव इस अनुदार मन्त्रिमण्डल से कोई आशा करना दुराशा ही थी। अक्टूबर में इङ्गलैंड में आम-चुनाव हुआ जिसके फल-स्वरूप लोक सभा में अनुदार दल वालों का बहुमत हो गया। इससे जो कुछ आशा थी वह भी समाप्त हो गई। द्वितीय गोलमेज सभा भारत तथा इङ्गलैंड के झगड़े को समाप्त करने तथा भारत की वैधानिक समस्या को सुलझाने के लिये की गई थी परन्तु दुर्भाग्यवश साम्प्रदायिक समस्या को प्राधान्य प्राप्त हो गया और पग-पग पर इसने कठिनाई उत्पन्न करना आरम्भ किया। इस प्रकार वैधानिक समस्या पृष्ठ-भाग में चली गई और साम्प्रदायिक समस्या अग्र-भाग में आ गई। साम्प्रदायिक समस्या के सुलझाने का महात्मा गांधी ने भागीरथ प्रयास किया परन्तु उनके सभी प्रयत्न निष्फल सिद्ध हुये। फलतः द्वितीय गोलमेज सभा पूर्णतया असफल सिद्ध हुई और पहिली दिसम्बर १९३१ को इसकी बैठक समाप्त कर दी गई।

आन्दोलन का पुनर्संचालन—गाँधी जी की अनुपस्थिति में भारतीय राजनीति का वातावरण अत्यन्त विषाक्त हो गया था। लार्ड इर्विन के स्थान पर लार्ड विलिंगडन वाइसराय के पद पर आसीन थे जो काँग्रेस को दमन करने के लिये कटिबद्ध थे। अतएव जब २८ दिसम्बर १९३१ को महात्मा जी बम्बई में जहाज से उतरे तब उन्हें ज्ञात हुआ कि सरकार का दमन-कुचक्र आरम्भ हो चुका है। उत्तर-प्रदेश, बंगाल तथा उत्तरी पश्चिमी सीमा-प्रान्त में सरकार बड़ी कठोरता के साथ अपना दमन-कुचक्र चला रही थी। बंगाल में सरकारी अफसरों के अत्याचार के कारण क्रान्तिकारी लोग क्रियाशील हो रहे थे। सरकार अध्यादेश जारी कर इनका दमन कर रही थी। उत्तर-पश्चिमी सीमा प्रान्त में एक अध्यादेश निकाल कर लाल कुर्ती वालों की गैर-कानूनी संस्था घोषित कर दिया गया। और उनके नेता खान अब्दुल गफ्फार खाँ तथा उनके भाई डा० खान को बन्दी बना लिया गया। उत्तर-प्रदेश में भी "लगान-मत दो" आन्दोलन को दबाने के लिये अध्यादेश

निकाल दिया गया था। इतना ही नहीं जब पं० जवाहरलाल नेहरू तथा श्री शेरवानी गांधी जी से मिलने जा रहे थे तब उन्हें मार्ग ही में बन्दी बना लिया गया। देश की इस गम्भीर परिस्थिति में गांधी जी ने वाइसराय से बात-चीत करने की इच्छा प्रकट की और इस आशय का उनके पास एक तार भी भेज दिया परन्तु वाइसराय ने गांधी जी से बात-चीत करने से इन्कार कर दिया। फलतः सविनय अवज्ञा आन्दोलन की तैयारी आरम्भ हो गई। सरकार भी इसका सामना करने के लिये पूर्ण रूप से सन्नद्ध थी। आन्दोलन आरम्भ होने के पूर्व ही महात्मा गांधी तथा कांग्रेस कार्य-कारिणी-समिति के सभी सदस्य बन्दी बना लिये गये। अन्य कांग्रेसी नेता भी अविलम्ब क़ैद कर लिये गये। एक सप्ताह के भीतर प्रायः सभी कांग्रेसी कार्य-कर्ता कारागारों में बन्द कर दिये गये। कांग्रेस तथा उससे सम्बन्धित संस्थायें ग़ैर-सरकारी घोषित कर दी गईं। उनका धन तथा उनकी सम्पत्ति छीन ली गई और किसी भी रूप में उनकी सहायता करने का निषेध कर दिया गया। कांग्रेस कार्यकर्ताओं को शरण प्रदान करना भी अपराध माना गया। सभा करने अथवा समारोह निकालने का निषेध कर दिया गया और राष्ट्रीय समाचार पत्रों की वाणी बन्द कर दी गई। काँग्रेस की सहायता करने वालों अथवा उनके साथ सहानुभूति दिखलाने वालों पर कड़े जुर्माने किये गये। इस प्रकार सरकार ने कांग्रेस के दमन करने में अपनी सम्पूर्ण शक्ति तथा सभी प्रकार के साधनों का प्रयोग किया और सम्पूर्ण देश में सैनिक शासन का आतंक छा गया। इस भयानक दमन-कुचक्र के चलने पर भी आठ महीने तक आन्दोलन अदम्य उत्साह तथा साहस के साथ चलता रहा और काँग्रेस का अधिवेशन सरकार के रोकने पर भी दिल्ली ही में किया गया। दूसरा अधिवेशन कलकत्ता में किया गया। आन्दोलन बहुत दिनों तक चलता रहा। कालान्तर में उसमें शिथिलता अवश्य आ गई परन्तु देश की आत्मा पर विदेशी शासक विजय न प्राप्त कर सके।

साम्प्रदायिक निर्णय तथा पूना पैक्ट—यह पहिले बतलाया जा चुका है कि साम्प्रदायिक समस्या के न सुलझने के कारण ही द्वितीय गोलमेज सभा असफल सिद्ध हुई थी। जब भारतीय नेता इस समस्या को न सुलझा सके तब इसका निर्णय बृटेन के प्रधान-मंत्री पर छोड़ दिया गया। १६ अगस्त १९३२ को प्रधान मंत्री ने साम्प्रदायिक निर्णय की घोषणा की। इसके अनुसार हिन्दुओं, मुसलमानों, अछूतों, सिक्खों, भारतीय ईसाइयों तथा अँग्रेजों को अपने-अपने अलग प्रतिनिधि निर्वाचित करके भेजने का अधिकार दे दिया गया। इस प्रकार अछूतों को हिन्दुओं से अलग कर दिया गया। गांधी जी के लिये यह व्यवस्था असह्य थी। अतएव २० सितम्बर १९३२ को इस व्यवस्था के बदलने के लिये गांधी जी ने आमरण अनशन आरम्भ कर दिया। अन्त में हिन्दुओं तथा दलित जातियों में समझौता हो गया, जिसे "पूना पैक्ट" कहते हैं। फलतः २५ सितम्बर को गांधी जी ने अपना अनशन समाप्त कर दिया। इस समझौते द्वारा दलित जाति हिन्दू जाति की एक अभिन्न अंग मान ली गई और अछूतों को पहिले से अधिक सुविधायें दे दी गईं। बृटिश सरकार ने भी इस समझौते को स्वीकार कर लिया।

सत्याग्रह की प्रगति—अपने अनशन के उपरान्त गांधी जी ने अछूतोद्धार के कार्य के करने का निश्चय किया। गांधी जी के इस निश्चय से सत्याग्रह आन्दोलन में बड़ी शिथिलता आ गई। अनेक कार्य-कर्ता सत्याग्रह आन्दोलन से विमुख होकर अछूतोद्धार के कार्य में संलग्न हो गये। ऐसी स्थिति में सत्याग्रह आन्दोलन मंद-गति से चलता रहा। इसे निष्प्राण होने से बचाने के लिये २६ जनवरी को स्वतन्त्रता दिवस मनाया गया और कलकत्ते में कांग्रेस का वार्षिक अधिवेशन भी किया गया। सरकार का दमन-

कुचक्र पूर्ववत चलता रहा। अपने तथा अपने साथियों की आत्मशुद्धि के लिये ८ मई १९३३ को गाँधी जी ने तीन सप्ताह का अनशन आरम्भ किया। जिस दिन से अनशन आरम्भ हुआ उसी दिन गाँधी जी कारागार से मुक्त कर दिये गये। गाँधी जी ने ६ सप्ताह के लिये सत्याग्रह बंद कर दिया। उन्होंने सरकार से दमनकारी अध्यादेशों के हटा लेने तथा राजनैतिक कैदियों को छोड़ देने के लिये अनुरोध किया परन्तु सरकार ने ऐसा करने से इन्कार कर दिया। २४ जुलाई १९३३ को गांधी जी ने सामूहिक सत्याग्रह के बंद कर देने का निश्चय किया। फलत उन्होंने साबरमती के तट पर स्थापित किये सत्याग्रह आश्रम को समाप्त कर दिया। अब उन्होंने व्यक्तिगत सत्याग्रह के आरम्भ करने का निश्चय किया। इस पर गांधी जी फिर बन्दी बना लिये गये और एक वर्ष के लिये फिर यरवदा जेल में बंद कर दिये गये। गाँधी जी ने फिर अनशन करने का निश्चय किया और वे फिर जेल से मुक्त कर दिये गये। अब गांधी जी अपनी पूरी शक्ति के साथ अछूतोंद्धार के कार्य में संलग्न हो गये। गांधी जी के इस निश्चय से व्यक्तिगत सत्याग्रह निष्प्राण हो गया। थोड़े ही दिन बाद गांधी जी ने व्यक्तिगत सत्याग्रह के भी बंद कर देने का आदेश दे दिया। इस प्रकार लार्ड विलिंगडन की सरकार की विजय और कांग्रेस की बहुत बड़ी पराजय हुई।

स्वराज पार्टी का पुनरुत्थान—देश की परिस्थिति पर विचार करके बहुत से नेता कौंसिलों में पुनः प्रवेश करने की आवश्यकता का अनुभव करने लगे। फलतः १९३४ के आरम्भ में ही पूना में स्वराज पार्टी का एक सम्मेलन किया गया। मार्च के महीने में दिल्ली में एक दूसरा सम्मेलन किया गया जिसमें स्वराज पार्टी के पुनरुद्धार तथा कौंसिलों के चुनाव में भाग लेने का निश्चय किया गया। अगले महीने में राँची में एक दूसरा सम्मेलन हुआ जिसमें दिल्ली के निर्णय का अनुमोदन किया गया। मई १९३४ में तीन वर्ष उपरान्त अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी की बैठक हुई जिसमें व्यक्तिगत सत्याग्रह के बन्द कर देने और काँग्रेसी लोगों को कौंसिलों में प्रवेश करने की आज्ञा देने का निश्चय किया गया। स्वराज पार्टी को कार्य करने की आज्ञा देने के स्थान पर कॉंग्रेस ने स्वयं चुनाव लड़ने का निश्चय किया और केन्द्रीय असेम्बली का चुनाव लड़ने के लिये तथा उम्मेदवार खड़ा करने के लिये एक पार्लियामेंट्री बोर्ड बना दिया गया।

असेम्बली का चुनाव—नवम्बर १९३४ में केन्द्रीय लेजिस्लेटिव असेम्बली का चुनाव हुआ। काँग्रेस ने सभी स्थानों के लिये अपने उम्मेदवार खड़े किये और उसे आशातीत सफलता प्राप्त हुई। पंजाब को छोड़ कर शेष सभी प्रान्तों में उसे पूर्ण सफलता प्राप्त हुई। वास्तव में यह चुनाव काँग्रेस तथा सरकार का संघर्ष था। इस संघर्ष में काँग्रेस को पूर्ण सफलता प्राप्त हुई। इस चुनाव ने लार्ड विलिंगडन की विफलता तथा कॉंग्रेस की सफलता को चरितार्थ कर दिया। असेम्बली में काँग्रेस ने अन्य प्रगतिशील दल वालों की सहायता से सरकार को कई बार परास्त किया।

समाजवादी दल का जन्म—इसी समय काँग्रेस में एक नये दल का जन्म हुआ जिसका नाम काँग्रेस समाजवादी दल रक्खा गया। इस दल का पहिला अधिवेशन १७ मई १९३४ को पटना में हुआ। इस दल का उद्देश्य था कि देश का शासन-सूत्र किसानों तथा मजदूरों के हाथ में लाया जाय और राजाओं तथा जमींदारों को हटाया जाय और प्रधान व्यवसायों का राष्ट्रीयकरण किया जाय। यह लोग कौंसिलों में जाने के विरोधी थे। यह लोग किसानों तथा मजदूरों में जागृति उत्पन्न करना चाहते थे और उन्हें अपने अधिकार की प्राप्ति के लिये संगठित करना चाहते थे।

तृतीय गोलमेज सभा—सरकार दमन-कुचक्र चलाने के साथ-साथ वैधानिक समस्या के भी सुलझाने का भी प्रयत्न कर रही थी। १७ नवम्बर से २४ दिसम्बर १९३२ तक

लन्दन में तीसरी गोलमेज की सभा की गई। चूँकि कांग्रेस तथा सरकार में भीषण संघर्ष चल रहा था। अतएव कांग्रेस का इस सम्मेलन में भाग लेने का प्रश्न ही नहीं उठता। इस सम्मेलन में तीन प्रमुख वैधानिक समस्याओं पर विचार किया गया अर्थात् संरक्षण, वह शर्तें जिन पर देशी राज्य संघ में सम्मिलत होते तथा अवशिष्ट शक्तियों की व्यवस्था। इस सम्मेलन के उपरान्त बृटिश सरकार ने अपनी आयोजना को प्रकाशित किया। इससे भारतीयों को संतोष न हुआ परन्तु यह १९३५ में विधान के रूप में भारतीयों के सिर पर लाद दिया गया।

१९३५ का विधान—इस विधान की विधिवत विवेचना पिछले अध्याय में की जा चुकी है। यद्यपि इस विधान द्वारा प्रान्तों में पूर्ण उत्तरदायी तथा केन्द्र में आंशिक उत्तरदायी शासन की स्थापना कर दी गई थी परन्तु इण्डियन नेशनल कांग्रेस ने अपने फैज़पुर के अधिवेशन में इसकी घोर निन्दा की क्योंकि इसमें संरक्षता का ऐसा प्राबल्य था कि उत्तरदायी शासन की व्यवस्था निरर्थक हो सकती थी। गवर्नर-जनरल तथा प्रान्तीय गवर्नर शासन के प्रत्येक कोने में हस्तक्षेप कर सकते थे और मन्त्रियों की इच्छा के विरुद्ध कोई भी कार्य कर सकते थे। अतएव कांग्रेस ने इस विधान का विरोध किया।

१९३७ का आम-चुनाव—चूँकि अपेक्षित देशी राज्य संघ में सम्मिलित होने के लिये उद्यत नहीं हुये अतएव केन्द्रीय योजना कुछ काल के लिये स्थगित कर दी गई और प्रान्तीय व्यवस्थापिकाओं के लिये आम-चुनाव की घोषणा की गई। १९३७ के आरम्भ में चुनाव आरम्भ हुये। यद्यपि १९३५ के विधान पर कांग्रेस ने अपना घोर असन्तोष प्रकट किया था परन्तु चुनाव में भाग लेने का अब निश्चय किया गया। इस चुनाव में कांग्रेस को आशातीत सफलता प्राप्त हुई। उत्तर-प्रदेश, उड़ीसा, बिहार, मध्य प्रान्त, मद्रास तथा बम्बई में कांग्रेस को पूर्ण बहुमत प्राप्त हुआ। आसाम, बंगाल तथा उत्तरी-पच्छिमी सीमा प्रान्त में यद्यपि कांग्रेस का बहुमत था परन्तु पूर्ण बहुमत न था। पंजाब तथा सिन्ध में कांग्रेस को विशेष सफलता न मिली। मुस्लिम लीग को इस चुनाव में श्लाघनीय सफलता न प्राप्त हो सकी। कांग्रेस ने १९३५ के विधान को सफल बनाने के लिये नहीं वरन् उसका विरोध करने के लिये चुनाव में भाग लिया था।

पद-ग्रहण की समस्या—पद-ग्रहण के प्रश्न पर कांग्रेस में बड़ा मत-भेद था। इसका विस्तृत वर्णन पिछले अध्याय में किया जा चुका है। महात्मा गांधी तथा वाइसराय लार्ड लिनलिथगो के प्रयास के फल-स्वरूप कांग्रेस ने पद-ग्रहण करने का निश्चय किया। वाइसराय ने गांधी जी को यह आश्वासन दिया कि गवर्नर लोग कम से कम अपने विशेषाधिकारों का प्रयोग करेंगे। फलतः जिन प्रान्तों में कांग्रेस का बहुमत था वहां पर कांग्रेसी मन्त्रिमण्डल बन गये। इस प्रकार कांग्रेस ने असहयोग की नीति को त्याग कर सहयोग की नीति को ग्रहण किया। इसमें कांग्रेस का दो ध्येय था। प्रथम तो कांग्रेस अपने रचनात्मक कार्य सुचारु रीति से कर सकेगी क्योंकि उसे राज्य के प्रचुर साधन प्राप्त हो जायेंगे और दूसरे १९३५ के विधान का भीतर से सामना किया जायगा। लीग के साथ संयुक्त मन्त्रिमण्डल के बनाने का कोई प्रयत्न न किया गया। इससे कांग्रेस तथा लीग में वैमनस्य बढ़ता ही गया।

कांग्रेसी मन्त्रिमंडल के कार्य—जुलाई १९३७ में कांग्रेस ने उन प्रान्तों में मन्त्रिमण्डल बना कर पद-ग्रहण कर लिया जिनमें कांग्रेस का पूर्ण बहुमत था। कुछ ही महीने बाद उत्तरी-पच्छिमी सीमा प्रान्त में भी कांग्रेसी मन्त्रिमण्डल बन गया। कांग्रेसी मन्त्री लगभग २८ महीने तक अपने पदों पर रहे। इस काल में कांग्रेसी सरकार ने अत्यन्त श्लाघनीय कार्य किये और गवर्नरों तथा मन्त्रियों ने प्रान्तीय स्वतन्त्रता को सफलता बनाने का यथाशक्ति प्रयास किया। एकाध बार उत्तर-प्रदेश तथा बिहार में राजनैतिक कैदियों को

मुक्त करने के प्रश्न पर गवर्नरों तथा मन्त्रियों में मत-भेद अवश्य हुआ और मन्त्रियों ने अपना त्याग-पत्र दे दिया परन्तु गवर्नर-जनरल की मध्यस्था से समस्या सुलझ गई और मन्त्रियों ने अपना त्याग-पत्र वापस ले लिया। इसी प्रकार उड़ीसा में भी सङ्कट उपस्थित हो गया परन्तु स्थिति संभाल ली गई। इन थोड़े सी आपत्तियों के अतिरिक्त अन्य किसी प्रकार का संघर्ष मन्त्रियों तथा गवर्नरों में नहीं हुआ। गवर्नरों ने अपने विशेषाधिकारों के प्रयोग करने का प्रयत्न नहीं किया और न मन्त्रियों ने कोई अड़ंगा लगाया। मन्त्रियों ने लोकहित के ऐसे श्लाघनीय कार्य किये कि इङ्गलैण्ड में भी उनके कार्यों की भूरि-भूरि प्रशंसा की गई। यहां पर एक बात ध्यान देने की यह है कि जिन प्रान्तों में अन्य दलों का मन्त्रिमण्डल था वहां पर शासन कार्य उतनी उत्तमता से नहीं चला जितनी उत्तमता से कांग्रेसी सरकार वाले प्रान्तों में। वहां पर पुरानी ही व्यवस्था के अनुसार शासन चलता रहा।

द्वितीय महासमर तथा कॉंग्रेसी मंत्रियों का त्याग पत्र—सितम्बर १९३९ में द्वितीय महासमर आरम्भ हो गया। बृटिश सरकार भारत को भी इस संग्राम में घसीटने के लिये सन्नद्ध थी। यद्यपि कांग्रेस इस सङ्कटकाल में बृटिश सरकार को तङ्ग नहीं करना चाहती थी परन्तु इतना अवश्य जानना चाहती थी कि युद्ध किस लिये लड़ा जा रहा है? यदि युद्ध साम्राज्यवाद के लिये लड़ा जा रहा है तो भारत इसमें किसी भी प्रकार का योग देने के लिये उद्यत नहीं है और यदि यह युद्ध स्वतंत्रता तथा लोकतंत्र की रक्षा के लिये लड़ा जा रहा है तो पहिले भारत को स्वतंत्र कर दिया जाय। अब की बार कांग्रेस भविष्य में स्वातंत्र्य करने के बचन पाकर संतुष्ट होने के लिये उद्यत न थी। वह चाहती थी कि अपनी सद्भावना तथा सत्यता का परिचय देने के लिये केन्द्र में अविलंब राष्ट्रीय सरकार का निर्माण हो जाना चाहिये। दुर्भाग्यवश बृटिश सरकार इस बात को स्पष्ट रूप से न बतला सकी कि युद्ध किस लक्ष्य से लड़ा जा रहा है। बृटिश प्रधान-मंत्री ने केवल इतना ही कहा कि युद्ध आत्म-रक्षा के लिये लड़ा जा रहा है। सरकार केन्द्र में राष्ट्रीय सरकार के निर्माण के लिये भी उद्यत न थी। इसके अतिरिक्त १९३५ के विधान० में इस प्रकार के परिवर्तन किये गये कि प्रान्तीय मंत्रियों की स्थिति बड़ी ही डावाडोल हो गई। अब वे किसी प्रकार का विरोध नहीं कर सकते थे। ऐसी स्थिति में पद पर रहना निरर्थक था। फलतः आठ प्रान्त में जहाँ कॉंग्रेसी मंत्रिमण्डल थे मंत्रियों ने त्याग-पत्र दे दिया। इसके बाद इन प्रान्तों में गवर्नर का शासन स्थापित हो गया और गवर्नर लोग अपने परामर्शदाता नियुक्त कर प्रान्त का शासन चलाने लगे। अब कांग्रेस सविनय अवज्ञा आन्दोलन की तैयारी में संलग्न हो गई।

पूना प्रस्ताव—यद्यपि कांग्रेस ने सविनय अवज्ञा आन्दोलन के आरम्भ करने का निश्चय कर लिया था परन्तु आन्दोलन अभी आरम्भ नहीं किया गया था। इधर युद्ध की दशा दिन प्रतिदिन बिगड़ती जा रही थी और धुरी राष्ट्रों की विजय होती जा रही थी। ७ जुलाई १९४० को स्थिति पर विचार करने के लिये पूना में कॉंग्रेस कार्य-कारणी समिति की बैठक हुई। इस बैठक में एक प्रस्ताव पास कर इस शर्त पर बृटिश सरकार को सहायता करने का निश्चय किया गया कि युद्ध के उपरान्त बृटिश सरकार भारत को पूर्ण रूप से स्वतन्त्र कर दे और केन्द्र में सर्वदलीय राष्ट्रीय सरकार की स्थापना कर दे जो केन्द्रीय धारा-सभा के प्रति उत्तरदायी हो।

वाइसराय की अगस्त की घोषणा—कांग्रेस के प्रस्ताव के उत्तर में ८ अगस्त १९४० को वाइसराय ने एक घोषणा की। इस घोषणा में औपनिवेशिक स्वराज्य देने को फिर से आश्वासन दिया गया। इसके अतिरिक्त इसमें यह भी बतलाया गया कि सम्राट् की सरकार ने इस बात की स्वीकृति दे दी है कि युद्ध समाप्त हो जाने पर शीघ्रतातिशीघ्र

नये संविधान के निर्माण के लिये राष्ट्रीय जीवन के प्रमुख तत्वों के प्रतिनिधियों को एक संस्था बनाई जाय। इस प्रकार युद्ध के समाप्त हो जाने पर औपनिवेशिक स्वराज्य के आधार पर उत्तरदायी सरकार के स्थापित करने का वचन दिया गया। दूसरी बात ध्यान देने की यह है कि इस घोषणा द्वारा प्रथम बार भारतीयों को अपना संविधान निर्मित करने के अधिकार को स्वीकार किया गया। इसके पूर्व यह अधिकार केवल बृटिश पार्लियामेण्ट को ही प्राप्त था। वाइसराय की अगस्त की घोषणा में दो और बातें कहीं गई थीं जो अत्यन्त निराशाजनक थीं। पहिली बात तो यह थी कि देश की रक्षा देशी राजाओं के साथ की गई सन्धियों तथा सरकारी कर्मचारियों के सबंध में बृटिश सरकार के जो कर्तव्य हैं उन्हें वह पूरा करेगी। दूसरी बात यह थी कि अल्पसंख्यकों के हितों की रक्षा की जायगी। वाइसराय ने अपने वक्तव्य में यह भी कहा था कि वे अपने वर्तमान उत्तर-दायित्व को किसी ऐसी सरकार को हस्तांतरित नहीं करेंगे जिसके प्रभुत्व को भारत के राष्ट्रीय जीवन का एक बहुत बड़ा तत्व मानने के लिये उद्यत न हो और न वे उस तत्व को उस सरकार के प्रभुत्व को मानने के लिये विवश करेंगे। इस प्रकार वाइसराय की इस घोषणा से मुस्लिम लीग को बड़ा प्रोत्साहन मिला। और उसकी पाकिस्तान की मांग और बलवती हो गई। वाइसराय ने अपनी घोषणा में यह भी कहा कि केन्द्रीय कार्यकारिणी में कुछ भारतीयों को सम्मिलित करके उसके आकार में वृद्धि कर दी जायगी। इसके अतिरिक्त एक युद्ध परामर्शदात्री समिति की भी स्थापना की जायगी। कांग्रेस कार्य समिति की बैठक १८ से २२ अगस्त तक वार्धा में हुई। उसने वाइसराय के प्रस्ताव को अस्वीकार कर दिया।

व्यक्तिगत सत्याग्रह—कांग्रेस तथा सरकार में कोई समझौता न होने के कारण दोनों में संघर्ष अवश्यम्भावी हो गया परन्तु गांधी जी सङ्कटापन्न स्थिति में सरकार को तंग करना नहीं चाहते थे। वह उस पर केवल नैतिक दबाव डालना चाहते थे और संसार की ओर आकृष्ट करना चाहते थे कि बृटिश सरकार भारतीयों की स्वतन्त्रता की मांग को ठुकरा रही है जिसका उसे अधिकार है। अतएव व्यक्तिगत सत्याग्रह आरम्भ करने का निश्चय किया गया। इसका यह तात्पर्य था कि महात्मा जी द्वारा चुने हुये व्यक्ति सत्याग्रह करेंगे। प्रथम व्यक्ति जिन्हें गांधी जी ने इस कार्य के लिये चुना विनोबा भावे थे। भावे जी ने सरकारी पदाधिकारियों को यह सूचना दी कि वे एक सभा में भाषण देंगे और जनता से अनुरोध करेंगे कि वह युद्ध में सरकार की सहायता न करें। कुछ भाषण देने के उपरान्त सरकार ने उन्हें कैद करके कारागार में भेज दिया। अन्य सत्याग्रहियों को तो बिना भाषण दिये ही बन्दी बना लिया गया। कांग्रेस कार्य-समिति के सदस्य तथा भूतपूर्व मन्त्री सत्याग्राही चुने गये और कारागार में बन्द हो गये। धीरे-धीरे सत्याग्रहियों का क्षेत्र फैलता गया। अनुमानतः लगभग तीस सहस्र सत्याग्रही कारागार में बन्द कर दिये गये। सरकार सत्याग्रहियों को कारागार में भेज तो रही थी परन्तु साथ ही साथ भारतीयों को सन्तुष्ट करने में भी संलग्न थी। वाइसराय ने अपनी कार्यकारिणी समिति में पाँच भारतीय सदस्यों को सम्मिलित कर लिया परन्तु अधिक महत्वपूर्ण विभाग अंग्रेज सदस्यों के ही नियन्त्रण में रक्खे गये। इसके अतिरिक्त एक युद्ध परामर्शदात्री समिति भी स्थापित की गई। इस समय एक और आश्चर्यजनक घटना घटी। दिसम्बर के महीने में सरकार ने उन सभी बन्दियों के मुक्त कर देने की आज्ञा दे दी जो सत्याग्रह आन्दोलन के सम्बन्ध में कैद किये गये थे। सम्भवतः सरकार ने वाइसराय की कौंसिल के भारतीय सदस्यों के दबाव के कारण ही ऐसा किया था। गांधी जी सत्याग्रह आन्दोलन को स्थगित करने के लिये उद्यत न थे परन्तु ७ दिसम्बर १९४१ को जापान के महासमर में कूद पड़ने से स्थिति में बड़ा परिवर्तन हो गया।

जापान बड़ी द्रुतगति से भारत की ओर बढ़ रहा था। इस स्थिति में गाँधी जी ने सत्याग्रह आन्दोलन के स्थगित करने का निश्चय कर लिया और कांग्रेस के सदस्यों को जनता में शान्ति स्थापित रखने का कार्य सौंपा।

क्रिप्स योजना—जापानियों की आशातीत सफलता ने मित्रराष्ट्रों के दृष्टिकोण को बदल दिया और भारत की राजनैतिक समस्या को सुलझाने के लिये वे बृटिश सरकार पर दबाव डालने लगे। बृटिश पार्लियामेण्ट में भी भारत के सम्बन्ध में दिलचस्पी उत्पन्न हो गई और कुछ सदस्यों ने इस बात पर बल दिया कि भारत को औपनिवेशिक स्वराज देने में विलम्ब नहीं करना चाहिये। मार्शल तथा मैडम चियांग-काई-शेक ने भी जो फ़रवरी १९४२ में भारत आये थे जापान के विरुद्ध भारत की सहायता के प्राप्त करने पर बल दिया। संयुक्त राष्ट्र अमेरिका के राष्ट्रपति रूजवेल्ट ने भी बृटिश प्रधान-मन्त्री चर्चिल पर भारतीय समस्या के सुलझाने के लिये दबाव डाला और यह घोषणा की कि अटलांटिक चार्टर संसार के सभी देशों के लिये लागू है। आस्ट्रेलिया के विदेशी मन्त्री डा० एवाट ने भी भारत को स्वायत्त शासन प्रदान करने पर बल दिया। फलतः ११ मार्च १९४२ को इङ्गलैण्ड के प्रधानमन्त्री मि० चर्चिल ने यह घोषणा की कि युद्ध-मन्त्रिमण्डल ने यह निर्णय किया है कि कुछ प्रस्तावों के साथ मन्त्रिमण्डल का एक सदस्य भारत भेजा जायगा। इस कार्य के लिये सर स्टैफ़र्ड क्रिप्स को चुना गया। क्रिप्स योजना का विस्तृत वर्णन पिछले अध्याय में कर दिया गया है। इस योजना में युद्ध व्यवस्था की गई थी कि विधान सभा के लिये जो प्रतिनिधि देशी राज्यों से आयेंगे वे वहाँ के नरेशों द्वारा मनोनीत होंगे। कांग्रेस इस व्यवस्था को स्वीकार करने के लिये उद्यत न थी। वह चाहती थी कि देशी राज्यों के प्रतिनिधि वहाँ की प्रजा द्वारा निर्वाचित किये जायें। क्रिप्स की योजना में दूसरा दोष यह था कि प्रान्तों को भारत यूनियन से अलग होने का अधिकार दिया गया था। इस प्रकार लीग की पाकिस्तान की माँग को अप्रत्यक्ष रूप में स्वीकार कर लिया गया। बृटिश सरकार तत्काल शक्ति को हस्तान्तरित करने के लिये उद्यत न थी और सुरक्षा विभाग पर अपना पूर्ण नियन्त्रण रखना चाहती थी। कांग्रेस इसे स्वीकार करने के लिये उद्यत न थी। कांग्रेस की एक और माँग थी। वह चाहती थी कि वाइसराय की कौंसिल केन्द्रीय धारा-सभा के प्रति उत्तरदायी बना दी जाय और वाइसराय एक वैधानिक प्रधान की भाँति उसका प्रधान रहे। बृटिश सरकार इसके लिये उद्यत न थी। क्रिप्स योजना में एक और बात थी। उसमें कोई संशोधन नहीं हो सकता था। या तो पूरी योजना स्वीकार की जाती या अस्वीकार की जाती। फलतः न केवल कांग्रेस ने वरन् अन्य दल वालों ने भी योजना को अस्वीकार कर दिया।

भारत छोड़ो प्रस्ताव—क्रिप्स प्रस्ताव की विफलता के उपरान्त कांग्रेस की नीति में बहुत बड़ा परिवर्तन हो गया। अब हमारे देश के नेताओं तथा जनता को यह विश्वास हो गया कि बृटिश सरकार वास्तव में शक्ति को हस्तान्तरित करना नहीं चाहती। कांग्रेस लीग की पाकिस्तान की माँग को स्वीकार करने के लिये उद्यत न थी परन्तु श्री राजगोपालाचारी सरकार के विरुद्ध कांग्रेस तथा लीग का संयुक्त मोर्चा बनाने के लिये पाकिस्तान की माँग को स्वीकार कर लेने के पक्ष में थे। फलतः कांग्रेस से अलग होकर वे अपने मत का प्रचार करने लगे। इन्हीं परिस्थितियों में ७ तथा ८ अगस्त १९४२ को बम्बई में अखिल भारतीय कांग्रेस समिति का अधिवेशन हुआ। इस बैठक में प्रसिद्ध "भारत छोड़ो" प्रस्ताव पास किया गया। इस प्रस्ताव में यह बतलाया गया कि अविलम्ब भारत में विदेशी शासन का समाप्त होना आवश्यक है। स्वतन्त्र हो जाने पर भारत के लोग सभी दलों की एक संयुक्त सरकार का निर्माण करेंगे, वे विदेशी आक्रमणों से अपनी रक्षा स्वयं करेंगे और युद्ध में मित्र-राष्ट्रों का साथ देंगे। किन्तु यदि कांग्रेस

की यह माँग स्वीकार न की गई तो कांग्रेस गाँधी जी के नेतृत्व में फिर अहिंसात्मक आन्दोलन आरम्भ कर देगी। इस प्रकार सरकार तथा कांग्रेस में फिर भीषण संघर्ष आरम्भ हो गया।

१९४२ की चिनगारियाँ—सरकार अविलम्ब तथा अत्यन्त दृढ़तापूर्वक कार्य करने के लिये उद्यत थी। ९ अगस्त को महात्मा गाँधी तथा कांग्रेस कार्य-समिति के सदस्य बन्दी बना लिये गये और अज्ञात स्थानों को भेज दिये गये। इसके उपरान्त प्रान्तीय तथा स्थानीय नेताओं को बन्दी बनाना आरम्भ किया गया। जन-साधारण किंकर्तव्य-विमूढ़ से हो गये क्योंकि नेताओं से उन्हें किसी भी प्रकार का आदेश न प्राप्त था कि आन्दोलन किस प्रकार आरम्भ किया जाय। समारोह निकाले गये, सभायें की गई और हड़ताल मनाई गई परन्तु इन सबको बड़ी कठोरता के साथ सरकार ने दमन किया। जनता की प्रतिक्रिया ने भी अत्यन्त विकराल रूप धारण कर लिया। आन्दोलन पूर्ण रूप से हिंसात्मक हो गया। रेल की लाइनें उखाड़ी जाने लगी, तार काटे गये और सरकारी इमारतों को भस्मीभूत किया गया। बहुत से कारखानों में हड़तालें की गईं। इस अवसर पर कम्युनिस्टों ने बड़ी गद्दारी का काम किया। इन लोगों ने सरकार का साथ दिया और हड़तालों के रोकने का प्रयत्न किया। मि० जिन्ना की पाकिस्तान की माँग का भी इन लोगों ने अनुमोदन किया। सरकार का दमन-कुचक्र अत्यन्त भयङ्करता के साथ चल रहा था। आन्दोलन को दमन करने के लिये पुलिस तथा सेना दोनों की सहायता ली गई। लगभग एक सहस्र व्यक्तियों के प्राण गये और लगभग ९० लाख रुपया जुर्माने का वसूल किया गया। इस आन्दोलन में जनता को जितना कष्ट भोगना पड़ा उसका वर्णन करना असम्भव है।

गाँधी जी का अनशन—सरकार के अत्याचार के विरुद्ध तथा ईश्वर के समक्ष अपने निर्दोष होने का प्रमाण देने के लिये गाँधी जी ने २१ दिन का अनशन करने का निश्चय किया। यह अनशन १९ फरवरी १९४३ को आरम्भ हुआ। सम्पूर्ण देश में इस अनशन पर हलचल मच गई क्योंकि गांधी जी की अवस्था तथा उनका स्वास्थ्य इस प्रकार के अनशन के योग्य न था। सरकार से गांधी जी को कारागार से मुक्त कर देने का अनुरोध किया गया परन्तु सरकार ने इस पर बिल्कुल ध्यान न दिया। फलतः वाइसराय की कार्य-समिति के तीन सदस्यों ने त्याग-पत्र दे दिया।

भारतीय राष्ट्रीय सेना—इसी समय श्री सुभाष चन्द्र बोस ने जो भारत से गुप्त रूप से पलायन कर गये थे और यूरोपीय देशों में भ्रमण करने के उपरान्त जापान पहुँच गये थे मलाया में भारत राष्ट्रीय सेना (Indian National Army) का सङ्गठन किया। इस सेना के सङ्गठन करने का ध्येय अँग्रेज़ों को भारत से निकाल कर देश को स्वतन्त्र करना था। प्रारम्भ में इस सेना को कुछ सफलता प्राप्त हुई परन्तु बाद में इसे भी आत्म-समर्पण करना पड़ा। वायु-यान के भङ्ग हो जाने से नेता जी की मृत्यु हो गई। मई १९४४ में लार्ड वेवल ने गांधी को कारागार से मुक्त कर दिया।

सी. आर. फारमूला—कारागार से मुक्त होने के उपरान्त गांधी जी ने सरकार से समझौता करने का प्रयत्न किया परन्तु अपने प्रयास में वे असफल रहे। इसी समय चक्रवर्ती राजगोपालाचारी ने मुस्लिम लीग से समझौता करने का प्रयत्न आरम्भ किया। उन्होंने एक नये मार्ग की खोज की जिससे गांधी जी भी सहमत थे। इस सिद्धान्त द्वारा यह निश्चित किया गया कि मुस्लिम लीग भारत की स्वतन्त्रता की माँग का समर्थन करे और अस्थायी अन्तर्कालीन सरकार के निर्माण में काँग्रेस के साथ सहयोग करे। इसके बदले कांग्रेस इस बात के मानने के लिये उद्यत हो कि उत्तर-पश्चिम के जिन क्षेत्रों में मुसलमानों का बहुमत है उनमें वयस्क लोक-निर्णय से हिन्दुस्तान से अलग होने का

निर्णय किया जाय। यदि इस प्रकार का निर्णय हुआ तो सुरक्षा, यातायात तथा अन्य आवश्यक बातों के सम्बन्ध में पारस्परिक समझौता होगा। जन-संख्या का विनिमय स्वेच्छा से ही हो सकता है। यद्यपि गांधी जी ने राजगोपालाचारी के सिद्धान्त का अनुमोदन करके लीग की पाकिस्तान की योजना को स्वीकार कर लिया था परन्तु श्री मुहम्मद अली जिन्ना ने सी. आर. फ़ारमूला को स्वीकार नहीं किया।

वेवल योजना—१९४५ में द्वितीय महासमर का अवसान हो गया। इस युद्ध में मित्रराष्ट्रों को पूर्ण विजय प्राप्त हुई। इङ्गलैण्ड में आम-चुनाव की तैयारियां होने लगीं। वहां के मजदूर-दल ने भारत की राजनैतिक समस्या के सुलझाने पर जोर दिया। चर्चिल को इससे चिन्ता हुई और उन्होंने लार्ड वेवल को भारतीय समस्या के सुलझाने का आदेश दिया। फलतः एक योजना तैयार की गई जो वेवल योजना के नाम से प्रसिद्ध है। इस योजना के अनुसार वाइसराय की कार्य-समिति के राष्ट्रीयकरण का आयोजन किया गया जिसमें प्रधान-सेनापति के अतिरिक्त अन्य सभी सदस्य भारतीय होते। इसमें देश की सभी प्रमुख जातियों का प्रतिनिधित्व होता और सवर्ण हिन्दू तथा मुसलमान समान संख्या में रक्खे जाते। यह भी आश्वासन दिया गया कि साधारणतया वाइसराय कौंसिल के कार्यों में हस्तक्षेप नहीं करेगा और भारत-सचिव भी केवल भारत के हित में ही हस्तक्षेप करेगा ब्रिटेन के हित में नहीं। अपनी इस योजना पर विचार करने के लिये लार्ड वेवल ने भारत के विभिन्न राजनैतिक दलों के नेताओं को आमन्त्रित किया। २५ जून १९४५ को शिमला में यह सम्मेलन आरम्भ हुआ। कांग्रेस तथा लीग के मत-भेद के कारण समझौता न हो सका। लीग सभी मुस्लिम सदस्यों को नियुक्त करने का अपना एकाधिकार समझती थी। इसके विपरीत कांग्रेस एक राष्ट्रीय संस्था होने के कारण यह कहती थी कि उसे राष्ट्रीय मुसलमानों के नियुक्त करने का अधिकार होना चाहिये। चूँकि लीग तथा कांग्रेस दोनों ही अपनी-अपनी मांग पर दृढ़ रहे अतएव वेवल योजना भङ्ग हो गई। यद्यपि शिमला-वार्ता भङ्ग हो गई परन्तु यह सर्वथा निरर्थक न सिद्ध हुई। इससे एक लाभ यह हुआ कि देश के बड़े-बड़े नेता जो कारागार में बन्द थे सम्मेलन में भाग लेने के लिये मुक्त कर दिये गये थे। इससे दूसरा लाभ यह हुआ कि १९४२ के दमन से जनता में जो निराशा की भावना उत्पन्न हो गई थी वह शिमला सम्मेलन के उपरान्त समाप्त हो गई।

राजनैतिक परिवर्तन—शिमला सम्मेलन के उपरान्त इङ्गलैण्ड में आम-चुनाव हुआ जिसमें अनुदार दल की पराजय हुई और मजदूर दल को विजय प्राप्त हुई। मजदूर दल की सहानुभूति सदैव भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन के साथ रही है। इधर भारत में आम-चुनाव हो रहा था जिसके फल-स्वरूप आठ प्रान्तों में कांग्रेस के मन्त्रिमण्डल बन गये। लीग केवल बङ्गाल तथा सिन्ध में मन्त्रिमण्डल बना सकी। पञ्जाब में खिज़ हयात खाँ तीवाना के नेतृत्व में लीग के विरुद्ध संयुक्त मन्त्रिमण्डल की स्थापना हुई। मज़दूर दल ने मेजर एटली के नेतृत्व में भारतीय नेताओं से समझौता करने का प्रयास तुरन्त आरम्भ कर दिया।

ब्रिटिश शिष्ट मंडल का आगमन—इङ्गलैण्ड की मज़दूर सरकार भारत को स्वतन्त्र करने के लिये दृढ़-सङ्कल्प थी। अतएव ६ दिसम्बर १९४५ को पार्लियामेंट के सदस्यों का एक शिष्ट-मण्डल भारत भेजा गया। इस शिष्ट-मण्डल ने लगभग डेढ़ महीने तक भारत के विभिन्न भागों में भ्रमण किया और भारतीय नेताओं से बात-चीत की। भारतीय स्थिति का पूरा ज्ञान प्राप्त करने के उपरान्त यह शिष्ट-मण्डल इङ्गलैण्ड वापस चला गया और वहाँ पर पार्लियामेंट के समक्ष अपनी रिपोर्ट उपस्थित की। इस रिपोर्ट के फल-स्वरूप मेजर एटली ने १९ फ़रवरी १९४६ को भारत में कैबिनेट मिशन के भेजने की घोषणा की।

अपने एक वक्तव्य में मि० एटली ने यह भी कहा कि बृटिश सरकार भारतीयों की पूर्ण स्वतन्त्रता की माँग को स्वीकार करती है। जहाँ तक बृटिश कामनवेल्थ की सदस्यता का सम्बन्ध है भारतवासियों को उसका सदस्य बनने अथवा न बनने की पूर्ण स्वतन्त्रता होगी। एक अन्य वक्तव्य में बृटिश प्रधान-मन्त्री ने यह भी कहा कि किसी अल्पसंख्यक जाति की राजनैतिक माँग पर अनियमित काल तक अवरोध करने का अधिकार नहीं दिया जा सकता इस वक्तव्य से भारतीयों को यह आशा हो गई कि मज़दूर सरकार वास्तव में भारतीयों को स्वराज्य देना चाहती है।

कैबिनेट मिशन का आगमन—२ मार्च १९४६ को कैबिनेट मिशन के तीनों सदस्य लार्ड पैथिक लारेन्स, सर स्टैफ़र्ड क्रिप्स तथा मि० अलेक्जन्डर भारत आ गये। इन लोगों ने भारतीय समस्या के सुलझाने का अथक प्रयास किया। मुस्लिम लीग ने पाकिस्तान की स्थापना पर जोर देना आरम्भ किया और काँग्रेस ने अखण्ड भारत का अनुमोदन करना आरम्भ किया। ऐसी स्थिति में कांग्रेस तथा लीग में समझौता होना असम्भव था। अतएव कैबिनेट मिशन ने अपनी ओर से एक ऐसी योजना उपस्थित की जो उनके विचार में सभी दलों तथा वर्गों को अधिक से अधिक सन्तुष्ट कर सकती। इस योजना के दो अंग थे अर्थात् अन्तर्कालीन योजना तथा दीर्घकालीन योजना। इस योजना का विस्तृत वर्णन पिछले अध्याय में किया जा चुका है। मुस्लिम लीग ने मिशन की अन्तर्कालीन तथा दीर्घकालीन दोनों योजनाओं को स्वीकार कर लिया परन्तु काँग्रेस ने केवल दीर्घकालीन योजना को स्वीकार किया। अन्तर्कालीन योजना को कांग्रेस ने इन्कार कर दिया क्योंकि कांग्रेस इस बात पर दृढ़ थी कि केन्द्रीय कार्यकारिणी में एक राष्ट्रीय मुसलमान का होना अनिवार्य है जिसे मुस्लिम लीग मानने के लिये उद्यत न थी। कैबिनेट मिशन को यह साहस न हुआ कि वह बहुमत दल की इच्छा के विरुद्ध मुस्लिम लीग की सहायता से राष्ट्रीय कार्यकारिणी के निर्माण की आयोजना करे। इससे असन्तुष्ट होकर मुस्लिम लीग ने दीर्घकालीन तथा अन्तर्कालीन दोनों ही योजनाओं को अस्वीकार कर दिया। इधर विधान सभा का निर्वाचन भी हो गया जिसके फल से यह स्पष्ट हो गया कि काँग्रेस ही भारत की सबसे बड़ी राजनैतिक संस्था है। अतएव अगस्त १९४६ में लार्ड वेवल ने पं० जवाहर लाल नेहरू को राष्ट्रीय मन्त्रिमण्डल बनाने के लिये आमन्त्रित किया। २ सितम्बर १९४६ को पं० जवाहरलाल नेहरू ने सरकार बना ली। अक्तूबर १९४६ के अन्तिम सप्ताह में मुस्लिम लीग के सदस्य उसमें सम्मिलित हो गये। इस प्रकार संयुक्त मन्त्रिमण्डल ने कार्य करना आरम्भ किया। इस संयुक्त मन्त्रिमण्डल का कार्य बड़ा ही असन्तोषजनक था। लीगी सदस्य सदैव अड़ंगे की नीति का अनुसरण करते थे। और पं० नेहरू तथा उनके साथियों के कार्यों में सदैव कठिनाइयाँ उत्पन्न किया करते थे। इधर २० फरवरी १९४६ को बृटिश सरकार ने यह घोषणा की कि अप्रैल १९४६ तक वह भारत छोड़ देगी। इसके बाद ही लार्ड वेवल इङ्गलैण्ड वापस बुला लिये गये और उनके स्थान पर लार्ड माउन्टबेटन भारत के वाइसराय बना कर भेजे गये।

माउंटबेटन की भारत विभाजन योजना—तत्कालीन भारतीय परिस्थिति पर विचार करने के उपरान्त लार्ड माउण्टबेटन इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि भारत का विभाजन अनिवार्य है। अतएव उन्होंने बङ्गाल तथा पंजाब के विभाजन की योजना बनाई। विवश होकर मुस्लिम लीग को यह योजना स्वीकार करनी पड़ी। इसके बाद देश को भारतीय यूनियन तथा पाकिस्तान में विभाजित करने की योजना को भी कांग्रेस तथा लीग ने स्वीकार कर लिया। जनमत द्वारा यह निश्चित हुआ कि पश्चिमी पंजाब, उत्तरी-पश्चिमी सीमा-प्रान्त, सिन्ध तथा पूर्वी बङ्गाल पाकिस्तान में रहेंगे और शेष प्रान्त भारतीय यूनियन में रहेंगे।

१९४७ का भारतीय स्वतन्त्रता ऐक्ट—लार्ड माउण्टबेटन की भारत-विभाजन-योजना को कार्यान्वित करने के लिये ४ जुलाई १९४७ को बृटिश पार्लियामेण्ट में एक बिल उपस्थित किया गया जिसे भारत-स्वतन्त्रता-बिल के नाम से पुकारा गया। इस बिल द्वारा भारत को दो स्वतन्त्र उपनिवेशों में विभक्त कर दिया गया। एक का नाम पाकिस्तान रक्खा गया और दूसरे का इण्डिया। यह बिल १५ जुलाई को पास कर दिया गया। इस क़ानून के पश्चात् १५ अगस्त १९४७ को भारत को दो भागों में विभक्त कर दिया गया और भारत का सारा सामान हिन्दुस्तान तथा पाकिस्तान में बांट दिया गया। इस विभाजन के उपरान्त देश में साम्प्रदायिकता का प्रकोप आरम्भ हुआ और सहस्रों नर-नारियों को अपना घर छोड़ कर अपने प्राणों की रक्षा तथा शरण स्थल की खोज के लिये भागना पड़ा। इसी साम्प्रदायिक झगड़े के फल-स्वरूप ३० जनवरी १९४८ को राष्ट्रपिता महात्मा गान्धी को अपने प्राण दे देने पड़े।

ऊपर कांग्रेस के इतिहास का संक्षिप्त परिचय दिया गया है। इस विवरण से स्पष्ट है कि कांग्रेस का अन्तिम लक्ष्य भारत को स्वतन्त्र करना था और लगभग ६० वर्ष के प्रयास तथा अनेक प्रकार की यातनाओं के सहन करने के उपरान्त इस लक्ष्य की पूर्ति हो सकी। यद्यपि जिस रूप में हम देश को स्वतन्त्र करना चाहते थे उस रूप में न कर सके परन्तु जो कुछ देश के सपूतों ने किया वह सर्वथा श्लाघनीय तथा स्तुत्य है।

स्वतन्त्रता प्राप्ति के उपरान्त की कांग्रेस—अब स्वतन्त्रता प्राप्ति के उपरान्त की कांग्रेस पर एक विहङ्गम दृष्टि डाल देना आवश्यक है। स्वतन्त्रता प्राप्ति के उपरान्त गान्धी जी की यह इच्छा थी कि कांग्रेस समाप्त कर दी जाय और उसके स्थान पर एक "लोक सेवक संघ" की स्थापना की जाय। अतएव उन्होंने कांग्रेस के पुनर्संगठन की एक योजना ३० जनवरी १९४८ को देश के सम्मुख उपस्थित की परन्तु दुर्भाग्यवश उसी दिन सायङ्काल ५ बजे उनकी हत्या कर दी गई अतएव वह योजना कार्यान्वित न हो सकी। यद्यपि गान्धी जी परलोकवासी हो गये परन्तु कांग्रेस को उन्होंने नव-जीवन तथा सम्बल प्रदान कर दिया। देश के स्वतन्त्र हो जाने पर देश के शासन का भार कांग्रेस को ही वहन करना पड़ा। दुर्भाग्यवश उन्हें ऐसी आकस्मिक आपत्तियों का सामना करना पड़ा कि वे जनता को उस सीमा तक सन्तुष्ट न कर सके जितनी जनता को आशा थी। अतएव कांग्रेस एक अलोकप्रिय संस्था बनने लगी। परन्तु पं० जवाहरलाल नेहरू की अध्यक्षता के कारण जिनमें जनता का दृढ़-विश्वास है कांग्रेस अब भी देश की सर्वशक्तिमान् संस्था है।

कांग्रेस का नया लक्ष्य—अभी तक कांग्रेस का लक्ष्य देश को स्वतन्त्र करना था। अब उस लक्ष्य की पूर्ति हो चुकी थी। अतएव अब कांग्रेस के नये उद्देश्य को निर्धारित करना था। फलतः जयपूर के वार्षिक अधिवेशन में कांग्रेस का नया उद्देश्य इस प्रकार निर्धारित किया गया, "भारत की राष्ट्रीय महासभा का उद्देश्य जनता की भलाई और उसकी प्रगति है और वह देश में शान्तिपूर्ण तथा वैधानिक उपायों द्वारा एक ऐसे सहयोगी राष्ट्र की स्थापना करना चाहती है जो सबको समान अवसर और राजनैतिक, आर्थिक तथा सामाजिक अधिकार देने पर आधारित हो और जो विश्व-शान्ति और विश्व-बन्धुत्व का ध्येय रखता हो।

कांग्रेस में फूट—जयपुर के पश्चात् कांग्रेस का आगामी अधिवेशन नासिक में सितम्बर १९५० में राजर्षि पुरुषोत्तमदास टण्डन की अध्यक्षता में हुआ। इस अधिवेशन में कांग्रेस में बहुत बड़ी फूट उत्पन्न हो गई। आचार्य कृपलानी ने कांग्रेस के भीतर एक लोकतन्त्रीय मोर्चा (Democratic Front) बनाने का निश्चय किया। कांग्रेस के बड़े-

बड़े नेता इसके विरुद्ध थे क्योंकि इससे काँग्रेस की एकता तथा उसकी शक्ति पर बहुत बड़ा आघात पड़ता। किसी भी संस्था के भीतर उप-संस्थाओं का निर्माण करना उसके लिये अत्यन्त घातक सिद्ध हो सकता है और उसे विशृङ्खल बना सकता है फलतः कृपलानी को कांग्रेस के भीतर लोकतन्त्रीय मोर्चा बनाने की आज्ञा न मिल सकी। इस पर उन्होंने कांग्रेस से त्याग-पत्र दे दिया और अपने समर्थकों की सहायता से उन्होंने जुलाई १९५१ में एक नये दल का निर्माण किया जो किसान-मजदूर प्रजा पार्टी के नाम से प्रसिद्ध है। अब इस दल का समाजवादी दल के साथ विलयन हो गया है और संयुक्त दल का नाम प्रजा समाजवादी पार्टी अथवा पी० एस० पी० पड़ गया है।

काँग्रेस के सुधार का प्रयत्न—कांग्रेस में भ्रष्टाचार का प्रकोप उत्तरोत्तर बढ़ता जा रहा था। इससे देश के बड़े-बड़े नेता अत्यन्त विक्षुब्ध हो रहे थे। सबकी दृष्टि पं० जवाहरलाल की ओर थी क्योंकि वही एक कांग्रेसी नेता थे जो काँग्रेस के प्रचालन की क्षमता रखते थे। सितम्बर १९५१ में पं० नेहरू ने यह निश्चय किया कि कांग्रेस में सुधार करने के लिये वे उसकी कार्यकारिणी से अलग हो जायेंगे। महात्मा गान्धी तथा सरदार पटेल के उपरान्त पं० जवाहर लाल काँग्रेस के एकमात्र अवलम्ब रह गये थे। उनके बिना कांग्रेस के निष्प्राण हो जाने की सम्भावना थी। कांग्रेस-जन पंडित जी को त्यागने के लिये उद्यत न थे। फलतः कांग्रेस के अध्यक्ष श्री पुरुषोत्तमदास टण्डन ने स्वयं अपना त्यागपत्र देने का निश्चय कर लिया। अतएव सितम्बर १९५१ में दिल्ली में अखिल भारतीय काँग्रेस समिति की बैठक में पं० जवाहरलाल नेहरू काँग्रेस के अध्यक्ष निर्वाचित कर लिये गये। इसके उपरान्त नवम्बर में कांग्रेस का वार्षिक अधिवेशन नई दिल्ली में हुआ। इस अधिवेशन में कांग्रेस का चुनाव सम्बन्धी घोषणा-पत्र स्वीकार किया गया और पं० नेहरू ने उन सभी नेताओं से प्रार्थना की जो कांग्रेस को छोड़कर चले गये थे कि वह फिर कांग्रेस में सम्मिलित हो जायँ। इस प्रार्थना का बहुत अच्छा प्रभाव पड़ा और बहुत से कांग्रेसी फिर उसमें आकर मिल गये।

आम चुनाव—१९५२ के प्रारम्भ में ही हमारे देश में आम चुनाव आरम्भ हो गये। इस चुनाव में कांग्रेस को सफलता दिलाने के लिये पं० जवाहरलाल नेहरू ने देश का तूफ़ानी दौरा किया। उनके चुम्बकीय व्यक्तित्व का देश की जनता पर इतना बड़ा प्रभाव पड़ा कि कांग्रेस को अत्यन्त श्लाघनीय सफलता प्राप्त हुई। केन्द्रीय लोक-सभा में कांग्रेस को पूर्ण बहुमत प्राप्त हुआ। पेप्सू ट्रावङ्कोर-कोचीन तथा मद्रास राज्यों को छोड़कर शेष सब राज्यों में कांग्रेस का ही बहुमत रहा। इन राज्यों में भी यद्यपि कांग्रेस दल को बहुमत प्राप्त न था परन्तु उसके ही सदस्यों की संख्या अन्य दलों के सदस्यों से अधिक थी। अतएव पेप्सू को छोड़कर शेष सभी राज्यों में कांग्रेसी सरकार का ही निर्माण हुआ।

आज की काँग्रेस—आजकल देश के शासन का पूरा भार कांग्रेस को ही वहन करना पड़ रहा है। कांग्रेस इतनी विशाल संस्था है कि उसमें अवांछनीय व्यक्तियों का सम्मिलित हो जाना स्वाभाविक है परन्तु पं० जवाहरलाल नेहरू जो देश के सबसे बड़े नेता हैं बड़ी सतर्कता तथा सावधानी के साथ इसके प्रचालन में संलग्न हैं और अपने प्रयत्न में सफलता भी प्राप्त कर रहे हैं। इन दिनों सरकार जिस संलग्नता के साथ देश की आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक तथा साम्प्रदायिक समस्याओं को सुलझा रही है उसका जनता पर बड़ा अच्छा प्रभाव पड़ रहा है और जनता का फिर उसमें विश्वास होता जा रहा है। इस प्रकार उत्तरोत्तर कांग्रेस की आलोकप्रियता भी घट रही है। परन्तु इस तथ्य का कभी विस्मरण न करना चाहिये कि कांग्रेस को जो प्रतिष्ठा प्राप्त है उसका बहुत बड़ा श्रेय पंडित जवाहरलाल नेहरू को प्राप्त है। अतएव प्रत्येक भारतीय का यह धर्म

है कि वह उन्हें सम्बल प्रदान करे जिससे वे देश की आन्तरिक समस्याओं को सफलतापूर्वक सुलझा सकें और अन्य देशों में भी शान्ति तथा सद्भावना का सन्देश ले जाकर देश के मस्तक को उन्नत उठा सकें।

हमारे राष्ट्रीय आन्दोलन की विशेषतायें—राष्ट्रीय आन्दोलन आधुनिक काल की एक बहुत बड़ी विशेषता है। न केवल हमारे देश में वरन् संसार के अन्य देशों में भी राष्ट्रीय आन्दोलन चले हैं। हमारे देश का राष्ट्रीय आन्दोलन अपनी कुछ विशिष्ट विशेषतायें रखता है जो अन्य देशों के राष्ट्रीय आन्दोलनों में परिलक्षित नहीं होती हैं। हमारे राष्ट्रीय आन्दोलन की निम्न-लिखित विशेषतायें हैं:—

(१) अहिंसात्मक आन्दोलन—हमारे राष्ट्रीय आन्दोलन की प्रमुख विशेषता यह है कि यह आद्योपान्त अहिंसात्मक रहा है। विश्व के इतिहास में कोई अन्य ऐसा उदाहरण उपलब्ध नहीं है जब बिना रक्तपात किये किसी दास देश ने विदेशी शासन का उन्मूलन करके अपनी स्वतन्त्र प्राप्त की हो। भारत ने प्रथम बार विश्व के सामने यह चरितार्थ कर दिया कि अहिंसात्मक रीति से तथा शान्तिपूर्वक महान् क्रान्ति का सम्पादन किया जा सकता है। इसका तात्पर्य यह है कि हमारा राष्ट्रीय आन्दोलन न केवल हमारे लिये बहुत बड़ा महत्व रखता है वरन् सम्पूर्ण संसार को इससे शिक्षा प्राप्त हुई है और सम्पूर्ण संसार इससे लाभान्वित हो सकता है। राजनैतिक क्रान्ति के सम्पन्न करने का यह एक नया अस्त्र तथा नया साधन भारत में अन्वेषित किया गया था। इस अहिंसात्मक आन्दोलन का परिणाम यह हुआ कि जब बृटेन तथा भारत एक दूसरे से विलग हुये तब वे मित्र के रूप में विलग हुये शत्रु के रूप में नहीं। यही कारण है कि भारत अब कामनवेल्थ का सदस्य है और बृटेन के साथ सहयोग कर रहा है। आरम्भ से ही हमारा आन्दोलन अहिंसात्मक था। गान्धी जी के राजनैतिक मंच पर आने के पूर्व हमारे देश के नेताओं ने वैधानिक साधनों का अवलम्ब लिया था। हिंसा अथवा क्रान्ति में उनका विश्वास न था। इसमें सन्देह नहीं कि सरकार की दमन-नीति के फल-स्वरूप हमारे देश में क्रान्तिकारियों का प्राबल्य बढ़ा और हिंसात्मक वृत्ति का अवलम्ब लिया गया परन्तु कांग्रेस ने जो हमारे देश की प्रमुख राष्ट्रीय संस्था है इस नीति का कभी अनुमोदन नहीं किया। जब गान्धी जी राजनैतिक मंच पर आये तब उन्होंने सत्य, अहिंसा तथा सत्याग्रह को अस्त्र बना कर आन्दोलन को गतिमान् किया और अन्त तक अहिंसात्मक साधन का अवलम्ब लिये रहे। जब कभी जनता ने हिंसात्मक वृत्ति का प्रदर्शन किया तब गान्धी जी अत्यन्त क्षुब्ध हुये और आदोन्लन को स्थगित करके अनशन करके प्रायश्चित्त किया।

(२) आध्यात्मिक आन्दोलन—हमारा आन्दोलन अहिंसात्मक होने के कारण आध्यात्मिकता पर आधारित था। इस आन्दोलन में सदैव नैतिकता का प्राबल्यरहा है और सामाजिक तथा धार्मिक सुधार हमारे आन्दोलन के अविच्छिन्न अङ्ग रहे हैं। वास्तव में हमारे राष्ट्रीय आन्दोलन की उत्पत्ति धार्मिक तथा सामाजिक आन्दोलन के फल-स्वरूप ही हुई थी। हमारे राष्ट्रीय आन्दोलन पर धार्मिकता की छाप राजा राममोहन राय, स्वामी दयानन्द सरस्वती, स्वामी विवेकानन्द तथा महात्मा गान्धी द्वारा डाली गई थी। गान्धी जी के नेतृत्व में अहिंसा तथा सत्याग्रह राजनैतिक लक्ष्य की प्राप्ति के प्रधान साधन बन गये थे।

(३) जन साधारण का आन्दोलन—यद्यपि हमारा राष्ट्रीय आन्दोलन मध्यम श्रेणी के लोगों द्वारा आरम्भ किया गया था जैसा कि अन्य देशों में भी हुआ है परन्तु गान्धी जी के नेतृत्व में हमारा आन्दोलन जन साधारण का आन्दोलन हो गया। इसमें ग्रामीण किसानों तथा मज़दूरों ने उतना ही योग दिया जितना उच्च शिक्षित वर्ग ने दिया।

(४) रचनात्मक आंदोलन—हमारे राष्ट्रीय आन्दोलन की एक यह भी विशेषता है कि यह आन्दोलन ध्वंसात्मक न था वरन् यह रचनात्मक था। अतएव इसके कार्य-क्रम के अंतर्गत कताई तथा बुनाई, खद्दर का प्रचार, हिन्दू-मुस्लिम एकता का सम्बर्द्धन, अस्पृश्यता का बहिष्कार, मादक द्रव्यों के प्रयोग का निषेध, स्त्रियों का उद्धार आदि रचनात्मक कार्य रक्खे गये थे। दूसरे शब्दों में हम यों कह सकते हैं कि हमारा राष्ट्रीय आन्दोलन न केवल राजनैतिक लक्ष्य अथवा स्वतन्त्रता की प्राप्ति के लिये चलाया गया था वरन् देश का सामाजिक, धार्मिक, सांस्कृतिक तथा आर्थिक उत्थान भी इसका लक्ष्य था। इस प्रकार राष्ट्र की सर्वाङ्गीण उन्नति हमारे राष्ट्रीय आन्दोलन का लक्ष्य था। लगभग ६० वर्षों के अनवरत प्रयास तथा त्याग के उपरान्त न केवल हमारे देश को राजनैतिक स्वतन्त्रता प्राप्त हुई वरन् सामाजिक क्षेत्र में भी बड़ी उन्नति हुई और स्त्रियों तथा दलित जातियों की स्थिति में बड़ा सुधार हुआ है।

(५) साम्प्रदायिकता के विरुद्ध आंदोलन—हमारे राष्ट्रीय आन्दोलन की एक यह भी विशेषता है कि इसकी प्रगति में साम्प्रदायिकता ने बड़ी बाधा उत्पन्न की है। वास्तव में कांग्रेस को सदैव दो मोर्चों पर संघर्ष करना पड़ा है। एक मोर्चा मुस्लिम लीग तथा अन्य साम्प्रदायिक दलों के विरुद्ध था और दूसरा मोर्चा विदेशी सरकार के विरुद्ध था। देश को स्वतन्त्र करने में सम्भवतः इतना विलम्ब न हुआ होता यदि हमारे देश में साम्प्रदायिकता का प्रकोप न होता और लीग पग-पग पर अड़ङ्गा न उत्पन्न किये होती। वास्तव में अल्प-संख्यकों की समस्या सदैव इतनी जटिल हो जाती थी कि इसका सुलझाना एक दुष्कर कार्य हो जाता था। साम्प्रदायिकता के प्राबल्य के कारण ही अंग्रेज़ों को "विभक्त करो तथा शासन करो" की नीति के अनुसरण करने का अवसर प्राप्त हुआ। यह साम्प्रदायिकता का ही फल था कि हमारा देश विभक्त हो गया और हमें उस रूप में स्वतन्त्रता न प्राप्त हो सकी जिस रूप में हम प्राप्त करना चाहते थे।

(६) विश्व शांति का सन्देश—चूँकि हम स्वयं पराधीनता की श्रृङ्खलाओं में सम्बद्ध थे अतएव हमारी सहानुभूति सदैव परतन्त्र तथा निर्बल राष्ट्रों के साथ रही है। साम्राज्यवाद का हमारे देश के नेताओं ने सदैव विरोध किया है। अपने देश की परम्परा के अनुसार शान्ति का सन्देश हमारे देश के नेता सब जगह ले गये। स्वतन्त्र भारत की नीति भी शान्ति तथा सद्भावना पर आधारित है। भारत सरकार ने तटस्थता की नीति का अनुसरण किया है। और किसी भी राजनैतिक गुट में सम्मिलित होने से इन्कार कर दिया है। अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति तथा सद्भावना स्थापित करना तथा निर्बल एवं पादाक्रान्त राष्ट्रों के अधिकारों का समर्थन करना, स्वतन्त्र भारत की विदेशी नीति का मूल-मन्त्र है। इस नीति से हमारे देश की प्रतिष्ठा अन्तर्राष्ट्रीय जगत में बहुत बढ़ गई है।

भारतीय राजनीति में साम्प्रदायिकता—हमारे देश की राजनीति में और विशेषकर हमारे राष्ट्रीय जीवन में साम्प्रदायिकता का बहुत बड़ा महत्व रहा है। यह हमारे देश का बहुत बड़ा दुर्भाग्य रहा है कि इसमें अनेक जातियां निवास करती हैं जिनकी भाषा, धर्म, सामाजिक तथा सांस्कृतिक जीवन में बहुत बड़ा वैषम्य रहा है। विशेषकर हिन्दुओं तथा मुसलमानों के आचार-व्यवहार तथा रहन-सहन में इतना बड़ा अन्तर है कि उन्हें दो विभिन्न राष्ट्र के कहने में भी अधिक सङ्कोच नहीं होता है।

साम्प्रदायिक समस्या का वास्तविक स्वरूप—कुछ लोग साम्प्रदायिक समस्या को हिन्दू-मुस्लिम समस्या अथवा हिन्दू-मुस्लिम-सिक्ख समस्या कहते हैं। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि साम्प्रदायिक समस्या एक धार्मिक समस्या थी परन्तु वास्तव में साम्प्रदायिक समस्या एक राजनैतिक समस्या थी। यद्यपि इस पर धार्मिकता का

परिधान पड़ा था परन्तु थी यह समस्या प्रधानतः राजनैतिक ही। इसके स्वरूप के निर्माण तथा इसके विकास में बृटिश साम्राज्यवाद से उतना ही योग मिला है जितना हिन्दुओं तथा मुसलमानों के राजनैतिक हितों के संघर्ष से। वास्तव में साम्प्रदायिक समस्या भारत के विभिन्न सम्प्रदायों तथा वर्गों की राजनैतिक मांग की समस्या थी। प्रत्येक सम्प्रदाय तथा वर्ग इतनी बड़ी मांगे उपस्थित करता था कि उनको स्वीकार करना असम्भव होता था। वास्तव में हमारे देश की समस्या एक त्रिकोणीय समस्या थी। इस त्रिभुज की एक भुजा इण्डियन नेशनल कांग्रेस, दूसरी भुजा मुस्लिम लीग तथा हिन्दू महासभा और तीसरी भुजा साम्राज्यवादी बृटिश सरकार थी। यह इतनी उलझी समस्या थी कि बृटिश साम्राज्य के भारत से उन्मूलित हो जाने और देश के विभाजन के उपरान्त ही सुलझ सकी।

साम्प्रदायिकता का सूत्रपात—हमारे देश में साम्प्रदायिक समस्या का सूत्रपात उस समय हुआ जब विदेशी शासन को उन्मूलित करने के लिये राष्ट्रीय आन्दोलन का प्राबल्य बढ़ा और साम्राज्यवादी बृटिश सरकार ने राष्ट्रीयता के उस प्रबल वेग के अवरोध का प्रयास आरम्भ किया। जब बृटिश सरकार ने यह देखा कि राष्ट्रीय आन्दोलन शक्तिमान् तथा प्रबल होता जा रहा है तब एक सम्प्रदाय को दूसरे सम्प्रदाय से लड़ा कर राष्ट्रीय आन्दोलन के गत्यावरोध का प्रयत्न किया। दूसरे शब्दों में हम यों कह सकते हैं कि "विभक्त करके शासन करने" की नीति का अनुसरण बृटिश सरकार ने आरम्भ किया। हिन्दुओं तथा मुसलमानों में जो विरोध पहिले से ही विद्यमान् था उसी की वृद्धि करने में बृटिश सरकार संलग्न हो गई। इस प्रकार अपने स्वार्थ की सिद्धि के लिये बृटिश सरकार ने साम्प्रदायिकता का सूत्रपात किया जो हमारे देश की राजनीति में एक अभिशाप बन गई। अङ्गरेजों ने बहुत पहिले ही इस बात का अनुभव कर लिया था कि भारत में अंग्रेजों तथा बृटिश साम्राज्य की रक्षा के लिये यह आवश्यक है कि यहां की विभिन्न जातियों का पारस्परिक मत-भेद तथा वैमनस्य दृढ़ होता जाय और वे विदेशी शासकों के विरुद्ध संयुक्त मोर्चा न बना सके। विभक्त करके शासन करने की नीति में अंग्रेज पूर्ण रूप से सफल रहे। पृथक्करण का कार्य बृटिश सरकार ने १८५७ की क्रान्ति के उपरान्त से ही आरम्भ कर दिया था। इसका प्रयोग सर्व-प्रथम सेना के पुनर्सङ्गठन में किया गया। क्रान्ति के पूर्व सेना का सङ्गठन जाति अथवा वर्ग के आधार पर नहीं किया गया था परन्तु क्रान्ति के उपरान्त सेना का सङ्गठन जाति तथा उपजाति के आधार पर कर दिया गया। इस प्रकार सिक्ख, गुरखा, जाट, राजपूत, मुस्लिम आदि रेजीमेण्टों में सेना को विभक्त कर दिया गया। इस प्रकार हमारी एकता की भावना पर यह प्रथम प्रहार था। सेना के बाहर भी इस भेदनीति का अनुसरण किया गया। अङ्गरेजों की यह धारणा थी कि १८५७ की क्रान्ति का उतना उत्तरदायित्व हिन्दुओं पर न था जितना मुसलमानों पर। अतएव मुसलमानों का दमन करने तथा हिन्दुओं को प्रोत्साहन देने की नीति का आलिङ्गन बृटिश सरकार ने किया। फलतः सेना से मुसलमानों को अलग रखने की नीति का अनुसरण किया जाने लगा। सरकारी नौकरियां प्रायः हिन्दुओं को ही दी जाती थीं और मुसलमान उनसे वञ्चित रक्खे जाते थे। मुसलमानों के आर्थिक तथा शैक्षण विनाश का बृटिश सरकार ने यथाशक्ति प्रयत्न किया। परन्तु धीरे-धीरे परिस्थितियों में परिवर्तन हो गया। बृटिश सरकार के दृष्टिकोण में भी परिवर्तन आरम्भ हो गया। सर सैयद अहमद खां ने इस बात के प्रमाणित करने का भगीरथ प्रयास किया अंग्रेजों का सन्देह निराधार है और अङ्गरेजों तथा मुसलमानों को एक दूसरे के निकट लाने तथा उनमें मेल कराने का उन्होंने श्लाघनीय प्रयत्न किया। उन्होंने मुसलमानों को समझाया कि अङ्गरेजों के साथ गठबन्धन करने में ही उनका कल्याण है। अपनी इस योजना में सर सैयद अहमद खां को पूर्ण सफलता प्राप्त हुई। इस समय देश की राजनैतिक स्थिति भी ऐसी थी

कि सर सैयद अहमद खाँ को अपनी योजना में उससे बड़ा योग मिला। देश में राजनैतिक जागृति द्रुतगति से बढ़ रही थी। इण्डियन नेशनल कांग्रेस की स्थापना हो चुकी थी और सरकार की नीति की तीव्र आलोचना उसने आरम्भ कर दी थी। ऐसी स्थिति में बृटिश सरकार ने मुसलमानों की सहायता प्राप्त करने का प्रयास किया। सर सैयद अहमद खाँ ने मुसलमानों को राष्ट्रीय आन्दोलन से अलग रखने की परामर्श दी।

पृथक निर्वाचन की माँग—लार्ड कर्जन की स्वेच्छाचारिता तथा निरङ्कुशता की नीति के फल-स्वरूप भारतीयों में जो असन्तोष फैला था उसे दूर करने के लिये बृटिश सरकार ने १९०६ में सुधार की योजना आरम्भ की। इस अवसर पर कुछ अंग्रेजों ने मुसलमानों को लार्ड मिण्टो के पास जो इन दिनों भारत के वाइसराय थे अपना एक प्रतिनिधि-मंडल भेजने के लिये प्रोत्साहित किया और उन्हें यह आश्वासन दिया कि वाइसराय इस प्रतिनिधि-मंडल का स्वागत करेगा। मुसलमानों को यह परामर्श दी गई कि उनका प्रतिनिधि-मंडल बृटिश सम्राट् के प्रति अपनी भक्ति तथा सुधारों के लिये अपनी कृतज्ञता प्रकट करे और अपनी जाति की ओर से यह आशंका प्रकट करे कि यदि मुसलमानों को पृथक् निर्वाचन का अधिकार दिये बिना भारत में निर्वाचन पद्धति को आरम्भ किया गया तो मुस्लिम जाति के हित पर बहुत बड़ा आघात पड़ेगा। जो प्रतिनिधि-मंडल लार्ड मिण्टो से मिला उसकी मांगें ये थीं, (१) पृथक् निर्वाचन, (२) नई व्यवस्थापिकाओं में पर्याप्त स्थान, (३) सरकारी नौकरियों में अधिक प्रतिनिधित्व, (४) मुस्लिम विश्वविद्यालय की स्थापना में सहायता और यदि गवर्नर-जनरल की कौंसिल में किसी भारतीय की नियुक्ति की जाय तो मुसलमानों के हित का संरक्षण हो। लार्ड मिण्टो ने मुस्लिम प्रतिनिधि-मंडल के प्रति अपनी हार्दिक सहानुभूति प्रकट की और उनकी माँगों के औचित्य का अनुमोदन करने का आश्वासन दिया। इस प्रकार विषाक्त पृथक् निर्वाचन पद्धति का बीजारोपण हमारे देश में लार्ड मिंटो ने ही किया। यद्यपि तत्कालीन भारत-सचिव लार्ड मार्ले ने इस प्रथा का विरोध किया और संयुक्त निर्वाचन प्रणाली का समर्थन किया परन्तु अन्ततोगत्वा भारत सरकार की योजना को उन्हें स्वीकार करने के लिये बाध्य हो जाना पड़ा। यहाँ पर एक बात याद रखने की यह है कि पाकिस्तान के जन्मदाता तथा द्वै राष्ट्र सिद्धान्त के समर्थक श्री जिन्ना भी पृथक् निर्वाचन पद्धति के घोर विरोधी थे।

मुस्लिम लीग—लार्ड मिण्टो के आश्वासन से मुसलमानों को बड़ा प्रोत्साहन मिला। अब इन लोगों ने मुसलमानों की एक अलग संस्था स्थापित करने का निश्चय किया। फलतः दिसम्बर १९०६ में ढाका में एक सम्मेलन करने का आयोजन किया गया। इसी सम्मेलन में अखिल भारतीय मुस्लिम लीगकी स्थापना की गई। इसके संस्थापक उच्च-वर्ग के प्रतिष्ठित मुसलमान थे। इनका ध्येय मध्यम श्रेणी के शिक्षित मुसलमानों को उस आपत्तिजनक राजनीति से अलग रखना था जिसमें इंण्डियन नेशनल कांग्रेस उन दिनों प्रवेश कर रही थी। लीग के विधान में इसके उद्देश्य निम्न-लिखित बतलाये गये थे :—

(१) भारतीय मुसलमानों में बृटिश सरकार के प्रति राजभक्ति की भावना उत्पन्न करना और यदि सरकार के किसी कार्य से शंका उत्पन्न हो तो उस शङ्का को दूर करना, (२) भारतीय मुसलमानों के राजनैतिक तथा अन्य अधिकारों की रक्षा करना और उनकी आवश्यकताओं तथा आकांक्षाओं को विनम्र भाषा में सरकार के सामने उपस्थित करना तथा (३) उपरोक्त लक्ष्यों को बिना किसी प्रकार की क्षति पहुँचाये मुसलमानों तथा भारत की अन्य जातियों में मैत्री-भाव उत्पन्न करना।

उपरोक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि लीग आरम्भ से ही एक साम्प्रदायिक संस्था थी और आद्योपान्त यह एक साम्प्रदायिक संस्था बनी रही। मुस्लिम लीग ने सदैव मुसलमानों के ही राजनैतिक अधिकारों तथा हितों की चिन्ता किया करते थे। सर्व साधारण भारतवासियों की चिन्ता उसे न थी। अतएव इसे राष्ट्रीय संस्था कभी नहीं कहा जा सकता। दूसरी बात ध्यान देने की यह है कि इसका जन्म एक राज-भक्त संस्था के रूप में हुआ था। इसका लक्ष्य भारतीय मुसलमानों में बृटिश सरकार के प्रति राजभक्ति उत्पन्न करना था। देश-भक्ति अथवा राष्ट्रीयता की भावना उत्पन्न करना लीग का ध्येय न था। फलतः अन्य सम्प्रदाय वालों को कौन कहे सभी मुसलमानों की भी सहायता तथा सहानुभूति लीग को न प्राप्त हो सकी। श्री मुहम्मद अली जिन्ना इसके साम्प्रदायिक स्वभाव के घोर विरोधी थे। मौलाना मोहम्मद अली ने लीग की साम्प्रदायिकता तथा राज-भक्ति की नीति की तीव्र आलोचना की। मौलाना अबुल कलामआजाद ने एक पत्र निकाला जिसके द्वारा भारतीय जनता में नव-जीवन तथा नवोत्साह का संचार करना उसने आरम्भ किया। विदेशों में भी कुछ ऐसी घटनायें घटीं जिनका भारतीय मुसलमानों पर बहुत बड़ा प्रभाव पड़ा। अतएव लीग के दृष्टिकोण में परिवर्तन करने तथा इसे उद्दीयमान् एवं देश-भक्त संस्था के बनाने का प्रयत्न आरम्भ हो गया। मौलाना मुहम्द अली, मौलाना ग़ज़्रूर-उल-हक़, सैय्यद वज़ीर हसन, मुहम्मद अली जिन्ना तथा हसन इमाम जैसे प्रगतिशील नेताओं के प्रयत्न से लीग के सङ्गठन में परिवर्तन करने की आयोजना की गई और १९१३ में इसके विधान में परिवर्तन कर दिया गया। अब मुसलमानों तथा भारत की अन्य जातियों में मैत्री-भाव तथा एकता उत्पन्न करना और भारतीय परिस्थितियों के अनुकूल बृटिश साम्राज्य के अन्दर स्वायत्त शासन प्राप्त करना लीग के उद्देश्य में सम्मिलित किया गया। इस प्रकार लीग कांग्रेस के निकट आ गई। श्री जिन्ना ने लीग का आगामी अधिवेशन बम्बई में बुलाया जहाँ कांग्रेस का वार्षिक अधिवेशन होने वाला था। इसके बाद कई वर्ष तक दोनों संस्थाओं का अधिवेशन एक ही स्थान पर होता रहा। इससे दोनों एक दूसरे के अत्यन्त निकट आ गये। और दोनों ने मिलकर सुधार की एक योजना बनाई जो कांग्रेस-लीग योजना के नाम से प्रसिद्ध है और जिसे १९१६ में लखनऊ के अपने-अपने अधिवेशन में दोनों ने स्वीकार कर लिया। इस प्रकार लीग के दृष्टि कोण में कुछ परिवर्तन आरम्भ हुआ। १९२० में जब गांधी जी ने असहयोग आन्दोलन आरम्भ करने का निश्चय किया तब ख़िलाफ़त का भी प्रश्न उठ खड़ा हुआ। ख़िलाफ़त आन्दोलन ने कांग्रेस तथा लीग को एक दूसरे के अत्यन्त निकट ला दिया और कुछ समय के लिये दोनों में अपूर्व सहयोग हो गया और बृटिश सरकार के विरुद्ध एक संयुक्त मोर्चा खड़ा हो गया। इसी समय मुस्लिम उलमाओं की एक संस्था का जन्म हुआ जो "जमायत-उल-उलेमा-ए-हिन्द" के नाम से प्रसिद्ध है जिसका दृष्टिकोण राष्ट्रीय रहा है और जिसने हिन्दू-मुस्लिम एकता का सतत प्रयत्न किया है तथा बृटिश साम्राज्य के विरुद्ध राष्ट्रीय आन्दोलन के साथ सहानुभूति रक्खी है।

ख़िलाफ़त समिति तथा जमात के उत्कर्ष के साथ-साथ लीग पृष्ठ भाग में चली गई परन्तु जब गाधी जी ने असहयोग आन्दोलन स्थगित कर दिया और हिन्दू महसभा ने शुद्धि तथा सङ्गठन का आन्दोलन आरम्भ किया और कांग्रेस ने वैधानिक कार्य-क्रम को स्याग दिया तब श्री जिन्ना को लीग में नई जान फूँकने का अवसर प्राप्त हो गया। यहाँ पर यह स्मरण रखना चाहिये कि प्रारम्भ में श्री जिन्ना कट्टर कांग्रेसी थे, परन्तु जब कांग्रेस ने असहयोग आन्दोलन करने का निश्चय कर लिया तब वे कांग्रेस से अलग हो गये। श्वेत साइमन आयोग के अवसर पर लीग में मत भेद हो गया। एक वर्ग श्री जिन्ना की अध्यक्षता में इसका बहिष्कार करना चाहता था और दूसरा वर्ग सर मोहम्मद शफ़ी की अध्यक्षता में आयोग के साथ सहयोग करने के पक्ष में था। श्री जिन्ना ने कांग्रेस

तथा अन्य दलों के साथ सहयोग किया और एक सुधार की योजना सरकार के समक्ष उपस्थित की जो नेहरू-रिपोर्ट के नाम से प्रसिद्ध है। नेहरू-रिपोर्ट ने संयुक्त निर्वाचन पद्धति तथा अल्प संख्यकों के लिये स्थान सुरक्षित कर देने की व्यवस्था की सिफ़ारिश की। मोहम्मद शफ़ी के वर्ग वालों ने एक सर्वदलीय सम्मेलन का आयोजन किया। राष्ट्रीय मुसलमानों के भगीरथ प्रयास करने पर भी इस सम्मेलन ने पृथक् निर्वाचन-पद्धति को अस्वीकार कर दिया। फलतः राष्ट्रीय मुसलमानों का एक अलग दल बन गया। कालान्तर में पञ्जाब में अहरार पार्टी और बङ्गाल में कृषक प्रजा पार्टी का भी प्राबल्य बढ़ गया। इनकी सहानुभूति भी कॉंग्रेस के ही साथ थी, लीग के साथ नहीं। परन्तु १९३७ के आम चुनाव के उपरान्त से श्री जिन्ना के नेतृत्व में लीग का प्राबल्य बढ़ने लगा और १९३७ से १९४० तक के काल में पाकिस्तान की योजना बलवती हो उठी। श्री जिन्ना के नेतृत्व में १९३७ का आम-चुनाव लीग द्वारा लड़ा गया। इसमें लीग को केवल साधारण सफलता प्राप्त हुई। पञ्जाब उत्तरी-पश्चिमी सीमा प्रान्त, बङ्गाल तथा सिन्ध में प्रतिद्वन्दी मुस्लिम दलों की अपेक्षा लीग को कम सफलता हुई। सीमा-प्रान्त में तो कॉंग्रेस ने लीग को परास्त किया। सिन्ध में श्री अल्लाह बख्श की अध्यक्षता में आज़ाद मुस्लिम पार्टी ने सफलता प्राप्त की। पञ्जाब में सर सिकन्दर हयात खां की अध्यक्षता में यूनियनिस्ट पार्टी सफल रही और बङ्गाल में कृषक प्रजा पार्टी को मुसलमानों में बहुमत प्राप्त रहा। केवल उन्हीं प्रान्तों में मुस्लिम लीग को अन्य मुसलमान दलों के विरुद्ध सफलता प्राप्त हुई जहां वे अल्पसंख्यक थे।

१९३७ के चुनाव के उपरान्त लीग की स्थिति में बहुत बड़ा परिवर्तन आरम्भ हो गया। कॉंग्रेस ने लीग के साथ संयुक्त मन्त्रिमण्डल बनाने से इन्कार कर दिया। इसमें मुस्लिम जनता की लीग के प्रति सहानुभूति हो गई। बंगाल में श्री फ़ज़लुल हक़ की अध्यक्षता में कृषक प्रजा पार्टी तथा लीग का समझौता हो गया। इससे लीग की प्रतिष्ठा में बड़ी अभिवृद्धि हो गई। पञ्जाब में सर सिकन्दर हयात खां भी लीग में सम्मिलित हो गये। इससे पञ्जाब में भी लीग का प्राबल्य बढ़ गया। इसी काल में श्री जिन्ना ने पाकिस्तान की योजना बनाई उन्होंने यह तर्क उपस्थित करना आरम्भ किया कि भारत में दो राष्ट्र हैं एक हिन्दू और दूसरा मुसलमान इनकी सभ्यता तथा सस्कृति में ध्रुवीय अन्तर है। अतएव इनका अपना अलग राज्य होना चाहिये जहां यह अपनी आध्यात्मिक, सांस्कृतिक, आर्थिक तथा राजनैतिक उन्नति अपने ढङ्ग से कर सकेंगे। भारत के उत्तरी-पश्चिमी तथा उत्तर पूर्व में जहां मुसलमान बहु-संख्यक है वहां उनका राज्य होना चाहिये और उसी को वह पाकिस्तान कहेंगे। वहीं पर स्वतन्त्रता पूर्वक उनकी सभ्यता तथा संस्कृति की उन्नति होगी। द्वितीय महासमर के काल में जब कॉंग्रेस बृटिश सरकार के विरुद्ध जन्म-मरण के सङ्घर्ष में संलग्न थी तब लीग की शक्ति बहुत बढ़ गई। गवर्नरों की सहायता से पाँच प्रान्तों में लीग के मन्त्रिमण्डल बन गये। १९४६ में लीग को पूर्ण सफलता प्राप्त हुई और यह सिद्ध हो गया कि मुस्लिम लीग मुसलमानों की सबसे बड़ी संस्था है। इससे श्री जिन्ना की पाकिस्तान की मांग अत्यधिक प्रबल हो गई। साम्प्रदायिकता का अन्तिम परिणाम यह हुआ कि हमारे देश का विभाजन हो गया परन्तु लीग जिस रूप में पाकिस्तान चाहती थी उस रूप में उसे मिल न सका। वह पञ्जाब तथा बङ्गाल का पूरा प्रान्त चाहती थी परन्तु यह दोनों प्रान्त विभक्त करके हिन्दुस्तान तथा पाकिस्तान को दे दिये गये। अब देश के स्वतन्त्र हो जाने पर हमारे देश में पृथक् साम्प्रदायिक निर्वाचन पद्धति हटा दी गई और संयुक्त निर्वाचन पद्धति का प्रादुर्भाव किया गया है। आशा की जाती है कि इस व्यवस्था से विभिन्न सम्प्रदायों में सद्भावना का संचार होगा और साम्प्रदायिकता की भावना के दूर करने में इस व्यवस्था में बड़ा योग मिलेगा।

हिंदू महासभा—हमारे देश की दूसरी प्रमुख साम्प्रदायिक संस्था हिन्दू महासभा

है। स्थापना इसकी १६२३ में हुई थी। इसका प्रधान लक्ष्य भारत के हिन्दुओं के हितों तथा उनकी संस्कृति की रक्षा करना है। हिन्दू महासभा की स्थापना के कई कारण थे। इसका पहिला कारण यह था कि इस बात का अनुभव किया गया कि मुसलमानों तथा ईसाइयों के कुचक्रों के कारण हिन्दुओं की राजनैनिक शक्ति का ह्रास हो रहा है। अतएव इन कुचक्रों के रोकने का प्रयत्न होना चाहिये। हिन्दू महासभा की स्थापना का दूसरा कारण यह था कि १६२२ में अहिंसात्मक असहयोग आन्दोलन के स्थगित कर देने के उपरान्त हिन्दुओं तथा मुसलमानों के जो दंगे हुये उनमें हिन्दुओं की धन तथा जन की अपेक्षाकृत अधिक हानि होती थी। अतएव आत्म-रक्षा के लिये हिन्दुओं को सङ्गठित करना नितान्त आवश्यक समझा गया। फलतः महासभा ने शुद्धि तथा सङ्गठन का आन्दोलन बड़े जोरों से चलाया। महासभा की स्थापना का तीसरा कारण यह था कि मुस्लिम लीग की माँगें उत्तरोत्तर बढ़ती जा रही थी और उसे बृटिश सरकार से पूरी सहायता प्राप्त हो रही थी। इण्डियन नेशनल कांग्रेस इन माँगों का विरोध उग्रता के साथ नहीं कर पा रही थी। इन्हीं परिस्थितियों से विवश होकर हिन्दुओं ने अपने को सङ्गठित किया था। दूसरे शब्दों में हम यह कह सकते हैं कि लीग की अनुचित माँगों तथा कांग्रेस की सान्त्वना की नीति के कारण ही हिन्दू महासभा की स्थापना की गई थी। दुर्भाग्यवश हिन्दू महासभा को अपने लक्ष्य में सफलता न प्राप्त हो सकी। इसका कारण यह था कि इसे हिन्दुओं से वह सहायता न प्राप्त हुई जो मुस्लिम लीग को मुसलमानों से प्राप्त हुई। कांग्रेस इसकी इतनी प्रबल प्रतिद्वन्द्वी संस्था थी और जन-साधारण पर उसका इतना अधिक प्रभाव था कि उसके सामने हिन्दू महासभा को सफलता मिलना सम्भव न हो सका। बृटिश सरकार से भी इसे कभी कोई प्रोत्साहन न मिल सका। अतएव राजनैतिक दृष्टिकोण से इस संस्था का कोई बड़ा महत्व न रहा।

जब श्री वी० डी० सावरकर ने हिन्दू महासभा का नेतृत्व-ग्रहण किया तब उसमें बहुत बड़ा परिवर्तन आ गया। अब महासभा का एक राजनैतिक कार्य-क्रम बन गया और उसने हिन्दुओं का पथ-प्रदर्शन करना आरम्भ किया। सावरकर ने ऐसे समय में महासभा का नेतृत्व ग्रहण किया जब कांग्रेस लीग से समझौता करने में प्रयत्नशील थी और हिन्दू लोग ऐसा अनुभव कर रहे थे कि उनके हितों पर कुठाराघात हो सकता है। श्री सावरकर ने हिन्दुओं को चेतावनी दी कि कांग्रेस की नीति का दुष्परिणाम हिन्दुओं को भविष्य में भोगना पड़ेगा। उन्होंने हिन्दुओं की प्रधानता पर बल दिया और उनके प्राचीन गौरव की उन्हें याद दिलाई। उनका कहना था कि भारत की राजनीति हिन्दू राजनीति होनी चाहिये और उस पर हिन्दुत्व की छाप होनी चाहिये। उन्होंने स्पष्ट रूप से बतला दिया कि भारत की लोकतन्त्रात्मक व्यवस्था में जो बहुमत के शासन को स्वीकार करता है मुसलमानों को अल्प संख्यक के रूप में रहना पड़ेगा। इससे स्पष्ट हो जाता है कि मुस्लिम लीग की भाँति महासभा भी एक उग्र साम्प्रदायिक संस्था थी। श्री सावरकर के बाद डा० श्यामा प्रसाद मुकर्जी ने हिन्दू महासभा का नेतृत्व ग्रहण किया और इसके दृष्टिकोण को राष्ट्रीय बनाने का प्रयत्न किया।

हिन्दू महासभा कांग्रेस के लौकिक राज्य के सिद्धान्त को नहीं मानती। इसका आदर्श है "हिन्दू राष्ट्र।" इसका लक्ष्य हिन्दू जाति का समुत्थान तथा संरक्षण करना, हिन्दू सभ्यता तथा संस्कृति की रक्षा तथा उन्नयन तथा हिन्दू राष्ट्र के गौरव का सम्वर्द्धन है। जब मुस्लिम लीग ने पाकिस्तान के निर्माण पर बल देना आरम्भ किया तब हिन्दू महासभा ने अखण्ड भारत के नारे लगाना आरम्भ किया। यद्यपि देश का विभाजन हो गया है परन्तु हिन्दू महासभा अब भी अखण्ड भारत के सिद्धान्त को मानती है। देश के विभाजन के विरोध में १५ अगस्त १६४७ को मनाये गये स्वतन्त्रता दिवस में हिन्दू महासभा ने भाग नहीं लिया। हिन्दू महासभा के अन्य आदर्शों के सम्बन्ध में श्री

कुछ भी कहा जाय कॉंग्रेस के लौकिक राज्य के सिद्धान्त का महासभा द्वारा विरोध समय-सङ्गत नहीं प्रतीत होता। आज कल का काल धार्मिक सहिष्णुता का काल है। अतएव समय की गति के साथ चलना अधिक श्रेयस्कर है। हमारी सभ्यता तथा संस्कृति भी हमें सहिष्णुता तथा सहनशीलता का ही पाठ पढ़ाती है।

राष्ट्रीय स्वयम् सेवक संघ—दूसरी हिन्दू साम्प्रदायिक संस्था राष्ट्रीय स्वयम् सेवक सङ्घ है। यह अपने को शुद्ध सांस्कृतिक संस्था बतलाती है जिसका ध्येय हिन्दू जाति को नव-जीवन प्रदान करना तथा उसे प्रबल बनाना है। यह प्रधानतः बालकों की संस्था है जो उनमें निश्चित प्रकार के भाव भरने का प्रयत्न करती है। हिन्दू महासभा की भाँति इसका भी अखण्ड भारत में विश्वास है और भारत में यह हिन्दू राष्ट्र की स्थापना करना चाहती है और लौकिक राज्य में इसका विश्वास नहीं है वरन् यह हिन्दू राष्ट्र का समर्थन करना चाहती है। चूँकि इस संस्था ने बालकों को सैनिक शिक्षा देने की आयोजना की थी अतएव कांग्रेस सरकार ने इसका विरोध किया और इस पर प्रतिबन्ध लगा दिये। सङ्घ को बालकों में सङ्गठन, समाज सेवा के भाव तथा अनुशासन शीलता उत्पन्न करने में बड़ी सफलता प्राप्त हुई है। परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि सङ्घ ने नव-युवकों में विचार-सङ्कीर्णता तथा साम्प्रदायिकता की भावना के भरने में योग दिया है। इस संस्था में यही एक दोष है। इस समय देश में ऐसी संस्थाओं की आवश्यकता है जो नव-युवकों के दृष्टिकोण को व्यापक बनायें और उनमें उदारता तथा सहिष्णुता के भाव भर दें।

रामराज्य परिषद्—यह भी एक साम्प्रदायिक संस्था है। इसका भी दृष्टिकोण प्रधानतः हिन्दू है। यह हिन्दू सभ्यता तथा संस्कृति की पोषक है और अखण्ड भारत के नारे लगाती है। इसके जन्मदाता करपात्री जी है। गत आम-चुनाव के समय इसका बड़ा जोर था और राजाओं-महाराजाओं से उसे बड़ी सहायता मिली थी। इस संस्था का न कोई निश्चित लक्ष्य है और न कार्य-क्रम केवल चुनाव के समय इसके नारे सुनाई पड़ते थे।

जन-संघ—यह भी एक अत्यन्त नया दल है जिसका प्रादुर्भाव १९५१-५२ के आम-चुनाव के कुछ ही दिन पहले हुआ था। यद्यपि इस दल वाले इसे शुद्ध राजनैतिक संस्था बतलाते हैं परन्तु वास्तव में हिन्दू महासभा की भाँति इसका भी दृष्टिकोण साम्प्रदायिक तथा संकीर्ण है। इसके प्रधान सङ्गठनकर्ता डा० श्यामा प्रसाद मुकर्जी थे। गत १९५१-५२ के चुनाव में इसे भी नगण्य सफलता प्राप्त हुई।

अकाली दल—यह सिक्खों की साम्प्रदायिक संस्था है परन्तु राजनीति में यह बड़ी दिलचस्पी लेती है। यह व्यवस्थापिकाओं तथा अन्य संस्थाओं के चुनावों में भाग लेती है। इसका प्रधान लक्ष्य सिक्खों के हितों की रक्षा करना है। गत स्वतन्त्रता के संग्राम में इसके विचार राष्ट्रीय रहे हैं और स्वतन्त्रता की प्राप्ति में इसने बड़ा योग दिया है। अन्य साम्प्रदायिक संस्थाओं और विशेषकर मुस्लिम लीग की अनुचित माँगों का इसने सदैव विरोध किया है। जिन दिनों लीग पाकिस्तान के नारे लगा रही थी उन दिनों यह लोग सिक्खिस्तान के नारे लगा रहे थे।

अन्य साम्प्रदायिक दल—भारतीय ईसाइयों, ऐंग्लो-इण्डियनों, यूरोपियनों तथा दलित जातियों की अपनी अलग साम्प्रदायिक संस्थायें हैं। इन सबका लक्ष्य अपने-अपने सम्प्रदायों के राजनैतिक अधिकारों तथा हितों की रक्षा करना है। डा० अम्बेदकर ने दलित जातियों को सवर्ण-हिन्दुओं से अलग करने का अथक प्रयास किया परन्तु उनका प्रयास निष्फल सिद्ध हुआ। हमारे नये संविधान द्वारा दस वर्षों के लिये हरिजनों के लिये स्थान सुरक्षित कर दिये गये हैं।

स्वतन्त्रता के उपरान्त—स्वतन्त्रता प्राप्त करने के उपरान्त हमारे देश में संयुक्त निर्वाचन प्रणाली का विधान किया गया परन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं है कि हमने साम्प्रदायिकता का अन्त कर दिया है। देश के विभाजन से देश का वातावरण अत्यन्त विषाक्त हो गया है। हमारे देश में अब भी साम्प्रदायिक संस्थाओं का प्राबल्य है। इन संस्थाओं को चाहिये कि वे अपने दृष्टिकोण को बदले और अपने को उदार तथा सहनशील बनायें। वास्तव में साम्प्रदायिकता के आधार पर दलों का सङ्गठन ही नहीं होना चाहिये। इनका निर्माण राजनैतिक तथा आर्थिक सिद्धान्तों पर होना चाहिये। तभी देश का कल्याण हो सकता है और साम्प्रदायिकता का उन्मूलन हो सकता है।

अन्य राजनैतिक दल— ऊपर कतिपय साम्प्रदायिक दलों का संक्षिप्त परिचय दिया गया है। अभी तक राजनैतिक दलों में केवल कांग्रेस का ही विवरण किया गया है जो राष्ट्रीय संस्था है और जिसका निर्माण राजनैतिक तथा आर्थिक सिद्धान्तों के आधार पर किया गया है। अब अन्य ऐसे राजनैतिक दलों का भी संक्षिप्त परिचय प्राप्त कर लेना है जिनका निर्माण राजनैतिक तथा आर्थिक सिद्धान्तों पर किया गया है और जो साम्प्रदायिक नहीं हैं।

समाजवादी दल—इस दल का निर्माण १९३४ में जय प्रकाश नारायण, अशोक मेहता, अच्युत पटवर्द्धन तथा अन्य नवयुवकों द्वारा उस समय किया गया था जब यह लोग नासिक के कारागार में बन्द थे। यह लोग गाँधी जी की नीति से असन्तुष्ट हो गये थे क्योंकि उनके मतानुसार गांधी जी आर्थिक नीति पर उतना बल नहीं देते थे जितना अन्य बातों पर। वास्तव में यह लोग कांग्रेस के आदर्शों में समाजवादी सिद्धान्तों का समावेश करना चाहते थे। यह लोग कांग्रेस के भीतर से ही कार्य कर रहे थे उससे अलग नहीं हुये थे। वास्तव में कांग्रेस के भीतर नव-युवकों का यह दल था। समाजवादी दल कांग्रेस को उदीयमान तथा प्रगतिशील संस्था बनाना चाहता था परन्तु राष्ट्र के हित के मामलों में यह कांग्रेस को पूरी सहायता देना चाहती थी और उसके साथ पूरा सहयोग करने के लिये उद्यत थी। कालान्तर में समाजवादी दल कांग्रेस का वामपक्षी दल बन गया। १९४२ के आन्दोलन के समय समाजवादी दल ने अत्यन्त श्लाघनीय कार्य किया और अपनी देश-भक्ति का परिचय दिया। जब समाजवादियों ने देखा कि कांग्रेस वाम-पक्षी सिद्धान्तों का अनुसरण नहीं कर रही है तब उन्होंने अपना अलग दल बना लिया और कांग्रेस से अलग हो गये। आज कल इस दल का कृषक मजदूर प्रजा पार्टी के साथ विलयन हो गया है और संयुक्त दल का नाम प्रजा समाजवादी पार्टी रक्खा गया है।

समाजवादी दल वाले द्रुतगति से देश का सामाजिक तथा आर्थिक सुधार करना चाहते हैं। समाजवादी खाद्य-समस्या पर बड़ा बल देते हैं और उसके सुलझाने के अनेक उपाय बतलाते हैं। भूमि की उपज बढ़ाने में किसानों की सहायता करने के लिये यह भूमि सेवकों की व्यवस्था करना चाहते हैं। निरर्थक भूमि को सार्थक बनाने, नहरों जलमग्न भूमि को सुखाने तथा जङ्गलों को साफ करने के लिये यह अन्न सेना की व्यवस्था करना चाहते हैं। ज़मींदारी उन्मूलन के सम्बन्ध में यह कांग्रेस की नीति के विरोधी हैं। वह जमींदारों को क्षति-पूर्ति के देने के पक्ष में नहीं हैं। सामाजिक न्याय तथा आर्थिक एकता स्थापित करने के लिये वह भूमि का पुनर्वितरण चाहते हैं जिसके अनुसार प्रत्येक कुटुम्ब को अधिक से अधिक ३० एकड़ भूमि मिलनी चाहिये। यह लोग किसान को भूमि मालिक बनाना चाहते हैं और किसान तथा राज्य के मध्य किसी को नहीं चाहते अर्थात् यह जमींदारी प्रथा के घोर विरोधी है। यह लोग सहयोगी कृषि के पक्ष में हैं।

राज्य को चाहिये कि वह किसानों की खाद, बीज, औजार आदि से सहायता करे और बाजार की पूरी सुविधा दें। समाजवादी लोग बड़े-बड़े व्यवसायों के राष्ट्रीयकरण के पक्ष में है। चूँकि हमारे देश में पूंजी का अभाव है अतएव यह लोग बैङ्क, बीमा तथा अन्य साख-संस्थाओं के राष्ट्रीयकरण के पक्ष में है। इनके विचार में खानों तथा विद्युत का भी राष्ट्रीयकरण होना चाहिये। समाजवादियों का कहना है कि किसी का भी वेतन १०० रू० से कम नहीं और १००० रु० से अधिक नहीं होना चाहिये। हमारे संविधान में बहुत सी बातें ऐसी हैं जो समाजवादियों के सिद्धान्तों से मेल नहीं खाती है। अतएव समाजवादी संविधान में सुधार चाहते हैं। जहां तक विदेशी नीति का सम्बन्ध है समाजवादी कामनवेल्थ की सदस्यता के विरोधी हैं और वे बृटेन के साथ पूर्ण रूप से सम्बन्ध विच्छेद कर देने के पक्ष हैं परन्तु जो विश्व के राष्ट्रों में गुटबन्दी है उससे अलग रहने के पक्ष में समाजवादी है।

साम्यवादी दल—भारत में साम्यवादी दल की स्थापना १९२४ में हुई थी परन्तु इसकी स्थापना के थोड़े ही दिन उपरान्त भारत की बृटिश सरकार ने इसे गैर-कानूनी घोषित कर दिया। १९४३ तक यह गैर-कानूनी ही संस्था बनी रही। इसके बाद इस पर से प्रतिबन्ध हटा दिया गया। प्रतिबन्ध हटाने का कारण यह था कि इसने कांग्रेस के "भारत छोड़ो" आन्दोलन का विरोध किया था और युद्ध को सफलता पूर्वक चलाने में बृटिश सरकार के साथ पूरा सहयोग किया था। यह बड़े आश्चर्य की बात है कि जब तक रूस इस युद्ध में सम्मिलित नहीं हुआ था तब तक साम्यवादी इसे साम्राज्यवादी युद्ध बतला रहे थे परन्तु जब रूस इस युद्ध में सम्मिलित हो गया तब वे इसे जनता का संग्राम कहने लगे। जब तक साम्यवादी दल पर प्रतिबन्ध लगा था तब तक यह लोग काँग्रेस में ही रह कर कार्य कर रहे थे परन्तु १९४२ के आन्दोलन के समय घोर अराष्ट्रीयता का कार्य करने के कारण यह लोग १९४५ में कांग्रेस से अलग कर दिये गये। तब से साम्यवादियों का अपना अलग स्वतन्त्र राजनैतिक दल बन गया है। भारत के साम्यवादियों की नीति सदैव एक सी नहीं रही है वरन् उसमें परिवर्तन होता रहा है। द्वितीय महासमर की इन्होंने घोर निन्दा की थी परन्तु जब रूस इसमें सम्मिलित हो गया तब वे इसका समर्थन करने लगे। जब तक पाकिस्तान की स्थापना नहीं हुई थी तब तक साम्यवादी लीग की पाकिस्तान की मांग का समर्थन किया था और १९४६ के आमचुनाव के समय कांग्रेस के विरुद्ध लीग के साथ सहयोग किया था परन्तु स्वतन्त्रता प्राप्त हो जाने के उपरान्त इन लोगों ने साम्प्रदायिक संस्थाओं के विरुद्ध कांग्रेस सरकार की सहायता करने का निश्चय किया परन्तु थोड़े ही दिन बाद इनकी नीति में फिर परिवर्तन हो गया और यह लोग लूट तथा हिंसात्मक कार्यों में संलग्न हो गये। थोड़े दिन बाद इनकी नीति में फिर परिवर्तन हो गया। इनके नेता श्री एस. ए. डंगे ने हिंसात्मक वृत्ति का विरोध करके वैधानिक रीति का समर्थन किया है। भारत के साम्यवादियों का एक बहुत बड़ा दोष यह है कि वे पथ-प्रदर्शन तथा प्रोत्साहन के लिये मास्को की ओर अपनी दृष्टि रखते हैं। साम्यवादियों के सिद्धान्त हमारी सभ्यता तथा संस्कृति एवं आदर्शों के विरुद्ध है। साम्यवादी घृणा तथा हिंसात्मक वृत्ति के प्रचारक होते है जो हमारी परम्परा के सर्वथा विरुद्ध है। यह लोग केवल किसानों तथा मज़दूरों के समर्थक होते हैं, समाज के अन्य वर्गों के ये घोर विरोधी होते हैं।

साम्यवादी विदेशी पूँजी के अपहरण तथा राष्ट्रीयकरण का समर्थन करते हैं। यह लोग बिना क्षतिपूर्ति किये ज़मींदारी के उन्मूलन के पक्ष में हैं। किसानों के ऋण को समाप्त कर देने का साम्यवादी समर्थन करते हैं। इनके मतानुसार ज़मींदारों की भूमि तथा कृषि-यंत्रों को छीन कर किसानों को देना चाहिये। यह किसानों की लगान में ५० प्रतिशत

कमी कर देने के पक्ष में हैं। जन-साधारण पर लगाये गये करों में कमी, परन्तु धनिकों के करों में वृद्धि करने के पक्ष में यह लोग है। यह लोग बड़े-बड़े व्यवसायों का राष्ट्रीयकरण करके उस पर श्रमजीवियों का नियंत्रण स्थापित कर देना चाहते हैं। साम्यवादी जनता की लोकतन्त्रात्मक व्यवस्था के स्थापित करने के पक्ष में हैं जिसमें ऊपर से नीचे तक शासन का प्रबन्ध जनता द्वारा निर्वाचित प्रतिनिधियों द्वारा होगा और यदि कोई प्रतिनिधि जनता की इच्छा के विरुद्ध कार्य करता है तो वह वापस बुला लिया जायगा। राज्य की सम्पूर्ण शक्ति इन्हीं प्रजा के प्रतिनिधियों के हाथ में होगी। पुलिस जनता की होगी और जनता का उस पर पूरा नियंत्रण होगा। अपने लक्ष्य की पूर्ति के लिये साम्यवादी नैतिक तथा अनैतिक सभी प्रकार के साधनों का प्रयोग करना चाहते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि यह लोग "अन्त भला तो सब भला" के सिद्धान्त में विश्वास करते हैं। जहाँ तक भारत का अन्य राज्यों के साथ सम्बन्ध है साम्यवादी कामनवेल्थ की सदस्यता के विरोध में हैं। यह लोग चाहते हैं कि भारत रूस के प्रभाव में रहे और उसी के गुट में सम्मिलित हो। सुरक्षा, विदेशी सम्बन्ध तथा आर्थिक मामलों में यह लोग पाकिस्तान के साथ सहयोग करने के पक्ष में हैं।

किसान मजदूर प्रजा पार्टी—समाजवादी दल की भांति कृषक मज़दूर प्रजापार्टी भी कांग्रेस की एक शाखा तथा शुद्ध राजनैतिक दल है। इसके निर्माता तथा प्रधान आचार्य जे बी. कृपलानी हैं। आचार्य कृपलानी कांग्रेस के भीतर ही एक लोकतन्त्रीय मोर्चा बनाना चाहते थे जो कांग्रेस की आलोचना करता और उसे कर्तव्य-भ्रष्ट होने से बचाता परन्तु जब उन्हें कांग्रेस संस्था के भीतर दूसरा दल बनाने की आज्ञा न मिली तब उन्होंने कांग्रेस छोड़ दिया और एक नया दल बनाया जिसका नाम कृषक मज़दूर प्रजा पार्टी रक्खा गया। इस दल के आदर्श तथा लक्ष्य और साधन तथा कार्य-क्रम वही हैं जो कांग्रेस के हैं। और अब इस दल का समाजवादी दल से विलयन हो गया है और इस संयुक्त दल का नाम प्रजा समाजवादी पार्टी पड़ गया है।

अध्याय २८

हमारा आधुनिक समाज तथा धर्म

हमारे समाज के दोष—हमारे देश में हिन्दू तथा मुसलमान दो बड़ी जातियाँ निवास करती हैं। इन दोनों के सामाजिक जीवन में बहुत सी बुराइयां हैं जिनका दूर करना नितान्त आवश्यक है। अनेकों सामाजिक दोषों के निवारण का प्रयास ब्रिटिश सरकार ने किया था। देश के स्वतन्त्र हो जाने के बाद से कांग्रेस-सरकार भी सामाजिक दोषों के दूर करने का प्रयत्न कर रही है। सरकार के अतिरिक्त भिन्न-भिन्न राजनैतिक तथा धार्मिक संस्थाएं भी सामाजिक दोषों के दूर करने का प्रयत्न कर रही हैं। यहां पर पहले हिन्दू समाज के दोषों तथा सुधारों पर प्रकाश डाला जायगा। इसके उपरान्त मुस्लिम तथा अन्य जातियों की सामाजिक दुर्बलताओं पर विचार किया जायगा। परन्तु यह दोष ऐसे हैं जो सम्पूर्ण भारतीय समाज में पाये जाते हैं।

हमारे भारतीय समाज में निम्न-लिखित प्रधान दोष परिलक्षित होते हैं :—

(१) साम्प्रदायिक ईर्ष्या तथा द्वेष, (२) जाति-व्यवस्था तथा अस्पृश्यता, (३) सम्मिलित कुटुम्ब, (४) वैवाहिक कुव्यवस्था, (५) स्त्रियों की दुर्दशा, (६) अपव्यय तथा ऋण, (७) निरक्षरता तथा मानसिक जड़ता, (८) दलित जातियों की दुर्दशा, (९) निर्धनता तथा सम्पत्ति की विषमता, (१०) मद्य-पान, (११) भिखारियों का बाहुल्य, और (१२) जुआ।

(१) साम्प्रदायिक ईर्ष्या तथा द्वेष—भारतीय समाज का सबसे बड़ा दोष साम्प्रदायिकता की भावना है। हमारे देश में भिन्न-भिन्न सम्प्रदायों के लोग पाये जाते जाते हैं जो एक-दूसरे से ईर्ष्या-द्वेष तथा अविश्वास रखते हैं। कुछ दिनों तक हिन्दुओं तथा मुसलमानों में अविश्वास तथा द्वेष बढ़ गया था और वे एक एक-दूसरे को घोर घृणा की दृष्टि से देखते थे। इसका सबसे बड़ा कारण मुसलमानों द्वारा घृणा का प्रचार था। परन्तु सौभाग्य से जब से देश का विभाजन हुआ है तब से लीग का प्रचार भारत यूनियन में समाप्त हो गया है। राष्ट्रीय मुसलमान हिन्दुओं तथा मुसलमानों को एक-दूसरे के अधिक से अधिक निकट लाने तथा उनमें सद्भावना एवं विश्वास उत्पन्न करने का प्रयास कर रहे हैं। कांग्रेस-सरकार भी साम्प्रदायिकता के समूल नष्ट करने का प्रयत्न कर रही है। हिन्दू-मुस्लिम एकता के लिए ही राष्ट्र-पिता गान्धी जी ने अपने प्राणों का बलिदान कर दिया। आशा की जाती है कि भविष्य में हिन्दू तथा मुसलमान गान्धी जी के आदर्शों का अनुसरण करेंगे और इस एकता को अविच्छिन्न बना देंगे। यद्यपि हिन्दू महासभा, रामराज्य परिषद्, जन-सङ्घ, आदि साम्प्रदायिक दल ईर्ष्या-द्वेष फैलाने का प्रयत्न करते रहते हैं परन्तु कांग्रेस सरकार तथा अन्य शुद्ध राजनैतिक दल इनके कुचक्रों तथा षड्यंत्रों को विफल बनाने के प्रयत्न में संलग्न रहते हैं। यह लोग मुसलमानों को यह विश्वास दिलाने में समर्थ हो सके हैं कि भारत यूनियन में मुसलमानों तथा अन्य अल्प-संख्यक सम्प्रदायों के हित पूर्णरूप से सुरक्षित रहेंगे और उनके साथ किसी प्रकार की भेद नीति का अनुसरण नहीं किया जायगा। हमारे देश के नेताओं ने नये संविधानमें सम्मिलित निर्वाचन की व्यवस्था करके साम्प्रदायिकता के दूर करने का प्रयत्न किया है और इस उद्योग में उन्हें पर्याप्त सफलता भी प्राप्त हुई है। इन दिनों सामाजिक वातावरण को शिक्षित व्यक्तियों ने

ऐसा बना दिया है कि भिन्न-भिन्न जातियां एक दूसरे के साथ भोजन करने में बहुत कम सङ्कोच करती हैं। अन्तर्जातीय विवाह भी होने लगे हैं। इस सब प्रगति से यह आशा की जाती है कि निकट भविष्य में साम्प्रदायिकता की भावना समाप्त हो जायगी।

(२) जाति-व्यवस्था तथा अस्पृश्यता—जाति-व्यवस्था तथा अस्पृश्यता भारतीय समाज की दूसरी बुराई है। इस प्रथा से हमारा समाज भिन्न-भिन्न वर्गों में बट गया है जो एक दूसरे से पृथक् रहने का प्रयास करते हैं। इनमें सहयोग तथा सद्भावना का अभाव रहता है और ईर्ष्या-द्वेष तथा प्रतिद्वन्दिता का प्रकोप रहता है। छूत-छात का भेद-भाव अब इतना अधिक है कि लोग परस्पर घृणा रखते हैं, जिससे राष्ट्रीयता तथा एकता के विकास में बड़ी कठिनाई पड़ जाती है। क्योंकि लोग अपने वर्ग अथवा सम्प्रदाय की विशेष चिन्ता करते हैं और राष्ट्र के हित की उपेक्षा कर जाते हैं। इसमें संदेह नहीं कि संसार के सभी देशों में जाति-प्रथा किसी रूप में पायी जाती है और भारत में भी इसका उन्मूलन करना बड़ा ही कठिन काम है। इसके उन्मूलन की आवश्यकता भी नहीं है। परन्तु इसके बन्धन ढीले अवश्य हो जाने चाहिये। राजनीति में लोकतन्त्र स्थापित करना तभी सफल है जब समाज में भी लोकतन्त्र स्थापित कर दिया जाय।

अस्पृश्यता हिन्दू समाज का सबसे बड़ा कलङ्क है। हमारे समाज में अछूतों की दशा बड़ी दयनीय है। शताब्दियों की गुलामी ने उन्हें पतन के गर्त में डाल दिया था। वे अशिक्षित तथा असभ्य थे। उनका कार्य-क्षेत्र उच्च जातियों की सेवा करना था। उन्हें सामाजिक अधिकारों से वंचित कर दिया गया था। अन्य जातियों के साथ वे भोजन, विवाह आदि नहीं कर सकते थे। समाज में उन्हें बड़ी घृणा की दृष्टि से देखा जाता था। उनकी आर्थिक दशा भी बड़ी शोचनीय थी। उन्हें पर्याप्त भोजन तथा वस्त्र नहीं मिलता था। वे इतने अयोग्य तथा अनभिज्ञ थे कि अपने राजनैतिक अधिकारों का समुचित उपभोग नहीं कर सकते थे। उन्हें आध्यात्मिक उन्नति का भी अवसर नहीं मिलता था, क्योंकि वे मन्दिर आदि में प्रवेश नहीं कर पाते थे, और निरक्षर होने के कारण धार्मिक ग्रन्थों का अध्ययन नहीं कर सकते थे।

अछूतों की सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक, सांस्कृतिक, आध्यात्मिक तथा नैतिक दशा के सुधारने का भिन्न-भिन्न कालों में प्रयत्न किया गया है। सबसे पहिले महात्मा गौतम बुद्ध तथा महावीर स्वामी ने जाति-प्रथा का खण्डन कर हरिजनों की असुविधाओं को दूर करने का प्रयत्न किया था इन महात्माओं के उपदेश के कारण अछूतों को भी मोक्ष का भागी समझा जाने लगा।

इसके बाद स्वामी रामानन्द ने चौदहवीं शताब्दी में जाति-व्यवस्था के दूर करने का प्रयत्न किया था। इन्होंने हरिजनों तथा मुसलमानों को भी अपना शिष्य बनाया। रामानन्दजी के बाद कबीर, नानक, तुकाराम, एकनाथ, नामदेव, आदि सन्तों ने भी अस्पृश्यता के दूर करने का प्रयत्न किया था परन्तु यह लोग जाति व्यवस्था को हटा न सके। १९ वीं शताब्दी में राजा राममोहन राय ने ब्रह्म-समाज की स्थापना करके अस्पृश्यता के दूर करने तथा जाति-व्यवस्था के बंधनों के ढीला करने का प्रयत्न किया था। ब्रह्म-समाजियों को भी अपने उद्देश्य में पूर्ण सफलता न प्राप्त हुई। इसके बाद स्वामी दयानन्द सरस्वती ने जाति-प्रथा का खण्डन करना आरम्भ किया। उन्होंने शुद्धि तथा सङ्गठन का प्रचार करने के लिए आर्य-समाज की स्थापना की। इसमें संदेह नहीं कि आर्य-समाज के प्रयत्न से जाति-व्यवस्था के बन्धन ढीले पड़ रहे हैं। शूद्रों की दशा के सुधारने का भी आर्य-समाजियों ने प्रयत्न किया है। इन लोगों ने अछूतों में शिक्षा-प्रसार करके व्यक्तित्व को ऊँचा उठाने का प्रयत्न किया है। अछूतों की धार्मिक कठिनाइयों के भी दूर करने का इन लोगों ने प्रयास किया है। सन् १९०६ में अखिल भारतीय अछूत मिशन समाज की स्थापना

हुई थी। इस संस्था ने अछूतों की सामाजिक तथा धार्मिक दशा के सुधारने का बहुत बड़ा प्रयत्न किया। परन्तु फिर भी हरिजनों की दशा में सन्तोषजनक उन्नति न हुई।

बीसवीं शताब्दी में अछूतोद्धार का सबसे अधिक प्रयत्न महात्मा गान्धी ने किया। उन्होंने अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए अखिल भारतीय हरिजन-सेवक-संघ की स्थापना की। महात्मा गान्धी ने इन अछूतों को हरिजन कहना आरम्भ किया और इनकी सर्वाङ्गीण उन्नति का प्रयत्न किया। अब हरिजनों की उन्नति करना कांग्रेस के कार्य-क्रम का एक अङ्ग बन गया। अब हरिजनों को धारा-सभाओं तथा समितियों में स्थान प्राप्त हो गया है और सरकारी नौकरियों में उन्हें अवसर दिया जाता है। स्कूलों, कालेजों तथा विश्व-विद्यालयों में हरिजनों के लड़कों को विशेष सुविधाएं दी जाती हैं। निःशुल्क शिक्षा के अतिरिक्त उन्हें पुस्तकें तथा छात्र-वृत्तियां भी मिलती हैं। सवर्ण हिन्दुओं ने इनके साथ सहभोज भी आरम्भ कर दिया है। अब इन्हें मंदिरों में भी जाने की आज्ञा है। ग्राम-सुधार की संस्थाएं हरिजनों की आर्थिक उन्नति का प्रयत्न कर रही हैं। आज-कल कांग्रेस सरकार हरिजनों को हर प्रकार की सुविधाएँ देने का प्रयत्न कर रही है। अतएव आशा की जाती है कि निकट भविष्य में हरिजनों की दशा काफी सुधर जायगी।

परन्तु अस्पृश्यता हरिजनों तक ही सीमित नहीं है। हिंदू मुसलमानों को म्लेच्छ समझते हैं और उनके साथ खान-पान नहीं रखते। इसी प्रकार ईसाइयों के साथ भी हिंदू लोग खान-पान नहीं रखते। परन्तु शिक्षा के प्रसार तथा सभ्यता की उन्नति के साथ-साथ जाति के बंधन ढीले होते जा रहे हैं और सहभोज तथा अन्तर्जातीय विवाह धीरे-धीरे होते जा रहे हैं। आशा है कि समय की प्रगति के साथ यदि जाति-व्यवस्था का नाश न भी हुआ तब भी इसके बन्धन अवश्य ढीले पड़ जायँगे।

(३) सम्मिलित कुटुम्ब :—सम्मिलित परिवार भी भारतीय समाज की एक विशेषता है। यद्यपि कर्त्तव्य-पालन, स्वार्थ-त्याग, न्याय, सहिष्णुता, प्रेम, दया, अनुशासन तथा पारस्परिक सहयोग एवं निर्भरता का पाठ सम्मिलित कुटुम्ब में ही मिलता है और बेकारी तथा गरीबी की समस्या सरलता से दूर की जा सकती है फिर भी इससे व्यक्तित्व के विकास में शिथिलता आ जाती है। इससे आलस्य तथा कलह की वृद्धि होती है, और स्फूर्ति, साहस, स्वावलम्बन तथा कर्म-परायणता के नष्ट हो जाने की सम्भावना रहती है। स्वतन्त्र विचारों का नाश हो जाता है और स्त्रियों को आधीनता तथा पर्दे में रहना पड़ता है। वर्त्तमान परिस्थिति में सम्मिलित कुटुम्ब की प्रथा अवांछनीय है। राजनैतिक चेतना तथा आर्थिक कठिनाइयों के कारण अब यह प्रथा टूटती जा रही है। नगरों में तो इसका बहुत कुछ लोप हो गया है।

(४) वैवाहिक कुव्यवस्था :—विश्व के किसी भी देश में विवाह सम्बन्धी इतनी कुव्यवस्थाएँ नहीं हैं जितनी भारतीय समाज में पायी जाती हैं। हमारे समाज में विवाह सम्बन्धी निम्न-लिखित कुरीतियाँ पायी जाती हैं :—

(क) बाल-विवाह :—हिन्दू समाज में बाल-विवाह का बड़ा प्रकोप है। कुछ जातियों में तो अत्यन्त अल्पायु में बालक-बालिकाओं का विवाह कर दिया जाता है। इसका उनके स्वास्थ्य पर बहुत बुरा प्रभाव पड़ता है। सन्तान की वृद्धि होती है जिनका पालन-पोषण उचित रीति से नहीं हो पाता। यह बालक स्वस्थ भी नहीं रहते और बहुत से अकाल मृत्यु पा जाते हैं। इनके माता-पिता को भी जीविका के लिये आरम्भ से ही अनेक चिन्तायें आ घेरती हैं। बाल विवाह के रोकने का सबसे पहिला प्रयत्न केशवचन्द्र सेन ने किया था। १९३० ई० में 'शारदा ऐक्ट' पास करके बाल-विवाह का निषेध कर दिया गया। इस ऐक्ट के अनुसार विवाह के समय बालक की अवस्था कम से

कम १८ वर्ष की और लड़की की अवस्था कम से कम १४ वर्ष की होनी चाहिये। परन्तु इस नियम का अभी सर्वथा पालन नहीं किया जाता है।

(ख) बहु-विवाह—भारतीय समाज में पुरुषों को कई विवाह करने का अधिकार है। यह कुप्रथा हिन्दुओं तथा मुसलमानों दोनों में पाई जाती है। एक व्यक्ति के कई स्त्रियाँ होती हैं। ऐसी दशा में घर में कलह तथा अशान्ति फैल जाती है। यद्यपि पुरुष कई स्त्रियों के रखने का अधिकार रखता है परन्तु एक स्त्री कई पति के रखने का अधिकार नहीं रखती है। यह सर्वथा अनुचित है। सामाजिक सुव्यवस्था के लिये प्रत्येक पुरुष को केवल एक ही स्त्री रखने का अधिकार होना चाहिये। हिन्दू-कोडबिल में बहु-विवाह के रोकने का प्रयत्न किया गया था परन्तु विरोध होने के कारण यह बिल स्थगित कर दिया गया है। परन्तु बहु-विवाह के रोकने के लिये एक दूसरा गैर-सरकारी बिल पार्लियामेंट में उपस्थित किया जा रहा है।

(ग) वृद्ध-विवाह—भारतीय समाज में वृद्ध-विवाह की भी प्रथा प्रचलित है। प्रायः माता-पिता धन के लोभ से अपनी कन्याओं का विवाह वृद्धों के साथ कर देते हैं। ऐसे अनमेल विवाहों का रोकना नितान्त आवश्यक है। इससे निर्दोष बालिकाओं का जन्म नष्ट हो जाता है। प्रायः वे युवावस्था में ही वैधव्य को प्राप्त हो जाती हैं और उनका आचरण भ्रष्ट हो जाता है।

(घ विधवाओं की दुर्दशा—हिन्दू समाज में विधवाओं की बड़ी दयनीय दशा है। यद्यपि स्त्री के मर जाने पर पुरुष अपना फिर से विवाह कर सकता है परन्तु पति के मर जाने पर स्त्री फिर से अपना विवाह नहीं कर सकती। विधवायें बर्बस सती भी करा दी जाती थीं। परन्तु इन कुप्रथाओं के दूर करने का अकथ प्रयास किया गया है। उन्नीसवीं शताब्दी में राजाराम मोहन राय के प्रयत्न से सती-प्रथा का अन्त कर दिया गया। विधवा-विवाह की ओर सबसे पहिले पं० ईश्वर चन्द्र विद्यासगर ने ध्यान दिया था। इन्होंने सिद्ध कर दिया कि विधवा-विवाह हिन्दू शास्त्रों के विरुद्ध नहीं है। १८५६ ई० में सरकार ने विधवा-विवाह नियम को पास कर दिया था। इसके बाद १९३७ में विधवा सम्पत्ति नियम पास किया गया जिससे विधवाओं को सम्पत्ति में भाग मिलने लगा। ब्रह्म-समाज, आर्य-समाज, पं० विष्णु शर्मा की विधवा-विवाह सभा तथा लखनऊ की हिन्दू विधवा-सुधार सभा ने इस दिशा में प्रशंसनीय प्रयत्न किया है। अब देश के भिन्न-भिन्न भागों में अनेकों विधवा आश्रम खुल गये हैं जहां विधवाओं की शिक्षा-दीक्षा का प्रबन्ध रहता है और उन्हें जीविकोपार्जन की विधि बतलाई जाती है। हिन्दू समाज में विधवाओं का दृश्य बड़ा हृदय-विदारक होता है। उससे अधिक असहाय, अभागिनी तथा दुखी अन्य स्त्री नहीं होती है। उन विधवाओं का पुनर्विवाह कर देना नितान्त आवश्यक है जो सन्तान-हीन हैं अथवा जिनकी अवस्था बहुत कम है। जो विधवायें पुनर्विवाह के लिये उद्यत न हों उनकी शिक्षा का समुचित प्रबन्ध कर देना चाहिये जिससे वे अपना स्वतन्त्र जीवन व्यतीत कर सकें।

(ङ) दहेज तथा आभूषण की प्रथा—भारतीय समाज में दहेज तथा आभूषण की भी कुप्रथा है। यद्यपि दहेज की प्रथा अच्छे उद्देश्य से चालू की गई थी परन्तु आज कल इसका बड़ा दुरुपयोग किया जाता है। कितनी कन्याओं के माता-पिता दहेज देने के कारण जीवन पर्यन्त के लिये दरिद्र हो जाते हैं। दहेज देने में असमर्थ होने के कारण कितने माता-पिता अपनी सुयोग्य कन्याओं का विवाह अच्छे घरों में नहीं कर पाते हैं। अतएव दहेज की प्रथा को हटाना नितान्त आवश्यक है। इस उद्देश्य का एक बिल पार्लियामेंट में पेश होने जा रहा है। विवाह में आभूषणों का भी प्रबन्ध करना पड़ता है। यद्यपि आभूषण कन्या का स्त्री-धन समझा जाता है और आपत्ति के समय

अत्यन्त लाभदायक सिद्ध होता है परन्तु आभूषण की चोरी का बड़ा भय रहता है। इसके अतिरिक्त आज-कल स्त्रियां आभूषणों का बहुत कम प्रयोग करती हैं। आभूषणों में व्यय किया जाने वाला धन किसी व्यवसाय अथवा अन्य किसी उपयोगी काम में लगाया जा सकता है। अतएव इस प्रथा को भी हटा देना ही उचित है।

(च) स्वयंवर का अभाव :—प्राचीन काल में कन्याएं अपने पति का वरण स्वयं कर लिया करती थीं। परन्तु बाल-विवाह के आरम्भ हो जाने पर वर चुनने का अधिकार माता-पिता को हो गया। कालान्तर में माता-पिता इस अधिकार का दुरुपयोग करने लगे और पूर्ण अवस्था को प्राप्त कन्याएं भी अपने पति के वरण करने में अपने विचार प्रकट करने से वंचित हो गई। आज-कल बाल-विवाह की प्रथा समाप्त हो रही है। अतएव कन्याओं से भी वर के चुनने में परामर्श लेनी चाहिये।

(५) स्त्रियों की दुर्दशा :—भारतीय समाज में स्त्रियों की बड़ी ही हीन दशा है। प्राचीन काल में स्त्रियों का बड़ा आदर होता था। वे पुरुषों की पूरक समझी जाती थीं। कोई भी यज्ञादि का कार्य स्त्रियों के सहयोग के बिना पूर्ण नहीं समझा जाता था। उत्सवों आदि में भाग लेने का उन्हें पूर्ण अधिकार रहता था। परन्तु कालान्तर में स्त्रियों को निम्नलिखित असुविधाओं का सामना करना पड़ा :—

(क) पर्दे की प्रथा :—इस प्रथा का प्रकोप हिंदुओं तथा मुसलमानों दोनों में पाया जाता है। भारतवर्ष में इस प्रथा का आरम्भ मुसलमानों के आक्रमण से हुआ है। इस प्रथा के आरम्भ होते ही स्त्रियों की उन्नति का मार्ग अवरुद्ध हो गया। उनका स्वास्थ्य बिगड़ गया, उनकी शिक्षा-दीक्षा समाप्त हो गई और उनका कार्य-क्षेत्र चूल्हा चक्की तक ही सीमित रह गया। फलतः स्त्रियों का शारीरिक तथा मानसिक ह्रास होने लगा और कालान्तर में वे केवल भोग की वस्तु समझी जाने लगीं। ज्यों-ज्यों शिक्षा का प्रचार होता जा रहा है त्यों-त्यों पर्दे की प्रथा भी समाप्त होती जा रही है।

(ख) निरक्षरता :—स्त्री-शिक्षा का हमारे देश में बड़ा अभाव है। स्त्रियों के मानसिक विकास की ओर बिलकुल ध्यान नहीं दिया जाता। माता-पिता कन्याओं को शिक्षा देना अपना कर्तव्य नहीं समझते। वे केवल उनका विवाह कर देना ही अपना कर्त्तव्य समझते हैं। परन्तु समय की गति के साथ और पाश्चात्य देशों से प्रभावित होने के कारण भारतीयों के दृष्टि-कोण में बहुत बड़ा परिवर्त्तन आ गया है। अब स्त्री-शिक्षा के प्रसार के लिए सरकारी तथा गैर-सरकारी दोनों प्रकार की संस्थाएं प्रयास कर रही हैं। स्त्रियों को शिक्षा प्राप्त करने के लिए भांति-भाँति की सुविधाएं दी जा रही हैं। मुसलमानों में भी अब स्त्रियों की शिक्षा की ओर विशेष रूप से ध्यान दिया जा रहा है और बहुत से स्कूल खोले जा रहे हैं।

(ग) संकीर्ण कार्य-क्षेत्र :—पर्दे की प्रथा तथा निरक्षता के कारण स्त्रियों का कार्य-क्षेत्र अत्यन्त संकीर्ण तथा सीमित था। उनका कार्य-क्षेत्र केवल चूल्हा-चक्की ही तक सीमित था। अतएव उनके अधिकार भी सीमित थे। परन्तु अब स्त्रियाँ प्रायः जीवन के सभी क्षेत्रों में कार्य कर रही हैं। राजनीति, साहित्य-सेवा तथा समाज-सुधार में वे पुरुषों के समान कार्य कर रही हैं। अतएव उनके अधिकारों में वृद्धि कर देना नितांत आवश्यक है। परन्तु अधिकारों के देने के पहले उनकी शिक्षा का समुचित प्रबन्ध होना चाहिये जिससे अपने अधिकारों का वे ठीक-ठीक उपभोग कर सकें। हमारे नये संविधान द्वारा स्त्रियों को पुरुषों के समान सभी अधिकार दे दिये गये हैं और उनकी उन्नति का द्वार खोल दिया गया है। अब वे मत देने की अधिकारिणी हो गयी हैं और धारा-सभाओं तथा समितियों की सदस्याएं हो सकती हैं।

(घ) अन्य असुविधाएँ :—स्त्रियों को अन्य बहुत सी असुविधाओं का सामना

करना पड़ता है। स्त्रियों के लिए पर्याप्त औषधालय नहीं हैं। देहातों में तथा छोटे-छोटे नगरों में तो इनका सर्वथा अभाव है। अतएव देहातों में स्त्रियों की चिकित्सा की सुव्यवस्था होनी चाहिये। स्त्रियों को पैतृक सम्पत्ति में वह अधिकार नहीं प्राप्त हैं जो पुरुषों को। स्त्रियों को इस अधिकार के देने का एक विधेयक पार्लियामेंट में पेश किया गया था, परन्तु लोक-मत के विरोध के कारण यह स्थगित कर दिया गया है।

(६) अपव्यय तथा ऋण—अपव्यय तथा ऋण भी हमारे देश की एक समस्या है। शादी विवाह में बड़ा धन अपव्यय किया जाता है। भोज आदि देने में भी बड़ा धन का अपव्यय होता है। पैतृक-क्रिया, श्राद्ध, आदि में भी बहुत सा धन व्यय किया जाता है। ब्याज हमारे देश में बहुत लिया जाता है। शिक्षा के प्रसार के साथ-साथ अब अपव्यय कम होता जा रहा है। सरकार ने ऋण के नियम बना दिये हैं और ग़रीबों को महाजनों के चंगुल से छुड़ाने के लिये सरकार की ओर से सहकारी समितियाँ खोली गयी हैं।

(७) निरक्षरता तथा मानसिक जड़ता—भारतीय समाज का एक भयङ्कर रोग निरक्षरता तथा मानसिक जड़ता है। केवल १४ प्रतिशत पुरुष तथा दो प्रतिशत स्त्रियाँ हमारे देश में शिक्षित हैं। शिक्षा ही सभ्यता का स्तम्भ है। इधर हमारे देश में शिक्षा का सरकारी तथा गैर-सरकारी दोनों प्रकार का प्रयत्न किया जा रहा है। हमारे राज्य में सहस्त्रों नये स्कूल हाल ही में खोले गये हैं। शिक्षा-प्रणाली के सुधार का भी प्रयत्न किया जा रहा है।

(८) दलित जातियों की दुर्दशा—अस्पृश्यता हिन्दू समाज का सबसे बड़ा कलङ्क है। हमारे देश में दलित जातियों को अनेकों असुविधाओं का सामना करना पड़ता है। जीवन के सभी क्षेत्रों में उन्हें कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। यद्यपि दलित जातियां हिन्दू हैं और हिन्दू देवताओं को मानती हैं परन्तु उन्हें मन्दिर में जाने का अधिकार नहीं है। सामाजिक क्षेत्र में भी उनके साथ बड़ा अन्याय किया जाता है। छूआ-छूत के भेद-भाव के कारण उन्हें अपनी अलग बस्ती बनानी पड़ती है, जिनकी सफ़ाई आदि पर विशेष ध्यान नहीं दिया जाता। उन्हें कुओं से पानी लेने से मना किया जाता है और उच्च वर्ग के बालकों के साथ उनका पढ़ना सम्भव नहीं हो पाता। यद्यपि अब उन बालकों को पाठशालाओं में जाने का अधिकार दे दिया गया है परन्तु वे बड़ी घृणा की दृष्टि से देखे जाते हैं। दलित जातियां अशिक्षित ह और अज्ञानता के अन्धकार में पड़ी हैं। इसका प्रभाव उनके आर्थिक जीवन पर भी पड़ता है। अशिक्षित होने के कारण वे नौकरियाँ नहीं प्राप्त कर सकते। उनके पास भूमि भी नहीं होती कि वे खेती कर सकें। अतएव विवश होकर उन्हें मज़दूरी करनी पड़ती है और बड़ा दुखी जीवन व्यतीत करना पड़ता है। उन पर ऋण का भार भी बहुत हो जाता है। जिसका ब्याज बढ़ कर इतना हो जाता है कि जीवन पर्यन्त वे उससे मुक्ति नहीं पाते। शराब खोरी, जुआ आदि का दुर्व्यसन इनमें बहुत होता है। यद्यपि अब इन्हें सभी राजनैतिक अधिकार प्राप्त हो गये हैं परन्तु अशिक्षित तथा दरिद्र होने के कारण वे उनका उपभोग नहीं कर पाते। दलित जातियाँ हिन्दू समाज का बहुत बड़ा अङ्ग हैं। अतएव इनकी दशा के सुधारने का पूरा प्रयास होना चाहिये। दलितों के उद्धार का कार्य गान्धी जी ने १९३२ में बड़े जोरों के साथ आरम्भ किया था। आर्य-समाज, ब्रह्मसमाज आदि संस्थायें इसके पहले से दलितों के उद्धार का प्रयत्न कर रही थीं। परन्तु गान्धी जी का आन्दोलन बड़े ज़ोरों के साथ चला। गान्धी जीने हरिजनों के लिये मंदिरों के द्वार खुलवाये और उन्हें धारा-सभाओं में स्थान दिलवाये। 'हरिजन-सेवक-संघ' एक बहुत बड़ी संस्था है जो हरिजनों के उद्धार के लिये बड़े श्लाघनीय कार्य कर रही है। हरिजनों

का उद्धार बड़ी तेज़ी के साथ हो रहा है। हमारे नये संविधान द्वारा अस्पृश्यता को गैर-क़ानूनी घोषित कर दिया गया है। उन्हें अब सभी राजनैतिक अधिकार प्राप्त हो गये हैं और सभी संस्थाओं में उन्हें विशेष सुविधाएं दी जा रही हैं जो सवर्ण हिन्दुओं को प्राप्त नहीं हैं।

(९) निर्धनता तथा सम्पत्ति की विषमता :—भारतीय समाज में निर्धनता का प्रकोप तथा सम्पत्ति की बड़ी असमानता है। इस व्यवस्था के बदलने की बड़ी आवश्यकता है। आज-कल हमारे देश के नेता सबको धन कमाने का अवसर प्रदान कर रहे हैं। देश के कारोबार को बढ़ाने तथा राष्ट्रीकरण का प्रयत्न किया जा रहा है। आशा है कि थोड़े ही दिनों में देश की गरीबी दूर हो जायगी। आजकल श्री विनोबा भावे गरीबों को भूमि देने का प्रयत्न कर रहे हैं।

(१०) मद्यपान :—हमारे समाज की एक बहुत बड़ी बुराई मद्य-पान है। संसार का कोई ऐसा नशा नहीं है जिसका सेवन हमारे देश में न किया जाता हो। शराब, गाँजा, भाँग, कोकीन, काफी, चाय, तम्बाकू, बीड़ी, सिगरेट, सभी चीजों का प्रयोग यहाँ होता है। सरकारी तथा गैर सरकारी दोनों प्रकार से मद्य-पान के दूर करने का प्रयत्न किया जा रहा है।

(११) द्यूत-क्रीड़ा :—हमारे देश में जुआ खेलने की भी बड़ी प्रथा है। विशेषकर दिपावली के अवसर पर बहुत जुआ खेला जाता है। और बहुत से लोग अपना सर्वस्व गवाँ देते हैं। मेलों में प्रायः जुआ होता है। इसका निषेध कर देना आवश्यक है।

(१२) भिखारियों का बाहुल्य :—हमारे देश में भिखारियों का बड़ा बाहुल्य है। यद्यपि दीन-दुखियों, असहायों, निर्बलों, अंधों, लङ्गड़ों, आदि की सहायता करना व्यक्तियों तथा सरकार का परम धर्म है, और इन्हें समाज तथा सरकार दोनों से सहायता मिलनी चाहिये; परन्तु प्रायः देखा जाता है कि स्वस्थ लोग भी जो जीविकोपार्जन कर सकते हैं, भिक्षा माँगना आरम्भ कर देते हैं और समाज के लिए भार बन जाते हैं। अतएव भिक्षा माँगने पर निषेध कर देना चाहिये और जो असमर्थ तथा असहाय हैं उन्हें सरकार से पूरी सहायता मिलनी चाहिये।

मुस्लिम समाज :—यद्यपि मुस्लिम समाज बड़ा ही लोक-तन्त्रात्मक समझा जाता है परन्तु इस समाज में भी बड़ी कुरीतियाँ हैं। इसमें भी जाति-प्रथा पाई जाती है। परन्तु उसका स्वरूप हिंदू समाज की भाँति जटिल नहीं है। मुसलमानों में भी दलित जातियाँ होती हैं जो घृणा की दृष्टि से देखी जाती हैं। इनमें भी बहु-विवाह की प्रथा होती है। एक समय में एक मुसलमान चार पत्नियां रख सकता है। पर्दे की प्रथा का प्रकोप इनमें हिन्दुओं से भी अधिक है। मुस्लिम समाज की इन बुराइयों को दूर करना उतना ही आवश्यक है जितना हिन्दू-समाज की बुराइयों का।

भारतीय समाज में स्त्रियों की स्थिति —हमारे समाज में नारियों की क्या स्थिति है इस पर एक विहंगम दृष्टि डाल देना आवश्यक है।

प्राचीन काल में स्त्रियों की स्थिति :—प्राचीन काल में भारतीय समाज में स्त्रियों को बड़ा ऊँचा स्थान प्रदान किया गया था। आर्यों के समाज में उनका स्थान पुरुषों से निम्न-कोटि का रक्खा गया था, परन्तु द्रविड़ों के समाज में उन्हें पुरुषों से ऊँचा स्थान दिया गया था और माता ही कुटुम्ब की प्रधान मानी जाती थी। मुसलमानों के आने के पहले स्त्रियों की ऐसी हीन दशा न थी। उस समय के पुरुषों के कार्यों में स्त्रियां सहायता पहुँचाती थीं। उन दिनों स्वयंवर की प्रथा थी और यज्ञ आदि में स्त्रियों के बिना काम नहीं चलता था। उनकी शिक्षा का अच्छा प्रबन्ध था। विधवाओं को पुनर्विवाह की आज्ञा थी। धर्म में भी उनका महत्त्वपूर्ण स्थान था। पत्नी को साथ लिए बिना पति का कोई धार्मिक

कार्य कभी पूर्ण नहीं समझा जाता था। घर में उनका उचित आदर था परन्तु यह स्थिति उच्च-वर्ग की स्त्रियों की ही थी। निम्न-वर्ग की स्त्रियों की स्थिति अच्छी न थी।

स्त्रियों की वर्तमान स्थिति :—मुसलमानों के भारतवर्ष में प्रवेश करने के साथ-साथ इनकी दशा में बहुत परिवर्तन हो गया और इनकी स्थिति बिगड़ने लगी। इन्हें भिन्न-भिन्न कठिनाइयों तथा असुविधाओं का सामना करना पड़ा, जिससे इनका शारीरिक, मानसिक तथा आध्यात्मिक पतन आरम्भ हो गया। अब इनकी सामाजिक, आर्थिक तथा राजनैतिक दशा पर अलग-अलग विचार करेंगे—

(क) सामाजिक दशा:—भारतीय समाज में स्त्रियों की बड़ी दयनीय दशा है। कन्याओं का अल्पायु में ही विवाह कर दिया जाता है जिसके परिणाम बड़े भयानक सिद्ध होते हैं। छोटी अवस्था में ही परिवार का भार उनके ऊपर आ पड़ता है। उनका स्वास्थ्य नष्ट हो जाता है और माता का उत्तरदायित्व उन्हें कम अवस्था में ही उठाना पड़ता है। बाल-विवाह से सन्तान की अधिकता हो जाती है जिससे आर्थिक भार बढ़ जाता है। इस कुप्रथा से अकाल मृत्यु भी हो जाती है। प्रायः सन्तान दुर्बल होती है। सन्तान के बाहुल्य से देश की जन-संख्या भी बढ़ जाती है। इससे देश की दरिद्रता भी बढ़ जाती है। इस प्रथा का परिणाम यह होता है कि बाल-विधवाओं की संख्या भी बढ़ जाती है। चूँकि उच्च वर्ग के लोगों में विधवाओं के पुनर्विवाह का निषेध है अतएव इन बाल-विधवाओं का सम्पूर्ण जीवन नष्ट हो जाता है। अल्पावस्था में विवाह हो जाने के कारण इनकी शिक्षा-दीक्षा भी नहीं हो पाती। अतएव उन्हें जीविका कमाने का कोई साधन नहीं रहता और उन्हें आजन्म दूसरों पर निर्भर रहना पड़ता है। घर में स्त्री का दर्जा पुरुष से निम्न-कोटि का माना जाता है और उसे अपना जीवन आधीनता की अवस्था में बिताना पड़ता है। निरक्षर होने के कारण स्त्रियों का कार्य-क्षेत्र केवल चूल्हा-चक्की ही समझा जाता है और वह घर की सेविका के रूप में रहती है और घर के कार्यों के भार से लदी रहती है। पर्दे की प्रथा का भी प्रकोप है। इससे स्त्रियों का स्वास्थ्य बिगड़ जाता है और वे प्रायः घातक रोग का शिकार बन जाती हैं। स्त्रियों को सामाजिक स्वतन्त्रता तथा सुविधाओं से वंचित रहना पड़ता है। मुसलमान समाज में भी स्त्रियों की दशा बड़ी खराब है। इस समाज में भी एक पुरुष अनेकों स्त्रियाँ रख सकता है। पर्दे की प्रथा मुसलमानों में हिन्दुओं से अधिक है। शिक्षा की भी बड़ी कमी है।

(ख) आर्थिक दशा :—स्त्रियों की आर्थिक दशा भी बड़ी शोचनीय है। वे स्वयं द्रव्योपार्जन नहीं कर सकतीं। अतएव उन्हें भोजन तथा वस्त्र के लिए पुरुषों के आश्रय में रहना पड़ता है। अब तक उसे हिन्दू समाज में केवल स्त्री-धन का अधिकार था। परन्तु अब सौभाग्य से उनके आर्थिक अधिकारों में वृद्धि कर दी गयी है। पाश्चात्य शिक्षा के प्रचलित हो जाने के कारण धीरे-धीरे अब स्त्रियों की दशा सुधर रही है। अब लोग अपनी लड़कियों की शिक्षा की ओर ध्यान दे रहे हैं और स्त्रियों की दशा धीरे-धीरे सुधरती जा रही है। अब लड़कियों की शिक्षा के लिए बहुत से स्कूल तथा कालेज खुल गये हैं। शिक्षा के विकास के साथ-साथ पर्दे की प्रथा का भी लोप होता जा रहा है। स्त्रियों को पैतृक सम्पत्ति का कोई भाग नहीं मिलता। इससे उनमें आर्थिक स्वतन्त्रता का सर्वथा अभाव रहता है।

ग) राजनैतिक दशा:—कुछ दिनों पहिले स्त्रियाँ राजनैतिक अधिकारों से सर्वथा वंचित थीं। परन्तु धीरे-धीरे उन्हें राजनैतिक अधिकार प्राप्त होने लगे। पहिले स्त्रियों को केवल मताधिकार दिया गया था परन्तु बाद में उन्हें धारा-सभाओं तथा समितियों में भी प्रवेश करने का अधिकार प्राप्त हो गया। नये संविधान द्वारा तो स्त्रियों को वे सभी राजनैतिक अधिकार दे दिये गये हैं जो पुरुषों को प्राप्त हैं। परन्तु अशिक्षा, पर्दे की प्रथा,

कार्य-क्षेत्र की संकीर्णता, लज्जा तथा अन्य असुविधाओं के कारण वे इन अधिकारों का पूर्ण रूप से उपभोग नहीं कर सकती हैं।

स्त्रियों के पिछड़े रहने के कारण:—हमारे देश की स्त्रियों के पिछड़े रहने के निम्न लिखित कारण हैं--

(१) शिक्षा :—हमारे देश में स्त्रियों की शिक्षा की समुचित व्यवस्था नहीं है। गांवों में तो स्त्री शिक्षा का बिलकुल प्रबंध नहीं है। परन्तु नगरों में अब स्त्री-शिक्षा पर उतना ही जोर दिया जाता है जितना बालकों की शिक्षा पर।

(२) पर्दे की प्रथा :—स्त्रियों के पिछड़े रहने का दूसरा कारण पर्दे की प्रथा है। यह कुप्रथा हिंदुओं तथा मुसलमानों दोनों में पायी जाती है। पर्दे की प्रथा के कारण स्त्रियों की शिक्षा की व्यवस्था नहीं हो पाती और उनका स्वास्थ्य भी बिगड़ जाता है।

(३) समाज में निम्न-स्थान :—स्त्रियों को समाज में पुरुषों से निम्न-कोटि का स्थान प्रदान किया जाता है। इससे उनमें उत्साह तथा साहस का सर्वथा अभाव रहता है और आत्म-संस्कार तथा आत्मोन्नति की भावना मंद पड़ जाती है।

(४) संकीर्ण कार्य-क्षेत्र :—चूल्हा-चक्की ही स्त्रियों का कार्य-क्षेत्र समझा जाता है। इससे उनके विकास का मार्ग अवरुद्ध हो जाता है। उनकी प्रतिभा बहुमुखी होने पर भी जीवन के भिन्न-भिन्न मार्गों में अपना चमत्कार नहीं दिखला सकती।

(५ बाल-विवाह :—भारतीय समाज में अल्पायु में ही विवाह हो जाने के कारण उसकी शिक्षा-दीक्षा की समुचित व्यवस्था नहीं हो पाती। बाल्यावस्था में ही गृहस्थी का भार उसके ऊपर पड़ जाता है और उसकी उन्नति का मार्ग बन्द हो जाता है।

(६) पुरुषों का संकीर्ण दृष्टिकोण—स्त्रियों के प्रति पुरुषों का दृष्टि-कोण बड़ा संकीर्ण होता है। माता-पिता अपनी कन्याओं की शिक्षा-दीक्षा को उतना आवश्यक नहीं समझते जितना बालकों की। साधारण लोग स्त्रियों को केवल विलास तथा सन्तानोत्पत्ति का साधन मानते हैं। वे स्त्रियों का कार्य-क्षेत्र घर तक ही सीमित रखना चाहते हैं और स्त्री-शिक्षा के घोर विरोधी होते हैं। इनके विचार में शिक्षित बना देने तथा उनके कार्य-क्षेत्र को अधिक बढ़ा देने से उनका नैतिक पतन हो जायगा और उनका आचरण भ्रष्ट हो जायगा।

(७) लज्जाशीलता—स्त्रियाँ स्वभावतः लज्जाशील होती हैं और वे जीवन के भिन्न-भिन्न मार्गों में पदार्पण करने तथा निःसंकोच कार्य करने के लिए उद्यत नहीं होती हैं। देहात की स्त्रियाँ तो इतनी लज्जा-शील होती हैं कि वे अपने उन अधिकारों के भी समुचित उपभोग के लिए उद्यत नहीं होती हैं जो उन्हें इन दिनों प्राप्त हो गये हैं।

(८) स्त्रियों के अधिकारों की उपेक्षा—स्त्रियों के पिछड़े रहने का एक यह भी कारण है कि समाज में स्त्रियों के अधिकारों की सदैव उपेक्षा की गई है। प्रायः सभी देशों में स्त्रियाँ राजनैतिक, सामाजिक तथा आर्थिक अधिकारों से वंचित कर दी गई थीं। हमारे देश में तो स्त्रियों को किसी भी प्रकार के राजनैतिक अधिकार प्राप्त नहीं थे, और उन्हें अनेकों सामाजिक तथा आर्थिक असुविधाओं का सामना करना पड़ता था। यद्यपि आजकल स्त्रियों को सभी प्रकार के अधिकार प्राप्त हो गये हैं परन्तु सभी स्त्रियों में इन अधिकारों के पूर्ण रूप से उपभोग करने तथा आत्मोन्नति की क्षमता ही नहीं है।

स्त्रियों की दशा के सुधारने के उपाय—स्त्रियाँ पुरुषों की अर्धांङ्गिनी मानी जाती हैं। फलतः वे समाज की एक प्रमुख अंग हैं। अतएव समाज को उन्नतशील तथा सभ्य बनाने के लिए स्त्रियों की दशा को सुधारना नितान्त आवश्यक है। स्त्रियों की दशा के

सुधारने के लिए सबसे पहला तथा महत्वपूर्ण उपाय यह है कि इन्हें शिक्षित बना दिया जाय। इसका उनके जीवन के सभी क्षेत्रों पर प्रभाव पड़ेगा। इससे पर्दे की प्रथा समाप्त हो जायगी और उनके जीवन का कार्य-क्षेत्र अत्यन्त व्यापक तथा विस्तृत हो जायगा। उनमें स्वतन्त्रता तथा स्वावलम्बन की भावना आ जायगी और अपने व्यक्तित्व को ऊपर उठाने का वे प्रयत्न करने लगेंगी। शिक्षित हो जाने पर वे अपनी जीविका भी आवश्यकता पड़ने पर कमा सकेंगी। इससे उनकी आर्थिक परतन्त्रता समाप्त हो जायगी और वे पुरुषों के आश्रय से मुक्त हो जायगी और उनकी भिन्न-भिन्न प्रकार की यातनाएँ एवं पीड़ाएँ समाप्त हो जायगी। स्त्रियों की दशा को सुधारने के लिए बाल-विवाह को भी बन्द कर देना नितान्त आवश्यक है। बाल-विवाह के समाप्त हो जाने पर कन्याओं की शिक्षा-दीक्षा पर ध्यान दिया जाने लगेगा। उनका स्वास्थ्य सुधर जायगा। कुटुम्ब का भार उन्हें अल्पायु में ही न उठाना पड़ेगा, और सन्तान का बाहुल्य न होगा, जिससे उनकी आर्थिक स्थिति के भयानक रूप धारण कर लेने की सम्भावना न रहेगी। स्त्रियों की दशा सुधारने के लिए उन्हें पैतृक सम्पत्ति में हिस्सा मिलना चाहिये और उत्तराधिकार के नियम में परिवर्तन होना चाहिये। स्त्रियों के सुधार के लिए पुरुषों के दृष्टिकोण में भी परिवर्तन होना चाहिये। माता-पिता को अपनी कन्याओं की शिक्षा-दीक्षा की ओर उतना ही ध्यान देना चाहिये जितना बालकों की शिक्षा पर। पुरुषों को स्त्रियों को केवल भोग-विलास तथा सन्तानोत्पत्ति की चीज नहीं समझना चाहिये, वरन् समाज तथा कुटुम्ब का एक अत्यन्त महत्वपूर्ण अंग मान कर उनके व्यक्तित्व के पूर्ण विकास का प्रयत्न करना चाहिये, और उन्हें हर प्रकार की सुविधाओं के देने के लिए उद्यत रहना चाहिये। यद्यपि स्त्रियों को पुरुषों के समान सभी अधिकार प्राप्त हो गये हैं परंतु उनमें उनके उपभोग करने की क्षमता नहीं है। जब स्त्रियों को इस योग्य बना दिया जायगा और उनकी बाधाओं को दूर कर दिया जायगा तभी वे आत्मोन्नति के पथ पर अग्रसर होंगी और अपनी बहुमुखी प्रतिभा का परिचय जीवन के भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में दे सकेंगी। स्त्रियों में संगठन तथा आत्मबल उत्पन्न करने की बड़ी आवश्यकता है।

स्त्रियों की दशा के सुधार के लिये किये गये प्रयत्न—यद्यपि स्त्रियों के सुधार का आन्दोलन बहुत दिनों से चल रहा था और राजा राममोहन राय तथा अन्य समाज-सुधारकों ने सती-प्रथा तथा अन्य कुप्रथाओं के हटाने का प्रयत्न किया था। परन्तु प्रथम महायुद्ध के बाद से स्त्री-उद्धार के आन्दोलन ने अधिक जोर पकड़ा। पाश्चात्य देशों के सम्पर्क में आने के कारण भारत की महिलाओं में भी जागृति आरम्भ हो गयी। पहिले यह आन्दोलन केवल सामाजिक क्षेत्र तक ही सीमित था परन्तु बाद में राजनैतिक क्षेत्र में भी सुधार का कार्य आरम्भ हो गया। श्रीमती सरोजनी नायडू तथा सरला देवी ने स्त्रियों की दशा के सुधारने के आंदोलन को जोरों के साथ चलाया। इससे अन्य स्त्रियों को भी प्रोत्साहन मिल गया और वे इस आंदोलन में सम्मिलित हो गयीं। भारतीय स्त्रियों ने अपने राजनैतिक अधिकारों की मांग सबसे पहिले १९१७ में की। अतः इसका परिणाम यह हुआ कि स्त्रियों को प्रांतीय धारा-सभाओं में वोट देने का अधिकार प्राप्त हो गया। दस वर्ष के भीतर सभी प्रांतों में स्त्रियों को मताधिकार मिल गया। १९२३ में स्त्रियों ने सर्व-प्रथम प्रांतीय धारा-सभाओं और केन्द्रीय असेम्बली के चुनाव में भाग लिया। १९२६ में उन्हें धारा-सभा की सदस्य बनने का अधिकार प्राप्त हो गया। १९३५ के संविधान द्वारा ६६ लाख से अधिक स्त्रियों को मताधिकार दे दिया गया। इसके अतिरिक्त धारा-सभाओं में स्त्रियों के लिए स्थान भी सुरक्षित कर दिये गये। स्त्रियों ने न केवल सुरक्षित स्थानों को प्राप्त किया वरन् चुनाव में पुरुषों को हरा कर उन्होंने अपनी संख्या और बढ़ाली। १९४६ में नवीन संविधान बनाने के लिए जो विधान-निर्मात्री-सभा बनी उसमें १० स्त्रियाँ भी थीं जो स्वतंत्र भारतवर्ष में पार्लियामेण्ट की सदस्या बन गयीं। भारतीय स्त्रियाँ अब

उत्तरदायित्व के पदों को ग्रहण कर रही हैं और अंतर्राष्ट्रीय परिषदों में भी भाग ले रही हैं। इस सम्बन्ध में श्रीमती सरोजनी नायडू, राजकुमारी अमृतकौर तथा विजय लक्ष्मी पण्डित के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। हमारे नये संविधान द्वारा स्त्रियों को वह सभी राजनैतिक अधिकार दे दिये गये हैं जो पुरुषों को प्राप्त हैं। इस प्रकार राजनैतिक दृष्टिकोण से स्त्रियाँ पुरुषों के सम-कक्ष बना दी गई हैं और उनकी उन्नति का द्वार खोल दिया गया है। परन्तु अभी और अधिक सुधार की आवश्यकता है। इन दिनों तीन *प्रधान संस्थाएँ स्त्रियों के सुधार का कार्य कर रही हैं। यह संस्थाएँ* Women's Indian Association, National Council of Women in India तथा All India Women's Conference हैं।

स्त्रियों की माँगें तथा उनका औचित्य:—हमारे देश में स्त्रियों की दशा बड़ी शोचनीय रही है। स्त्रियां एक सम्पत्ति समझी जाती थीं और उनके साथ दासी का-सा व्यवहार होता था। न उन्हें पैतृक सम्पत्ति में कोई अधिकार प्राप्त था और न उनकी शिक्षा की ओर ध्यान दिया जाता था। उनका सम्पूर्ण जीवन आधीनता का जीवन था। बाल्यावस्था में माता-पिता की आधीनता में, युवती होने पर अपने पति की आधीनता में और पति न होने पर अपने पुत्र की आधीनता में रहना पड़ता था। धर्म में पड़ी, शृङ्खला की बेड़ियों में जकड़ी, अशिक्षित और दीन-हीन भारतीय नारी की करुण कहानी बड़ी ही हृदय-विदारक है परन्तु समय तथा परिस्थितियों के परिवर्तन के साथ-साथ अब उनकी भी दशा सुधरती जा रही है। अब स्त्रियों में जागृति आरम्भ हो गई है और वे अपने को संगठित करके अपने अधिकारों की माँग कर रही हैं। स्वतन्त्रता-युद्ध में स्त्रियों ने अपना अलग संगठन बनाया और अनेक राष्ट्रीय आन्दोलनों में शामिल भी हुईं। भारतीय स्त्रियों की प्रधान मांगें निम्नलिखित हैं:—

(१) प्रत्येक लड़की को शिक्षा का अधिकार प्राप्त होना चाहिये।

(२) बाल-विवाह की प्रथा बन्द हो जाय और लड़कियों का विवाह १६ वर्ष की अवस्था से पहले न हो।

(३) स्त्रियों को मताधिकार प्राप्त हो और सार्वजनिक संस्थाओं में उनका प्रतिनिधित्व हो।

(४) स्त्रियों को पुरुषों के समान अधिकार प्राप्त होना चाहिये।

(५) आत्मोन्नति के लिये स्त्रियों का संगठन करना चाहिये।

(६) स्त्रियों में यह भावना उत्पन्न करना कि भारत का भविष्य उन्हीं के हाथों में है।

उपरोक्त माँगों में से अधिकांश मांगें स्वीकृत हो चुकी हैं। स्त्रियों में काफी जागृति हो चुकी है। नवीन संविधान में स्त्रियों को पुरुषों के बराबर सभी अधिकार दे दिये गये हैं। वास्तव में तो स्त्रियों की बहुत सी मांगें ठीक हैं और लोकमत भी उनके पक्ष में है परन्तु इसमें मतभेद हो सकता है कि स्त्रियों को पुरुषों के बराबर अधिकार दे दिये जायँ। क्योंकि स्त्रियों तथा पुरुषों में शारीरिक विषमता होती है। अतएव उनके कार्यों में भी कुछ अन्तर हो सकता है। आशा की जाती है कि नये संविधान की योजना के अनुसार वास्तव में स्त्रियां अधिकाधिक प्रत्येक कार्य क्षेत्र में भाग लेंगी और अपने अधिकारों को इस प्रकार स्थायी और सुरक्षित बना लेंगी।

मजदूरों की मांगें तथा उनका औचित्य—विज्ञान की उन्नति के कारण व्यवसायों में भयङ्कर क्रान्ति उत्पन्न हो गई है। इस व्यवसायिक क्रान्ति के परिणाम स्वरूप बड़े-बड़े कारखानों का जन्म हुआ है। इन कारखानों में सहस्रों मजदूर काम करते हैं। इन मजदूरों की दशा सन्तोषजनक नहीं है। उन्हें उचित पारिश्रमिक प्राप्त नहीं होता और उन्हें बहुत समय तक कार्य करना पड़ता है। इन्हें ऐसे स्थान में रहना पड़ता है

जहाँ वायु अथवा प्रकाश भी प्राप्त नहीं होता। उन्हें कोई विश्राम काल तथा मनोरञ्जन का साधन प्राप्त नहीं होता है। आकस्मिक दुर्घटना हो जाने पर भी उनकी व्यवस्था का कुछ प्रबन्ध नहीं है। इन सब असुविधाओं को दूर करने के लिये अब मजदूरों ने अपने को सङ्गठित कर लिया है। अब मजदूरों के सङ्घ बन गये हैं। इन्हें (trade union) कहते हैं। १६२० के अखिल भारतीय मजदूर सङ्घ (All India Trade Union Congress) ने मजदूरों के लिये निम्नलिखित माँगें पेश की थीं :—

(१) कारखानों, मिलों तथा खानों में मजदूरों से ८ घण्टे से अधिक काम न लिया जाय।

(२) प्रारम्भिक तथा शिल्प-सम्बन्धी शिक्षा अनिवार्य तथा निःशुल्क कर दी जाय।

(३) बेकारी, बुढ़ापा तथा बीमारी के लिये राष्ट्रीय बीमा हो।

(४) खानों के अन्दर स्त्रियों से काम न लिया जाय। कारखानों का निरीक्षण करने के लिये अधिक संख्या में निरीक्षकाएँ हों और कारखानों के पास ऐसे स्थान हों जहाँ मजदूरों के छोटे-छोटे बच्चे रह सकें और जिनके लिये सुव्यवस्था की जा सके।

(५) वेतन की न्यूनतम सीमा निश्चित की जाय जिससे कम वेतन किसी मज़दूर को न मिले।

(६) ऐसे क़ानून बनाये जायें जिससे मिल मालिकों तथा मज़दूरों के झगड़ों का परस्पर समझौता हो जाय और झगड़े आगे न बढ़ें।

(७) धारा-सभाओं में मज़दूरों का पर्याप्त प्रतिनिधित्व हो।

(८) सभी वयस्कों को मताधिकार प्राप्त होना चाहिये।

(९) सरकारी नौकरियों का भारतीयकरण होना चाहिये।

(१०) मज़दूरों को हरजाना दिलाने वाले ऐक्ट में सुधार हो।

अब भी मज़दूरों की उपर्युक्त माँगें हैं। जैसे-जैसे मज़दूरों में जागृति आती जा रही है और उनका संगठन प्रबल होता जा रहा है त्यों-त्यों उनकी माँगें बढ़ती जा रही हैं। अपनी माँगों की पूर्त्ति का सबसे बड़ा साधन मज़दूरों ने हड़ताल को बना रक्खा है। मज़दूरों की दशा दिन पर दिन सुधरती जा रही है। सरकार भी इनके प्रति सहानुभूति रखती है और इनकी सहायता करती है। अतएव इनका कार्य और भी सुलभ हो गया है। मिल-मालिकों तथा मज़दूरों में होने वाले झगड़ों को दूर करने के लिये भारत सरकार ने Trades Disputes Act पास कर दिया है। इन क़ानूनों द्वारा झगड़ों के दूर करने की व्यवस्था की गयी है। मज़दूरों की रक्षा के लिये तथा उन्हें सन्तुष्ट रखने के लिये सरकार ने फैक्ट्री ऐक्ट पास किया है। इन क़ानूनों द्वारा मज़दूरों की बहुत सी असुविधाएँ दूर कर दी गयी हैं। अब कारखानों में अधिक से अधिक दस घंटे प्रतिदिन और अधिक से अधिक ५४ घंटे प्रति सप्ताह काम लिया जा सकता है। १२ वर्ष से १५ वर्ष तक की आयु के बच्चों से प्रतिदिन अधिक से अधिक ५ घंटे काम लिया जा सकता है। विश्राम तथा साप्ताहिक अवकाश की भी व्यवस्था की गई है। अब कारखानों में हवा तथा प्रकाश का भी प्रबन्ध किया गया है। यह भी व्यवस्था की गई है कि रात में में स्त्रियों तथा १४ वर्ष से कम अवस्था वाले बच्चों से काम न लिया जाय। Workman' Compensation Act द्वारा विशेष प्रकार की चोटों, आकस्मिक, दुर्घटनाओं तथा मृत्यु के लिये हरज़ाना देने की व्यवस्था की गयी है। मज़दूरों के स्वास्थ्य के निरीक्षण के लिये बोर्ड भी बनाया गया है। इतने सुधार होने पर भी मज़दूर अपनी दशा में और अधिक सुधार चाहते हैं। बीमारी, बुढ़ापे, बेकारी, आदि के लिये वे बीमा चाहते हैं। यद्यपि इस दशा में भी काफ़ी सुधार हुआ है परन्तु अभी और काम करने की आवश्यकता है। मज़दूरों के लिये प्राविडेन्ड फन्ड की व्यवस्था होनी चाहिये, इनके बच्चों को शिक्षा का समुचित प्रबंध होना चाहिये। मज़दूरों के स्वास्थ्य तथा मनोरञ्जन की

व्यवस्था नितान्त आवश्यक है। यद्यपि नगरों के मज़दूरों की दशा में बड़ा सुधार हो गया है परन्तु गाँव के मज़दूरों की दशा अभी शोचनीय है। इन मज़दूरों की दशा में भी सुधार करना नितान्त आवश्यक है। इन्हें पर्याप्त मज़दूरी मिलनी चाहिये और इनके बच्चों की शिक्षा-दीक्षा का समुचित प्रबंध होना चाहिये। इनके नैतिक उत्थान का भी प्रयत्न करना चाहिये जिससे इनमें जो दुर्गुण आ गये हों वे दूर हो जायँ। इन्हें छोटे-छोटे उद्योग-धन्धों में लगाये रहना चाहिये जिससे वे बेकार न बैठें। वर्त्तमान सरकार ने मज़दूरों की दशा सुधारने का बहुत प्रयत्न किया है जिसके कारण मिलों के मालिक अथवा अन्य पूँजीपति इन पर अत्याचार न कर सकें।

दलित जातियों की स्थिति—स्त्रियों तथा मज़दूरों की वर्तमान स्थिति का सिंहावलोकन करने के उपरान्त दलित जातियों की स्थिति पर एक विहङ्गम दृष्टि डाल देना आवश्यक है।

हरिजनों की स्थिति—अछूत अथवा हरिजन हमारी जाति-व्यवस्था के फल हैं। हरिजनों अथवा दलित जातियों की संख्या हिन्दू समाज में २० तथा ३० प्रतिशत के बीच में है। जाति-प्रथा हिन्दू समाज की मूलाधार है जातियाँ चार हैं, अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्री, वैश्य तथा शूद्र। इनकी उपजातियों का कहीं अन्त नहीं है। शूद्रों का नाम महात्मा जी ने हरिजन रक्खा है। क्योंकि भगवान् के सिवा और उनकी सहायता करने वाला कोई दूसरा व्यक्ति नहीं था। यही शूद्र दलित जातियों के नाम से प्रसिद्ध हैं। हरिजनों में भारत के मूल निवासी तथा ऐसे लोग सम्मिलित हैं जिनका काम प्राचीन काल में बड़ा ही घृणित तथा निकृष्ट होता था। इनके दुष्कर्मों के कारण समाज इन्हें घृणा की दृष्टि से देखने लगा और इनसे खान-पान बन्द कर दिया। धीरे-धीरे इनका इतना पतन हुआ कि इन्हें छूना भी पाप समझा जाने लगा। जब जाति-प्रथा का आधार व्यवसाय न रह कर जन्म हो गया तब इनके कर्मों पर विचार न करके इनकी जाति से ही लोग घृणा करने लगे। इस प्रकार शूद्र जाति में जन्म लेने से ही मनुष्य न्यूनतम कोटि का गिना जाता है और उसे अनेक असुविधाओं तथा अत्याचारों का शिकार बनना पड़ता है। इन हरिजनों की समस्याएं धार्मिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक तथा राजनैतिक सभी प्रकार की हैं।

(क) धार्मिक समस्या—एक समय ऐसा था जब हरिजनों को मोक्ष का भागी नहीं समझा जाता था और उन्हें पूजा पाठ करने का अधिकार नहीं प्राप्त था। परन्तु बहुत से ऐसे धर्म-सुधारक हुए जिन्होंने मोक्ष का मार्ग हरिजनों के लिए खोल दिया और उन्हें पूजा-पाठ करने का अधिकार प्राप्त हो गया। फिर भी हरिजनों को मन्दिरों में जाने की आज्ञा न थी। ब्राह्मण इन्हें मन्दिर में प्रवेश नहीं करने देते थे। परन्तु महात्मा गांधी ने इनकी इस धार्मिक गुत्थी के सुलझाने का काफ़ी प्रयत्न किया। अब हरिजनों को धीरे-धीरे मन्दिरों में प्रवेश करने का अधिकार प्राप्त होता जा रहा है। परन्तु अशिक्षित होने के कारण यह धर्म-ग्रंथों का अध्ययन नहीं कर सकते थे। अतएव इनकी सभी प्रकार की धार्मिक असुविधाओं को दूर कर देना नितान्त आवश्यक है। अछूतों के लिए सभी मन्दिर खुल जाने चाहिये और उन्हें शिक्षित बना देना चाहिये, जिससे वे धर्म-ग्रंथों का अध्ययन कर सकें।

(ख) सामाजिक समस्या—हरिजनों को हिन्दू समाज में बहुत ही निम्न स्थान दिया गया है। उन्हें अछूत समझा जाता है। न उनके स्थान पर कोई भोजन करता है और न कोई उनके हाथ का पानी पीता है। दक्षिण भारत में तो उच्च-जाति के लोग उनसे इतनी घृणा करते हैं कि उनकी परछाईं पड़ जाने पर भी लोग अपने को अपवित्र समझते हैं। अतएव शूद्र उस मार्ग से नहीं जा सकता जिससे उच्च वर्ण के लोग जाते

हैं। अन्य स्थानों में भी हरिजन सार्वजनिक कुओं से पानी नहीं ले सकते थे और न सार्वजनिक स्नानागारों का प्रयोग कर सकते थे। सार्वजनिक उत्सवों में भी वह स्वतंत्रतापूर्वक भाग नहीं ले सकते थे। यद्यपि महात्मा गाँधी के प्रयत्न से इस दिशा में थोड़ा बहुत सुधार हुआ है परंतु अभी इस क्षेत्र में और अधिक प्रयत्न करने की आवश्यकता है। समाज से छूत-छात का भेद-भाव मिटा देना चाहिये। हरिजनों के हाथ का लोगों को पानी पीना चाहिये और उनके साथ भोजन करना चाहिये। यदि वह सज्जन तथा सदाचारी है तो उसका उसी प्रकार आदर होना चाहिये जिस प्रकार अन्य वर्ण के लोगों का होता है। यह कार्य शिक्षा के प्रसार से अत्यन्त सुलभ हो जायगा।

(ग) सांस्कृतिक समस्या—हरिजनों की सांस्कृतिक समस्या भी बड़ी जटिल है। शताब्दियों की गुलामी ने उनकी बुद्धि को कुण्ठित कर दिया है। पीढ़ियों से शारीरिक कार्य करते-करते उनकी बुद्धि मन्द हो गई है। कुछ दिनों पहले तो उन्हें सार्वजनिक स्कूलों में शिक्षा भी नहीं प्राप्त हो सकती थी। परन्तु अब यह असुविधा दूर हो गई है। फिर भी उनकी शिक्षा की समस्या बिलकुल नहीं सुलझ पाई है। इनकी आर्थिक दशा इतनी खराब हो गई है कि न तो वह फीस दे सकते हैं और न पुस्तकें खरीद सकते हैं। यहाँ तक कि सभ्य लोगों की भाँति इन्हें अच्छे वस्त्र की भी सुविधा नहीं है। इनकी आर्थिक दशा इतनी बुरी है कि इनके बच्चे छोटी अवस्था से ही उद्योग-धन्धों में लग जाते हैं और शिक्षा से वंचित रह जाते हैं। इससे उनकी मानसिक उन्नति नहीं हो पाती और वे भाग्य-वादी, डरपोक तथा आकांक्षाहीन हो जाते हैं। उनमें दासत्व का भाव आ जाता है और ऐसा प्रतीत होता है कि वे स्वयं अपने को अत्यन्त हीन समझते हैं। यदि हरिजनों को शिक्षित बना दिया जायगा तो उनकी अन्य सभी समस्याएं सुलझ जायगी। उनके बच्चों के लिये निःशुल्क शिक्षा, छात्रवृत्ति तथा पुस्तकों का प्रबन्ध होना चाहिये।

(घ) आर्थिक समस्या—हरिजनों की आर्थिक दशा भी बड़ी शोचनीय है। न उनके पास भूमि है और न कोई लाभप्रद व्यवसाय। न उनके पास अच्छा घर होता है और न पहनने को कपड़े हैं। प्रायः मज़दूरी करके ही उन्हें अपना पेट भरना पड़ता है। न उन्हें अच्छी नौकरी मिलती है और न वे पूंजी की कमी के कारण कोई उद्योग धन्धे कर पाते हैं। ऐसी दशा में वे ऋण के भार से लदे रहते हैं और इस कर्ज़ के लिये उन्हें इतना ब्याज देना पड़ता है कि वे महाजनों के चंगुल से आजन्म नहीं निकल पाते। उचित शिक्षा द्वारा हरिजनों की आर्थिक दशा सुधारी जा सकती है। हरिजनों को भूमि दिलानी चाहिये और कम ब्याज पर उन्हें सरकार द्वारा रुपया मिलना चाहिये। उनके लिये अच्छे-अच्छे उद्योग-धन्धे भी खुलवाने चाहिये।

(ङ) राजनैतिक समस्या—हरिजनों की राजनैतिक समस्या भी बहुत उलझी हुई है। यद्यपि उन्हें सभी प्रकार के राजनैतिक अधिकार दे दिये गये हैं परन्तु अशिक्षित तथा दरिद्र होने के कारण वे इन अधिकारों का समुचित प्रयोग नहीं कर पाते। अतएव इनके शिक्षित बनाने तथा आर्थिक दशा के सुधारने का अधिक से अधिक प्रयत्न करना चाहिये। अभी उनमें न वोट देने की आवश्यक योग्यता है और न निर्वाचित होने की। वे सरकारी नौकरियों के भी योग्य नहीं हैं।

(च) अन्य समस्यायें—हरिजनों की और भी कई समस्यायें हैं। मद्यपान, जुआ खेलना, गन्दी आदतें, उच्छिष्ट भोजन आदि हरिजनों की समस्यायें हैं जिसके लिये वे स्वयं ज़िम्मेदार हैं। अतएव इन हरिजनों को मितव्ययता का पाठ पढ़ाना चाहिये। सफ़ाई की ओर भी उनका ध्यान आकर्षित करना चाहिये। डिस्ट्रिक्ट बोर्ड तथा म्युनिसिपल बोर्ड भी इनकी बड़ी सहायता कर सकते हैं। हिन्दुओं की मनोवृत्ति का बदलना

भी नितान्त आवश्यक है। उनके साथ सहानुभूति पूर्ण व्यवहार होना चाहिये। जो संस्थायें पहले से हरिजनों के उद्धार में लगी हैं उनकी हमें सहायता करनी चाहिये। हरिजनों को अपने उद्धार के लिये अधिक से अधिक प्रयत्न करना चाहिये। जब उनमें आत्मोन्नति, आत्म-सम्मान तथा आत्म-निग्रह के भाव आ जायँगे तब वे सङ्गठन द्वारा अपना सुधार स्वयं कर लेंगे। जो जाति इतनी परिश्रमशील, धैर्यवान तथा सहिष्णु है वह अपना उद्धार स्वयं कर सकती है।

दलित जातियों की माँगें तथा उनका औचित्य—हिन्दू समाज में अछूतों की बड़ी हीन दशा है। अब अछूतों में भी जागृति हो रही है और वे सवर्ण हिन्दुओं की बराबरी का स्थान चाहते हैं। वे चाहते हैं कि धारा-सभाओं तथा सरकारी नौकरियों में उनके लिये स्थान सुरक्षित कर दिये जायँ। चूँकि वे बहुत पिछड़े हैं अतएव वे विशेष सुविधाएं चाहते हैं। वे चाहते हैं कि सरकारी नौकरियों के चुनाव में उनके साथ रियायत की जाय और उन्हें सरकारी नौकरियां दी जायँ। अछूतों को बेगार करनी पड़ती है। बहुत-सा काम उन्हें विवश होकर करना पड़ता है। बहुत से कामों के लिये उन्हें उचित बदला नहीं मिलता। वे चाहते हैं कि सरकार द्वारा यह सब गैर-क़ानूनी घोषित किया जाय। अछूतों का एक वर्ग यह भी चाहता था कि उन्हें पृथक् निर्वाचन का अधिकार दिया जाय। पर अब स्वतंत्र भारत में यह आवाज़ बन्द-सी हो गयी है। अछूत दरिद्र होने के कारण कुछ विशेष सुविधायें चाहते हैं जैसे अपने बच्चों के लिये नि:शुल्क शिक्षा, छात्र वृत्ति इत्यादि। अछूतों की करीब-करीब सब ही माँगें पूरी की जा रही हैं। महात्मा गान्धी ने अछूतोद्धार के लिये अपने प्राणों की बाज़ी लगा दी थी। फलतः स्वतंत्र भारत में अछूतों की दशा सुधारने का नितान्त प्रयत्न हो रहा है। उनके बच्चों को स्कूलों में सब ही प्रकार की सुविधायें दी जा रही हैं। योग्य मनुष्यों को सरकारी नौकरियाँ भी दी जाती हैं। जो सामाजिक प्रतिबन्ध इन पर लगे हुये थे उनसे भी उन्हें छुटकारा मिलता जा रहा है।

गत वर्षों में किये गये सुधार—अछूतों की सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक, आध्यात्मिक तथा नैतिक दशा के सुधारने का भिन्न-भिन्न कालों में प्रयत्न किया गया है। सबसे पहिले गौतम बुद्ध तथा महावीर स्वामी ने जाति-प्रथा का खण्डन कर हरिजनों की असुविधाओं को दूर करने का प्रयत्न किया था। अब अछूतों को भी मोक्ष का भागी समझा जाने लगा।

इसके बाद स्वामी रामानन्द ने १४ वीं शताब्दी में जाति-व्यवस्था के दूर करने का प्रयत्न किया था। उन्होंने हरिजनों तथा मुसलमानों को भी अपना शिष्य बनाया। रामानन्द जी के बाद कबीर, नानक, तुकाराम, एकनाथ, नामदेव आदि सन्तों ने भी अस्पृश्यता के दूर करने का प्रयत्न किया था। परन्तु यह लोग जाति-व्यवस्था को हटा न सके। १६ वीं शताब्दी में राजा राममोहन राय ने ब्रह्मसमाज की स्थापना कर अस्पृश्यता के दूर करने तथा जाति-व्यवस्था के बन्धनों के ढीला करने का प्रयास किया था। ब्रह्म-समाजियों को भी अपने उद्देश्य में पूर्ण सफलता प्राप्त न हुई। इसके उपरान्त स्वामी दयानन्द सरस्वती ने जाति-प्रथा का खण्डन आरम्भ किया। उन्होंने शुद्धि तथा सङ्गठन का प्रचार करने के लिए आर्य-समाज की स्थापना की। इसमें सन्देह नहीं कि आर्य-समाज के प्रयत्न से जाति-व्यवस्था के बन्धन ढीले पड़ रहे हैं। शूद्रों की दशा के के भी सुधारने का आर्यसमाजियों ने प्रयत्न किया है। इन लोगों ने अछूतों में शिक्षा-प्रसार करके उनके व्यक्तित्व को ऊँचा उठाने का प्रयत्न किया है। अछूतों की धार्मिक कठिनाइयों के भी दूर करने का इन लोगों ने प्रयत्न किया है। १९०६ में अखिल भारतीय अछूत मिशन समाज की स्थापना हुई थी। इस संस्था ने भी अछूतों की सामाजिक तथा

आर्थिक दशा के सुधारने का बहुत बड़ा प्रयत्न किया। परन्तु फिर भी हरिजनों की दशा में सन्तोषजनक उन्नति न हुई।

बीसवीं शताब्दी में अछूतोद्धार का सबसे अधिक प्रयत्न महात्मा गाँधी ने किया। उन्होंने अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए अखिलभारतीय हरिजन सेवक संघ की स्थापना की। महात्मा गाँधी ने इन अछूतों को हरिजन कहना आरम्भ किया और इनकी सर्वाङ्गीण उन्नति का प्रयत्न किया। अब हरिजनों की उन्नति करना काँग्रेस के कार्य-क्रम का एक अङ्ग बन गया है। अब हरिजनों को धारा-सभाओं में स्थान प्राप्त हो गया है और सरकारी नौकरियों में उन्हें अवसर दिया जाता है। स्कूलों तथा कालेजों में हरिजनों के लड़कों को विशेष सुविधाएँ दी जाती हैं। उन्हें छात्रवृत्ति तथा पुस्तकें भी मिलती हैं। सवर्ण हिन्दुओं ने इनके साथ सहभोज भी आरम्भ कर दिया है। अब इन्हें मन्दिरों में भी जाने की आज्ञा है। ग्राम-सुधार की संस्थाएँ हरिजनों की आर्थिक उन्नति का भी प्रयत्न कर रही हैं। आजकल कांग्रेस सरकार हरिजनों को हर प्रकार की सुविधाएँ देने का प्रयत्न कर रही है। अतएव आशा की जाती है कि निकट भविष्य में हरिजनों की दशा काफी सुधर जायगी।

भारतवर्ष एक अत्यन्त विशाल देश है और इसमें भिन्न-भिन्न जातियाँ निवास करती हैं। इनमें हिन्दू बहु-संख्यक हैं और अन्य जातियाँ अल्प-संख्यक हैं। हिन्दुओं में सवर्ण हिन्दू बहु-संख्यक तथा दलित जातियाँ अल्प-संख्यक हैं। हमारे नये संविधान से पृथक् निर्वाचन-प्रणाली हटा दी गई है और संयुक्त निर्वाचन-प्रणाली की स्थापना कर दी गई है। संयुक्त निर्वाचन प्रणाली में अल्प-संख्यकों के हितों का संरक्षण आवश्यक हो जाता है। फलतः हमारे संविधान द्वारा भी परिगणित, आदिवासियों तथा एंग्लो-इण्डियनों के लिए संरक्षण की व्यवस्था की गई है। परन्तु यह संरक्षण केवल दस वर्ष के लिए किया गया है। यहाँ पर एक बात ध्यान देने योग्य है कि यद्यपि मुसलमान, सिक्ख, पारसी, आदि भी अल्प-संख्यक हैं परन्तु इनके लिए किसी भी प्रकार का संरक्षण नहीं किया गया है। एक बात और ध्यान देने योग्य है। वह यह कि संरक्षण की व्यवस्था केवल संसद तथा विधान-मण्डलों के निम्न-सदन में की गई है, उच्च-सदन में नहीं; अर्थात् लोक-सभा तथा विधान-सभा में ही स्थान सुरक्षित रक्खे गये हैं, राज्य-परिषद् तथा विधान-परिषदों में संरक्षण की कोई व्यवस्था नहीं की गई है।

लोक-सभा में संरक्षण—संसद की लोक-सभा में निम्न-लिखित के लिए स्थान सुरक्षित कर दिये गये हैं :—

(१) परिगणित जातियों के लिए तथा (२) आदिवासियों के लिए। परन्तु आसाम के आदिवासी क्षेत्रों में आदिवासी जातियों के लिए स्थान सुरक्षित नहीं हैं। आसाम के स्वशासित ज़िलों में आदिवासी जातियों के लिए स्थान सुरक्षित हैं।

परिगणित जातियों तथा आदिवासी जातियों के लिए उनकी उस राज्य में जन-संख्या के अनुपात में स्थान सुरक्षित कर दिये गये हैं तथा लोक-सभा में राज्य के लिए नियत सदस्य संख्या के अनुपात में संरक्षण किया गया।

हमारे नये संविधान में यह व्यवस्था की गयी है कि यदि राष्ट्रपति ऐसा अनुभव करता है कि एंग्लो-इण्डियनों को लोक-सभा में यथेष्ट प्रतिनिधित्व नहीं प्राप्त हुआ है तो वह अधिक से अधिक दो एंग्लो-इण्डियनों को लोक-सभा के लिए मनोनीत कर सकता है।

राज्यों की विधान सभाओं में संरक्षण—लोक-सभा की भाँति राज्यों की विधान-सभाओं में भी परिगणित तथा आदिवासी जातियों के लिए स्थान सुरक्षित कर दिये गये हैं। राज्य की विधान सभाओं में इनका प्रतिनिधित्व इनकी जन-संख्या तथा विधान-सभा के सदस्यों की संख्या के अनुपात में होता है।

हमारे नये संविधान में यह व्यवस्था की गई है कि यदि राज्यपाल अथवा राजप्रमुख इस बात का अनुभव करता है कि विधान-सभा में ऐंग्लो-इण्डियनों को यथेष्ट प्रतिनिधित्व नहीं प्राप्त हुआ है तो वह उचित संख्या में उनके प्रतिनिधि मनोनीत कर सकता है।

सरकारी नौकरियों में संरक्षण—भारत सरकार ने अगस्त १९४७ की अपनी एक विज्ञप्ति में यह घोषणा की थी कि समस्त केन्द्री विभागों में जहाँ नियुक्तियां संघीय लोक सेवा आयोग द्वारा होती हैं वहाँ परिगणित जातियों के लिए १२½ प्रतिशत स्थान सुरक्षित रहेंगे। इसी प्रकार उत्तर-प्रदेश में १० प्रतिशत, बिहार तथा पूर्वी-पञ्जाब में १५ प्रतिशत स्थान परिगणित जातियों के लिए सुरक्षित कर दिये गये।

हमारे नये संविधान की ३३५ वीं धारा द्वारा यह व्यवस्था की गई है कि संघ तथा राज्य के शासन-प्रबन्ध के विभागों में नियुक्तियां करते समय, शासन प्रबन्ध की कार्य-क्षमता की रक्षा करते हुए, परिगणित तथा आदिवासी जातियों के पदाभिलाषियों के दावों पर विचार किया जायगा।

विधान के आरम्भ से दो वर्ष तक ऐंग्लो-इण्डियनों के लिए रेल, कस्टम, डाक व तार विभागों में उसी प्रकार स्थान सुरक्षित रहेंगे जैसे कि १५ अगस्त १९४७ के पहले थे। परन्तु इसके बाद हर दो वर्ष के बाद उनमें १० प्रतिशत की कमी कर दी जायगी और विधान के आरम्भ के दस वर्ष बाद यह संरक्षण बिलकुल समाप्त हो जायगा। शिक्षा के सम्बन्ध में भी १० वर्ष तक इन लोगों को विशेष सहायता तथा सुविधाएं मिलती रहेंगी। उनको स्कूलों तथा कालेजों को उसी प्रकार आर्थिक सहायता मिलती रहेगी जिस प्रकार ३१ मार्च १९४८ के पहले मिलती थी। परन्तु प्रति दो वर्ष बाद उसमें १० प्रतिशत की कमी होती रहेगी।

परिगणित जातियों के लिए विशेष अधिकारी की नियुक्ति—राष्ट्रपति को परिगणित तथा आदिवासी जातियों के संरक्षण का निरीक्षण करने के लिए एक विशेष पदाधिकारी के नियुक्त करने का अधिकार दिया गया है जो कि भारतीय विधान के अन्तर्गत इन जातियों को दिये गये समस्त संरक्षणों के सम्बन्ध में जाँच-पड़ताल करे और उनके अनुसार जो कारवाई हुई है उसकी रिपोर्ट राष्ट्रपति को दे। राष्ट्रपति इस रिपोर्ट को संसद के दोनों सदनों के सामने उपस्थित करेगा।

आदिवासी क्षेत्रों तथा पिछड़े वर्गों के लिए कमीशन—राष्ट्रपति किसी भी समय आदिवासी क्षेत्रों के शासन-प्रबन्ध की जाँच के लिए कमीशन नियुक्त कर सकता है। संविधान के दस वर्ष बाद तो ऐसे कमीशन का नियुक्त करना अनिवार्य है। आदिवासी जातियों के कल्याण के लिए जो योजनाएं की गयी हैं उन्हें राज्य द्वारा कार्यान्वित कराने के लिए राष्ट्रपति आदेश दे सकता है।

भारतीय विधान की ३४० वीं धारा द्वारा राष्ट्रपति सामाजिक तथा शिक्षा की दृष्टि से पिछड़े वर्गों (backward classes) की दशा की जाँच तथा कठिनाइयों का पता लगाने के लिए एक कमीशन नियुक्त करेगा। यह कमीशन उनकी कठिनाइयों के निवारण तथा उनकी अवस्था में सुधार और उनकी आर्थिक सहायता के लिए अपनी सिफारिशें करेगा। यह कमीशन अपनी रिपोर्ट राष्ट्रपति को देगा जो उसे पार्लियामेण्ट के सामने उपस्थित करेगा।

आधुनिक काल में धार्मिक आन्दोलन　यद्यपि मनुष्य के जीवन में धर्म का बहुत ऊँचा स्थान है परन्तु इससे बहुत सी बुराइयाँ भी उत्पन्न हो जाती हैं। यद्यपि सभी धर्मों का उद्देश्य ऊँचा होता है परन्तु कालान्तर में उनमें बहुत से दोष उत्पन्न हो जाते हैं क्योंकि लोग धर्म के मौलिक तत्वों को भूल कर उसके बाह्याडम्बर में

पड़ जाते हैं। ऐसी दशा में धर्म-सुधार नितान्त आवश्यक हो जाता है। हमारे देश में गत सौ वर्षों में धर्म-सुधार के बहुत से पन्थ चलाये गये हैं जो निम्नलिखित हैं :—

ब्रह्म-समाज—इसकी स्थापना १८३० में राजा राममोहन राय ने की थी। राजा राम मोहन राय हिन्दू धर्म तथा हिन्दू समाज को परिष्कृत तथा परिमार्जित बनाना चाहते थे। अतएव उन्होंने सभी धर्मों के शुद्ध सिद्धान्तों को ग्रहण कर अपना मत चलाया। ईश्वर को आप अक्षय, नित्य तथा अजेय मानते थे। वह उसी को विश्व का कर्त्ता तथा रक्षक मानते थे। उनका विश्वास था कि मनुष्य भगवान् की भक्ति करके परमानन्द को प्राप्त कर सकता है परन्तु वह पुरोहितों तथा मूर्ति पूजा को निरर्थक समझते थे। यज्ञों का भी आपने विरोध किया था। वे धार्मिक सहिष्णुता के समर्थक थे और जीवों पर दया करना सिखलाते थे। इन धार्मिक सुधारों के अतिरिक्त वे कुछ सामाजिक सुधारों के समर्थक भी थे। उन्होंने सती-प्रथा का विरोध किया और उसके हटाने का पूरा प्रयत्न किया। वर्ण-व्यवस्था की जटिलता को वे ढीला करना चाहते थे, अतएव छूतछात के मामले में वे अत्यन्त उदार थे। विधवा-विवाह के प्रचार का भी उन्होंने प्रयत्न किया था। शिक्षा-प्रचार की ओर उनकी बड़ी अभिरुचि थी। अतएव पाश्चात्य ढङ्ग पर शिक्षा देने का प्रयत्न उन्होंने किया था। धर्म में उनके विचार उपनिषदों से मिलते-जुलते थे। उनके मरने के बाद ब्रह्म-समाज दो भागों में विभक्त हो गया। एक का नेतृत्व महर्षि देवेन्द्रनाथ टैगोर ने किया था और दूसरे का श्री केशवचन्द्र सेन ने किया था। महर्षि टैगोर ने इसे अधिक से अधिक हिन्दू-धर्म के निकट लाने का प्रयत्न किया परन्तु श्री सेन ने इसे पहले से भी अधिक उदार तथा व्यापक बनाने का प्रयत्न किया।

प्रार्थना-समाज—इसकी स्थापना १८६७ में महाराष्ट्र में हुई थी। इसके प्रधान नेता श्री महादेव गोविन्द रानाडे थे। प्रार्थना-समाज का उद्देश्य दलित जाति की उन्नति और विधवाओं तथा असहायों की सहायता करना था। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये रानाडे जी ने एक मिशन, एक महिला संघ तथा एक अनाथालय की स्थापना की। थोड़े ही दिनों में इन्होंने दक्षिण शिक्षा-समिति की भी स्थापना की जिस से गोखले तथा तिलक जैसे महापुरुषों को प्रारम्भिक शिक्षा प्राप्त हुई थी।

भारत-सेवक संघ—इसकी स्थापना श्री गोपालकृष्ण ने १९०५ में की थी। यह भी एक धार्मिक तथा सामाजिक संघ है। इस संघ ने भी शिक्षा तथा समाज-सुधार के प्रशंसनीय कार्य किये हैं।

समाज-सेवा-संघ—इसकी स्थापना १९११ में श्री नारायण मेहरजोशी ने की थी। इस संस्था ने प्रचार द्वारा जनता को सुधारों के लिए उद्यत किया। मजदूरों की दशा सुधारने का इसने श्लाघनीय कार्य किया।

सेवा-समिति—इस संस्था की स्थापना सन् १९१४ में श्री हृदयनाथ कुंजरू ने प्रयाग में की थी। इस संस्था का कार्य-क्षेत्र बड़ा ही व्यापक है। सामाजिक क्षेत्र में इसने बड़े ही प्रशंसनीय कार्य किये हैं। इसने शिक्षा के प्रसार का बड़ा ही प्रयत्न किया है और मेलों, बीमारियों तथा बाढ़ के समय इसने जनता की बड़ी सहायता की है। जनता में सहकारिता तथा सहयोग उत्पन्न कराने का इसने बड़ा प्रयत्न किया है।

पूना-सेवा-सदन—इस संस्था की स्थापना श्री गोपालकृष्ण देवधर ने की थी। महाराष्ट्र की स्त्रियों की शिक्षा के लिए इस संस्था ने बड़े प्रशंसनीय कार्य किये हैं।

आर्य-समाज—इसकी नींव स्वामी दयानन्द सरस्वती ने १८८३ में काठियावाड़ में डाली थी। इस संस्था ने बड़े ही महत्त्वपूर्ण धार्मिक तथा सामाजिक सुधार किये हैं। स्वामी दयानन्द जी के विचार में ईश्वर का कोई निश्चित स्वरूप हो ही नहीं सकता, अत-

एव आपने मूर्तिपूजा का विरोध किया। आपके मूलमन्त्र ये थे—वेदाध्ययन, असत्य को त्याग कर सत्य का अवलम्ब होना, सदाचार का अनुसरण करना, ज्ञान का संचय करना तथा समाज सेवा में अपना तन, मन, धन अर्पण कर देना। आपने वर्ण-व्यवस्था, बाल-विवाह, बहु-विवाह, मांसाहार आदि का विरोध किया था। अन्तर्जातीय विवाह, विधवा-विवाह तथा अन्य धर्म वालों को हिन्दू धर्म में लाने के आप समर्थक थे। इस प्रकार शुद्धि तथा सङ्गठन के कार्य को स्वामी जी ने बड़े जोरों से चलाया। स्वामी जी के प्रयत्नों का प्रभाव राजनैतिक क्षेत्र में भी पड़ा और राष्ट्रीयता के विकास में बड़ा योग मिला।

रामकृष्ण-मिशन—इसकी स्थापना १८९६ में स्वामी विवेकानन्द जी ने [illegible] परमहंस राम कृष्ण की स्मृति में की थी। स्वामी रामकृष्ण सभी धर्मों में एकता देखते थे। उन्हें सभी धर्मों का ज्ञान था और सभी धर्मों में वे विश्वास रखते थे। वे अपने शिष्यों में सार्वभौम धर्म की भावना भर देना चाहते थे। इस मिशन ने न केवल धर्म-सुधार के प्रशंसनीय कार्य किये हैं वरन् इसने समाज सुधार के भी बड़े श्लाघनीय कार्य किये हैं। इसने अकाल, बाढ़, भूकम्प तथा रोगों से पीड़ितों की बड़ी सहायता की है। इस प्रकार समाज तथा धर्म दोनों की मिशन ने बहुत बड़ी सेवाएं की हैं।

राधा-स्वामी-सत्संग—इसकी स्थापना शिवदयाल जी ने की थी। इसका केन्द्र दयालबाग आगरे में है। सत्संग का उद्देश्य आध्यात्मिक तथा औद्योगिक उन्नति करना है। इस धर्म में गुरु की प्रधानता है जिसे लोग ईश्वर का अवतार मानते हैं। यह लोग ईश्वर, संसार तथा जीवात्मा को सत्य मानते हैं। पुनर्जन्म में भी इन लोगों का विश्वास है। यह लोग जाति-पांति के भेद को नहीं मानते।

थियासॉफिकल सोसाइटी—इस संस्था की स्थापना १८७५ में न्यूयार्क में हुई थी। भारतवर्ष में इसका प्रचार श्रीमती एनीबेसेन्ट ने किया था। यह साम्प्रदायिक संस्था नहीं है। इसका उद्देश्य अन्तर्राष्ट्रीय भ्रातृ-भाव उत्पन्न करना है। इस सोसाइटी ने शिक्षा तथा समाज सुधार के अनेकों प्रशंसनीय कार्य किये हैं। यह संस्था जाति-पांति के भेद-भाव को नहीं मानती। यह एक ईश्वर की सत्ता तथा पुनर्जन्मवाद में विश्वास करती है। इसके अनुयायी परलोक में भी विश्वास करते हैं।

बहावी—इस संस्था की स्थापना १८ वीं शताब्दी में मुहम्मद बहाब ने अरब में की थी। भारतवर्ष में इस संस्था की शिक्षाओं का प्रचार रायबरेली के सैयद अहमद ने किया था। इस संस्था के लोग इस्लाम धर्म की वास्तविक शुद्धता को फिर से लाना चाहते थे। इन लोगों ने प्रत्येक व्यक्ति को कुरान पढ़ने तथा उसका स्वतंत्र अर्थ लगाने का अधिकारी मान लिया। बाद में इन लोगों ने मुसलमानों की प्राचीन प्रथाओं तथा धार्मिक रीतियों का भी विरोध किया। इन लोगों के कब्रों, फकीरों, आदि की पूजा की प्रथा के हटाने का प्रयत्न किया।

अलीगढ़ आन्दोलन—इसके प्रचारक सर सैयद अहमद खाँ थे। वे मुसलमान सभ्यता तथा पाश्चात्य शिक्षा में समन्वय स्थापित करना चाहते थे। वे शिक्षा, सहभोज तथा अन्तर्विवाह के पक्षपाती थे और पर्दे की प्रथा को हटाना चाहते थे।

अहमदिया आन्दोलन—इस मत की स्थापना मिर्जा गुलाम अहमद ने की थी। वे प्रतिक्रियावादी थे और उन्होंने पर्दा, बहु-विवाह, आदि सुधारों का विरोध किया था। अन्य धर्मावलम्बियों को मुसलमान बनाने का भी इन लोगों ने सङ्गठन किया था।

आधुनिक धार्मिक आन्दोलनों में साम्य—आधुनिक भारत में ब्रह्म समाज, थियोसॉफिकल सोसाइटी, रामकृष्ण मिशन, राधास्वामी सत्संग, आदि धार्मिक आन्दो-

लन हिन्दू धर्म तथा हिन्दू समाज के दोषों को दूर करने के लिये किये गये थे। चूँकि एक ही धर्म तथा समाज के दोषों को दूर करने के लिये भिन्न-भिन्न आन्दोलन किये गये थे अतएव इनके सिद्धान्तों तथा उपदेशों में साम्य भी था। इन धर्मों के सिद्धान्तों पर एक विहगम दृष्टि डालने पर हमें इनमें निम्नलिखित समानता परिलक्षित होती है —

(१) यह सभी धार्मिक आन्दोलन प्राचीन हिन्दू-धर्म के सिद्धान्तों के आधार पर आरम्भ किये गये थे और सभी ने उन्हीं के आधार पर शिक्षा दी थी।

(२) सभी धार्मिक आन्दोलनों का मूलाधार एकेश्वरवाद है। अनेक देवी-देवताओं की ओर से अपने अनुयायियों का मन हटा कर इन लोगों ने एक ईश्वर की उपासना पर ज़ोर दिया था।

(३) इन सभी धार्मिक आन्दोलनों ने हिन्दू धर्म की कुरीतियों तथा उसके अन्ध-विश्वासों को दूर करके उसे विशुद्ध रूप में लाने का प्रयत्न किया है।

(४) इन सभी धार्मिक आन्दोलनों ने वाह्याडम्बर का खण्डन किया है और आध्यात्मिक तथा नैतिक जीवन पर ज़ोर दिया है।

(५) प्रायः सभी ने ईश्वर के पितृत्व तथा मानव के भ्रातृत्व पर ज़ोर दिया है। इन लोगों ने सभी धर्मों की एकता का अनुमोदन किया है और सबको अच्छा बतलाया है। इस प्रकार धार्मिक सहिष्णुता की भावना उत्पन्न करके पारस्परिक ईर्ष्या-द्वेष तथा घृणा के दूर करने का इन लोगों ने प्रयत्न किया है।

(६) आधुनिक काल के सभी धार्मिक आन्दोलनों ने वर्तमान रूप में वर्ण-व्यवस्था तथा जाति-व्यवस्था का विरोध किया है। सभी ने जाति-पाँति के भेद-भाव को दूर करके एकता की भावना के उत्पन्न करने का प्रयत्न किया है।

(७) इन सभी आन्दोलनों ने स्त्रियों के उद्धार की चेष्टा की है और पर्दे की प्रथा निरक्षरता आदि के दूर करने पर ज़ोर दिया है।

(८) प्रायः सभी ने भारतवासियों के पारस्परिक भेद-भाव के दूर करने और उनके हृदय में अपने देश, धर्म तथा संस्कृति के प्रति प्रेम उत्पन्न कर उनमें राष्ट्रीय भावना की जाग्रति लाने की कोशिश की है।

भारतीय जीवन पर धर्म का प्रभाव—धर्म का हमारे देश में सदैव बड़ा महत्व रहा है। हमारे जीवन का कोई ऐसा भाग नहीं है जो धर्म द्वारा प्रभावित न हुआ हो। हमारे सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक, सभी कार्यों पर धर्म की छाप रही है। धर्म का मानव तथा उसके कार्यों पर अच्छा तथा बुरा दोनों प्रभाव पड़ते हैं। यदि धार्मिक दृष्टिकोण उदार तथा व्यापक होता है तब तो उसका प्रभाव अच्छा पड़ता है परन्तु जब धार्मिक दृष्टिकोण कट्टर तथा संकीर्ण होता है तब उसका प्रभाव बुरा पड़ता है। सच्चे धर्म का उद्देश्य आध्यात्मिक उन्नति और समाज-सेवा होता है। प्रत्येक स्वच्छ धर्म सेवा, दया, सहानुभूति, ईमानदारी, सत्य, सहिष्णुता, उदारता, आदि की शिक्षा देता है। विभिन्न धर्मों के मौलिक सिद्धान्तों में भी कोई विशेष अन्तर नहीं है। परन्तु चूँकि विभिन्न धर्मों के वाह्य स्वरूप तथा आडम्बरों में बड़ा अन्तर है अतएव इनके अनुयायियों में बड़ा मतभेद हो जाता है और वे परस्पर ईर्ष्या-द्वेष तथा घृणा करने लगते हैं। इससे समाज का सामञ्जस्य समाप्त हो जाता है और अशान्ति की आग भड़क उठती है। हमारे सामाजिक जीवन पर धर्म का बहुत बड़ा प्रभाव पड़ा है। हिन्दू धर्म में अनेकों जातियाँ तथा उपजातियाँ हैं। इससे हिन्दू समाज अनेकों वर्गों में विभक्त हो गया है और ऊँच-नीच का भेद-भाव उत्पन्न हो गया है। अस्पृश्यता का प्रकोप हो गया है और सामाजिक दृढ़ता तथा सामञ्जस्य समाप्त हो गया है। इसी प्रकार मुस्लिम धर्म में अधिकांश धर्मान्ध तथा कट्टर-पन्थी होते हैं और समाज की शान्ति को

भङ्ग करने और ईर्ष्या-द्वेश तथा घृणा की भावना के प्रचार करने में लेश-मात्र संकोच नहीं करते। यही कारण है कि धार्मिक उत्सवों तथा समारोहों के अवसर पर दंगे हो जाते हैं और समाज का सामञ्जस्य समाप्त हो जाता है। भिन्न-भिन्न मतावलम्बी धर्म के मौलिक सिद्धान्तों पर जोर न देकर केवल वाह्याडम्बरों पर ही ध्यान देते हैं और पारस्परिक फूट तथा घृणा का बीज बो देते हैं। इन लोगों को चाहिये कि धर्म के वास्तविक तत्वों को समझें और समाज में शान्ति तथा सामञ्जस्य स्थापित करने का प्रयत्न करें।

धर्म का हमारे आर्थिक जीवन पर भी बहुत बड़ा प्रभाव पड़ा है। भारत में जीवन का अन्तिम लक्ष्य सदैव आध्यात्मिक उन्नति ही रहा है। अतएव भौतिक उन्नति की प्रायः उपेक्षा की गयी है। धर्म ने भारतीयों को भाग्यवादी बना दिया है। इससे उनमें साहस तथा उद्योग का बड़ा अभाव रहता है। भाग्यवादी तथा निरुत्साहित होने के कारण रहन-सहन का दर्जा भी नीचा ही रहता है। हमारे देश में साधुओं तथा फकीरों की संख्या अगणनातीत है। इनकी सहायता करना तथा इन्हें दान देना धार्मिक कर्तव्य समझा जाता है। वास्तव में यह लोग समाज के भार होते हैं और देश की धार्मिक उन्नति में बड़े बाधक सिद्ध होते हैं। मठों तथा मन्दिरों के पास अब भी लाखों की सम्पत्ति भरी पड़ी है जिसका बड़ा दुरुपयोग होता है। यदि यही सम्पत्ति उत्पादन के कार्य में लगायी जाय तो समाज का बड़ा कल्याण हो।

धर्म का हमारे राजनैतिक जीवन पर भी बहुत प्रभाव पड़ा है। धार्मिक मतभेद के कारण हमारा राष्ट्रीय जीवन दृढ़ तथा संगठित नहीं हो पाया। स्वतन्त्रता के संग्राम में हमें अनेकों कठिनाइयों का सामना करना पड़ा है। प्रत्येक साम्प्रदायिक दल अपने हितों का संरक्षण तथा अपनी जाति के लिये अधिक से अधिक सुविधायें चाहता था और अड़ंगे लगाया करता था। सवर्ण हिन्दू, मुसलमान, सिक्ख, दलित वर्ग सभी अपने हितों की रक्षा के लिये व्याकुल थे। देश में अनेकों सम्प्रदायों के होने के कारण अधिकांश राजनैतिक दलों का आधार साम्प्रदायिक था। यह लोग राष्ट्र के हित की उतनी चिन्ता नहीं करते थे जितनी अपने सम्प्रदाय की। इससे साम्प्रदायिक हित के लिये राष्ट्र के हित पर कुठाराघात होता था। यदि हिन्दू, मुसलमान तथा अन्य वर्गों के लोग संगठित होकर स्वतन्त्रता का संग्राम किये होते तो हमें स्वतन्त्रता बहुत पहले प्राप्त हो गयी होती और उस रूप में हमें न प्राप्त हुई होती जिस रूप में वह हमें प्राप्त हुई है। मुस्लिम लीग द्वारा दो-राष्ट्र के सिद्धान्त के प्रचार के कारण ही हमारा देश विभाजित हुआ है और असंख्य प्राणियों के प्राण गये हैं।

परन्तु धर्म के वास्तविक अर्थ के न समझने के कारण ही हमारे सामाजिक, आर्थिक तथा राजनैतिक जीवन पर धर्म का बुरा प्रभाव पड़ा है। यदि सब अपना दृष्टिकोण उदार, सहिष्णु तथा व्यापक रक्खें तो समाज में सामञ्जस्य स्थापित करने में धर्म बड़ा सहायक सिद्ध हो। सच्चा धर्म प्रेम, सहयोग, सहानुभूति, दया, आदि सिखाता है जिससे सामाजिक जीवन सुन्दर बन जाता है। धर्म आर्थिक सङ्कट में पड़ जाने पर धैर्य तथा सहनशक्ति प्रदान करता है, आर्थिक वैभव में दानशीलता, दया, सहानुभूति, आदि का पाठ पढ़ाता है और गर्व तथा अहङ्कार से बचाता है। राजनैतिक जीवन में धर्म नैतिक बल प्रदान करता है और दूषित वातावरण से बचाता है। वही राजसंस्था सुदृढ़ होती है जिसका मूलाधार धर्म तथा न्याय होता है। अतएव धर्म का सामाजिक, आर्थिक तथा राजनैतिक सभी प्रभाव अच्छा हो सकता है।

Rel अनुसंधान
डा० [illegible] ... पुस्तकालय,

कुछ उपयोगी ग्रन्थ

Auber, Peter : Rise and Progress of the British Power in India.

Chirol, Valentine : I dia Old and New.

Curzon : British Government in India.

Coupland, R. : India; A Restatement,

Cross : The Development of Self-Government in India. (1858-1914).

Dod well, H. H, : The Cambridge History of India Vols V & VI.

Dodwell, Henry : A Sketch of the History of India from 1858 to 1919.

Dutta R. C. : India in the Victorian Age.

Ishwari Prasad and Subedar, S. K. : A History of Modern India.

Kaye, Sir John : Christianity in India, 1859.

Mill, James : History of British India, 10 Vols.

Majumdar, RoyChaudhry and Dutta : An advanced History of India.

Macdon old : The Making of Modern India.

Roberts, P. E. : History of British India.

Sarkar, S. C. and Dutta, K. K. : Modern Indian History Vo II.

Singh, G. N. : Landmarks in Indian Constitutional and National Developments.

Smith, V. A. : Oxford History of India.

Thompson, Edward and Garalt, G. T. : Rise and Fulfilment of British Rule in India.

R. R. Sethi and V. D. Mahajan : British Rule in India and After.

Cunningham, H. S. : Earl Canning.

Aitchison, C. H. : Lord Lawrence.

Arthur, Sir G. : Life of Lord Kitchner.

Balfour, B. : Lord Lyton's Indian Administration.
Bruge, R. I. : The Forward Policy and its results.
Buchan, J. : Lord Minto.
Curjon : Russia in Central Asia in 1909.
Coupland : Britain and India.
Fraser : India under Curzon and After.
Hanna, H. B. The Second Afghan War.
Lyall, A. : Life of Mbrquis of Dufferin and Ava.
Romaldshay, Lord : Life of Lord Curzon Vols I, II & III.
Raleigh, T. (Ed) : Lord Curzon in India, 1906.
Rees, J. D. : Russia, India and the Persian Gulf, 1903.
Wolfe, L : Life of Lord Ripon.
Andrew, C. F. : Indian Renaissance.
Alexander Horace : India Sei ce Cripps.
Bannerjee, Surendranath : A Nation in Making.
Bannerjee A. C. : The Indian Constitutional Documents.
Bannerjee, A. C. : The Making of the Indian Constitution.
Blunt, W. S. : Ideas about India.
Besant, Anne : How India Wrought her freedom ?
Besant : India, Bond or Free.
Bose S. C. : The Indian Struggle.
Chirol Valentine : Indian Unrest.
Coupland : The Cripps Mission.
Coupland, R. : Report on the Constitutional Problem in India
Craddock, Reginald : Dilemma in India.
Cotton, Sir Henry : Indian and Home Memories.
Digby : Prosperous British India.
Davies : The Problem of the North-West Frontier.
Datta, K. K. : India's March to Freedom.
Duff, Alexander : India and Indian Mission.
Farquhar, J. N. : Modern Religious Movements in India.
Garratt : An Indian Commentary.
Hans Kohn : A History of Nationalism in the East.
Ilbert C. P. The Government of India.
Keith A. B. : Constitutional History of India.
Lajpat Rai : Unhappy India.

Lovelt, Verney : A History of the Indian Nationalist Movement.

Majumdar, A. C. : Indian National Evolution.

Mary, Coumtess of Minto : India, Minto and Morley.

Morley : Recollections.

Morley : Speeches on Indian Affairs.

Montagu, E. S. : A Study of Indian Polity.

Macdonell, A. A. : India's Past.

Macdonald, J. R. : Government of India.

Mukerjee, P. : Indian Constitutional Documents.

Nehru, Jawahar Lal : Autobiography.

Nevinson : The New Spirit in India.

Prasad, Basheshar : Origin of Provincial Autonomy.

Pole, Graham : India in Transition.

Pal, B. C. : The Soul of India.

Parekh, M. C. : The Brahmo gamaj.

Pradhan R. G. : India's Struggle for Swaraj.

Pegg : India's Cries to British Humanity.

Roberts : Forty-one Year in India.

Ramsay Muir : The Making of British India.

Ray, P. C. The Life and Times of C. R. Dass.

Rajendra Prasad : Divided India.

Ranade, M. G. : Religions and Social Reform.

Sharma, Sri Ram : Constitutional History of India.

Smith, W. R. : Nationalism and Reform in India.

Smith, V. A. : Oxford History of India.

Sitaramiya, B. P. History of the Indian National Congress Vols I & II.

Sapre, B. G. : The Growth of the Indian Constitution and Administration.

Scrafton : Reflection on the Government of Indosian.

Tyne, C. H. V. : India in Ferment.

Zetland, Lord : Steps Forward Indian Home Rule.

Zacharias, H. C. E. : Renascent India from Ram Mohan Roy to Mohan Das Gandhi.

Durga Sah Municipal
Library, N. Tal